धर्म

ब्रज के
धर्म-संप्रदायों का

[ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास, भाग २]

प्रभुदयाल मीतल

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-६

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक 'ब्रज के धर्म-संप्रदायों का इतिहास' वस्तुत. मेरे पूर्व प्रकाशित विशद ग्रंथ 'ब्रज का सास्कृतिक इतिहास' के शृंखलाबद्ध आयोजन का दूसरा भाग है, तथापि इसकी रचना इस प्रकार हुई है कि यह एक स्वतंत्र ग्रंथ बन गया है। इसलिए पाठको को इसका प्रथम भाग देखना आवश्यक नही है। वैसे अध्ययनशील महानुभाव ब्रज की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अनुसधान अथवा सदर्भ के लिए उसे भी देखना चाहे, तो दूसरी बात है। यह सर्व विदित तथ्य है कि अत्यत पुरातन काल से ही ब्रजमडल का महत्त्व एक धार्मिक क्षेत्र के रूप मे रहा है, और यहाँ की सस्कृति सदैव धर्मप्रधान रही है। ऐसी दशा मे ब्रज के सास्कृतिक इतिहास से सबधित यह भाग निश्चय ही महत्वपूर्ण है। भौगोलिक दृष्टि से ब्रजमंडल की स्थिति उत्तरी भारत के प्राचीन सास्कृतिक केन्द्र मध्यदेश के प्रमुख भाग मे है, और उत्तरापथ मे उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम दिशाओ को जाने वाले राजमार्गो का यह सदा से मिलन-स्थल रहा है। इसके कारण यहॉ सभी क्षेत्रो मे समन्वय की भावना रही है, जिससे यहाँ के धर्म-सप्रदाय भी सहिष्णुता पूर्वक साथ-साथ विकसित होकर उन्नति करते रहे है।

इस ग्रंथ मे उन सभी प्रमुख धर्म-सप्रदायो का ऐतिहासिक वर्णन है, जो कृष्ण-काल से लेकर अब तक की कई सहस्राब्दियो मे समय–समय पर ब्रजमडल मे प्रचलित रह कर परिस्थिति वश या तो लुप्त हो गये, या अन्य नाम-रूपो मे परिवर्तित होकर उन्नति, अवनति एव पुनरुन्नति की विविध भूमिकाओ मे फूलते-फलते रहे है। ऐसे धर्म–सप्रदायो मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण है,— वैदिक, नारायणीय, सात्वत, पाचरात्र, जैन, बौद्ध, शैव, शाक्त, भागवतादि धर्म, सर्वश्री रामानुजाचार्य, विष्णुस्वामी, निंबार्काचार्य, मध्वाचार्य, रामानंद, वल्लभाचार्य, चैतन्य देव, हित हरिवश, स्वामी हरिदासादि के वैष्णव सप्रदाय तथा तुलसी साहब, राधास्वामी और स्वामी दयानद के निर्गुण मत। ब्रज के इन सभी धर्म-सप्रदायो और मत–मतातरो का यथा सभव प्रामाणिक और विशद वृत्तात इस ग्रंथ मे प्रथम बार लिखने की चेष्टा की गई है।

यह ग्रंथ काल-क्रमानुसार ७ अध्यायो मे पूर्ण हुआ है। इसके प्रथम अध्याय का नाम 'आदि काल' है, जिसकी कालावधि प्रागैतिहासिक काल से लेकर विक्रमपूर्व स. ५६६ तक, अर्थात् वैदिक धर्म के अज्ञात युग से लेकर भगवान् बुद्ध के जन्म-कालीन ऐतिहासिक युग तक की मानी गई है। यह काल जितना लबा है, उसके सबध मे हमारा ज्ञान उतना ही कम है। इस काल मे प्रचलित वैदिक धर्म, विशेष कर उसके आरभिक रूप के विकास मे प्राचीन ब्रजमडल अर्थात् शूरसेन जनपद ने योग दिया था या नही, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। किंतु अनुमान है कि यहाँ के तपोनिष्ठ ऋषियो ने कतिपय उपनिषदो की रचना कर वैदिक धर्म के उत्तर-कालीन रूप के विकास मे सभवत कुछ योग दिया था। वैदिक धर्म मे मान्य याज्ञिक विधि की प्रतिक्रिया मे जिस नारायणीय धर्म का उदय हुआ, वह कृष्ण–काल से पहिले ही लुप्त हो गया था। श्रीकृष्ण ने युग की आवश्यकतानुसार उसे पुन प्रतिष्ठित किया, जो उनके सजातीय सात्वत क्षत्रियो मे प्रचलित होने के कारण 'सात्वत धर्म' कहलाया। उसी का एक प्रसिद्ध नाम पाचरात्र धर्म भी था। सात्वत किंवा पाचरात्र धर्म का उदय शूरसेन प्रदेश हुआ था, और उसके प्रवर्त्तक भगवान् श्रीकृष्ण थे। जब जरासंध के आक्रमणो के कारण श्रीकृष्ण के साथ यादव क्षत्रियो के बहुसंख्यक परिवार ब्रज मे

निष्क्रमण कर विविध स्थानो मे वस गये, तब उनके साथ इस धर्म का भी देशव्यापी विस्तार हुआ था। व्रज के प्राचीनतम लोक देवो मे यक्षो और नागो का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होने व्रज की लोकोपासना के साथ ही साथ यहाँ के विविध धर्मों को भी वडा प्रभावित किया था।

द्वितीय अध्याय का नाम 'प्राचीन काल' रखा गया है, जिसकी कालावधि विक्रमपूर्व स. ५६६ से विक्रमपूर्व स ४३ तक की मानी गई है। इस अध्याय से व्रज के सास्कृतिक इतिहास का ऐतिहासिक युग आरभ होता है। इस युग के आरभ मे यादवो द्वारा प्रचारित सात्वत धर्म भारत के पश्चिमी और दक्षिण-पश्चिमी भागो मे प्रचुरता से प्रचलित था, किंतु उनका व्रजमडल से सवध विच्छेद हो जाने से यहाँ उसका प्रचार वहुत कम हो गया था। उस समय यहाँ वैदिक धर्म का जोर वढ गया था, जिससे यज्ञो के व्ययसाध्य विधान और उनमे की जाने वाली हिंसा मे वृद्धि हो गई थी। उसकी प्रतिक्रिया मे जैन और वौद्ध धर्मो का उदय हुआ था। ये दोनो धर्म वेद विरोधी और श्रमण-सस्कृति मूलक थे। उनका उदय और आरभिक विकास भारत के पूर्वी भाग मे हुआ था, किंतु कालातर मे वे देश के अन्य भागो मे भी प्रचलित हो गये थे। व्रजमडल मे भी कुछ काल तक उनका अच्छा प्रचार रहा था। वौद्ध ग्र थो से ज्ञात होता है, भगवान् वुद्ध अपने धर्म के प्रचारार्थ 'चारिका' (विचरण) करते हुए दो वार मथुरा भी आये थे। प्रथम यात्रा मे उन्होने मथुरा निवासियो को यक्षो के आतक से मुक्त किया था, और दूसरी यात्रा मे उन्होने उपगुप्त के सवध मे भविष्य वाणी की थी। उनकी यात्राओ से यहाँ पर वौद्ध धर्म का वीजारोपण मात्र हुआ था। वाद मे उनके योग्य शिष्य उज्जैन निवासी काच्चान (कात्यायन) द्वारा उस धर्म के अकुर जमे और उपगुप्त द्वारा वह पल्लवित हुआ था। उपगुप्त का जन्म-स्थान मथुरा था, और वह अपने समय का सुप्रसिद्ध वौद्ध धर्माचार्य तथा मगध के महान् सम्राट अशोक का गुरु था। उसने अपने सयम द्वारा मथुरा की सभ्रात नगरवधू वासवदत्ता को सन्मार्ग पर आरूढ किया था, और अपने अपूर्व धर्म-ज्ञान द्वारा अशोक को वौद्ध धर्म के प्रचार मे महत्वपूर्ण योग दिया था। उसके कारण शूरसेन प्रदेश उस धर्म के स्थविरवादी सप्रदाय 'सर्वास्तिवाद' का प्रसिद्ध केन्द्र हो गया था। जैन धर्म के आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ सहित कई तीर्थंकरो का शूरसेन प्रदेश से घनिष्ठ सवध रहा है। वाईसवे तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ का यहाँ जन्म हुआ था, और जैन मान्यता के अनुसार वे भगवान् कृष्ण के भाई थे। अतिम केवली श्री जवूस्वामी ने मथुरा के 'चौरासी' क्षेत्र मे तपस्या कर सिद्ध पद प्राप्त किया था, और यही पर उनका निर्वाण हुआ था। मथुरा के ककाली टीला पर जैन धर्म का सुविख्यात 'देवनिर्मित स्तूप' था, जो सप्तम तीर्थकर सुपार्श्वनाथ के काल मे कुवेरा देवी द्वारा निर्मित हुआ था। वह इस धर्म का सर्व प्राचीन स्तूप था, और उसकी ख्याति कई शताब्दियो तक समस्त भारत के जैनियो मे रही थी। इन सवके कारण मथुरामडल प्राचीन काल मे ही जैन धर्म का प्रसिद्ध तीर्थस्थल हो गया था। यद्यपि उस काल मे वौद्ध और जैन जैसे अवैदिक धर्मो का प्रावल्य था, तथापि सात्वत-पाचरात्र, शैव और शाक्त जैसे वेदानुकूल धर्म भी प्रचलित थे। जव शूरसेन प्रदेश पर शु ग सम्राटो का शासन था, तव सात्वत-पाचरात्र धर्म ने भागवत धर्म के नाम से वडी प्रसिद्धि प्राप्त की थी। शु ग सम्राटो के प्रोत्साहन से भागवत धर्म का व्यापक प्रचार हुआ था, और विदेशी यूनानियो तक ने उसे अगीकार किया था। यूनानी राजदूत हेलियोडोरस ने 'भागवत' उपाधि धारण कर इस धर्म के परमोपास्य भगवान् वासुदेव के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए विदिशा मे गरुडध्वज स्तभ का निर्माण कराया था। इस प्रकार इस अध्याय मे प्राचीन व्रज के धार्मिक महत्त्व का उल्लेख हुआ है।

तोडने का कठोर अभियान चलाया था। उस भीषण परिस्थिति मे ब्रज के धर्माचार्यो और उनके अनुगामी भक्तजनो को अपने धार्मिक विश्वास के अनुसार यहाँ सन्मान पूर्वक रहना असभव सा हो गया था। उस सकट काल मे अनेक धर्माचार्य अपने सेव्य स्वरूप, धार्मिक ग्र थ एव शिष्य-सेवको के विशाल परिकर के साथ ब्रजमडल से निष्क्रमण करने को बाध्य हुए थे। उससे ब्रज के धार्मिक एव सास्कृतिक महत्व की अपार क्षति हुई थी। गोबर्धन, गोकुल और वृ दावन के सुप्रसिद्ध धार्मिक केन्द्र उजड गये और वहाँ के विख्यात मदिर-देवालय सूने हो गये थे। औरगजेब के क्रूर सैनिको ने उन सब को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। एक राज्याध्यक्ष की मजहबी तानाशाही से ब्रज की समुन्नत धार्मिक सस्कृति का ऐसा व्यापक सर्वनाश इस इतिहास का अत्यत दु.खद प्रसग है, किंतु औरगजेब की तानाशाही ने मुगल साम्राज्य का भी विघटन कर दिया था। अतिम मुगल सम्राट अत्यत शक्तिहीन शासक हुए थे। उनमे से एक मुहम्मदशाह को अपना राज्य प्रबध ठीक करने के लिए आमेर के सवाई राजा जयसिंह से सहायता लेनी पडी थी। जयसिंह एक धर्मप्राण राजा था। उसने अपने ढग से ब्रज के धर्म-सप्रदायो की स्थिति सुधारने का भी प्रयत्न किया था; किंतु उससे कुछ भक्ति [illegible]प्रदायो को बडी असुविधा हुई थी। उसके बाद अहमदशाह अब्दाली के भीषण आक्रमण ने ब्रज के ध[illegible]-सप्रदायो का रहा-सहा महत्व भी समाप्त प्राय कर दिया था। इस प्रकार इस अध्याय मे सभी [illegible]प्रदायो के चरमोत्कर्ष के विशद वर्णन के साथ उनके अपकर्ष की करुण कथा भी लिखी गई है।

सातवाँ अध्याय 'आधुनिक काल' से सबधित है, जिसकी कालावधि विक्रम स. १८८३ से ध[illegible]की है। इस काल से पहले ही मुगल शासन का अत होने से मुसलमानी प्रभाव समाप्त हो [illegible]। उसके स्थान पर पहले जाट राजाओ तथा मरहठा सरदारो का प्रभुत्व हुआ, और फिर [illegible]ी राज्य कायम हो गया था। जाट और मरहठा ब्रज की धार्मिक भावना के प्रति [illegible] थे, किंतु अगरेजो का उससे कोई लगाव नही था। धार्मिक दृष्टि से वे मसीही मजहब [illegible] थे। उन्होने ब्रज के किसी धर्म-सप्रदाय को न तो प्रोत्साहन दिया, और न यहाँ के किसी [illegible] सन्मान ही किया था। विगत काल के तास्सुबी शासको की भाँति उन्होने किसी का [illegible] धर्म-परिवर्तन तो नही किया, किंतु उनकी उपेक्षा एव असहानुभूति से तथा इस काल के धर्माचार्यो की अकर्मण्यता एव कमियो के कारण प्राय सभी धर्म-सप्रदायो की स्थिति और भी खराब हो गई। अगरेजी शासन काल मे ब्रज की उस धार्मिक दुर्दशा को सुधारने का प्रयत्न कतिपय धार्मिक रुचि सम्पन्न धनाढ्य व्यक्तियो ने किया था। ऐसे सज्जनो मे मथुरा के सेठ, वृ दावन के लाला बाबू, नदकुमार वसु, बनमाली बाबू और कु दनलाल शाह के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होने अनेक देव-स्थानो का निर्माण कराया, और धर्मोपासना की विविध प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन दिया। उनके कारण यहाँ कुछ धार्मिक वातावरण बना हुआ है, किंतु उसमे सुधार करने की दिशा मे यहाँ के वर्तमान धर्माचार्यो का समुचित प्रयत्न दिखलाई नही देता है। इतिहास ग्र थो मे प्राय: जीवित व्यक्तियो के सबध मे नही लिखा जाता है, इसलिए वर्तमान धर्माचार्यो और धार्मिक महानुभावो मे से कुछ का ही थोड़ा सा प्रासगिक उल्लेख कर इस अध्याय की समाप्ति की गई है। इसके साथ यह ग्र थ भी पूर्ण हो गया। ब्रज के धर्म-संप्रदायो की दीर्घकालीन परपरा के विशद वर्णन से कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते है। पहिला निष्कर्ष यह है कि वही धर्म चिरस्थायी होता है, जो सत्य, न्याय, प्रेम, अहिसा और सहिष्णुता पर आधारित हो और जिसमे मानव मात्र के कल्याण की भावना निहित हो। भगवान् श्री कृष्ण का धर्म इसी प्रकार का है। यह कई सहस्राब्दियो के

निष्क्रमण कर विविध स्थानो मे बस गये, तब उनके साथ इस धर्म का भी देशव्यापी विस्तार हुआ था। व्रज के प्राचीनतम लोक देवो मे यक्षो और नागो का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होने व्रज की लोकोपासना के साथ ही साथ यहाँ के विविध धर्मो को भी बडा प्रभावित किया था।

द्वितीय अध्याय का नाम 'प्राचीन काल' रखा गया है, जिसकी कालावधि विक्रमपूर्व स. ५६६ से विक्रमपूर्व स ४३ तक की मानी गई है। इस अध्याय से व्रज के सास्कृतिक इतिहास का ऐतिहासिक युग आरभ होता है। इस युग के आरभ मे यादवो द्वारा प्रचारित सात्वत धर्म भारत के पश्चिमी और दक्षिण-पश्चिमी भागो मे प्रचुरता से प्रचलित था, किंतु उनका व्रजमडल से सबध विच्छेद हो जाने से यहाँ उसका प्रचार बहुत कम हो गया था। उस समय यहाँ वैदिक धर्म का जोर बढ गया था, जिससे यज्ञो के व्ययसाध्य विधान और उनमे की जाने वाली हिंसा मे वृद्धि हो गई थी। उसकी प्रतिक्रिया मे जैन और बौद्ध धर्मो का उदय हुआ था। ये दोनो धर्म वेद विरोधी और श्रमण-सस्कृति मूलक थे। उनका उदय और आरभिक विकास भारत के पूर्वी भाग मे हुआ था, किंतु कालातर मे वे देश के अन्य भागो मे भी प्रचलित हो गये थे। व्रजमडल मे भी कुछ काल तक उनका अच्छा प्रचार रहा था। बौद्ध ग्र थो से ज्ञात होता है, भगवान् बुद्ध अपने धर्म के प्रचारार्थ 'चारिका' (विचरण) करते हुए दो बार मथुरा भी आये थे। प्रथम यात्रा मे उन्होने मथुरा निवासियो को यक्षो के आतक से मुक्त किया था, और दूसरी यात्रा मे उन्होने उपगुप्त के सबध मे भविष्य वाणी की थी। उनकी यात्राओ से यहाँ पर बौद्ध धर्म का बीजारोपण मात्र हुआ था। बाद मे उनके योग्य शिष्य उज्जैन निवासी काच्चान (कात्यायन) द्वारा उस धर्म के अकुर जमे और उपगुप्त द्वारा वह पल्लवित हुआ था। उपगुप्त का जन्म-स्थान मथुरा था, और वह अपने समय का सुप्रसिद्ध बौद्ध धर्माचार्य तथा मगध के महान् सम्राट अशोक का गुरु था। उसने अपने सयम द्वारा मथुरा की सभ्रात नगरवधू वासवदत्ता को सन्मार्ग पर आरूढ किया था, और अपने अपूर्व धर्म-ज्ञान द्वारा अशोक को बौद्ध धर्म के प्रचार मे महत्वपूर्ण योग दिया था। उसके कारण शूरसेन प्रदेश उस धर्म के स्थविरवादी सप्रदाय 'सर्वास्तिवाद' का प्रसिद्ध केन्द्र हो गया था। जैन धर्म के आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ सहित कई तीर्थंकरो का शूरसेन प्रदेश से घनिष्ठ सबध रहा है। बाईसवे तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ का यहाँ जन्म हुआ था, और जैन मान्यता के अनुसार वे भगवान् कृष्ण के भाई थे। अतिम केवली श्री जबूस्वामी ने मथुरा के 'चौरासी' क्षेत्र मे तपस्या कर सिद्ध पद प्राप्त किया था, और यही पर उनका निर्वाण हुआ था। मथुरा के ककाली टीला पर जैन धर्म का सुविख्यात 'देवनिर्मित स्तूप' था, जो सप्तम तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के काल मे कुबेरा देवी द्वारा निर्मित हुआ था। वह इस धर्म का सर्व प्राचीन स्तूप था, और उसकी ख्याति कई शताब्दियो तक समस्त भारत के जैनियो मे रही थी। इन सबके कारण मथुरामडल प्राचीन काल मे ही जैन धर्म का प्रसिद्ध तीर्थस्थल हो गया था। यद्यपि उस काल मे बौद्ध और जैन जैसे अवैदिक धर्मो का प्राबल्य था, तथापि सात्वत-पाचरात्र, शैव और शाक्त जैसे वेदानुकूल धर्म भी प्रचलित थे। जब शूरसेन प्रदेश पर शुंग सम्राटो का शासन था, तब सात्वत-पाचरात्र धर्म ने भागवत धर्म के नाम से बडी प्रसिद्धि प्राप्त की थी। शुग सम्राटो के प्रोत्साहन से भागवत धर्म का व्यापक प्रचार हुआ था, और विदेशी यूनानियो तक ने उसे अगीकार किया था। यूनानी राजदूत हेलियोडोरस ने 'भागवत' उपाधि धारण कर इस धर्म के परमोपास्य भगवान् वासुदेव के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए विदिशा मे गरुडध्वज स्तभ का निर्माण कराया था। इस प्रकार इस अध्याय मे प्राचीन व्रज के धार्मिक महत्त्व का उल्लेख हुआ है।

तोडने का कठोर अभियान चलाया था। उस भीषण परिस्थिति मे ब्रज के धर्माचार्यों और उनके अनुगामी भक्तजनो को अपने धार्मिक विश्वास के अनुसार यहाँ सन्मान पूर्वक रहना असभव सा हो गया था। उस सकट काल मे अनेक धर्माचार्य अपने सेव्य स्वरूप, धार्मिक ग्रंथ एव शिष्य-सेवको के विशाल परिकर के साथ ब्रजमडल से निष्क्रमण करने को बाध्य हुए थे। उससे ब्रज के धार्मिक एव सास्कृतिक महत्व की अपार क्षति हुई थी। गोबर्धन, गोकुल और वृंदाबन के सुप्रसिद्ध धार्मिक केन्द्र उजड गये और वहाँ के विख्यात मदिर-देवालय सूने हो गये थे। औरगजेब के क्रूर सैनिको ने उन सब को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। एक राज्याध्यक्ष की मजहबी तानाशाही से ब्रज की समुन्नत धार्मिक सस्कृति का ऐसा व्यापक सर्वनाश इस इतिहास का अत्यत दु:खद प्रसग है, किंतु औरगजेब की तानाशाही ने मुगल साम्राज्य का भी विघटन कर दिया था। अतिम मुगल सम्राट अत्यत शक्तिहीन शासक हुए थे। उनमे से एक मुहम्मदशाह को अपना राज्य प्रबध ठीक करने के लिए आमेर के सवाई राजा जयसिह से सहायता लेनी पडी थी। जयसिह एक धर्मप्राण राजा था। उसने अपने ढग से ब्रज के धर्म-सप्रदायो की स्थिति सुधारने का भी प्रयत्न किया था, किंतु उससे कुछ भक्ति सप्रदायो को बडी असुविधा हुई थी। उसके बाद अहमदशाह अब्दाली के भीषण आक्रमण ने ब्रज के धर्म-सप्रदायो का रहा-सहा महत्व भी समाप्त प्राय कर दिया था। इस प्रकार इस अध्याय मे सभी सप्रदायो के चरमोत्कर्ष के विशद वर्णन के साथ उनके अपकर्ष की करुण कथा भी लिखी गई है।

युगातरकारी परिवर्तनो के पश्चात् किसी न किसी रूप मे अब भी विद्यमान है, जब कि इसी काल मे अनेक धर्म-सप्रदायो का या तो अत हो गया या वे प्रभावहीन हो गये। इसका निष्कर्ष यह है कि धर्मोपासना की प्रगति उस राष्ट्र अथवा राज्य मे होती है, जो शस्त्रो से रक्षित होता है,—'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र चिन्ता प्रवर्तते।' जिस काल मे ब्रज शस्त्रो से रक्षित रहा, उस काल मे यहाँ के सभी धर्म-सप्रदाय खूब फूले-फले। जब शस्त्र-बल की कमी हुई, तभी आक्रमणकारियो ने यहाँ की धार्मिक प्रगति को नष्ट कर दिया। ये निष्कर्ष ब्रज के साथ ही साथ समस्त देश की धार्मिक उन्नति के भी मूल मत्र हैं।

इस ग्रंथ के अत मे 'सहायक साहित्य' के रूप मे ७५० प्रकाशित एव अप्रकाशित पुस्तको तथा पत्र-पत्रिकाओ के नामो की सूची है, जिनमे से अनेक का उपयोग लेखक ने किया है। उसके अनतर ३१ पृष्ठो की वृहत् 'अनुक्रमणिका' है। यह सूची और अनुक्रमणिका सदर्भ की सुविधा के लिए बडे परिश्रम से प्रस्तुत की गई है। इस ग्रथ मे जो अनेक चित्र दिये गये है, उनसे इसकी उपयोगिता मे वृद्धि हुई है।

प्रस्तुत ग्रथ की रचना के सबध मे भी मुझे कुछ कहना है। बडे आश्चर्य की बात है कि ब्रज के धर्म-सप्रदायो की इतनी समृद्ध परपरा होते हुए भी उनमे से किसी एक का भी व्यवस्थित [illegible] मे इतिहास नही मिलता है। ऐसी स्थिति मे किसी एक धर्म-सप्रदाय का समुचित इतिहास लि[illegible] भी सरल नही है। फिर इस ग्रथ मे तो उन सब का एक साथ क्रमवद्ध ऐतिहासिक वृत्तात [illegible] की चेष्टा की गई है। यह कितना बडा कार्य है, और इसके लिए आवश्यक सामग्री जुटाने [illegible] कितना कठिन परिश्रम करना पडा है, इसे शोधक विद्वान अथवा भुक्तभोगी लेखक ही समझ [illegible] साधारण पाठक तो उसका अनुमान भी नही लगा सकते। इस प्रकार के बडे और साथ [illegible] प्रयास मे त्रुटियो एव भ्रातियो का रह जाना सर्वथा सभव है। मैं तो केवल इतना ही कह [illegible] मैंने जान बूझ कर कोई भ्रात कथन करने की चेष्टा नही की है। ब्रज के सभी धर्म-सप्रद[illegible] मेरी श्रद्धा है, और मैंने इसी भावना से तटस्थता पूर्वक यथा सभव उनका प्रामाणिक [illegible] का प्रयत्न किया है। फिर भी इस ग्रथ की किसी त्रुटि की ओर मेरा ध्यान दिलाने और उसका [illegible] समाधान किये जाने पर मैं उसे आगामी सस्करण मे सुधार दूँगा। मैं जानता हूँ, यहाँ के कतिपय सप्रदायो मे एक दूसरे के विरुद्ध कुछ बाते प्रचलित है, जिन्हे मनवाने के लिए उनके अनुयायियो का बड़ा आग्रह रहता है। ऐसे सज्जनो से मेरा निवेदन है कि वे किसी दूसरे सप्रदाय के विरुद्ध प्रचार करने की अपेक्षा अपने सप्रदाय का विस्तृत ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करे। ऐसा होने पर वे अपने सप्रदाय की सेवा करने के साथ ही साथ ब्रज के धार्मिक इतिहास के सशोधन और सवर्धन का भी महत्वपूर्ण कार्य कर सकेगे। अत मे मैं उन सभी विद्वानो का अत्यत अनुगृहीत हूँ, जिनके ग्रथो से मैंने सहायता ली है, अथवा जिनसे कोई सामग्री या सूचना प्राप्त की है। इस ग्रथ मे मुद्रित चित्रो के कुछ ब्लाक मुझे श्रीनिकुज वृदावन के अधिकारी ब्रजवल्लभशरण जी, मथुरा के गो० व्रजरमणलाल जी, गो० माधवराय जी और पुरातत्त्व सग्रहालय के अध्यक्ष श्री वी एन. श्रीवास्तव से प्राप्त हुए हैं। इन सज्जनो के इस सहयोग के लिए मैं उनका आभारी हूँ।

साहित्य सस्थान, मथुरा।
आश्विन शु १० (विजया दशमी), स २०२५

—प्रभुदयाल मीतल

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

आदि काल

[प्रागैतिहासिक काल से विक्रमपूर्व स. ५६६ तक]

विषय — पृष्ठ सख्या

१ वैदिक धर्म

२ नारायणीय धर्म

३ सात्वत-पंचरात्र धर्म

४ अवैदिक देवोपासना

द्वितीय अध्याय

प्राचीन काल

[विक्रम्पूर्व स ५६६ से विक्रमपूर्व सं ४३ तक]

१. बौद्ध धर्म

तृतीय अध्याय

पूर्व मध्य काल

(विक्रमपूर्व स ४३ से विक्रम-पश्चात् स ६०० तक)

चतुर्थ अध्याय

मध्य काल

[विक्रम सं. ६०० से विक्रम सं. १२६३ तक]

पंचम अध्याय

उत्तर मध्य काल (१)

[विक्रम स १२६३ से विक्रम स १५८३]

षष्ठ अध्याय

उत्तर मध्य काल (२)

[विक्रम सं १५८३ से विक्रम सं १८८३]

३ निंवार्क संप्रदाय

४ राधावल्लभ संप्रदाय

अन्य धर्म-संप्रदाय

जैन धर्म

सप्तम अध्याय

आधुनिक काल

(विक्रमपूर्व स १८८३ से विक्रम स. २०२४ तक)

चैतन्य संप्रदाय

हरिदास संप्रदाय

राधावल्लभ संप्रदाय

अन्य धर्म-संप्रदाय

जैन धर्म

शैव धर्म

शाक्त धर्म

रामानुज संप्रदाय

परिशिष्ट

चित्र-सूची

संशोधन की सूचना

ग्रंथ को शुद्ध रूप मे छापने की पूरी सावधानी करने पर भी कुछ अशुद्धियां रह गई हैं। पाठक उन्हे शुद्ध कर लेने की कृपा करे, विशेषतया निम्न लिखित अशुद्धियो को—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८	१०	कर्मण्यता	अकर्मण्यता
४१	३४	बुद्धिक	बुद्धिल
५१	१८	लिप्त	लुप्त
५६	१३	छठी	तृतीय
२१०	३६	कामवन	अन्यत्र
२१३	१८	महानुवर्ती	मतानुवर्ती
३३५	७	गोणीय	गौडीय
३४०	११	१७७५	१७८०
३४१	१२	एक	डेढ
३६२	१८	भाटियानी	भट्टी
३६८	८	श्री विहारी जी	श्री राधावल्लभ जी
४३९	टिप्पणी	केलिदास	केलिमाल
४४०	३६	१६३७	१६३२
४६८	१९	'केलिमाल' के टीकाकार आचार्य नागरीदास जी नही थे, वरन् पीतांबरदास जी के शिष्य अन्य नागरीदास थे।	
५१२	२९	गोकुलनाथ	गोकुलदास
५२७	१५	गोविंदलाल	गोविंदराय

ब्रज के
धर्म-संप्रदायों का
इतिहास

प्रथम अध्याय

आदि काल

[प्रागैतिहासिक काल से विक्रमपूर्व स० ५६६ तक]

उपक्रम—

ब्रज का धार्मिक महत्व—ब्रज अति प्राचीन काल से ही एक सुप्रसिद्ध धार्मिक क्षेत्र रहा यहाँ की सस्कृति का मौलिक आधार और इसकी मूल चेतना भी धर्म ही है, अत यह एक र्मिक सस्कृति है। ब्रज को यह गौरव प्राप्त है कि यहाँ पर भारत के प्राय सभी प्रमुख धर्म-दायो का विकास हुआ था और यहाँ की धार्मिक सस्कृति ने विभिन्न कालो मे देश के अधिकाश ों को प्रभावित किया था। ऐसी स्थिति मे ब्रज के सास्कृतिक इतिहास मे यहाँ के धार्मिक महत्व प्रमुख रूप से उल्लेख होना स्वाभाविक है।

काल-विभाजन—ब्रज के सास्कृतिक इतिहास के इस खड मे ब्रज के उन सभी धर्म-दायो का क्रमबद्ध विवरण देने की चेष्टा की गई है, जिन्होने ब्रज सस्कृति को इतना गौरवान्वित ा है। विवेचन की सगति और अध्ययन की सुविधा के लिए इस विवरण को निम्न लिखित ों मे विभाजित किया गया है—

१ आदि काल— प्रागैतिहासिक काल से विक्रमपूर्व स० ५६६ तक
(वैदिक काल से बुद्धपूर्व काल तक)

२ प्राचीन काल— विक्रमपूर्व स० ५६६ से विक्रमपूर्व स० ४३ तक
(बुद्ध काल से शुग काल तक)

३. पूर्वमध्य काल— विक्रमपूर्व स० ४३ से विक्रम-पश्चात् स० ६०० तक
(शक काल से गुप्त काल तक)

४ मध्य काल— विक्रम स० ६०० से स० १२६३ तक
(मौखरी-बर्धन काल से राजपूत काल तक)

५. उत्तरमध्य काल—(१) विक्रम स० १२६३ से स० १८८३ तक
(सल्तनत काल से जाट-मरहटा काल तक)

६. ,, ,, —(२) ,, ,, ,,

७ आधुनिक काल— विक्रम स० १८८३ से स० २०२३ तक
(अगरेजी शासन काल से स्वाधीनता काल तक)

प्रथम अध्याय की कालावधि—वर्षो की पूर्वोक्त सीमा मे इस प्रथम अध्याय की कालावधि समेटना सभव नही है। इस अवधि का एक सिरा वैदिक धर्म के अज्ञात युग मे पहुँच कर हो जाता है, तो इसका दूसरा सिरा बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तक भगवान् बुद्ध के जन्म से पहिले के हासिक युग मे आता है, इसीलिए हमने इसकी अवधि प्रागैतिहासिक काल से विक्रमपूर्व ५६६ तक की मानी है। यह अवधि कई हजार वर्षो की हो सकती है। इस वृहत् काल मे प्राचीन ने धार्मिक क्षेत्र मे जो महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की थी, उसका कोई स्पष्ट चित्र उपलब्ध नही है। लिए इसका सक्षिप्त विवरण देकर ही सतोष करना पडा है।

धर्म का स्वरूप और भारतीय सस्कृति मे उसकी महत्ता—

'धर्म' शब्द और उसका अर्थ—धर्म एक छोटा सा शब्द है किंतु भारतीय सस्कृति मे यह बहुत बडे अर्थ का द्योतक माना गया है। 'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति सस्कृत भाषा की 'धृ' धातु से हुई है, जिसका अर्थ 'धारण करना' है। 'धारणात् धर्ममित्याहु धर्मो धारयति प्रजा'—धर्म प्रजा को एक सूत्र मे धारण करता है, इसीलिए इसे 'धर्म' कहते हैं। इस परिभाषा से समझा जा सकता है कि जिन मौलिक सिद्धातो पर मानव-जीवन का आधार है, उन्ही का नाम 'धर्म' है। किसी अन्य देश अथवा किसी विदेशी भाषा मे 'धर्म' का ठीक पर्यायवाची शब्द नही मिलता है, अत विदेशी शब्द 'रिलीजन' अथवा 'मजहब' से भी धर्म के यथार्थ अभिप्राय का बोध नही होता है। 'धर्म' और 'सस्कृति' दोनो ही अपने महत्व और अर्थ-विस्तार के कारण हमारे शब्द-कोष के अनुपम रत्न कहे जा सकते है।

धर्म के लक्षण और उसकी पहिचान—हमारे ऋषि-मुनियो ने अपने दीर्घकालीन चिंतन, मनन और अनुभव के द्वारा धर्म का जो वास्तविक अभिप्राय समझा था उसे भारत के आदिम धर्मशास्त्री मनु ने व्यवस्थित रूप मे प्रस्तुत किया है। उन्होंने धर्म के दस लक्षण बतलाये हैं—१ धैर्य, २ क्षमा, ३ मन का निग्रह, ४ चोरी का त्याग, ५ पवित्रता, ६ इद्रियो का निग्रह, ७ बुद्धि, ८ विद्या, ९ सत्य और १० क्रोध का अभाव[1]। कहने की आवश्यकता नही है कि यही वे मौलिक सिद्धात है, जिन पर अखिल विश्व के मानव-जीवन का आधार है।

उक्त सिद्धातो पर आधारित धर्म की पहिचान के लिए मनु ने चार साधनो का निर्देश किया है। वे है,—१. वेद, २ स्मृति (धर्मशास्त्र) ३ सदाचार (सत्पुरुषो का आचरण) और ४ आत्म बोध[2]। धर्म का मूल 'वेद' है, अत श्रुति-वचन धर्म की पहिचान के प्रमुख साधन हैं। श्रुतियो का स्पष्टीकरण स्मृतियो मे किया गया है। यदि श्रुतियो और स्मृतियो के वचनो मे किसी को सामजस्य ज्ञात न हो, तो उसका निश्चय सत्पुरुषो के आचरण से किया जा सकता है। यदि उनमे भी कोई शका जान पडे, तब उसका निर्णय अपनी अतरात्मा मे करना चाहिए। कई विचारको ने इन साधनो को अनुलोम और प्रतिलोम क्रमानुसार विभिन्न प्रकारो मे प्रस्तुत किया है, किंतु उनसे धर्म को पहिचानने की उक्त कसौटी मे कोई अतर नही आता है।

भारतीय धर्म की उपादेयता—धर्म की जैसी मौलिक, सार्वभौम और सर्वांगीण परिभाषा भारत मे की गई है और उसका जैसा सर्वकालीन, सर्वजनोपयोगी एव सामजस्यमूलक स्वरूप इस देश के मनीषियो ने प्रस्तुत किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इसीलिए भारतीय धर्म मे सकीर्णता, असहिष्णुता और अनुदारता का पूर्णतया अभाव है। इसका यह सुफल हुआ है कि विभिन्न विचारो के व्यक्ति यहाँ सदैव सहिष्णुता पूर्वक निवास करते रहे है, जब कि अन्य देशो मे ऐसा नही हुआ है। वहाँ के तथाकथित धर्म ही सारे झगडे-फसाद, मार-काट एव खून-खराबी के दृश्य उपस्थित करते रहे हैं। इसका कारण उनमे धर्म के मौलिक तत्वो का अभाव ही कहा जा सकता है। ऐसी दशा मे उन्हे 'धर्म' जैसा गौरवशाली नाम देना कहाँ तक उचित है, यह विचारणीय है।

---

(१) मनुस्मृति, ६–९२

(२) मनुस्मृति, २–६, २–१२

साधारणतया धर्म को पारलौकिक कल्याण का साधन माना जाता है, किंतु भारतीय मनीषियो ने इसका जो स्वरूप निर्धारित किया है, वह पारलौकिक कल्याण के साथ ही साथ लौकिक सुख-समृद्धि का भी साधक है। इस देश के सुप्रसिद्ध दार्शनिक कणाद ने कहा है,—"जिससे इस जीवन मे अभ्युदय (लौकिक उन्नति) और उसके पश्चात् निःश्रेयस् (पारलौकिक कल्याण—मोक्ष) की सिद्धि हो, वही 'धर्म' है[1]।" इस प्रकार यथोचित रीति से धर्म का आचरण करने पर लौकिक सुख और पारलौकिक आनद दोनो की ही प्राप्ति हो सकती है। भारतीय धर्म-साधना मे जहाँ पारलौकिक कल्याण को प्रमुखता दी गई है, वहाँ लौकिक उन्नति की भी उपेक्षा नही की गई। इहलोक और परलोक के सुदर सामजस्य से भारतीय धर्म की उपादेयता स्वयसिद्ध है।

भारत के ऋषि-मुनियो ने प्रत्येक व्यक्ति के लिए जिन चार पदार्थो की नितात आवश्यकता बतलाई है, वे है क्रमानुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमे वर्तमान युग के चिर इच्छित 'अर्थ' और 'काम' भी है, किंतु उन्हे प्राप्त करने के लिए धर्म का आश्रय लेना आवश्यक माना गया है। धर्मपूर्वक 'अर्थ' और 'काम' को उपलब्धि करने पर अतत 'मोक्ष' के आनद को भी प्राप्त किया जा सकता है। आजकल की भौतिक सभ्यता मे सब लोग 'अर्थ' और 'काम' की प्राप्ति मे तो जी-जान से लगे हुए है, किंतु वे 'धर्म' और 'मोक्ष' की पूर्णरूप से उपेक्षा करते है।

ऐसी ही स्थिति महाभारत के काल मे भी ससार की हुई थी। उस समय भौतिक सभ्यता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। यद्यपि उस काल मे धार्मिक उन्नति भी कम नही हुई थी, तथापि उसे भौतिक समृद्धि ने प्रभावहीन कर दिया था। उसकी चकाचोध से अभिभूत होकर लोगो ने अर्थ और काम की सिद्धि के लिए धर्म की उपेक्षा करना आरभ कर दिया था। उससे दुखी होकर महामुनि व्यास ने कहा था,—"मै दोनो भुजाओ को ऊँचा कर पुकार-पुकार कर कह रहा हूँ, किंतु मेरी बात कोई नही सुनता है। धर्म से केवल मोक्ष की ही नही, अर्थ और काम की भी सिद्धि होती है, तब भी न मालूम लोग उसका सेवन क्यो नही करते[2]।" यदि उस समय के मदाध राजा और उनकी मूढ प्रजा ने महामुनि व्यास के कथन पर ध्यान दिया होता, तो महाभारत के युद्ध का सा भीषण विनाश न हो पाता। यदि अब भी उससे शिक्षा न ली गई, तो वर्तमान भौतिक सभ्यता का भी वैसा ही दुष्परिणाम होने वाला है।

विविध धर्मो की सार्थकता—भारतीय सस्कृति मे 'धर्म' की जैसी व्यापक परिभाषा की गई है, उसके अनुसार धर्म एक ही हो सकता है, अनेक कही। साधारणतया ससार मे अनेक धर्मो की विद्यमानता मानी जाती है, किंतु भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार उनकी सार्थकता नही है। उन तथाकथित धर्मो को सप्रदाय, मत, मार्ग और पथ कहा जा सकता है। उनकी स्थिति धर्म के साथ वैसी ही है, जैसी जल के साथ भँवर, तरग और बुलबुलो की होती है। फिर भी जैसा लोक मे प्रचलन है, हमने भी इस ग्रथ मे विविध धर्मो का नामोल्लेख किया है।

---

(१) यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः (वैशेषिक, १—२)

(२) ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष, न च कश्चित् शृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च, स किमर्थं न सेव्यते ॥ (महाभारत)

१. वैदिक धर्म

सक्षिप्त परिचय—

नाम की सार्थकता—मनु ने कहा है,—'वेदोऽखिलो धर्ममूलम् । सर्वज्ञानमयो हि न [१] ।' अर्थात्–वेद ही धर्म का मूल है और वह समस्त ज्ञान से युक्त है। भारतवर्ष के मत्रद्रष्टा ऋषियो ने अपने चिरकालीन चितन, मनन और अनुभव से जिस परम सत्य का साक्षात्कार किया था, उसके उद्घोष की सज्ञा 'वेद' हुई। व्युत्पत्ति के अनुसार वेद का अर्थ है—'ज्ञान'। इस प्रकार जो चिरतन ज्ञान प्राचीन ऋषियो द्वारा मत्रो–ऋचाओ के रूप मे प्रस्तुत किया गया, उसी का नाम 'वेद' है और उसमे वर्णित आचार-विचार की सज्ञा 'वैदिक धर्म' है। वेद पर आधारित होने से ही भारत के उक्त प्राचीनतम धर्म को 'वैदिक धर्म' कहा गया है। श्रेष्ठतम मानवो की आदिम अनुभूति तथा अनादि काल से मान्य शाश्वत सत्य होने से इसे 'सनातन धर्म' भी कहते हैं।

ससार के अन्य तथाकथित धर्म तथा समस्त सप्रदाय किसी न किसी महापुरुष द्वारा प्रचलित किये गये है, किंतु वैदिक धर्म की यह विशेषता है कि इसके प्रचलनकर्ता का नाम नही बतलाया जा सकता। वस्तुत इस धर्म का प्रवर्तक कोई विशिष्ट महापुरुष हुआ ही नही। भारत के मत्रद्रष्टा ऋषियो ने जिस परम सत्य का साक्षात्कार किया था, वह मत्रो–ऋचाओ के रूप मे पहिले गुरु–शिष्य परपरा द्वारा एक-दूसरे से सुन कर कठस्थ किया जाता था, इसीलिए उसकी 'श्रुति' सज्ञा हुई थी। कालातर मे उसे लिखित रूप प्रदान किया गया था।

वैदिक धर्म के दो प्रमुख अग है, जिन्हे १ देव तत्व और २ यज्ञ तत्व कहा जाता है। वेद मे इन दोनो को भी उनके व्यापक अर्थ मे ही लिया गया है। यहाँ पर उनका सक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

देव तत्व—वैदिक ऋषियो ने परम सत्य के खड रूप मे जिन प्राकृतिक शक्तियो की महत्ता का अनुभव किया था, उन्हे अग्नि, इद्र, वरुण, सूर्य, सविता, उषा आदि नाम दिये गये। उन सब को देवता समझा गया और उनके मानव रूपो की कल्पना की गई। ऋग्वेद मे इद्र, वरुण और सविता का अधिक मानवीकरण किया गया है, किंतु उनके मूल प्राकृतिक स्वरूप को भी नही भुलाया गया है।

वैदिक देव तत्व मे ३३ देवता माने गये हैं, जिन्हे तीन वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग आकाश के देवताओ का है, जिनमे सूर्य, वरुण, सविता द्यौस, उषा, विष्णु आदि है। द्वितीय वर्ग अतरिक्ष के देवताओ का है, जिनमे इद्र, वायु, रुद्र आदि है। तृतीय वर्ग पृथ्वी के देवताओ का है, जिनमे अग्नि, सोम आदि हैं। आकाशीय देवताओ मे सूर्य का महत्व सर्वाधिक है। सविता और विष्णु भी सौर देवता ही है। वैदिक देव तत्व मे विष्णु द्वितीय श्रेणी का देवता है, किंतु कालातर मे उसका बडा व्यापक महत्व हो गया था। अतरिक्षीय देवताओ मे इद्र प्रमुख है, जिसे आर्यो का राष्ट्रीय देवता तथा बल और शक्ति का प्रतीक माना गया है। वह

(१) मनुस्मृति, २-६, २-७

आर्यों के शत्रु असुरों को युद्ध मे पराजित कर उनके पुरो को नष्ट कर देता है, इसीलिए उसे 'पुरदर' भी कहा गया है। उसे वर्षा का देवता समझा गया और वज्र उसका आयुध माना गया। कालातर मे उसका महत्व बहुत कम हो गया था। कृष्ण-काल मे इद्र को श्रीकृष्ण द्वारा पराजित दिखलाया गया है। पृथ्वी के देवताओं मे अग्नि की प्रमुखता है। ऋग्वेद मे जितने सूक्त अग्नि की स्तुति के है, उतने किसी भी अन्य देवता के नही है।

वैदिक ऋषियो ने प्राकृतिक शक्तियो के रूप मे विविध देवताओं की कल्पना अवश्य की थी, किंतु अतत उन्होने घोषित किया कि समस्त देव तत्व का आधार कोई मूल तत्व है। वही समस्त देवताओ मे व्याप्त है और उनके परे भी है। ऋग्वेद मे कहा गया है—'एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'; उस 'एक' मूल तत्व को ही मनीषी 'अनेक' नामो से कहते है। इसका स्पष्टीकरण प्रश्नोत्तर के रूप मे इस प्रकार किया गया है—

प्रश्न—कस्मै देवाय हविषा विधेम् ? (ऋग्वेद १०-१२१-५)

अर्थात्—हम किस देव की स्तुति और उपासना करे ?

उत्तर—येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व' स्तभित येन नाक ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमान कस्मै देवाय हविषा विधेम् ।। (ऋग्० १०-१२१-५)

अर्थात्—जिस दैवी शक्ति ने इस विशाल द्युलोक को, इस पृथिवी को, स्वर्लोक और नरक लोक को अपने-अपने स्वरूप मे स्थिर कर रखा है और जो अतरिक्ष लोक मे भी व्याप्त हो रही है, उसको छोड कर हम और किस देव की स्तुति और उपासना कर सकते है ! इससे हमको उसी महाशक्तिरूपिणी देवता की पूजा करनी चाहिए[1]।

अग्नि, आदित्य, वायु, चद्र, शुक्र प्रजापति आदि सभी देवता एक ही मूल तत्व की विभूतियाँ है। वह मूल तत्व समस्त विश्व मे व्याप्त है और यह सृष्टि उसी से उत्पन्न हुई है[2]। इस प्रकार आर्यों के देव तत्व मे बहुदेववाद के साथ एकत्ववाद या एकेश्वरवाद अथवा सर्वेश्वरवाद का सुदर समन्वय किया गया है। वेदोक्त 'पुरुषसूक्त' मे जहाँ एकत्ववाद का प्रतिपादन है, वहाँ 'नासदीय सूक्त' मे सर्वेश्वरवाद दिखलाई देता है।

यज्ञ तत्व—वैदिक धर्म का दूसरा प्रमुख अग यज्ञ तत्व है। वेद मे 'यज्ञ' का उल्लेख अत्यत व्यापक अर्थ मे किया गया है। मानव जीवन की ऐसी कोई महत्वपूर्ण क्रिया नही है, जिसे यज्ञ से सम्बद्ध न किया गया हो ! वस्तुत यज्ञ ही वैदिक धर्म और सस्कृति का आधार है। "क्या देवो के साथ आत्मभाव, क्या दीर्घायुत्व, क्या सपत्ति सबकी साधना का एकमेव और अनुपम साधन था यज्ञ। विश्व इकाई जिसमे निहित है, उस परमात्मा के यज्ञ-रूप की कल्पना ऋग्वेद मे विद्यमान है। यज्ञ ही उत्पत्ति का मूल है, विश्व का आधार है। पापो का नाश, शत्रुओ का सहार, विपत्तियो का निवारण, राक्षसो का विध्वस, व्याधियो का परिहार सब यज्ञ से ही सम्पन्न होता है। क्या दीर्घायुत्व, क्या समृद्धि, क्या अमरत्व सबका साधन यज्ञ ही माना गया है। वास्तव मे वैदिको के जीवन का सम्पूर्ण दर्शन यज्ञ मे ही सुरक्षित है[3]।"

---

(१) भारतीय संस्कृति का विकास, पृष्ठ १६१
(२) यजुर्वेद, ३२-१, ३२-८
(३) वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ ४०

वैदिक धर्म मे जिन यज्ञो का विधान है, उनमे सोम, अग्निष्टोम, आप्तोर्याम, अग्न्याधेय, गवामयन, अश्वमेध और राजसूय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यजुर्वेद सहिता में यज्ञ तत्व का विशद वर्णन है। ब्राह्मण ग्रथो मे उसका और भी अधिक विस्तार किया गया है। देव तत्व और यज्ञ तत्व का परस्पर घनिष्ट सवध है। वैदिक धर्म मे जिन प्राकृतिक शक्तियो को देव रूप प्रदान किया गया, उन्ही के लिए यज्ञ तत्व का भी विधान हुआ था। वैदिक ऋचाओ से देवताओ की स्तुति की जाती थी और उन्हे सतुष्ट कर उनके द्वारा समस्त कामनाओ की सिद्धि के लिए यज्ञ किये जाते थे। ऋग्वेद मे अनार्यो और दस्युओ को 'अयज्यव या 'अयज्ञा' कहा गया है, क्यो कि वे वैदिक देवता और यज्ञ प्रथा को नही मानते थे।

वैदिक धर्म का विकास—वैदिक धर्म सहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि के रचना-क्रम से विकसित हुआ था। सहिता चार हे, जो ऋक्, यजु साम और अथर्व के नाम से प्रसिद्ध है। विद्वानो का मत है, आरभ मे केवल एक ही सहिता थी। कालातर मे उसे ऋक्, यजु और साम के नाम से तीन भागो मे विभाजित कर दिया गया, जिनसे क्रमश ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के रूप मे 'वेदत्रयी' की प्रसिद्धि हुई। चौथे अथर्ववेद का रचना-काल बहुत बाद का माना जाता है। भागवत मे लिखा है, मूल रूप मे एक ही वेद था, जिसे महामुनि कृष्ण द्वैपायन ने यज्ञ की सुविधा के लिए चार भागो मे विभाजित कर दिया था[1]। वेद का विभाग करने के कारण ही उन्हे 'वेद-व्यास' कहा गया हे।

चारो वेदो मे ऋग्वेद सवसे प्राचीन और सर्वाधिक महत्व का हे। इसे ससार का आदिम धर्म ग्रथ माना जाता है। इसमे वैदिक देवताओ की स्तुति के पद्यात्मक मत्र हे, जिन्हे ऋचाएँ कहते है। यजुर्वेद मे यज्ञकाड से सबधित गद्यात्मक मत्र है। इसके दो भाग हे, जिन्हे 'शुक्ल यजुर्वेद' और 'कृष्ण यजुर्वेद' कहा जाता है। सामवेद मे गीतात्मक मत्र हे, जिन्हे यज्ञो के समय सस्वर गाया जाता था। अथर्ववेद मे लौकिक कार्यो की सिद्धि के मत्र है। इसमे अन्य बातो के साथ ही साथ उच्चाटन–मोहन–मारण के मत्र-तत्र, रक्षा-सिद्धि सबधी गुह्य साधनाएँ तथा राक्षस-पिशाच आदि भयानक शक्तियो का उल्लेख है, जो अन्य वेदो मे नही मिलता है। इस वेद के अनेक विषय उन अनार्य आदिवासियो से सबधित ज्ञात होते है, जिन्हे आर्यगण पहिले उपेक्षा पूर्वक 'व्रात्य' कहते थे। कालातर मे जब आर्यो ने उन्हे अपना लिया, तब उनकी गुह्य साधना भी वैदिक धर्म मे सम्मिलित कर ली गई थी।

ब्राह्मण ग्रथो मे कर्मकाड और याज्ञिक विधि का विस्तार पूर्वक वर्णन है। आरण्यको मे उपासना एव ज्ञान के साथ ही साथ उस आध्यात्मिक विचारधारा का सूत्रपात दिखलाई देता है, जिसका पूर्ण विकास उपनिषदो मे हुआ हे। वैदिक सहिताओ मे जिस परम तत्व की 'सत्' सज्ञा है, उसे उपनिषदो मे 'ब्रह्म' कहा गया है। उपनिषदो की सख्या १०८ मानी जाती है। उनमे ब्रह्म, जीव, जगत्, प्रवृत्ति, निवृत्ति और मुक्ति आदि का सूक्ष्म विवेचन हुआ है। वैदिक धर्म का पूर्व-कालिक रूप सहिताओ और ब्राह्मणो मे तथा उत्तरकालिक रूप आरण्यको और उपनिषदो मे मिलता है। पूर्वकालिक रूप मे कर्मकाड और यज्ञो की प्रधानता थी तथा उत्तरकालिक रूप मे ज्ञान एव अध्यात्म को प्रमुखता प्राप्त हुई थी।

---

(१) श्रीमद् भागवत, १।४।१९–२०

वैदिक वाङ्मय—उपनिपद् काल तक वैदिक धर्म का विशद वाङ्मय प्रस्तुत हो गया था। उस समय उस सबको कठस्थ करना अत्यत कठिन प्रतीत होने लगा। उस कठिनाई को दूर करने के लिए सूत्र रूप मे रचनाएँ करने की परपरा प्रचलित हुई थी। उन रचनाओ को 'वेदाग' कहा गया है। वेदागो के नाम १ शिक्षा, २ छद, ३ निरुक्त, ४ व्याकरण, ५ ज्यौतिप और ६ कल्प है। 'कल्प' नामक वेदाग के अतर्गत श्रौत, गृह्य और धर्म सूक्तो की रचना क्रमश लाट्यायन, आश्वलायन और आपस्तम्ब आदि ऋपियो ने की थी। कालातर मे धर्म सूत्रो के आधार पर स्मृतियो की रचना हुई थी, जिनमे मनु स्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

वैदिक धर्म के रथ को सुचारु रूप से सचालित करने के लिए जिन दो चक्रो की व्यवस्था की गई, उन्हे 'आचार' और 'विचार' के नाम दिये जा सकते है। 'आचार' को व्यवस्थित रूप देने का प्रमुख श्रेय वेद, ब्राह्मण और वेदाग को है, जब कि 'विचार' के आधार-स्तभ विशेप रूप से उपनिपद् है। उपनिपदो के 'विचार' का विस्तार 'दर्शन' मे हुआ है। 'धर्म' के साथ 'दर्शन' का घनिष्ठ सबध है और वे दोनो एक दूसरे के पूरक है। दर्शन छै है, जिनके नाम १ साख्य, २ योग, ३. वैशेपिक, ४ न्याय, ५. मीमासा और ६ वेदात है।

उपनिपदो का सार-तत्व भगवत्गीता है। दर्शनो मे प्रमुख वेदात है, जिसे 'ब्रह्मसूत्र' भी कहा जाता है। वैदिक 'विचार'-धारा मे अवगाहन करने के प्रमुख साधन उपनिपद, गीता और ब्रह्मसूत्र है, जिन्हे 'प्रस्थानत्रयी' कहा गया है। भारत के धार्मिक जीवन को जिन दो ग्रथो ने बडा प्रभावित किया है, वे है वाल्मीकि कृत 'रामायण' और द्वैपायन व्यास कृत 'महाभारत'। रामायण इस देश का 'आदि काव्य' कहलाता है और महाभारत को 'पचम वेद' कहा जाता है। इस समस्त वाङ्मय ने वैदिक धर्म को व्यवस्थित कर उसके विकास और विस्तार मे महत्वपूर्ण योग दिया है।

वैदिक जीवन-दर्शन—वैदिक धर्म ने प्राचीन आर्यो के लिए एक आदर्श जीवन-दर्शन का निर्माण किया था, जो यज्ञ अर्थात् कर्म प्रधान था। उसके द्वारा आर्य गण कर्म करते हुए अपने जीवन का उत्तरोत्तर विकास करते थे और उनका अतिम लक्ष दिव्य ज्योतिर्मय लोक मे अमृतत्व अर्थात् नि श्रेयस की प्राप्ति करना होता था। वे प्राकृतिक शक्तियो के रूप मे विविध देवताओ की उपासना करते थे; किंतु उन सबमे व्याप्त एक मूल शक्ति अर्थात् परमतत्व की सत्ता मे उनका विश्वास था। उपनिषद काल मे उस मूल शक्ति रूप परमतत्व को 'ब्रह्म' कहा जाने लगा था।

आर्यो के सामाजिक जीवन मे वर्ण और आश्रम का बडा महत्व था। समस्त आर्य समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के नाम से चार वर्णो मे विभाजित था। वर्ण व्यवस्था जन्मप्रधान न होकर कर्मप्रधान थी और प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसके वर्ण के अनुसार कर्म करना अनिवार्य था। आयु के क्रम से प्रत्येक व्यक्ति के लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास नामक चार आश्रमो की व्यवस्था की गई थी। गृहस्थ आश्रम को बडा महत्वपूर्ण माना जाता था, क्यो कि उसी के द्वारा समस्त धर्म-कर्मो का यथोचित निर्वाह करना सभव था। आर्यो का रहन-सहन सादा था और उनकी सस्कृति ग्रामप्रधान थी। उनकी जीविका का प्रमुख आधार कृपि और पशु-पालन था। वैदिक काल का जीवन सुखी, सतुष्ट, अभावरहित और उल्लासपूर्ण था। आर्यो मे दु ख, निराशा और असतोप की भावना नही थी। वेदो मे ऐसे अनेक मत्र है, जिनमे आर्यगण कर्म करते हुए सुख और आनद से सौ वर्ष तक जीवित रह कर अत मे अमृतत्व की कामना करते हुए दिखलाई देते है।

भारत मे वैदिक आर्यो के समकालीन अनार्य भी थे, जिनकी प्रथक् सस्कृति थी। आर्यो की कुटुम्ब सस्था पितृप्रधान और अनार्यो की मातृप्रधान थी। अनार्यो मे मातृ-पूजा प्रचुरता मे प्रचलित थी। आर्यो की सस्कृति ग्रामप्रधान और अनार्यो की नगरप्रधान थी। अनार्य शिल्प कला मे बडे निष्णात थे और उन्होने बडे-बडे नगरो का निर्माण किया था। आरभ मे आर्यो और अनार्यो मे बडा सघर्ष हुआ, जिसका उल्लेख वेदो मे 'देवासुर सग्राम' के रूप मे मिलता है। कालातर मे आर्यो ने अनार्यो को पराजित कर दिया और अतत उन्हे अपने समुदाय मे मिला लिया था। उसके फल-स्वरूप आर्य सस्कृति और वैदिक धर्म मे अनार्यो की रीति-रिवाज, पूजा-पद्धति और उनके देवी-देवताओ का समावेश हो गया था। इससे भारत की प्राचीन सस्कृति और वैदिक धर्म का बडा समुन्नत और विकसित रूप निर्मित हुआ था।

वैदिक धर्म के विकास मे प्राचीन ब्रज का योग—

प्राचीन काल मे ब्रज को 'शूरसेन' कहा जाता था। वैदिक धर्म के विकास मे प्राचीन ब्रज अर्थात् शूरसेन जनपद ने कितना योग दिया, उसका कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता है। वैदिक वाड्मय मे जिन नदियो के नाम मिलते है, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसकी रचना ब्रह्मर्षि प्रदेश से लेकर ब्रह्मावर्त तक हुई होगी। इस प्रकार वैदिक धर्म का पूर्वकालिक रूप सिधु नदी से लेकर सरस्वती-दृपद्वती नदियो तक और उत्तरकालिक रूप यमुना तटवर्ती शूरसेन तक के क्षेत्र मे विकसित हुआ था।

शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मणो से ज्ञात होता है कि पचाल और कुरु जनपदो के मनीषियो ने सहिताओ और ब्राह्मण ग्रथो को अतिम रूप प्रदान किया था। उन प्रदेशो मे वैदिक धर्म और वैदिक सस्कृति का बडा प्रचार था और वहाँ के राजाओ ने अनेक यज्ञ किये थे। पचाल के क्षत्रिय शासक प्रवाहण जैवलि से उस काल के प्रसिद्ध तत्वज्ञानी ऋषि आरुणि और उनके पुत्र श्वेतकेतु ने आत्म विद्या का उच्च ज्ञान प्राप्त किया था[1]। कुरु-पचाल जनपदो के निकटवर्ती अरण्यो मे निवास करने वाले तपोनिष्ट ऋषि-मुनियो और राजर्षियो का उपनिषदो की रचना से घनिष्ट सबध सिद्ध होता है। शूरसेन जनपद कुरु-पचाल जनपदो का निकटस्थ प्रदेश था और वहाँ यमुना नदी के तट पर सदा से बडे-बडे अरण्यो एव सघन वनो का अस्तित्व रहा है। इससे समझा जा सकता है कि वहाँ वैदिक धर्म के उत्तरकालीन रूप, विशेष कर उपनिषदो के आध्यात्मिक दर्शन का विकास हुआ होगा।

वाल्मीकि-रामायण (उत्तर काण्ड, सर्ग ६०–६१) से ज्ञात होता है, जिस काल मे भगवान् रामचद्र अयोध्या के राजा थे, उसी काल मे प्राचीन ब्रज के मधुवन मे एक अत्याचारी राजा लवणासुर का राज्य था। उस समय यमुना तट के निवासी कुछ तपोनिष्ट ऋषिगण महर्षि च्यवन के नेतृत्व मे लवण के अत्याचारो की शिकायत भगवान् रामचद्र से करने के लिए अयोध्या गये थे। वे च्यवनादि महर्षिगण यमुना के तटवर्ती सघन वनो के आश्रमो मे निवास करते हुए ब्रह्म का चिंतन-मनन करते थे। उनके द्वारा प्राचीन ब्रज प्रदेश मे कुछ उपनिषदो की रचना होना भी सभव है, किंतु उसका कोई प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध नही होता है।

---

(१) **ब्रज का इतिहास** (प्रथम भाग), पृष्ठ ६१

२. नारायणीय धर्म

संक्षिप्त परिचय—

वैदिक कर्मकांड की प्रतिक्रिया—वैदिक धर्म मे यज्ञ-प्रधान कर्मकाड का विशेप महत्व माना गया है। पूर्व वैदिक काल अर्थात् सहिता–ब्राह्मण युग मे आर्यगण इद्रादि अनेक देवो की उपासना करते थे, और उन्हे सतुष्ट कर उनके द्वारा विविध कामनाओ की पूर्ति किये जाने लिए वे यज्ञ किया करते थे। उस काल मे आर्यो का प्रधान देवता इद्र था, जो साधारणतया समस्त सृष्टि का और विशेष रूप से अतरिक्ष का स्वामी माना जाता था। आर्यो का विश्वास था, जब इद्र प्रसन्न होते है, तभी वे विपुल वर्षा करते है, जिससे लोगो को खाद्यान्न तथा सुख–समृद्धि के साधन उपलब्ध होते है और पशुओ को चारा प्राप्त होता है। बाद मे आर्यो की यह धारणा बन गई थी कि इद्र से भी श्रेष्ठ कोई अन्य परतत्व है, जो समस्त देवताओ को अनुशासित और सृष्टि के समस्त कार्यो को सचालित करता है।

उत्तर वैदिक काल अर्थात् आरण्यक–उपनिपद् युग मे ब्रह्म-चितन रूपी ज्ञानमार्ग की ओर आर्यो का अधिक झुकाव हो गया था, किंतु उस समय भी यज्ञजन्य कर्ममार्ग के प्रचलन मे कोई अतर नही आया था। उस काल मे यज्ञ–प्रधान कर्ममार्ग और चितन–प्रधान ज्ञानमार्ग की दोनो धार्मिक प्रवृत्तियाँ समानातर रूप मे प्रचलित थी। आरभ मे यज्ञो का सीधा–सादा स्वरूप था और उन्हे सभी आर्यजन नित्य एव नैमित्तिक रूप मे किया करते थे। ब्राह्मण काल मे यज्ञो को इतना विशद, जटिल और व्ययसाध्य बना दिया था कि वे जन साधारण की शक्ति और सामर्थ्य से बाहर हो गये थे। उस समय राजा–महाराजा और अत्यत समृद्धिशाली व्यक्ति ही यज्ञ करने मे समर्थ होते थे। फिर उस काल के यज्ञो मे इतना पशु-सहार किया जाता था कि उसके कारण भी जनता की उनके प्रति अरुचि होने लगी थी। वेदकालीन उस परिस्थिति की प्रतिक्रिया मे एक धार्मिक क्राति हुई, जिसके फलस्वरूप उस नई विचार–धारा का उदय हुआ, जिसने वेदोक्त यज्ञ पद्धति और वैदिक देव तत्व के प्रचलित रूप मे परिवर्तन कर दिया था। उस विचार–धारा का परिणाम **'नारायणीय धर्म'** का प्रादुर्भाव था।

नाम और स्वरूप—यद्यपि नारायणीय धर्म का प्रादुर्भाव वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया मे हुआ था, तथापि वह वेद विरोधी नही था। उसे वैदिक धर्म का एक सशोधित रूप कहा जा सकता है। उसके आदि प्रचारक नारायण ऋषि थे, इसीलिए उसे 'नारायणीय धर्म' कहा गया है। उस धर्म के स्वरूप–ज्ञान के दो प्रमुख आधार है,—१ ऋग्वेद का 'पुरुप सूक्त' और २ महाभारत का 'नारायणीयोपाख्यान'। ऋग्वेदोक्त 'पुरुप सूक्त' इसके तत्व-दर्शन की प्रथम अभिव्यक्ति है, जब कि महाभारतीय 'नारायणीय खड' इसके धर्माचार का अतिम आख्यान है।

प्राकट्य और परंपरा—इस धर्म के द्वारा वैदिक काल मे ही उस तथ्य का प्राकट्य किया गया कि इद्रादि देवताओ सहित समस्त सृष्टि का सचालक जो परतत्व है, वह 'पुरुप' के रूप मे सबका स्वामी है। वही समस्त विश्व के आदि-अत का कारण है, और वही उपासको की समस्त कामनाओ को पूर्ण करता है। उस धर्म मे इद्रादि देवो के स्थान पर 'पुरुप' स्वरूप परमात्मा की नर और नारायण के रूप मे उपासना की जाती थी। उस धर्म के आचार-विधान की सर्वाधिक महत्वपूर्ण

बात यह थी कि उसमे वेदो के हिसाप्रधान 'विधि-यज्ञ' के स्थान पर हिसारहित 'द्रव्य-यज्ञ' करने की व्यवस्था थी। उस धर्म का आदि उपदेश बदरिकाश्रम मे तपस्या करने वाले नर-नारायण ऋषियो ने नारद जी को दिया था। उन्ही की प्रेरणा से नारद जी ने 'श्वेतद्वीप' जा कर वहाँ भगवान् विष्णु के दिव्य दर्शन प्राप्त किये थे। उस धर्म की परपरा सूर्य से मानी गई और उसमे सूर्य के रूप मे विष्णु की उपासना की जाती थी। वेदो मे सूर्य और विष्णु को समानार्थक माना गया है।

नारायणीय धर्म की अहिसा-भावना के समर्थन मे महाभारत-शाति पर्व (अध्याय ३३७) के अतर्गत एक प्राचीन राजा उपरिचर का उपाख्यान दिया गया है। वह राजा नारायणीय धर्म का अनुयायी था। उसने जो यज्ञ किये थे, उनमे पशुओ की अपेक्षा तिल-यवादि हिसारहित वस्तुओ का उपयोग किया गया था। यहाँ तक जिन अश्वमेधादि यज्ञो मे आवश्यक रूप से पशु-बलि का विधान था, उनमे भी राजा उपरिचर ने हिसा नही होने दी थी। उक्त उपाख्यान मे बतलाया गया है कि राजा उपरिचर के समय मे नारायणीय धर्म का प्रचुर प्रचार हुआ, किंतु उसकी मृत्यु के पश्चात् वह ससार से लुप्तप्राय हो गया था।

श्रीकृष्ण द्वारा नारायणीय धर्म की पुन प्रतिष्ठा—

धार्मिक क्राति और उसकी प्रेरणा—नारायणीय धर्म के लुप्तप्राय हो जाने पर वैदिक धर्म की प्राचीन धारा पूर्ववत् प्रवाहित होने लगी थी। उत्तर वैदिक काल के अनतर जब श्रीकृष्ण का प्रादुर्भाव हुआ, तब वैदिक धर्म अपनी सम्पूर्ण भली-बुरी प्रवृत्तियो के साथ प्रचलित था। उस समय भी आर्यो का प्रधान देवता इद्र था और उसकी सतुष्टि के लिए आडबरपूर्ण यज्ञ किये जाते थे। श्रीकृष्ण ने अपने अन्य अद्भुत कार्यो के साथ ही साथ एक प्रबल धार्मिक क्राति भी की थी, जिसके फलस्वरूप वैदिक धर्म के प्रचलित रूप मे परिवर्तन हो गया था। उन्होने अपने बाल्य काल मे ही इद्र की अवहेलना कर उसके निमित्त किये जाने वाले यज्ञ के स्थान पर गोवर्धन-पूजा प्रचलित कर दी थी। इस प्रकार उन्होने यज्ञो की पशु-हिसा के विरोध मे गो-पालन और गो-सवर्धन रूपी पशु-रक्षा का प्रचार किया था। श्रीकृष्ण की जीवन घटनाओ और कृष्णकालीन धर्म का सबसे प्राचीन स्रोत महाभारत है, किंतु उसमे उक्त महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख नही है। कारण यह है, उसमे श्रीकृष्ण के बाल्य जीवन की अपेक्षा उनके उत्तर जीवन की घटनाएँ ही वर्णित हैं। किंतु महाभारत के परिशिष्ट हरिवश मे तथा विष्णु पुराणादि प्राचीन धार्मिक ग्र थो मे इसका विस्तृत वर्णन मिलता है।

जैसा पहिले लिखा गया है, ब्राह्मण काल मे वैदिक यज्ञ पद्धति को अत्यत विशद, जटिल और व्ययसाध्य बना दिया गया था। श्रीकृष्ण के काल मे यज्ञो का करना बडे-बडे राजा-महाराजाओ के लिए भी कठिन हो गया था। महाभारत से ज्ञात होता है, जब पाडवो ने राजसूय यज्ञ करने का विचार किया, तब उसके लिए आवश्यक धन की व्यवस्था करने मे उन्हे बडी कठिनाई हुई थी। श्रीकृष्ण ने यज्ञो के उस आडबर को कम करने और उनमे की जाने वाली पशु-हिसा को रोकने के लिए उनके रूप मे ही परिवर्तन करने का प्रचार किया था। उन्होने यज्ञ की नयी परिभाषा करते हुए बतलाया कि सर्वोत्तम यज्ञ वह है, जिसमे किसी जीव की हिसा न हो और जिससे परोपकार किया जा सके। यज्ञ की वास्तविक दक्षिणा धन-सपत्ति नही है, बल्कि तप, दान, अहिसा और सत्य है। श्रीकृष्ण को उस मन्तव्य की प्रेरणा अपने गुरु आगिरस (महर्षि अगिरा के पुत्र) घोर ऋषि से प्राप्त हुई थी।

घोर ऋषि और नारायणीय धर्म—आंगिरस घोर का उल्लेख ऋग्वेद के 'कौपीतकि ब्राह्मण', कृष्ण यजुर्वेद की शाखा 'काठक संहिता' और 'छांदोग्य उपनिषद' मे हुआ है। 'छांदोग्य उपनिषद्' (३–१७) मे आंगिरस घोर द्वारा उनके शिष्य 'देवकीपुत्र' को उपदेश दिये जाने का उल्लेख है, जिसमे अहिंसा धर्म की व्याख्या की गई है। वह 'देवकीपुत्र' वृष्णिवंशीय श्रीकृष्ण ही थे। छांदोग्य उपनिषद मे लिखा गया है, घोर आंगिरस से शिक्षा प्राप्त कर देवकीपुत्र (कृष्ण) 'अपिपास' हो गये[1]—अर्थात् उन्हे कुछ और जानने की तृषा नही रही थी। घोर द्वारा प्राप्त ज्ञान को श्रीकृष्ण ने अपने सखा अर्जुन को बतलाया था, जिसका व्यवस्थित रूप भगवत् गीता मे मिलता है।

कौपीतकि ब्राह्मण (३०–६) मे घोर ऋषि को सूर्योपासक बतलाया गया है। उनकी शिक्षा से लाभान्वित होकर श्रीकृष्ण ने स्वय गीता मे कहा है कि प्राचीन काल मे जो ज्ञान सूर्य को दिया गया था, वह बहुत काल से लुप्तप्राय हो गया था। उसी पुरातन ज्ञान को उन्होने अर्जुन को बतलाया था[2]। महाभारत के नारायणीय खड मे उल्लिखित नारायणीय धर्म की परपरा भी सूर्य से मानी गई है। इन उल्लेखो से ज्ञात होता है कि घोर ऋषि प्राचीन नारायणीय धर्म के अनुयायी थे, और उसी की शिक्षा उन्होने देवकीपुत्र कृष्ण को दी, तथा श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दी थी। इस प्रकार गीतोपदेश और श्रीकृष्ण के धार्मिक आदोलन नारायणीय धर्म की परपरा मे ही हुए थे। इससे सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण ने वैदिक धर्म मे क्रातिकारी परिवर्तन कर प्राचीन नारायणीय धर्म को अपने युग की आवश्यकताओ के अनुसार परिष्कृत रूप मे पुन प्रतिष्ठित किया था।

श्रीकृष्ण का धर्म-तत्व—कृष्ण काल मे यज्ञ-प्रधान कर्म (प्रवृत्ति) मार्ग और चिंतन-प्रधान ज्ञान (निवृत्ति) मार्ग की दो समानातर धाराएँ पूरे वेग से प्रवाहित हो रही थी। श्रीकृष्ण ने गीता के उपदेश द्वारा उनका सगम करते हुए बतलाया कि मनुष्य को कर्म अवश्य करना चाहिए, क्यो कि कर्म करना उसका सहज स्वाभाविक धर्म है। वह चाहे तब भी बिना कर्म किये क्षण भर भी नही रह सकता है; किंतु मनुष्य जो कर्म करे, उसे लोक-सग्रह के लिए कर्तव्य मान कर करे, और साथ ही साथ उसे अनासक्त भाव से अर्थात् वासनारहित होकर करे। वासनारहित निष्काम कर्म ही 'यज्ञ' है और वह आध्यात्मिक साधन मे बाधक नही होता। इस बात को गीता मे कई बार कई प्रकार से कहा गया है।

श्रीकृष्ण का कथन है, सुख–दु.ख, लाभ–हानि, जय–पराजय को समान समझ कर प्रत्येक व्यक्ति को अपना कर्तव्य कर्म करते रहना चाहिए। सिद्धि–असिद्धि मे समान बुद्धि रख कर प्रत्येक व्यक्ति को अनासक्त भाव से ही कर्म करना उचित है। कर्म के फल की चाह न कर प्रत्येक मानव को उसे अपना कर्तव्य समझना चाहिए। वह जो कुछ भी कर्म करे, उसे भगवान् को अर्पण कर दे। इस प्रकार कैसा भी कर्म किया जाय, उसके करने वाले को कोई पाप नही होगा। उन्होने कहा है, निष्काम कर्म करना कोई कठिन बात नही है, उसे कोई भी श्रद्धालु व्यक्ति सुगमता से कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य को अपना निजी कर्म करना ही उचित है, चाहे वह अधिक लाभकारी न दीखता हो।

(१) तद्धैतद् घोर आंगिरस. कृष्णाय देवकीपुत्राय उक्त्वोवाच। अपिपास एव स बभूव॥
—छांदोग्य उपनिषद् (अ० ३, खं० १७)

(२) भगवद् गीता (अध्याय ४, श्लोक १–३)

दूसरो के लाभप्रद दीखने वाले कर्म की अपेक्षा अपना निजी कर्म ही अतत उसके लिए श्रेयस्कर होगा। श्रीकृष्ण के धर्म का महत्व इसलिए अधिक माना गया कि उसमे कर्म, ज्ञान और भक्ति का अद्भुत समन्वय कर उसे सामाजिक जीवन के अनुकूल बना दिया गया है।

गीता मे वर्णित श्रीकृष्ण के धर्म-तत्व को उपनिषदो का सार, ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र कहा गया है। इसीलिए गीता के प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका मे "श्रीमद् भगवत् गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्याया योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन सवादे" लिखा मिलता है। गीता के माहात्म्य मे भी बतलाया गया है, श्रीकृष्ण रूप ग्वाले ने उपनिषद् रूपी गायो का दोहन कर उनके दुग्ध रूप गीता–ज्ञान को अर्जुन रूप बछडे को पिलाया था। उस महान् ज्ञानामृत से अन्य सुधी जन भी तृप्त हो सकते है[1]। इस प्रकार श्रीकृष्ण के धर्म-तत्व को भगवत् गीता ने सबके लिए सुलभ कर दिया है।

कृष्णकालीन धर्म का आकर ग्रंथ—महाभारत कृष्णकालीन धर्म का प्रधान आकर ग्रथ है, जिसका एक अश भगवत् गीता है। वैसे इसमे कौरव–पाडवो की कथा है, जिनके एक पात्र स्वय कृष्ण भी थे, किंतु वास्तव मे इसमे प्रमुख रूप से कृष्ण की महत्ता का ही कथन किया गया है। इसीलिए इसके आदि पर्व मे कहा गया है—"भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातन" अर्थात् उसमे सनातन भगवान् वासुदेव (श्रीकृष्ण) की कीर्ति का कथन हुआ है। महाभारत के रचयिता महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास माने जाते है, जो श्रीकृष्ण के समकालीन थे। इस ग्रथ से ज्ञात होता है कि व्यास जी ने इसकी रचना भारतीय युद्ध और श्रीकृष्ण के तिरोधान होने के पश्चात् की थी। इस प्रकार महाभारत कृष्ण काल के तत्काल पश्चात् की रचना है, किंतु जिस रूप मे यह आजकल उपलब्ध है, उसे अनेक विद्वानो ने बहुत बाद की रचना माना है। विंटरनित्स के मतानुसार उसका निर्माण विक्रमपूर्व पचम शती से लेकर विक्रमपश्चात् चौथी शती तक के किसी काल मे हुआ था। महाभारत के अत साक्ष्य से भी विदित होता है कि इसमे व्यास जी के साथ उनके शिष्य–प्रशिष्यो का कृतित्व भी सम्मिलित है। फिर भी कृष्णकालीन धर्म का सबसे प्राचीन स्रोत महाभारत ही है।

उपास्य देव और नाम का परिवर्तन—श्रीकृष्ण द्वारा की गई धार्मिक क्राति और उनके धर्मोपदेश का उद्देश्य प्राचीन नारायणीय धर्म को ही परिष्कृत रूप मे पुन प्रतिष्ठित करना था, किंतु उसके फलस्वरूप जिस नवीन धर्म का उदय हुआ, उसके उपास्य देव के रूप और उक्त धर्म के नाम मे अतर हो गया था। नारायणीय धर्म के उपास्य देव 'नारायण' थे, किंतु उस नवीन धर्म मे 'वासुदेव' की उपासना प्रचलित हुई। इसी प्रकार उस धर्म का नाम भी 'नारायणीय धर्म' की अपेक्षा 'सात्वत' अथवा 'पचरात्र' और बाद मे 'भागवत' धर्म प्रसिद्ध हुआ था।

'वासुदेव' नारायण से भिन्न कोई अन्य देवता नही थे, बल्कि उन्ही के एक रूप थे, जिसकी प्रसिद्धि उस नाम से हुई थी। "पचरात्र के अनुसार एक ही देवता नारायण के तीन पहलू है—'वासुदेव' (विभु सर्वव्यापी), 'परमात्मा' (सब आत्माओ मे महान्) और 'भगवान्' (सृष्टिकर्ता)। दूसरे शब्दो मे एक ही देवता नारायण इन तीन उपाधियो से समय–समय पर कार्य करते है। इनमे सबसे अधिक पूजित उपाधि है,–'वासुदेव[2]।" श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिष्ठित धर्म मे नारायण की उपासना 'वासुदेवोपासना' के रूप मे प्रचलित हुई और उसका केन्द्र कृष्ण का लीला-धाम शूरसेन हुआ।

---

(१) सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनदन·। पार्थो वत्स. सुधीर्भोक्ता दुग्ध गीतामृत महत्॥

(२) असमिया वैष्णव धर्म का क्रम विकास (ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ७०, अक ४), पृष्ठ ३

३. सात्वत – पंचरात्र धर्म

संक्षिप्त परिचय—

नाम और परंपरा—श्रीकृष्ण ने अपने समय मे प्रचलित वैदिक धर्म के रूप मे परिष्कार कर जिस क्रातिकारी धर्म का उपदेश दिया था, उसे पहिले उनके परिकर गोप-ग्वालो, यादवो और पाडवो ने अगीकार किया। कालातर मे उसका अन्य वर्गो और क्षेत्रो मे भी विस्तार हुआ था। उसका आरभिक केन्द्र श्रीकृष्ण का लीला–धाम शूरसेन जनपद था, जहाँ के निवासी यादव क्षत्रियो की सत्वत शाखा मे उसका विशेष प्रचार हुआ था। सत्वत यादव श्रीकृष्ण के सजातीय समुदाय और उनके परिकर के थे, अत अपने कुल के अद्वितीय महापुरुष के प्रति उनकी श्रद्धा होना स्वाभाविक था। फलत सत्वतो के नाम पर उस धर्म को भी **'सात्वत धर्म'** कहा जाने लगा और उसकी धार्मिक विधि को 'सात्वत पद्धति' नाम प्राप्त हुआ। महाभारत मे लिखा है, कलियुग के आरभ मे सकर्षण ने वासुदेव की पूजा सात्वत पद्धति से की थी[1]। इस धर्म के कई नाम प्रसिद्ध हुए थे, जिनमे एक नाम **'पचरात्र'** भी था। महाभारत काल मे जो पाँच धार्मिक मत विशेष रूप से प्रचलित थे, उनमे 'पचरात्र' का भी नामोल्लेख मिलता है[2]। उस धर्म का वडा प्रचार हुआ और उसकी परपरा दीर्घ काल तक चलती रही थी।

इस धर्म का 'पचरात्र' नाम क्यो प्रसिद्ध हुआ, इसके विषय मे कोई प्रामाणिक उल्लेख नही मिलता है। "कहते है, नारायण ने अपने पाँच शिष्यो को एक–एक कर पाँच रात्रियो तक पाँच प्रकार,—१ ज्ञानकाड, २. साधना पद्धति, ३. विग्रह विवेचन, ४. अर्चा विधान तथा ५ आचार काड का उपदेश दिया था। इसी से उसे 'पचरात्र' कहा गया[3]।" इस धर्म का एक प्रसिद्ध ग्रथ 'नारद पाचरात्र' है, जिसे उत्तर मध्यकाल की रचना माना जाता है। उसमे इसके नाम का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है,—"रात्र शब्द का अर्थ होता है 'ज्ञान' और वह पाँच प्रकार का है— 'रात्र च ज्ञानवचन ज्ञान पचविध स्मृतम्। परम तत्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय (ससार) इन पाँच विषयो का निरूपण करने से इस तत्र का नाम पचरात्र पडा है[4]।" इस धर्म के प्राचीन ग्रथ अहिर्बुध्न्य सहिता मे भी 'नारद पचरात्र' से प्राय मिलता हुआ मत ही व्यक्त किया गया है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पाँच विशिष्ट प्रकार के धार्मिक ज्ञान की मान्यता के कारण उस धर्म का 'पचरात्र' नाम प्रसिद्ध हुआ था।

'पचरात्र' का सर्वप्रथम उल्लेख 'शतपथ ब्राह्मण' (१३–६–१) मे हुआ है, जहाँ उसे एक यज्ञ विशेष कहा गया है। इस नाम के एक उपनिषद होने की भी मान्यता है, किंतु इसका जो थोडा–बहुत विवरण उपलब्ध है, वह (शातिपर्व) के 'नारायणीयोपाख्यान' मे ही मिलता है। महाभारत के 'खिल' (परिशिष्ट) 'हरिवश' मे पचरात्र का स्पष्ट उल्लेख तो नही है, किंतु उसके

---

(१) महाभारत (भीष्म पर्व, ६०७–३८, ४१)

(२) सांख्यम् योगः पांचरात्रम् वेदाः पाशुपतम् तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नाना मतानि वै॥ (महाभारत, शातिपर्व, अध्याय ३४९)

(३) नागरी प्रचारिणी पत्रिका (वर्ष ७०, अक ४) पृष्ठ ३

(४) नारद पांचरात्र (१–४४, ४५, ५२)

एक प्रसग गरुड की स्तुति मे 'चतुर्मूर्ति' शब्द आया है। हरिवश की नीलकठी टीका मे चतुर्मूर्ति का अभिप्राय वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध बतलाया है, जो पचरात्र के सुप्रसिद्ध 'चतुर्व्यूह' का समानार्थक माना जा सकता है। "ब्रह्मपुराण (१९२), विष्णु पुराण (५-१८-५८), कूर्म पुराण (४१-९५), भागवत पुराण (१०-४०-२१) और पद्म पुराण (उत्तर २७३।३१३-३१४) मे पचरात्र और चतुर्व्यूह का उल्लेख है। 'कूर्म पुराण' मे पचरात्र विकसित रूप मे वर्णित है[1]।"

प्रचलन और प्रचार—पचरात्र धर्म के प्रचारको मे नारद और शाडिल्य के नाम अधिक प्रसिद्ध है। नारद के नाम से प्रचलित ग्रथ 'नारद पाचरात्र' चाहे परवर्ती काल की रचना है, किंतु वे दोनो ऋषि इस धर्म के आरभिक प्रचारक अवश्य थे। "ऐसा कहा जाता है कि शाडिल्य ऋषि ने चार वेदो मे परम श्रेयस् न पाकर पचरात्र का आश्रय ग्रहण कर परम तृप्ति प्राप्त की थी। 'शाडिल्य सहिता' नामक पाचरात्र सहिता का उल्लेख बहुत प्राचीन ग्रथो मे मिलता है[2]।"

पचरात्र धर्म की परपरा मे उसकी एक सजातीय साधन पद्धति 'वैखानस' नाम से प्रसिद्ध रही है। एक ही धर्म की वे दोनो पद्धतियाँ आरभ मे ही प्रचलित होगई थी और उनका शताब्दियो तक साथ-साथ प्रचार होता रहा था। वैसे दोनो की प्रथक्–प्रथक् सहिताएं है और उनके मानने वालो मे कभी मतैक्य और कभी मतभेद भी होता रहा है। उन दोनो के प्रचलन और स्वरूप के सबध मे श्री कुबेरनाथ राय का मत है,—"बौद्धावतार के पूर्व वैखानस आगम का ही प्राधान्य था। पर बौद्ध धर्म के उदय के बाद वह कुछ ही क्षेत्रो तक सीमित हो गया था। उसमे चितन एव ज्ञान-काड अत्यत अल्प था, कर्मकाड एव विधि-निषेध का ही अधिक प्राधान्य था। पाचरात्र आगम जिसमे कई सहिताएँ अतर्भुक्त थी, ज्ञानकाड प्रधान है[3]।" वैखानस पद्धति का प्रचार दक्षिण मे १२वी शती तक पर्याप्त रूप मे था। श्री रामानुजाचार्य के समय मे वैष्णव मदिरो मे वैखानस पद्धति अधिक प्रचलित थी। उन्होने उसके स्थान पर पाचरात्र पद्धति का प्रचलन कराया था।

आरभ मे वैदिक धर्म के अनुयायियो ने 'पचरात्र' को अवैदिक बतला कर उसका विरोध किया था। इसीलिए कई स्मृतियो मे उसकी निदा की गई है। वैदिको के मतानुसार साख्य, योग, पाशुपत आदि की भाँति पाँचरात्र भी एक अवैदिक सिद्धात था। 'कूर्म पुराण' मे पाशुपत, शाक्त, भैरव, कापालिक आदि मतो के साथ पाचरात्र को भी निंदनीय बतलाया गया है। जब वेद विरोधी जैन और बौद्ध धर्मो का व्यापक प्रचार हो गया और उनके कारण सभी वैदिक मत–मतातरो को क्षति पहुँचने लगी, तब सगठित रूप से उनका सामना करने के लिए वैदिको और पौराणिको ने पचरात्रियो से मेल कर लिया था। उसके फलस्वरूप विष्णु पुराण, भागवत, नारदीय, पाद्म और वाराह आदि पुराणो मे पचरात्र के अनुकूल कथन मिलता है। पाचरात्र मत की यह विशेषता थी कि उसके अनुगामी वैदिक विधान के प्रति आस्था रखते हुए भी अहिसात्मक यज्ञो को मान्यता देते थे। साधारणतया अहिसा सिद्धात जैन और बौद्ध धर्मो की देन माना जाता है, किंतु अब अनेक विद्वान मानते है कि उक्त धर्मो ने उसे नारायणीय किवा सात्वत–पाचरात्र मतो से ग्रहण किया था।

(१) हरिवश का सास्कृतिक विवेचन, पृष्ठ १३०

(२) भारतीय सस्कृति और साधना (दूसरा भाग), पृष्ठ १८४

(३) नागरी प्रचारिणी पत्रिका (वर्ष ७०, अक ४) पृष्ठ २

उपास्य देव—इस धर्म के प्रमुख उपास्य देव भगवान् वासुदेव हैं। वासुदेव का अभिप्राय है, 'सर्वव्यापक देव'। वह देव, जिनका सर्वत्र वास है अथवा जिनमें समस्त विश्व का निवास है, उन्हें इस धर्म में वासुदेव कहा गया है। श्रीमद् भागवत का उल्लेख है, विशुद्ध सत्त्व गुण का नाम 'वसुदेव' है और उस तत्त्व से जिसकी प्राप्ति होती है, उसे 'वासुदेव' कहा जाता है[1]। वासुदेव को नारायण के साथ ही साथ विष्णु से भी अभिन्न माना गया है। 'तैत्तिरीय आरण्यक' के दशम प्रपाठक में विष्णु गायत्री है। उसमें विष्णु की एकता 'नारायण' और 'वासुदेव' से करते हुए कहा गया है—"नारायण विद्महे, वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णु प्रचोदयात्।" नारायण उपनिषद में भी विष्णु को वासुदेव कहा गया है[2]। वही वासुदेव षड्गुणों से युक्त होने के कारण 'भगवन्' अथवा 'भगवान्' भी कहे जाते हैं[3]। 'अहिर्बुध्न्य संहिता (२-२४) के अनुसार भगवान् वासुदेव ही परम दैवत् और परम तत्त्व हैं। वही ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्णित परम पुरुष हैं। वही अनादि-अनंत परब्रह्म हैं। वही अक्षय, अव्यय, नाम-रूप के द्वारा अभेद्य, वाक्य-मन के अगोचर हैं। वे सर्वशक्तिमान्, षड्गुण सम्पन्न, अमर, अजर और ध्रुव हैं। वही विष्णु हैं, वही निरंजन हैं, वही परमात्मा हैं और वही भगवान् हैं[4]।

चतुर्व्यूह—सात्वत-पांचरात्र धर्म की उपासना में चतुर्व्यूह को विशेष महत्त्व दिया गया है। व्यूह सिद्धांत इस धर्म की जिस विशिष्ट मान्यता पर आधारित है, उसका स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता है। भारत के प्राचीन वैयाकरण पाणिनि (समय प्रायः विक्रमपूर्व ५वीं शती) का एक सूत्र 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' है[5]। उससे ज्ञात होता है, प्राचीन काल में वासुदेव की भक्ति करने वालों को 'वासुदेवक' और अर्जुन की भक्ति करने वालों को 'अर्जुनक' कहा जाता था। उस काल के धर्मों की एक विशेषता यह थी कि उनके उपास्य देवता अथवा उनके प्रवर्तक महापुरुष के स्वरूप का विकास उनके परिवार के साथ हुआ था। जैसे जैन धर्म में प्रमुख पंच तीर्थंकरों की और बौद्ध धर्म में सप्त मानुषी बुद्धों की कल्पना थी, वैसे ही इस धर्म में वासुदेव कृष्ण के साथ उनके परिवार की मान्यता भी प्रचलित हुई थी।

कृष्णोपासकों ने उक्त मान्यता के दो विकल्प रखे थे,—एक तो कृष्ण के साथ उनके अभिन्न सखा अर्जुन की पूजा थी, जो नर-नारायण की सह-पूजा के रूप में प्रसिद्ध हुई, और जिसे 'नारायणीय धर्म' कहा गया। उसका विस्तृत वर्णन महाभारत के शांति पर्व में मिलता है। "अर्जुन और वासुदेव ही साक्षात् नर-नारायण हैं। इस मान्यता से यह धार्मिक दृष्टिकोण प्रचलित हुआ कि एक ही शक्ति नर और नारायण दो रूपों में अभिव्यक्त होती है—नारायणो नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधाकृतम्' (उद्योग पर्व, ४९।२०)। दूसरा विकल्प वासुदेव कृष्ण के साथ उनके परिवार – संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध की पूजा थी, जो 'चतुर्व्यूह या पंचरात्र' के नाम से

---

(१) वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ १५३
(२) भागवत संप्रदाय, पृष्ठ ८८
(३) श्रीमद् भागवत (१-३-२८)
(४) राधा का क्रम विकास, पृष्ठ ३४
(५) अष्टाध्यायी (४-३-९८)

प्रचलित हुई थी। उसके अनुसार पहिले तो वासुदेव और सकर्षण का जुडवॉ रूप लोक मे प्रसिद्ध हुआ। इसी मे आगे चलकर प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के मिलने से 'चतुर्व्यूह' का स्वरूप पूरा हुआ। साम्ब को साथ लेकर पचवृष्णि वीरो की कल्पना पूर्ण हुई, जो पचरात्र धर्म की सुनिष्पन्न मान्यता बनी। भारत के धार्मिक इतिहास मे यह परिवर्तन बहुत महत्वपूर्ण था[1]।"

भगवान् अपनी शक्ति से जिस सृष्टि का सृजन करते है, वह दो प्रकार की मानी गई है,—१ शुद्ध सृष्टि और २ शुद्धेतर सृष्टि। शुद्ध सृष्टि मे चार क्रम – परिणतियो की अवस्था या स्तर दिखलाई पडते हे, यही पचरात्र का प्रसिद्ध चतुर्व्यूह तत्व है। एक–एक व्यूह को हम भगवान् का एक–एक प्रकाश–स्तर कह सकते है। यह प्रकाश पहिले दीप से दूसरे दीप, दूसरे से तीसरे और तीसरे से चौथे दीप को जलाने से उत्पन्न हुआ कहा जा सकता है[2]। चतुर्व्यूह के नाम क्रमश वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध है। लाक्षणिक रूप मे ये नाम वृष्णि वश के कृष्ण और उनके पारिवारिक जनो के है, किंतु पाचरात्र मत मे उन्हे विशिष्ट दार्शनिक रूप प्रदान किया गया है।

'अहिर्बुध्न्य सहिता' का वचन है कि परमतत्व परवासुदेव के अश रूप मे व्यूह वासुदेव का आविर्भाव होता है। वासुदेव से सकर्षण, सकर्षण से प्रद्युम्न और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध नामक व्यूहो की उत्पत्ति हुई है। वासुदेव व्यूह षड्गुण युक्त भगवान् है। उनके छैहो गुण उनसे उत्पन्न तीनो व्यूहो मे विभाजित रूप मे प्रकट होते है। जैसे सकर्षण मे ज्ञान और बल, प्रद्युम्न मे ऐश्वर्य और वीर्य तथा अनिरुद्ध मे शक्ति और तेज गुणो का प्रकाश होता हे। दार्शनिक दृष्टि से सकर्षण जीव तत्व के, प्रद्युम्न मन या बुद्धि तत्व के और अनिरुद्ध अहकार तत्व के अधिष्ठाता देवता माने गये है।

"सकर्षण से ही समग्र विश्व प्रकट होता है। ऐसी प्रसिद्धि है कि सकर्षण की देह मे समग्र विश्व तिलकालक वत् बीजभूत होकर एक क्षुद्र अश मे विद्यमान रहता है। सकर्षण अनत भुवन समूह के आधार बलदेव के स्वरूप है। प्रद्युम्न से पुरुष और प्रकृति का भेद अभिव्यक्त होता है। ये ऐश्वर्य योग से मानव-सर्ग और विद्या-सर्ग का विस्तार करते है। समष्टि पुरुष, मूल प्रकृति और सूक्ष्म काल का प्रकाश इस व्यूह से ही होता है। अनिरुद्ध से व्यक्त जगत्, स्थूल काल और मिश्र सृष्टि का उद्भव होता है। अनिरुद्ध अपनी शक्ति से सपूर्ण ब्रह्माडो तथा तदनतर्गत विषयो का नियत्रण करते है[3]।"

ग्रंथ—पचरात्र धर्म के मूल ग्रथ 'सहिता' अथवा 'तत्र' कहलाते है, जिनका एक प्रसिद्ध नाम 'आगम' भी है। ये ग्रथ पर्याप्त सख्या मे मिलते है। 'कपिजल सहिता' के उल्लेखानुसार पाच-रात्र सहिताओ की सख्या दोसौ से भी अधिक है। उनके निर्माण का आरभ महाभारत की रचना के पश्चात् हुआ था और वे मध्यकाल तक निर्मित होती रही थी। डा० श्रेडर के मतानुसार कुछ सहिताएँ विक्रम सवत् से पूर्व भी विद्यमान थी, किंतु अधिकाश की रचना चौथी शती से आठवी शती तक के काल मे हुई थी।

---

(१) पाणिनि कालीन भारत, पृष्ठ ३५२–३५३

(२) पाद्मतत्र (१–२–२१)

(३) भारतीय धर्म और साधना (दूसरा भाग), पृष्ठ १८७

प्राचीन ब्रज और सात्वत - पंचरात्र धर्म—

उद्‌गम स्थान और आरंभिक प्रचार—जैसा पहिले लिखा गया है, श्रीकृष्ण द्वारा प्रचलित धर्म को सर्वप्रथम उनके परिकर गोप-ग्वालो, यादवो तथा पाडवो ने अगीकार किया था, और उसका अधिक प्रचार शूरसेन निवासी यादवो की सत्वत शाखा मे हुआ था। सत्वत यादवो मे विशेष रूप से प्रचलित होने के कारण ही उस धर्म को पहिले 'सात्वत-धर्म' कहा गया और बाद मे उसे 'पचरात्र धर्म' कहा जाने लगा था। इस धर्म का उद्‌गम स्थान प्राचीन ब्रजमडल अर्थात् शूरसेन प्रदेश था और वही पर उसका आरभिक प्रचार भी हुआ था। इस प्रकार यह धर्म अपने उदय-काल से ही ब्रज से सबधित रहा है।

श्रीकृष्ण की महत्ता और वासुदेव से उनकी अभिन्नता—सात्वत–पचरात्र धर्म मे जिन भगवान् वासुदेव की उपासना प्रचलित हुई थी, वे नारायण अथवा विष्णु से अभिन्न और उन्ही के अपर नाम से विख्यात थे। जब श्रीकृष्ण के महान् गुणो के कारण उन्हे अलौकिक महा-पुरुष ही नही, वरन् नारायण–विष्णु के अवतार और भगवान् वासुदेव से अभिन्न माना जाने लगा, तब सात्वत–पचरात्र धर्म मे स्वय उन्ही की उपासना होने लगी थी। इस धर्म के उपास्य भगवान् वासुदेव के रूप मे श्रीकृष्ण की उपासना होने का कारण उनके अलौकिक गुणो के साथ ही साथ उनकी अतिशय लोकप्रियता भी थी।

श्रीकृष्ण के महान् गुणो का प्राकट्य और उनकी अपूर्व लोकप्रियता का आरभ उनकी बाल्यावस्था मे ही हो गया था। जब वे ब्रज की ग्रामीण गोप–बस्ती मे रहते थे, तब उनके अद्भुत गुणो के कारण वहाँ के गोप, गोपी और गोप–बालक उनके पीछे बावले बने फिरते थे। जब वे ब्रज से मथुरा चले गये, तब कस जैसे पराक्रमी राजा का वध करने से उन्हे वहाँ के यादवो ने अपना नेता मान लिया था। मथुरा से द्वारका जाने पर जब उनके राज्य और वैभव का अधिक विस्तार हुआ, तब उनके प्रशसको और भक्तो की सख्या भी बहुत बढ गई थी। उस समय के अनेक विशिष्ट व्यक्ति उन्हे भगवान् का अवतार मानने लगे थे।

महाभारत के सभापर्व से ज्ञात होता है, उस काल के बडे-बडे राजाओ, विद्वानो और वृद्ध-जनो की सभा मे जब अग्रपूजा के लिए सर्वोपरि आसन देने का प्रश्न उपस्थित हुआ, तब भीष्म पितामह जैसे वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध महानुभाव ने श्रीकृष्ण के नाम का ही प्रस्ताव किया था। उसके समर्थन मे उन्होने एक महत्वपूर्ण भाषण दिया, जिसमे श्रीकृष्ण के अलौकिक गुणो का कथन करते हुए उन्हे 'अर्च्यतम्' और 'पुरुषोत्तम' बतलाया था। उन्होने कहा,—वेद, वेदाग, विज्ञान और बल मे कृष्ण से बढकर इस लोक मे और कौन है? ब्राह्मण की विद्या–बुद्धि और ज्ञान तथा क्षत्रिय के बल-पौरुष का उनमे जैसा समन्वय हुआ है, उसके कारण उन्ही की अग्रपूजा होनी चाहिए। भीष्म पितामह के अतिरिक्त महामुनि व्यास भी श्रीकृष्ण मे पूज्य भाव रखते थे। जब अर्जुन का मोह दूर करने के लिए श्रीकृष्ण ने उसे गीता–उपदेश दिया था, तब तो उनकी गणना अपने काल के सर्वश्रेष्ठ धर्मवेत्ताओ मे होने लगी थी।

इस प्रकार महाभारत काल मे जब श्रीकृष्ण का अलौकिक महत्व स्थापित हो गया, तब उन्हे भगवान् वासुदेव से अभिन्न माना जाने लगा। वसुदेव के पुत्र होने के कारण वे वैसे भी वासुदेव कहलाते थे। फिर भी उस काल के कुछ महत्वाकाक्षी राजाओ ने 'वासुदेव' कहे जाने के लिए श्रीकृष्ण से प्रतिद्वदिता की थी। महाभारत मे उन राजाओ के नाम और उनकी अनधिकार

चेष्टाओ का वर्णन मिलता है। सम्राट जरासध का सहयोगी पुरुषोत्तम पौड्र और करवीरपुर का शासक शृगाल ऐसे ही राजा थे। वे सब श्रीकृष्ण के देवत्व की तुलना मे नही टिक सके थे। उस काल मे श्रीकृष्ण को ही 'वासुदेव' माना गया और उनके प्रति भगवान् की सी श्रद्धा होने लगी। बाद मे श्रीकृष्ण और भगवान् मे बिलकुल ही अतर नही रहा। भागवत् मे श्रीकृष्ण को साक्षात् भगवान् माना गया है—"कृष्णस्तु भगवान स्वयम्"[1]। भगवान् मे मुख्य रूप मे ६ भग (गुण) माने गये है, जिनके नाम ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और मोक्ष है[2]। श्रीकृष्ण मे भी वे समस्त गुण विद्यमान थे, अत उन्हे भगवान् की सज्ञा दी गई थी।

महाभारत के शातिपर्व मे बतलाया गया है कि अर्जुन के पूछने पर श्रीकृष्ण ने अपने विविध नामो की व्याख्या की थी। उससे भी उनकी भगवान् से अभिन्नता स्पष्ट होती है। उक्त व्याख्या का कुछ अश इस प्रकार है,—"नर (पुरुष) से उत्पन्न होने के कारण जल को नार कहते हैं। वह नार (जल) पहिले मेरा अयन (निवास स्थान) था, इसलिए मैं 'नारायण' कहलाता हूँ। (जो आच्छादित करे, अथवा किसी का निवास हो, उसको वासु कहते है) मैं ही सूर्य का रूप धारण करके अपनी किरणो से सपूर्ण जगत् को आच्छादित करता हूँ तथा मुझमे ही समस्त प्राणी निवास करते है, इसलिए मेरा नाम 'वासुदेव' है। मैं सम्पूर्ण प्राणियो की गति और उत्पत्ति का स्थान हूँ। मैंने आकाश और पृथ्वी को व्याप्त कर रखा है। मेरी काति सबसे बढकर है, समस्त प्राणी अत मे मुझे ही पाने की इच्छा करते है, तथा मै सबको आक्रात करता हूँ, इन्ही सब कारणो से लोग मुझे 'विष्णु' कहते है। मैं पहिले कभी सत्व से च्युत नही हुआ हूँ। सत्व मुझसे ही उत्पन्न हुआ है, सत्व के कारण मैं पाप से रहित हूँ तथा सात्वत ज्ञान (पाचरात्रादि वैष्णव तत्र) से मेरे स्वरूप का बोध होता है, इन सब कारणो से मुझे 'सात्वत' कहते है[3]।"

देशव्यापी विस्तार—श्रीकृष्ण के आरभिक जीवन मे ही मगध सम्राट जरासध ने शूर-सेन राज्य पर कई बार आक्रमण किया था। उसके कारण यादववशीय सात्वतो का एक बडा समुदाय कृष्ण–बलराम के नेतृत्व मे मथुरा से द्वारका चला गया था। उनके साथ उनका धर्म भी मथुरा से द्वारका तक के विशाल भू–भाग मे फैल गया। फिर महाभारत के उपरात जब द्वारका मे गृह–कलह की दु खात घटना हुई, तब अनेक सात्वत परिवार देश के उस पश्चिमी छोर से हट कर अन्यत्र चले गये थे। वे क्रमश सौराष्ट्र, गुजरात, महाराष्ट्र, विदिशा, विदर्भ और कर्णाटक, यहाँ तक कि सुदूर दक्षिण के तमिल प्रदेश मे भी जाकर बसे थे। उनके कारण धुर दक्षिण तक इस धर्म का विस्तार हुआ था। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के ऐन्द्र महाभिषेक के प्रसग मे सात्वतो के दक्षिण निवास का उल्लेख मिलता है[4]। 'स्कद पुराण' मे विष्णु का कथन है, घोर कलियुग आने पर वे दक्षिण देश मे वास करेगे। उक्त उल्लेख से भी इस धर्म के दक्षिण मे प्रचलित होने का सकेत मिलता है।

---

(१) श्रीमद् भागवत (१–३–२८)

(२) ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशस. श्रिय ।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णा भग इतीगना ॥ (भागवत)

(३) सक्षिप्त महाभारत (गीता प्रेस), पृष्ठ १४३८

(४) भागवत सप्रदाय, पृष्ठ १०४

डा० कृष्णस्वामी आयगर ने द्राविड राजाओ के इतिहास से यह प्रमाणित किया है कि वहाँ के अनेक नरेशो की परपरा सात्वतवशीय कृष्ण से सम्बद्ध है। महीसूर (माईसोर) के पूर्वोत्तर भाग मे राज्य करने वाले 'इरुन गोवेड' नामक तमिल सरदार कृष्ण की ४९वी पीढी मे हुआ था[1]। उन सबके कारण दक्षिण मे सात्वत–पचरात्र धर्म के प्रचार का समुचित वातावरण बन गया था, जो कालातर मे आलवारो के भक्ति आदोलन के लिए बडा सहायक हुआ था। महाभारत युद्ध के उपरात जब श्रीकृष्ण का तिरोधान और द्वारका का अत हो गया, तब अर्जुन वहाँ के शेष यादवो को, जिनमे अधिकतर वृद्ध, स्त्री और बालक थे, अपने साथ ले गया था और उन्हे पहिले इद्र-प्रस्थ एव हस्तिनापुर मे तथा बाद मे मथुरा मे बसाया गया था। श्रीकृष्ण के प्रपौत्र वज्रनाभ ने मथुरा मे फिर से यादव राज्य को व्यवस्थित रूप मे सचालित किया था और वहाँ के बिखरे हुए यादवो को सगठित कर उनमे सात्वत धर्म की परपरा प्रचलित रखी थी। उस कार्य मे उसे नदादि गोपो के कुल–पुरोहित महर्षि शाडिल्य से बडी सहायता प्राप्त हुई थी। शाडिल्य का नाम सात्वत–पचरात्र धर्म के आरभिक प्रचारको की प्रथम पक्ति मे आता है। वेद की एकायन शाखा, भक्ति-सूत्र और सहिता आदि उनके द्वारा प्रवर्तित माने जाते है, जिनसे उनकी महत्ता का भली भाँति परिचय मिलता है।

वज्रनाभ के पश्चात् कृष्णवशीय सात्वत यादवो ने शूरसेन जनपद मे किस काल तक शासन किया, इसे निश्चय पूर्वक बतलाना सभव नही है, किंतु इतना निश्चय है कि सात्वत–पचरात्र धर्म वहाँ किसी न किसी रूप मे आगामी कई शताब्दियो तक बराबर प्रचलित रहा था।

४. अवैदिक देवोपासना

प्राचीनतम अवैदिक देवता—

प्राचीन मान्यता—भारत के धार्मिक क्षेत्र मे अत्यत प्राचीन काल से ही वैदिक देवताओ के साथ ही साथ अवैदिक लोक देवताओ की भी मान्यता रही है। जहाँ आर्यो की वैदिक सस्कृति मे वेदोक्त देवताओ की उपासना और यज्ञपरक कर्मकाड का प्रचार था, वहाँ आदिवासियो (अनार्यो) की लोक सस्कृति मे यक्ष, गधर्व, नाग, भूत, पिशाच, वृक्ष, पर्वत, नदी आदि लोक देवताओ की पूजा प्रचलित थी। 'पाणिनि के अनुसार यक्ष, गधर्व, कुभाड और नाग ये चार प्राचीन लोक देवता थे, जिनकी व्यापक मान्यता थी। उन चारो के अधिपति क्रमश कुबेर, धृतराष्ट्र, विरूढक और विरूपाक्ष थे[2]।'

आरभ मे उन लोक देवताओ की उपासना–पूजा अनार्यो मे प्रचलित थी, किंतु जब आर्यो की वैदिक और अनार्यो की लौकिक सस्कृतियो का समन्वय हुआ, तब वैदिक देवताओ मे अवैदिक देवताओ को भी सम्मिलित कर लिया गया था। फिर भी अवैदिक देवताओ की उपासना–पूजा अधिकतर समाज के निम्न वर्ग मे ही प्रचलित रही थी।

---

(१) परमहंस संहिता की प्रस्तावना, पृष्ठ १५–१७
(२) पाणिनि कालीन भारत, पृष्ठ ३५५

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने वैदिक और लौकिक संस्कृतियों की उभय धाराओं के संगम-काल को 'जनपदीय युग' की संज्ञा दी है और उसका समय ईसवीपूर्व सन् १००० से ईसवीपूर्व ५०० तक का निर्धारित किया है[1]। इस प्रकार अत्यंत प्राचीन काल में ही अवैदिक देवताओं की उपासना आर्य और अनार्य सभी वर्गों और सभी धर्मों में प्रचलित हो गई थी। ऐसे अवैदिक देवताओं में यक्ष और नाग प्रमुख थे। यहाँ पर उनकी उपासना-पूजा का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

यक्षोपासना और यक्ष-पूजा—

प्राचीन परंपरा—भारत के प्राचीनतम लोक देवता यक्षों की परंपरा का अनुसंधान करने से ज्ञात होता है कि उनका उल्लेख वैदिक वाङ्मय में ही मिलने लगता है। प्राचीन वैदिक संहिताओं में यक्षों के प्रति दुर्भावना व्यक्त की गई है, किंतु उत्तर वैदिक वाङ्मय में उनके प्रति सद्भावना दिखलाई देती है। 'ऋग्वेद के एक मंत्र (५, ७०, ४) में अग्नि देव से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि वे यक्ष के पास न जावें। दूसरे मंत्र (७, ५६, १६) में प्रार्थना की गई है, हे देवता! हमें यक्ष न मिले। ब्राह्मण ग्रंथों में यक्षों के प्रति सद्भावना व्यक्त की गई है और आरण्यकों में उन्हें आर्यों के देवताओं में सम्मिलित कर लिया गया है। 'गोपथ ब्राह्मण' और 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में यह भावना प्रकट की गई है कि मनुष्य तप से यक्ष हो सकता है। 'वृहद् आरण्यक' (५, ४) में यक्षराज को ब्रह्मा के समकक्ष कहा गया है। बाद में यक्षों के राजा कुबेर उत्तर दिशा के दिग्पाल मान लिये जाते हैं और वाल्मीकि रामायण (३-११, ८, ४) में यक्षत्व की प्राप्ति अमरत्व की प्राप्ति मानी गई है[2]।' गृह्य सूत्रों में यक्षों की उपासना और उनकी स्तुतियों का उल्लेख मिलता है। महाभारत (शांति पर्व, १७१-५२) और रामायण (लंकाकांड, ७१-६७) में यक्ष के लिए 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग हुआ है[3]। महाभारत में यक्ष का नाम 'राजा' भी मिलता है। इस प्रकार वैदिक धर्म के सर्वमान्य ग्रंथों में यक्षों का उल्लेख विभिन्न रूपों में और विविध नामों से प्राप्त होता है।

जैन धर्म के ग्रंथों में यक्ष-पूजा को विशेष महत्व दिया गया है। इस धर्म के २४ तीर्थंकरों के साथ २४ यक्षों और २४ यक्षिणियों को भी मान्यता दी गई है, जिनकी आकृतियाँ तीर्थंकरों की मूर्तियों के साथ बनाई जाती हैं। 'जैनियों के ठाणांग सूत्र' में यक्षों की गणना 'वाणमंतर' देवों में की गई है और 'ज्ञाता धर्म कथा' में मेलग नामक एक उपकारी यक्ष का उल्लेख हुआ है। जैन ग्रंथों में पूर्णभद्र, समुद्रभद्र, सर्वतोभद्र, सुमनभद्र, मणिभद्र सहित १६ यक्षों के नाम मिलते हैं। जैन ग्रंथ 'संग्रहणी' में बतलाया गया है कि यक्ष गंभीर, प्रियदर्शी और बहुगुण सम्पन्न होते हैं। वे किरीटधारी तथा रत्न विभूषित होते हैं और वटवृक्ष उनका ध्वज चिह्न है[4]।' बौद्ध धर्म की जातक कथाओं में यक्षों का कई स्थलों पर उल्लेख हुआ है।

---

(१) पाणिनि कालीन भारत, पृष्ठ ७

(२) राय गोविंदचंद्र कृत 'प्राचीन भारत में लक्ष्मी प्रतिमा', पृष्ठ १३६

(३) डा० कुमारस्वामी कृत 'यक्षाज' (खंड २), पृष्ठ ४

(४) श्री कमलेश्वर का 'अमर उजाला' में प्रकाशित लेख,—'यक्ष-रात्रि और यक्ष-पूजा।

कुवेर को यक्षो का अधिपति तथा मणिभद्र यज्ञ को कुवेर का सखा माना गया है और भद्रा या हारीति कुवेर की पत्नी मानी गई है। वैश्रमण कुवेर को धन एव समृद्धि का देवता तथा हारीति को सतान की देवी कहा गया है। अन्य प्रमुख यक्ष शैवल और अर्यमा भी क्रमश धन एव सतान के देवता माने गये है। प्राचीन काल मे यक्षो को सर्वशक्तिमान देवता माना जाता था। तत्कालीन लोक-विश्वास था कि उनके पूजन से ही पानी बरसता है; जिससे अन्न, फल बनस्पति आदि की प्राप्ति होती है[1]। बाद मे उन्हे गाँवो और गायो के रक्षक, देव स्थानो के द्वारपाल तथा रोग और प्रेत-बाधा एव बाझपन के नाशक भी मान लिया गया था[2]। यक्षो को अत्यत विशालकाय, बलवान, निर्भय एव विलासी माना गया है और यक्षिणियो को अत्यत रूपवती एव आमोदप्रिय। उन्हे समृद्धि, रक्षा, वासना और विलास के देव-देवी समझा जाता रहा है। "उनके विलास का एक भीतिजनक रूप 'यक्ष्मा' शब्द से प्रकट होता है[3]।" कालिदास कृत 'मेघदूत' मे विरही यक्ष की विलासिता का मार्मिक कथन हुआ है।

यक्षो को जहाँ एक ओर निर्भय, भयावह और पराक्रमी मान कर उनके प्रति भयमिश्रित श्रद्धा व्यक्त की गई है, वहाँ दूसरी ओर उन्हे विघ्ननाशक, रक्षक और फलदाता समझ कर उनके प्रति भक्ति-भावना भी प्रकट की गई है। विविध धर्म ग्रथो मे यक्ष-यक्षिणियों के दोनो रूपो मे उनकी उसासना-पूजा का उल्लेख मिलता है।

पूजा-विधि और पूजा-स्थल—यक्षोपासना मे विविध यक्ष-नेताओ के साथ ही साथ यक्ष-राज कुवेर, वरुण और कामदेव की भी पूजा की जाती थी। वे सब मासभोजी और सुरापी देवता थे। वरुण का प्रिय पेय होने से ही सुरा को वारुणी कहा गया है। यक्ष-पूजा मद्य, मास, पुष्प, दीप, नैवेद्य के साथ गायन-वादन पूर्वक करने का विधान था। यह पूजा मुख्य रूप से दीपावली की रात्रि को होती थी, जिसे पहिले यक्षो की जन्म-रात्रि माना जाता था। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है—"दीप, नैवेद्य, पुष्प, सगीतादि यक्ष-पूजा के मुख्य उपकरणो को आर्यो ने पत्र-पुष्प-फल-तोय की पूजा-विधि मे अपना लिया था। दीवाली वार्षिक यक्ष-पूजा के रूप मे मनाई जाती है। मूल मे महावीर भी यक्ष ही थे और वीर के रूप मे उनकी पिडी का पूजन अभी तक होता है। दीपावली महावीर का भी जन्म-दिन है[4]।"

प्राचीन काल मे देव-पूजा के स्थल को 'स्थान' कहते थे और बडे देवता के पूजन-स्थल 'महास्थान' कहलाते थे। वे 'स्थान' अथवा 'महास्थान' मदिर-देवालयो के आदिम रूप थे। उन्हे चौकोर चबूतरा के रूप मे खुले आकाश के नीचे बनाया जाता था। देव-मूर्तियो के प्रचलन से पहिले उन चबूतरो पर देवता का कोई चिह्न अथवा प्रतीक बना दिया जाता था। यक्षो के पूजा-स्थल भी 'स्थान' कहलाते थे, जिन्हे बाद मे लोक भाषाओ मे 'थान' कहा जाता था। मथुरामडल की ग्रामीण बस्तियो मे अभी तक अनेक छोटे चबूतरे थानो के नाम से मिलते है, जो यक्ष-पूजा के प्राचीन 'स्थानो' की परपरा को कायम रखे हुए है।

---

(१) ट्री एण्ड सरपेण्ट वरशिप, पृष्ठ २४४
(२) डा० कुमारस्वामी कृत 'यक्षाज'
(३) नाथ संप्रदाय, पृष्ठ ८३
(४) हिंदी साहित्य (प्रथम खड), पृष्ठ १९

वाद मे जब देवालयो और देव–मूर्तियो का प्रचलन हो गया, तव यक्ष–यक्षिणियो की पूजा के लिए उनके मदिर–चैत्यादि बनाये गये और उनकी मूर्तियो का निर्माण किया जाने लगा था। महाभारत (३, ८३, २३) मे राजगृह स्थित यक्षिणी के एक मदिर का वर्णन मिलता है[1]। बौद्ध ग्रथ 'सयुक्त निकाय' मे मणिभद्र यक्ष का उल्लेख हुआ है और 'उपासक दशा सूत्र' मे मणिभद्र के चैत्य की चर्चा हुई है[2]। यक्षो के पूजा–स्थलो को प्राय 'यक्ष चैत्य' कहा जाता था।

नागोपासना और नाग-पूजा—

प्राचीन मान्यता—नागो को भी यक्षो की भाँति प्राय सभी धर्मो मे देवता माना गया है। उन्हे जल के देवता और धन-सपत्ति के स्वामी समझ कर उनकी उपासना–पूजा की भी अत्यत प्राचीन मान्यता रही है। भगवान् विष्णु नाग–शैया पर आसीन माने जाते हे और भगवान् शकर की नाग–प्रियता प्रसिद्ध है। श्रीकृष्ण के वडे भाई सकर्षण–बलराम को शेष नाग का अवतार माना गया है। जैन धर्म के २३वे तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चिह्न नाग है, जिसे उनकी मूर्तियो मे उत्कीर्ण किया जाता है। वौद्ध अनुश्रुति के अनुसार नद और उपनद नागो ने भगवान् बुद्ध को उनके जन्म के समय स्नान कराया था और मुचुलिद नाग ने उनके ऊपर छाया की थी। नागो द्वारा ही रामगाम के बौद्ध स्तूप की रक्षा किये जाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। इस प्रकार आर्य, जैन और बौद्ध तीनो धर्मो मे नाग देवताओ की मान्यता रही है। पुराणादि ग्रथो मे जिन नाग देवताओ का उल्लेख मिलता है, उनमे शेष, वासुकि, तक्षक, कर्कोटक और धनजय के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

नाग और सर्प का उपासनागत भेद—साधारणतया नागो और सर्पो को समानार्थक समझा जाता है, किंतु वस्तुत वे दोनो पृथक्–पृथक् जातियाँ है। पद्म पुराण (सृष्टि खड) के उल्लेखानुसार नागो की उत्पत्ति कश्यप ऋषि की पत्नी कद्रू से और सर्पो की सुरसा से हुई थी। श्रीकृष्ण ने भगवत् गीता मे भगवान् की विभूतियो का कथन करते कहा हुए है,—"मै नागो मे शेष और सर्पो मे वासुकि हूँ[3]।" इन उल्लेखो से दोनो के भेद का स्पष्टीकरण होता है। नाग भारत की प्राचीन अनार्य जाति के मानव थे और सर्प विषैले जतु।

जहाँ तक नाग देवताओ के पूजनीय रूप का सबध है, यह स्पष्ट नही होता है कि वे मानवाकृति के थे अथवा सर्पाकृति के। यह उलझन उनकी मूर्तियो के कारण और भी वढ जाती हे, क्यो कि नाग देवताओ की मूर्तियाँ मानव और सर्प दोनो आकृतियो की अथवा मिश्रित आकृतियो की मिलती है। ऐसा अनुमान होता है, नाग देवताओ का अभिप्राय भयकर सर्पो से है। उनके प्राण-घातक विषैले दश से भयभीत होकर भारत के आदिवासी अनार्यो मे देवताओ के समान उनकी उपासना–पूजा प्रचलित हो गई थी, जिसे वाद मे आर्यो ने भी अपना लिया था।

---

(१) प्राचीन भारत मे लक्ष्मी प्रतिमा, पृष्ठ १३६

(२) नाथ सप्रदाय, पृष्ठ ८२

(३) भगवत गीता (१०–२८, २९)

प्राचीन व्रज मे यक्षो और नागो की उपासना-पूजा का प्रचार—

यक्ष-केन्द्र और यक्ष-नेता—यक्षो की आदिम वस्ती उत्तर दिशा स्थित अलकापुरी थी। कालिदास कृत मेघदूत मे उसका बडा ही भव्य और रोचक वर्णन हुआ है। विद्वानो का अनुमान है, यक्षो की पूजा भी पहिले–पहल इस देश के उत्तरी भाग मे ही प्रचलित हुई थी। जव यक्ष गण अपने मूल स्थान के अतिरिक्त अन्य स्थानो मे भी जाकर वसने लगे, तव प्राचीन व्रजमडल उनका एक प्रमुख केन्द्र हो गया था। मथुरा के निकटवर्ती स्थानो मे यक्ष–पूजको की कई वस्तियाँ थी, जिनमे वे वडी सख्या मे निवास करते थे।

जैन धर्म और वौद्ध धर्म के ग्र थो मे अनेक यक्ष–नेताग्रो के नाम मिलते है। प्राचीन व्रज के प्रमुख यक्षो मे मणिभद्र, भडीर और गर्दभ तथा प्रसिद्ध यक्षिणियो मे आलिका, वेदा, मघा और तिमिसिका के नाम उल्लेखनीय है। प्राचीन काल मे उनके द्वारा यक्ष–पूजको का नेतृत्व किया जाता था और उन सबके बहुसख्यक अनुयायी थे। गर्दभ यक्ष और तिमिसिका यक्षिणी के उपासको की सख्या ५००–५०० होने का उल्लेख मिलता है[1]।

यक्षोपासना का प्रचलन-काल और उसका आतंक—व्रज मे यक्षो की उपासना–पूजा का प्रचलन किस काल मे हुआ, इसे प्रामाणिकता के साथ वतलाना सभव नही है, किंतु इतना निश्चित है कि बुद्ध–महावीर के जन्म-काल विक्रमपूर्व छटी शती मे भी पहिले ही वह यहाँ पर प्रचलित थी। जव बुद्ध मथुरा आये थे, तव उन्होने इस भू–भाग मे यक्षोपासना का व्यापक प्रचार देखा था। भारतीय मूर्ति कला मे आदिम मूर्तियाँ यक्षो की मानी जाती है। व्रज की प्राचीनतम मूर्तियाँ भी यक्षो की ही है, जो मथुरा के सग्रहालय मे सुरक्षित है। उनसे भी यहाँ पर यक्षोपासना के प्रचलन–काल की प्राचीनता का परिचय मिलता है।

बुद्ध–महावीर के जन्म–काल से पहिले ही भारत के अनेक स्थानो मे यक्षो का वडा आतक था। वौद्ध ग्रथो से ज्ञात होता है, बुद्ध ने अनेक उपद्रवी यक्षो का दमन किया था और उन्हे धर्मोपदेश देकर सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी थी। पालि ग्रथ 'सगार्थ वग्ग' के अतर्गत 'यक्ख सयुक्त' मे बुद्ध द्वारा यक्षो की शका का समाधान कर उन्हे अपना अनुयायी वनाने का उल्लेख हुआ है। उस समय एक यक्ष ने बुद्ध की खोपडी तोड कर उन्हे गगा मे फेक देने की भी धमकी दी थी, किंतु उनकी तेजस्विता से वह यक्ष नत मस्तक हो गया[2]। एक यक्ष द्वारा महावीर के प्रति भी अशिष्ट व्यवहार किये जाने का उल्लेख जैन आगम मे हुआ है।

जिस समय बुद्ध मथुरा आये थे, उस समय यहाँ भी यक्ष-पूजको का बडा आतक था। वे लोग अपनी भीषण साधना के लिए नगर निवासियो के बच्चो का अपहरण किया करते थे और उन्हे मार कर खा जाते थे। उनके उस भयानक कुकृत्य से मथुरा नगर मे बडा आतंक फैला हुआ था। मथुरा के सद्गृहस्थो ने बुद्ध से निवेदन किया कि वे यक्ष–पूजको के उत्पात से उनकी रक्षा करे। भगवान् बुद्ध ने अपने प्रभाव से उनके नेता गर्दभ को विनीत वना कर सन्मार्ग पर आरूढ किया था। उसने

---

(१) प्राचीन मथुरा मे यक्ष (व्रज भारती, वर्ष १३ अंक २)

(२) पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १६३

बुद्ध के समक्ष मथुरा निवासियो को आश्वासन दिया कि भविष्य मे वे लोग कोई अनुचित कार्य नही करेगे। उस समय बुद्ध ने मथुरा के निकटवर्ती स्थानो मे निवास करने वाले ३५०० यक्ष-पूजको को सद्धर्म की शिक्षा दी थी[१]। भगवान् बुद्ध के कारण उस काल मे यक्ष–पूजको की भीषण भावना समाप्त हो गई, किंतु यक्ष–पूजा किसी न किसी रूप मे उनके बाद भी कई शताब्दियो तक प्रचलित रही थी।

ब्रज मे कई ऐसे गाँव है, जो यक्ष–पूजको की प्राचीन बस्तियाँ ज्ञात होते है। मथुरा तहसील का एक गाँव 'जखनगाँव' कहलाता है, जो प्राचीन काल मे यक्ष–पूजको का निवास स्थान रहा होगा। ब्रज मे यमुना के बाये तट का एक वन 'भाटीर वन' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसका संबंध भडीर यक्ष से सिद्ध होता है। यहाँ के एक पुराने वट वृक्ष को 'भाटीर वट' कहते है और उसकी परिक्रमा की जाती है। उस वट के अतिरिक्त वहाँ भाडीर कूप भी है। जैन ग्रंथ 'आवश्यक चूर्णि' से ज्ञात होता है कि मथुरा भडीर यक्ष की यात्रा के लिए प्रसिद्ध था[२]। जैन धर्म के अनुयायी मध्य काल तक भडीर यक्ष की यात्रा के लिए यहाँ आते थे।

ब्रज साहित्य की रचनाओ मे 'जाख' अथवा 'जखैया' के नाम से यक्षो का उल्लेख मिलता है। सूरदास के एक पद से ज्ञात होता है कि ब्रज के लोक जीवन मे यक्ष–पूजा की बडी मान्यता थी, किंतु कृष्णोपासना का प्रचार होने पर उसका महत्व कम हो गया था[3]।

नागो की उपासना-पूजा—ब्रज मे नागो की उपासना–पूजा भी अत्यंत प्राचीन काल मे ही प्रचलित हो गई थी, किंतु उसके प्रचलन का निश्चित काल बतलाना संभव नही है। ब्रजमंडल मे उपलब्ध नाग–मूर्तियो मे सबसे प्राचीन शुंग काल की है, किंतु नागोपासना की परंपरा उससे कही अधिक पुरानी है। फिर भी वह यक्षोपासना के बाद की मालूम होती है। शुंग काल के पश्चात् ब्रज के लोक–जीवन मे नागो की उपासना–पूजा का व्यापक प्रचार हो गया था। यहाँ पर नाग देवताओ के अनेक पूजा–स्थल बनाये गये थे, जिनके अवशेष अभी तक विद्यमान है।

---

(१) **प्राचीन मथुरा मे यक्ष** (ब्रज भारती, वर्ष १३ अंक २)

(२) **ब्रज भारती** (वर्ष ११, संख्या २)

(३) **कोरी मटुकी दही जमायौ, 'जाख' न पूजन पायौ।**
तेहि घर देव–पितर काहे को, जेहि घर कान्हर जायौ॥ (सूरसागर)

द्वितीय अध्याय

प्राचीन काल

[विक्रमपूर्व स० ५६६ से विक्रमपूर्व स० ४३ तक]

उपक्रम—

अवैदिक धर्मो के प्रादुर्भाव की पृष्ठभूमि—इस द्वितीय अध्याय के द्वारा हम ब्रज के सास्कृतिक इतिहास के ऐतिहासिक युग मे प्रवेश करते है, जब कि प्रथम अध्याय प्रागैतिहासिक काल से सबधित था। ऐतिहासिक युग के आरभिक काल मे ही वैदिक धर्मो के विरोध का वह वातावरण दिखलाई देता है, जिसने अवैदिक धर्मो के प्रादुर्भाव की पृष्ठभूमि का निर्माण किया था। उस पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालने से पहिले पूर्ववर्ती स्थिति पर दृष्टि डालना उचित होगा।

वैदिक कर्मकाड की जटिलता और यज्ञपरक हिंसा की प्रतिक्रिया मे पहिले नारायण ऋषि ने और फिर वासुदेव कृष्ण ने जो धार्मिक क्राति की थी, उसके फलस्वरूप नारायणीय धर्म तथा सात्वत–पचरात्र धर्मो का क्रमश प्रचलन हुआ था। वे धर्म प्राचीन वैदिक धर्म के पूर्णतया विरोधी न होकर उसके सशोधित रूप मे प्रचलित हुए थे। उनमे वैदिक धर्म की प्राय सभी मूलभूत बाते विद्यमान थी, केवल वेदोक्त यज्ञ–पद्धति और देव–तत्व के स्वरूप मे कुछ परिवर्तन एव सशोधन किया गया था। वैदिक धर्म की भाँति उक्त धर्मो मे भी अक्षय आनद को जीवन का अनत स्रोत माना गया था और निवृत्ति मार्ग की अपेक्षा प्रवृत्ति मार्ग को प्रमुखता प्रदान करते हुए गृहस्थ धर्म के प्रति निष्ठा व्यक्त की गई थी।

सात्वत–पचरात्र धर्मो का उदय प्राचीन ब्रजमडल अर्थात् शूरसेन जनपद मे हुआ था और वहाँ निवास करने वाले यादव क्षत्रियो की सत्वत शाखा ने उन्हे विशेप रूप से अपनाया था। जब जरासध के आक्रमण से बचने के लिए अधिकाश यादव गण मथुरा से द्वारका चले गये, तब उनके द्वारा उस धर्म का प्रचार भारत के अन्य भागो मे भी हो गया था। इस प्रकार कृष्ण काल से बुद्धपूर्व काल तक शूरसेन जनपद मे श्रीकृष्ण द्वारा प्रचारित धर्म की धारा विद्यमान थी, जो कभी प्रबल और कभी शिथिल होती हुई निरतर प्रवाहित होती रही थी। उसका प्रभाव शूरसेन सहित समस्त मध्य देश पर और भारत के पश्चिमी तथा दक्षिणी भाग पर तो होता रहा, किंतु इस देश का पूर्वी भाग उससे प्राय अछूता रहा था। भारत के प्राचीन धर्म और सस्कृति का केन्द्र मध्य देश था, और भारत का पूर्वी भाग उसकी सीमा से बाहर माना जाता था। शायद इसीलिए मध्य देश की धार्मिक और सास्कृतिक हलचलो का प्रभाव इस देश के पूर्वी भाग पर कम पडता था।

गौतम बुद्ध के जन्म से पहिले श्रीकृष्ण द्वारा प्रचारित सात्वत धर्म भारत के पश्चिमी और दक्षिण–पश्चिमी भागो मे तो उन्नत अवस्था मे था, किंतु शूरसेन सहित समस्त मध्य देश मे वह कुछ शिथिल हो गया था। उसका कारण यादवो का उस भू–भाग से कम सम्पर्क हो जाना था। फलत वहाँ पर प्राचीन वैदिक धर्म फिर से जोर पकडने लगा और यज्ञो के व्ययसाध्य आडबर तथा उनमे की जाने वाली जीव–हिसा मे फिर वृद्धि हो गई थी। उसकी प्रतिक्रिया पहिले से भी अधिक उग्र और बलवती हुई थी। उसका सूत्रपात्र भारत के पूर्वी भाग मे हुआ, जहाँ गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी ने नवीन धार्मिक क्राति का नेतृत्व किया था।

श्रमण-संस्कृतिमूलक अवैदिक धर्मों का उदय—सर्वश्री गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी द्वारा की गई धार्मिक क्राति के प्रबल प्रकाश मे 'बौद्ध धर्म' और 'जैन धर्म' नामक दो नवीन शक्तिशाली धर्मो का उदय हुआ था। वे दोनो वैदिक मान्यताओ के विरोधी धर्म थे। उनमे अहिंसा की भावना तो सात्वत–पचरात्र धर्मो से भी अधिक थी, किंतु अन्य बातो मे वे उनसे भी भिन्न थे। उनकी भिन्नता की प्रमुख बात यह थी कि वे वेदोक्त कर्ममार्ग और सात्वत–पचरात्र धर्मों के प्रवृत्ति मार्ग के विरुद्ध निवृत्ति मार्ग और श्रमण सस्कृति के प्रचारक थे। उनका लक्ष्य सासारिक दु खो से छुटकारा पाने के लिए 'निर्वाण' (मोक्ष) प्राप्त करना था। उन धर्मों का दृष्टिकोण प्रज्ञावादी अर्थात् बुद्धिवादी था और वे आचार को सर्वाधिक महत्व देते हुए सक्रिय सम्यक् ज्ञान को उद्देश्य-पूर्ति का प्रमुख साधन मानते थे। उनका सिद्धात 'सत्य' और 'सुदर' से 'शिव' की ओर जाना था, जिसके लिए वे इद्रिय–निग्रह, अतर्मुखी साधना और चित्त–वृत्ति के निरोध को आवश्यक मानते थे। उनके मूल मत्र 'अहिसा' और 'अपरिग्रह' थे।

वे दोनो धर्म वैदिक प्रामाण्य और परपरा के पूरी तरह विरोधी थे, इसलिए उन्हे 'अवैदिक' कहा गया है। उनका विश्वास वेदो मे उल्लिखित विश्व के मूलाधार सत् या चेतन के अस्तित्व मे भी नही था, इसलिए उन्हे 'नास्तिक' माना गया है। वैदिक धर्म के अनुगामी रूढिवादी ब्राह्मणो ने उन धर्मों के अनुयायी श्रमणो को अपना कट्टर शत्रु समझा था, और उनकी वह शत्रुता पर्याप्त समय तक चलती रही थी। "पतजलि ने श्रमण को ब्राह्मण का उलटा माना है, और दोनो मे कभी न मिटने वाला वैर बतलाया है—'येषा च विरोध शाश्वतिक इत्यस्यावकाश श्रवणब्राणह्मम्'—(भाष्य २–४–९)[1]।"

उस काल की एक विशेष बात यह थी कि ब्रह्म–चिंतन और ज्ञान के प्रचार का कार्य ब्राह्मणो से भी अधिक क्षत्रिय विद्वान करने लगे थे। उस समय के कई क्षत्रिय राजाओ ने अपने से उच्च वर्ण के ब्राह्मणो को भी ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दी थी। 'वृहदारण्यक आदि उपनिषदो मे ऐसे राजाओ के नाम मिलते है, जिन्होने उस समय के विद्वान ब्राह्मणो को ही नही, वरन् बडे-बडे ऋषि–मुनियो को भी ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया था। उनमे राजा जनक, प्रवाहण जैवलि, अजातशत्रु आदि के नाम उल्लेखनीय है। वैसे वह परपरा कृष्ण–काल से ही प्रचलित थी, क्यो कि श्रीकृष्ण स्वय एक क्षत्रिय राजा थे, किंतु प्रस्तुत युग मे इस प्रवृत्ति को पहिले से अधिक बल मिला था। उस काल के नवोदित बौद्ध और जैन धर्मो के प्रवर्त्तक गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी भी प्रतिष्ठित राजवशो के ही थे।

बुद्ध–महावीर काल मे प्राचीन वैदिक धर्म का प्रभाव समाज के उच्च वर्ग अर्थात् कर्मकाडी याज्ञिक ब्राह्मण, ब्रह्मोपासक ऋषि-मुनि, व्ययसाध्य यज्ञ करने वाले राजा–महाराजा और समृद्धिशाली भद्र जन पर अधिक था, और उन सबका प्रभुत्व समाज के विशिष्ट वर्गो तक ही सीमित था। उस काल की जनता वैदिक धर्म से बहुत दूर हो गई थी। उस समय सर्व साधारण न तो वैदिक देवताओ की सतुष्टि के लिए व्ययसाध्य एव हिंसापूर्ण यज्ञ करने मे रुचि रखते थे, और न वे ब्रह्मोपासना एव अध्यात्म–चिंतन करने के लिए ही अपने को समर्थ पाते थे। उनका विश्वास लोक-देवताओ मे अधिक था।

---

(१) पाणिनि कालीन भारत, पृष्ठ ३७७

उस काल के लोक-देवता असुर, नाग, यक्ष, मातृदेवी, पर्वतदेव और वृक्षदेव आदि थे। यक्ष-पूजा का उस काल मे बडा प्रचार था। तत्कालीन बौद्ध और जैन साहित्य मे अनेक शक्तिशाली यक्षो और यक्षिणियो के नाम मिलते है। प्रसिद्ध यक्षो के नाम उबरदत्त, सुरबर, 'मणिभद्र, भडीर, शूलपाणि, सुरप्रिय, घटिक, पूर्णभद्र थे तथा विख्यात यक्षिणियो के नाम कुती, नटा, भट्टा, रेवती, तमसुरी, लोका, मेखला, आलिका, वेदा, मघा, तिमिसिका थे[1]। यक्ष गण महा शक्तिशाली एव धन के अधिष्ठाता माने जाते थे और यक्षिणियाँ परम सुदरी तथा भय एव कल्याण की दात्री समझी जाती थी। यक्षराज कुबेर धन के देवता थे तथा उनकी पत्नी हारीती सतान की देवी थी। जन साधारण भय मिश्रित श्रद्धा के साथ उन सब की उपासना—पूजा किया करते थे।

अवैदिक धर्मो की विशेषता—उस युग मे प्रचारित अवैदिक धर्मो की यह विशेषता थी कि उनके कारण धार्मिक जनता का नेतृत्व ऋषियो, याज्ञिको और कर्मकाडी ब्राह्मणो के हाथो से निकल कर मुनियो, श्रमणो और भिक्षुओ के हाथो मे चला गया था। उस कार्य मे चारो वर्णों के वे प्रगतिशील व्यक्ति सम्मिलित थे, जो अपने जन्म से नही, वरन् गुण—कर्म—स्वभाव से समाज मे उच्च स्थान के अधिकारी हुए थे। पहिले ब्राह्मण गृहस्थ मे रहते हुए भी अपने जन्मजात वर्ण के कारण शेष तीनो वर्णों पर उच्चता प्राप्त करते थे, किंतु उन नये धर्मो के कारण समाज का नेतृत्व ऐसे विरक्त लोगो के हाथो मे आ गया, जो अपनी घर—गृहस्थी छोड कर मानव समाज की सेवा मे अपना जीवन अर्पित करना चाहते थे।

उन धर्मो के कारण वैदिक मान्यताओ मे परिवर्तन होने लगा था। फलत यज्ञो का महत्व कम हो गया, पशु—बलि की प्रथा मे कमी आ गई, यज्ञो द्वारा स्वर्ग—प्राप्ति की मान्यता के प्रति अविश्वास होने लगा तथा सदाचार, त्याग, अहिंसा और तपस्या का महत्व बढ गया था[2]। साराश यह कि अवैदिक धर्मो ने ऋषियो द्वारा उद्भूत वैदिक विचार—धारा के स्थान पर उस वैदिकेतर विचार—धारा को प्रवाहित करने मे सहायता दी थी, जिसके प्रवर्त्तक मुनिगण थे। साधारणतया 'ऋषि' और 'मुनि' को समानार्थक समझा जाता है, किंतु प्राचीन काल मे वे दोनो शब्द विभिन्न अर्थों के द्योतक थे। 'ऋषि का अर्थ है मत्रद्रष्टा, जो वैदिक वाङ्मय मे प्रचुरता से मिलता है। मुनि का अभिप्राय ज्ञानी, तपस्वी और विरक्त साधु से है। यह शब्द जैन ग्रथो मे बहुतायत से व्यवहृत हुआ है। पौराणिक काल मे जब वैदिक और वैदिकेतर दोनो धाराओ का सगम हुआ, तब 'ऋषि' और 'मुनि' दोनो शब्द समानार्थी हो गये थे[3]।

अवैदिक धर्माचार्य और उनके धर्म-संप्रदाय—उस काल के अवैदिक धर्माचार्यों मे अजित केशकम्बल, पूर्ण कस्सप, पबुध कच्चायन, सजय बेलट्ठिपुत्त, उद्दक रामपुत्त, अडार कालाम और मक्खलि गोसाल अधिक प्रसिद्ध थे। तत्कालीन धर्म—सप्रदायो की सख्या बौद्ध ग्रथो मे ६२ और जैन ग्रथो मे ३६३ बतलाई गई है[4]। इतने अधिक धर्म—सप्रदायो का होना सदेहास्पद मालूम होता है, फिर भी उनकी पर्याप्त सख्या जान पडती है। उनमे प्रमुख सप्रदाय निगठ, आजीवक, परिव्राजक,

---

(१) उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, पृष्ठ १७

(२) संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ

(३) वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ ११

(४) दीघ निकाय, उत्तरायन सूत्र और सूत्र कृतांग देखिये।

जटिलक, मुड श्रावक, तेदडिक आदि थे[1]। बौद्ध ग्रथो मे बुद्ध के प्रतिद्वंदी महावीर को 'निगठ नातपुत्त' (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र) और उनके धर्म को 'निगठ' कहा गया है। उस काल के धर्म-सप्रदायो मे बौद्ध और जैन धर्मो के अतिरिक्त 'आजीवक' सप्रदाय अधिक प्रसिद्ध था। 'लोकायत' सप्रदाय भी सभवत उस काल मे प्रचलित हो गया था। यहाँ पर उनका सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

आजीवक संप्रदाय—यह एक प्राचीन धार्मिक पथ था, जो गौतम बुद्ध और महावीर से भी पहिले विद्यमान था। बुद्ध काल मे इस पथ का उपदेष्टा मक्खलि गोसाल नामक एक धर्माचार्य था। उसका 'गोसाल' नाम इसलिए पडा था कि उसका जन्म किसी गोशाला मे हुआ था। 'मक्खलि' शब्द सस्कृत 'मस्करी' का पालि रूप है। 'माकरण' का उपदेश करने के कारण गोसाल को मस्करी कहा गया हे। 'काशिका' (६-१-१५४) मे 'मा+कृ+इनि' से मस्करी शब्द की व्युत्पत्ति मानी गई है, जिसका अर्थ है,—'काम न करने वाला' (माकरणशील) अर्थात् कर्मण्यता-वादी, दैववादी[2]।

मक्खलि गोसाल मगध का निवासी था। जैन ग्रथो मे लिखा है, वह पहिले महावीर का परम भक्त था, किंतु उनसे धार्मिक मतभेद हो जाने के कारण वह आजीवक सप्रदाय मे सम्मिलित हो गया था। उसने उस सप्रदाय का बडा प्रचार किया था। उसका प्रधान केन्द्र श्रावस्ती था, जहाँ के जैतवन मे गौतम बुद्ध ने पर्याप्त काल तक अपना धर्मोपदेश किया था। उसकी मृत्यु महावीर और बुद्ध के परिनिर्वाण होने से पहिले ही हो गई थी।

आजीवक-दर्शन—उस सप्रदाय के दार्शनिक सिद्धात को 'कर्मापवाद' कहा गया है। उसके मानने वाले कर्म या पुरुपार्थ की निंदा करते थे और नियति या भाग्य को ही सब कुछ मानते थे। "उनके मतानुसार पराक्रम-पुरुपार्थ व्यर्थ है, सब भाग्य का खेल है, दैव बडा प्रबल है। उनके दार्शनिक सिद्धात मे 'यदृच्छा' को कोई स्थान नही था। वे तो मानते थे कि क्रूर दैव ने सब कुछ पहिले से ही नियत कर दिया है[3]। उस सप्रदाय के साधक कठोर तप करते थे और हठयोग की कठिन साधना मे अपने शरीर को सुखा डालते थे। वे पचाग्नि तापते थे, शरीर पर भस्म लगाते थे, और सिर पर लबी जटाएँ रखते थे। बौद्ध और जैन धर्म के ग्रथो मे इस सप्रदाय की बडी निंदा की गई है। बुद्ध अपने समकालीन धर्माचार्यो मे मक्खलि गोसाल को सबसे बुरा समझते थे। निश्चय ही उसके सिद्धात समाज के अभ्युदय मे बाधक थे, फिर भी उसके अनुयायी पर्याप्त सख्या मे थे।

आजीवक सप्रदाय बुद्ध और महावीर के पश्चात् भी कई शतियो तक विद्यमान रहा था। उसका विस्तार दक्षिण भारत तक था। प्रथम शती के तमिल महाकाव्यो मे आजीवको का वर्णन मिलता है। छठी शती के सस्कृत काव्य 'जानकी हरण' मे कुमारदास ने आजीवको का उल्लेख किया है। 'यशस्तिलक' मे उनकी चर्चा होने से दशवी शती तक भी उस सप्रदाय का अस्तित्व सिद्ध होता है[4]। बाद मे जब वैष्णव सप्रदायो का व्यापक प्रचार हुआ, तब अन्य अवैतिक पथो की भाँति 'आजीवक सप्रदाय' भी समाप्त हो गया था।

---

(१) उत्तर प्रदेश मे बौद्ध धर्म का विकास, पृष्ठ १८

(२) बौद्ध दर्शन, पृष्ठ ३५

(३) पाणिनि कालीन भारत, पृष्ठ ३७६

(४) पतजलि कालीन भारत, पृष्ठ ५६४

लोकायत संप्रदाय—यह यथार्थवाद और बौद्धिकता का समर्थक घोर भौतिकवादी सप्रदाय था। इसके मूल प्रवर्त्तक वृहस्पति माने जाते है, किंतु उनके शिष्य चार्वाक द्वारा इसका प्रबल प्रचार हुआ था। उसी के नाम पर इसके सिद्धात को 'चार्वाक दर्शन' कहते है। इसमे अर्थ और काम मूलक शारीरिक तथा लौकिक सुख को सर्वस्व मान कर धर्म और मोक्ष के साथ ही साथ आत्मा, परमात्मा, परलोकादि को व्यर्थ बतलाया गया है। वह एक प्रकार से 'खाओ, पियो और मौज उडायो' की मान्यता का समर्थक सप्रदाय था।

बुद्ध और महावीर के धर्मो की समान बाते—यद्यपि उस समय कई अवैदिक धर्म-सप्रदायो का प्रचलन था, फिर भी बुद्ध और महावीर के धर्म ही उस काल के प्रमुख धर्म थे। उनके धार्मिक सिद्धात और उनके प्रवर्त्तको के जीवन-वृत्त से सबधित जहाँ अनेक बातो मे समानता थी, वहाँ असमानता भी कम नही थी। यहाँ पर उनकी कुछ समान बातो पर प्रकाश डाला जाता है—

१ बुद्ध और महावीर दोनो ही इस देश के पूर्वी भाग अर्थात् वर्तमान बिहार मे उत्पन्न हुए थे। दोनो ही ब्राह्मण न होकर क्षत्रिय थे। दोनो ने ही प्रतिष्ठित राजवशो मे जन्म लिया था, और दोनो ही युवावस्था मे राजकीय वैभव तथा परिजन-पुरजन को त्याग कर विरक्त हुए थे।

२ दोनो समकालीन थे और दोनो का कार्यक्षेत्र देश का पूर्वी भाग था। दोनो को ही आरभ मे शूरसेन प्रदेश मे अधिक सफलता नही मिली थी, किंतु बाद मे दोनो का वहाँ पर अच्छा प्रचार हुआ था।

३ दोनो ही ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास नही रखते थे। दोनो ने ही वेद के प्रति अनास्था व्यक्त कर अपने समय की वैदिक मान्यताओ का खडन किया था।

४. दोनो ने ही हिंसापूर्ण वैदिक यज्ञो का विरोध कर अहिसा को सर्वोपरि धर्म माना था।

५. दोनो के धर्म निवृत्ति-प्रधान है और दोनो ने ही त्याग एवं सदाचार का उपदेश दिया था। दोनो के धर्मो मे ही सर्वस्व-त्यागी मुनियो, श्रमणो और भिक्षुओ को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी माना गया।

६ दोनो ने ही पडितो की सस्कृत भाषा की उपेक्षा कर अपने समय की लोक भाषा पाली और प्राकृत मे उपदेश दिया था। दोनो की मूल रचनाएँ उस काल की लोक भाषाओ मे ही मिलती है।

७. दोनो के धर्मो ने तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, कला-विषयक और साहित्यिक स्थिति मे युगातर कर यहाँ की सामूहिक सस्कृति को व्यापक रूप से प्रभावित किया था।

इन आश्चर्यजनक समानताओ के होते हुए भी उनमे अनेक मौलिक भिन्नताएँ भी थी, इसी-लिए वे दोनो धर्म इस देश मे पर्याप्त समय तक समानातर रूप मे फूलते-फलते रहे थे। उन सब बातो का उल्लेख उक्त धर्मो के प्रसग मे आगामी पृष्ठो मे किया गया है। उस काल मे इन अवैदिक धर्मो के अतिरिक्त वैदिक परपरा के भी कई धर्म प्रचलित थे, किंतु उनका महत्व बौद्ध और जैन धर्मो की तुलना मे कम था। इसीलिए इस अध्याय मे पहिले बौद्ध और जैन धर्मो का और उनके पश्चात् अन्य धर्मों का विवरण लिखा गया है।

१. बौद्ध धर्म

सक्षिप्त परिचय—

बुद्ध का जीवन-वृत्तांत—बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तक भगवान् गौतम बुद्ध का जन्म प्राचीन कोशल जनपद के अतर्गत शाक्य गण राज्य की राजधानी कपिलवस्तु से कुछ दूर लुबिनी के शाल वन मे विक्रमपूर्व स० ५६६ की वैशाखी पूर्णिमा को हुआ था। उनके पिता का नाम शुद्धोदन था, जो शाक्य गण राज्य के प्रमुख थे और उनकी माता का नाम महामाया था। उनका आरभिक नाम सिद्धार्थ था।

आरभिक जीवन—सिद्धार्थ को आरभ से ही बडे ऐश-आराम मे रखा गया था और उनकी सुख-सुविधा के सभी साधन सुलभ किये गये थे। एक राजकुमार के लिए जिन विद्याओ का जानना आवश्यक होता है, उन सब की उन्होने पूर्ण शिक्षा प्राप्त की थी। जब वे युवा हुए, तब उनका विवाह एक परम सुदरी तथा गुणवती राजकुमारी के साथ कर दिया गया। उसका नाम गोपा अथवा यशोधरा था। उससे उन्हे एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ था।

अशाति और गृह-त्याग—यद्यपि सिद्धार्थ को समस्त सासारिक सुख प्राप्त थे, तथापि उनका मन उनमे नही रमता था और वे दिन-रात अशाति का अनुभव करते थे। वे सोचा करते, यह ससार जन्म-जरा-मरण के दु खो से पूर्ण है और यह मानव तन भी विविध भाँति के रोगो एव क्लेशो का घर है, जो अत मे जर्जर होकर नष्ट हो जाने वाला है। यहाँ की प्रत्येक वस्तु क्षणभगुर और अस्थायी है। क्या कोई ऐसा उपाय भी हो सकता है, जिससे इन सासारिक दु खो से छुटकारा पाया जा सके ? उन्होने अनेक विज्ञ जनो से इसके विषय मे पूछ-ताछ की, किंतु कोई भी उन्हे सतुष्ट नही कर सका था। अतत शाति की खोज मे उन्होने विरक्त होकर घर से भाग जाने का निश्चय किया। वे आषाढी पूर्णिमा को मध्य रात्रि के समय अपने वृद्ध माता-पिता, युवती स्त्री और अबोध शिशु को सोते हुए छोड कर तथा राजकीय वैभव का परित्याग कर घर से चल दिये। उस समय उनकी आयु २९ वर्ष की थी।

तपस्या—उन्होने राजकुमार का वेश छोड कर फकीरी बाना धारण किया और वे सम्यक् ज्ञान, चिरतन सुख तथा शाश्वत शाति की खोज मे पर्याप्त समय तक कोशल एव मगध के जगलो मे भटकते रहे। उन्हे बतलाया गया कि वे तप द्वारा अपने उद्देश्य की सिद्धि कर सकते है। फलत वे उरुवेला नामक एक निर्जन स्थान मे तपस्या करने लगे। उन्होने सब प्रकार के शारीरिक कष्टो को सहन कर ६ वर्षो तक घोर तप किया था। उससे स्वर्ण के समान काति वाला उनका सुदर-सुडौल शरीर सूख कर काटा हो गया, किंतु फिर भी उन्हे शाश्वत शाति और सम्यक् ज्ञान का अनुभव नही हुआ। जब उन्हे ज्ञात हुआ कि इस प्रकार उनका उद्देश्य पूर्ण नही हो सकता, तो उन्होने तपस्या छोड दी।

बुद्धत्व-प्राप्ति—एक बार उरुवेला मे निरजना नदी के तट पर एक अश्वत्थ वृक्ष के नीचे बैठे हुए वे गहन चिंतन मे लीन थे। रात्रि के अतिम प्रहर मे अकस्मात उनके हृदय मे ज्ञान का प्रकाश हुआ। उन्होने अनुभव किया कि अब उन्हे सम्यक् बोध हो गया है। इस प्रकार प्रबुद्ध हो जाने पर वे सिद्धार्थ के बजाय 'बुद्ध' (जागृत अथवा ज्ञान-प्राप्त) के नाम से प्रसिद्ध हुए। वह विक्रमपूर्व स० ५३१ की वैशाखी पूर्णिमा का दिन था और उस समय उनकी आयु ३५ वर्ष की थी।

जिस उरुवेला स्थान पर उन्हे सबोध हुआ था, उसे 'बुद्ध गया' और वहाँ के अश्वत्थ वृक्ष को 'बोधि वृक्ष' कहते हैं। वह ऐतिहासिक महत्व का वृक्ष तो अब नही रहा, किंतु उसका स्थानापन्न दूसरा अश्वत्थ वृक्ष प्राय. १०० फीट ऊँचाई के आकार का अब भी विद्यमान है।

धर्मचक्र-प्रवर्त्तन—बुद्धत्व-प्राप्ति के अनतर वे अपने 'सबोध' द्वारा ससार के दुखी मानवो को लाभान्वित करने के विचार से विचरण करने लगे। सबसे पहिले वे गया से चल कर वाराणसी के निकटवर्ती ऋषिपतन मृगदाव (इसिपतन मिगदाय) नामक स्थान पर पहुँचे। वहाँ पर उन्होने कौडिल्य आदि पाँच परिव्राजको को, जो पहिले भी तपस्या-काल मे उनके साथ रहे थे, अपना प्रथम धर्मोपदेश वि० पू० स० ५३१ की आषाढी पूर्णिमा को दिया था। वह उपदेश 'धर्मचक्र-प्रवर्तन' के नाम से प्रसिद्ध है और वे पाँच परिव्राजक 'पचवर्गीय भिक्षु' कहलाते हैं। उपदेश का स्थान वाराणसी के निकट का सारनाथ है। पालि भाषा के 'धम्मचक्क पवत्तन सुत्त' मे वह उपदेश सकलित किया गया है। उस महत्वपूर्ण घटना के कारण सारनाथ का वह ऋषिपतन मृगदाव नामक पवित्र स्थल बौद्ध धर्मावलबियो का एक विख्यात तीर्थ हो गया[1]।

'चारिका' और 'वर्षा-वास'—'धर्मचक्र-प्रवर्त्तन' के पश्चात् भगवान् बुद्ध विचरण करते हुए सद्धर्म का प्रचार करने लगे। वे वर्ष मे प्राय ८-९ महीने 'चारिका' (विचरण) करते थे और वर्षा-ऋतु के ३-४ महीनो तक एक ही स्थान पर धर्मोपदेश करते हुए 'वर्षा-वास' मे बिताते थे। अनुसधान से ज्ञात हुआ है कि बुद्ध ने अपना प्रथम वर्षा-वास सारनाथ मे किया था, जहाँ उनकी स्मृति मे 'मूल गधकुटी' की स्थापना की गई थी। सबोध-प्राप्ति के अनतर बुद्ध ने अपने जीवन मे ४५ 'वर्षा-वास' किये थे, जिनमे २५ केवल श्रावस्ती नामक स्थान पर हुए थे। श्रावस्ती का 'अनाथपिडक जेतवनाराम' नामक धार्मिक स्थल उन्हे अत्यत प्रिय था। वहाँ के प्रसिद्ध सेठ अनाथ-पिंडक ने जेत राजकुमार को मुँह माँगा मूल्य देकर भूमि ली थी और उस पर जो विशाल विहार बनवाया गया, वही उन दोनो के नामो से 'अनाथपिडक जेतवनाराम' कहलाता था।

बुद्ध के जीवन का जितना सबध श्रावस्ती से रहा था, उतना किसी दूसरे स्थान से नहीं रहा। उनके जीवन के पिछले २५ वर्ष प्राय वहाँ के जेतवन विहार मे ही बीते थे। उन्होने वहाँ पर अपने अधिकाश वर्षा-वास तो किये ही थे, उनके अतिरिक्त अपने भ्रमण-काल मे भी वे जब उधर से निकलते थे, तब वहाँ कुछ समय तक अवश्य निवास करते थे। उनके सर्वाधिक धर्मसूत्र भी श्रावस्ती मे ही भाषित हुए थे।

---

(१) बौद्ध धर्म के लोप हो जाने पर वह गौरवपूर्ण प्राचीन स्थल अज्ञात हो गया था, किन्तु पुरातत्वान्वेषियो के अनुसंधान से वर्तमान काल मे उसका पुनरुद्धार किया गया है। विख्यात बौद्ध विद्वान अनागरिक धर्मपाल के प्रयत्न से वहाँ पर एक भव्य बौद्ध मंदिर बनाया गया है, जो 'मूल गधकुटी विहार' के नाम से प्रसिद्ध है। इसका उद्घाटन स० १९८८ की कार्तिकी पूर्णिमा (११ नवम्बर सन् १९३१) को हुआ था, जिसमें ससार के अनेक देशो के बौद्धों ने योग दिया था। इस मदिर मे भगवान् बुद्ध के पवित्र धातुशेष (अस्थियाँ) सुरक्षित हैं, और वहाँ की कलापूर्ण सुंदर मूर्ति बुद्ध के धर्मचक्र प्रवर्त्तन की मुद्रा मे बनाई गई है।

अंतिम काल और परिनिर्वाण—बुद्ध ने अपना अंतिम 'वर्षा-वास' वैशाली मे किया था, जहाँ वे कुछ अस्वस्थ हो गये थे। जब उन्होने समझा कि उनका अंत काल आ गया है, तो वे अपने प्रिय शिष्य आनंद के साथ वैशाली से चल कर मल्ल गणराज्य की राजधानी पावा पहुँचे। वहाँ पर उन्होने चुंड लुहार के आम्रवन मे विश्राम किया था। चुंड ने आग्रहपूर्वक उनका आतिथ्य किया। उसका दिया हुआ भोजन भगवान् बुद्ध को अनुकूल नही पडा, फलत वे और अधिक अस्वस्थ हो गये। वही उनका अंतिम भोजन था। पावा से वे मल्लो के दूसरे निकटवर्ती स्थान कुशिनारा चले गये। वहाँ के उपवत्तन नामक वन मे शाल के दो वृक्षो के बीच उनकी अंतिम शैया लगा दी गई। उस समय उन्होने वहाँ के एक वयोवृद्ध ब्राह्मण परिव्राजक सुभद्र को अंतिम प्रवज्या दिलाई थी।

उन्होने आनंद सहित उपस्थित भिक्षुओ को अपना अंतिम उपदेश देते हुए कहा,—"वयधम्मा संखारा, अप्पमादेन सम्मादेथाति"—अर्थात् संस्कार नश्वर है, अप्रमाद पूर्वक (जीवन के लक्ष को) संपादित करो। उस समय सभी उपस्थित भिक्षुगण अश्रुपूरित नेत्रो से जल-धारा बहा रहे थे। उनका देहावसान होने पर मल्ल गणराज्य के प्रमुख सामंतो ने उपस्थित होकर उनकी अर्थी बनाई, और उसे वे हिरण्यवती नदी के तटवर्ती अपने 'मुकुटबंधन' नामक चैत्य मे ले गये। वहाँ पर बडे समारोह के साथ उनका दाह संस्कार किया गया। उनके अस्थि अवशेषो को मल्लो ने आदरपूर्वक उठा कर अपनी सुरक्षा मे रख लिया था। बुद्ध का परिनिर्वाण कुशिनारा मे विक्रमपूर्व सं० ४८६ की वैशाखी पूर्णिमा को रात्रि के अंतिम प्रहर मे हुआ था। उस समय उनकी आयु ८० वर्ष की थी।

अस्थि-विभाजन—भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण का दु:खदायी समाचार सुनकर कई राज्यो के प्रतिनिधि उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने को कुशिनारा पहुँचे। उन्होने बुद्ध के अस्थि-अवशेषो मे से थोडे-थोडे अंश की माँग की, ताकि वे उन्हे अपने राज्यो मे ले जाकर उन पर समुचित स्मारको का निर्माण करा सके। मल्ल लोग उस अमूल्य निधि मे से किसी को भी हिस्सा बँटाने की स्वीकृति नही दे रहे थे। इस पर वाद-विवाद हुआ और वह इतना बढा कि परस्पर युद्ध करने तक की नौबत आ गई। उस समय द्रोण नामक एक वयोवृद्ध भिक्षु ने सब लोगो को शांत करते हुए कहा कि जिस महात्मा ने जीवन भर शांति और क्षमा का उपदेश किया था, उनके अवशेषो के लिए इस प्रकार अशांति उत्पन्न करना सर्वथा अनुचित है।

अंत मे द्रोण के सुझाव के अनुसार बुद्ध के अस्थि-अवशेष आठ भागो मे विभाजन किये गये, और उन्हे उपस्थित आठ राज्यो के प्रतिनिधियो मे बाँट दिया गया। इस प्रकार पावा और कुशिनारा के मल्ल, वैशाली के लिच्छिवि, कपिलवस्तु के शाक्य, रामग्राम के कोलिय, अल्लकप्प के बुलि राज्यो के अतिरिक्त मगध तथा वेठदीप के प्रतिनिधियो ने बुद्ध के अवशेषो का भाग प्राप्त किया था। पिप्पली वन के मौर्य बाद मे पहुँचे थे, अत उन्हे चिता की भस्म ही मिल सकी थी। बुद्ध के अस्थि-विभाजन का वह दृश्य सांची की कला मे प्रदर्शित किया गया है। अस्थि-अवशेषो पर विभिन्न स्थानो मे जो स्मारक बनाये गये थे, उनमे शालवन और मुकुटबंधन के चैत्य विशेष महत्वपूर्ण थे।

बुद्ध-जीवन से संबंधित स्मरणीय तिथियाँ—भगवान् बुद्ध के जीवन की तीन महान् घटनाएँ—जन्म, संबोध और निर्वाण अपना अनुपम ऐतिहासिक महत्व रखती है। यह बडे संयोग की बात थी कि वे तीनो महत्वपूर्ण घटनाएँ वैशाखी पूर्णिमा को हुई थी। धर्मचक्र-प्रवर्त्तन की तिथि आषाढी पूर्णिमा है। ये तिथियाँ समस्त संसार के बौद्ध धर्मावलंबियो के लिए सदा से स्मरणीय रही है।

बौद्ध पुण्य स्थल—भगवान् बुद्ध के जीवन से सबधित विविध स्थानो मे से पाँच अधिक महत्वपूर्ण है। उनकी प्राचीन महत्ता और वर्तमान स्थिति का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१ **लुंविनी**— बुद्ध के जन्म का स्थान। यहाँ पर अशोक ने अपने राज्याभिषेक के बीसवे वर्ष वि० पू० स० १६५ मे एक स्तूप का निर्माण कराया था। यह स्थान उत्तर प्रदेश के पूर्वोत्तर मे नेपाल का एक सीमावर्ती गाँव है, जो इस समय 'रुम्मनदेई' कहलाता है।

२ **उरुवेला**— बुद्ध की सबोध-प्राप्ति का स्थल। यहाँ का वोधि-वृक्ष सदा से बडा पवित्र माना जाता रहा है। यह स्थल विहार राज्य मे गया के निकट है और 'बुद्ध गया' कहलाता है। यहाँ बुद्ध मदिर बना हुआ है।

३. **ऋषिपतन**—बुद्ध के प्रथम धर्मोपदेश अर्थात् 'धर्मचक्र-प्रवर्त्तन' का स्थल। यह उत्तर प्रदेश मे **(मृगदाव)** वाराणसी के निकटवर्ती सारनाथ नामक स्थान मे है। यहाँ पर एक आधुनिक बौद्ध विहार और बुद्ध मदिर बनाया गया है।

४ **श्रावस्ती**— बुद्ध के अनुयायी सेठ अनाथपिडक ने यहाँ पर एक विशाल विहार बनवाया था। **(जेतवनाराम)** भगवान् बुद्ध ने यहाँ पर प्रचुर काल तक निवास किया था और अपने अनेक महत्वपूर्ण धर्मोपदेश दिये थे। यह स्थान उत्तरप्रदेश मे सहेत-महेत गाँवो के निकट था। इस समय सहेत गोडा जिला मे और महेत वहरायच जिला मे दो छोटे गाँव है, जो एक-दूसरे के निकट वसे हुए है।

५. **कुशिनारा**—बुद्ध के परिनिर्वाण का पुण्य स्थल। यहाँ पर एक विहार बनाया गया था, जिसमे बुद्ध-परिनिर्वाण की विशाल मूर्ति प्रतिष्ठित की गई थी। इस स्थल की पहिचान उत्तर प्रदेश राज्यार्गत गोरखपुर जिला के कसिया गाँव और विशेपतया उसके निकटवर्ती अनुरुधवा गाँव के टीले से की गई है। कसिया गोरखपुर से ३२ मील पूर्व मे और देवरिया से २१ मील उत्तर मे स्थित है।

प्रचार-क्षेत्र और शिष्य—बुद्ध के धर्म-प्रचार का प्रमुख क्षेत्र भारत का पूर्वी भाग था, जिसके अंतर्गत कोशल, मगध और वत्स के प्राचीन राज्य थे। उनके राजा प्रसेनजित्, बिंवसार और उदयन ने आरभ मे बुद्ध की शिक्षाओ की ओर ध्यान नही दिया था; किंतु बाद मे वे अपने राज कर्मचारी और प्रजाजन सहित उनके अनुयायी हो गये थे।

बुद्ध ने अपने जीवन काल मे ही हजारो-लाखो व्यक्तियो को सद्धर्म का उपदेश देकर अपना अनुयायी बनाया था। उनके अनेक शिष्य थे, जिनमे प्रमुख व्यक्तियो के नाम इस प्रकार है—

१ सारिपुत्त, २. महामोग्गलान, ३. महाकस्सप, ४. महाकच्चान, ५. महाकोट्ठिल, ६. महाकप्फिन, ७. चुड, ८. अनिरुद्ध, ९ रेवत, १० उपालि, ११ आनद, १२ राहुल और १३. महापजापति गोतमी।

उनमे से महाकच्चान और रेवत का प्राचीन व्रज क्षेत्र से अधिक सबंध रहा था। महाकच्चान उज्जैन निवासी थे, किंतु उन्होने मथुरा मे सर्वप्रथम बौद्ध धर्म का व्यवस्थित रूप मे प्रचार किया था। रेवत सोरो के निवासी थे। उन्होंने वैशाली मे बुद्ध से प्रवज्या ली थी। महापजापति गोतमी बुद्ध की एक मात्र महिला शिष्या थी, जिसे अनेक प्रतिबधो के साथ भिक्षुणी होने की आज्ञा दी गई थी।

भिक्षुणी सघ—भगवान् बुद्ध ने पहिले पुरुषो को ही अपना अनुयायी वनाया था और स्त्रियो का निषेध किया था। जब पुरुप साधको के 'भिक्षुसघ' की स्थापना हो गई, तव अनेक स्त्री साधिकाओ ने भी बुद्ध से प्रवज्या लेकर 'भिक्षुणी सघ' वनाने की प्रार्थना की थी। उनकी विनीत प्रार्थना की बुद्ध सदैव उपेक्षा करते रहे थे। उनका मत था, स्त्रियाँ साधारण उपासिका वन कर अपने घर मे ही रहे। उन्हे भिक्षुणी वन कर गृह-त्याग नही करना चाहिए। वाद मे कई परम साध्वी नारियो के त्यागपूर्ण जीवन से प्रभावित होकर बुद्ध के प्रिय शिष्य आनद ने उनसे प्रार्थना की, कि वे अधिकारिणी महिलाओ को भी प्रवज्या देने की कृपा करे। इस पर बुद्ध ने अनेक प्रतिवधो के साथ महा पजापति गोतमी के सरक्षण मे 'भिक्षुणी सघ' वनाने की वात मान ली थी।

उपदेश की भाषा—बुद्ध से पहिले उत्तर भारत की जो लोक-भापा थी, उसे भापा-शास्त्रियो ने 'पालि' नाम दिया है। उसका प्रचार पश्चिमोत्तर भारत के तक्षशिला नगर से लेकर पूर्वी भारत के चपा तक था। उस काल की विद्वत् भापा को पाणिनि प्रभृत्ति वैयाकरणो ने व्याकरण के कठोर नियमो से जकड कर 'सस्कृत' वना दिया था। वह वैदिक भापा से कुछ भिन्न थी और उसका प्रचार विद्वानो तक ही सीमित था। भगवान् बुद्ध ने विद्वत् भापा 'सस्कृत' की उपेक्षा कर लोक-भापा 'पालि' को अपनाया था। उसी मे उन्होने अपना धर्मोपदेश दिया था, जिससे उनका सदेश जन साधारण तक वडी सुगमता पूर्वक पहुँच सका था। बुद्ध का समस्त मूल धर्मोपदेश पालि भापा मे ही मिलता है।

बौद्ध धर्म का मूल स्वरूप—भगवान् बुद्ध ने सवोध-प्राप्ति के अनतर सारनाथ मे अपना प्रथम धर्मोपदेश अपने शिष्य पाँच परिव्राजको को देते हुए कहा था,—"हे भिक्षुओ! १ दुख का सर्वव्यापी अस्तित्व, २ दुख का सार्वजनिक कारण, ३ दुख के सपूर्ण निरास की सभावना और ४ दुख के निरास का मार्ग,—ये चार 'आर्य सत्य' है। इनके ज्ञान और दर्शन से मेरा चित्त मुक्त हो गया है। मुझे ज्ञात हुआ कि मै सम्यक् सवोध प्राप्त कर चुका हूँ। भिक्षुओ! एक ओर सुखपूर्ण काम्य कर्म है और दूसरी ओर काया-क्लेश युक्त कठोर तपस्या। ये दोनो ही अतिम कोटि के होने के कारण सदोप है। सासारिक भोग मे सुख मानकर विपय-वासना मे लिप्त होना निंदनीय है, किंतु उससे भी अधिक निन्द्य है कठोर साधनो से शरीर को कष्ट देना। इन दोनो एकातिक मार्गो की उपेक्षा कर 'मध्यम मार्ग' का अनुसरण करना उचित है। उसी मे सवोध और निर्वाण की प्राप्ति होती है।

बुद्ध का वह 'मध्यम मार्ग' उनके द्वारा कथित चार आर्य सत्यो मे से 'चौथा सत्य' है। वह 'अष्टागिक' है, जिसके आठ अग है,—१ सम्यक् दृष्टि, २ सम्यक् सकल्प, ३ सम्यक् वाणी, ४ सम्यक् कर्मान्त, ५ सम्यक् आजीव, ६ सम्यक् व्यायाम, ७ सम्यक् स्मृति और ८ सम्यक् समाधि। 'चार आर्य सत्य' और 'अष्टागिक मध्यम मार्ग' का उपदेश ही बौद्ध धर्म का सुप्रसिद्ध 'धर्मचक्र-प्रवर्तन' है, जिस पर इस धर्म के मूल सिद्धात आधारित है। जैकोवी आदि कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने बौद्ध धर्म का आधार साख्य दर्शन माना है, किंतु उनका मत पूर्णतया ठीक नही है। असल मे इस धर्म के मूल सिद्धात उपनिषद्, गीता और साख्य दर्शन तीनो से लिये गये है। इस प्रकार वैदिक धर्म के वृक्ष पर एक नई 'कलम' की भाँति बौद्ध धर्म का विकास हुआ था। राजर्षि जनक ने भोग मे योग के निर्वाह की जो परपरा प्रचलित की थी और भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया था, बुद्ध का धर्म प्राय उसी का प्रत्याख्यान था।

बौद्ध धर्म के तीन मुख्य तत्व है,—१ शील, २ समाधि तथा ३ प्रज्ञा, और इसके तीन आधार स्तभ है,—१ बुद्ध, २ धर्म तथा ३ सघ। उन्हे 'त्रिरत्न' अथवा 'त्रिशरण' कहा गया है। इस धर्म मे पॉच सात्विक कर्मो की मान्यता है, जो 'पच शील' कहलाते है। वे है,—१ अहिसा (किसी को कष्ट न देना), २ अस्तेय (चोरी न करना), ३ सत्य (मिथ्या भाषण न करना), ४. ब्रह्मचर्य (व्यभिचार न करना), ५ मद्य निषेध (मदिरा-पान न करना)। ये पॉचो कर्म भिक्षु और गृहस्थ प्रत्येक बौद्ध के लिए है। उनके अतिरिक्त पॉच कर्म भिक्षुओ के लिए विशेष रूप से बतलाये गये है। वे है,—१ अपराह्न मे भोजन न करना, २ माला धारण न करना, ३ सगीत मे रुचि न लेना, ४ सुवर्ण-रजत को ग्रहण न करना और ५ शैया का परित्याग करना। पूर्वोक्त पाँच कर्मो के साथ इन पॉचो को मिलाने से बौद्ध धर्म मे मान्य 'दश शील' होते है।

बुद्ध ने किसी व्यक्ति को उसके जन्म के कारण ऊँच–नीच नही माना था। वे कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था के समर्थक थे। उनके मतानुसार ब्राह्मण के घर जन्म लेने से ही कोई व्यक्ति ब्राह्मण नही होता। इसके लिए उसे पवित्रता और सदाचार का जीवन व्यतीत करना चाहिए। इस सबध मे उनका उपदेश है,—"न तो जन्म से कोई ब्राह्मण होता है और न जन्म से कोई अब्राह्मण। कर्म से ही ब्राह्मण होता है और कर्म से ही अब्राह्मण। तप, ब्रह्मचर्य और सयम से कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण हो सकता है, और वही उत्तम ब्राह्मण है[1]।" बुद्ध के उक्त उपदेश के कारण उस काल के ब्राह्मणो ने उनका बडा विरोध किया था, किंतु बुद्ध अपने सिद्धात पर अटल रहे और दृढता पूर्वक अपने मत का प्रचार करते रहे थे।

बुद्ध-वचन का 'संगायन'—भगवान् बुद्ध ने अपने जीवन-काल मे विविध स्थानो मे जो मौखिक उपदेश दिये थे, वे उनके सैकडो शिष्यो को कठस्थ होने के कारण अव्यवस्थित रूप मे बिखरे हुए थे। बुद्ध–परिनिर्वाण के पश्चात् उनके प्रमुख शिष्यो को इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि उनके शास्ता के बतलाये हुए सद्धर्म के स्वरूप–निर्धारण के लिए उनके वचनो को व्यवस्थित किया जाय। इसके लिए प्रमुख भिक्षुओ ने एकत्र होकर बुद्ध-वचनो का 'सगायन' किया था। जिस परिषद् मे 'सगायन' हुआ, उसे 'सगीति' कहा गया है। इस प्रकार की कई 'सगीति'—परिषदे विभिन्न कालो मे हुई थी और उन्होने बौद्ध धर्म के स्वरूप–निर्धारण मे महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की थी। बौद्ध धर्म के इतिहास मे ये 'सगीति' अत्यत प्रसिद्ध है। यहॉ पर उनका सक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

१ प्रथम सगीति (वि पू स० ४८६)—बुद्ध-परिनिर्वाण के तीन महीने पश्चात् श्रावण मास मे एक धर्म परिषद् का आयोजन राजगृह मे किया गया, जिसकी अध्यक्षता बुद्ध के विद्वान शिष्य महाकाश्यप ने की थी। उस परिषद् मे ५०० भिक्षु उपस्थित हुए थे, इसलिए उसे 'पचशतिका' कहा जाता है। उसमे बुद्ध-वचनो का सगायन करते हुए 'धम्म' और 'विनय' का निर्धारण किया गया था।

---

(१) **न जच्चा ब्राह्मणो होति, न जच्चा होति अब्राह्मण।**
कम्मणा ब्राह्मणो होति, कम्मणा होति अब्राह्मणो॥
तपेन ब्रह्मचरियेन संयमेन च। एतेन ब्राह्मणो होति एतं ब्राह्मणं उत्तमम्॥

(सुत्त निपात, पृष्ठ ११५)

२ **द्वितीय संगीति** (वि पू स० ३८६)—बुद्ध-परिनिर्वाण को सौ वर्ष भी नहीं बीते थे कि बौद्ध धर्म के अनेक भिक्षुओ को 'विनय' के नियमो मे कठोरता ज्ञात होने लगी और वे उनके विरोध मे आवाज उठाने लगे। उस विरोध का सूत्रपात वैशाली के वज्जि भिक्षुओ द्वारा हुआ था। उन्होंने भिक्षुओ के लिए विहित 'शील' के १० नियमो मे सशोधन कर ऐसे सिद्धातो का प्रचार करना आरभ किया, जिनमे भिक्षुओ को आवश्यकतानुसार सुवर्ण-रजतादि स्वीकार करने और रसादि ग्रहण करने की छूट थी। स्थविर यश नामक एक पश्चिम प्रदेशीय वृद्ध भिक्षु उस समय वैशाली मे विद्यमान था। वह वज्जि भिक्षुओं के धर्म विरुद्ध आचरण को देख कर बडा दुखी हुआ और उसके सबध मे निर्णय करने के लिए उसने कुछ दूत भेज कर मथुरा और अवन्ति के बौद्ध विद्वानो को बुलवाया। उसके आमत्रण पर वैशाली मे एक धर्म परिषद् हुई, जिसे 'द्वितीय सगीति' कहा गया है।

उक्त परिषद् मे ७०० भिक्षु उपस्थित हुए थे, अत उसे 'सप्तशतिका' कहा जाता है। उसका सभापतित्व महा स्थविर रेवत ने किया था। वह परिषद् ८ माह तक चलती रही थी। उसमे 'विनय' के नियमो मे किंचित् भी परिवर्तन न करने वाले शुद्धिवादियो तथा देश-काल के अनुसार परिवर्तन करने वालो मे काफी विवाद हुआ, किंतु दोनो मे कोई समझौता नही हो सका। शुद्धि-वादियो ने 'धम्म' और 'विनय' के पूर्व निर्धारित स्वरूप को ही उस परिषद् द्वारा सपुष्ट किया था। इस प्रकार उसमे महास्थविरो की जीत हुई थी। परिवर्तनवादियो ने वैशाली परिषद् के निर्णय से असतुष्ट होकर कौशाबी मे दूसरी महा परिषद् का आयोजन किया, जिसमे १० हजार भिक्षुओ ने भाग लिया था। उसके फलस्वरूप बौद्ध सघ के पश्चिमी और पूर्वी नामक दो विभाग हो गये। पश्चिमी विभाग शुद्धिवादियो का था, जिसमे मूल धर्म के कट्टर समर्थक स्थविरो का प्राधान्य रहा, अत उन्हे 'स्थविरवादी' (थेरवादी) कहा जाने लगा। पूर्वी विभाग मे परिवर्तनवादी थे। चूंकि उनकी सख्या बहुत अधिक थी, अत वे 'महासाघिक' नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्होने स्थविरवादियो के प्रमुख केन्द्र श्रावस्ती से पृथक् अपना केन्द्र मगध मे स्थापित किया था।

३ **तृतीय सगीति** (वि पू स० १५०)—बौद्ध धर्म की तीसरी महा परिषद् मौर्य सम्राट अशोक के शासन काल मे बुद्ध परिनिर्वाण के २३६ वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र मे हुई थी। उसके सभापति प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान मोग्गलिपुत्त तिस्स थे। वह परिषद् ९ महीने तक चलती रही और उसमे अतिम रूप से बुद्ध वचनो का 'सगायन' किया गया। उक्त परिषद् के अनतर भगवान् बुद्ध के 'सुत्त', 'विनय' और 'अभिधम्म' सबधी समस्त उपदेशो को व्यवस्थित कर उन्हे 'त्रिपिटक' के रूप मे सकलित किया गया। फिर उन्हे लिपिबद्ध भी कर लिया गया, यद्यपि भारत मे लेखन कला का प्रचार उस काल से बहुत पहिले ही हो चुका था। उक्त परिषद् के पश्चात् बौद्ध धर्म का जो स्वरूप बना, उसमे फिर कोई मौलिक परिवर्तन नही हुआ था।

बौद्ध धर्म के विविध संप्रदाय—भगवान् बुद्ध ने अपने जीवन-काल मे अध विश्वास को प्रोत्साहन न देकर तर्क और विचार-स्वातत्र्य का समर्थन किया था। 'तत्व सग्रह' के अनुसार उन्होने अपने अनुगामी भिक्षुओ से कहा था,—'परीक्ष्य भिक्षवो गाह्यम् मद्वचो न तु गौरवात्।—भिक्षुओ को स्वत परीक्षा के उपरात ही मेरे वचनो को ग्रहण करना चाहिए, केवल मेरे गौरव के कारण ही नही।' जिस धर्म मे विचारो की इतनी स्वतत्रता थी, उसमे विविध सप्रदायो का

विकसित होना सर्वथा स्वाभाविक था[१]। उस विचार-स्वातन्त्र्य के कारण ही बौद्ध धर्म के अनुगामी पहिले 'स्थविरवादी' और 'महासाधिक' नामक दो भागो मे विभाजित हुए, फिर स्थविरवादियो के १२ और महासाधिको के ६ उप विभाग हो गये। इस प्रकार बुद्ध के उपरात २-३ शताब्दियो के काल मे ही बौद्ध धर्म के अतर्गत १८ प्रमुख सप्रदाय बन गये थे। कालातर मे उनकी सख्या और भी बढ गई थी।

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, बुद्ध-परिनिर्वाण के पश्चात् एक शताब्दी के अदर ही बौद्ध धर्म की दो परिषदे हुई थी। उनमे बुद्ध-वचनो के सबध मे जो विचार-भेद हुआ, उसने सप्रदाय-भेद की भी जड जमा दी थी। बौद्धो का एक दल भगवान् बुद्ध के वरिष्ठ शिष्यो की परपरा के विद्वान भिक्षुओ का था। वे बुद्ध-वचनो पर आधारित मूल धर्म मे किंचित् भी परिवर्तन करने के पक्ष मे नही थे। उनका नेतृत्व 'स्थविर' करते थे, जिससे उनके समुदाय को 'स्थविरवादी' (थेरवादी) कहा गया। उनकी सख्या अधिक न होने पर भी तत्कालीन भिक्षुओ पर उनका बडा प्रभाव था। बौद्धो का दूसरा दल युग की आवश्यकता के अनुसार मूल धर्म के नियमो मे कुछ परिवर्तन करना चाहता था, ताकि वह अधिक व्यावहारिक एव लोकपरक बन सके; और जिसे भिक्षु ही नही, वरन् जन साधारण भी सरलता पूर्वक ग्रहण कर ले। ऐसे लोगो की सख्या बहुत अधिक थी, इसलिए उनके समुदाय को 'महासाधिक' कहा गया।

स्थविरवादियो ने महासाधिको को जब 'अधर्मवादी' और 'पापभिक्षु' कहना आरभ किया, तब उसके उत्तर मे महासाधिक गण स्थविरवादियो को 'हीनयानी' कहने लगे। उनका कहना था, स्थविरवादियो की साधना 'हीन' कोटि की है, क्यो कि उसमे लोक-हित और करुणा का अभाव है। वह ऐसे अनुपयुक्त 'यान' की तरह है, जिसके सहारे बहुसख्यक जनता अपनी दु खपूर्ण सासारिक यात्रा को तय नही कर सकती। कालातर मे महासाधिको के मत को 'महायान' कहा जाने लगा, क्यो कि उसमे सबको पार करने की क्षमता थी। इस प्रकार बौद्ध धर्म के विविध सप्रदाय 'हीनयान' और 'महायान' के दो प्रसिद्ध नामो के अतर्गत समाहित हो गये थे।

प्राचीन ब्रज मे बौद्ध धर्म का प्रचार—

बुद्ध काल से पूर्वमौर्य काल (वि पू सं० ५६६ से वि पू सं० २६८) तक की स्थिति— बौद्ध ग्रथ 'अगुत्तर निकाय' का उल्लेख है, जब बुद्ध श्रावस्ती मे थे, तब वेरजा नामक स्थान के निवासियो ने उन्हे अपने यहाँ धर्म-प्रचार के लिए आमन्त्रित किया था। भगवान् बुद्ध ने आमन्त्रण को स्वीकार कर अपना १२वाँ वर्षा-वास वेरजा मे किया था और तभी वे मथुरा भी गये थे[२]। इस प्रकार वि० पू० स० ५२० के लगभग बुद्ध द्वारा प्राचीन ब्रज मे सर्वप्रथम धर्म-प्रचारार्थ जाने का उल्लेख मिलता है। वेरजा की अभी तक ठीक-ठीक पहिचान नही की जा सकी है, किंतु हमने सिद्ध किया है कि वह अलीगढ जिला के बरहद अथवा एटा जिला के अतरजी नामक स्थानो मे से कोई एक हो सकता है[3]।

---

(१) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १००

(२) अगुत्तर निकाय, (जिल्द २, पृष्ठ २७ और जिल्द ३, पृष्ठ २५७)

(३) इस ग्रंथ की प्रथम जिल्द के अंतर्गत, 'ब्रज का इतिहास' में बुद्ध काल का प्रसंग देखिये।

बुद्ध की प्रथम ब्रज-यात्रा—जब बुद्ध प्रथम बार ब्रज मे आये, तब यहाँ यक्षो का बडा आतक था। मथुरा नगर के बाहर उनकी कई बस्तियाँ थी, जहाँ जाने का किसी को भी साहस नही होता था। उनका नेतृत्व गर्दभ और तिमिसिका नामक यक्ष-यक्षिणी करते थे। उन दोनो के बहुसख्यक अनुयायी थे, जिनके कारण मथुरा निवासियो को बडा कष्ट उठाना पडता था। भगवान् बुद्ध ने अपने प्रभाव से उन्हे सन्मार्ग पर आरूढ किया था[1]। श्री कृष्णदत्त वाजपेयी का अनुमान है, गर्दभ यक्ष का निवास स्थान उस काल मे वर्तमान मथुरा के गोकर्ण टीला के आस-पास था[2]।

जब बुद्ध अपने धर्म-प्रचार के लिए मथुरा नगर मे जाने लगे, तब एक नग्न स्त्री ने आकर उनका मार्ग रोक दिया था। बुद्ध ने उससे कहा—"हे मातृ देवते! तुम्हारा इस प्रकार खडा होना शोभा नही देता है।" यह सुनकर वह स्त्री तो हट गई, किंतु बुद्ध उस समय नगर मे न जाकर बाहर की यक्ष-बस्ती मे चले गये थे। उस घटना से मथुरा नगर मे बुद्ध से पहिले नग्न जैन श्रमणो की विद्यमानता का सकेत मिलता है।

बुद्ध के आगमन से मथुरा के तत्कालीन ब्राह्मणो मे बडी खलबली मच गई थी। उन्हे यह आशका होने लगी कि बुद्ध के धर्म-प्रचार से उन लोगो का प्रभाव और महत्व कम हो जावेगा। वे अपने नेता नीलभूति के पास गये और उससे बुद्ध के साथ शास्त्रार्थ करने को कहा। बुद्ध द्वारा यक्षो को विनीत बनाये जाने से नीलभूति बडा प्रभावित हुआ था। वह बुद्ध से शास्त्रार्थ करने की बजाय उनके रहन-सहन और खान-पान की व्यवस्था करने लगा।

'अगुत्तर निकाय' (मधुरिय सुत्त, ३-२५६) ज्ञात होता है, बुद्ध के मन पर मथुरा की उस यात्रा का अच्छा प्रभाव नही पडा था। उन्होने अपने शिष्यो को मथुरा के अवगुण (आदीनवा) बतलाते हुए कहा था,—"पचिमे भिक्खवे आदीनवा मधुराया। कतमे पच ? विसमा, बहुरजा, चड सुनखा, बाल यक्खा, दुल्लभ पिडा[3]।" हे भिक्षुओ! मथुरा मे ५ दोष है,—१, वहाँ के मार्ग विषम है, २ वहाँ बहुत धूल है ३ वहाँ के कुत्ते बडे भयकर हैं, ४ वहाँ अज्ञानी यक्ष रहते है, और ५ वहाँ भिक्षा मिलने मे कठिनाई होती है।

उक्त उल्लेख से ऐसा अनुमान होता है, उस काल मे मथुरा की धार्मिक स्थिति विकृत हो गई थी और वहाँ के राज्य प्रबध मे शिथिलता आ गई थी, जिससे वहाँ की शाति और शासन-व्यवस्था मे गडबडी फैल गई थी। फलत वहाँ पर क्रूरकर्मा यक्षो का आतक बढ गया था। उसके साथ ही वहाँ भीषण कुत्तो की प्रबलता एव वहाँ की भूमि मे ककड-पत्थर, झाड-झगाड तथा धूल-धक्कड की अधिकता हो गई थी। उन सबके कारण बुद्ध को उस यात्रा मे पर्याप्त सफलता नही मिली थी। उस समय यहाँ के यक्ष-पूजको मे ही उनके विचारो का कुछ प्रचार हो सका था।

बुद्ध की दूसरी ब्रज-यात्रा—बुद्ध अपने परिनिर्वाण से कुछ समय पहिले एक बार पुन मथुरा गये थे। वह उनकी दूसरी ब्रज-यात्रा थी। उस समय तक वहाँ का धार्मिक वातावरण बौद्ध धर्म के कुछ अनुकूल बन गया था। उस समय बुद्ध ने ब्रज के प्राचीन गौरव के सबध मे एक महत्वपूर्ण

---

(१) गिलगिट मैन्युस्क्रिप्ट्स (जिल्द ३, भाग १)
(२) प्राचीन मथुरा मे यक्ष (ब्रज भारती, वर्ष १३ अक २)
(३) गिलगिट मैन्युस्क्रिप्ट्स (जिल्द ३, भाग १)

बात कही थी और उसके उज्ज्वल भविष्य से सबंधित एक भविष्य-वाणी की थी। ब्रज के प्राचीन गौरव संबंधी बुद्ध का उक्त कथन सर्वास्तिवादी 'विनय पिटक' तथा 'अशोकावदान' के चीनी अनुवाद मे मिलता है। तदनुसार बुद्ध ने कहा था, यह प्रदेश भारतवर्ष का आदि राज्य रहा है, क्यो कि यहाँ पर मानवो का सर्वप्रथम राजा (महा सम्मत) निर्वाचित हुआ था[1]। सृष्टि के आदि काल मे मानव समाज ने व्यवस्था और सरक्षा के लिए सर्वसम्मति से अपना एक नेता चुना था, जो 'महा-सम्मत' कहलाया। उसने मथुरा के निकटवर्ती भू-भाग मे अपना सर्वप्रथम राज्य (आदि राज्य) स्थापित किया था[2]। इस प्रकार भगवान् बुद्ध ने मथुरा को जबूद्वीप की प्रथम राजधानी मानते हुए उसके प्राचीन गौरव को स्वीकार किया था।

बुद्ध की भविष्य वाणी का उल्लेख 'दिव्यावदान' मे मिलता है। उससे ज्ञात होता है, जब भगवान् बुद्ध अपने शिष्य आनद के साथ मथुरा के 'रुरुमुड पर्वत' पर विचरण कर रहे थे, तब उन्होने भविष्य वाणी की थी कि कालातर मे यहाँ पर उपगुप्त नामक एक महान् उपदेशक का जन्म होगा, जो उन्ही के समान सद्धर्म का प्रचार करेगा। उस काल मे यहाँ पर 'नट-भट विहार' का निर्माण भी किया जावेगा[3]। मथुरा का वह 'रुरुमुड' अथवा 'उरुमुड' पर्वत कहा था, उसके सबध मे विविध विद्वानो के विभिन्न विचार रहे है। श्री ग्राउस ने उसकी पहिचान 'ककाली टीला' से की थी[4]। सर्वश्री कृष्णदत्त वाजपेयी और भरतसिह उपाध्याय आदि विद्वानो का झुकाव उसे ब्रज का सुप्रसिद्ध गोवर्धन पर्वत मानने की ओर रहा है[5]। उसके विरुद्ध हमने सिद्ध किया है, बौद्ध काल का रुरुमुड अथवा उरुमुड पर्वत वर्तमान मथुरा स्थित गोकर्णेश्वर महादेव के निकटवर्ती टीलो मे से कोई एक ऊँचा टीला था[6]।

भगवान् बुद्ध की पूर्वोक्त दो यात्राओ के कारण प्राचीन ब्रज अर्थात् शूरसेन जनपद से बौद्ध धर्म का बीजारोपण मात्र हुआ था। उसे अकुरित और पल्लवित करने का श्रेय क्रमश कात्यायन और उपगुप्त को है। बुद्ध के प्रमुख शिष्यो मे कात्यायन का स्थान महत्वपूर्ण है। उसने अवति, कोशल और मगध के अतिरिक्त शूरसेन मे बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। उसे इस धर्म की एक थेरवादी शाखा 'सम्मितीय' का सस्थापक माना जाता है। उसकी धार्मिक महत्ता के कारण उसे कात्यायन की अपेक्षा महाकात्यायन (पालि रूप 'महाकच्चान') कहा गया है। बौद्ध धर्म मे उसका आदर बोधिसत्व के समान होता रहा है। उसके धार्मिक प्रचार का सक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है।

कात्यायन द्वारा बौद्ध धर्म का प्रचार—भगवान् बुद्ध के काल मे अवति राज्य का अधिपति चड प्रद्योत नामक एक शक्तिशाली राजा था। बुद्ध परिनिर्वाण काल के लगभग मथुरा मे जो राजा था, उसका नाम बौद्ध वाङ्मय मे अवतिपुत्र लिखा गया है, और उसे अवति-नरेश चड

---

(१) उत्तर प्रदेश मे बौद्ध धर्म का विकास, पृष्ठ १६७

(२) गिलगिट मैन्युस्क्रिप्ट्स, जिल्द ३

(३) दिव्यावदान (कावेल सस्करण) पृष्ठ ३४८–३४९

(४) मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमायर (तृतीय सस्करण) पृष्ठ ११६

(५) १ ब्रज का इतिहास, (दूसरा भाग) पृष्ठ १०,
 २. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल पृष्ठ ४४१–४४३

(६) इस ग्रथ की प्रथम जिल्द के अतर्गत 'ब्रज का इतिहास' मे बुद्ध काल का विवरण देखिये

प्रद्योत का दौहित्र बतलाया गया है[१]। बुद्ध के धर्म–प्रचार की प्रसिद्धि सुन कर चडप्रद्योत ने सात व्यक्तियो के साथ अपने पुरोहित–पुत्र कात्यायन को बुद्ध के पास भेजा था ताकि वे उनसे अवति मे पधारने की प्रार्थना कर सके[२]। जब कात्यायन भगवान बुद्ध की सेवा मे उपस्थित हुआ, तब वे वाराणसी मे थे। वे वेरज मे अपना बारहवा वर्षा-वास करने के अनतर वहाँ पहुँच गये थे[३]। इस प्रकार का उल्लेख भी मिलता है कि कात्यायन मथुरा मे ही बुद्ध से मिला था, किंतु अधिक प्रामाणिकता वाराणसी के सबध मे है। ऐसा मालूम होता है, शूरसेन प्रदेश मे बुद्ध के आगमन का समाचार सुन कर ही अवति–नरेश ने कात्यायन को भेजने का विचार किया होगा। वर्षा काल के समाप्त होने पर जब कात्यायन उधर पहुँचा, तब तक बुद्ध वेरज से प्रस्थान कर चुके थे, अत वह वाराणसी मे ही उनसे मिल सका था।

कात्यायन पर बुद्ध के उपदेशो का इतना प्रभाव पडा कि वह उनसे दीक्षा लेकर बौद्ध सघ मे सम्मिलित हो गया था। बुद्ध भी कात्यायन की योग्यता पर अत्यत प्रसन्न हुए थे। जब बुद्ध से उज्जयिनी पधारने की प्रार्थना की गई, तो उन्होने उत्तर दिया कि अब वहाँ उनके जाने की आवश्यकता नही है। वहाँ का कार्य स्वय कात्यायन ही कर सकता है।

बुद्ध के आदेशानुसार कात्यायन उज्जयिनी वापिस चला गया और वहाँ पर उसने बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ एक केन्द्र की स्थापना की। उसने चड प्रद्योत तथा उज्जयिनी के प्रजाजनो को बुद्ध की शिक्षाओ का मर्म समझाया, जिससे वहाँ पर बौद्ध धर्म का प्रचार होने लगा[४]। कात्यायन ने कोशल और मगध मे भी बौद्ध धर्म का प्रचार किया था, किंतु उनके प्रधान कार्यक्षेत्र अवति और शूरसेन थे।

एक बार उसने मथुरा जा कर वहाँ के गुदवन मे विहार किया था[५]। उस समय वहाँ का राजा अवतिपुत्र मथुरा से सवारी मे बैठ कर उसके पास पहुँचा था[६]। उस समय कात्यायन ने वर्ण व्यवस्था और ऊँच–नीच के भेद–भाव पर एक प्रभावशाली प्रवचन किया था। उसे सुन कर अवतिपुत्र ने बुद्ध के दर्शन करने की अभिलाषा से कात्यायन से पूछा था कि इस समय बुद्ध भगवान् कहाँ हैं? इस पर कात्यायन ने उत्तर दिया कि उनका तो परिनिर्वाण हो गया[७]। उसके बाद कात्यायन ने अवतिपुत्र को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी थी और मथुरा निवासियो मे उस धर्म का प्रचार किया था।

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि बुद्ध के परिनिर्वाण–काल के कुछ समय पश्चात् कात्यायन ने मथुरा के गुदावन मे विहार किया था और अवतिपुत्र को बौद्ध धर्मावलबी बनाया था। तभी राजा और प्रजा दोनो ने बौद्ध धर्म के प्रति रुचि प्रदर्शित की थी। इस प्रकार वि पू सं० ४८० के लगभग प्राचीन ब्रज मे कात्यायन के प्रयत्न से बौद्ध धर्म का अकुर जम गया था।

---

(१) १. मज्झिम निकाय का 'माधुरिय सुत्तंत' और उसकी 'अट्ठ कथा'
२. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ २७६

(२) उज्जियिनी दर्शन, पृष्ठ २४

(३) उत्तर प्रदेश मे बौद्ध धर्म का विकास, पृष्ठ ७८

(४) थेरगाथा–अट्ठ कथा (१-४८५)

(५) मज्झिम निकाय का 'माधुरिय सुत्तत', पृष्ठ २६८

(६) बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ ४४१

(७) मज्झिम निकाय (हिंदी अनुवाद), पृष्ठ ३४३

मौर्य काल (वि. पू. सं० २६८ से वि पू सं० १२८) में बौद्ध धर्म की स्थिति—भगवान् बुद्ध की यात्राओ से प्राचीन ब्रज मे बौद्ध धर्म का बीजारोपण हुआ और कात्यायन के प्रयत्न से वह अकुरित भी हुआ, किंतु उसे पल्लवित होने मे पर्याप्त समय लग गया था। मौर्य सम्राट चद्रगुप्त के दरबारी मेगस्थनीज ने शूरसेन का जो वर्णन लिखा है, उसमे वहाँ के निवासियो की कृष्ण के प्रति श्रद्धा बतलाई गई है। उससे ज्ञात होता है कि बुद्ध के प्राय दो सौ वर्ष बाद तक शूरसेन जनपद मे बौद्ध धर्म का अधिक प्रचार नही हो सका था, यद्यपि वह वहाँ पर धीरे-धीरे अपनी जड जमा रहा था।

अशोक के शासन काल में बौद्ध धर्म की उन्नति—शूरसेन प्रदेश मे बौद्ध धर्म का उल्लेखनीय प्रचार मौर्य सम्राट अशोक के शासन काल (वि पू स० २१५—वि पू स० १७५) मे हुआ था। इसका श्रेय उक्त धर्म के उस सप्रदाय को है, जिसे 'सर्वास्तिवाद' कहा गया है। वह सप्रदाय बौद्ध धर्म के मूल रूप स्थविरवाद (थेरवाद) की एक शाखा था, किंतु फिर भी उससे कुछ सैद्धातिक भिन्नता रखता था। उसका मूल मत्र था,—"सर्वम् अस्ति"—अर्थात् सभी पदार्थ सत्तावान् है। इसी के कारण उसका नाम 'सर्वास्तिवाद' प्रसिद्ध हुआ था। उस सप्रदाय की परपरा आनद के शिष्य शाणकवासी और मध्यातिक से चली थी और उसका उदय एव विकास शूरसेन जनपद मे हुआ था। मथुरा उसका प्रधान केन्द्र था और उस सप्रदाय के प्राय सभी प्रमुख आचार्य मथुरा निवासी थे। सर्वास्तिवादी विद्वानो ने पालि के स्थान पर सस्कृत भाषा मे अपनी रचनाएँ की थीं। इसका कारण भी शूरसेन जनपद से इस सप्रदाय का घनिष्ट सबध होना ही कहा जा सकता है।

सर्वास्तिवादियो ने अपना केन्द्र मथुरा बना कर वहाँ से दूर–दूर तक अपने सप्रदाय का प्रचार किया था। उनके कारण गधार, कश्मीर और मध्य एशिया तक मे इस सप्रदाय का प्रचलन हुआ तथा अनेक विदेशी भी इसके अनुयायी हुए थे। चीनी तथा यूरोपियन विद्वानो ने सर्वास्तिवाद के सिद्धात को 'यथार्थवाद' कहा है। नागार्जुन, असग और वसुबधु जैसे प्रसिद्ध महायानी विद्वानो ने इस सप्रदाय की तीव्र आलोचना करते हुए इसे 'अ-यथार्थवाद' (शून्यता) और 'आदर्शवाद' (विज्ञप्ति मात्रता) बतलाया था[1]।

सर्वास्तिवाद के प्रमुख आचार्य—सर्वास्तिवाद के आरभिक आचार्य शाणकवासी और मध्यातिक थे। वे दोनो ही आनद के समकालीन और उनके शिष्य थे। जब आनद का वैशाली मे परिनिर्वाण हुआ, तब उन्होने शाणकवासी को शूरसेन मे तथा मध्यातिक को कश्मीर मे बौद्ध धर्म के प्रचार का आदेश दिया था।

शाणकवासी का मथुरा मे निवास–स्थान वहाँ का 'नट–भट विहार' था, जहाँ उसने अपनी वृद्धावस्था मे उपगुप्त को दीक्षा दी थी। मध्यातिक पहले वाराणसी मे और फिर मथुरा मे रहा था। उसके बाद वह धर्म–प्रचार के लिए गधार और कश्मीर चला गया था। मथुरा मे उसका निवास स्थान 'उशीर गिरि' था। उसने मथुरा के उन यक्षो का उपद्रव शात किया था, जो भगवान् बुद्ध के बाद फिर प्रबल हो गये थे। शाणकवासी और मध्यातिक दोनो ही सर्वास्तिवाद के आरभिक प्रचारक थे। उनके पश्चात् उपगुप्त, धीतिक, बुद्धिक, बुद्धदेव, बल, बुद्धमित्र आदि अनेक आचार्यो ने इस सप्रदाय का व्यापक प्रचार किया था।

---

(१) उत्तर प्रदेश मे बौद्ध धर्म का विकास, पृष्ठ १९५

उपगुप्त—सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय का सबसे प्रसिद्ध आचार्य उपगुप्त था। उसके पिता की मथुरा में सुगंधित द्रव्यों की दूकान थी। आरम्भ में उपगुप्त भी उसी दूकान पर बैठता था। मथुरा का बौद्ध विद्वान शाणकवासी उपगुप्त के पिता के यहाँ भिक्षा लेने जाया करता था। उसने बालक उपगुप्त की अद्भुत प्रतिभा को पहिचान लिया और उसे अपना श्रामणेर (दीक्षार्थी) बनाना चाहा। उपगुप्त के पिता ने इसे स्वीकार कर लिया। उपगुप्त शाणकवासी के संपर्क में रह कर बौद्ध धर्म का मार्मिक विद्वान और उसका प्रसिद्ध व्याख्याता हो गया। शाणकवासी के पश्चात् वही सर्वास्तिवाद का महान् आचार्य और उसका सबसे बड़ा प्रचारक हुआ था।

जब उपगुप्त युवा था तब मथुरा की एक समृद्धिशालिनी और रूपवती गणिका वासवदत्ता उस पर आसक्त हो गई थी। उपगुप्त ने अपने चरित्र की दृढ़ता और आध्यात्मिकता के प्रभाव से उस गणिका को सन्मार्ग पर आरूढ़ किया था, जिससे उसकी बड़ी ख्याति हुई थी। बौद्ध धर्म के ग्रंथों में वैशाली की नगर-वधू आम्रपाली की भाँति मथुरा की जनपद-कल्याणी वासवदत्ता का आख्यान भी बहुत प्रसिद्ध है। आम्रपाली भगवान् बुद्ध द्वारा कृतार्थ हुई थी, तो वासवदत्ता उपगुप्त द्वारा उपकृत हुई थी। दोनों वारांगनाएँ अपने अपार वैभव, ऐश-आराम के प्रभूत साधन और सैंकड़ों धनाढ्य व्यक्तियों के प्रेम को ठुकरा कर भिक्षुणी हुई थीं। इस प्रकार उन्होंने धार्मिक महात्माओं के संपर्क से अपने निंदनीय जीवन को भी अभिनंदनीय बना लिया था।

वासवदत्ता का आख्यान— दिव्यावदान तथा सर्वास्तिवादी अन्य बौद्ध ग्रंथों में इस आख्यान को बड़ी प्रमुखता दी गई है। मथुरा की वह विख्यात वारांगना वासवदत्ता उसी नाम की अवंति-कुमारी और वत्सराज उदयन की प्रिय रानी वासवदत्ता से भिन्न थी। महारानी वासवदत्ता पूर्ववर्ती और जनपद-कल्याणी वासवदत्ता परवर्ती थी।

अपूर्व सुंदरी वासवदत्ता अपने अद्भुत रूप-यौवन के कारण अत्यत प्रसिद्ध थी। उससे प्रणय-निवेदन करने के लिए मथुरा के अनेक सभ्रांत नागरिक सदैव लालायित रहते थे। वह प्रचुर धन प्राप्त होने पर भी किसी नागरिक को बड़ी कठिनता से उपलब्ध होती थी। वही दुर्लभ नायिका उपगुप्त के सुंदर रूप पर अनायास मोहित हो गई थी। उसने अपनी दासी को उपगुप्त के पास भेज कर उसे अपने निवास स्थान पर आने का निमन्त्रण दिया, किंतु उसने स्वीकार नहीं किया। जब वासवदत्ता ने बार-बार निवेदन किया तब उपगुप्त ने उसे कहला भेजा कि अभी उसका वासवदत्ता से मिलने का समय नहीं आया है। उपयुक्त समय आने पर वह स्वयं उससे मिलेगा।

कुछ काल पश्चात् मथुरा का तत्कालीन राजा वासवदत्ता से किसी कारण रुष्ट हो गया था। उसने उसे विरूप कर नगर से बाहर श्मशान पर रहने को विवश किया था। जब वह असहाय और विकृत अवस्था में श्मशान पर पड़ी हुई पीड़ा से कराह रही थी, तब उपगुप्त उसके पास पहुँचा। उसने कहा—'बोलो, मुझसे क्या चाहती हो ? मैं तुम्हारे पास आ गया हूँ।

उस दयनीय दशा में पड़ी हुई वारांगना ने जब उस तेजस्वी भिक्षु को अपने समक्ष देखा, तो वह कृतार्थ हो गई। उपगुप्त ने उसे मानव शरीर की क्षणभंगुरता का उपदेश देकर सांत्वना प्रदान की। कहते हैं उपगुप्त का दर्शन करने से उस विकलांगी वेश्या को पुनः आरोग्य और रूप प्राप्त हो गया था। उसके बाद वह सांसारिक भोग-विलास से विरक्त होकर भिक्षुणी बन गई थी।

उपगुप्त की दीक्षा और उसका धर्म–प्रचार—वासवदत्ता काड तक उपगुप्त अपने गुरु शाणकवासी का श्रामणेर (दीक्षार्थी) ही था। उक्त घटना के पश्चात् उसे दीक्षा प्राप्त करने का अधिकारी समझा गया। शाणकवासी ने मथुरा के 'नट–भट विहार' मे उपगुप्त को विधिवत् दीक्षा दी और उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया। शाणकवासी तब तक अत्यत वृद्ध हो चुका था, अत सर्वास्तिवाद के प्रचार का समस्त भार उपगुप्त पर आ गया। उसने जीवन पर्यन्त बडी योग्यता और तत्परता से धर्म–प्रचार का कार्य करते हुए अपने उत्तरदायित्व को भली भाँति पूरा किया था। उसने स्वय तो अर्हत् पद प्राप्त किया ही, उससे उपदेश ग्रहण कर दूसरे अनेक भिक्षु भी अर्हत् हो गये थे। उसके प्रचार का क्षेत्र पश्चिम मे सिध प्रदेश तक तथा पूर्व मे पाटलिपुत्र तक था। उसने अत्यत दीर्घायु प्राप्त की थी और उसका निर्वाण मथुरा मे हुआ था।

उस काल मे मथुरा मे एक विशाल सघाराम बनवाया गया था। उसके अदर भगवान् बुद्ध की स्मृति मे एक स्तूप भी बना था, जिसमे तथागत के नख का अवशेष रखा गया। सघाराम से उत्तर दिशा मे एक गुफा थी, जिसमे उपगुप्त निवास करता था। उसने अपने जीवन मे जिन भिक्षुओ को अर्हत् बनाया था, उनकी गणना करने के लिए वह चार–चार इच लबे लकडी के टुकडे अपनी गुफा मे रखता जाता था। जब उसका देहावसान हुआ, तब उन लकडी के छोटे-छोटे टुकडो से ही १८ हाथ लबी और १२ हाथ चौडी वह गुफा भरी हुई थी। उसके शिष्यो ने उन टुकडो का उपयोग उसके शव-दाह के लिए किया था।

कालातर मे जब चीनी यात्री हुएनसाग मथुरा आया, तब उसने उक्त सघराम और उपगुप्त की गुफा को देखा था। उसने उन्हे मथुरा नगर से ५–६ ली (लगभग सवा मील) पूर्व दिशा मे एक ऊँचे स्थान पर स्थित बतलाया है[1]। हमने उक्त स्थान की पहिचान मथुरा के गोकर्ण टीला से की है, जैसा कि इस ग्रथ के इतिहास खड मे लिखा जा चुका है।

अशोक द्वारा बौद्ध धर्म का व्यापक प्रचार—कलिंग विजय के पश्चात् सम्राट अशोक उस युद्ध के भीषण नर–सहार को देख कर बडा दुखी हुआ था। उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर देश-विजय के स्थान पर धर्म–विजय करना अपने जीवन का लक्ष बना लिया। राज्य–प्राप्ति के ८ वर्ष बाद उसने अपने भतीजे निग्रोध श्रामणेर से बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी। उसके बाद वह किसी ऐसे विद्वान की खोज करने लगा, जो बौद्ध धर्म के प्रचार मे उसे समुचित मत्रणा दे सके।

उस समय तक उपगुप्त की व्यापक ख्याति हो चुकी थी। अशोक ने उपगुप्त के पास सदेशा भेजा कि वह उससे मिलने के लिए मथुरा आना चाहता है। उपगुप्त ने उत्तर दिया, वह स्वय पाटलिपुत्र पहुँच जावेगा। निदान वह अपने शिष्य–समुदाय के साथ नावो पर सवार होकर नदी के मार्ग द्वारा मथुरा से पाटलिपुत्र गया। उसके आगमन के समाचार से अशोक बडा प्रसन्न हुआ। उसने स्वय पैदल चल कर उसका स्वागत किया और राजकीय सन्मान के साथ उसे अपनी राजधानी मे ले गया। वहाँ उसने कितने ही दिनो तक उपगुप्त का सत्सग किया था। वह उसके प्रवचनो को सुन कर कृतार्थ हो गया।

---

(१) आन हुएनसांग्स ट्रैवल्स इन इंडिया (जिल्द १), पृष्ठ ३०१–११

उसके पश्चात् अशोक ने उपगुप्त के साथ बुद्ध से सबधित सभी प्रमुख स्थानो की यात्रा की और वहाँ पर बुद्ध की स्मृति मे स्तूपादि बनवाने का निश्चय किया। उपगुप्त ने अशोक को परामर्श दिया कि किस-किस स्थान पर क्या-क्या निर्माण कराया जाय। उसके परामर्श के अनुसार ही अशोक ने बुद्ध से सबधित स्थानो पर तथा दूसरे महत्वपूर्ण स्थलो पर अनेक स्तूप, विहार और सघाराम बनवाये थे। उसने अपने विशाल साम्राज्य मे एक छोर से दूसरे छोर तक राजाज्ञा के रूप मे अनेक शिलालेख निर्मित कराये, जिन पर बौद्ध धर्म के मूल सिद्धात उत्कीर्ण किये गये। उपगुप्त के परामर्श से ही अशोक ने भारतवर्ष से बाहर भी बौद्ध धर्म के प्रचार का आयोजन किया था। उसके लिए उसने अनेक विशिष्ट विद्वानो को धर्मदूत के रूप मे विदेशो को भेजा था। लका के लिए तो उसने अपने एक पुत्र और पुत्री को ही भेजना उचित समझा था। वे दोनो युवक-युवती भिक्षु और भिक्षुणी होकर लका गये थे। उन्ही के कारण लका मे बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ था।

उपगुप्त के उपदेशो से बौद्ध धर्म की सर्वास्तिवादी शाखा का अशोक के जीवन पर अधिक प्रभाव पडा था। उसके काल मे मथुरा सर्वास्तिवादी सप्रदाय का सबसे प्रमुख केन्द्र हो गया था। जब चीनी यात्री हुएनसाग मथुरा आया था, तब उसने वहाँ पर अशोक के बनवाये हुए तीन विशाल स्तूप देखे थे। इससे सिद्ध होता है, शूरसेन प्रदेश मे भी अशोक ने स्तूपादि का निर्माण कराया था। उस सब का श्रेय उपगुप्त को ही था।

अशोक के समय मे बौद्ध धर्म का एक अन्य प्रतिभाशाली विद्वान महादेव था। उसे भी मथुरा निवासी कहा जाता है। उपगुप्त से पहिले अशोक पर उसका बडा प्रभाव था, किंतु बाद मे उसके विचारो से असहमत होने के कारण मगध सम्राट उससे विरक्त हो गया था। उसके उपरात महादेव मगध से आध्र राज्य मे चला गया था। 'वहाँ पर उसने बौद्ध धर्म के उस सप्रदाय की स्थापना की थी, जिसे 'चैत्यशिला' अथवा 'चैत्यवादी' कहा जाता है। वह सप्रदाय महासाघिको की एक उपशाखा के रूप मे प्रसिद्ध हुआ था[1]।'

शुंग काल (वि पू स० १२८ से वि पू सं० ४३) मे बौद्ध धर्म की स्थिति—अशोक के परवर्ती मौर्य सम्राट शक्तिशाली नही थे, अत उनके शासन-काल मे मौर्य साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा था। उत्तर पश्चिमी भाग पर यवनो ने अधिकार कर लिया और विन्ध्याचल के दक्षिणी प्रदेश पर आध्र के सातवाहन राजाओ का आधिपत्य हो गया था। अतिम मौर्य सम्राट वृहद्रथ था, जिसे उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने अपदस्थ कर मार दिया था। फलत मौर्य शासन का अत हो गया था। वि पू स० १२८ मे पुष्यमित्र ने मगध साम्राज्य पर अधिकार कर शुग राजवश की नीव डाली थी। अशोक के समय मे बौद्ध धर्म को जितना राज्याश्रय प्राप्त हुआ था, उतना शुगो के काल मे उसे नही मिल सका, क्यो कि शुग नरेश वैदिक धर्मावलवी थे। किंतु इसका अर्थ नही कि उनकी ओर से बौद्ध धर्म की प्रगति मे कोई बाधा डाली गई हो। चीनी अभिलेखो मे शुगवशीय राजाओ द्वारा बौद्धो पर अत्याचार किये जाने का उल्लेख हुआ है, जो उस काल के पुरातत्व सबधी प्रमाणो से असत्य सिद्ध होता है। शुगो के शासन-काल मे मथुरा के श्रीकृष्ण-जन्मस्थान के निकट बौद्ध स्तूपो के बनाये जाने का उल्लेख प्राप्त है[1], जिससे शुग राजाओ की धार्मिक सहिष्णुता और बौद्धो के प्रति उनके उदार दृष्टिकोण का प्रमाण मिलता है।

---

(१) पोद्दार अभिनदन ग्रथ, पृष्ठ ७४६

मिनेडर की बौद्ध धर्म के प्रति अभिरुचि—परवर्ती मौर्य सम्राटो की शक्तिहीनता का लाभ उठा कर भारत के उत्तर पश्चिमी भाग पर कतिपय यवन शासको ने अधिकार कर लिया था। शुग सम्राटो के अतिम शासन काल मे यूनानी शासक मिनेडर ने अधिक ख्याति प्राप्त की थी। उसने सिंध और सौराष्ट्र प्रदेशो को पददलित कर मध्यमिका (वर्तमान चित्तौड के समीप का सुप्रसिद्ध धार्मिक स्थल) पर अधिकार किया था। फिर मथुरा और साकेत को जीत कर पाटलिपुत्र के लिए भी उसने भय उत्पन्न कर दिया था।

मिनेडर बौद्ध धर्म का प्रेमी और धर्मतत्व का ज्ञाता था। उसका नास बौद्ध वाड्मय मे 'मिलिद' मिलता है। उसे गर्व था कि धर्म सबधी विवाद मे कोई भी उसे नही जीत सकता है। उसने बौद्धाचार्य भदत नागसेन से धर्म सबधी प्रश्न किये थे। नागसेन ने उनका उत्तर ऐसी उत्तमता से दिया था कि मिनेडर का समस्त ज्ञान-गर्व दूर हो गया और वह नतमस्तक होकर उनका अनुगत हो गया था। मिनेडर और नागसेन के प्रश्नोत्तर 'मिलिद पञ्ह' (मिलिद प्रश्न) नामक पालि ग्रथ मे उपलब्ध हैं। उस ग्रथ का रचना–काल ईसवीपूर्व प्रथम शताब्दी माना गया है[१]। उपगुप्त के शिष्य धीतिक का भी मिनेडर बहुत आदर करता था। धीतिक उज्जैन के एक धनी ब्राह्मण का पुत्र था। वह मथुरा आकर वहाँ के विख्यात बौद्ध धर्माचार्य उपगुप्त का शिष्य हुआ था। उसने मथुरा से कश्मीर तक बौद्ध धर्म के सर्वास्तिवादी सप्रदाय का प्रचार किया था।

उक्त धार्मिक विद्वानो के प्रभाव से मिनेडर ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। उसने अपने पुत्र को राज्याधिकार देकर प्रव्रज्या ग्रहण की तथा भारत के पश्चिमी सीमात मे बौद्ध धर्म का प्रसार किया था। मथुरा मे उसके सिक्के पर्याप्त सख्या मे मिले है। उन पर धर्मचक्र अकित है, जिससे उसके बौद्ध धर्मावलबी होने का प्रमाण मिलता है।

बौद्ध धर्म और मूर्ति-पूजा—बौद्ध धर्म के आरभिक काल मे बुद्ध की मूर्ति बना कर उसकी पूजा करने का प्रचलन नही था। अशोक के समय मे जब इस धर्म का अधिक प्रचार हुआ, तब भी बुद्ध की पूजनीय मानव–मूर्ति नही बनी थी। उस समय बुद्ध तथा बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए कुछ चिन्हो और प्रतीको की कल्पना कर ली गई थी। वे चिह्न बुद्ध की जीवन-घटनाओ से सबधित प्रतीक रूप मे पशुओ और वस्तुओ की आकृतियो के थे। जैसे हाथी, बैल और सिंह बुद्ध के जन्म और उनकी श्रेष्ठता सूचक प्रतीक थे तथा घोडा बोधिवृक्ष, धर्मचक्र, भिक्षा-पात्र, स्तूप आदि उनके वैराग्य और बुद्धत्व के चिह्न थे।

शुग काल मे भागवत धर्म के देवताओ तथा जैन तीर्थकरो की मूर्तियाँ बन गई थी। उनके अनुकरण पर बौद्ध धर्म के महासाघिक (महायान) सप्रदाय वालो ने बुद्ध की मानुषी प्रतिमा बना कर मूर्ति–पूजन की पद्धति प्रचलित करनी चाही थी, किंतु उन्हे सफलता नही मिली। इसका कारण यह था कि उस काल तक उत्तर भारत मे थेरवादी (हीनयानी) बौद्ध सप्रदायो का ही अधिक प्रचार था। शूरसेन जनपद मे जो थेरवादी सर्वास्तिवाद प्रचलित था, उसके अनुयायी मूर्ति-पूजा मे विश्वास नही रखते थे और प्रतीको द्वारा ही अपनी श्रद्धा की अभिव्यक्ति करना उचित समझते थे। उस काल के जो पूजनीय बौद्ध अवशेष मिले है, वे धार्मिक प्रतीको के ही रूप मे है।

---

(१) पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १३३

२. जैन धर्म

सक्षिप्त परिचय—

जैन तीर्थंकर—श्रमण-सस्कृतिमूलक धर्मो मे बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म भी इस देश का अत्यत प्राचीन धर्म है। साधारणतया इसके प्रवर्त्तक महावीर स्वामी माने जाते है, जो बुद्ध के समकालीन थे। किंतु जैन मान्यता के अनुसार इस धर्म की परपरा बौद्ध धर्म से अधिक पुरानी है, और वह वैदिक धर्म के उत्थान काल तक जाती है। उक्त मान्यता के अनुसार इस धर्म के आरभिक प्रचारक वे सिद्ध महापुरुष थे, जिन्हे तीर्थंकर कहा गया है।

'तीर्थंकर' शब्द का अर्थ है—मार्ग-सृष्टा। जैन धर्म की पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार २४ तीर्थंकर हुए है, जिन्होने विभिन्न युगो मे इस धर्म का प्रचार किया था। उन सब के नाम क्रमानुसार इस प्रकार है—१ ऋषभ, २ अजित, ३ सभव, ४ अभिनदन, ५ सुमति, ६ पद्मप्रभ, ७ सुपार्श्व, ८ चद्रप्रभ, ९. पुष्पदत्त, १० शीतल, ११. श्रेयास, १२ वासुपूज्य, १३ विमल, १४ अनत, १५ धर्म, १६ शाति, १७ कुन्थु, १८ अरह, १९ मल्ल, २० सुव्रत, २१ नमि, २२ नेमि, २३ पार्श्वनाथ और २४ महावीर।

उक्त नामावली से ज्ञात होता है कि महावीर स्वामी से पहिले जैन धर्म के २३ तीर्थंकर और हुए थे। उनमे से पार्श्वनाथ और महावीर के अतिरिक्त अन्य तीर्थंकरो के अस्तित्व का ऐतिहासिक आधार नही मिलता है। उनके लिए जैन धर्म की परपरागत अनुश्रुतियाँ और पौराणिक ग्रथ ही प्रमाण है, किंतु उनसे भी 'यह प्रमाणित नही होता कि इनमे चौवीस तीर्थंकरो का जो उल्लेख है, वह ईसा की पहली शताब्दी के पूर्ववर्ती काल का है[1]।' असल मे जैन धर्म के समस्त प्राचीन ग्रथो को उसी काल मे लिपिबद्ध किया गया था। उससे पहिले की सारी जैन मान्यताएँ मौखिक रूप मे ही प्रचलित थी। उक्त तीर्थंकरो के सबध मे चाहे ऐतिहासिक प्रमाणो का अभाव है, किंतु जैन धर्म मे परपरा से उनकी मान्यता रही है।

ऋषभनाथ—वे जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर माने जाते है। जैन अनुश्रुति के अनुसार १४ मनु हुए है, जिनमे अतिम मनु का नाम 'नाभि' था। ऋषभदेव उन्ही के पुत्र थे। उन्होने अहिंसा और अनेकातवाद का उपदेश दिया था। उनके पुत्र का नाम भरत था। जैन मान्यता के अनुसार उक्त भरत के नाम पर ही इस देश का नाम 'भारत' प्रसिद्ध हुआ है। वैष्णव मान्यता के अनुसार विष्णु के २४ अवतारो मे ऋषभदेव १० वे अवतार थे। उनकी अवधूत-वृत्ति और योग-सिद्धि का महत्व वैष्णव धर्म मे भी स्वीकृत है।

वैदिक धर्म का विरोधी होने से बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म भी अवैदिक धर्म माना जाता है, किंतु मूल रूप मे वह भी बौद्ध धर्म की तरह वेदोक्त कर्मकाड की प्रतिक्रिया मे उत्पन्न वैदिक परपरा से फूटकर निकली हुई एक शाखा ही है। 'ऋषभदेव की सहायता से जैन धर्म तथा वैदिक धर्म के टूटे हुए सबध को जोडा जा सकता है, उनका विच्छिन्न सबध फिर एक रूप बनता है। वायु,

---

(१) वैदिक सस्कृति का विकास, पृष्ठ २४७
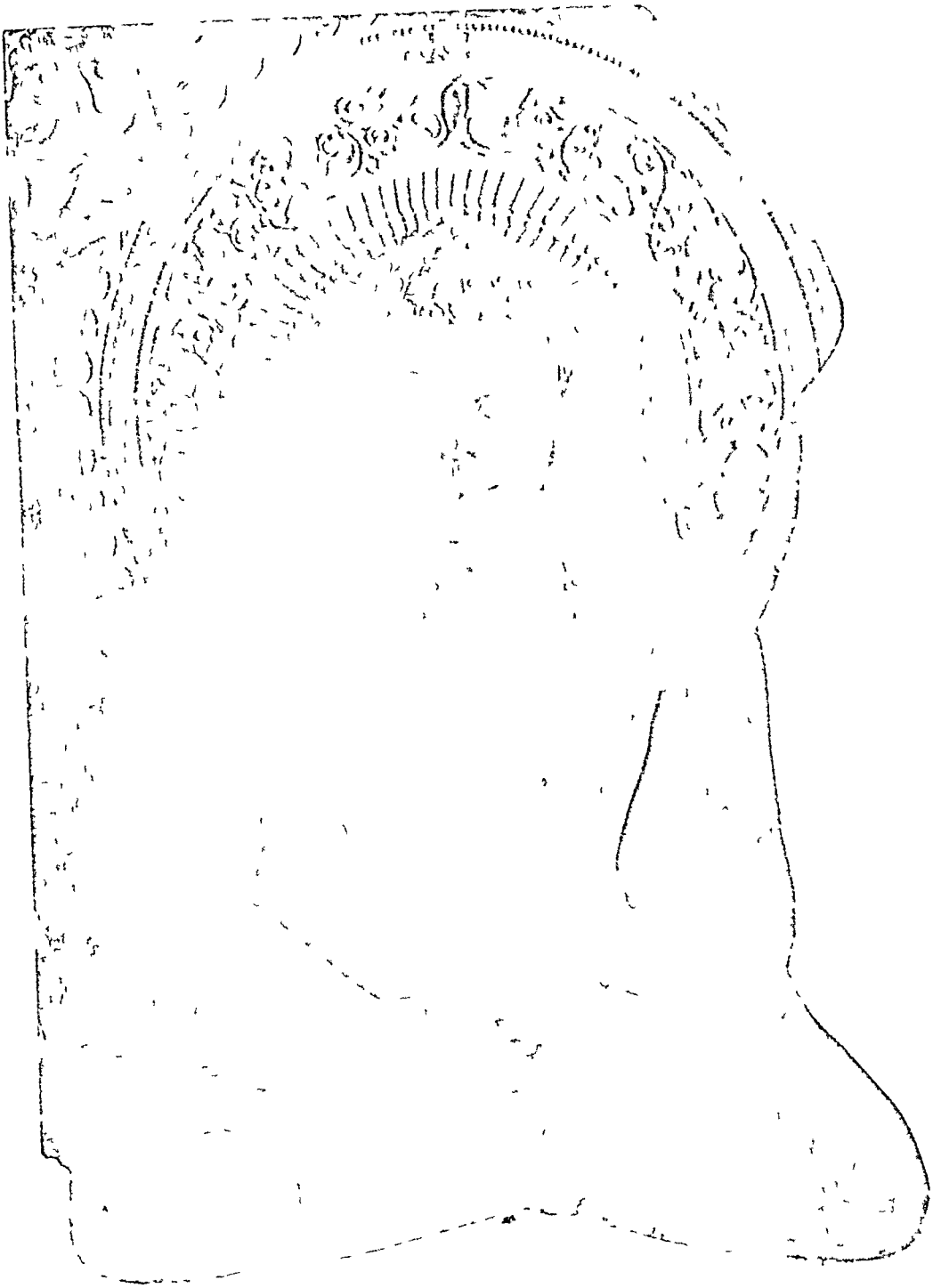
भगवान् महावीर

ब्रह्माड, अग्नि, विष्णु, मार्कण्डेय, कूर्म, लिंग, वाराह, स्कद तथा भागवत जैसे वैदिक मार्ग का अनुसरण करने वाले पुराणो मे ऋषभदेव का निर्देश एक परमहस एव अवधूत योगी तथा जटाधारी के रूप मे आया है। अतएव यह मानना सभव नही कि जैन धर्म ऋषभदेव के काल मे एक पृथक् सप्रदाय था[1]।'

ऋषभनाथ के पश्चात् दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ से बीसवे तीर्थंकर सुव्रतनाथ तक का उल्लेख जैन अनुश्रुतियो और जैन पुराणो के अतिरिक्त अन्यत्र नही मिलता है। इक्कीसवे तीर्थंकर नमिनाथ वैष्णव परपरा के अनुसार मिथिला के एक राजा थे, जो जनक एव राम के पूर्ववर्ती थे।

नेमिनाथ—वे जैन धर्म के बाईसवे तीर्थंकर माने जाते है। उनका आरभिक नाम अरिष्टनेमि था। सिद्धि प्राप्त करने पर उन्हे नेमिनाथ कहा जाने लगा था। जैन मान्यता के अनुसार वे वासुदेव के ताऊ समुद्रविजय के पुत्र होने के कारण महाभारत–कालीन भगवान् श्रीकृष्ण के भाई थे। समुद्रविजय के पश्चात् अरिष्टनेमि ही यादव राज्य के वास्तविक उत्तराधिकारी थे, कितु युवावस्था मे ही विरक्त हो जाने के कारण उन्होने राज्याधिकार का त्याग किया था। जैन आगमो के अनुसार वे अपने विवाह–समारोह मे उपस्थित अतिथियो के भोजनार्थ मारे जाने वाले पशुओ की करुणा से द्रवित होकर तपस्या मे प्रवृत्त हो गये थे। इस प्रकार उन्होने जैन धर्म के मूल सिद्धात 'अहिंसा' और 'तप' को चरितार्थ कर श्रमण परपरा की पुष्टि की थी।

जैन अनुश्रुति के अनुसार अरिष्टनेमि उपनाम नेमिनाथ ने वासुदेव कृष्ण को जैन धर्म की दीक्षा दी थी। इस प्रकार नेमिनाथ श्रीकृष्ण के भाई होने के साथ ही साथ गुरु भी थे। महाभारत और वैष्णव पुराणो के अनुसार श्रीकृष्ण के भाई सकर्षण–बलराम थे, जिन्हे अरिष्टनेमि से अभिन्न मानना कदापि सभव नही है। 'छादोग्य उपनिषद' मे देवकीपुत्र कृष्ण के एक गुरु घोर आगिरस का उल्लेख हुआ है। ऋषि घोर ने श्रीकृष्ण को उस अहिसात्मक यज्ञ की शिक्षा दी थी, जिसकी दक्षिणा धन नही वरन् तप, दान, ऋजु भाव, सत्य और अहिसा थी। यहाँ पर एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है, क्या अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) को घोर आगिरस से मिलाया जा सकता है ?

इस सबध मे डा० रामधारीसिह 'दिनकर' ने लिखा है—'घोर आगिरस और नेमिनाथ एक ही व्यक्ति थे या नही, इस प्रश्न का सम्यक् समाधान नही किया जा सकता, कितु यह मानना पडेगा कि छादोग्य उपनिषद्, जिसमे आगिरस के उपदेश है, की रचना के समय मे भारतवासी अहिंसा धर्म की उच्चता को भली भाँति समझते थे। अहिंसा धर्म और अहिसक यज्ञ की कल्पना भारत मे बुद्ध–महावीर से पहिले ही फैल चुकी थी और उसके मूल प्रवर्तक घोर आगिरस थे[2]।' आगिरस की शिक्षा के अनुसार श्रीकृष्ण ने यज्ञ का नवीन अर्थ कर उसे उन्होने अर्जुन को बतलाया था। उसी का विकास जैन तीर्थंकरो ने भी किया।

पार्श्वनाथ—वे जैन धर्म के तेईसवे तीर्थंकर माने जाते है। अनेक विद्वानो के मतानुसार वे एक ऐतिहासिक महापुरुष थे, और उनका जन्म ईसापूर्व नवी शती मे काशी मे हुआ था। उन्होने ७० वर्ष तक अहिंसा धर्म का प्रचार कर वर्तमान गया जिला के समेत पर्वत पर निर्वाण प्राप्त

---

(१) वैदिक सस्कृति का विकास, पृष्ठ २४६

(२) सस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ १०७

किया था[1]। जैन मान्यता के अनुसार उनका निर्वाण महावीर के निर्वाण से २५० वर्ष पूर्व हुआ था। 'ऋषभनाथ के सर्वस्व त्याग और अपरिग्रह रूप अकिंचन मुनिवृत्ति, नमि की निरीहता व नेमिनाथ की अहिंसा को उन्होने चातुर्याम रूप सामायिक धर्म मे व्यवस्थित किया था[2]।'

जैन तीर्थंकरो की परपरा मे पार्श्वनाथ को अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह—मूलक उसी चातुर्याम धर्म का उपदेशक माना जाता है, जिसका व्यापक प्रचार बाद मे महावीर ने 'जैन धर्म' के नाम से किया था। फिर भी उन दोनो के धार्मिक उपदेशो मे कुछ अतर था। जैनागम 'उत्तराध्ययन' की रचना महावीर के उपरात कई सदियो बाद हुई होगी, किंतु उसके 'केशि—गौतम सवाद' मे एक प्राचीन ऐतिहासिक सत्य का उल्लेख मिलता है। वह सवाद महावीर की विद्यमानता मे पार्श्वनाथ सप्रदाय के आचार्य केशी और महावीर के शिष्य गौतम के बीच हुआ माना जाता है। इसमे दोनो तीर्थंकरो द्वारा दिये गये धार्मिक उपदेशो के कुछ भेद का भी उल्लेख मिलता है।

'केशिकुमार कहते है, चातुर्याम धर्म के चार ही प्रकार है,—अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह। महावीर ने चरित्र—धर्म के पाँच प्रकारो का प्रतिपादन क्यो किया है? उन्होंने दूसरा प्रश्न पूछा, महावीर ने दिगवर दीक्षा का प्रवर्तन क्यो किया? उपर्युक्त दो प्रश्नो के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि पार्श्वनाथ के धर्म मे ब्रह्मचर्य 'महाव्रत' अर्थात् सन्यास या नग्न व्रत प्रधान नही था[3]। उक्त सवाद की पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार गौतम के उत्तर से केशिकुमार का समाधान हुआ था। उससे यह समझा जा सकता है कि पार्श्वनाथ के धर्म मे सन्यास और नग्न व्रत का अभाव था, जिन्हे बाद मे महावीर ने प्रचलित किया था।

महावीर—वे जैन धर्म के चौबीसवे और अतिम तीर्थंकर माने जाते हैं। सच्चे अर्थ मे वही इस धर्म के वास्तविक प्रतिष्ठाता और प्रमुख प्रचारक थे। उन्हे 'जिन' अर्थात् विजेता कहा जाता है। यह नाम उन्हे कतिपय देशो के विजय करने से नही, बल्कि अपने अतर् के राग—द्वेषादि शत्रुओ को विजय करने से प्राप्त हुआ था। उन्होने अहिंसा के पालन तथा तप, त्याग और सयम से आत्मशुद्धि करते हुए अपनी इद्रियो पर विजय प्राप्त की थी। वे आत्मविजयी वीर थे। उनके 'जिन' नाम पर ही इस धर्म का 'जैन' नाम प्रसिद्ध हुआ है। इस धर्म के अनुयायी 'जैन' अथवा 'जैनी' कहलाते हैं।

महावीर का जन्म बिहार राज्य मे वैशाली (वर्तमान बसाढ, जिला मुजफ्फरपुर) की गडक नदी के तटवर्ती कुडपुर या कुडलपुर मे वि पू स० ५४२ की चैत्र शु० १३ को हुआ था। इस प्रकार वे बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान् गौतम बुद्ध से आयु मे २४ वर्ष छोटे थे। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला था। उनके मामा का नाम चेटक था। उनके पिता और मामा क्रमश कुडपुर और वैशाली गण राज्यो के अधिपति थे। जैन आगम (आचाराग ३, भावमूलिका ३, सूत्र ४०१) के अनुसार वे पार्श्वनाथ सप्रदाय के अनुगामी थे। महावीर का आरभिक नाम वर्धमान था। उनका पैतृक गोत्र 'ज्ञातृ' था, जिसका प्राकृत रूप 'नात' मिलता है। समस्त परिग्रहो से रहित होने से वे 'निर्ग्रन्थ' (प्राकृत रूप 'निगठ') कहलाते थे। उक्त गोत्र और अपरिग्रह-वृत्ति के कारण ही बौद्ध साहित्य मे महावीर को 'निगठ नातपुत्त' (निर्ग्रन्थ ज्ञातृ पुत्र) लिखा गया है।

---

(१) आर्य संस्कृति के मूलाधार, पृष्ठ ३६१
(२) भारतीय सस्कृति मे जैन धर्म का योग—दान, पृष्ठ २१
(३) वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ २४७

वैभवशाली राजघराने मे उत्पन्न एक राजकमार होने पर भी वे आरभ से ही भौतिक सुखो के प्रति उदासीन और निर्लिप्त थे । उन्होने ३० वर्ष की युवावस्था मे ही विरक्त होकर अपने सर्वस्व का परित्याग कर दिया था । उसके बाद १२ वर्ष तक कठिन तपस्या करने पर उन्होने कैवल्य ज्ञान और सिद्ध पद प्राप्त किया था । वे अहिसा, अपरिग्रह, त्याग, तपस्या, क्षमा, सत्य और समता का प्रचार करते हुए देश के पूर्वी भाग अर्थात् वर्तमान बिहार, उडीसा, बगाल और पूर्वी उत्तर प्रदेश मे ३० वर्ष तक भ्रमण करते रहे थे । उनका निर्माण ७२ वर्ष की आयु मे वि पू स० ४७० के लगभग बिहार राज्य के पावापुर नामक स्थान मे हुआ था ।

जैन धर्म का स्वरूप और उसके सिद्धांत—जैन धर्म मे अहिसा और तप पर विशेष बल दिया गया है । इनके साथ ही इस धर्म मे सहिष्णुता, समन्वय और सह अस्तित्व को भी अत्यत महत्वपूर्ण माना गया है । महावीर का कहना था, किसी भी व्यक्ति को यह नही समझना चाहिए कि जो कुछ वह कहता या समझता है, वही ठीक है । उसे अपने विरोधियो के विचारो को भी समझने की चेष्टा करनी चाहिए, स्यात् उन्ही का कथन ठीक हो । इसीलिए जैन सिद्धात को 'स्यादवाद' अथवा 'अनेकातवाद' भी कहते है । इससे बुद्धि-जीवियो मे समान स्थल पर समन्वय और सह अस्तित्व की भावना उत्पन्न होती है ।

महावीर ने अहिसा का विशेष रूप से प्रचार किया था । उनका कथन था, प्रत्येक जीव को अपना जीवन प्यारा है, और कष्ट किसी को अच्छा नही लगता, इसीलिए किसी भी जीव की हिसा नही करनी चाहिए । उनका वचन है,—'जह मम न पिय दुक्ख जाणिहि, ऐमेव सव्व जीवाणा ।' जिस प्रकार हमे दु ख प्रिय नही है, उसी प्रकार सब जीवो के विषय मे भी जानना चाहिए । उन्होने उस समय की प्रचलित यज्ञ-हिसा का ही विरोध नही किया, वरन् सभी प्रकार की हिंसा के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई थी ।

अपने अहिंसा सिद्धात के विस्तार के लिए उन्होने 'पचव्रत' अथवा 'पचशील' का प्रचार किया था । वे पॉच 'व्रत' या 'शील' है—१ आचार मे अहिसा, २ विचार मे अनेकात दर्शन, ३ सामाजिक जीवन मे अचौर्य और अपरिग्रह, ४ जीवन-शुद्धि के लिए ब्रह्मचर्य अर्थात् इद्रिय-निग्रह और ५ सत्य की निष्ठा । उन व्रतो का पालन करना गृहत्यागी और गृहस्थ सभी के लिए आवश्यक बतलाया गया । अतर यह रखा गया कि मुनियो के लिए पूर्ण रूप से 'महाव्रत' के रूप मे, और गृहस्थो के लिए स्थूल रूप से 'अणुव्रत' के रूप मे उनका पालन करना चाहिए ।

उस काल मे वैदिक धर्मावलबियो के मतानुसार वेद को एकमात्र प्रमाण माना जाता था । महावीर ने उस परपरागत मान्यता का विरोध करते हुए कहा कि वेद ही एक मात्र प्रमाण नही है, सच्चरित्र और ज्ञानी महात्मा अपने बुद्धि-वैभव और ज्ञान-बल से स्वय धर्म का साक्षात्कार कर सकते है । उन्होने वर्ण व्यवस्था को जन्मना स्वीकार नही किया, बल्कि उसको जीवन-यापन की एक सामाजिक व्यवस्था माना था । उन्होने सृष्टि को अनादि और स्वयभू माना है । उनके मतानुसार सृष्टि का कर्त्ता कोई 'ईश्वर' नही है, बल्कि 'कर्म' है । सृष्टा, विधाता, दैव और ईश्वर ये सब कर्म ही के विविध नाम है । मानव जीवन का परम लक्ष यम, नियम, सयम और तप द्वारा अहता-ममता मूलक कर्मबध का समूल नाश कर और जन्म-मृत्यु की शृ खला को तोड कर मोक्ष या निर्वाण प्राप्त करना है । इस प्रकार वेद की एक मात्र प्रामाणिकता की अस्वीकृति और ईश्वर की सत्ता मे अविश्वास करने से जैन धर्म को 'अवैदिक', 'अनीश्वरवादी' और 'नास्तिक' कहा गया है ।

जैन धर्म का सर्वोपरि मौलिक सिद्धात 'अहिसावाद' माना जाता है, जिसे इस धर्म मे बौद्ध धर्म से भी अधिक महत्व दिया गया है। कतिपय विद्वानो का मत है, अहिसावाद के बीज वेदो मे पहिले से ही है, अत यह सिद्धात जैन धर्म की मौलिक देन नही है—इस धर्म मे इसका विकास मात्र किया गया है। इस सबध मे डा० रामधारीसिंह 'दिनकर' का कथन है,—"जैन धर्म का अहिसावाद वेदो से निकला है। ऐसा सोचने का कारण यह है कि ऋषभदेव और अरिष्टनेमि जैन मार्ग के इन दो प्रवर्त्तको का उल्लेख ऋग्वेद मे मिलता है। जैन धर्म के पहिले तीर्थंकर ऋषभदेव है, और उनकी कथा 'विष्णु पुराण' और 'भागवत पुराण' मे भी आती है, जहाँ उन्हे महायोगी, योगेश्वर और योग तथा तप मार्ग का प्रवर्त्तक कहा गया है। इन पुराणो ने उन्हे विष्णु का अवतार माना है। वेदो के गार्हस्थ्य प्रधान युग मे वैराग्य, अहिसा और तपस्या द्वारा धर्म-पालन करने वाले ऋषियो मे ऋषभदेव का स्थान अन्यतम था। उनकी परपरा मे ही जैन धर्म के तीर्थंकर हुए है[1]।"

आरंभिक प्रचारक—जैन धर्म के आरभिक प्रचारक महावीर स्वामी की शिष्य-परपरा के विद्वान मुनि थे। 'महावीर के प्रधान गणधर (शिष्य) थे गौतम इद्रभूति, जिन्होने उनके उपदेशो को १२ 'अग' तथा १४ 'पूर्व' के रूप मे निबद्ध किया। ये 'अग' और 'पूर्व' उन ग्रथो के नाम है, जिनमे महावीर की मौखिक शिक्षा लिपि रूप मे निबद्ध की गई थी। जो विद्वान् इन अगो और पूर्वो का पारगामी पडित होता था, उसे 'श्रुतकेवली' कहते थे। जैन-परपरा मे जिस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञानियो मे 'केवलज्ञानी' का प्रतिष्ठित स्थान है, उसी प्रकार परोक्ष ज्ञानियो मे 'श्रुतकेवली' का। जैसे 'केवलज्ञानी' समस्त जगत् के पदार्थो को जानता है और देखता है, उसी प्रकार 'श्रुतकेवली' शास्त्र मे वर्णित प्रत्येक विषय को स्पष्टतया जानता है। महावीर के निर्वाण के अनतर तीन केवल-ज्ञानी और पाँच श्रुतकेवली हुए है[2]। केवलज्ञानियो मे अतिम जबूस्वामी थे, और श्रुतकेवलियो मे अतिम भद्रबाहु थे।

केवलज्ञानियो मे सर्वप्रथम गौतम इद्रभूति थे, जो महावीर के शिष्यो मे सर्वप्रधान (गणधर) थे। गणधर गौतम के शिष्य सुधर्मा स्वामी हुए, जिनका दूसरा नाम लोहार्य भी था। सुधर्मा स्वामी के शिष्य जबूस्वामी हुए थे, जो जैन मान्यता के अनुसार अतिम केवली थे। उनके बाद कोई केवल-ज्ञानी या मोक्षगामी नही हुआ। महावीर से जबूस्वामी तक के काल की अवधि ५२ वर्ष की मानी जाती है। इस शिष्य-परपरा और काल-गणना का उल्लेख 'तिलोयपण्णत्ति' नामक प्राचीन ग्रथ मे इस प्रकार हुआ है,—

"जादो सिद्धो वीरो तद्दिवसे गोदमो परमाणाणी।
जादे तस्सि सिद्धे सुधम्मसामी तदो जादो ॥ ६६ ॥
तमि कदकम्मणासे जबूसामि त्ति केवली जादो।
तत्थ वि सिद्धिपवण्णे केवलिणो णत्थि अणुबद्धा ॥ ६७ ॥
बासट्ठी वासाणि गोदमपहुदीण णाणवताण।
धम्मपयट्टणकाले परिमाण पिंडरूवेण ॥ ६८ ॥

---

(१) सस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ११२
(२) आर्य सस्कृति के मूलाधार, पृष्ठ ३९३

अर्थ—जिस दिन श्री वीर भगवान् (महावीर स्वामी) का मोक्ष हुआ, उसी दिन गौतम गणधर को परम ज्ञान या केवल–ज्ञान हुआ और उनके सिद्ध होने पर सुधर्मा स्वामी केवली हुए। उनके कृत कर्मों के नाश कर चुकने पर जम्बू केवली हुए। उनके बाद कोई केवली नही हुआ। इन गौतम आदि केवलियो के धर्म–प्रवर्त्तन का एकत्रित समय ६२ वर्ष है[1]।"

श्रुतकेवलियो मे अंतिम भद्रबाहु थे, जो मौर्य सम्राट चद्रगुप्त के समकालीन और पाटलिपुत्र सघ के अध्यक्ष थे। जैन धर्म की मान्यता के अनुसार भद्रबाहु को समस्त आगमो का यथार्थ ज्ञान था। कहते है, उस काल मे मगध प्रदेश मे बडे भारी दुर्भिक्ष का प्रकोप हुआ, जिसके कारण आचार्य भद्रबाहु अपनी शिष्य मडली के साथ दक्षिण भारत मे चले गये थे। वहाँ उनका समुदाय 'मूल सघ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। भद्रबाहु के उपरात स्थूलभद्र जैन सघ के प्रधान हुए थे। उस समय ऐसी स्थिति हो गई थी कि उत्तर भारत मे जैन धर्म के मूल ग्रथ 'पूर्व' और 'अग' के ज्ञाता मिलने कठिन हो गये। "सघ–प्रधान स्थूलभद्र ने जैन आगम की रक्षा करने के निमित्त पाटलिपुत्र मे यतियो की एक महती सभा की। इसी मे ११ अग (ग्रथ) सकलित किये गये और १४ पूर्वो के अवशिष्ट भागो को एकत्र कर १२ वाँ अग निर्मित किया गया, जिसका नाम रखा गया 'दिट्ठिवाय' (दृष्टिवाद)। पाटलिपुत्र मे सकलित ये अग भी कालक्रम से धीरे–धीरे जब अव्यवस्थित हो गये, तब आर्यस्कदिल की अध्यक्षता मे मथुरा मे एक सभा हुई और अग के अवशिष्ट भाग को सुव्यवस्थित रूप दिया गया। इसे 'माथुरी वाचना' कहते है। उसके बाद भगवान् महावीर के निर्वाण की दशवी शताब्दी (स० ५१० वि०) मे वल्लभी मे फिर सभा की गई, जिसमे ११ अगो का सकलन हुआ। १२ वाँ अग तो लिप्त हो ही चुका था। आगमो के लिपिबद्ध होने तथा अंतिम सशोधन का यही काल है। इस सभा के सभापति थे 'देवर्धिगणि क्षमाश्रमण'। यह आगम श्वेतावर सप्रदाय की मान्यता के अनुकूल है[2]।"

जैन धर्म का विस्तार—महावीर के पश्चात् जैन धर्म का शीघ्रता पूर्वक विस्तार होने लगा। उसके अनुयायी भारत के पूर्वी भाग तक ही सीमित नही रहे, बल्कि मध्यदेश के साथ ही साथ पश्चिम और दक्षिण मे भी उनकी अच्छी सख्या हो गई। इस धर्म को राज्याश्रय भी आरभ से ही मिलने लगा था। ऐसा कहा जाता है, जब यूनानी विजेता सिकदर ने भारत के पश्चिमोत्तर सीमात प्रदेश पर आक्रमण किया था, तब सिधु नदी के तट पर बने हुए कुछ जैन मुनियो ने उससे भेट की थी। मगध के नदवशी सम्राट और उनके बाद के मौर्य सम्राट चद्रगुप्त को जैन धर्म का अनुयायी माना जाता है। अशोक के समय मे बौद्ध धर्म का विस्तार हुआ था किंतु उसके अभिलेखो से ज्ञात होता है कि उसके काल मे जैन धर्म का भी पर्याप्त प्रचार था। अशोक का परवर्ती कलिगराज ऐल खारवेल जैन धर्म का अनुयायी था। वह बडा शक्तिशाली सम्राट था। ऐसा कहा जाता है उसने मगध के तत्कालीन सम्राट को पराजित किया और वहाँ से वह आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ की मूर्ति को अपने राज्य मे ले गया था।

---

(१) जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ १४

(२) आर्य संस्कृति के मूलाधार, पृष्ठ ३२३–३२८

जैन धर्म का विस्तार बौद्ध धर्म के साथ ही साथ समस्त भारत मे होता रहा, किंतु फिर भी इसके अनुयायी उतनी अधिक सख्या मे कभी नही हुए, जितने बौद्ध धर्म के हुए थे। फिर बौद्ध धर्म की तरह जैन धर्म का विदेशो मे प्रचार भी प्राय नही हुआ। इसका कारण यह है कि जैन धर्म मे कायक्लेशात्मक तप और चरम सीमा की अहिंसा पर इतना अधिक बल दिया गया कि उनका निर्वाह करना जन साधारण के सामर्थ्य से बाहर था। जैन मुनियो की समस्त शक्ति का विनियोग कठिन तप और असीम अहिंसा के निर्वाह मे ही होता रहा, अत उनके द्वारा बौद्ध भिक्षुओ की तरह व्यापक रूप से 'धर्म–दिग्विजय' नही किया जा सका था। फिर भी इस धर्म का प्राय समस्त भारतवर्ष मे प्रचार रहा है, चाहे इसके अनुगामियो की सख्या बहुत अधिक नही रही थी।

आरभ मे जैन धर्म का उपदेश गृहत्यागी विरक्तो के लिए दिया गया था, किंतु बाद मे गृहस्थो को भी उसका अधिकारी मान लिया गया। इस प्रकार इस धर्म के अनुगामी गृहत्यागी और गृहस्थ दोनो प्रकार के स्त्री–पुरुष थे, जिन्हे चार वर्गो मे विभाजित किया गया था। गृहत्याग करने वाले तपस्वी पुरुषो को 'मुनि' एव तापसी महिलाओ को 'आर्यिका' कहा गया और गृहस्थ पुरुषो को 'श्रावक' तथा गृहिणियो को 'श्राविका' नाम दिया गया। यही जैन धर्म के समस्त अनुयायियो का 'चतुर्विध सघ' है, जो इस धर्म के विस्तार का सूचक है।

दिगंबर-श्वेतांबर भेद—जैन धर्म मे 'दिगबर' और 'श्वेताबर' नामक दो सप्रदाय है, जिनके कारण यह धर्म दो प्रमुख समुदायो मे विभाजित है। इस भेद का सूत्रपात जैन धर्म के मूल सिद्धात 'त्याग' और' वैराग्य' की सीमा का निर्धारण करने से हुआ जान पडता है। इस धर्म के प्रतिष्ठाता महावीर स्वामी ने सर्वस्व त्याग तथा परम वैराग्य का उपदेश दिया था और अपने आचरण से उसका आदर्श भी प्रस्तुत किया था। एक समृद्धिशाली राजकुमार होते हुए भी उन्होंने सब कुछ–त्याग कर फकीरी बाना धारण किया था। कहते है, उनके पास केवल एक ही वस्त्र था। जब एक गरीब भिक्षुक ने उसे भी माँग लिया, तब वे बिना वस्त्र के नग्न रहने लगे थे। उनके अनुकरण पर उनके शिष्यो ने भी नग्नता का व्रत धारण किया था। ऐसा ज्ञात होता है, उसी आधार पर जैन धर्म मे नग्न यतियो की परपरा प्रचलित हुई थी। आरंभ मे उस नग्नता व्रत का पूर्णतया निर्वाह किया जाता था, किंतु कालातर मे जब उसमे कठिनता ज्ञात होने लगी, तब यतियो के लिए एक श्वेत वस्त्र (अबर) धारण करने की व्यवस्था की गई थी। श्वेत अबर धारण करने वाले यतियो का समुदाय 'श्वेताबर' कहा जाने लगा, और जो पुरानी परपरा के अनुसार नग्न रहते थे, वे 'दिगबर' कहलाने लगे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि महावीर के पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने जिस धर्म का प्रचार किया था, उसमे नग्नता के आदर्श को नही अपनाया गया था। इसलिए प्राचीनता की कसौटी पर भी श्वेताबर सप्रदायी अपने समुदाय को दिगबर सप्रदाय वालो से किसी तरह घटिया नही मानते हैं।

यतियो के वेश से भी अधिक मूर्तियो और तीर्थो के सबध मे इस सप्रदाय–भेद का उग्र रूप प्रकट हुआ था। पहिले इस धर्म मे मूर्तियो के बजाय तीर्थंकरो के चरण–चिह्नो की पूजा होती थी। वे चिह्न दोनो सप्रदायो के जैनियो को समान रूप से पूज्य थे, अत भेद–भाव की कोई बात नही थी। जब तीर्थंकरो की मूर्तियाँ बनने लगी, तब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि उन्हे नग्न रखा जाय, अथवा किसी प्रकार का वस्त्रादि धारण कराया जाय।

वीतरागी तीर्थंकरो के तप–त्याग के कारण उनकी मूर्तियो को वस्त्रादि से विभूषित करना समीचीन नही समझा गया, अत॰ आरभ मे उन मूर्तियो को नग्न ही रखा गया था। उनकी पूजा जैन धर्म के समस्त नर–नारी बिना किसी साप्रदायिक भेद के करते थे। जैन धर्म के प्रसिद्ध विद्वान मुनि जिनविजय जी ने लिखा है,—"मथुरा के ककाली टीला से जो अत्यत प्राचीन प्रतिमाएँ मिली है, वे नग्न है। उन पर जो लेख है, वे श्वेताबर कल्पसूत्र की स्थविरावली के अनुसार है[1]।" उनसे भी यही सिद्ध होता है कि आरभ मे दोनो सप्रदायो की मूर्ति–पूजा मे कोई भेद–भाव नही था।

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, श्रुतकेवली भद्रबाहु की अध्यक्षता मे उत्तरापथ के जैन धर्मावलबियो का एक बडा समुदाय दक्षिण भारत की ओर चला गया था। उसी समय से जैन धर्म 'उत्तरी' और 'दक्षिणी' नामक दो विचार–धाराओ मे विभाजित हो गया, जिसने उक्त सप्रदायिक भेद को और भी स्पष्ट कर दिया था। जब साप्रदायिक भेद अधिक बढ गया, तब मूर्तियो के पूजन-अर्चन पर भी उसका प्रभाव पडा था। उस प्रश्न पर दोनो मे उतना विरोध हुआ कि उसके कारण दोनो सप्रदायो की पृथक्–पृथक् मूर्तियाँ बन गई, दोनो के पृथक्–पृथक् मदिर–देवालयो का निर्माण हो गया और दोनों के पृथक्-पृथक् तीर्थ हो गये। दोनो सप्रदायो के मुनि–साधु तो पहिले से ही पृथक्–पृथक् थे, फिर पडित एव विद्वान भी पृथक्–पृथक् होने लगे, और धर्म ग्रथो की भी पृथक्–पृथक् रचनाएँ होने लगी।

धर्म ग्रंथ—भारतीय धर्म ग्रथो की रचना मे जैन विद्वानो की देन अत्यत महत्वपूर्ण रही है। इस धर्म के आरभिक ग्रथ प्राकृत भाषा मे हैं। बाद मे सस्कृत, अपभ्रश, हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओ मे भी उनकी रचना हुई थी। ये ग्रथ विविध विषयो के है, किंतु इनमे आगम, न्याय, पुराण और स्तोत्र सबधी रचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आगम और न्याय के ग्रथो मे जैन धर्म के सिद्धात और दर्शन का विशद विवेचन है। पुराणो मे तीर्थंकरो के चरित्रो का वर्णन हुआ है, और स्तोत्र ग्रथो मे इस धर्म की भक्ति–भावना का कथन किया गया है।

आगम—भगवान् महावीर के उपदेश जैन धर्म के मूल सिद्धात है, जिन्हे 'आगम' कहा जाता है। वे अर्धमागधी प्राकृत भाषा मे है। उन्हे आचारागादि बारह 'अगो' मे सकलित किया गया, जो 'द्वादशाग आगम' कहे जाते है। वैदिक सहिताओ की भाँति जैन आगम भी पहिले श्रुत रूप मे ही थे। महावीर के बाद भी कई शताब्दियो तक उन्हे लिपिबद्ध नही किया गया था। श्वेताबर और दिगबर आम्नाओ मे जहाँ अनेक बातो मे मत–भेद था, वहाँ आगमो को लिपिबद्ध न करने मे दोनो एक–मत थे। कालातर मे उन्हे लिपिबद्ध तो किया गया, किंतु लिखित रूप की प्रामाणिकता इस धर्म के दोनो सप्रदायो को समान रूप से स्वीकृत नही हुई।

श्वेताबर सप्रदाय के अनुसार समस्त आगमो के छै विभाग है,—जो १ अग, २. उपाग, ३. प्रकीर्णक, ४ छेदसूत्र, ५ सूत्र और ६ मूलसूत्र कहलाते है। इनमे 'एकादश अग सूत्र' सबसे प्राचीन माने जाते है। दिगबर सप्रदाय उपर्युक्त आगमो को नही मानता है। इस सप्रदाय का मत है, अतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के पश्चात् आगमो का ज्ञान लुप्तप्राय हो गया था। कालातर मे आचार्य धरसेन ने 'पूर्व' ग्रथो के अवशिष्ट भागो को एकत्र कर नवीन ग्रथ प्रवर्तित किये, जो षट खडागम और कसाय पाहुड के नाम से प्रसिद्ध है। इन पर धवला, महाधवला और जय धवला टीकाएँ हुई है।

---

(१) जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ २४१

पुराण—हिंदू धर्म के १८ पुराण प्रसिद्ध है। उन्ही के अनुकरण पर जैन धर्म मे भी पुराणो की रचना की गई थी। जैन धर्म का पौराणिक साहित्य अत्यत विशाल है। हिंदू पुराणो की भाँति जैन पुराण पचलक्षणात्मक नही होते है, वरन् इस धर्म मे पुरातन चरित्र ही पुराण कहे जाते है,—'पुरातन पुराण स्यात्तन् महन्महदाश्रयात्'। दिगवर सप्रदाय मे जहाँ इन्हे 'पुराण' कहा जाता है, वहाँ श्वेतावर सप्रदायी इन्हे 'चरित्र' कहते है।

हिंदू धर्म के २४ अवतारो की भाँति जैन धर्म मे ६३ प्राचीन महापुरुषो को 'शलाका पुरुष' कहा गया है। वे है,—२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ६ बलदेव, ६ वासुदेव और ६ प्रतिवासुदेव। उन्ही ६३ शलाका पुरुषो के चरित्रो का वर्णन जैन धर्म के पुराणो मे किया गया है, और इनकी रचना प्राकृत, अपभ्रंश तथा सस्कृत भाषाओ मे हुई है। हिंदू धर्म के अवतारी महापुरुष राम और कृष्ण के चरित्र इन पुराणो मे जैन धर्म के दृष्टिकोण से लिखे गये है। जैन धर्म मे राम का उल्लेख 'पउम' (पद्म) के नाम से हुआ है, और कृष्ण को तीर्थंकर अरिष्टनेमि का भाई एव शिष्य बतलाया गया है। राम और कृष्ण दोनो ही जैन पुराणो के अनुसार जैन धर्म मे दीक्षित हुए थे।

प्राचीन ब्रज मे जैन धर्म का प्रचार—

तीर्थंकरो का ब्रज से संबध—जैन मान्यता के अनुसार इस धर्म मे जो २४ तीर्थंकर हुए है, उनमे से आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ सहित कई तीर्थंकरो का प्राचीन ब्रजमडल अर्थात् शूरसेन जनपद से घनिष्ट सबध रहा है। जिनसेन कृत 'महापुराण' मे जैन धर्म की एक प्राचीन अनुश्रुति का उल्लेख हुआ है। उसके अनुसार भगवान् ऋषभनाथ के आदेश से इद्र ने इस भूतल पर जिन ५२ देशो का निर्माण किया था, उनमे एक शूरसेन देश भी था, जिसकी राजधानी मथुरा थी[1]। सातवे तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ, तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ तथा अतिम तीर्थंकर एव जैन धर्म के प्रतिष्ठाता भगवान् महावीर—इन सब का मथुरा मे विहार हुआ था[2]। बाइसवे तीर्थंकर नेमिनाथ जैन मान्यता के अनुसार वासुदेव कृष्ण के भाई थे, जो शूरसेन जनपद के प्राचीन शौरिपुर राज्य (वर्तमान बटेश्वर, जिला आगरा) के यादव राजा समुद्रविजय के पुत्र थे[3]। उनके कारण यह प्रदेश सभी जैन धर्मावलबियो द्वारा सदा से पुण्य स्थल माना जाता रहा है।

तीर्थंकर नेमिनाथ का आरभिक नाम अरिष्टनेमि था। उनका विवाह गिरिनगर की राजकुमारी राजीमती (राजुल) के साथ होना निश्चित हुआ था। विवाह के अवसर पर बरातियो को मासाहार की व्यवस्था के लिए अनेक पशु–पक्षियो को इकट्ठा किया गया था। अरिष्टनेमि उन निरीह जीवो की हिंसा की आशंका से इतने द्रवीभूत हुए कि वे उसी समय विरक्त होकर तपस्या करने चले गये थे। उन्होने अपने घर–बार और राज्याधिकार का परित्याग कर दिया था। बाद मे सिद्धि प्राप्त होने पर उन्हे तीर्थंकर माना गया। उनके कारण शूरसेन प्रदेश और कृष्ण का जन्मस्थान मथुरा नगर जैन धर्म के तीर्थस्थान माने जाने लगे।

---

(१) महापुराण, (पर्व १६, श्लोक १५५)
(२) विविध तीर्थंकल्प का 'मथुरापुरी कल्प' प्रकरण
(३) अरिष्टनेमि पुराण (जैन हरिवश) और 'रिट्ठणेमि चरित्र'

अंतिम तीर्थंकर महावीर स्वामी का मथुरा मे विहार हुआ था । जैन ग्रथो मे ज्ञात होता है, उस समय के मथुरा–नरेश का नाम उदितोदय अथवा भीदाम था, जिसने जैन धर्म की दीक्षा ली थी । उसी समय उक्त राजा के मत्री, अनेक राज्यकर्मचारी, नगरसेठ तथा अन्य प्रमुख नागरिक भी जैन धर्म के अनुयायी हुए थे । मथुरा और उसके निकटवर्ती स्थानो से जैन धर्म के जो प्राचीन अवशेष मिले हैं, उनमे ऋषभनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर की मूर्तियाँ पर्याप्त सख्या मे हैं । उनसे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल मे शूरसेन प्रदेश और मथुरा के निवासियो की उक्त तीर्थंकरो के प्रति बडी श्रद्धा रही थी । अतिम केवली जबूस्वामी और उनके निर्वाण–स्थल चौरासी क्षेत्र के कारण मथुरामडल जैन धर्मावलबियो के लिए और भी महत्वपूर्ण हो गया था ।

जंबूस्वामी और मथुरा का चौरासी क्षेत्र—जबूस्वामी का जन्म चम्पा नामक प्राचीन स्थान मे हुआ था । वे वहाँ के धनाढ्य सेठ ऋषभदत्त के पुत्र थे । उन्होने १६ वर्ष की किशोरावस्था मे ही अपने विवाह के तत्काल पश्चात् महावीर जी के पट्टशिष्य सुधर्मा स्वामी से प्रव्रज्या ली थी, और जीवन पर्यत ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया था । प्रव्रज्या लेने के अनतर २० वर्ष तक मुनि वृत्ति धारण करने पर वे केवलज्ञानी हुए थे । बाद मे ४४ वर्ष तक केवलज्ञानी रहने के उपरात ८० वर्ष की आयु मे उन्होने महावीर–निर्वाण के ६२वे वर्ष मे मोक्ष लाभ किया था । उनका देहावसान काल वि पू. स० ८०८ माना जाता है । उन्होने मथुरा के 'चौरासी' नामक स्थान मे तपस्या कर सिद्ध पद प्राप्त किया था और वहाँ पर ही उनका निर्वाण हुआ था । वे जैन धर्म के अतिम केवलज्ञानी थे ।

जैन धर्म मे तीर्थो के दो भेद माने गये है, जिन्हे १ सिद्ध क्षेत्र और २ अतिशय क्षेत्र कहा गया है । किसी तीर्थंकर अथवा महात्मा के सिद्ध पद या निर्वाण प्राप्ति के स्थल को 'सिद्ध क्षेत्र' कहते है, और किसी देवता की अतिशयता अथवा मदिरो की बहुलता का स्थान 'अतिशय क्षेत्र' कहलाता है । इस प्रकार के भेद दिगबर सप्रदाय के तीर्थो मे ही माने जाते है, श्वेताबर सप्रदाय मे ये भेद नही होते हे । दिगबर सप्रदाय के उक्त तीर्थ–भेद के अनुसार मथुरा का चौरासी नामक स्थल 'सिद्ध क्षेत्र' कहलाता है, क्यो कि यहाँ पर जबूस्वामी ने सिद्धपद प्राप्त किया था ।

जबूस्वामी के प्रभाव से सद्गृहस्थो के अतिरिक्त दस्युओ के जीवन मे भी धार्मिकता का उदय हुआ था । उस समय के कई भयकर चोर अपने बहुसख्यक साथियो के साथ दुष्प्रवृत्तियो को छोड कर तप और ध्यान मे लीन हुए थे । मथुरा के तपोवन मे उक्त दस्युओ को भी साधु–वृत्ति द्वारा परमगति प्राप्त हुई थी । कालातर मे जब चौरासी मे जबूस्वामी के चरण–चिह्न सहित मदिर बना, तब उसके समीप उन तपस्वी दस्युओ की स्मृति मे भी अनेक स्तूप बनवाये गये थे ।

देव निर्मित स्तूप—जैन धर्म की प्राचीन अनुश्रुतियो मे मथुरा के एक 'देव निर्मित स्तूप' को बडा महत्व दिया गया है । इस धर्म के प्राचीन ग्रथो मे लिखा है कि सातवे तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के काल मे कुबेरा देवी ने मथुरा मे एक रत्नजटित स्तूप का निर्माण कराया था । 'मथुरापुरी कल्प' से ज्ञात होता है कि तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय मे वह स्तूप विद्यमान था । उस काल मे उसको सुरक्षा के लिए उसे ईंटो से ढक दिया गया था । वस्तुत 'रत्नजटित स्तूप' की बात तो काल्पनिक अनुश्रुति मात्र है, किंतु यह ऐतिहासिक तथ्य है कि जैन धर्म का सबसे प्राचीन स्तूप मथुरा मे ही बनाया गया था । मथुरा के प्राचीन जैन केन्द्र कंकाली टीला की खुदाई मे जो महत्व-पूर्ण सामग्री प्राप्त हुई, उसमे उस स्तूप से सबधित दूसरी शती का एक शिलालेख भी उपलब्ध

हुआ है। उसमे उक्त स्तूप का नाम 'देव निर्मित वोद्व स्तूप' लिखा मिलता है[1]। इतिहास और पुरातत्व के विद्वानो का मत है कि उस 'स्तूप का निर्माण ईसापूर्व छठी शती मे या उसके भी कुछ पहिले हुआ होगा[2]।' इस धर्म के इतने प्राचीन स्तूप का पुरातात्विक प्रमाण किसी अन्य स्थान से उपलब्ध नही हुआ है।

जैन विद्वानो की अनेक धार्मिक रचनाओ मे उक्त स्तूप की प्राचीन परपरा का गुण-गान करते हुए उसकी विद्यमानता के कारण ही मथुरा की प्रशस्ति लिखी गई है। सगम सूरि कृत १२ वी शती की सस्कृत रचना 'तीर्थमाला' और सिद्धसेन सूरि कृत १३ वी शती की अपभ्रश कृति 'सकल तीर्थ स्तोत्र' मे मथुरा की इसलिए वदना की गई है कि वहाँ श्रीदेवी विनिर्मित स्तूप के साथ ही साथ नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के रमणीक महा स्तूप भी हे[3]। वे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक स्तूप मथुरा मे ई० पूर्व छठी शती से दशवी शती तक विद्यमान रहे थे। उस वृहत् काल मे उनका कई वार जीर्णोद्धार किया गया था। उन्हे पहिले हूणो ने क्षतिग्रस्त किया, और बाद मे महमूद गजनवी ने उन्हे नष्ट करा दिया था।

नंद-मौर्य काल (वि पू छठी शती) मे जैन धर्म की स्थिति—उस काल मे शूरसेन प्रदेश मे जैन धर्म की यथार्थ स्थिति कैसी थी, उसे निश्चय पूर्वक वतलाना कठिन है। जिस 'देव निर्मित स्तूप' का पहिले उल्लेख किया है, वह सभवत विवेच्य काल मे पहिले ही मथुरा के उस स्थान मे वन गया होगा, जिसे अब 'ककाली टीला' कहते है। मथुरा का वर्तमान 'चौरासी स्थल' भी जबूस्वामी के कारण सिद्ध क्षेत्र का महत्व प्राप्त कर चुका था। इस प्रकार मथुरा के वे दोनो स्थल उस काल मे ही जैन धर्म के प्रसिद्ध केन्द्र हो गये थे।

मौर्य सम्राट चद्रगुप्त के शासन काल मे मगध मे जो दुर्भिक्ष पडा था और जिसके कारण वहाँ के जैन सघ मे जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, उसका प्रभाव मथुरा के जैन सघ पर भी हुआ हो, ऐसा ज्ञात नही होता है। उस काल मे मगध का जैन सघ उत्तरी और दक्षिणी शाखाओ मे विभाजित हो गया, जिसके कारण कालातर मे दिगवर और श्वेतावर नामक सप्रदाय-भेद हुआ था, किंतु उसका प्रभाव भी मथुरा के सघ पर नही पडा था। सम्राट अशोक की वौद्ध धर्म के प्रति अनन्य निष्ठा थी। उसने उक्त धर्म को राज्याश्रय देकर उसके व्यापक प्रचार मे इतना प्रयत्न किया कि उस काल मे अन्य धर्मो की प्रगति कुछ मद पड गई थी। उसका प्रभाव शूरसेन जनपद के धर्मो पर भी पडा था। फलत वहाँ का जैन धर्म उस काल मे कुछ गौण स्थिति मे हो गया था।

---

(१) ब्रज भारती (वर्ष ११, अक २)

(२) ब्रज का इतिहास (दूसरा भाग), पृष्ठ १५

(३) ब्रज भारती (वर्ष ११, अक २) मे प्रकाशित श्री अगरचद नाहटा के लेख से उद्धृत—

मथुरापुरि प्रतिष्ठित सुपार्श्व जिन काल सभवो जयति।
अद्यापि सूराभ्यर्च्य श्रीदेवी विनिर्मित स्तूप ॥ ८ ॥

—सगम सूरि कृत 'तीर्थमाला'

सिरि पासनाह सहिय रम्म, सिरि निम्मिय महाथूम।
कलिकाल विसुतित्थ महुरा नयरीय (ए) वदामि ॥ २० ॥

—सिद्धिसेन सूरि कृत 'सकल तीर्थ स्तोत्र'

जैन–बौद्ध विवाद—जैन धर्म की प्राचीन अनुश्रुतियो से ज्ञात होता है कि मथुरा के जैनियो और बौद्धो मे दो–एक बार धार्मिक विवाद भी हुआ था। इस प्रकार का एक बडा विवाद मथुरा के प्राचीन 'देव निर्मित स्तूप' के अधिकार के सबध मे था। बौद्धो ने उसे अपना स्तूप सिद्ध करने की चेष्टा की थी, किंतु उसकी पताका का श्वेत रग होने से उक्त स्तूप पर जैनियो का अधिकार ही न्याय–सगत माना गया था। दूसरा विवाद जैनियो की रथ–यात्रा मे बौद्धो द्वारा बाधा उपस्थित किये जाने से उत्पन्न हुआ था। हरिषेण कृत 'बृहत्कथा कोष' (स० ६६०) मे मथुरा के एक प्राचीन राजा पूतिमुख की कथा का उल्लेख है। उस राजा की पटरानी जैन धर्म मे आस्था रखती थी। वह प्रति वर्ष फाल्गुन शु० ८ को बडी धूम–धाम से रथ–यात्रा का उत्सव किया करती थी। कुछ समय पश्चात् उस राजा ने एक बौद्ध कन्या से विवाह किया और उसे अपनी पटरानी बना दिया। उस नई रानी के बहकाने से राजा ने परपरागत जैन रथ–यात्रा को रुकवा कर उससे पहिले बौद्ध रथ–यात्रा निकालने की अनुमति प्रदान कर दी थी। उससे जैनियो को बडा असतोष हुआ, जिसके फल-स्वरूप वहाँ धार्मिक विवाद खडा हो गया। अत मे राजा को अपनी आज्ञा वापिस लेनी पडी और जैन रथ–यात्रा का उत्सव सदा की भाँति मनाया गया।

इस प्रकार के उदाहरण दो–एक ही मिलते है, अन्यथा शूरसेन प्रदेश और मथुरा नगर मे सभी धर्मावलबी गरग सदैव सद्भाव पूर्वक रहे थे। धार्मिक विवाद की उक्त घटनाएँ सभवत अशोक के शासन काल मे हुई होगी, जब कि बौद्ध धर्म के अधिक प्रचार के कारण प्राचीन व्रज मे जैन धर्म की स्थिति कुछ कमजोर पड गई थी।

शुंग काल (वि पू सं० १२८ से वि पू सं० ४३) में जैन धर्म की स्थिति—मौर्य सम्राटो के पश्चात् जब शुगो शासन आरभ हुआ, तब इस प्रदेश की धार्मिक स्थिति मे बडा परिवर्तन हुआ था। शुग सम्राटो ने अशोक की तरह बौद्ध धर्म को राज्याश्रय प्रदान न कर सभी धर्मो के साथ समान व्यवहार किया था। उनके शासन काल मे भागवत धर्म की बडी उन्नति हुई थी, किंतु अन्य धर्म भी प्रगति के पथ पर थे। फलत जैन धर्म भी अपनी शिथिलता को छोड कर उन्नति करने लगा था। उस काल मे इस धर्म की दृष्टि से जिन नगरो का अधिक महत्व था, उनमे मथुरा की भी गणना होती थी। यहाँ के जैन सघ ने अपना स्वतत्र सगठन बना कर उसे उत्तरी और दक्षिणी शाखाओ के भेद से तटस्थ रखा था। मथुरा के देव–स्थान दिगबर और श्वेताबर दोनो सप्रदाय वालो के समान रूप से आदरणीय बने रहे। यहाँ का प्राचीन 'देव निर्मित स्तूप' और जबूस्वामी का निर्वाण-स्थल जैन मात्र के लिए पूज्य थे ही।

जैन धर्म और मूर्ति–पूजा—तीर्थकरो की मानव–मूर्तियाँ प्रचलित होने से पहिले उनका पूजन-अर्चन उन आयागपट्टो द्वारा होता था, जिन पर स्वास्तिक, चरण–चिह्न और स्तूपादि की आकृतियाँ अकित की गई थी। शुग काल मे जब प्राचीन व्रज मे भागवत धर्म की मूर्तियो का प्रचलन हो गया, तब उनके अनुकरण पर वहाँ जैन तीर्थकरो की भी मूर्तियाँ बनाई जाने लगी थी। कुछ विद्वानो के मत से जैन मूर्तियो के निर्माण का आरभ मगध राज्य मे हुआ था। उसके प्रमाण के लिए आदि तीर्थंकर की उस प्रतिमा की ओर सकेत किया जाता है, जिसे कलिगराज खारवेल वहाँ से उठा कर अपनी राजधानी मे ले गया था। सभव है, वह अनुश्रुति प्रामाणित हो, किंतु प्राचीन व्रज मे जैन मूर्तियो का प्रचलन शुग काल से पहिले नही हुआ था।

३. वैदिक धर्म

बुद्ध काल से शुंग काल (वि पू स० ५६६ से वि पू. स० ४३) तक की स्थिति—इस काल से बहुत पहिले ही प्राचीन वैदिक धर्म का प्रचार, अन्य धर्म-सम्प्रदायो के प्रचलन के कारण, कम हो गया था। उस युग मे जो कई अवैदिक धर्म प्रचलित हुए थे, उनमे बौद्ध और जैन प्रमुख थे। उन धर्मो के कारण वैदिक धर्म के प्रचार और प्रभाव मे पर्याप्त न्यूनता आ गई थी। फिर भी उसका प्रचलन समाज के सीमित क्षेत्र मे बराबर बना रहा और वह परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर घटता–बढता रहा था। असल मे उस धर्म के अनुयायी समाज के कुछ अभिजात वर्ग के सवर्ण विद्वान थे, जिनके घरानो मे परपरा से इस धर्म के प्रति आस्था रही थी। वे लोग वैदिक विधि–विधान का पालन करते थे, और तदनुसार अपना आचरण करते थे।

शुग सम्राटो का शासन काल (वि पू स० १२८ से वि पू स० ४३) वैदिक धर्म के साथ ही साथ वेदानुकूल धर्मो के लिए बडा लाभदायक सिद्ध हुआ था। उस समय कई शताब्दियो के पश्चात् उनकी उन्नति का युग आया था। शुग सम्राट अभिजात ब्राह्मण वर्ग के थे, और उनकी वेदानुकूल धर्मो के प्रति बडी आस्था थी। उनके प्रोत्साहन से प्राचीन वैदिक धर्म अपनी सुषुप्तावस्था से पुन जागृत हुआ और वेदानुकूल धर्म प्रगति के पथ पर आरूढ हो गये। उस काल मे जो लोग वैदिक धर्म मे आस्था रखते थे, वे सात्वत–पचरात्रादि धर्मो को भी मान्यता देते थे। शुग काल मे सात्वत-पचरात्र धर्म भागवत धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। शुग सम्राट पुष्यमित्र ने भागवत धर्म को प्रोत्साहन देने के साथ ही साथ अश्वमेधादि वैदिक यज्ञ भी किये थे। अयोध्या के शिला–लेख मे पुष्यमित्र द्वारा किये गये दो अश्वमेध यज्ञो का उल्लेख मिलता है[1]।

पुष्यमित्र के प्राय समकालीन मेवाडी राजा सर्वतात ने चित्तौड के निकटवर्ती प्राचीन मध्यमिका नामक स्थान पर 'नारायण वाटक' का निर्माण कराया था, जिसमे भागवत धर्म के उपास्य भगवान् सकर्षण–वासुदेव के पूजन के लिए 'पूजा–शिला' की प्रतिष्ठा की गई थी। वह राजा वासुदेवोपासक होने के कारण जहाँ 'भागवत' कहलाता था, वहाँ उसे 'अश्वमेध–याजी' भी लिखा गया है[2]। उससे स्पष्ट होता है कि वह वैदिक धर्म के विधि–विधान को मानता था और उसने अश्वमेधादि वैदिक यज्ञ किये थे। जब चित्तौड से अयोध्या तक प्राय समस्त उत्तर भारत मे अश्वमेध यज्ञ किये जाने का उल्लेख मिलता है, तब पुष्यमित्र शुग के शासन काल को वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का युग कहना सर्वथा उचित है।

पुष्यमित्र के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियो ने भी वैदिक धर्म को प्रोत्साहन प्रदान किया था। दुर्भाग्य से शुग सम्राटो का शासन काल एक शताब्दी से भी कम समय तक रहा, फलत वैदिक धर्म की वह स्थिति भी अधिक काल तक नही रह सकी थी। फिर भी वह आगामी कई शताब्दियो तक किसी न किसी रूप मे प्रचलित रहा था।

---

(१) **एपिग्राफिया इडिका,** (भाग २०) पृष्ठ ५४–५८
(२) १ **वही** ,, (भाग १५) पृष्ठ २७, **और** (भाग २२) पृष्ठ १९८
२ **शोधपत्रिका** (भाग ४, अक ३) पृष्ठ ३६
३ **ना० प्र० पत्रिका** (भाग ६२ अक २–३) पृष्ठ ११६

४. भागवत धर्म

पूर्व स्थिति और नामांतर—बुद्ध के जन्म से पहिले तक वासुदेवोपासक सात्वत–पचरात्र धर्म ने शूरसेन प्रदेश के अतिरिक्त इस देश के अन्य भागो मे भी अपना विस्तार कर लिया था। बुद्ध काल मे उसका प्रचार पूर्वी भारत के साथ ही साथ शूरसेन प्रदेश मे भी कुछ कम होने लगा था, किंतु पश्चिमी और दक्षिणी भारत के अनेक भागो मे उसकी स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी थी। उस काल मे सात्वत–पचरात्र धर्म कई नाम–रूपो से प्रचलित था। उसका एक नाम 'एकान्तिक' भी प्रसिद्ध हुआ था। 'ईश्वर सहिता' (१–१८) का वचन है, पचरात्र धर्म ही मोक्ष का एक मात्र साधन है, इसलिए इसे 'एकायन' कहते है, जो 'एकान्तिक' का समानार्थक है। इस धर्म का अन्यतम और सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम 'भागवत धर्म' था। पड्गुणो से युक्त होने के कारण वासुदेव की सज्ञा 'भगवत्' अथवा 'भगवान्' हुई, और जिस धर्म मे उनकी उपासना होती थी, उसे 'भागवत' कहा जाने लगा।

'पाद्मतत्र' (४–२–८८) मे 'पचरात्र' के कई समानार्थक नामो का उल्लेख हुआ है[1]। उनसे भी यही ज्ञात होता है कि सात्वत, पचरात्र, एकान्तिक, भागवत आदि नाम एक ही धर्म से सबधित थे और वे सब भगवान् वासुदेव की उपासना के विविध रूपो को लेकर प्रचलित हुए थे। उनमे सात्वत, पचरात्र और भागवत धर्मो की अधिक प्रसिद्धि हुई थी। अत मे उन सब का परिहार 'भागवत धर्म' मे हो गया, और वही वासुदेवोपासना का एक मात्र प्रतिनिधि धर्म माना जाने लगा। फिर भी उसके सात्वत–पचरात्रादि नाम भी कही–कही पर चलते रहे थे।

मौर्य काल (वि पू सं० २६८ से वि पू सं० १२८) में भागवत धर्म की स्थिति—उस काल के आरभ मे शूरसेन प्रदेश मे वासुदेवोपासना की स्थिति किस प्रकार की थी, उसका कुछ थोडा सा परिचय मगध सम्राट चद्रगुप्त मौर्य (शासन काल वि पू स० २६८ से वि पू स० २३१) के दरवार मे आये हुए यूनानी राजदूत मेगस्थनीज के लिखे हुए विवरण से मिलता है। उसने अपने सस्मरणो मे लिखा है,—'शूरसेन के निवासी 'हेराक्लीज' (हरि–कृष्ण) के प्रति वडी श्रद्धा रखते है।' उक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि बौद्ध–जैनादि धर्मो का प्रचुर प्रचार होते हुए भी शूरसेन जनपद के अनेक घरानो मे वासुदेव कृष्ण के प्रति जो परपरागत श्रद्धा–भावना थी, वह अविचल वनी हुई थी। फलत वहाँ पर भागवत धर्म भी अच्छी स्थिति मे था।

मौर्य सम्राट अशोक के शासन काल (वि पू स० १२८ से वि पू स० ४३) मे बौद्ध धर्म का देशव्यापी प्रचार हुआ था। मथुरा के सुप्रसिद्ध धर्माचार्य उपगुप्त ने उस धर्म की प्रगति मे पर्याप्त योग दिया था। उस समय शूरसेन मे वौद्ध धर्म की वडी उन्नति हुई थी, किंतु भागवत धर्म की स्थिति पर उसका कोई उल्लेखनीय प्रभाव नही पडा था। ऐसा ज्ञात होता है, यह धर्म उस युग मे अपनी यथावत् स्थिति मे रहा था। अशोक का वशज वृहद्रथ अतिम मौर्य सम्राट था। उसके काल मे मौर्य शासन का अत हो गया। उसके उपरात शुग सम्राटो का शासन आरभ हुआ था। उस समय भागवत धर्म की विशेष उन्नति हुई थी।

---

(१) **सूरिः सुहृद् भागवतः सात्वतः पंचकालवित्।**
एकान्तिकस्तन्मयश्च पंचरात्रिक इत्यपि॥ (पाद्मतत्र, ४–२–८८)

देव-स्थान और देव-मूर्तियों का प्रचलन—वैदिक काल में आर्यगण इंद्र, अग्नि वरुण, सूर्य, सविता उषा आदि प्राकृतिक शक्तियों के उपासक थे, और उनकी प्रसन्नता के निमित्त वे यज्ञ किया करते थे। उन यज्ञों के लिए वे यज्ञ-शालाएँ और अस्थायी यज्ञ-मंडप तो बनवाते थे, किंतु उन्होंने अपनी उपासना के लिए देव-स्थान अथवा देव-मूर्तियों का निर्माण किया हो, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता है। उपनिषद् काल की आध्यात्मिक साधना के लिए तो उनकी अधिक आवश्यकता भी नहीं थी, अतः उस काल में भी उनकी विद्यमानता का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है।

तत्त्व-दर्शकों और मनीषियों ने परब्रह्म परमात्मा को निराकार, अमूर्त और अव्यक्त माना है। परम ज्ञानी और महा योगी तो ध्यान, धारणा और समाधि द्वारा उसकी साधना अथवा उपासना कर सकते हैं, किंतु सामान्य साधकों और उपासकों के लिए उसमें कठिनाई का अनुभव होता है। इसीलिए गीता में कहा गया है,—'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम्।—अव्यक्त की उपासना करना अत्यंत कठिन है। साधकों की इस कठिनाई को दूर करने के लिए उनके हितार्थ ब्रह्म के रूप की कल्पना की गई—'साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूप कल्पना', और उस रूप की अभिव्यक्ति के लिए मूर्तियों का प्रचलन आरंभ हुआ। इस प्रकार परमात्मा की मूर्ति मानव-समाज की अपनी कल्पना है। जो व्यक्ति जिस रूप में भगवान् की उपासना करना चाहता है, वह उसी रूप की मूर्ति बना लेता है।

मुहनजोदडो की एक मुद्रा में अंकित पशुपति की मूर्ति उपलब्ध हुई है। इससे सिंधु घाटी के अनार्य निवासियों में देव-मूर्तियाँ होने का अनुमान किया गया है। विद्वानों का कथन है, अनार्य संस्कृति का आर्य संस्कृति से मेल होने पर ही आर्यों में देव-मूर्तियों का प्रचलन हुआ था। कारण कुछ भी रहा हो, उत्तर वैदिक काल के अनंतर भारत में देव-स्थानों और देव-मूर्तियों का पर्याप्त रूप में प्रचलन हो गया था। उस समय विविध धर्मों के उपास्य देव विष्णु, वासुदेव जैन तीर्थंकर और बोधिसत्व आदि के प्रति श्रद्धा-भक्ति प्रदर्शित करने के लिए पहिले देव-स्थानों का निर्माण किया गया और फिर देव-मूर्तियाँ बनाई गई थी।

आरंभिक देव-स्थान—प्रारंभ में जो देव-स्थान बनाये गये, वे चारदीवारी से घिरे हुए बिना छत के खुले स्थान होते थे। इसीलिए उन्हें 'स्थान' कहा जाता था। कालांतर में उन्हें 'प्रासाद' कहा जाने लगा। वासुदेव कृष्ण के अतीव महत्त्व के कारण उनके उपासना स्थल 'महास्थान' अथवा 'प्रासादोत्तम' कहलाते थे। मथुरा के एक शक कालीन लेख में भगवान् वासुदेव के तोरण-वेदिका युक्त चतु शाला देवालय को महास्थान' कहा गया है, और विदिशा के उसी काल के लेख में एक अठपहलू गरुडध्वज के साथ वाले देव-स्थान को 'प्रासादोत्तम' लिखा गया है। वे बिना छत वाले खुले स्थान, महास्थान, प्रासाद और प्रासादोत्तम ही मंदिर, देवालय और देव-स्थानों के आरंभिक रूप थे।

आरंभिक देव-मूर्तियाँ—प्रारंभ में जो देव-मूर्तियाँ बनाई गई, वे ऐसे शिलापट्ट थे जिन पर उपास्य के प्रतीक रूप में धार्मिक चिह्नों का अंकन किया जाता था। जैसे जैन धर्म में तीर्थंकरों के चरण-चिह्न अथवा स्तूप-चैत्य की आकृति वाले 'आयाग पट्ट', और बौद्ध तथा भागवत धर्म में मान्य विविध चिह्नों के शिलापट्ट देव-मूर्तियों के रूप में पर्याप्त समय तक पूजनीय रहे थे। कालांतर में विभिन्न आकृतियों की और अंत में मानव आकृति की देव-मूर्तियाँ बनने लगी थी। शूरसेन जनपद के शिल्पियों ने देव-मूर्तियों के निर्माण में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की थी। मानव आकृति की देव-मूर्तियों के निर्माण का आरंभ संभवतः शूरसेन में ही हुआ था।

प्राचीन ब्रज के मंदिर और मूर्तियाँ—शूरसेन जनपद अर्थात् प्राचीन ब्रज मे मदिर-मूर्तियो का प्रचलन कब से हुआ, इसे ठीक-ठीक बतलाना संभव नही है। इतिहास और पुरातत्त्व के प्रमाण से शुग काल मे मदिर-मूर्तियो का व्यापक प्रचार सिद्ध होता है, किन्तु उनकी परपरा और भी पहिले की ज्ञात पडती है। जब यूनानी विजेता सिकदर ने भारत पर आक्रमण किया, तब उसका सामना करने के लिए भारतीय वीर पोरस ने अपनी सेना सज्जित की थी। यूनानी लेखको के अनुसार उस समय योद्धाओ मे वीरत्व का सचार करने के हेतु भारतीय सेना मे 'हेराक्लीज' की मूर्ति घुमाई गई थी। उस मूर्ति के सबध मे विविध विद्वानो ने विभिन्न मत प्रकट करते हुए उसे वासुदेव या शिव की मूर्ति होने की सभावना व्यक्त की है। मेगस्थनीज के जिस लेख मे शूरसेन निवासियो द्वारा हेराक्लीज की उपासना किये जाने का उल्लेख हुआ है, उसे उद्धृत करते हुए हमने 'हेराक्लीज' का अभिप्राय 'हरि–कृष्ण' समझा है, क्यो कि वासुदेव कृष्ण ही शूरसेन निवासियो के सदा से पूजनीय रहे है। ऐसी दशा मे पोरस की सेना मे जो मूर्ति थी, उसे भी वासुदेव कृष्ण की ही समझा जा सकता है, चाहे उसकी आकृति कैसी भी रही हो। इस प्रकार सिकदर के आक्रमण काल (वि पू चौथी शती) मे वासुदेव कृष्ण की किसी तरह की मूर्तियो की विद्यमानता ज्ञात होती है। यद्यपि शूरसेन जनपद से उस काल की कोई वासुदेव-मूर्ति उपलब्ध नही हुई है, तथापि उसी काल मे निर्मित मातृदेवियो और यक्षो की मूर्तियाँ प्राप्त होने से वासुदेव-मूर्ति के निर्माण की भी सभावना समझी जा सकती है। यह दूसरी बात है कि वह मूर्ति किसी भी रूपाकृति की रही हो।

शुंग काल (वि पू. सं० १२८ से वि पू स० ४३) में भागवत धर्म की स्थिति—शुग सम्राट वैदिक विधि–विधान के समर्थक और वेदानुकूल धर्मो के प्रति आस्थावान थे। उनके शासन मे भागवत धर्म की बडी उन्नति हुई थी। उस काल मे श्रीकृष्ण को भगवान् वासुदेव से अभिन्न मान कर उनकी उपासना की प्राचीन मान्यता को पुन समर्थन प्राप्त हुआ था। शुग सम्राट पुष्यमित्र के समकालीन सुप्रसिद्ध वैयाकरण पतजलि ने अपने महाभाष्य मे जहाँ 'सङ्कर्षण द्वितीय भगवत' लिख कर वासुदेव को भगवान् माना है, वहाँ 'जघान कस किल वासुदेव' सूत्र से वासुदेव और कृष्ण की अभिन्नता बतलाई है। 'इस सबध मे कैयट, काशिका और तत्वबोधिनीकार भी यही बात कहते है[1]।' बौद्ध धर्म के प्राचीन ग्रथ 'दीघ निकाय' मे वासुदेव को कृष्ण का ही नाम बतलाया गया है और 'निद्देस' मे वासुदेव के साथ सकर्षण का नामोल्लेख कर उनके उपासको की विद्यमानता के सबध मे लिखा गया है।

शुग काल मे भागवत धर्म शूरसेन जनपद, राजस्थान और विदिशा राज्य मे विशेष रूप से प्रचलित था। भारत के उत्तर–पश्चिमी सीमान्त के यूनानियो द्वारा अधिकृत प्रदेश मे भी उसका कुछ प्रभाव हो गया था। वहाँ के कतिपय विदेशी यूनानी भागवत धर्म के प्रति श्रद्धा रखने लगे थे। उस काल मे भागवत धर्म के तीन बडे केन्द्र थे,—मध्यदेश मे शूरसेन की राजधानी मथुरा, राजस्थान मे चित्तौड के निकट मध्यमिका और मध्यभारत मे विदिशा। उनमे मथुरा नगर शुग सम्राटो के प्रभाव क्षेत्र मे था, किंतु मध्यमिका पर सभवत उनका प्रभाव नही था। विदिशा नगर शुग साम्राज्य का प्रमुख केन्द्र था और वहाँ उनकी दूसरी राजधानी भी थी। उन तीनो केन्द्रो मे भागवत धर्म की उन्नत अवस्था के विश्वसनीय प्रमाण मिले है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बडे महत्वपूर्ण है।

---

(१) भागवत संप्रदाय, पृष्ठ ९७

मथुरामडल के भागवत मदिर और मूर्तियाँ—शुग काल मे मथुरामडल भागवत धर्म और उससे सबधित मदिर–मूर्तियो का सर्वाधिक प्रसिद्ध केन्द्र हो गया था। मथुरा मे उस काल के कुछ ऐसे स्तभ, वेदिका, तोरण आदि के ध्वसावशेष मिले हे, जो वहाँ के शासक वाधपाल और धनभूति द्वारा निर्मित देव–स्थानो के जान पडते हे। वे वाधपाल–धनभूति मथुरा के कोई स्वतत्र शासक थे, अथवा शुग सम्राटो के सामत, यह ज्ञात नही हुआ है। वैसे शुग काल मे मथुरामडल पर उनका प्रभाव था, इसमे सदेह नही है[1]। उस काल मे वासुदेव–सकर्पण को 'केशव' और 'राम' तथा उनके देवालयो को 'प्रासाद' कहा जाता था। सुप्रसिद्ध वैयाकरण पतजलि के 'महाभाष्य' मे उक्त शब्दो का प्रयोग हुआ है। उसमे भागवत धर्म के उपास्य सकर्पण–वासुदेव (राम–केशव) के अतिरिक्त कुबेर (धनपति) के प्रासादो का भी उल्लेख किया गया हे,—'प्रासादे धनपतिरामकेशवानाम् (२-२-३४)।

उस काल मे उपास्य देवो के धार्मिक उत्सव मनाने की भी प्रथा थी। महाभाष्य मे उन उत्सवो को 'मह' अथवा 'कृत्य' कहा गया हे और उनके निमित्त एकत्र समाज को 'ससद'। धनपति, राम और केशव के प्रासाद की ससद मे मृदग, शख और पणव नामक वाद्यो के बजाये जाने का उल्लेख मिलता है,–'मृदङ्गशखपणवा पृथङ् नदति ससदि, प्रासादे धनपतिरामकेशवनाम्।' (२-२-३४)। महाभाष्य मे इद्र और गगा के निमित्त किये जाने वाले 'मह' का भी उल्लेख किया गया है[2]।

शुग काल मे शूरसेन जनपद मे राम (सकर्पण अथवा बलराम) की उपासना–पूजा का अधिक प्रचार हुआ जान पडता है। उस युग मे निर्मित बलराम की एक मूर्ति मथुरा जिला के जुनसुठी गाँव से प्राप्त हुई है, जो इस समय लखनऊ सग्रहालय (जी २१५) मे है। वह बलराम ही नही, वरन् भागवत धर्म की उपलब्ध समस्त देव मूर्तियो मे सबसे प्राचीन मानी जाती है। वह मूर्ति मथुरा के उक्त स्थान मे किसी भागवत देवालय मे प्रतिष्ठित होगी।

मध्यमिका का 'नारायण वाटक'—शुग काल मे भागवत धर्म का दूसरा बडा केन्द्र राजस्थान मे चित्तौड के निकटवर्ती प्राचीन मध्यमिका नामक स्थान मे था। चित्तौड से ८ मील उत्तर दिशा मे स्थित वर्तमान 'नगरी' नामक ग्राम उस काल मे मध्यमिका कहलाता था। नगरी तथा उसके निकटवर्ती घोसुडी ग्रामो से उपलब्ध अभिलेखो से ज्ञात होता हे कि अश्वमेध यज्ञ करने वाले भागवत राजा सर्वतात गाजायन ने वहाँ 'नारायण वाटक' (नारायण बाडा) का निर्माण कराया, और भगवान् सकर्पण एव वासुदेव के पूजन–अर्चन के लिए उसमे एक 'पूजा-शिला' की प्रतिष्ठा की थी। उसे 'प्राकार' अर्थात् ऊँची चारदीवारी से घेर दिया गया था।

इस सबध का जो शिला–लेख प्राप्त हुआ है, वह इस प्रकार है,—"(कारितोऽय राज्ञा भागव)तेन गाजायनेन पाराशरीपुत्रेण सर्वतातेन अश्वमेधयाजिना भगव(द्)भ्या सकर्षण-वासुदेवाभ्या अनिहताभ्या सर्वेश्वराभ्या पूजाशिला–प्राकारो नारायण–वाटका।" अर्थात्–यह पूजा-शिला, प्राकार और नारायण वाटक सबके स्वामी अपराजित भगवान् सकर्षण और वासुदेव के लिए अश्वमेधयाजी भागवत राजा सर्वतात ने, जो पाराशरी के पुत्र और गाजायन गोत्र के है, बनवाया[3]।

---

(१) पतजलि कालीन भारत, पृष्ठ १२०
(२) वही ,, ,, पृष्ठ ५५५
(३) पोद्दार अभिनदन ग्रथ, पृष्ठ ६०१, ना प्र पत्रिका (भाग ६२ अक २–३) पृष्ठ ११७

पूर्वोक्त शिला–लेख ब्राह्मी लिपि मे है और वह खडित अवस्था मे प्राप्त हुआ है। उसे डा० भाडारकर ने पटा था। उक्त लेख मे सकर्षण–वासुदेव का विशेषण 'सर्वेश्वर' और राजा सर्वतात् का विशेषण 'भागवत' विशेष महत्वपूर्ण हैं। उसके साथ ही साथ सकर्षण-वासुदेव के लिए निर्मित देव-स्थान को 'नारायण वाटक' कहा जाना भी अपना विशिष्ट धार्मिक महत्व रखता है। उक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि तब तक भागवत धर्म के उपास्य देवता वासुदेव को भगवान् नारायण से अभिन्न समझ कर उन्हे समस्त देवमडल का अधिपति मान लिया गया था और वासुदेव के साथ नारायण की उपासना भी भागवत धर्म मे मान्य थी। उस धर्म मे श्रद्धा रखने वाला अश्वमेध–याजी तथा गाजायन गोत्रीय एक प्रतापी राजा सर्वतात अपने को 'भागवत' कहलाने मे गौरव का अनुभव करता था। "गाजायन गोत्र 'मत्स्य पुराण' की गोत्र सूची मे आगिरस गोत्रगण के अतर्गत कण्व शाखा मे मिलता है[1]।" कृष्ण के आध्यात्मिक गुरु घोर ऋषि भी आगिरस थे, जिन्हे हमने नारायणीय धर्म की परपरा मे बतलाया है[2]। इस प्रकार भागवत धर्म की प्राचीन परपरा का इस ऐतिहासिक प्रमाण से अनुमोदन और समर्थन होता है।

विदिशा का 'गरुडध्वज'—वर्तमान मध्य प्रदेश राज्य का विदिशा नामक स्थान शुग काल मे भागवत धर्म का तीसरा बडा केन्द्र था। शुग सम्राटो की दूसरी राजधानी होने के कारण उसका महत्व भागवत धर्म के अन्य केन्द्र मथुरा और मध्यमिका से भी उस काल मे अधिक हो गया था। उसकी धार्मिक महत्ता का प्रमाण वह 'गरुडध्वज' स्तभ है, जिसे शुग सम्राट कौत्सीपुत्र भागभद्र के दरबार मे आये हुए यूनानी राजदूत हेलियोडोरस ने प्रतिष्ठित किया था। शुग सम्राटो के शासन-काल मे गधार से लेकर पचनद तक के प्रदेश पर यूनानियो का अधिकार था, और तक्षशिला उनकी राजधानी थी। पुष्यमित्र आदि शुग सम्राटो ने यूनानियो को दबा कर उन्हे भारतीय नरेशो से मैत्री सबध स्थापित करने को बाध्य किया था। फलत' यूनानी अधिपति अतलिकितस (एन्टिअल काइड्स) ने मैत्री–भाव की पुष्टि के लिए अपना दूत हेलियोदोर (हेलियोडोरस) शुग सम्राट भागभद्र के दरबार मे विदिशा भेजा था।

तक्षशिला निवासी यूनानी राजदूत हेलियोदोर भागवत धर्म का अनुयायी और भगवान् वासुदेव का उपासक था। उसने अपने उपास्य देव के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए विदिशा मे एक 'गरुडध्वज' की प्रतिष्ठा की थी। उक्त स्तभ पर ब्राह्मी लिपि मे एक लेख भी उत्कीर्ण किया गया, जो इस समय कुछ खडित हो गया है। वह लेख इस प्रकार है,—

"(दे)व देवस वा(सुदे)वस गरुडध्वजे अय कारिते इ(अ) हेलियोदोरेण भागवतेन दियस पुत्रेण तखसिलाकेन योनदुतेन (आ)गतेन महाराजस अतलिकितस उप(ं त)ता सकास रजो को(सी) पु(त्त)स (भ)ागभद्रस त्रातारस वसेन च(तु)दसेन राजेन वधमानस। ···त्रीनि अमुत पदानी (इ अ) (सु) अनुठितानि नेयति स्वग दम-चाग अप्रमाद।"

अर्थात्—देवाधिदेव वासुदेव का (अर्चा चिह्न) यह गरुडध्वज है। इसे स्थापित किया है दियस के पुत्र तक्षशिला वासी भागवत हेलियोदोर ने, जो महाराज अतलिकितस के यहाँ से यवन दूत

---

(१) शोध पत्रिका (वर्ष १७, अंक १–२), पृष्ठ ८२

(२) इस ग्रंथ के नारायणीय धर्म' का पृष्ठ ११ देखिये।

होकर कौत्सीपुत्र त्राता महाराज भागभद्र के दरवार मे आया है। उनके राज्याभिषेक के चौदहवें वर्ष मे। अमोघ फल के तीन साधन, जिन पर आचरण करने मे स्वर्ग की प्राप्ति होती है, दम (इंद्रिय–दमन), त्याग और अप्रमाद (विवेक) है [१]।"

हेलियोदोर ने जिन अमोघ साधनो का उल्लेख अपने लेख के अत मे किया है उनका आधार महाभारत है। भारतीय सस्कृति के उस महान् ग्रथ मे अनेक स्थलो पर दम, त्याग और अप्रमाद को अमृतत्व का साधन स्वीकार किया गया है [२]। "महाभारत मे कहा है—इंद्रिय-दमन, त्याग तथा विवेक ये ब्रह्म के तीन घोडे है। जो मनुष्य इन तीनो अश्वो से युक्त मानस–रथ पर शीलरूपी बागडोर को थाम कर जीवन–यात्रा करता है, वह मृत्यु के भय से मुक्त हो ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। जो अहिंसा–वृत्ति द्वारा सब प्राणियो को अभय दान देता है, वह आनद के धाम विष्णु-पद को पहुँचता है [३]। गीता मे भी दम और त्याग (कर्म–फल त्याग) की महिमा का अनेक स्थलो पर कथन किया गया है [४]। इस प्रकार भगवत गीता सहित महाभारत ग्रथ की शिक्षा के आधार पर अनेक विदेशी भी उस काल मे भागवत धर्म को स्वीकार कर अपने जीवन को सफल कर सके थे [५]।

हेलियोदोर ने गरुडध्वज स्तभ के साथ भगवान् वासुदेव का कोई पूजा–प्रासाद (देवालय) भी बनवाया था या नही, यह निश्चय पूर्वक कहना कठिन है। प्राय इस प्रकार के स्तभ देवालयो के साथ ही बनाये जाते थे। विदिशा मे ही उस काल का एक दूसरा अठपहलू गरुडध्वज मिला है, जो भगवान् वासुदेव के 'प्रासादोत्तम' मे लगाया गया था। उस पर उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है, शुगवशीय महाराज भागवत के शासन काल के १२वे वर्ष मे उसे भागवत गोतमीपुत्र ने बनवाया था [६]। इससे अनुमानित होता है, कदाचित हेलियोदोर के गरुडध्वज के साथ भी पूजा–प्रासाद रहा होगा, जो कालातर मे नष्ट हो गया था।

इस प्रकार मथुरा, मध्यमिका और विदिशा के त्रिकोणात्मक विशाल भू–भाग मे प्रचलित होने के कारण शुग काल मे भागवत धर्म के व्यापक प्रभाव का परिचय मिलता है।

---

(१) मानव धर्म (वर्ष ५, सख्या १) का 'श्रीकृष्णाक', पृष्ठ १२६

(२) दमस्त्यागोऽप्रमादश्च एतेष्वमृतमाहितम् । (महाभारत, १२–५–४३)

(३) दमस्त्यागोऽप्रमादश्च ते त्रयो ब्राह्मणो हया ।
शीलरश्मिसमायुक्त. स्थितो यो मानसे रथे ॥
त्यक्त्वा मृत्युभय राजन् ब्रह्मलोक स गच्छति ।
अभय सर्वभूतेभ्यो यो ददाति महीपते ॥
स गच्छति पर स्थान विष्णो पदमनामयम् ॥ (महाभारत, ५-४३-२२-४५-७)

(४) भगवत गीता, (१६–१,२ तथा १८–२, ५१)

(५) मानव धर्म (वर्ष ५, सख्या १) का 'श्रीकृष्णाक', पृष्ठ १२६

(६) "गोतमीपुत्तेन भागवतेन भगवतो प्रासादोत्तमस गरुडध्वज–कारितो द्वादश वसभिषिते भागवते " (पोद्दार अभिनदन ग्रथ, पृष्ठ ६००)

५. शैव धर्म

संक्षिप्त परिचय—

शिव के नाम-रूप का विकास—शैव धर्म के उपास्य देव भगवान् शिव का वैदिक नाम 'रुद्र' है और वेदो मे उनका रूप अधिकतर भयावह एव उग्र दिखलाई देता है। वैदिक देवताओ की कल्पना विविध प्राकृतिक तत्वो के मानवीकरण के रूप मे की गई है। तदनुसार ऋग्वेद मे रुद्र को 'विनाशकारी झझावत अथवा घने वादलो मे चमकती हुई विध्वसक विजली का प्रतीक' माना गया है। इस प्रकार उन्हे एक भयावह और उग्र देवता के रूप मे कल्पित किया गया है। यजुर्वेद और अथर्ववेद मे रुद्र का विनाशकारी भयावह रूप और भी उग्र हो जाता है। उनके वाण पशुओ और मनुष्यो का विनाश कर सकते है, अत रुद्र के कोप से वचने के लिए वेदो मे प्रार्थना के अनेक मत्र मिलते है। अथर्ववेद के कई मत्र (११-२-१०, १०-२-२४) मे रुद्र से प्रार्थना की गई है कि वे पशुओ को अपना सरक्षण प्रदान करे। "इसी प्रसग (२-३४-१, ५-२४-१२, ११-२-१) मे रुद्र को पहिली वार 'पशुपति' कहा गया है और उनसे पशु-वृद्धि तक के लिए प्रार्थना की गई है[1]।" यजुर्वेद मे रुद्र की प्रशसा करते हुए उन्हे 'शिव' भी कहा गया है। इस प्रकार सहिता काल मे ही रुद्र को उग्र देवता के साथ ही साथ सौम्य देवता माने जाने का आरभ दिखलाई देता है।

वैदिक सहिताओ मे रुद्र को उच्च कोटि के उपास्य देव की अपेक्षा मध्यम श्रेणी का एक लोक देवता माना गया है, किंतु ब्राह्मण ग्रथो मे उसे उच्च वर्ग द्वारा भी अपनाये जाने का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण काल के पश्चात् उत्तर वैदिक काल अर्थात् आरण्यक और उपनिषदो के युग मे रुद्र का उत्कर्ष और भी वढता हुआ दिखलाई देता है। यहाँ तक कि श्वेतावर उपनिषद् मे उनके पूर्ण उत्कर्ष का उल्लेख मिलता है। "उस काल मे रुद्र जन साधारण के साथ ही साथ आर्यो मे सवसे प्रगतिशील वर्ग के आराध्य देव वन गये थे और उन्हे रुद्र के साथ ही साथ ईश, महेश्वर, शिव और ईशान भी कहा जाने लगा था[2]।" उपनिषदो के पश्चात् रामायण और महाभारत मे रुद्र के रूप और नाम मे महत्व का परिवर्तन दिखलाई देता है। उस काल मे रुद्र के सौम्य रूप का अधिक प्रचार होने से उन्हे भय और आतक की अपेक्षा कल्याण तथा मगल का देवता मान लिया गया था। तव उनके 'शिव' नाम की अधिक प्रसिद्धि हुई थी। उस काल मे उक्त प्रचलित नाम के साथ ही साथ उन्हे महादेव, महेश्वर, शकर और त्र्यम्बक भी कहा जाने लगा था।

इस प्रकार पशुपति-रुद्र शिव-शकर-महादेव का नाम धारण कर एक ऐसे उपास्य देव का रूप ग्रहण करते हैं, जो महा शक्तिशाली और सर्व सहारकारी होने के साथ ही साथ परम मगलकारी, महा कल्याणप्रद, अमोघ फलदाता और अवढरदानी भी है। वे कुपित होने पर अपने नेत्र की ज्वाला से पल भर मे सृष्टि का सहार करने की शक्ति रखते है, तो कृपालु होने पर क्षण भर मे ही सृष्टि के समस्त दुर्लभ पदार्थो के प्रदान करने की उनमे क्षमता भी है। भयावह होने के कारण वही रुद्र हैं, तो कल्याणकारी होने से वही शिव—शंभु है। जीव मात्र के स्वामी होने से वही पशुपति हैं, तो

(१) शैव मत, पृष्ठ ९
(२) शैव मत, पृष्ठ ३९

समस्त देवताओं मे महान् होने से वही महादेव हैं। 'शतरुद्रीय सूक्त' मे रुद्र के सौ नाम-रूपो का उल्लेख है और वे सब शिव के नाम–रूपो से मिलते हैं। इस प्रकार रुद्र ही शिव है, वही पशुपति, गिरीश, नीलग्रीव, शभु, महादेव आदि अनेक नामो से अभिव्यजित होते हुए 'शैव धर्म' के परमोपास्य देवता मान लिये जाते हैं।

शिव का परिकर—अपर वैदिक काल, विशेषतया पौराणिक युग, मे शिव के परिकर की भी कल्पना की गई थी। उनकी पत्नी को पहिले अम्बिका, फिर शक्ति, सती, उमा, पार्वती, आर्या, भगवती के साथ ही साथ दुर्गा, महाकाली और महायोगिनी भी कहा जाता था। उनका रूप भी शिव की ही भाँति मगलकारी और सहारकारी द्विधा कल्पित किया गया था। शिव के एक पुत्र का सबसे पुराना नाम विनायक मिलता है, जिसे बाद मे सिद्धिदाता गणेश कहा जाने लगा था। उनका दूसरा पुत्र स्कद है, जिसे कार्तिकेय, षड्मुख, जयत, विशाख, सुब्रह्मण्य और महासेन भी कहा गया है। शिव के सेवक 'गण' कहलाते हैं, जो अत्यत शक्ति सम्पन्न और विविध नाम–रूपो के हैं। शिव का वाहन बैल है, और उनका शस्त्र त्रिशूल है। उनके प्रमुख निवास–स्थान हिमालय और कैलाश है, जहाँ वे अपने परिकर के साथ रहते हैं। वे परम योगी तथा महा तपस्वी हैं, और प्राय समाधि मे लीन रहा करते हैं।

शिव की उपासना-भक्ति और सेवा-पूजा—उपनिषद् काल मे भारतीय धर्म ने एक नवीन धार्मिक मान्यता को जन्म दिया था। उनके प्रमुख तत्व 'ध्यान' और 'भक्ति' थे, जिनका पूर्ण विकास पुराणो मे दिखलाई देता है। पौराणिक काल के प्रमुख देवता विष्णु और शिव हैं। उस काल मे जो व्यक्ति उनमे से जिसकी उपासना–भक्ति करता था, वह उसी को श्रेष्ठ मानता था और दूसरे को या तो उससे अभिन्न समझता था, या कुछ कम महत्व का। विष्णु की उपासना तो देवता और मानव ही करते हैं, किंतु शिव की भक्ति उन दोनो के अतिरिक्त उनके सामान्य शत्रु दैत्य-दानव द्वारा भी की जाती है। शिव दैत्य-दानवो को वरदान देते हैं, किंतु विष्णु उनका सहार करते हैं। रामायण, महाभारत और पुराणो के प्राय सभी प्रमुख दैत्य-दानव शिव से वरदान प्राप्त कर अपने शत्रु देवता और मानवो को कष्ट देते हुए दिखलाई देते हैं, किंतु अत मे वे या तो स्वय विष्णु से अथवा उनके अवतारो से मारे जाते हैं। इससे उन दोनो प्रमुख देवताओं के आदिम रूप का भी बोध होता है। विष्णु आरभ मे ही आर्यो के उच्च वर्ग के देवता रहे हैं, किंतु शिव पहिले निम्न वर्ग के अथवा अनार्यो के देवता जान पडते हैं। बाद मे आर्यो के उच्च वर्ग ने भी उन्हे अपना लिया था। उच्चवर्गीय आर्यो ने पहिले शिव को महत्व नही दिया था। इसका प्रमाण महाभारत मे उपलब्ध 'दक्षयज्ञ' का उपाख्यान है। उससे ज्ञात होता है कि कर्मकाडी आर्यो ने पहिले शिव का बडा विरोध किया था। फिर पर्याप्त सघर्ष के उपरात ही उन्होने शिव की महत्ता को स्वीकार किया।

उपनिषद् काल के पश्चात् जब भक्तिवाद का उदय हुआ, तब कर्मकाड का स्थान उपासना–भक्ति ने ले लिया था। उस समय विष्णु की उपासना के साथ ही साथ शिव की भक्ति का भी व्यापक प्रचार हो गया था। जब प्राचीन ब्रज मे उपास्य देवो की मूर्तियो का प्रचलन हुआ, तब विष्णु, वासुदेव, बलराम आदि के साथ ही साथ शिव की मूर्तियाँ भी बनाई जाने लगी थीं। अन्य देवताओ की मूर्तियाँ प्राय मानवाकृति की बनाई गई थी, किंतु शिव की मूर्तियो को मानवाकार के अतिरिक्त लिंगाकार की भी बनाया गया था।

लिगोपासना की मूल परंपरा—पश्चिमी विद्वानो का मत है कि शिव मूल रूप मे अनार्यो के देवता है, और वे ऋग्वेद के रुद्र से सर्वथा भिन्न है। उनका यह भी मत है कि शिव की लिगोपासना भी मूलत अनार्यो की देन है, जिसका वैदिक रुद्र के साथ कोई सबध नही मिलता है। इसके समर्थन मे सिधु घाटी की तथाकथित अनार्य सभ्यता के वे प्राचीन अवशेप प्रस्तुत किये जाते है, जो मुहनजोदडो और हडप्पा आदि स्थानो से उपलब्ध हुए है। उनसे ज्ञात होता है कि वहाँ के प्राचीन निवासियो मे एक विशिष्ट पुरुष–देवता एव एक मातृ–देवी की उपासना प्रचलित थी, और उनमे लिगोपासना का भी प्रचार था। पुरुप–देवता की जो आकृति वहाँ से उपलब्ध एक मुद्रा पर अकित मिली है, उसके कई मुख है और उसे पशुओ से घिरा हुआ दिखलाया गया है। इस प्रकार उसके 'पशुपति' रूप का अनुमान किया गया है। वहाँ के प्राचीन अवशेपो मे पत्थर के बने हुए लिंग-प्रतीक भी है, जिनसे वहाँ के निवासियो मे लिगोपासना के प्रचलन की सभावना ज्ञात होती है।

जब वैदिक सस्कृति के माथ सिंधु घाटी की सभ्यता का सम्मिश्रण हुआ, तब उसके फल-स्वरूप दोनो के देवताओ और उनकी उपासना की विधियो मे भी ताल–मेल हो गया था। पश्चिमी विद्वानो के मतानुसार तभी आर्यो मे पशुपति देवता और मातृ देवी की उपासना के साथ ही साथ लिगोपासना भी प्रचलित हुई थी।

सिंधु घाटी की सभ्यता के सबध मे पाश्चात्य विद्वानो ने जो मत पहिले निश्चित किया था, वह उसके बाद की उपलब्धियो और तत्सबधी विविध अनुसधानो से अब विवादास्पद हो गया है। ऐसी स्थिति मे सिधु घाटी की सभ्यता को वैदिक सस्कृति और आर्य सभ्यता से सर्वथा भिन्न मान कर उसे अनार्य सभ्यता समझना भी सर्वथा विवादरहित नही है। जैसा पहिले लिखा गया है, अथर्ववेद मे रुद्र का एक नाम पशुपति भी है, और उसे पशुओ का सरक्षक बतलाया गया है। सिधु घाटी की पशुपति–आकृति के तीन मुख है, और उसे पद्मापन मे बैठा हुआ दिखलाया गया है। ये लक्षण आर्यो के उपास्य देव के भी है, अत शिव को मूल रूप मे अनार्य देवता समझना भी सदेह-रहित नही है। फिर भी लिगोपासना को अनार्य सभ्यता की देन मानना असदिग्ध और प्रामाणिक जान पडता है। उसका प्रचार अनार्यो के ससर्ग से आर्यो मे भी अपर वैदिक काल मे हो गया था।

विविध संप्रदाय—शैव धर्म के अतर्गत समय-समय पर कई सप्रदाय और मत प्रचलित हुए थे। उनमे पाशुपत, माहेश्वर और शिव भागवत मत अपेक्षाकृत प्राचीन है। कालातर मे कापालिक, वीरशैव या लिगायत, कालमुख या कारुणिक, जगम, भारशिव, रसेश्वर और शिवाद्वैत आदि कई सप्रदायो का भी उदय और प्रचार हुआ था।

पाशुपत और माहेश्वर मत—जैसा पहिले कहा गया है, शिव का वैदिक नाम पशुपति भी है, अत पशुपति शिव द्वारा दिये हुए धर्मोपदेश को पहिले 'पाशुपत' कहा जाता था। महाभारत काल मे जो पाँच धार्मिक मत प्रचलित थे, उनमे से एक 'पाशुपत' भी था[1]। 'पद्मतत्र' (१-१-५०) मे शिव द्वारा प्रवर्तित तीन सप्रदायो का नामोल्लेख हुआ है। उनमे से पहिला पाशुपत, दूसरा शुद्ध शैव, और तीसरा कापालिक था[2]।

(१) सांख्यम् योग पाचरात्रम् वेदा· पाशुपतम् तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नाना मतानि वै॥ (महाभारत, शाति पर्व)

(२) श्रेडर, पृष्ठ ११२

महाभारत (शाति पर्व) मे 'पाशुपत' मत की विद्यमानता 'पचरात्र' के साथ बतलाई गई है। उससे ज्ञात होता है कि वे दोनो सप्रदाय महाभारत काल मे साथ-साथ प्रचलित थे। महाभारत मे पाशुपत मत के सस्थापक और उसके धार्मिक सिद्धात के विषय मे कुछ नही लिखा गया है। वायु और लिगादि पुराणो मे इस मत के सस्थापक का नाम 'लकुलिन्' अथवा 'नकुलिन्' मिलता है। इस मत के ऐतिहासिक सस्थापक का नाम 'लकुलीश' अथवा 'नकुटीश' माना जाता है, जो सभवत 'लकुलिन्' का ही नामातर है। इस सप्रदाय के ग्रथो मे ज्ञात होता है कि इसमे शिव के निर्गुण और सगुण दोनो रूप मान्य थे। यद्यपि इसके अनुयायी सभी वर्णो के नर-नारी थे, तथापि निम्न वर्णो मे इसके मानने वालो की सख्या अधिक थी। इस मत मे त्याग, तपस्या और योग को विशेष महत्व दिया गया है। उस काल के ऐसे कई उल्लेख मिलते है, जिनमे इस मत के मानने वालो द्वारा कठिन तपस्या किये जाने का कथन है। इस सप्रदाय के साधक अपने शरीर पर भस्म लगाये रखते थे और अपने अगो पर शिवलिग के चिह्न अकित करते थे।

महाभारत काल के पश्चात् पाशुपत मत को 'माहेश्वर' कहा जाने लगा था। वैशेषिक सूत्रकार कणाद माहेश्वर थे। न्याय भाष्यकार उद्योतकर को पाशुपताचार्य कहा गया है। कुषाण सम्राट विमकैड फाइसिस भी 'माहेश्वर' कहलाता था। सातवी शती के चीनी यात्री हुएनसाग ने भी इस मत का नामोल्लेख किया है। यद्यपि पाशुपति मत का माहेश्वर नाम कालातर मे अधिक प्रचलित हो गया था, तथापि ११वी शती तक शैव धर्म के प्रमुख सप्रदाय के रूप मे पाशुपत नाम की भी ख्याति रही थी।

शिव भागवत—शुग कालीन वैयाकरण पतजलि ने अपने समय के शिवोपासको को 'शिव भागवत' कहा है। ऐसा ज्ञात होता है, उस काल के वासुदेवोपासक भागवतो से पृथक् करने के लिए ही शिवोपासको को उस नाम से सबोधित किया गया था। उस काल मे शिव, स्कद और विशाख के पूजन-अर्चन के लिए उनकी मूर्तियाँ भी बनाई जाती थी, जो प्राय कीमती धातुओ की होती थी। उनका प्रयोग शिव भागवतो के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति भी करते थे[१]। शैव धर्म का वह प्राचीन मत बाद मे लुप्त हुआ जान पडता है, क्यो कि फिर उसका उल्लेख नही मिलता है।

शैव सिद्धांत—शिवोपासना ने जब धर्म का रूप धारण कर लिया, तब उसका स्वतत्र 'दर्शन' भी बन गया था, जिसे 'शैव सिद्धात' कहते है। उसकी जानकारी के लिए शैव धर्म के सबसे प्राचीन रूप पाशुपत मत के सिद्धातो का परिचय प्राप्त होना आवश्यक है। 'सर्व दर्शन सग्रह' ग्रथ मे पाशुपत दर्शन का उल्लेख हुआ है। उसके अनुसार जीवमात्र की सज्ञा 'पशु' है, और भगवान् शिव 'पशुपति' है। "भगवान पशुपति ने बिना किसी कारण, साधन या सहायता के इस ससार का निर्माण किया है, अत वे स्वतत्र कर्ता है। हमारे कर्मो के भी मूल कर्ता परमेश्वर ही है, अत पशुपति सब कार्यो के कारण है। मुक्ति द्विधा है—१ सब दु खो से आत्यतिक निवृत्ति और २ पारमेश्वर्य प्राप्ति। भगवत् दासत्व मुक्ति नही, बधन है। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण है[२]।"

---

(१) वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड मायनर रिलीजिस सिस्टम्स, पृष्ठ १६४

(२) हिंदुत्व, पृष्ठ ६९९

डा० धर्मवीर भारती ने इसके सबध मे प्रकाश डालते हुए लिखा है,—"पाशुपत तीन के स्थान पर पाँच पदार्थ मानते है—१. कारण, २. कार्य, ३. योग, ४ विधि तथा ५ दु खात। 'कारण' साक्षात् शिव है। कारण द्वारा निर्मित पदार्थ 'कार्य' कहलाता है, जो परतत्र है और तीन प्रकार का होता है—विद्या, कला, पशु। विद्या पशु का धर्म है, जो दो प्रकार की होती है—बोधात्मिका तथा अवोधात्मिका। अवोध अधर्म की जननी है। कला मे चेतन के भी वश मे होने वाले द्रव्यों की गणना है और पशु स्वय जीव है। पशु दो प्रकार का बतलाया गया है,—शरीरेन्द्रिय धारी पशु 'साजन' और उससे मुक्त पशु 'निरजन'। तीसरा पदार्थ है 'योग', जो चित्त की क्रिया है, उसी से आत्मा व ईश्वर का सयोग होता है। चतुर्थ पदार्थ 'विधि' है, जो वाह्याचार का द्योतक है। इस पर तत्रो का स्पष्ट प्रभाव है। विधि के दो भेद होते है—व्रत तथा द्वार। व्रत पाँच प्रकार के होते है—भस्म-स्नान, भस्म-शयन, उपहार, जप तथा प्रदक्षिणा। 'दु खान्त' मोक्ष को कहते है। यह भी दो प्रकार का है,—'अनात्मक' अर्थात् जिसमे केवल त्रिविध दु खो की निवृत्ति होती है, और 'सात्मक' जिसमे सिद्धियाँ भी मिलती है[1]।"

प्राचीन ब्रज मे शैव धर्म का प्रचार—

प्राचीनतम अनुश्रुति—भारतवर्ष के आदि काव्य बाल्मीकि रामायण मे मधु नामक एक दैत्य का उल्लेख हुआ है। वह ब्रजमडल का प्राचीनतम शासक था और अयोध्या के राजा रामचद्र से कुछ पहिले हुआ था। रामायण से ज्ञात होता है, वह मधु दैत्य भगवान् शिव का परम भक्त था। उसने अपनी उपासना से शिव को प्रसन्न कर ऐसा अमोघ शूल प्राप्त किया था, जो उस काल के सभी अस्त्र-शस्त्रो से बढ कर था। इस अनुश्रुति द्वारा प्राचीन ब्रज मे शिवोपासना का आभास मिलता है।

ऐतिहासिक युग मे शुग सम्राटो के शासन काल (वि पू स० १२८ से वि पू. ४३) से ही यहाँ पर शिवोपासना के प्रमाण मिलते है। तभी से यहाँ शिव की उपासना मानव–मूर्ति और लिंग-प्रतीक दोनो रूपो मे दिखलाई देती है। शुग कालीन वैयाकरण पतजलि ने उस काल मे निर्मित शिव की मूर्तियो का उल्लेख किया है। उसके आधार पर डा० भडारकर ने लिखा है,—"लिंग–पूजा पतजलि के काल (शुग काल) मे प्रचलित हुई नही जान पडती है, क्यो कि उसने पूजा के लिए शिव की प्रतिकृति (मूर्ति) का उल्लेख किया है, उसके किसी प्रतीक का नही। यहाँ तक कि वह विमकैड फाइसिस के समय (कुषाण काल) मे भी प्रचलित नही जान पडती है, क्यो कि उसके सिक्को की पुश्त पर शिव की मानव–मूर्ति है[2]।"

डा० भडारकर का उक्त मत ब्रजमडल मे उपलब्ध पुरातत्व के प्रमाणो से भ्रमात्मक सिद्ध होता है, क्यो कि शुगकालीन लिग मूर्तियो के दो नमूने यहाँ से प्राप्त हो चुके है। उनमे से एक लिग–पूजा के दृश्य का शिलापट्ट (५२–३६२५) है, जो मथुरा सग्रहालय मे सुरक्षित है। दूसरा एकमुखी लिग है, जो भरतपुर सग्रहालय मे है। इनसे सिद्ध होता है कि शुग काल मे शैव धर्म की लिंग–पूजा प्रचलित थी। उसके बाद कुषाण काल मे शैव धर्म और शिवोपासना का यहाँ विशेष रूप से प्रचार हुआ था।

---

(१) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १२२–१२३

(२) वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड मायनर रिलीजस सिस्टम्स्, पृष्ठ १६४

६. शाक्त धर्म

संक्षिप्त परिचय—

मातृ-पूजा और शक्तिवाद की परंपरा—भारत के धार्मिक क्षेत्र मे मातृ-पूजा और शक्तिवाद की प्राचीन परपरा रही है। शाक्त सप्रदाय के अनुयायी इन्हे वैदिक काल मे भी प्रचलित बतलाते हैं और इनको वेदानुकूल सिद्ध करते हैं। उनके मतानुसार वैदिक वाड्मय के 'श्री सूक्त' और 'देवी सूक्त' वैदिक मातृ-पूजा और शक्तिवाद के मूल स्रोत हैं। आजकल के अधिकाश विद्वान उक्त मत का खडन करते हैं और मातृ-पूजा एव शक्तिवाद को अनार्य सस्कृति की देन बतलाते हैं। उनका कथन है, वैदिक आर्यों की सस्कृति और उनकी कुटुव सस्था पितृप्रधान थी, अत उनके द्वारा मातृ-पूजा की मान्यता सभव नही मालूम होती है। भारत के आदिवासी अनार्यगण आरभ से ही मातृपूजक थे ओर उनकी सस्कृति एव कुटुव सस्था भी मातृप्रधान थी, अत उन्ही के द्वारा मातृ-पूजा और शक्तिवाद का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे वाद मे आर्यो ने भी अपना लिया था।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'यजुर्वेद' और 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' के प्रमाणो से बतलाया है कि मातृदेवी के रूप मे पृथ्वी की मान्यता आर्य धर्म मे भी स्वीकृत थी। पशु, पक्षी, नाग, मनुष्य, देवता सवकी जनित्री आदि-माताओ का समावेश पृथ्वी की पूजा मे हो गया और पृथ्वी जगदविका या विश्वरूपा माता मानी जाने लगी। अतएव न केवल भूमि-पूजा का सव जातियो मे समान प्रचार हुआ, वल्कि जितनी भी मातृदेवियाँ थी, वे सव एक मूलभूत महीमाता का रूप समझी जाने लगी। देवमाता अदिति और पृथ्वी को वैदिक साहित्य मे महीमाता कहा गया है[1]। फिर भी वैदिक वाड्मय मे कोई ऐसी स्त्री देवता का नामोल्लेख नही मिलता, जिसे शाक्त सप्रदाय की आराध्या देवी के समकक्ष कहा जा सके। यजुर्वेद मे रुद्र के साथ एक स्त्री देवता 'अविका' का उल्लेख हुआ है, जिसे रुद्र की भगिनी कहा गया है[2], अत उसे शाक्त सप्रदाय की आराध्या देवी नही माना जा सकता।

सिंधु घाटी के प्राचीन निवासियो मे पशुपति रूप पुरुष देवता के साथ ही साथ एक मातृ-देवी की भी मान्यता थी। जव उन लोगो की धर्मोपासना का आर्यो के धर्म के साथ समिश्रण हुआ, तव सिंधुघाटी की वह मातृदेवी और यजुर्वेद की अविका, जिसका अर्थ भी 'माता' होता है, दोनो एकाकार होकर आर्य धर्म की मातृदेवी वन गई। उस समय उसे रुद्र की भगिनी की वजाय उसकी पत्नी माना जाने लगा। इस प्रकार आर्यो मे भी मातृ-पूजा और शक्तिवाद के प्रचलन का आरभ हुआ, जो अपर वैदिक काल से ही वढने लगा था। इस प्रकार मातृ-पूजा और शक्तिवाद चाहे अनार्यो की देन है, किंतु आर्यो मे भी उनकी प्राचीन परपरा रही है।

---

(१) १ मही मातर सुव्रतानामदितम् (यजुर्वेद, २१-५)
२ पृथिवी माता महीम् (तैत्तिरीय ब्राह्मण, २-४-६८६)
३ हिंदी साहित्य (प्रथम भाग) पृष्ठ १६

(२) शैव मत, पृष्ठ २२

शाक्त धर्म का उदय और विकास—आर्य धर्म मे शक्तिवाद की स्वीकृति से अपर वैदिक काल की धार्मिक प्रवृत्ति मे मौलिक परिवर्तन हो गया था। उसका आरभिक रूप उपनिषद् काल मे प्रकट हुआ, जब आर्यो के चितन-मनन मे परमपुरुष के साथ उसकी प्रकृति को भी मान्यता दी गई थी। उसके वाद शक्तिमान् के साथ शक्ति का होना एक अनिवार्य तत्व माना जाने लगा, और उसका उत्तरोत्तर विकास होता रहा। साख्य मे पुरुष के साथ प्रकृति, वेदात मे ब्रह्म के साथ माया, तात्रिक मत मे शिव के साथ शक्ति तथा पुराणो मे विष्णु के साथ लक्ष्मी, ब्रह्मा के साथ सरस्वती, शकर के साथ पार्वती, राम के साथ सीता और कृष्ण के साथ राधा की विद्यमानता शक्तिवाद के व्यापक प्रभाव का सूचक है। वास्तव मे शक्तिमान् और शक्ति की अभिन्नता एक ऐसा तत्व है, जिसकी किसी प्रकार अवहेलना नही का जा सकती थी। कालातर मे शक्तिवाद का इतना महत्व वढ गया कि शक्तिमान् से शक्ति का पृथक् व्यक्तित्व भी माना जाने लगा। उसके फलस्वरूप शाक्त धर्म का उदय हुआ था।

जब शक्तिवाद ने धर्म का रूप धारण किया, तब उसका स्वतत्र दर्शन भी बन गया था। उसके अनुसार शक्ति का महत्व शक्तिमान् से भी अधिक समझा गया। शाक्त दर्शन मे मोक्षादि अमोघ फलो का प्रदाता शिव शुद्ध रूप मे निष्क्रिय माना गया है। शिव के समस्त कार्य 'शक्ति' द्वारा ही सम्पन्न होते है। इस प्रकार शाक्त धर्म और दर्शन मे शक्ति का महत्व शिव से भी अधिक होने की मान्यता है। यहाँ तक कि शक्ति से रहित शिव को 'शव' के समान निष्प्राण तक कहा गया है। शाक्त धर्म का उदय उपनिषत् काल मे हुआ, किंतु उसका वास्तविक रूप पौराणिक युग मे बना था। उसके पश्चात् उसका उत्तरोत्तर विकास होता रहा था।

प्राचीन ब्रज मे शाक्त धर्म का प्रचार—

प्रागैतिहासिक काल की अनुश्रुतियाँ—परम पुरुष की प्रकृति अथवा भगवान् की आद्या शक्ति आर्य नारियो और आर्य कन्याओ की सदा से उपास्या एव आराध्या रही है। राम को वर के रूप मे प्राप्त करने के लिए सीता द्वारा पार्वती-पूजन किया जाना प्रसिद्ध है। शूरसेन जनपद अर्थात् प्राचीन ब्रज की गोप-कुमारियो ने भी श्रीकृष्ण को वर के रूप मे प्राप्त करने की कामना से कात्यायिनी देवी की उपासना की थी और रुक्मिणी ने श्रीकृष्ण के साथ विवाह करने की लालसा से पार्वती का पूजन किया था। इस प्रकार शाक्त धर्म मे मान्य मातृ-पूजा के जो सूत्र इन अनुश्रुतियो मे मिलते हैं, उनमे से कुछ का सबध प्राचीन ब्रज से भी रहा है। उनसे ज्ञात होता है कि प्रागैतिहासिक काल मे ही प्राचीन ब्रज मे शाक्त धर्म के मूल तत्त्व मातृ-पूजा का प्रचलन हो गया था।

मौर्य-शुंग कालीन स्थिति—ब्रजमडल मे उपलब्ध प्राचीन प्रतिमाओ मे मातृदेवियो की मृण्मूर्तियाँ अपना विशिष्ट स्थान रखती है। इनमे मौर्यकालीन मृण्मूर्तियाँ ब्रज की मूर्तियो मे सबसे प्राचीन मानी जाती है। उनके पश्चात् शुग काल की मृण्मूर्तियाँ है। ये सब मूर्तियाँ सिंहवाहिनी, महिषमर्दिनी, वसुधारा, लक्ष्मी आदि देवियो की है, जो मथुरा सग्रहालय मे सुरक्षित है। इनसे ऐतिहासिक युग के आरभिक काल मे भी ब्रज मे शाक्त धर्म मे मान्य देवी-पूजा के प्रचार का अच्छा आभास मिलता है।

७. लोक देवोपासना

यक्षो की उपासना-पूजा—मौर्य-शुग काल मे प्राचीन ब्रज मे जिन लोक देवताओ की उपासना-पूजा होती थी, उनमे यक्षो का प्रमुख स्थान था। जब उपास्य देवो की मूर्तियो के निर्माण का प्रचलन हुआ, तब सभवत सबसे पहिले यक्षो की मूर्तियाँ बनाई गई थी। ब्रज मे उपलब्ध प्राचीन प्रतिमाओ मे मातृदेवियो की मृण्मूर्तियो के साथ ही साथ यक्षो की पाषाण मूर्तियाँ ही सबसे पुरानी मानी जाती है। यक्षो की मूर्तियाँ उनके विशाल रूप के अनुसार बहुत बडे आकार और पुष्ट डील-डौल की बनाई जाती थी और यक्षिणियो की मूर्तियाँ उनके सौंदर्य के अनुसार सुदर आकृति की होती थी। ब्रजमडल के विविध स्थानो से अनेक यक्ष-मूर्तियाँ मौर्य काल से शुग काल तक की प्राप्त हुई है, जिनसे उस युग मे यक्षो की उपासना-पूजा के प्रचलन का समर्थन होता है।

ब्रज की पाषाण मूर्तियो मे सबसे प्राचीन मणिभद्र यक्ष की विशालकाय मूर्ति है, जो विक्रम-पूर्व चौथी शताब्दी की मानी जाती है। यह मूर्ति मथुरा जिले के परखम गाँव से प्राप्त हुई है और इस समय मथुरा सग्रहालय (सी १) मे सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त कुबेर, हारीति और वैश्रमण यक्ष-यक्षिणियो के साथ ही साथ और भी कई यक्ष-मूर्तियाँ उपलब्ध हुई है, जो मथुरा सग्रहालय मे है। ग्वालियर से मणिभद्र यक्ष की और भरतपुर के निकटवर्ती नोह नामक गाँव से एक दूसरे यक्ष की महत्वपूर्ण प्राचीन मूर्तियाँ प्राप्त हुई है।

कालातर मे यक्षो को 'वीर' कहा जाने लगा था। उस समय प्रमुख यक्षो की सख्या ५२ निश्चित हुई थी। सिद्ध साहित्य और उसी काल की लोक कथाओ मे ५२ वीरो का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। शौरसेनी अपभ्रश और उससे विकसित ब्रजभाषा के लोक साहित्य मे यक्ष को 'जाख' और 'जखैया' तथा यक्ष के प्राचीन नाम ब्रह्म को 'बरम' और 'बरमदेव' कहा गया है। इस प्रकार ब्रज की लोक सस्कृति मे यक्षो को देवता मान कर यक्ष, ब्रह्म, वीर, बरम, बरमदेव, जाख और जखैया के नामो से उनकी उपासना-पूजा की अविच्छिन्न परपरा रही है। वैदिक, जैन, बौद्ध और पौराणिक सभी धर्मो के साहित्य मे यक्ष-यक्षिणियो के नामो के साथ ही साथ उनकी उपासना-पूजा का भी विभिन्न दृष्टिकोणो से उल्लेख मिलता है।

नागो की उपासना-पूजा—ब्रज के प्राचीन लोक देवताओ मे यक्षो के पश्चात् नागो का स्थान रहा है। ब्रज मे उपलब्ध मूर्तियो मे नाग देवताओ की भी है, जिनमे सबसे प्राचीन शुग काल की है। उनसे सिद्ध होता है कि उस काल मे यहाँ पर नाग देवताओ की भी उपासना-पूजा प्रचलित थी।

तृतीय अध्याय

पूर्व मध्य काल

[विक्रमपूर्व स० ४३ से विक्रम-पश्चात् स० ६०० तक]

उपक्रम—

इस काल का महत्व—ब्रज के सास्कृतिक इतिहास का यह काल अनेक दृष्टियो से बडा महत्वपूर्ण है। इसमे प्राचीन ब्रज को सर्वप्रथम शक, कुषाण और हूण जैसी विदेशी जातियो के आक्रमण और उनके राज्य काल के दु ख-सुख का अनुभव करना पडा था। इसी काल मे इसे नाग और गुप्त जैसे भारतीय राजाओ के गौरवपूर्ण शासन के सुखोपभोग का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इस काल के आरभ मे शको और कुषाणो के, तथा अत मे हूणो के प्रबल आक्रमण हुए थे। उनके कारण ब्रज की प्राचीन सस्कृति को पहिले तो आघात पहुँचा, किंतु बाद मे वह उनसे बडी लाभान्वित हुई थी। शक और कुषाण जातियो के शासक गण विदेशी होते हुए भी भारतीय धर्म और सस्कृति के प्रति आस्था रखते थे। उन्होने यहाँ के धर्म-सप्रदायो को स्वीकार कर उनकी प्रगति मे बडा योग दिया था।

स्वर्ण काल—नाग और गुप्त जैसे भारतीय नरेशो ने जहाँ प्राचीन ब्रज को विदेशी राज्यो की पराधीनता से मुक्त कर उसे स्वाधीन और समृद्ध बनाया था, वहाँ इसके धर्म-सप्रदायो की उन्नति मे भी अपूर्व सहायता प्रदान की थी। धार्मिक दृष्टि से नाग राजा शैव थे और गुप्त सम्राट वैष्णव, किंतु उनके द्वारा सभी धर्म-सप्रदायो को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था। नागो का शासन काल ब्रज के इतिहास मे विशेष महत्व रखता है, क्यो कि वे यहाँ के अतिम स्वाधीन शासक थे। गुप्तो का शासन काल अपनी महान् उपलब्धियो के कारण भारतीय इतिहास मे ही अभूतपूर्व स्थान रखता है। उन सब देशी-विदेशी राजाओ द्वारा इस काल मे ब्रज की सभी दृष्टियो से इतनी उन्नति हुई थी कि इसे ब्रज के सास्कृतिक इतिहास का 'स्वर्ण काल' कहा जा सकता है।

धार्मिक समन्वय और 'पुराण'—भारतीय धर्मोपासना के इतिहास मे इस काल का इसलिए बडा महत्व है कि वह अभूतपूर्व धार्मिक समन्वय का युग था। वैदिक, भागवत, शैव, शाक्त धर्मो के साथ बौद्ध, जैन धर्मो और लोकोपासना के मत-मतातरो का अद्भुत समन्वय होने से उस समय अपूर्व धार्मिक वातावरण का निर्माण हुआ था। उसका श्रेय जिस महत्वपूर्ण वाङ्मय को है, उसे 'पुराण' कहा जाता है।

पुराण-परंपरा और 'इतिहास'—'वायु पुराण' का वचन है, ब्रह्मा ने पहिले 'पुराण' को प्रकट किया, और उसके अनतर 'वेद' को[1]। इसे अतिशयोक्ति कहा जा सकता है, किंतु इसमे सदेह नही कि पुराणो का मूल भाग उतना ही पुराना है, जितना कि वेद। उसका 'पुराण' नाम इसी तथ्य का द्योतक है। 'इतिहास' शब्द का अर्थ भी भूतकालीन घटना-क्रम है। इस प्रकार दोनो के अर्थ

---

(१) प्रथमं सर्वशास्त्राणा पुराण ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनि.सृता.॥ (वायु पुराण, १-५४)

की सगति और रूप की समता ज्ञात होती है। उपनिषद् मे 'इतिहास' और 'पुराण' शब्दो का साथ साथ प्रयोग हुआ है, और उन्हे 'पचम वेद' बतलाया गया है[1]। महाभारत मे इतिहास–पुराण को वेद का उपबृहण अर्थात् पूरक कहा है,—'इतिहासपुराणाभ्या वेद समुपबृहयेत्'। रामायण, महाभारत और भागवतादि ग्रथ भारत की इस इतिहास–पुराण परपरा के ऐसे उज्ज्वल रत्न हैं, जिनकी धार्मिक महत्ता सर्वमान्य है।

ऐसी अनुश्रुति है, आरभ मे केवल एक ही पुराण सहिता थी, जिसे महामुनि द्वैपायन व्यास ने वेद का विभाग करने के अनतर सकलित किया था। उसे 'आदि पुराण' कहा गया है। 'हरिवंश' का वचन है, व्यास जी ने महाभारत मे वर्णित कौरवो और पाडवो की कथा के बाहर के आख्यानो और उपाख्यानो को 'आदि पुराण' मे सगृहीत किया था[2]। इस समय वह आदि पुराण सहिता उपलब्ध नही है, किंतु उसके आधार पर व्यास जी और उनकी शिष्य-परपरा द्वारा रचे हुए विविध पुराण प्राप्त हैं।

महामुनि व्यास जी और उनका ब्रज से संबंध—वेद का विभाग, महाभारत की रचना और पुराणो का प्राकट्य करने वाले महामुनि व्यास जी की तुलना का कोई दूसरा महान् साहित्यकार भारत ही नही, वरन् किसी अन्य देश मे भी नही हुआ है। उनका व्यक्तित्व और कृतित्व दोनो ही अनुपम और अपूर्व हैं। वे पराशर ऋषि और सत्यवती के पुत्र थे। उनका जन्म यमुना के किनारे रहने वाले एक केवट की कुमारी पुत्री सत्यवती के गर्भ से यमुना द्वीप की रेती मे हुआ था[3]। श्याम वर्ण के होने से वे कृष्ण, द्वीप मे जन्म लेने से द्वैपायन और वेद का विभाग करने से वे व्यास कहलाते थे। इस प्रकार उनका पूरा नाम 'कृष्ण द्वैपायन व्यास' था। कुमारी सत्यवती का विवाह बाद मे राजा शातनु के साथ हुआ था। शातनु की प्रथम पत्नी गंगा के गर्भ से भीष्म की उत्पत्ति हुई थी और व्यास जी द्वारा धृतराष्ट्र, पाडु तथा विदुर का जन्म हुआ था। इस तरह महामुनि व्यास जी भीष्म पितामह के ज्येष्ठ भ्राता और कौरव–पाडवो के पूर्वज थे।

'वराह पुराण' मे लिखा है, मथुरा मे सोम और वैकुठ तीर्थो के मध्य मे कृष्णगगा तीर्थ है, जहाँ व्यास जी तप करते थे[4]। वर्तमान मथुरा नगर मे यमुना तट पर सोम, वैकुठ और उनके बीच मे कृष्णगगा नामक तीनो घाट अब भी विद्यमान है। उनके निकट का एक और घाट सरस्वती सगम कहलाता है। प्राचीन मथुरा मे कालिदीगगा और सरस्वती नामक दो बरसाती नदियाँ थी, जो इन्ही घाटो के निकट यमुना मे मिलती थी। उनके सगम पर महामुनि कृष्ण द्वैपायन व्यास का तपस्थल था। व्यास जी के नाम पर ही उक्त कालिदीगगा को 'कृष्णगगा कहा जाने लगा था। वर्तमान मथुरा नगर से प्राय. २ मील पश्चिम मे गोवर्धन सड़क के किनारे शातनु कुड और सतोहा गांव हैं, जिन्हे महाराज शातनु और उनकी रानी सत्यवती से सबधित माना जाता है। कुछ विद्वान गोवर्धन

---

(१) इतिहास–पुराणं पंचमवदाना वेदम्। (छान्दोग्य उपनिषद्, ७–१–१)

(२) हरिवंश, भविष्य पर्व, अध्याय १

(३) महाभारत (गीता प्रेस) आदि पर्व, पृष्ठ ६९

(४) सोमवैकुंठयोर्मध्ये कृष्णगगेति कथ्यते।
तत्रा तप्यत्तपो मथुरायां स्थितोऽमल.॥ (वराह पुराण, अध्याय १७५–३)

क्षेत्र के परासोली गाँव का सबध पराशर जी से मानते है। इस प्रकार व्यास जी के जन्म और तप की पुण्य भूमि तथा महर्षि पराशर और राज-दपति शातनु-सत्यवती के पुनीत स्थल होने से प्राचीन ब्रज उनसे घनिष्ट रूप से सबधित रहा है।

पुराण विद्या का विस्तार—जैसा पहिले लिखा गया है, आरभ मे केवल एक ही पुराण सहिता थी। व्यास जी ने उसे अपने शिष्य लोमहर्षण सूत को सिखाया था। लोमहर्षण और उनके पुत्र उग्रश्रवा पुराण विद्या मे अत्यत निष्णात थे। उन्होने इस विद्या के विस्तार मे बडा योग दिया था। इस प्रकार द्वैपायन व्यास और उनकी शिष्य–मडली द्वारा विविध पुराणो की रचना हुई थी। प्रमुख पुराणो की सख्या १८ मानी जाती है, यद्यपि इनके नाम और क्रम के सबध मे मतैक्य नही है। कतिपय पुराणो का अस्तित्व जैन और बौद्ध धर्मो के विकास काल से भी पहिले विद्यमान था, किंतु अधिकाश पुराण जैन और बौद्ध काल मे ही बने थे। इसीलिए उनमे उक्त धर्मो के अनेक तत्व मिलते है। गुप्त काल मे प्रमुख पुराणो का सपादन होकर उनका स्वरूप निश्चित हो गया था। तत्पश्चात् हर्षवर्धन काल (७वी शती) तक प्राय सभी पुराण अपने वर्तमान रूप मे प्रस्तुत हो गये थे।

पुराणों का महत्व—धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक और कलात्मक सभी दृष्टियो से पुराणो का असाधारण महत्व सिद्ध होता है। धार्मिक दृष्टि से पुराण इसलिए महत्वपूर्ण है कि इनके द्वारा वेद-विहित धर्म को सरल–सुबोध और रोचक भाषा मे जनता के लिए सुलभ किया गया है। पचरात्र–भागवत धर्म के व्यूहवाद ने विकसिक होकर इस काल मे अवतारवाद का रूप धारण कर लिया था, जिससे बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त सभी धर्म प्रभावित हुए थे। बौद्ध धर्म के महायान सप्रदाय का उदय उसी प्रभाव का परिणाम था। पुराणो ने अवतारवाद के प्रचार के साथ ही साथ विविध धर्मो की मान्यताओ को आत्मसात कर उन्हे सतुलित करने का भी स्तुत्य प्रयास किया था। प्राचीन भारतीय समाज के समग्र स्वरूप का बोध हमे पुराणों के माध्यम से ही होता है। उनमे भारत के प्राचीनतम ऋषि-मुनियो और राजाओ की वश–परपरा के उल्लेख सहित ऐतिहासिक महत्व की विपुल सामग्री भरी पडी है। जैसे विष्णु पुराण मे मौर्य राजाओ का, मत्स्य पुराण मे दक्षिण के आध्र राजाओ का और वायु पुराण मे आरभिक गुप्त राजाओ का वर्णन उपलब्ध है। पुराणो मे भारत की कलात्मक समृद्धि का उल्लेख भी बडे विस्तार से किया गया है। स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, नृत्य, नाट्य, गायन, वादन, काव्यादि सभी कलाओ का मजुल सन्निवेश हमे पुराणो मे ही मिलता है। साराश यह है कि भारत के धार्मिक ज्ञान एव विज्ञान की ऐसी कोई शाखा नही, और भारत के सामाजिक एव ऐतिहासिक जीवन का ऐसा कोई पक्ष नही, जिसका उद्घाटन पुराणो मे न किया गया हो। इसीलिए पुराणो को भारतीय धर्म, विद्या और कलाओ का विश्वकोश कहा जाता है, जो इसी काल की देन है।

शूरसेन का नामांतर—इस काल से पहिले तक प्राचीन ब्रज की सज्ञा 'शूरसेन जनपद' थी, और मथुरा नगर उसकी राजधानी था। इस काल मे मथुरा नगर की सभी क्षेत्रो मे अभूतपूर्व उन्नति हुई थी, जिससे उसका देशव्यापी महत्व हो गया था। फलत प्राचीन ब्रज को तब शूरसेन जनपद के स्थान पर **'मथुरा राज्य'** कहा जाने लगा था। उसका यह नाम १२वी शती के कुछ बाद तक चलता रहा था। उसके अनतर इसे **'ब्रज'** या **'ब्रजमडल'** कहा जाने लगा था। विवेच्य काल मे मथुरा राज्य मे सभी धर्मो की बडी उन्नति हुई थी। यहाँ पर उनका सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

१. बौद्ध धर्म

शक काल (वि पू स० ४३ से विक्रम-पश्चात् स० ६७ तक) की स्थिति—उस काल के आरभ मे शूरसेन अर्थात् मथुरा राज्य पर शक क्षत्रपो का आधिपत्य हो गया था। शक विदेशी शासक थे, किंतु उन्होने भारतीय धर्मो को अगीकार किया था। उनमे से अधिकाश बौद्ध धर्मावलंबी थे। उन्होने बौद्ध धर्म के सर्वास्तिवादी सप्रदाय के प्रति अपनी अधिक रुचि दिखलाई थी। शक क्षत्रप राजुवुल की रानी कुमुइअ (कवोजिका) ने बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए मथुरा के वर्तमान सप्तर्षि टीला पर एक स्तूप और 'गुहा विहार' नामक सघाराम बनवाया था। राजुवुल के पुत्र शोडास ने उक्त सघाराम के लिए कुछ भूमि का दान किया था।

उस काल मे सर्वास्तिवाद के कई प्रसिद्ध विद्वान हुए थे। उनमे से एक बुद्धिल था, जिसने महासाघिको को शास्त्रार्थ मे पराजित कर बडी कीर्ति अर्जित की थी। उसका उल्लेख मथुरा के सप्तर्षि टीला से मिले हुए सिंह-शीर्ष लेख मे हुआ है। बुद्धदेव भी सर्वास्तिवाद का एक प्रसिद्ध आचार्य था। यशोमित्र ने अपनी रचना 'कोश-व्याख्या' मे स्थविर बुद्धदेव को सर्वास्तिवाद के सिद्धातो के लिए प्रमाण माना है[1]। बुद्धदेव का निवास स्थान सभवत मथुरा था, जहाँ के एक शिलालेख मे उनका नामोल्लेख हुआ है[2]।

कुषाण काल (विक्रम स० ६७ से सं० २१३ तक) की स्थिति—कुषाण सम्राट कनिष्क (स १३५–स १५८) के काल तक मूल बौद्ध धर्म प्रगति के पथ पर था। कनिष्क ने स्वय बौद्ध धर्म स्वीकार किया था और उसने साम्राज्य के अनेक स्थानो मे बौद्ध स्तूपो एव सघारामो का निर्माण कराया था। उसने कश्मीर मे एक बौद्ध धर्म परिषद् का भी आयोजन किया था, जिसके सभापति और उपसभापति क्रमश विख्यात विद्वान वसुमित्र और अश्वघोष थे। अश्वघोष 'बुद्ध चरित्र' और 'सौन्दरानद' जैसे प्रसिद्ध ग्रथो का रचयिता था। वह धर्म परिषद् स० १४० के लगभग हुई थी, और उसमे ५०० प्रसिद्ध भिक्षुओ ने योग दिया था।

कुछ लोगो ने उस परिषद् को बौद्ध धर्म की 'चतुर्थ सगीति' कहा है, किंतु अनेक बौद्ध विद्वानो ने उसे वह महत्व प्रदान नही किया। उस परिषद् मे बौद्ध ग्रथो के पाठ की प्रामाणिकता पर पुन विचार–विमर्श हुआ था। अत मे प्रमुख ग्रथो के प्रामाणिक पाठ निश्चित कर उन्हे ताम्रपत्रो पर खुदवाया गया और फिर उन्हे एक स्तूप मे सुरक्षित रूप मे रख दिया गया था। ऐसा कहा जाता है, वे ताम्रपत्र कश्मीर के किसी भग्न स्तूप मे अभी तक दबे पडे हैं, जो खुदाई मे किसी भी समय प्राप्त हो सकते हैं। उनके उपलब्ध होने पर अनेक बौद्ध ग्रथ प्राचीन रूप मे सुलभ हो सकेंगे।

कनिष्क का पौत्र हुविष्क (स १६३–स १६५) भी बौद्ध धर्म का प्रेमी था। उसने मथुरा मे अपने नाम से एक विशाल बौद्ध विहार बनवाया था और कनिष्क के समय के बने हुए देवकुल का जीर्णोद्धार कराया था। कुषाण काल मे त्रिपिटकाचार्य बल मथुरामडल मे बौद्ध धर्म का एक प्रसिद्ध आचार्य हुआ था। उसकी दो भिक्षुणी शिष्याओ ने मथुरा मे बोधिसत्व की मूर्ति प्रतिष्ठित की थी।

---

(१) **उत्तर प्रदेश मे बौद्ध धर्म का विकास**, पृष्ठ २०५

(२) **वही** ,, ,, ,, , पृष्ठ २१२

महायान का उदय और विकास—बौद्ध धर्म के परिवर्तनवादी सम्प्रदाय 'महासाघिक' का जब अधिक विस्तार हुआ, तब नयी मान्यताओ के साथ सयुक्त होने पर उसे 'महायान' कहा जाने लगा था। उस सम्प्रदाय की मुख्य भावना और साधन—पद्धति कठिन नियमो मे जकडे हुए मूल बौद्ध धर्म को सरल और लोकपरक बनाने की थी। 'महायान' नाम किस काल मे प्रचलित हुआ, इसका ठीक-ठीक निर्णय विद्वानो द्वारा नही किया जा सका है। "ऐसा अनुमान होता है, प्रथम शताब्दी के लगभग इस नाम का व्यवहार होने लगा होगा। कुषाण सम्राट कनिष्क के काल मे जो धर्म परिषद् हुई थी, उसमे बहुत से ऐसे भिक्षु सम्मिलित हुए थे, जो अपने को महायान धर्मी कहते थे[1]।' कुछ लोगो का अनुमान है, कनिष्क के दरबारी विद्वान महाकवि अश्वघोष ने ही बौद्ध धर्म के परिवर्तित रूप का वह नामकरण किया था।

महायान बौद्ध धर्म के मूल रूप 'स्थविरवाद'—तथाकथित हीनयान—से जिन बातो के कारण अलग हुआ था, उनमे से कुछ इस प्रकार है,—

१. हीनयान की कठिन और दु साध्य साधना को महायान मे सरल और सुसाध्य बनाने का प्रयास किया गया, ताकि उसके द्वारा सम्बुद्ध ही नही, वरन् साधारण जन का भी कल्याण हो सके।

२, हीनयान मे बुद्ध को सम्यक् बोध प्राप्त महापुरुष माना गया था, और वह पूर्णतया निरीश्वरवादी था। महायान बुद्ध की लोकोत्तर सत्ता मे विश्वास करता था, जिसके कारण उसमे प्रच्छन्न रूप से ईश्वर की भावना का समावेश हो गया था।

३. हीनयान ज्ञानप्रधान और निवृत्तिमार्गीय था, जब कि महायान का झुकाव भक्ति और प्रवृत्ति मार्ग की ओर था।

४ हीनयान मे प्रतिमा-पूजन का विधान नही था, जब कि महायान मे बोधिसत्व एव बुद्ध की मानव—मूर्ति का पूजन और उसके लिए पूजा—विधियो तथा अनुष्ठानो की व्यवस्था की गई थी।

५. हीनयानी वाड्मय की भाषा 'पालि' थी, जब कि महायानी ग्रथ हिंदू ग्रथो की भाँति प्राय सस्कृत भाषा मे रचे गये थे।

महायान की उपर्युक्त विशेषताओ से ज्ञात होता है कि वह उस पचरात्र—भागवत धर्म से बडा प्रभावित था, जो शुग नरेशो तथा गुप्त सम्राटो के प्रोत्साहन से उत्तर भारत का अत्यत लोकप्रिय धर्म बन गया था और जिसने पौराणिक हिंदू धर्म के रूप मे आत्म प्रकाश कर कालांतर मे इस देश के अधिकाश भाग को आलोकित किया था। डा० रामधारीसिंह ने लिखा है,—"महायान बौद्ध धर्म के हिंदूकरण का परिणाम था। असल मे महायान के भीतर से हिंदू धर्म ही अपनी बाहे खोल कर बौद्ध धर्म को अपने भीतर समेट रहा था[2]।"

सर्वास्तिवाद पर महायान की प्रतिक्रिया—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, मौर्य सम्राट अशोक के काल से मथुरामडल मे बौद्ध धर्म की थेरवादी (हीनयानी) शाखा 'सर्वास्तिवाद' का व्यापक प्रभाव था। जब वहाँ भागवत धर्म से प्रभावित महायान शाखा का अधिक प्रचार हो गया, तब सर्वास्तिवाद की शक्ति क्षीण होने लगी थी। इस सबध मे मथुरा से उपलब्ध बौद्ध अवशेषो मे से

(१) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १०५

(२) संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ १५५

एक परगहा (स्तभ शीर्ष) के उल्लेख महत्वपूर्ण है, जो शक क्षत्रप राजुवुल और उसके पुत्र शोडास के काल के है। इस समय वह मूल परगहा लदन के ब्रिटिश सग्रहालय मे है, किंतु उसकी एक प्रतिकृति मथुरा सग्रहालय मे रखी हुई है। इस पर खरोष्ठी लिपि मे अकित लेखो मे मथुरा के सर्वास्तिवादी बौद्धो का उनके विरोधी महायानी महासाघिको से शास्त्रार्थ होने का उल्लेख है[1]। उक्त शास्त्रार्थ के लिए सर्वास्तिवादियो ने अपनी सहायतार्थ वर्तमान अफगानिस्तान के निकटवर्ती 'नगर' नामक स्थान से एक बौद्ध विद्वान को बुलावाया था। उस उल्लेख से सिद्ध होता है कि उस काल मे मथुरा मे सर्वास्तिवादी सप्रदाय शक्तिहीन हो गया था।

मूर्ति-पूजा और मूर्ति-निर्माण—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, शुग काल मे भागवत और जैन धर्मो मे मूर्ति-पूजा एव मूर्ति-निर्माण का प्रचलन हो जाने पर भी थेरवादी सर्वास्तिवादियो के विरोध के कारण बौद्ध धर्म उससे अछूता रहा था। इस काल मे पचरात्र–भागवत धर्म के प्रभाव से भक्तिवाद की ऐसी लहर उठी कि जिसके कारण सर्वास्तिवादियो सहित सभी थेरवादी (हीनयानी) सप्रदायो का मूर्ति–पूजा विषयक विरोध विफल हो गया था। फलत कुषाण काल मे बौद्ध धर्म के नवीन महायान सप्रदाय मे बुद्ध की मूर्ति-पूजा आरभ हो गई और उसके लिए मानव-मूर्तियो का निर्माण किया जाने लगा। मथुरा के मूर्ति-निर्माता भागवत और जैन धर्मो की देव-मूर्तियो का निर्माण कर देशव्यापी ख्याति प्राप्त कर चुके थे, अत उन्होने बौद्ध मूर्तियो के निर्माण मे भी पहल की थी। वे भगवान् विष्णु और जैन तीर्थंकरो के अनुकरण पर बोधि-सत्वो की भी सुदर मूर्तियाँ बनाने लगे, जिनके लिए कुषाण सम्राट कनिष्क ने उन्हे बडा प्रोत्साहित किया था। मूर्ति-पूजा का प्रचलन होने से महायानियो को अपने मत को जन साधारण का लोक धर्म बनाने मे पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई थी।

बौद्ध मूर्तियो का आरभ ध्यानी बुद्ध की मूर्तियो द्वारा हुआ था। 'बोधिचित्त' की ५ अवस्थाओ की कल्पना ५ ध्यानी बुद्धो द्वारा की गई है, जिनके नाम वैरोचन, रत्नसभव, अमिताभ, अमोघशक्ति और अक्षोभ्य है। उन पाँचो की ध्यानमग्न, तापसी वेश युक्त और पद्मासीन मूर्तियाँ है, जिनके स्वरूप का स्पष्टीकरण उनके हाथो की मुद्राओ से किया गया है। ध्यानी बुद्धो से दिव्य बोधि-सत्वो की और अनेक देवी-देवताओ की उत्पत्ति मानी गई है। इस प्रकार पहिले ध्यानी बुद्ध, बोधिसत्व और उनकी शक्तियो की मूर्तियाँ बनाई गई, और फिर भगवान् बुद्ध की मानुषी मूर्ति का निर्माण किया गया था।

मथुरा मे निर्मित कुषाण कालीन बौद्ध मूर्तियो की प्रसिद्धि समस्त भारत मे हुई थी। बौद्ध धर्म के सभी सप्रदायो के अनुयायी गण अपनी-अपनी मान्यताओ के अनुसार मथुरा मे मूर्तियो का निर्माण कराते थे और उन्हे विविध स्थानो मे ले जाकर प्रतिष्ठित करते थे। इस प्रकार की मूर्तियाँ कौशाबी, श्रावस्ती, अहिछत्रा, सारनाथ, साची आदि सभी बौद्ध केन्द्रो मे मिली है। गुप्त कालीन बौद्ध मूर्तियाँ सख्या और सौंदर्य दोनो दृष्टियो से उल्लेखनीय है। उनमे बुद्ध की एक खडी आकृति की मूर्ति भारत की सुदरतम कला–कृतियो मे मानी जाती है। यह मूर्ति (ए ५) मथुरा सग्रहालय की अनुपम निधि है।

---

(१) उत्तर प्रदेश मे बौद्ध धर्म का विकास, पृष्ठ २७७

नाग-गुप्त काल (सं० २३३–सं० ६०० तक) की स्थिति—मथुरा राज्य के नागवंशीय नरेश शैव धर्म के और मगध के गुप्त सम्राट भागवत धर्म के अनुयायी थे, किंतु उनके शासन काल मे सभी धर्मों की उन्नति हुई थी। फलत बौद्ध धर्म भी उस काल मे उन्नत अवस्था मे था। सुप्रसिद्ध गुप्त सम्राट चद्रगुप्त विक्रमादित्य ने अन्य धर्मों के साथ ही साथ बौद्ध धर्म को भी प्रोत्साहन प्रदान किया था। उस समय मथुरा राज्य मे बौद्ध धर्म की कैसी स्थिति थी, उसका कुछ परिचय फाह्यान के यात्रा-विवरण से मिलता है।

फाह्यान का विवरण—चीनी यात्री फाह्यान भारत के बौद्ध तीर्थो की यात्रा करता हुआ स० ४५० के लगभग मथुरा आया था और यहाँ पर प्राय॰ एक मास तक ठहरा था। उसने चद्रगुप्त विक्रमादित्य कालीन मथुरा राज्य के बौद्ध धर्म की स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है,—"यहाँ के छोटे-वडे सभी लोग बौद्ध धर्म को मानते है। शाक्य मुनि के बाद से यहाँ के निवासी इस धर्म का पालन करते आ रहे है। मथुरा नगर, उसके आस–पास तथा यमुना नदी के दोनो ओर २० सघाराम है, जिनमे ३००० भिक्षु निवास करते है। ६ बौद्ध स्तूप भी है। सारिपुत्र के सन्मान मे बना हुआ स्तूप सबसे अधिक प्रसिद्ध है। दूसरा स्तूप आनद की तथा तीसरा मुद्गल–पुत्र की याद मे बनाया गया है। शेप तीनो क्रमश अभिधर्म, सूत्र और विनय के लिए निर्मित किये गये है, जो बौद्ध धर्म के तीन अग (त्रिपिटक) है[1]।"

फाह्यान ने मथुरा राज्य के सभी धर्मों की स्थिति का यथार्थ वर्णन न करते हुए केवल बौद्ध धर्म की स्थिति पर ही प्रकाश डाला है, और वह भी वास्तविक रूप मे नही। उसके ये दोनो कथन सर्वाश मे ठीक नही है कि मथुरा के सभी लोग बौद्ध धर्म को मानते है और वे भगवान् बुद्ध के बाद से ही उस धर्म का पालन करते आ रहे है। जैसा हम पहले लिख चुके है, भगवान् बुद्ध के काल मे बौद्ध धर्म को यहाँ पर उल्लेखनीय सफलता नही मिली थी। उस काल मे मथुरा मे अन्य धर्मों के प्रति ही लोगो की आस्था थी। फाह्यान के समय मे भी मथुरा के सभी लोग बौद्ध धर्म को नही मानते थे। वहाँ पर उस काल मे भागवत धर्म और जैन धर्म के मानने वाले भी पर्याप्त सख्या मे विद्यमान थे। फाह्यान के वर्णन से केवल इतना ही समझा जा सकता है कि उस काल मे मथुरा मे बौद्ध धर्म की स्थिति अच्छी थी।

हूणो के आक्रमण का प्रभाव—गुप्त शासन के अतिम काल मे विदेशी हूणो का भारत पर आक्रमण हुआ था। उनके क्रूर कृत्यो का दुष्परिणाम मथुरा राज्य को भी सहन करना पड़ा था। हूणो में धार्मिक और सास्कृतिक चेतना नही थी। उन्होने बौद्ध भिक्षुओ का सहार कर बौद्ध इमारतो को नष्ट–भ्रष्ट किया था। उस समय मथुरा की भारी लूट हुई थी, किंतु यहाँ की इमारतो को अधिक क्षति नही पहुँची थी। हूणो ने बौद्ध सघाराम जैसी वडी इमारतो का स्पर्श न कर कदाचित छोटे स्तूपादि ही नष्ट किये थे, क्यो कि उनके आक्रमण के वाद जब हुएनसाग मथुरा मे आया था, तब भी उसने यहाँ पर २० संघाराम देखे थे, जो फाह्यान के समय मे भी थे।

हूणो के आक्रमण के पश्चात् मथुरा राज्य मे बौद्ध धर्म की अवनति होने लगी थी। उस समय सर्वास्तिवाद सहित सभी थेरवादी सप्रदाय प्रभाव शून्य हो गये थे। वह युग महायानी सप्रदायो की उन्नति का था, किंतु मथुरा राज्य मे वे भी अपना अधिक प्रभाव स्थापित नही कर सके थे।

---

(१) पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ट ८२९

२. जैन धर्म

शक-कुषाण काल (वि पू स० ४३ से विक्रम स० २३३ तक) की स्थिति—उस समय मथुरा मे जैन धर्म की वडी उन्नति हुई थी। यहाँ के ककाली टीला की खुदाई से प्राप्त बहुसख्यक पुरातात्विक अवशेषो से सिद्ध होता है कि कुषाण काल से कई शताब्दी वाद तक मथुरा राज्य जैन धर्म का वडा प्रसिद्ध केन्द्र रहा था[1]। उस काल मे यहाँ के प्राचीन 'देव निर्मित स्तूप' के अतिरिक्त अन्य स्तूप, चैत्य, मदिर, देवालय भी वनाये गये थे, और उनमे आयागपट्टो के अतिरिक्त तीर्थकरो एव देवी–देवताओ की मूर्तियो को प्रतिष्ठित किया गया था। ककाली टीला के साथ ही साथ चौरासी, माता का मठ, जमालपुर टीला, शीतला घाटी, वलभद्र कुड, अर्जुनपुरा आदि मथुरामडल के विविध स्थानो से जो जैन धर्म के प्राचीन कलावशेष मिले है, वे उसी काल के है। उनसे ज्ञात होता है कि उस समय उन सभी स्थानो मे जैन धर्म का वडा प्रभाव था। 'वृहत्कल्प सूत्र भाष्य' (१-१७७४) से ज्ञात होता है कि उस काल मे मथुरा नगर अथवा उसके निकटवर्ती स्थानो मे जो जैन अथवा अजैन इमारते वनाई जाती थी, उनके स्थायित्व के लिए उनके आलो मे अथवा समीप के चौराहो पर 'मगल चैत्य' बना कर अर्हत् प्रतिमाओ की स्थापना की जाती थी। उस समय के लोगो का विश्वास था कि ऐसा न करने से वे इमारते क्षति–ग्रस्त हो सकती है। उक्त उल्लेख से भी जैन धर्म के तत्कालीन प्रभाव का परिचय प्राप्त होता है।

उस काल की जैन प्रतिमाएँ अधिकतर अभिलिखित मिली है। उन पर जो लेख अकित है, वे प्राकृत मिश्रित सस्कृत भाषा और ब्राह्मी लिपि मे है। उनमे यहाँ के जैन सघ से सबधित विभिन्न गणो, गच्छो, कुलो और शाखाओ के नामो का उल्लेख हुआ है। उनसे मुनियो, आर्याओ, श्रावक–श्राविकाओ के साथ ही साथ विविध पदो, व्यवसायो और धधो से सबधित उन बहुसख्यक नर-नारियो के नामो का पता चलता है, जिन्होने यहाँ पर मदिर–मूर्तियो की प्रतिष्ठा की थी। उक्त लेखो से एक विशेष बात यह ज्ञात होती है कि पुरुषो की अपेक्षा महिलाओ ने उस काल मे जैन धर्म के प्रति अधिक श्रद्धा दिखलाई थी, और धर्मार्थ दान देने मे वे पुरुषो से भी आगे रही थी। ऐसी महिलाओ मे कुलीन श्राविकाओ के साथ ही साथ छोटे धधो की स्त्रियाँ भी थी। 'उदाहरणार्थ, माथुरक लवदास की भार्या तथा फल्गुयश नर्तक की स्त्री शिवयशा ने एक-एक सुदर आयागपट्ट वनवाए, जो इस समय लखनऊ सग्रहालय मे है। इसी प्रकार का एक अत्यत मनोहर आयागपट्ट (क्यू २) मथुरा सग्रहालय मे भी है, जिसे वसु नाम की वेश्या ने, जो लवणशोभिका की लडकी थी, दान मे दिया था। वेणी नामक एक श्रेष्ठी की धर्मपत्नी कुमारमित्रा ने एक सर्वतोभद्रिका प्रतिमा की स्थापना करवाई और सुचिल की स्त्री ने शातिनाथ भगवान् की प्रतिमा दान मे दी थी। मणिकार जयभट्टि की दुहिता तथा लोहवणिज फल्गुदेव की धर्मपत्नी मित्रा ने वाचक आर्यसिंह की प्रेरणा से एक विशाल जिन-प्रतिमा का दान किया था। आचार्य वलदत्त की शिष्या तपस्विनी कुमारमित्रा ने एक तीर्थकर-मूर्ति की स्थापना करवाई थी। ग्रामिका जयनाग की कुटुम्बिनी तथा ग्रामिक जयदेव की पुत्रवधू ने शकाब्द ४० (वि स १७५) मे एक शिलास्तभ का दान किया था। गुहदत्त की पुत्री तथा धनहस्त की पत्नी ने धर्मार्थ नामक एक श्रमण के उपदेश से एक शिलापट्ट का दान किया,

---

(१) सन् १८८६–९१ की 'आरक्योलोजीकल सर्वे रिपोर्ट' देखिये।

जिस पर स्तूप-पूजा का दृश्य अकित है। श्राविका दत्ता ने शकाब्द २० (वि स १५५) मे वर्धमान प्रतिमा को प्रतिष्ठापित किया था। राज्यवसु की स्त्री तथा देविल की माता विजयश्री ने एक मास का उपवास करने के बाद शकाब्द ५० (वि स १८५) मे भगवान् वर्धमान की प्रतिमा की स्थापना कराई थी। इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते है, जिनसे इस बात का स्पष्ट पता चलता है कि प्राचीन मथुरा मे जैन धर्म की उन्नति मे महिलाओ का बहुत बडा भाग था[1]।'

मथुरा के प्राचीन 'देवनिर्मित स्तूप' मे इस काल मे तीर्थंकर सुव्रतनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई थी। उसे कट्टिय गण की वईर शाखा के आचार्य वृद्धिहस्ति ने श्राविका दिना के दान से निर्मित करा कर प्रतिष्ठापित किया था। इसका उल्लेख ककाली टीला की खुदाई मे प्राप्त एक शिला-लेख मे हुआ है, जो अब लखनऊ सग्रहालय (जे २०) मे सुरक्षित है। उस अभिलिखित शिलापट्ट पर मूर्ति-प्रतिष्ठा का काल शकाब्द ७९ (वि स २१४) और उसका नाम 'बोद्व स्तूप' अकित है[2]। यदि उक्त शिलालेख के शकाब्द को ठीक समझा जाय, तो उस स्तूप मे मूर्ति की प्रतिष्ठा अतिम कुषाण सम्राट वासुदेव के शासन काल मे हुई होगी। किंतु डा० ज्योतिप्रसाद जैन के मतानुसार शकाब्द के यथार्थ पाठ से उक्त मूर्ति की प्रतिष्ठा कुषाण काल से पहिले शक काल मे ही हो गई थी[3]।

धार्मिक सिद्धातो का लेखन—मथुरामडल के धार्मिक विद्वानो की ज्ञान-गरिमा के साथ ही साथ उनकी भाषा विषयक विशिष्टता की भी दीर्घकालीन ख्याति रही है। मथुरा के बौद्ध धर्माचार्य उपगुप्त द्वारा अशोक को धार्मिक उपदेश दिये जाने का उल्लेख गत पृष्ठो मे किया जा चुका है। अशोक का परवर्ती जैन धर्मानुयायी कलिगराज खारवेल भी मथुरा के जैन विद्वानो की भाषा विषयक विशिष्टता से प्रभावित हुआ था। डा० शिवप्रसाद सिंह ने उक्त प्रभाव का उल्लेख करते हुए लिखा है,—"हाथीगुफा वाले लेखो की भाषा मे मध्यदेशीय प्रभाव देख कर लोगो ने निष्कर्ष निकाला था कि ये लेख खारवेल के उन जैन गुरुओ की शौरसेनी भाषा मे थे, जो मथुरा से आये थे[4]।"

जैन धर्म के मूल सिद्धात भगवान् महावीर द्वारा कथित अर्धमागधी प्राकृत भाषा मे है, जिन्हे 'जिन वाणी' अथवा 'आगम' कहा जाता है। वैदिक सहिताओ की भाँति जैन आगम भी पहिले श्रुत रूप मे थे। उपगुप्त की प्रेरणा से अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ अपने साम्राज्य के विविध स्थानो मे जो धर्म-लेख लिखवाये थे, उनसे जैन धर्म के विद्वानो को भी आगमो को लिखित रूप मे सुरक्षित करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। किंतु जैनाचार्यो के प्रबल विरोध के कारण उन्हे लिपिबद्ध नही किया जा सका था। जब कई शताब्दियो तक अन्य स्थानो के जैनाचार्य आगमो को लिपिबद्ध नही कर सके, तब मथुरामडल के जैन विद्वानो ने उक्त प्रश्न को उठाया, और 'सरस्वती आदोलन' द्वारा इस विषय का नेतृत्व किया था।

---

(१) ब्रज का इतिहास (दूसरा भाग), पृष्ठ १७–१८
(२) देवनिर्मित बोद्व स्तूप (ब्रज भारती, वर्ष ११ सख्या २), पृष्ठ ६
(३) मथुरा मे जैन धर्म का उदय और विकास (ब्रज भारती, वर्ष १५ सख्या २), पृष्ठ १२
(४) सूरपूर्व ब्रजभाषा, पृष्ठ ४८

सरस्वती आदोलन—विद्या-बुद्धि और ज्ञान-विज्ञान की अधिष्ठात्री देवी का नाम सरस्वती है। इसे ब्राह्मी, भारती, भाषा और गीर्वाग्वाणी भी कहते है,—"ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती'। इसके भव्य स्वरूप की कल्पना इसके महत्व के अनुरूप ही की गई है। इस वागीश्वरी-वाग्देवी की काति कुद, इदु, तुपार, चपक, कुमुद, कर्पूर, दुग्ध तथा श्वेत कमल के समान उज्ज्वल और धवल है। इसका भव्य वदन श्वेत चदन से चर्चित है। इसके वस्त्र शुभ्र है, गले मे मुक्ता और स्फटिक के हार है। यह श्वेत पद्म पर अथवा श्वेत हस पर विराजमान है। इसके एक हाथ मे पुस्तक और दूसरे मे वीणा है, जो साहित्य-सगीत और ज्ञान-विज्ञान के प्रतीक है। यह शुद्ध सत्वमयी, तपोमयी, प्रज्ञारूपिणी, शक्तिस्वरूपा, शारदा हे। इसके स्मरण मात्र से अज्ञानाधकार का लोप और विद्या-वुद्धि के प्रकाश का उदय होता है। इसे वेदो मे जगदम्बा कहा गया है। इसके अवतरण की तिथि माघ शुक्ला ५ मानी जाती है, जिसे 'श्री पचमी' अथवा 'वसत पचमी' कहते है।

यद्यपि सरस्वती की मूल कल्पना प्राचीन है, तथापि इसके स्वरूप का विकास और पूजन का प्रचार जैन धर्म की देन है। मथुरा के जैन विद्वानो को यह श्रेय प्राप्त है कि उन्होने परपरागत श्रुत रूपा 'जिन वाणी' को लिखित रूप प्रदान करने के लिए 'सरस्वती आदोलन' चलाया था, और मथुरा के मूर्ति-कलाकारो ने सर्वप्रथम पुस्तकधारिणी सरस्वती देवी की प्रतिमाएँ निर्मित कर उस आदोलन को मूर्त्त रूप प्रदान किया था। 'नागहस्ति आचार्य द्वारा प्रस्थापित सरस्वती की जो लेखाकित खडित मूर्ति ककाली टीले से प्राप्त हुई हे, वह न केवल जैन सरस्वती की ही सर्व प्राचीन उपलब्ध मूर्ति हे, वरन् अन्य धर्मो द्वारा निर्मित उक्त देवी की ज्ञात प्रतिमाओ मे भी सर्वप्राचीन मानी जाती है[1]।'

'मथुरा से प्रचारित उस सरस्वती आदोलन का यह परिणाम हुआ कि दक्षिण एव उत्तर भारत के कुदकुद, कुमारनदि, शिवार्य, विमल सूरि, उमा स्वामी आदि अनेक जैनाचार्य विक्रम की प्रथम शताब्दी मे ही ग्रथ रचना मे सलग्न हो गये और आगमो के सकलन की आवाज बुलद करने लगे। अत प्रथम शताब्दी मे ही दक्षिणापथ के जैन साधुओ ने अपने अवशिष्ट आगम ज्ञान को सकलित एव लिपिवद्ध कर डाला तथा आगमिक ज्ञान के आधार से द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग एव प्रथमानुयोग के भी प्रमुख ग्रथ रचने आरभ कर दिये[2]।' इस प्रकार जैन आगमो को सकलित और लिपिवद्ध करने तथा ग्रथ–निर्माण कराने का कार्य पहिले दिगवर विद्वानो ने किया था।

नाग-गुप्त काल (स० २३३ से स० ६०० तक) की स्थिति—कुषाणो के पश्चात् मथुरा राज्य पर पहिले नाग राजाओ का और फिर गुप्त सम्राटो का शासन हुआ था। उस काल मे उत्तरी–दक्षिणी विचार–भेद ने पुष्ट होकर दिगवर-श्वेतावर सप्रदाय-भेद को और भी स्पष्ट कर दिया था। मथुरा के जैन साधु और श्रावक वर्ग अपने को तटस्थ रखते हुए उस भेद-भाव को कम करने की चेष्टा करते रहे। उस काल मे 'मथुरा के अनेक तत्कालीन जैन गुरु दिगवर आम्नाय मे मान्य हुए, तो कितने ही श्वेतावर आम्नाय मे, और कई एक यथा आर्यमखु, नागहस्ति आदि दोनो ही सप्रदायो मे सम्मान्य हुए थे। मथुरा मे ही उसी काल मे सभवतया कन्हे श्रमण के नेतृत्व मे उस

---

(१) **मथुरा मे जैन धर्म का उदय और विकास** (ब्रज भारती, वर्ष १२ अक २) पृष्ठ ११
(२) **वही** ,, ,, (,, ,,) पृष्ठ ११

अर्ध-फन्लिक सप्रदाय का अस्थायी उदय हुआ, जो एक छोटा सा वस्त्रखड ग्रहण करने का विधान करके दोनो दलो के वीच समन्वय करना चाहता था[1]। उस काल मे भारतीय नर-नारियो के अतिरिक्त अनेक विदेशियो ने भी जैन धर्म अगीकार किया था।

गुप्त काल मे धार्मिक उन्नति के साथ ही साथ विविध विद्याओ और कलाओ की भी वडी प्रगति हुई थी। उस काल के लेखो और लेखाकित मूर्तियों से जैन धर्म की अच्छी स्थिति का वोध होता है। इस धर्म मे मान्य यक्ष-यक्षिणियो और शासन-देवियो के साथ जैन तीर्थकरो की कुछ अत्यत कलापूर्ण मूर्तियाँ उसी काल मे निर्मित हुई थी। मथुरा के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि कुमार गुप्त के शासन काल मे विद्याधरी शाखा के जैनाचार्य दतिल की आज्ञा से श्यामाढ्य नामक श्रावक ने गुप्त स० ११३ (वि स ४८३) मे यहाँ पर जैन प्रतिमा की प्रतिष्ठा की थी।

'माथुरी वाचना'—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, मथुरा के 'सरस्वती आदोलन' के कारण दिगवर सप्रदाय के अनेक आचार्य वहुत पहिले ही जैन आगमो को सकलित कर उन्हे लिपिवद्ध करने मे लग गये थे। श्वेतावर सप्रदाय वाले प्रचुर काल तक उसका विरोध करते रहे, किंतु वाद मे उनके कतिपय विद्वान भी उसकी आवश्यकता समझने लगे थे। स ३७० वि के लगभग मथुरा मे श्वेतावर यतियो का एक सम्मेलन हुआ, जिसकी अध्यक्षता आर्य स्कदिल ने की थी। उक्त सम्मेलन मे आगमो का पाठ निश्चित कर उनकी व्याख्या की गई थी, जिसे 'माथुरी वाचना' कहा जाता है। उसी समय आगमो को लिपिवद्ध करने पर भी विचार किया गया, किंतु भारी मतभेद होने के कारण तत्सवधी निर्णय स्थगित करना पडा। वाद मे विक्रम की छठी शताब्दी के आरभ मे सुराष्ट्र के वल्लभी नगर मे देवर्धिगणी क्षमा श्रमण की अध्यक्षता मे श्वेतावर आगमो को सर्वप्रथम सकलित एव लिपिवद्ध किया गया था। गुजरात के श्वेतावर साधु जिनप्रभ सूरि कृत 'मथुरापुरी कल्प' मे लिखा है, जव शूरसेन प्रदेश मे द्वादशवर्षीय भीषण दुर्भिक्ष पडा था, तव आर्य स्कदिल ने सघ को एकत्र कर आगमो का अनुयोग किया था। मथुरा के प्राचीन देवनिर्मित स्तूप मे एक पक्ष के उपवास द्वारा देवता की आराधना कर जिनप्रभ श्रमण ने दीमको से खाये हुए त्रुटित 'महानिशीथ सूत्र' की पूर्ति की थी[2]।

धार्मिक साहित्य—जैन धर्म का प्राचीन साहित्य अर्धमागधी प्राकृत मे है, जिसे 'जैन प्राकृत' कहा जाता है। वाद का साहित्य सस्कृत, अपभ्रंश और प्रातीय भाषाओ मे रचा हुआ उपलब्ध है। प्राचीन साहित्य मे प्रमुख स्थान आगमो का है। उनके पश्चात् पुराणो का महत्व माना जाता है। पुराणो मे जैन तीर्थकरो की महिमा का वर्णन किया गया है, किंतु उनके साथ राम और कृष्ण का भी उल्लेख हुआ है। जैन धर्म मे राम को 'पद्म' (पउम) कहा गया है, और कृष्ण को वासुदेव के नाम से तीर्थकर अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) का भाई वतलाया गया है। राम-चरित्र मे सबधित सबसे प्राचीन रचना 'पउम चरित्र' है, और कृष्ण चरित्र की 'वसुदेव हिंडि'। दोनो प्राकृत भाषा मे है, जिनमे से प्रथम पौराणिक रचना है, और द्वितीय एक चम्पू काव्य है। दोनो ग्रंथो मे राम और कृष्ण के चरित्र वैष्णव दृष्टिकोण से कुछ भिन्न जैन दृष्टिकोण के अनुसार लिखे गये है। 'वसुदेव

(१) मथुरा में जैन धर्म का उदय और विकास (ब्रज भारती, वर्ष १५ अक २), पृष्ठ १०
(२) वही ,, ,, (,, ,,), पृष्ठ १८

हिंडि' की रचना गणिवाचक सघदास ने ५वी शती के लगभग की थी। इसमे प्रधानतया वसुदेव का चरित्र वर्णित है, किंतु प्रसगानुसार उनके पुत्र वासुदेव कृष्ण का भी इसमे उल्लेख किया गया है। इसकी प्रस्तावना मे मथुरा मे तपस्या कर निर्वाण प्राप्त करने वाले अतिम कैवल्यज्ञानी जम्बूस्वामी का चरित्र भी है। इसके प्रासगिक उपाख्यान मे कुबेरसेना नामक मथुरा की एक गणिका का विचित्र वर्णन हे, जिसमे सासारिक सबधो पर तीव्र व्यग करते हुए वैराग्य का उपदेश दिया गया है[1]।

हूणो के आक्रमण का प्रभाव—गुप्त शासन के अतिम काल मे जब मथुरा राज्य पर असभ्य हूणो का आक्रमण हुआ था, तब उससे जैन धर्म की बडी क्षति हुई थी। उस काल मे मथुरा स्थित ककाली टीला के प्रसिद्ध जैन केन्द्र मे इस धर्म के अनेक स्तूप और मदिर-देवालय थे, जिनमे तीर्थकरो एव देवी-देवताओ की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित थी। हूणो के आक्रमण से उन सबको बडी क्षति पहुँची थी। वहाँ का सुप्रसिद्ध देवनिर्मित स्तूप' भी उस काल मे नष्टप्राय हो गया था। उस बर्बर आक्रमण के फलस्वरूप उस प्राचीन जैन केन्द्र का महत्व एक बार समाप्त सा हो गया था। पुरातत्व विभाग ने जब उस स्थान की खुदाई कराई, तब वहाँ से मौर्यकाल से लेकर गुप्त काल के बाद तक की १५०० जैन मूर्तियाँ, १०० शिलालेख और बहुसख्यक मदिर-देवालयो के कलावशेष प्राप्त हुए थे। भारत मे किसी अन्य स्थान से जैन धर्म की इतनी अधिक प्राचीन सामग्री उपलब्ध नही हुई है।

३. वैदिक धर्म

शक काल से गुप्त काल (वि पू स० ४३ से विक्रम स० ६००) तक की स्थिति—इस काल मे प्राचीन वैदिक धर्म का प्रचलन काफी कम हो गया था, फिर भी प्राचीन धार्मिक विचारो के रूढिवादी घरानो मे उसके प्रति आस्था बनी रही थी। उनमे वैदिक वाड्मय का स्वाध्याय, वैदिक धर्म का परिपालन और वैदिक विधि-विधान के अनुसार आचरण बराबर होता रहा था। वैदिक यज्ञो का प्रचलन उस काल मे जारी था, किंतु उन्हे कतिपय राजा–महाराजा और धनाढ्य व्यक्ति ही कर पाते थे। यज्ञ के अनतर प्रभूत दान-दक्षिणा देने और यज्ञ-स्थान पर यूप (बलि-स्तभ) की स्थापना करने का नियम था। यज्ञो मे जिन पशुओ की बलि दी जाती थी, वे उन यूपो से बाँधे जाते थे। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के अनुसार यूप इद्र के वज्र का प्रतीक है, जिसे यज्ञ के अत मे प्रतिष्ठित करना आवश्यक बतलाया गया है[2]। आरभ मे वे यूप काष्ठ-स्तभ होते थे, जिन्हे ऋग्वेद (१, १३, २४–५) के अनुसार बिल्व, खदिर, पलाश, उदबर, देवदारु आदि वृक्षो की लकडी से बनाया जाता था[3]। बाद मे उन्हे पाषाण का भी बनाया जाने लगा था। उन पर यज्ञकर्त्ता के नाम और यज्ञ किये जाने की तिथि का उल्लेख किया जाता था। उस काल के काष्ठनिर्मित यूप नष्ट हो जाने के कारण दो-एक ही मिले है[4], किंतु पाषाण निर्मित यूप पर्याप्त सख्या मे उपलब्ध हुए है। उन पर उत्कीर्ण लेखो से जो सूचनाएँ मिलती हे, वे तत्कालीन वैदिक धर्म और उसकी यज्ञ–विधि पर महत्व-पूर्ण प्रकाश डालती हे।

---

(१) मथुरा का एक विचित्र प्रसग (ब्रज भारती, वर्ष १६ अक ४), पृष्ठ २१-२५

(२) एपिग्राफिया इडिका, २३, पृष्ठ ४२

(३) सस्कृत इगलिश डिक्शनरी (मोनियर विलियम), पृष्ठ ८५६

(४) ऐसा एक अभिलिखित यूप नागपुर सग्रहालय मे सुरक्षित है, जो प्रथम शताब्दी का है।

मथुरा नगर के सन्मुख यमुना पार के वर्तमान ईसापुर गाँव से कुषाण काल के दो पाषाण-निर्मित यूप-स्तभ प्राप्त हुए हैं, जो मथुरा सग्रहालय मे रखे हुए हैं। इनमे से एक अभिलिखित यूप कुषाण शासक वासिष्क के राज्य काल (विक्रम स० १५६–स० १६३) का है। उसके अभिलेख से ज्ञात होता है कि वासिष्क के शासन-काल के २४ वे वर्ष स० १८३ मे मथुरा के भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण रुद्रल के पुत्र द्रोणल ने वहाँ पर 'द्वादशरात्रीय यज्ञ' किया था[1]।

भरतपुर राज्यातर्गत बयाना के निकटवर्ती विजयगढ नामक स्थान से गुप्त काल का एक यूप-स्तभ प्राप्त हुआ है। उसके लेख से ज्ञात होता है कि उसे यशोवर्धन के सुपुत्र विष्णुवर्धन द्वारा पुडरीक यज्ञ किये जाने के अनतर 'कृत' (विक्रम) स० ४२८ मे प्रतिष्ठित किया गया था। श्री रत्नचद्र अग्रवाल ने उक्त यूप–स्तभ के साथ ही साथ और भी कई यूपो का विवरण प्रकाशित किया है[2]। वे सभी यूप नाग–गुप्त काल के है और पूर्वी राजस्थान के विभिन्न स्थानो से उपलब्ध हुए हैं। उनके लेखो से ज्ञात होता है कि वे 'षष्ठिरात्र', 'त्रिरात्र' आदि यज्ञो के उपलक्ष मे प्रतिष्ठित किये गये थे। पूर्वी राजस्थान के उक्त स्थानो मे उस काल मे वैदिक धर्म प्रचलित था, जिस पर निकटस्थ मथुरा राज्य के धार्मिक वातावरण का प्रभाव रहा होगा।

४. भागवत धर्म

शक काल (वि पू सं० ४३ से वि. सं० ६७ तक) की स्थिति—इस काल मे मथुरा राज्य पर जिन शक क्षत्रपो का राज्याधिकार रहा था, उनमे से अधिकाश बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। फलत उनके द्वारा शुगो के समान भागवत धर्म को राज्याश्रय प्रदान नही किया गया, फिर भी उनके शासन मे इस धर्म की प्रगति मे अतर नही आया था। इसका प्रमाण इस धर्म के वे देवस्थान हैं, जो इसी काल मे मथुरा राज्य मे निर्मित किये गये थे। उनमे से अभी तक केवल दो के पुरातात्विक प्रमाण मिले हैं, किंतु उनका भी बडा ऐतिहासिक महत्व है। इसका कारण यह है कि वे भागवत धर्म के ज्ञात मदिर-देवालयो मे सबसे प्राचीन थे। उनमे से एक मोरा गाँव स्थित पच वृष्णि वीरो का 'देवगृह' था, और दूसरा कृष्ण-जन्मभूमि का वासुदेव 'महास्थान'। यहाँ पर उन दोनो का सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

पंच वृष्णि वीरो का 'देवगृह'—मथुरा नगर से ७ मील पश्चिम की ओर मोरा नामक एक छोटा सा गाँव है। वहाँ से बडे आकार की एक अभिलिखित शिला और कई खडित मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। शिला के अभिलेख से ज्ञात होता है कि शक महाक्षत्रप राजुवुल के पुत्र शोडास के शासन काल (वि. पू स० २३ से वि पू स० १) मे तोषा नामक महिला ने उक्त स्थल पर एक अनुपम दर्शनीय शैल देवगृह (पाषाणनिर्मित देवालय) बनवाया था, और उसमे भागवत पच वृष्णि वीरो की मूर्तियाँ (अर्चाएँ) प्रतिष्ठित की थी। उपलब्ध शिला-खड एव खडित मूर्तियाँ उसी देवालय के और उसमे प्रतिष्ठित मूर्तियो के अवशेष हैं, जो मथुरा सग्रहालय (ई २२) मे सुरक्षित हैं।

---

(१) **मथुरा संग्रहालय के अभिलेख** (उ. प्र. हि सो जरनल, जिल्द २४–२५), पृष्ठ १३६

(२) **राजस्थान के यूप-स्तंभ तथा वैदिक यज्ञ** (ना. प्र. पत्रिका, वर्ष ५६ अक २), पृष्ठ ११६

उक्त मूर्तियो की पहिचान के सबध मे विद्वानो ने विभिन्न मत प्रकट किये है। डा० लूडर्स और डा० अल्सडोर्फ का मत था कि वे मूर्तियाँ जैन धर्म मे मान्य वृष्णिवशीय पच महावीर बलदेव, अक्रूर, अनाधृष्टि, सारण और विदूरथ की है[1]। किंतु डा० जितेन्द्रनाथ बनर्जी ने 'वायु पुराण' के प्रमाण से बतलाया है कि वे मूर्तियाँ सकर्पण, वासुदेव, प्रद्युम्न, साम्ब और अनिरुद्ध की है[2]। जब अभिलेख मे स्पष्ट रूप मे उन मूर्तियो को भागवत वृष्णि वीरो की बतलाया गया है,—'भगवता वृष्णीना पचवीराणा प्रतिमा'—तब उन्हे जैन धर्म से सबधित मानने की कोई तुक नही है। वे मूर्तियाँ पचरात्र–भागवत धर्म के व्यूहवाद से सबधित सकर्पण–वासुदेवादि की ही है।

भगवान् वासुदेव का 'महास्थान'—महाक्षत्रप शोडास के शासन काल (वि पू स० २३ से वि पू स० १) मे कौशिकीपुत्र वसु ने भगवान् वासुदेव के 'महास्थान' (महामदिर) के लिए 'चतु शाल' (चार दीवारी), 'तोरण' (मुख्य द्वार) और 'वेदिका' (रेलिंग) का निर्माण कराया था। उसके तोरण का अभिलिखित पाषाण-खड मथुरा सग्रहालय मे सुरक्षित है। उसका लेख आरभिक ब्राह्मी लिपि एव सस्कृत भाषा मे है, और वह कुछ खडित हो गया है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने उसे इस प्रकार पढा है,—"वसुना भगव(तो वासुदे)वस्य महास्थान (चतु शा)ल तोरण वे(दिका प्रति)ष्ठापितो प्रीतो भ(वतु वासु)देव स्वामिस्य (महाक्षत्र)पस्य शोडास (स्य ˙) सवर्तयता।"। अर्थात्—भगवान् वासुदेव के महास्थान मे चतु शाल, तोरण और वेदिका वसु के द्वारा स्थापित की गई। वासुदेव प्रसन्न हो। स्वामी महाक्षत्रप शोडास का राज्य स्थायी हो।" उसके महत्व के सबध मे वासुदेवशरण जी का कहना है,—"भारतवर्ष मे अब तक मिले हुए सस्कृत लेखो मे भगवान् वासुदेव के महास्थान से सबध रखने वाला यह लेख सबसे पुराना है[3]।"

उक्त अभिलेख से ज्ञात होता है कि अब से दो हजार वर्ष से भी पहिले मथुरा मे भगवान् वासुदेव कृष्ण का मदिर विद्यमान था, जिसके लिए वसु ने तोरणादि का निर्माण कराया था। वह मदिर किस काल मे बना था, किसने बनवाया था और उसकी वासुदेव मूर्ति का क्या हुआ ? इन प्रश्नो के उत्तर देने वाले कोई प्रमाण अभी तक उपलब्ध नही हुए है। उस महास्थान का यह अभिलिखित तोरण-खड मथुरा मे किस स्थान से प्राप्त हुआ, इसका भी कोई उल्लेख मथुरा सग्रहालय मे नही है। इसके कारण विद्वानो को यह निश्चय करने मे कठिनाई हुई है कि वह महास्थान मथुरा मे किस स्थल पर बना था। डा० वासुदेवशरण जी का अनुमान है, यह तोरण–खड मथुरा के वर्तमान कटरा केशवदेव से मिला होगा और वासुदेव का महास्थान भी उसी स्थल पर बनाया गया होगा, क्यो कि 'कटरा ही अत्यत प्राचीन काल से कृष्ण–जन्मभूमि की तरह प्रसिद्ध रहा है। कृष्ण-मदिर का भी यही पुरातन स्थान होना चाहिए[4]।'

---

(१) मथुरा सग्रहालय के अभिलेख (उ प्र हि सो जनरल, जिल्द २४-२५), पृष्ठ १३०–१३२

(२) सकर्षणो वासुदेव प्रद्युम्न साम्ब एवच।
अनिरुद्धश्च पचैते वशवीरा प्रकिर्तिता ॥ (वायु० ९७, १–२)

(३) श्रीकृष्ण-जन्मभूमि या कटरा केशवदेव (पोद्दार अभिनदन ग्रथ), पृष्ठ ७५२

(४) पोद्दार अभिनदन ग्रथ, पृष्ठ ७५२

मथुरामंडल से बाहर विक्रमपूर्व प्रथम शताब्दी का एक शिलालेख नानाघाट (महाराष्ट्र) का है, जिसे शातवाहन वंशीय रानी नागनिका ने उत्कीर्ण कराया था। इसमे धर्म, इंद्र, सूर्य, यम, वरुण, कुबेर आदि देवताओ के साथ संकर्षण और वासुदेव के प्रति भी श्रद्धा व्यक्त की गई है। उस लेख से ज्ञात होता है कि उस काल मे भागवत धर्म का विस्तार दक्षिण की ओर हो गया था।

कुषाण काल (सं० ६७ – सं० २३३) की स्थिति—शक क्षत्रपो के पश्चात् मथुरा राज्य पर विदेशी कुषाण सम्राटो का आधिपत्य हुआ था। उन्होने भी शको की भाँति ही भारतीय संस्कृति और धर्मो को अंगीकार किया था। उनके शासन-काल मे निर्मित किसी वासुदेव मंदिर का उल्लेख नही मिलता है। इसका कारण बतलाते हुए सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री जायसवाल ने लिखा है कि कुषाण सम्राट बौद्ध धर्मावलंबी थे। उन्होने "बौद्ध धर्म के प्रति अपने कट्टर उत्साह के कारण अन्य धर्मो के देवस्थानो को नष्ट कर दिया था[1]।" जायसवाल जी ने अन्यत्र इस विषय पर विस्तार से लिखा है। उनका कथन है—"पवित्र अग्नि के जितने मंदिर थे, वे सब एक आरंभिक कुषाण शासक ने नष्ट कर डाले थे[2]।"

आरंभिक कुषाण शासको मे विम तक्षम शैव था और कनिष्क बौद्ध। जायसवाल जी के मतानुसार भागवत धर्म के देवस्थानो को नष्ट करने वाला बौद्ध धर्मानुयायी शासक शायद कनिष्क ही था। महाभारत मे मार्कण्डेय ऋषि द्वारा कलियुग के लक्षण बतलाते हुए जो कुछ कहा गया है, उससे भी बौद्ध धर्म द्वारा भागवत धर्म को क्षति पहुँचाने का संकेत मिलता है[3]। वैसे कनिष्क सांस्कृतिक रुचि सम्पन्न एक महान् सम्राट था। वह बौद्ध धर्म का अनुयायी होने के साथ ही साथ विद्या और कलाओ का भी बडा प्रोत्साहनकर्ता था। उसके शासन काल मे मथुरा राज्य की सभी क्षेत्रो मे उन्नति हुई थी।

वासुदेव कृष्ण की सबसे प्राचीन मूर्ति—अब तक उपलब्ध श्रीकृष्ण की मूर्तियो मे सबसे प्राचीन एक शिलापट्ट है, जो मथुरा के गायत्री टीला से प्राप्त हुआ है और इस समय मथुरा संग्रहालय (सं० १७–१३४४) मे सुरक्षित है। यह शिलापट्ट कुषाण काल का है, और इस पर श्रीकृष्ण के जन्म-काल का दृश्य उत्कीर्ण है। इसमे वसुदेव द्वारा शिशु कृष्ण को सिर पर रख कर यमुना पार करते हुए दिखलाया गया है। यह किसी भग्न 'प्रासाद' (देवस्थान) के तोरण या सिरदल का कोई खंडित भाग मालूम होता है। संपूर्ण शिलापट्ट किसी भागवत मंदिर मे लगा होगा, और उस पर कृष्ण-लीला के विविध दृश्य उत्कीर्ण होगे। बहुत संभव है, यह शिलापट्ट वसु द्वारा निर्मित उसी मंदिर का अवशेष हो, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, और जो बाद मे कुषाणो की भागवत धर्म के प्रति असहिष्णुता के कारण नष्ट कर दिया गया हो।

आरंभिक कुषाण सम्राट चाहे भागवत धर्म के विरोधी रहे हो, किंतु अंतिम सम्राटो का वैसा दृष्टिकोण नही जान पडता। सम्राट कनिष्क तो बौद्ध धर्म का अनुयायी और संभवत भागवत धर्म का विरोधी था, किंतु उसके उत्तराधिकारी हुविष्क और वासुदेव भागवत धर्म के प्रति सहिष्णु

(१) भारतीय मूर्ति कला, पृष्ठ ८६

(२) अंधकार युगीन भारत, पृष्ठ ९६–१०१

(३) महाभारत–वनपर्व, अध्याय १८८–१९०

ज्ञात होते है। "हुविष्क की कतिपय ऐसी मुद्राएँ मिली है, जिन पर चार भुजाओ से युक्त विष्णु का आकार उत्तीर्ण है। हुविष्क का उत्तराधिकारी वासुदेव भी, जिसके नाम से ही सूचित है, वैष्णव (भागवत) धर्म का ही अनुयायी रहा होगा। इतना होते हुए भी कुषाण काल मे वैष्णव (भागवत) धर्म का अपेक्षित विकास न हो सका था। उस काल के जितने अभिलेख प्राप्त हुए है, वे अधिकाशत वोधिसत्वो की प्रतिमाओ पर उत्कीर्ण है[1]।"

श्रीकृष्ण के जन्मकालीन दृश्य से सबधित जिस शिलापट्ट का पहिले उल्लेख किया गया है, उसके अतिरिक्त कुषाण काल की कतिपय भागवत मूर्तियाँ और भी उपलब्ध हुई है। मथुरा जिला के वलदेव ग्राम मे दाऊजी का प्रसिद्ध मदिर है। उसमे जो वलराम की सुदर मूर्ति है, उसे कुषाण काल की ही माना जाता है। यह व्रजमडल की वर्तमान उपास्य मूर्तियो मे सबसे प्राचीन कही जा सकती है। कुषाणकालीन एक शिलाखड मे उछलता हुआ घोडा और उसकी गर्दन पर किसी पुरुष द्वारा पदाघात किये जाने का दृश्य उत्कीर्ण है। ऐसा जान पडता है, वह केशीमर्दन श्रीकृष्ण की मूर्ति है। हिंदू धर्म के अन्य उपास्य देव जैसे विष्णु, शिव, ब्रह्मा, स्वामिकार्तिक, कामदेव, इद्र, अग्नि, सूर्य, नाग आदि की वहुसख्यक मूर्तियाँ भी कुषाण काल मे निर्मित हुई थी। उनमे शिव और कामदेव की मूर्तियाँ तो शुग काल मे ही वन गई थी।

मथुरा राज्य की कलात्मक समृद्धि—कुषाणो के शासन काल मे मथुरा नगर मूर्ति कला का भारत प्रसिद्ध केन्द्र हो गया था। उस समय भागवत धर्म के साथ ही साथ अन्य धर्मों की देव-मूर्तियाँ भी यहाँ प्रचुर सख्या मे वनने लगी थी। मथुरा के कलाकारो द्वारा बनाई हुई वे देव-मूर्तियाँ देश के अनेक स्थानो मे प्रतिष्ठित की गई थी। मूर्ति कला के अतिरिक्त अन्य कलाओ का भी यहाँ पर उस काल मे यथेष्ट विकास हुआ था। इससे ज्ञात होता है कि कुषाणो का शासन काल मथुरा राज्य की सास्कृतिक समृद्धि मे सहायक सिद्ध हुआ था।

गुप्त काल (स० ४०० – स० ६००) की स्थिति—कुषाणो के पश्चात् मथुरा राज्य पर पहिले नाग राजाओ ने और फिर गुप्त सम्राटो ने शासन किया था। नाग नरेश शैव धर्म के अनुयायी थे, किंतु उनके काल मे भागवत धर्म भी प्रगति के पथ पर था। गुप्त सम्राट भागवत धर्म के अनुयायी थे। वे 'परम भागवत' का विरुद धारण करने मे अत्यत गौरव का अनुभव करते थे। गढवा और विलसाड के शिला-लेखो मे गुप्त वश के प्रतापी सम्राट चद्रगुप्त और कुमारगुप्त को 'परम भागवत' लिखा गया है[2]। इस वश का आरभिक सम्राट 'चद्र' था, जिसने कुषाणो के भागवत धर्म विरोधी दृष्टिकोण के कारण ही कदाचित उनसे संघर्ष किया था, जिसमे विजय प्राप्त होने के उपलक्ष मे विष्णु ध्वज की स्थापना की गई थी। उसका उल्लेख दिल्ली स्थित महरौली के लेख मे हुआ है[3]। गुप्तो के शासन काल मे मथुरा राज्य उनके मगध साम्राज्य का एक भाग वन गया था।

---

(१) हिंदी साहित्य (भारतीय हिंदी परिषद, प्रयाग) प्रथम खड, पृष्ठ ७२

(२) कोर्पस इस्क्रिप्सनेरम, इडीकेरम, जिल्द ३, पृष्ठ ३६, स० ४

(३) तेनाय प्रणिधाय भूमिपतिना भावेन विष्णो. मति।
प्राशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वज स्थापित ॥ (महरौली लौह-स्तभ का लेख)

चद्रगुप्त विक्रमादित्य गुप्त राजवश का ही, बल्कि भारत के महान् सम्राटो मे से एक था। उसके शासन काल (स० ४३३–स० ४७०) के तीन अभिलेख मथुरा से प्राप्त हुए हे। उनमे से वह अभिलेख अत्यत महत्वपूर्ण है, जो कनिंघम को सन् १८५२ मे कटरा केशवदेव से प्राप्त हुआ था। उसमे गुप्तवशीय सम्राटो की पूरी नामावली अंकित कर उसे 'परम भागवत' चद्रगुप्त पर समाप्त करते हुए उसके द्वारा मथुरा मे कोई महत्वपूर्ण धार्मिक कार्य सम्पन्न किये जाने का उल्लेख किया गया है[1]।

कृष्ण–जन्मस्थान का मदिर—कनिंघम द्वारा उपलब्ध अभिलेख का अतिम अश खडित हो जाने से यह नही ज्ञात होता है कि उसमे वर्णित कौन सा महत्वपूर्ण धार्मिक कार्य चद्रगुप्त ने किया था। उसके सबध मे डा० वासुदेवशरण जी का निष्कर्ष है,—"हिंदू धर्म और सस्कृति का अभ्युत्थान करने वाले परम भागवत महाराज चद्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपनी उपाधि को अन्वर्थ करने के लिए श्रीकृष्ण–जन्मस्थान पर अवश्य ही एक भव्य मदिर का निर्माण कराया था। वह देवस्थान अत्यत विशाल और कला का एक अद्भुत उदाहरण रहा होगा[2]।" उसी स्थान से प्राप्त गुप्तकालीन वैष्णव कला-कृतियो से भी उक्त मदिर के अस्तित्व की पुष्टि होती है। बौद्ध ग्रथ 'मजुश्री मूलकल्प' मे चद्रगुप्त का मथुरा मे उत्पन्न होना लिखा गया है[3], अत अपने जन्म-स्थान मे उसका वह मदिर बनवाना सर्वथा सगत मालूम होता है। वह मदिर अत्यत विशाल, कलापूर्ण और मथुरामडल का विख्यात देवस्थान था, जो पाँच शताब्दी तक इस क्षेत्र मे कृष्णोपासना का प्रमुख केन्द्र रहा था। उस देवालय को ११ वी शती मे मुसलिम आक्रमणकारी महमूद गजनवी ने नष्ट कर दिया था।

चद्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन-काल मे चीनी यात्री फाह्यान भारत मे बौद्ध स्थानो की यात्रा करने आया था। वह स० ४५० के लगभग मथुरा भी गया था। उसने अपने यात्रा–सस्मरणो मे मथुरा के बौद्ध धर्म की तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश तो डाला है, किंतु उसने वहाँ के कृष्ण मदिर और भागवत धर्म की स्थिति पर कुछ नही लिखा। उसे शायद उनके सबध मे कोई रुचि भी नहीं थी। किंतु यह निश्चित है, उस काल मे भागवत धर्म अत्यत उन्नत अवस्था मे था। उक्त धर्म के यहाँ पर अनेक मदिर-देवालय थे तथा मूर्तियाँ थी, जिनकी व्यापक रूप मे पूजा-अर्चना की जाती थी।

मथुरामंडल से बाहर भागवत धर्म की स्थिति—गुप्त काल मे भागवत धर्म का व्यापक प्रचार हुआ था, फलत मथुरामडल से बाहर के अनेक स्थानो मे भी उसकी अच्छी स्थिति थी। वहाँ पर भी भागवत धर्म के अनेक मदिर–देवालय निर्मित हुए थे। उक्त स्थानो से उनके पुरातात्विक प्रमाणो और अनेक कलात्मक मूर्तियो की उपलब्धि हुई है। उनमे से मडोर जि० जोधपुर और गगा-नगर के निकटस्थ रगमहल (राजस्थान), देवगढ जिला झांसी (उत्तर प्रदेश) और बादामी जिला बीजापुर (महाराष्ट्र) की भागवत मूर्तियाँ उल्लेखनीय है।

जोधपुर के निकट मंडोर मे चौथी शताब्दी के जिन मदिरो के अवशेष मिले है, उनमे दो के तोरण–स्तभो पर श्रीकृष्ण की गोवर्धन–धारण, शकट–भजन, कालिय-मर्दन और केशी–धेनुक वध आदि लीलाओ की मूर्तियाँ है। ये तोरण–स्तभ जोधपुर के राजकीय सग्रहालय मे प्रदर्शित है। रगमहल (गगानगर) से उपलब्ध दो मृण्मूर्तियाँ गोवर्धन-धारण और दानलीला की है, जो बीकानेर

---

(१) गुप्त इंस्क्रिप्सन्स, पृष्ठ २६, स० ४
(२) श्रीकृष्ण-जन्मभूमि या कटरा केशवदेव, पृष्ठ ६; पोद्दार अभिनदन ग्रथ, पृष्ठ ७४७
(३) अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास, पृष्ठ २२३

सग्रहालय मे प्रदर्शित हैं। उनके अतिरिक्त यशोदा, गरुड और चक्रपुरुष की मृण्मूर्तियाँ भी वहाँ से उपलब्ध हुई हैं। ये सब मूर्तियाँ वहाँ के गुप्तकालीन किसी भागवत मदिर मे प्रतिष्ठित होंगी। देवगढ जि० झाँसी की मूर्तियाँ उत्तर गुप्त काल की हैं। बीजापुर जिला मे बादामी नामक स्थान के निकटवर्ती मदिर और गुफाओं मे जो छटी शताब्दी के शिलापट्ट हैं, उन पर भी कृष्ण-लीलाओं के विविध दृश्य उत्कीर्ण मिलते हैं। उदयगिरि पहाडी के गुफा मदिरो मे विष्णु के वराहादि अवतारो की तथा गगा-यमुना की सुदर मूर्तियाँ मिली हैं, जो ५वी शताब्दी की मानी जाती हैं। उसी पहाडी के निकटवर्ती पथारी नामक स्थान के मदिर मे कृष्ण के बाल्य जीवन के दृश्य उत्कीर्ण मिले हैं। बालक कृष्ण अपनी माता यशोदा के बगल मे लेटे हुए है, और उनकी सेवा के लिए परिचारिकाएँ उपस्थित हैं। बेगलर ने इन्हे भारतीय मूर्ति कला के श्रेष्ठ और सबसे विशद कलावशेष बतलाया है। बबई के निकटवर्ती एलीफेंटा गुफा मे भी एक प्राचीन मूर्ति है। उसमे कस को नगी तलवार लिये हुए और उसके द्वारा मारे गये बच्चों को दिखलाया गया है। इस प्रकार गुप्त काल और उसके तत्काल पश्चात् की कृष्ण-लीला सबधी मूर्तियाँ मथुरामडल से बाहर के अनेक स्थानो मे बहुत बडी सख्या मे मिली है। इनसे तत्कालीन भागवत धर्म की अच्छी स्थिति का बोध होता है।

धार्मिक देन—गुप्त सम्राटो की अनेक सास्कृतिक उपलब्धियो मे उनकी धार्मिक देन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उन्होने भागवत धर्म के प्रचार मे प्राय वैसा ही योग दिया था, जैसा मौर्य सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार मे दिया था। उनके प्रोत्साहन से यह धर्म उस काल मे भारतवर्ष के अधिकाश भाग मे प्रचलित हो गया था, यद्यपि अन्य धर्म-सप्रदायो का भी पर्याप्त प्रचलन था। गुप्त सम्राटो का विरुद 'परम भागवत' था। उनके अनुकरण पर अन्य प्रतापी नरेशो ने भी वह विरुद धारण किया था। परवर्ती गुप्त सम्राटो का समकालीन चालुक्य नरेश मगलेश 'परम भागवत' कहलाता था। बरखगा शिलालेख से ज्ञात होता है कि कामरूप नरेश भूतिवर्मा की उपाधि भी 'परम भागवत' थी। इन सब उल्लेखो से सिद्ध होता है कि उस काल मे भागवत धर्म और कृष्णोपासना का बडा व्यापक प्रचार हुआ था।

गुप्त काल मे प्राचीन व्यूहवाद के स्थान पर अवतारवाद प्रचलित हो गया था। उस समय प्रमुख अवतारो मे सम्मिलित किये जाने के कारण कृष्ण-बलराम की उपासना-पूजा तो चलती रही, किंतु प्रद्युम्न-अनिरुद्ध की बद हो गई थी। कालातर मे कृष्ण की महत्ता ने बलराम की मान्यता को भी दबा दिया था। कृष्ण के अतिरिक्त अन्य व्यूहो की स्वतत्र पूजा-उपासना का अभाव अवतारवाद का प्रथम परिणाम था और वह भागवत धर्म के वैष्णव धर्म मे परिवर्तित हो जाने की पृष्ठभूमि का भी सूचक था।

उस काल मे श्रीकृष्ण को निर्विरोध 'भगवान्' माना जाता था और उन्हे विष्णु, नारायण, माधव आदि का समानार्थक समझा जाता था। सस्कृत के सुप्रसिद्ध कोशकार अमरसिंह चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नो मे से एक थे। वे बौद्ध धर्मावलबी थे, अत उन्होने अपनी प्रसिद्ध रचना 'अमरकोश' मे बुद्ध के नामो को प्रधानता दी है। राम का नाम तो उन्होने गिनाया ही नहीं, किंतु कृष्ण के नाम उन्होने अन्य देववाचक नामो के साथ लिखे है। अमरकोश मे विष्णु के नाम कृष्ण के नाम माने गये है,—'विष्णुर्नारायण कृष्ण' और कृष्ण के नाम विष्णु के नाम लिखे गये है,'—'माधव देवकीनदन वसुदेवसूनु'। गुप्त काल मे ही पुराणो को अतिम रूप दिया गया था, जो उस काल की महान् धार्मिक उपलब्धि मानी जाती है।

भगवान् विष्णु

सकर्षण बलराम
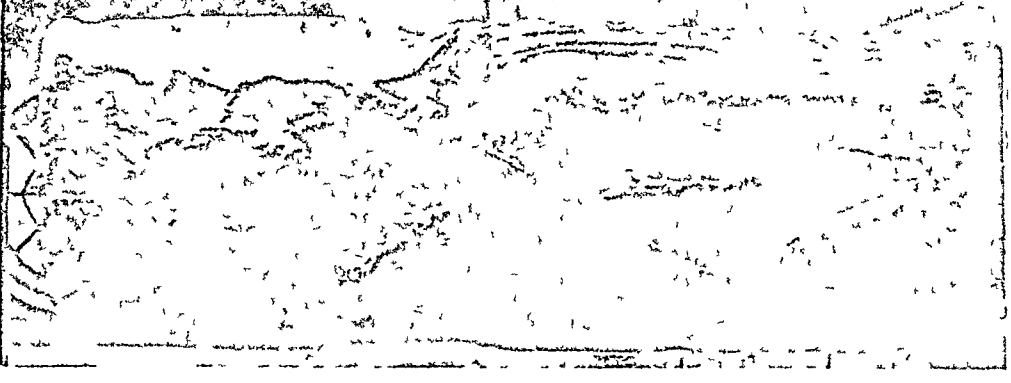
हूणों के आक्रमण का प्रभाव—गुप्त शासन के अतिम काल मे जब बर्बर हूणो ने मथुरा राज्य पर आक्रमण किया था, तब अन्य धर्मो के साथ ही साथ भागवत धर्म के देवस्थानो को भी बडी क्षति पहुँची थी। श्री कृष्णदत्त बाजपेयी का अनुमान है कि उस भीषण काल मे श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पर बने हुए भागवत मदिर को भी हूणो ने नष्ट किया होगा[1]। किंतु इसके विरुद्ध डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है कि मथुरा के अधिकाश देवस्थानो के नष्ट होने पर भी जन्मस्थान वाला मदिर किसी प्रकार सुरक्षित रह गया था[2]।

हमारे मतानुसार डा० वासुदेवशरण जी का कथन ठीक है। इसका कारण यह है कि हूणो के आक्रमण के बाद महाराज हर्षवर्धन के शासन-काल मे जब चीनी यात्री हुएनसाग स० ६९२ के लगभग मथुरा आया था, तब उसने यहाँ पर हिंदू धर्म के ५ बडे देवालय देखे थे, जिनमे जन्मस्थान वाले उक्त मदिर का होना भी सभव है। हूणो के बाद स० १०७४ मे महमूद गजनवी ने जन्मस्थान के उस प्राचीन मदिर को तोडा था। यदि वह वासुदेव मदिर अतिम गुप्त काल मे हूणो द्वारा नष्ट कर दिया गया था, तब महमूद गजनबी के काल तक वैसे विशाल और वैभवशाली मदिर के फिर से बनवाये जाने का कोई उल्लेख नही मिलता है। इससे यही समझा जा सकता है कि चद्रगुप्त विक्रमादित्य का बनवाया हुआ श्रीकृष्ण-जन्मस्थान का मदिर हूणो के आक्रमण के समय नष्ट नही हुआ था।

हूणो के आक्रमण का यह प्रभाव अवश्य हुआ कि उसके बाद उत्तर भारत मे भागवत धर्म का प्रभाव कम होने लगा किंतु दक्षिण भारत मे वह पूर्ववत् प्रचलित रहा था। वहाँ पर पहिले आलवारो ने और फिर वैष्णव धर्माचार्यो ने उसकी उन्नति मे योग दिया था। आरभ मे भागवत और पचरात्र धर्मो मे कुछ भेद माना जाता था,—'हर्ष चरित' मे उन दोनो का पृथक्-पृथक् उल्लेख हुआ है, किंतु बाद मे उनका एकीकरण हो गया था। दक्षिण के आलवार भक्तगण और वैष्णव धर्माचार्यगण भागवत और पचरात्र धर्मो मे कोई भेद नही मानते थे।

५. शैव धर्म

शक–कुषाण काल (वि पू. स. ४३ से वि. सं. २३३ तक) की स्थिति—शक क्षत्रप और कुषाण नरेश अधिकतर बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, अत उनके शासन-काल मे उस धर्म का अच्छा प्रचार हुआ था। फिर भी शक क्षत्रप भागवत धर्म के और कुषाण नरेश शैव धर्म के भी प्रेमी थे। फलत उनके काल मे उक्त धर्मो की भी प्रगति हुई थी। आरभिक कुषाण शासक विमतक्षम (विम कैडफाइसिस) शिव-भक्त था, जैसा कि उसके सिक्को से ज्ञात होता है[3]। उन सिक्को पर एक ओर कुषाण राजा की मूर्ति और खरोष्टी लिपि मे उसकी उपाधि 'सर्वलोग इश्वरस महिश्वरस' (सर्वलोकेश्वर माहेश्वर) दी हुई है, तथा दूसरी ओर नदी सहित त्रिशूलधारी शिव की खडी मूर्ति है[4]। उसके एक सिक्के पर पचमुखी शिव की मूर्ति भी मिली

---

(१) ब्रज का इतिहास (प्रथम भाग), पृष्ठ ११४
(२) पोद्दार अभिनंदन ग्रथ, पृष्ठ ७४९
(३) लाहौर म्यूजियम कैटेलॉग आफ कौइस (व्हाइटहैड), प्लेट १७, स० ३१–३३
(४) कलकत्ता म्यूजियम कैटेलॉग आफ कौइंस (स्मिथ), प्लेट ६८, स० १–१२

है। कनिष्क द्वितीय (स० १७६ के लगभग), हुविष्क (स० १८३—स० १६५) तथा वासुदेव (स० १६५—स० २३३) के सिक्को पर भी नंदी सहित शिव की मूर्तियाँ मिलती है। इनमे शिव के द्विभुजी तथा चतुर्भुजी दोनो रूप है[1]। मथुरा मे कुषाण काल का एक शिलापट्ट भी मिला है, जिस पर कुषाणो द्वारा शिव-लिंग की पूजा का दृश्य उत्कीर्ण है। मथुरा मे इसी तरह का दूसरा शिलापट्ट भी उपलब्ध हुआ है, जिसमे एक यक्ष द्वारा शिव-लिंग की पूजा दिखलाई गई है। पहिला शिलापट्ट (स० २६६१) मथुरा सग्रहालय मे है और दूसरा लखनऊ सग्रहालय मे।

शैव धर्म का उदय और उसके प्रचार-प्रसार का आरभ उत्तर भारत मे हुआ था, किंतु विक्रम पूर्व दूसरी शती तक उसका प्रचार दक्षिण भारत मे भी हो गया था। उस काल मे निर्मित गुड्डीमल्लम नामक स्थान की वह प्रसिद्ध लिगमूर्ति उपलब्ध है, जिस पर शिव का मानवाकार भी उत्कीर्ण हुआ है। इस प्रकार की लिंगमूर्तियो को 'मुखलिंग' कहा जाता है। गुड्डीमल्लम् का मुखलिंग अब तक उपलब्ध इस प्रकार मूर्तियो मे सबसे प्राचीन है। मथुरा मे कुषाण काल की जो मूर्तियाँ मिली हैं, उनमे मुखलिग भी है। इन मूर्तियो मे शिव के एक, चार और पाँच मुख दिखलाये गये है। मथुरा मे एक मुखलिग गुड्डीमल्लम की प्रसिद्ध मूर्ति के सदृश भी मिला था, जिसमे लिंग के सहारे शिव की खडी हुई चतुर्भुजी मानवाकृति थी। खेद है, वह ऐतिहासिक महत्व की मूर्ति मथुरा मे विदेश मे किसी ऐसे स्थान को भेज दी गई, जिसका कोई पता-ठिकाना भी नही मिल रहा है। उस मूर्ति का चित्र उपलब्ध है। अभी हाल मे कुषाणकालीन शिव-लिंग की मृण्मूर्ति भी मिली है, जो मथुरा सग्रहालय मे सुरक्षित है।

प्राय सभी कुषाण शासको के सिक्को पर शिव की मूर्तियाँ मिलने से यह समझा जा सकता है कि वे शैव धर्म के बडे प्रेमी थे, चाहे उनमे से अधिकाश बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। उनके प्रोत्साहन मे मथुरा राज्य मे शैव धर्म का अच्छा प्रचार हुआ था। उस काल की उपलब्ध विभिन्न शिव-मूर्तियो से ज्ञात होता है कि तब यहाँ पर शिव की उपासना-पूजा मानव-मूर्ति और लिंग-प्रतीक दोनो रूपो मे प्रचुरता से प्रचलित थी।

नाग काल (स० २३३ से स० ४०० तक) की स्थिति—नाग राजा अधिकतर शैव धर्म के ही अनुयायी थे, अत उनके शासन काल मे यहाँ पर इस धर्म की और भी अधिक प्रगति हुई थी। उस काल मे मथुरा का भूतेश्वर क्षेत्र और गोकर्णेश्वर टीला प्रसिद्ध शैव केन्द्र हो गये थे। गोकर्णेश्वर टीला को उस काल मे शिव का कैलास कहा जाता था। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार मथुरा के रक्षक चार क्षेत्रपाल शिव है, जिनके चार प्राचीन पूजा-स्थल इस नगर की चारो दिशाओ मे स्थित है,—उत्तर मे गोकर्णेश्वर, पूर्व मे पिप्पलेश्वर, दक्षिण मे रगेश्वर, और पश्चिम मे भूतेश्वर। उक्त शैव स्थल सभवत नाग काल मे ही निश्चित हुए थे। लोगो का मत है, सुप्रसिद्ध नाग राजा वीरसेन की स्मृति मे वर्तमान भूतेश्वर क्षेत्र उस काल मे 'वीर स्थल' कहलाता था और मथुरा के वीर भद्रेश्वर नामक शैव स्थल का सबध भी कदाचित वीरसेन से था। इस सबध मे निश्चय पूर्वक कहना कठिन है, क्यो कि यक्षो का नाम 'वीर' होने से वे स्थल यक्षो के पूजा-स्थान भी हो सकते हैं।

---

(१) **लाहौर म्यूजियम कैटेलॉग आफ कौइस** (व्हाइटहैड),
प्लेट १६, स० १५०, १५२, १५३, १५६, २०६, २२६

गुप्त काल (सं० ४०० से सं० ६०० तक) की स्थिति—गुप्त सम्राटों के शासन काल मे मथुरा राज्य भागवत धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र हो गया था, किंतु शैव धर्म की भी उस काल मे पर्याप्त प्रगति हुई थी। इसका प्रमाण उस काल की वे कलात्मक शैव मूर्तियाँ और तत्सबंधी अभिलेख है, जो यहाँ प्रचुर सख्या मे उपलब्ध हुए है। शैव मूर्तियो मे शिव के विविध प्रकार के लिंग-प्रतीक उल्लेखनीय हैं। उनमे से कई एकमुखी, द्विमुखी, पंचमुखी लिंग–मूर्तियाँ मथुरा सग्रहालय मे प्रदर्शित है। उनके अतिरिक्त शिव-पार्वती की दम्पति भाव की मूर्तियाँ, अर्धनारीश्वर मूर्तियाँ तथा हरीहर मूर्तियाँ भी यहाँ से पलब्ध हुई है। उत्तर गुप्त काल की एक मूर्ति (स० २०८४) नदी के सहारे खडे हुए शिव-पार्वती की आलिगन मुद्रा की है। मथुरा से प्राप्त एक मूर्ति मे शिव-पार्वती कैलास पर्वत पर बैठे हैं और रावण उस पर्वत को उठा रहा है। शिव की विभिन्न प्रकार की मूर्तियो के अतिरिक्त शिव-परिवार के देवता गणेश, कार्तिकेय आदि की गुप्तकालीन मूर्तियाँ भी प्रचुर सख्या मे प्राप्त हुई हैं। उसी काल की अनेक सुदर मूर्तियाँ कामवन से भी उपलब्ध हुई है। इन सब शैव मूर्तियो और अभिलेखादि से ज्ञात होता है कि गुप्त काल मे मथुरा राज्य मे शैव धर्म का अच्छा प्रचार था।

लकुलीश-माहेश्वर संप्रदाय—गुप्त काल मे मथुरा नगर शैव धर्म के लकुलीश-माहेश्वर सम्प्रदाय का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। रंगेश्वर महादेव के निकटवर्ती चाट्टल-माट्टल की बगीची के आस–पास उस सप्रदाय के मठ–मदिर थे। इसका उल्लेख वहाँ से प्राप्त एक स्तभ–लेख मे हुआ है, जो मथुरा सग्रहालय (स० १९३१) मे प्रदर्शित है। वह लेख गुप्त स० ६१ अर्थात् विक्रम स० ४३७ का है। उसमे लकुलीश–माहेश्वर सम्प्रदाय की गुरु-परपरा लिखी है और नीचे लकुलीश की मूर्ति उत्कीर्ण है। लेख से ज्ञात होता है, उस काल मे उस सप्रदाय का मठाधीश उदिताचार्य था। उसने अपने पूर्ववर्ती आचार्य कपिल-विमल, उपमित–विमल और पराशर का नामोल्लेख करते हुए उनकी कीर्ति-रक्षा के निमित्त उनके नाम पर मथुरा मे कपिलेश्वर एव उपमितेश्वर नामक दो शिव-लिगो की प्रतिष्ठा की थी। मथुरा से लकुटधारी लकुलीश की गुप्तकालीन एक अन्य सुदर मूर्ति भी मिली है।

जैसा पहिले लिखा गया है, महाभारत काल मे शैव धर्म के प्राचीन रूप 'पाशुपत' मत का प्रचलन था, जो बाद मे 'माहेश्वर' कहा जाने लगा था। वायु–लिंगादि पुराणो मे उस मत के प्रथम उपदेष्टा के रूप मे लकुलिन् अथवा नकुलिन का नामोल्लेख हुआ है, जो बाद मे लकुलीश के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। 'सर्व दर्शन सग्रह' मे उसे पाशुपत मत का सस्थापक माना गया है। "सन् ९७१ ई० के नागराज मदिर के शिलालेख से तथा अन्य कई अभिलेखो से भी इसकी पुष्टि होती है[1]।" इस प्रकार इस मत के ऐतिहासिक सस्थापक का नाम लकुलिन्, नकुलिन् अथवा लकुलीश ज्ञात होता है। उसकी मूर्तियां गुर्जर, राजस्थान, मालव तथा गौड प्रदेशो मे मिली है, जिनमे उसे लकुट लिए हुए दिखलाया गया है। लकुटधारी होने से उसे 'लकुटीश' भी कहा जाता है। "मथुरा शैव स्तभ के शिलालेख के आधार पर डा० भंडारकर ने लकुटीश का समय द्वितीय शताब्दी का उत्तरार्ध माना है। कुषाणवंशीय हुविष्क की मुद्राओ पर लकुटीधारी शिव की मूर्तियां उसी समय की मिलती है[2]।"

---

(१) शैव मत, पृष्ठ १५३
(२) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १८२

शिव और शैव धर्म का महत्त्व—शैव धर्म के उपास्य देव भगवान् शिव के विविध नाम-रूपों के विकास की परंपरा का उल्लेख गत पृष्ठो मे किया जा चुका है[1]। इस काल मे पुराणो ने उनके नाम-रूपो का और भी अधिक विस्तार कर दिया था। स्कंद पुराण के शिवरहस्य खंडातर्गत सभव काड के अनुसार १८ पुराणो मे से शिव, भविष्य, मार्कंडेय, लिंग, वराह, स्कंद, मत्स्य, कूर्म, वामन और ब्रह्मांड नामक १० पुराण शिव की महत्ता के ही सूचक है।

पुराणो के अनुसार भगवान् शिव निर्गुण, निराकार, निर्विकल्प और अगम होने के साथ ही साथ सगुण, साकार, सविकल्प और बुद्धिगम्य भी हैं। वे स्वय दिगंबर और श्मशानवासी हैं, किंतु अपने भक्तो को समस्त ऐश्वर्य एव त्रैलोक्य का अधिकार प्रदान करते हैं। वे अर्धनारीश्वर होते हुए भी योगिराज और कामजयी है, तथा तीनो कालो के ज्ञाता-सर्वज्ञ होने से 'त्रिनेत्र' है। वे विष-पान कर जगत् को उसकी ज्वाला से बचाते है। ससार के त्रैतापो से भक्तो की रक्षा करने हेतु वे त्रिशूल धारण करते हैं तथा जीवन की क्षण-भगुरता और मृत्यु की अनिवार्यता का बोध कराने के लिए वे मुड-माल पहिनते है। उनके कल्याणकारी रूप की सगति उनके वाहन बैल से होती है। बैल एक ऐसा पशु है, जो मानवो को सुख-सुविधा और समृद्धि के साधन जुटा कर उनका अनेक प्रकार से हित करता है। भगवान् शिव-शकर को विविध धर्मो और आगमादि तत्रो के प्रवर्त्तक एव आदि उपदेष्टा माना गया है। उन्हे समस्त विद्याओ और कलाओ के प्राकट्यकर्त्ता एव आद्याचार्य भी कहा गया है। उनके डमरु-नाद से सगीत की तथा ताडव-लास्य से नृत्य की उत्पत्ति मानी गई है, जिसके लिए उनके 'नटराज' नाम-रूप की प्रसिद्धि है। उनके द्वारा प्रवर्तित माहेश्वर सूत्र व्याकरण विद्या के मूल तत्व माने जाते हैं। इस प्रकार पुराणो ने शिव को सर्वाधिक समर्थ, परम कल्याणकारी और देवाधिपति महादेव का रूप प्रदान किया था, जिससे इस काल मे शैव धर्म का महत्व भी बहुत बढ गया था।

शैव धर्म का वास्तविक रूप पुराणो की देन है, यह मानने मे कोई अयुक्ति नही है। पुराणो मे ही इस धर्म के प्रमुख सिद्धात, इसके विधि-विधान, इसकी उपासना, व्रतचर्या और सेवा-पूजा आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। पुराणो द्वारा प्रचारित शैव धर्म ने इस देश की उपासना, कला और सस्कृति को तथा यहाँ के साहित्य और जन-जीवन को अत्यत प्रभावित किया है। इसीलिए भारतीयो के अतिरिक्त अनेक विदेशी जातियाँ भी शैव धर्म के प्रति आकृष्ट हुई थी। ऐसी जातियो मे शक, कुषाण और हूणो की शैव भक्ति के अनेक उदाहरण इतिहास मे मिलते है।

शैवागम—शैव धर्म के सिद्धात ग्रथ 'आगम' कहलाते हे। आरभिक शैवागमो की रचना पौराणिक काल मे उत्तर भारत मे हुई थी, जिसकी भाषा सस्कृत थी। बाद मे उनका दक्षिण भारत मे विशेष रूप से प्रचार हुआ था, जहाँ वे सस्कृत के साथ ही साथ तमिल भाषा मे भी रचे गये थे। तत्कालीन दाक्षिणात्य शैव सत 'तिरुमूलर' कृत शैवागम अत्यत प्रामाणिक माने जाते है।

शिव के साथ विष्णु की एकता—पुराणो ने जहाँ शिव के महत्त्व को बढाया था, वहाँ विष्णु की महत्ता का भी व्यापक प्रचार किया था। पौराणिक काल के देवताओ मे धार्मिक गौरव की दृष्टि से शिव की तुलना केवल विष्णु से की जा सकती है। सभी बडे पुराण या तो शिवपरक है, या

---

(१) इस खड के पृष्ठ ६५-६६ देखिये।

विष्णुपरक। उनके द्वारा एक वडे महत्व का कार्य यह भी किया गया कि उन्होने उन दोनो प्रमुख देवताओ की गौरव-वृद्धि के साथ ही साथ उनकी एकता और अभिन्नता का भी प्रतिपादन किया था। वायु पुराण जैसे शैव पुराण मे विष्णु को शिव से, तथा विष्णु पुराण जैसे वैष्णव पुराण मे शिव को विष्णु से अभिन्न वतलाया गया है। उसी प्रकार मत्स्य, ब्रह्म, वराह आदि पुराणो मे दोनो को एक-दूसरे का अगीभूत माना गया है। शिव और विष्णु के उस ऐक्य और तादात्म्य के कारण कालातर मे 'पौराणिक धर्म' के रूप मे भारतीय धर्म-साधना का एक अत्यत शक्तिशाली स्वरूप प्रकाश मे आया था, जिसके 'शैव धर्म' और 'वैष्णव धर्म' दो प्रधान अग हो गये थे। वस्तुत ये दोनो स्वतत्र 'धर्म' न रह कर एक ही महान् धर्म के दो 'सप्रदाय' वन गये थे।

हूणो के आक्रमण का प्रभाव—गुप्त शासन के अतिम काल मे जव स० ५८० के लगभग मिहिरकुल के नेतृत्व मे विदेशी हूणो ने मथुरा राज्य पर आक्रमण किया था, तब अन्य धर्म-सप्रदायो के मदिर-देवालयो की भाँति शैव धर्मस्थानो के क्षतिग्रस्त होने का उल्लेख नही मिलता है। ऐसा ज्ञात होता है, कुषाणो की भाँति हूणो का भी शैव धर्म के प्रति विरोधी दृष्टिकोण नही था। लूट-मार करने के पश्चात् जब विदेशी हूण यहाँ पर स्थायी रूप से बस गये, तव उनमे से अधिकाश ने शैव धर्म स्वीकार कर लिया था। हूण सरदार मिहिरकुल को पराजित करने वाला मडसर (मालवा) का शासक वीरवर यशोधर्मन भी शैव धर्म का अनुयायी ज्ञात होता है। स० ५८७ के जिस मडसर-शिलालेख मे यशोधर्मन की उक्त विजय का उल्लेख हुआ है, उसमे भगवान् शिव के उग्र और सौम्य रूपो की स्तुति की गई है। उक्त प्रमाणो से सिद्ध होता है कि उस काल मे शैव धर्म अत्यत लोकप्रिय हो गया था।

६. शाक्त धर्म

शक काल से गुप्त काल (वि पू स० ४३ से विक्रमपश्चात् सं० ६००) तक की स्थिति—
भारत के धार्मिक क्षेत्र मे 'शक्तिमान' के साथ 'शक्ति' का महत्व प्राचीन काल मे ही मान लिया गया था, किंतु शक्ति के स्वतत्र व्यक्तित्व का विकास पौराणिक युग मे हुआ। तभी शाक्त धर्म स्पष्ट और व्यवस्थित रूप से प्रकाश मे आया था। 'मार्कडेय पुराण' और 'देवी भागवत' शाक्त धर्म से सवधित महत्वपूर्ण ग्रथ है। मार्कडेय पुराण के 'चडी चरित्' मे आद्याशक्ति भगवती महामाया को सभी देवताओ का ऐसा सम्मिलित 'तेज' वतलाया है, जो महाशक्ति सम्पन्न दिव्य नारी का रूप धारण कर देवताओ का कार्य सिद्ध करता है। 'देवी भागवत' मे आद्याशक्ति के विराट स्वरूप का वर्णन है। इन ग्रथो से शाक्त धर्म के तत्व दर्शन का भी वोध होता है।

कुषाण काल मे गुप्त काल (स० ९७-स० ६००) तक के प्राय पाँच सौ वर्ष के काल मे मथुरा राज्य मे वनी हुई देवियो की वहुसख्यक पाषाण मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। इनसे ज्ञात होता है कि उस काल मे यहाँ पर शक्तिवाद का कुछ अधिक प्रचार हो गया था। उस समय सरस्वती, अम्बिका, महाविद्या, चामुडा, ककाली, महिषमर्दिनी, दुर्गा आदि देवियो की उपासना-पूजा यहाँ पर होती थी। उसी काल मे निर्मित एकानशा की कुछ खडित प्रतिमाएँ भी उपलब्ध हुई हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि तव उस देवी की उपासना भी यहाँ पर प्रचलित थी। एकानशा नदपत्नी यशोदा के गर्भ मे उत्पन्न

भगवती योगमाया का नाम था, जो कृष्ण–वलराम की भगिनी थी। उसका उपाख्यान महाभारत, हरिवश और गुप्तकालीन रचना वृहत्सहिता आदि ग्रथो मे मिलता है[1]।

मथुरा सग्रहालयाध्यक्ष डा० नीलकठ पुरुषोत्तम जोशी ने एकानशा के स्वरूप और उसकी उपलब्ध प्रतिमाओ पर प्रकाश डाला है[2]। उनका कथन है, उक्त देवी की उपासना सौम्य और उग्र दोनो रूपो मे होती थी, जिनके कारण उसके अनेक नाम, जैसे आर्या, ब्रह्मचारिणी, विन्ध्यवासिनी, भद्रकाली, सुरा, सहस्रनयना, किराती आदि मिलते है। उसकी उपलब्ध मूर्तियो मे उसका सौम्य रूप दिखलाई देता है। इनमे देवी की आकृति अभय मुद्रा की है, जिसके एक ओर वासुदेव और दूसरी ओर वलराम है। मथुरा सग्रहालय की तीन मूर्तियो मे दो (यू ४५ और १५–६१२) कुषाण काल की तथा एक (यू ६८) मध्य काल की है, जो सभी खडित है। एक अन्य मूर्ति मथुरा निवासी प० गोविंदचरण के सग्रह मे है, जो अपेक्षाकृत ठीक स्थिति मे है। उसका निम्न भाग जीर्ण हो गया है, किंतु ऊपरी भाग मे एकानशा और वासुदेव–वलराम की आकृतियाँ स्पष्टतया दिखलाई देती है।

कृष्ण–वलराम की भगिनी होने के कारण एकानशा की उपासना–पूजा का प्रचार मथुरा-मडल मे होना स्वाभाविक था। किंतु कुषाण काल से गुप्त काल तक उसकी उपासना–पूजा दिखलाई देती है, तदुपरात वह धीरे-धीरे लुप्त हो जाती है। वर्तमान काल मे तो उसका नाम तक अज्ञात हो गया है, जब कि अन्य देवियो के नाम और उनकी उपासना–पूजा का यहाँ पर वरावर प्रचलन रहा है। उसके उग्र रूप की मूर्तियो का मथुरामडल से अभी तक न मिलना भी विचारणीय विषय है।

शैव धर्म के साथ सबंध—शाक्त धर्म का शैव धर्म के साथ घनिष्ट सबध रहा है। शाक्तो की आराध्या 'देवी' शैव धर्म के उपास्य भगवान् शिव की पत्नी ही नही, उनकी 'शक्ति' भी है। शिव की शक्ति और सहचरी होने के कारण देवी की उपासना शैव धर्म मे भी प्रचलित रही है, किंतु उसका विशेष महत्व शाक्त धर्म मे ही मान्य है। शैव धर्म मे शिव और शक्ति के सम्मिलित रूप की भी कल्पना की गई है, जिसके फलस्वरूप शिव के 'अर्धनारीश्वर' रूप को मान्यता प्राप्त हुई। पुराणो मे शिव और शक्ति के तादाम्य जनित इस रूप का उल्लेख मिलता है। भारतीय कला मे शिव के अर्धनारीश्वर रूप की मूर्तियाँ अपना विशिष्ट महत्व रखती है। इस प्रकार की मूर्तियाँ ब्रज के विभिन्न स्थानो से भी उपलब्ध हुई है, जो मथुरा के सग्रहालय मे प्रदर्शित है।

७. नाग देवता की लोकोपासना

मथुरामडल के प्राचीनतम लोक देवताओ मे नागो की उपासना–पूजा की परपरा का उल्लेख गत पृष्ठो मे किया जा चुका है। वह परपरा इस काल मे भी बनी रही, किंतु कुषाण काल से नाग काल (स० ९७–स० ४००) तक उसका विशेष रूप से प्रचलन रहा था। कुषाण सम्राट हुविष्क

---

(१) १ महाभारत (गीता प्रेस) सभा पर्व, अध्याय ३८

२ हरिवश (गीता प्रेस), ४–४६, ४७

३ वृहत्सहिता, ५७–३७

(२) मथुराकलाया एकानशा प्रतिमा (विश्व-सस्कृतम्, ४–२), पृष्ठ १३१–१३४
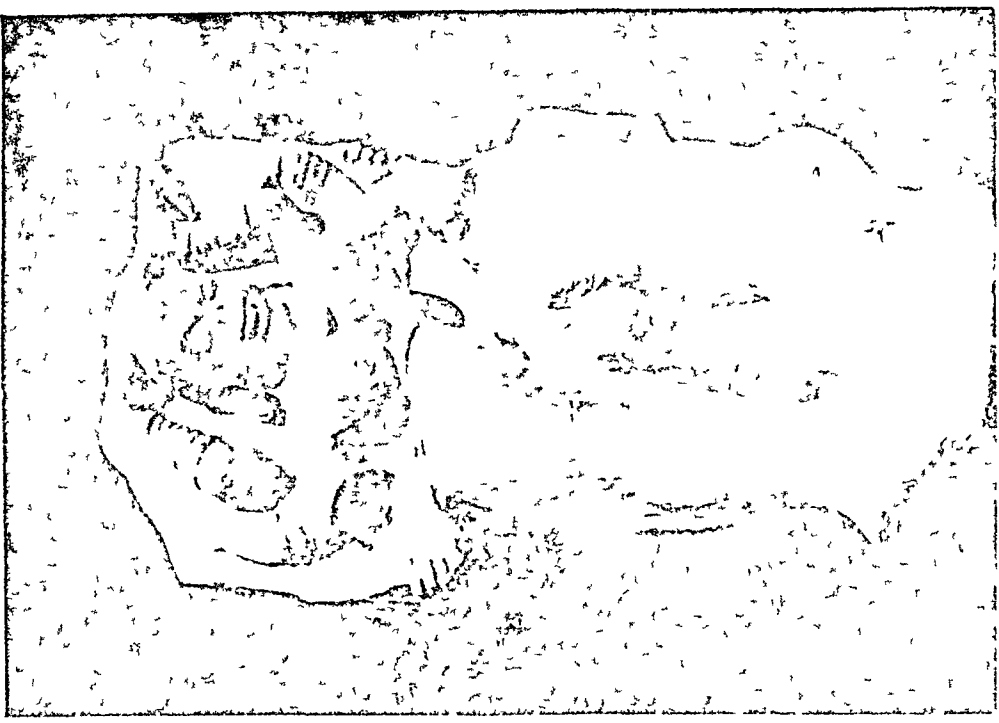
भगवान् शिव

महिषमर्दिनी दुर्गा
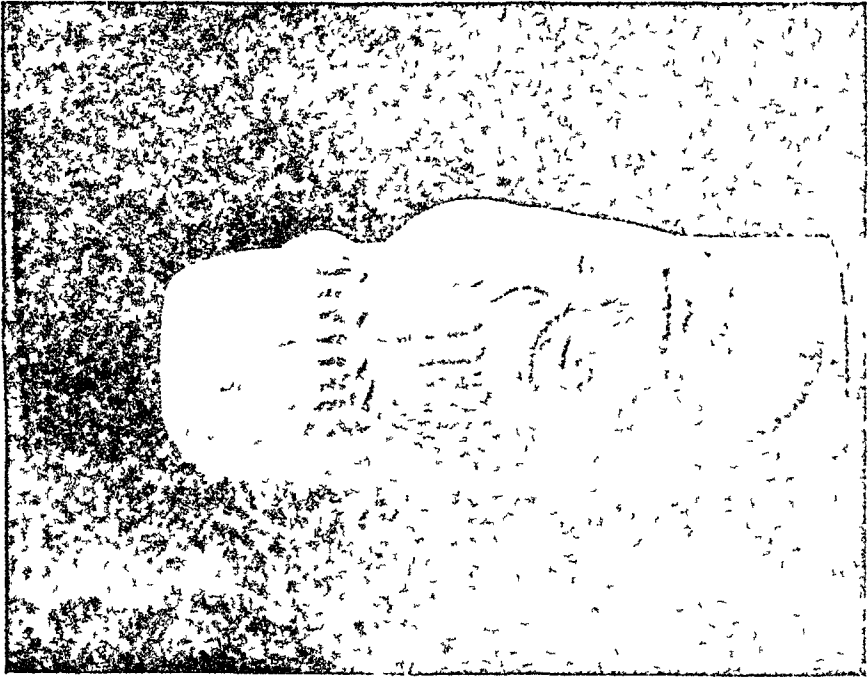
के शासन काल (स० १६३–स० १६५) मे मथुरा मे एक बौद्ध विहार का निर्माण कराया गया था, जो उसके नाम पर 'हुविष्क विहार' कहा जाता था। वह विहार मथुरा की वर्तमान कलक्ट्री कचहरी के निकट बनाया गया था। जब कचहरी की नीव खोदी गई और उसके साथ ही वहाँ के जमालपुर टीला की खुदाई हुई, तब पुरातात्विक महत्त्व की प्रचुर सामग्री प्राप्त हुई थी। उस सामग्री से ज्ञात हुआ कि हुविष्क विहार से पहिले वहाँ पर 'दधिकर्ण नाग' का एक मदिर था। कुछ विद्वानो का मत है, उस प्राचीन नाग–मदिर के स्थान पर ही कालातर मे 'हुविष्क विहार' बनवाया गया था। अन्य विद्वानो का कथन है, हुविष्क विहार के साथ ही साथ वहाँ पर दधिकर्ण नाग का मदिर भी रहा होगा। उस काल की धार्मिक सहिष्णुता के कारण बौद्ध और नागोपासक दोनो के देवालयो तथा उपासना–गृहो का साथ-साथ होना सर्वथा सभव है। इससे सिद्ध होता है कि वह नाग-मदिर हुविष्क के शासन काल से कुछ पहिले ही बनाया गया था।

मथुरा जिला के छड़गाँव नामक स्थान से नाग देवता की एक महत्वपूर्ण मूर्ति प्राप्त हुई है, जिसकी प्रतिष्ठा हुविष्क के राज्यारोहण काल से ४० वर्ष पश्चात् अर्थात् स० २०३ मे हुई थी। उस मूर्ति पर अकित अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसे हस्तिन और मोणक नामक दो नागपूजक मित्रो ने नाग देवता की प्रसन्नता के लिए वहाँ के नाग ताल पर प्रतिष्ठित किया था[1]। वह महत्वपूर्ण नाग मूर्ति (सी १३) और पूर्वोक्त दधिकर्ण नाग की मूर्ति (स० १६१०) मथुरा सग्रहालय मे है। उनके अतिरिक्त वहाँ कुषाण काल से गुप्त काल तक की अनेक नाग मूर्तियाँ भी है, जिनमे भूमिनाग की मूर्ति (स० २११) उल्लेखनीय है। मथुरा जिला के परखम गाँव मे नागिनि की एक प्राचीन मूर्ति नाग–देवी मनसा के नाम से पूजी जाती है। प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार मनसा नागराज वासुकि की बहिन थी। ब्रज के लोक जीवन मे उसकी पूजा का बडा प्रचार रहा है।

कुषाण सम्राटो के पश्चात् मथुरामडल मे नाग जाति के राजाओ का शासन (स० २३३ से स० ४०० तक) रहा था। वे राजा शैव धर्मावलबी थे और उनकी नाग-पूजा के प्रति भी आस्था थी। उस काल मे मथुरामडल मे नाग-पूजा का और भी अधिक प्रचार हुआ था। उस समय नाग देवी–देवताओ की अनेक मूर्तियो का निर्माण हुआ और उनके पूजन के लिए नाग–मदिर बनवाये गये थे। नाग राजाओ के पश्चात् गुप्त सम्राटो के शासन काल मे भी नागोपासना प्रचुरता से प्रचलित थी।

वर्तमान काल मे नाग-पूजा का उतना महत्व नही रहा, जितना कि प्राचीन काल मे था, किंतु फिर भी वह यक्ष-पूजा की भाँति समाप्त भी नही हुई है। इस समय वह ब्रज की लोक-पूजा का एक अग बनी हुई है। श्रावण शु० ५ को ब्रज की नारियाँ 'नागपचमी' का त्यौहार मनाती हैं। उस दिन घरो की भीत पर कोयले के घोल से सर्पो के चिन्ह बनाये जाते है। स्त्रियाँ उनकी पूजा करती है और नाग देवता की कहानियाँ कहती है, जिनमे नागो की अलौकिक शक्ति का बखान किया जाता है। उस दिन मथुरा के सप्तसमुद्री कूप और नाग टीला पर भी स्त्रियाँ नाग देवता की पूजा करने जाती है। वे सर्पो को दूध रखती है और उनकी बाँवियो की पूजा करती हैं। उस अवसर पर वे सामूहिक रूप से नाग देवता के लोक गीतो का गायन भी करती है।

---

(१) मथुरा इंस्क्रिप्संस, सं० १३७, पृष्ठ १७३–१७४

८. धार्मिक उपलब्धि

इस काल की सबसे बडी धार्मिक उपलब्धि पुराणो का सकलन, सपादन और वर्गीकरण किया जाना है। ब्रज के सभी धर्म-सप्रदायो पर पुराणो का बडा प्रभाव पडा है; अत यहाँ पर उनका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

पुराण-परिचय—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, पुराणो की परपरा अत्यंत प्राचीन है; किंतु उन्हे अतिम रूप उत्तर गुप्त काल अर्थात् ७ वी शताब्दी तक प्राप्त हुआ था। तभी उनकी १८ सख्या निश्चित हुई थी। उसके बाद उनमे बराबर प्रक्षेप होता रहा था। इस समय जो १८ पुराण उपलब्ध हैं, उनमे प्रक्षिप्त अश पर्याप्त रूप मे मिलता है, किंतु उसे छाँट कर निकालना सभव नहीं है। 'विष्णु पुराण मे लिखा गया है, महामुनि द्वैपायन व्यास ने जो मूल 'पुराण सहिता' प्रस्तुत की थी, और जिसकी शिक्षा उन्होने अपने शिष्य लोमहर्षण सूत[1] को दी थी, उसमे चार विषय थे,—१. आख्यान, २. उपाख्यान, ३. गाथा और ४ कल्पशुद्धि[2]। उन चारो विषयो का अभिप्राय इस प्रकार समझा जा सकता है,—१. आख्यान—स्वय देखी हुई घटना २ उपाख्यान—सुनी हुई घटना ; ३ गाथा—पूर्व पुरुषो की कीर्ति के परपरागत गान और ४. कल्पशुद्धि—श्राद्ध कर्म।

व्यास जी और उनकी शिष्य-परपरा द्वारा मूल पुराण सहिता के आधार पर अनेक पुराणों की रचना की गई थी। विष्णु, ब्रह्माड और मत्स्यादि पुराणो मे 'पुराण' के पाँच लक्षण बतलाये हैं, जिनके नाम १ सर्ग, २, प्रतिसर्ग, ३. वश, ४. मन्वन्तर और ५ वंशानुचरित लिखे गये हैं[3]। इन लक्षणो का अभिप्राय इस प्रकार समझा जाता है,—१. सर्ग—सृष्टि का विज्ञान ; २. प्रतिसर्ग—सृष्टि का विस्तार, लय और पुन. सृष्टि ; ३. वश—सृष्टि की आदिम वशावली ; ४ मन्वन्तर—सृष्टि के नियामक मनुओ का अधिकार-काल और उनके कालो की महत्वपूर्ण घटनाएँ तथा ५ वशानुचरित—सूर्य-चद्र वशीय राजाओ के कुलो का वर्णन। श्रीमद् भागवत और ब्रह्मवैवर्त के अनुसार पूर्वोक्त पाँच लक्षण वाले पुराण 'अल्प पुराण' कहलाते हैं, जब कि श्रीमद् भागवत जैसे 'महापुराण' के दस लक्षण बतलाये गये होते हैं,—१. सर्ग, २ विसर्ग, ३. स्थान, ४. पोषण, ५. ऊति, ६ मन्वन्तर, ७ ईशानुकथा, ८ निरोध, ९. मुक्ति और १० आश्रय।

पुराण १८ हैं, किंतु उनके नाम और क्रम के सबंध मे मतभेद है। सबसे पुराना ब्रह्म पुराण कहा जाता है। अतिम पुराण कौन सा है, इसके विषय मे मतैक्य नही है। अत साक्ष्य के अनुसार भागवत अथवा नारद पुराण अतिम पुराण हैं, किंतु भविष्य और ब्रह्मवैवर्त मे इतना अधिक प्रक्षेप हुआ है कि उन्हे ही अतिम पुराण मानना उचित होगा। आकार की दृष्टि से स्कंद पुराण और पद्मपुराण सबसे बडे हैं और मार्कंडेय पुराण सबसे छोटा है।

भागवत, विष्णु, नारद आदि कई पुराणो मे १८ पुराणो के नाम और क्रम, तथा उनकी श्लोक-सख्या और विषय-सूची का उल्लेख किया गया है जिनमे एक दूसरे से पर्याप्त भिन्नता है। साधारणतया समस्त पुराणो की श्लोक-सख्या ४ लाख मानी गई है। आगामी पृष्ठ मे १८ पुराणो के क्रमानुसार नाम और उनकी श्लोक-सख्या का उल्लेख विष्णु पुराण के अनुसार किया गया है।

---

(१) प्राचीन भारत मे जो व्यक्ति इतिहास-पुराणो की कथा कहने और राजाओ के रथो को हाँकने का कार्य करते थे, उन्हे 'सूत' कहा जाता था।
(२) विष्णु पुराण (भाग ३), अध्याय ६, श्लोक १६
(३) सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशोमन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥

सं०	नाम	श्लोक संख्या	सं०	नाम	श्लोक संख्या
१.	ब्रह्म पुराण	१०,०००	१०	ब्रह्मवैवर्त पुराण	१८,०००
२	पद्म पुराण	५५,०००	११.	लिग पुराण	११,०००
३.	विष्णु पुराण	२३,०००	१२	वराह पुराण	२४,०००
४	शिव पुराण	२४,०००	१३	स्कद पुराण	८१,०००
५	भागवत पुराण	१८,०००	१४	वामन पुराण	१०,०००
६.	नारद पुराण	२५,०००	१५.	कूर्म पुराण	१७ ०००
७.	मार्कडेय पुराण	९,५००	१६	मत्स्य पुराण	१४,०००
८	अग्नि पुराण	१०,५००	१७	गरुड पुराण	१९,०००
९	भविष्य पुराण	१४,५००	१८.	ब्रह्माड पुराण	१२,०००

उपर्युक्त १८ पुराणो के विषयो का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है,—

१ ब्रह्म पुराण—यह सबसे प्राचीन पुराण माना जाता है। इसमे २४५ अध्याय है और इसकी श्लोक सख्या १० हजार है। कुछ पुराणो के मतानुसार इसमे १३ हजार श्लोक है। साधारणतया इसे ब्रह्मा की महत्ता सूचक पुराण माना जाता है, किंतु अतिम अध्याय के २० वे श्लोक मे इसे वैष्णव पुराण कहा गया है। वैसे भी इसमे विष्णु के अवतारो की कथाएँ ही अधिकता से वर्णित है। इसमे जगन्नाथ जी का माहात्म्य है तथा वासुदेव-महिमा का भी कथन किया गया है। इसके १८० वे अध्याय से २१२ वे अध्याय तक अर्थात् ३४ अध्यायो मे कृष्ण—चरित्र का विस्तार पूर्वक वर्णन है, अत इसे ब्राह्म पुराण की अपेक्षा वैष्णव पुराण ही कहना सर्वथा उचित है। सूर्य की महिमा और साख्य योग की विस्तृत समीक्षा इस पुराण की विशेपता है।

२. पद्म पुराण—यह बहुत बडा अर्थात् ५५ हजार श्लोको का विशालकाय महापुराण है। इसमे सृष्टि, भूमि, स्वर्ग, पाताल और उत्तर नामक पाँच बडे—बडे खड है। इसे भी ब्रह्मा की महिमा का पुराण बतलाया गया है, किंतु वास्तव मे इसे वैष्णव पुराण कहना उचित होगा। इसमे विष्णु के विविध अवतारो की कथाओ के अतिरिक्त पाताल खड के ९८ अध्यायो मे रामावतार की कथा का विस्तार पूर्वक उल्लेख किया गया है। इसी अध्याय मे ६९ से लेकर ८३ तक के अध्यायो मे कृष्ण—चरित्र भी लिखा गया है, जिसमे मथुरा—वृ दाबन का भी विस्तृत वर्णन है। फिर अतिम उत्तर खड के २७२ वे अध्याय से २७९ वे अध्यायो मे भी कृष्ण—चरित का उल्लेख है। २८० वे अध्याय मे वैष्णवाचार का, २८१ वे अध्याय मे पार्वती कृत विष्णु की पूजा का तथा अतिम २८२वे अध्याय मे विष्णु का सर्वाधिक कथन करते हुए विष्णु पूजा का माहात्म्य बतलाया है। इसकी अतर कथाओ मे विविध तीर्थों, मासो और तिथियो के माहात्म्यो के अतिरिक्त बहुसख्यक उपाख्यानादि है, जिनमे भागवत माहात्म्य, यमुना माहात्म्य, विष्णु सहस्रनाम और वृ दाबन माहात्म्य विशेप रूप से उल्लेखनीय है।

३. विष्णु पुराण—उसमे ६ अश और २३ हजार श्लोक है। यह कृष्ण—चरित का सबसे प्राचीन पुराण है, जिसके ५ वे अश के ३८ अध्यायो मे इसका कथन किया गया है। चौथे अश के कतिपय अध्यायो मे यादवो के विविध वशो के साथ भी कृष्ण—चरित्र के दो—एक प्रसगो का सक्षिप्त उल्लेख हुआ है। इस प्रकार कृष्ण—तत्व और वैष्णव दर्शन के साथ ही साथ-साहित्यिक दृष्टि से भी इसका महत्व श्रीमद् भागवत के पश्चात् अन्य पुराणो से अधिक है।

४ **शिव पुराण अथवा वायु पुराण**—विष्णु पुराणोक्त १८ पुराणो की सूची मे चौथा नाम शिवपुराण का है। नारदादि पुराणो मे इसके स्थान पर वायु पुराण का नामोल्लेख हुआ है और शिव पुराण को माहेश्वर पुराण के नाम से उपपुराणो मे गिना गया है। प्राय ऐसी भी मान्यता है कि शिव पुराण और वायु पुराण दोनो नाम एक ही पुराण के है। बगला विश्वकोश-कार का यही मत है। इसके विरुद्ध आनदाश्रम से जो वायु पुराण प्रकाशित हुआ है, वह शिव पुराण से सर्वथा भिन्न है। इससे स्पष्ट होता है कि वायु पुराण और शिव पुराण अलग-अलग पुराण हैं। अन्य पुराणो मे शिव पुराण की श्लोक सख्या २४ हजार दी हुई है और यही सख्या वायु पुराण की भी है, परतु आनदाश्रम के वायु पुराण की श्लोक सख्या १०९९१ है। भगवान् शकर के चरित, उन्ही के सबध के उपाख्यान और कथानक शिवपुराण की विशेपताएँ है, परतु इस वायु पुराण की नही[1]। फिर भी यह शैव पुराण है। इसमे चार खड अर्थात् 'पाद' हैं, जिनके नाम १ प्रक्रिया, २ अनुषग, ३ उपोद्घात और ४ उपसहार है। भूगोल, खगोल और पशुपति की पूजा से सबधित 'पाशुपत योग' का विस्तृत वर्णन इस पुराण की अन्य विशेपताएँ है।

५ **भागवत पुराण**—इस नाम के दो पुराण है,—१. विष्णु भागवत अर्थात् श्रीमद् भागवत और देवी भागवत। दोनो मे १२-१२ स्कध और १८-१८ हजार श्लोक है। श्रीमद् भागवत वैष्णव पुराण है और देवी भागवत शाक्त पुराण। विष्णु पुराणादि मे जहाँ १८ पुराणो की नामावली है, वहाँ केवल 'भागवत' नाम लिखा गया है। उससे यह स्पष्ट नही होता कि वह श्रीमद् भागवत है अथवा देवी भागवत। नारद, पद्म और मत्स्य पुराणो मे भागवत पुराण के जितने लक्षण लिखे गये है, वे सब श्रीमद् भागवत मे मिलते है, अत वही महापुराण है, जब कि देवी भागवत पृथक् पौराणिक रचना है। केवल शिवपुराण मे ही देवी भागवत को महापुराण बतलाया गया है, जो साप्रदायिक आग्रह वश लिखा हुआ जान पडता है।

श्रीमद् भागवत सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त महापुराण है। वैष्णव सप्रदायो के प्रचार मे इसका अनुपम योग रहा है। उपनिपद्, गीता और ब्रह्मसूत्र की प्रस्थानत्रयी का महत्व वैष्णव धर्म मे सर्व-मान्य है, किंतु भागवत के बिना उनकी सफलता अधूरी मानी गई है। उन तीनो के साथ श्रीमद् भागवत को सम्मिलित कर 'प्रस्थान चतुष्टय' के रूप मे ये चारो ही वैष्णव धर्म के प्रधान आधार-स्तभ माने गये है। श्रीमद् भागवत की महिमा सूचक इसके माहात्म्य की वह अनुश्रुति प्रसिद्ध है, जिसमे कहा गया है कि वेदो का विभाग, महाभारत तथा गीता, ब्रह्मसूत्र और कई पुराणो की रचना करने पर भी जब व्यास जी के हृदय को शाति प्राप्त नही हुई, तब नारद जी के परामर्श से उन्होने श्रीमद् भागवत को रच कर पूर्ण शाति का अनुभव किया था।

इस महापुराण की भाषा ललित और भाव गूढ है। इसके यथार्थ मर्म को समझना हरेक के वश की बात नही है, इसीलिए इस पर अनेक भाष्यो एव टीका-टिप्पणियो की रचना हुई है। श्रीमद् वल्लभाचार्य ने इसके गूढार्थ की व्यजक भाषा को 'समाधि भाषा' कहा है। उन्होने इसके कतिपय स्कधो के अर्थ-बोध के लिए 'सुबोधिनी' नामक विख्यात टीका भी की थी।

विविध धर्माचार्यो ने अपने-अपने सप्रदायो के भक्ति-सिद्धातो के समर्थन मे श्रीमद् भागवत पर अनेक टीकाएँ की है, जिनमे से कुछ इस प्रकार है,—

---

(१) हिंदुत्व, पृष्ठ २४१

१—श्रीधर स्वामी कृत 'भावार्थ दीपिका'—श्री शकराचार्य के 'अद्वैत' मतानुसार ।
२—सुदर्शन सूरि कृत 'शुकपक्षीया'—श्री रामानुजाचार्य के 'विशिष्टाद्वैत' मतानुसार ।
३—वीर राघवाचार्य कृत 'वीर राघवी'—'भागवत चद्रिका'—
श्री रामानुजाचार्य के 'विशिष्टाद्वैत' मतानुसार ।
४—विजयध्वज कृत 'पद रत्नावली'—श्री मध्वाचार्य के 'द्वैत' मतानुसार ।
५—शुकदेवाचार्य कृत 'सिद्धात-प्रदीप'—श्री निंवार्काचार्य के 'द्वैताद्वैत' मतानुसार ।
६—वल्लभाचार्य कृत 'सुबोधिनी'—श्री विष्णुस्वामी के 'शुद्धाद्वैत' मतानुसार ।
७—जीव गोस्वामी कृत 'क्रम सदर्भ'—श्री चैतन्य देव के 'माधवगौडेश्वर'—
'अचिन्त्य-भेदाभेद' मतानुसार ।
८—विश्वनाथ चक्रवर्ती कृत 'सारार्थदर्शिनी'—'अचिन्त्य भेदाभेद' मतानुसार ।

उपर्युक्त आठो टीकाओ का एकत्र प्रकाशन श्री नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी द्वारा वृन्दावन से स० १६५८ मे किया गया था। भागवत का वह सुदर सस्करण अब दुर्लभ हो गया है[1] । इनमे श्रीधर स्वामी की टीका सर्वोत्तम और प्राचीनतम मानी जाती है, जो ११वी शती मे निर्मित हुई थी। श्री चैतन्यदेव की उसके प्रति अनन्य निष्ठा थी, और वे उसे अपने मत के लिए भी प्रामाण्य मानते थे। यह टीका सबसे अधिक लोकप्रिय है।

श्रीकृष्ण-लीलाओ के कथन के लिए तो श्रीमद् भागवत का दशम स्कध अनुपम और अपरिहार्य है। उससे प्रेरणा प्राप्त कर सैकडो कवियो ने श्रीकृष्ण सबधी अपनी सहस्रो रचनाएँ की है। इस पुराण की महत्ता का एक बडा कारण श्रीकृष्ण की लीलाओ का गान ही है, जैसा कि पद्मपुराण मे कहा गया है,—"पुराणेषु च सर्वेषु श्रीमद् भागवत परम् । यत्र प्रतिपद कृष्णो, गीयते वहुर्दाशभि ॥"

स्वामी दयानद जी जैसे विख्यात विद्वान ने श्रीमद् भागवत की प्राचीनता स्वीकार न कर इसे बोपदेव की रचना बतलाया है। बोपदेव १४वी शताब्दी के एक वैष्णव भक्त-कवि थे। उन्होने अपने दो ग्रथ 'हरिलीला' और 'मुक्ताफल' श्रीमद् भागवत के आधार पर रचे थे, किंतु स्वय भागवत उनसे कई सौ वर्ष पहिले ही निर्मित हो चुकी थी। अधिकाश विद्वानो के मतानुसार श्रीमद् भागवत की रचना छठी शताब्दी के लगभग हुई थी।

६ **नारद पुराण**—इसमे पूर्व और उत्तर नामक दो खड है, जिनके अध्यायो की सख्या क्रमश १२५ और ८२ है। इसकी श्लोक सख्या २५ हजार है, अत. यह भी बहुत बडा पुराण है। इसमे विविध महीनो एव तिथियो के व्रतो तथा तीर्थो के माहात्म्यो की भरमार है। वैष्णव पुराण होते हुए भी इसमे कृष्ण-चरित्र का अत्यत सक्षिप्त कथन किया गया है। इसकी एक बडी विशेपता यह है कि इसमे समस्त पुराणो की सक्षिप्त सूचियाँ दी गई है, जो पूर्वार्ध खड के ९२ वे अध्याय से १०९ वे अध्याय तक है। इन सूचियो के कारण समस्त पुराणो के प्राचीन स्वरूप का बोध होता है, और यह भी पता लग जाता है कि इनमे कितना अश बाद का बढाया हुआ है। समस्त पुराणो की सूचियो से यह सरलता पूर्वक समझा जा सकता है कि नारद पुराण अतिम पुराण है, अथवा यह सूचियो वाला अश इसमे बहुत बाद मे बढाया गया है।

---

(१) भागवत संप्रदाय, पृष्ठ १६१

७. मार्कंडेय पुराण—यह साढ़े ९ हजार श्लोको का सबसे छोटा पुराण है, किंतु इसकी उपलब्ध प्रति मे उतने श्लोक भी नही है। इसे शैव पुराण कहा जाता है, किंतु इसमे किसी सप्रदाय विशेष का प्रभाव लक्षित नही होता है। इसके उपाख्यानो मे प्राचीन काल की ब्रह्मवादिनी विदुषी मदालसा का चरित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसका एक अश 'दुर्गा सप्तशती' कहलाता है, जिसका उल्लेख इसके ७८ वे अध्याय से ९० वे अध्याय तक हुआ है। इसके उपलब्ध सस्करणो मे कृष्ण-चरित्र नही है, किंतु इसके छूटे हुए अश मे उसके होने का उल्लेख मिलता है। इस पुराण का प्रचलित सस्करण अपूर्ण है।

८. अग्नि पुराण—इसमे ३८३ अध्याय है और इसकी श्लोक सख्या साढे १० हजार है। इस मे रामायण, महाभारत और हरिवश का सार तथा विविध अवतारो का वर्णन है। देवालयो और देव-प्रतिमो की प्रतिष्ठा, देवपूजन विधि, तीर्थो के माहात्म्य और तिथियो के व्रतादि का उल्लेख करने के अनतर इसमे विविध शास्त्रो, अनेक विद्याओ और कलाओ का विस्तृत वर्णन किया गया है। धर्म शास्त्र, मत्र शास्त्र, राजधर्म, राजनीति, रत्न परीक्षा, वास्तु विद्या, धनुर्वेद, आयुर्वेद, पशु चिकित्सा, ज्योतिष, छद शास्त्र, काव्य, नाटक, अलकार, व्याकरण, योग शास्त्र, ब्रह्मज्ञान आदि अनेक विषयो का इसमे समावेश है। इस प्रकार भारतीय सस्कृति के अनेक अगो का वर्णन होने के कारण इसे विश्वकोश भी कहा जा सकता है। यह अत्यत महत्वपूर्ण पुराण है।

९. भविष्य पुराण—प्राचीन मान्यता के अनुसार इसे प्राय साढे १४ हजार श्लोको का माना जाता है, किंतु इस समय इसके जो सस्करण उपलब्ध है, उनमे किसी मे भी इतने श्लोक नही है। इससे समझा जा सकता है कि मूल भविष्य पुराण किसी कारण से अप्राप्य हो गया है और उसके स्थान पर कई प्रक्षिप्त सस्करण चल पडे है। नारद पुराण मे इसकी जो सूची दी गई है, उसका मेल किसी भी वर्तमान सस्करण से नही होता हे। इसके पूर्वार्ध मे कृष्ण-पुत्र साम्ब द्वारा शाकद्वीपी मग ब्राह्मणो के भारतवर्ष मे लाये जाने का वर्णन है। इससे पारसियो के भारत मे आने का सकेत मिलता है। इसे शैव पुराण माना जाता है, किंतु इसमे सूर्य की महिमा विशेष रूप से वर्णित है। इसके उत्तरार्ध मे अनेक पुण्य तिथियो के माहात्म्यो और व्रतो का कथन हुआ है। भारतेन्दु हरिश्चद्र जी ने इसी भाग से 'श्री महालक्ष्मी व्रत कथा' को सकलित किया था, जिसके आधार पर उन्होने अग्रवाल वैश्यो की उत्पत्ति लिखी थी। इस समय जो मुद्रित सस्करण मिलता है, उसमे वह प्रसग नही दिया गया है।

१०. ब्रह्मवैवर्त पुराण—इसके पूर्वार्ध मे ब्रह्म, प्रकृति और गणपति नामक तीन खड हैं, तथा इसके उत्तरार्ध के दो खडो मे श्रीकृष्ण चरित्र है। इसकी श्लोक सख्या १८ हजार है। स्कद पुराण के अनुसार यह सूर्य की महिमा का तथा मत्स्य पुराण के अनुसार ब्रह्मा की प्रधानता का पुराण है, किंतु इसमे वर्णित विषयो को देखते हुए यह वैष्णव पुराण कहा जाना चाहिए। धर्मोपासना मे राधा की महत्ता का उल्लेख सबसे पहिले इसी पुराण मे हुआ है। इसी के द्वारा राधा-कृष्ण के युगल स्वरूप की उपासना का प्रचार हुआ जान पडता है,। इसके पूर्वार्ध के तीनो खडो मे क्रमश गोलोकस्थित भगवान् श्री कृष्ण और भगवती राधा जी तथा गणेश की कथाओ का वर्णन है। इसके उत्तरार्ध मे श्री राधा-कृष्ण की लीलाओ का विस्तार पूर्वक कथन किया गया है। इस पुराण के दाक्षिणात्य और गौडीय नामक दो पाठ और कई सस्करण मिलते है। इस प्रकार इसमे प्रक्षिप्त अश प्रचुर परिमाण मे वढाया हुआ जान पडता है।

११. लिंग पुराण—यह ११ हजार श्लोको का शैव पुराण है। इसके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध नामक दो खंड है, जिनमे क्रमश १०८ और ५५ अध्याय हैं। इसमे शिव के २८ अवतारो, शैव व्रता और शैव तीर्थों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इस प्रकार शिव-तत्व का विस्तृत वर्णन होने से यह पुराण अपना विशिष्ट महत्व रखता है। इसके पूर्वार्ध के अध्याय ६८, ६९ तथा १०८ मे यादव वंश और कृष्णावतार का भी सक्षिप्त कथन है।

१२. वराह पुराण—प्राचीन मान्यता के अनुसार इसे २४ हजार श्लोको का वडा पुराण कहा जाता है, किंतु इसके उपलब्ध सस्करण मे १० हजार से कुछ अधिक श्लोक और २१८ अध्याय ही मिलते हैं। इस प्रकार इसकी पूर्ण प्रति प्राप्त नही है। यह शैव पुराण है। इसमे कृष्ण-चरित्र का कथन तो नही है, किंतु इसके 'मथुरा माहात्म्य' मे मथुरामडल के समस्त तीर्थों का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह मथुरा से संवधित एक मात्र पुराण है।

१३. स्कंद पुराण—यह ८१ हजार श्लोको का सबसे वडा पुराण है, जिसमे शिव-तत्व का कथन विशेष रूप मे हुआ है। इसके अतर्गत अनेक सहिता, खड और माहात्म्य है। इसमे समस्त भारतवर्ष के सैकडो तीर्थों का वर्णन हुआ है, जिनके कारण यह प्राचीन भारत के भूगोल का परिचायक है। इसके तीर्थों मे मथुरा का भी उल्लेख है, किंतु कृष्ण-चरित्र इसमे नही लिखा गया है। 'सत्यनारायण व्रत-कथा माहात्म्य' इसी के रेवा खड का एक अश है।

१४. वामन पुराण—इसमे १० हजार श्लोक और ९५ अध्याय हैं, जिनमे विष्णु और शिव की महिमा का विस्तार से वर्णन किया गया है। विष्णु के विविध अवतारो मे वामनावतार का उल्लेख इसमे विशेष रूप से हुआ है।

१५. कूर्म पुराण—इसे १७ हजार श्लोको का माना जाता है, किंतु इसके मुद्रित सस्करण मे केवल ६ हजार श्लोक हैं। इस प्रकार यह अपूर्ण सस्करण है। प्रस्तुत सस्करण के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध नामक दो खडो मे क्रमश ५३ और ४६ अध्याय मिलते हैं। यह शैव पुराण है। ऐसा जान पडता है, इसके कुछ अश तत्र ग्रथो मे मिला दिये गये है, क्यो कि नारदपुराणोक्त सूची के छूटे हुए विषय डामर, यामल आदि तत्र ग्रथो मे ही पाये जाते हैं[1]।

१६. मत्स्य पुराण—इसमे १४ हजार श्लोक और २९० अध्याय हैं। इसे शिव की महिमा सूचक पुराण कहा जाता है। यह जिस रूप मे उपलब्ध है, वह प्राय मौलिक और प्राचीन है। अत इसमे बहुत कम प्रक्षेप होने की सभावना है। इसके ५३ वें अध्याय मे नारद पुराण की तरह समस्त पुराणो की विषयानुक्रमणी है, जिससे पुराणो के विकास-क्रम का बोध होता है।

१७. गरुड़ पुराण—यह १९ हजार श्लोको का वैष्णव पुराण है, किंतु यह पूर्ण रूप मे उपलब्ध नही है। इसके प्राप्त संस्करण मे ११ हजार श्लोक है तथा इसके पूर्व और उत्तर नामक दो खडो मे क्रमश २४३ और ४५ अध्याय है। इसके पूर्व खड मे रत्न परीक्षा, राजनीति, आयुर्वेद, पशु चिकित्सा, छंद शास्त्र, सांख्य-योग आदि अनेक विद्याओ का कथन अग्नि पुराण के सदृश हुआ है। इसके उत्तर खंड मे मानव की मरणोपरांत अवस्था का विस्तार से वर्णन किया गया है, जिसके कारण हिंदुओ मे श्राद्ध कर्म अथवा किसी की मृत्यु के अवसर पर इसकी कथा कराई जाती है।

---

(१) हिंदुत्व, पृष्ठ ३६२

१८. ब्रह्मांड पुराण—यह १२ हजार श्लोको का शैव पुराण है। इसमे समस्त विश्व का वर्णन होने से ही इसका 'ब्रह्माड' पुराण नाम पडा है। जम्बू द्वीप के साथ ही साथ अनेक 'द्वीपो' और 'वर्षो' का भौगोलिक वर्णन इसकी विशेषता है। "इसके तृतीय पाद मे भारत के क्षत्रिय वशो का उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यत महत्वपूर्ण है। इसकी उल्लेखनीय बात यह है कि ५ वी शती मे भारत के कुछ विद्वान इसकी प्रति को जावा द्वीप मे ले गये थे, जहाँ की भाषा मे उसका अनुवाद हुआ था, जो अब भी उपलब्ध है। इस प्रकार यह अत्यत प्राचीन पुराण सिद्ध होता है[1]।" इसकी रामायणी कथा को 'अध्यात्म रामायण' कहा जाता है, जो पृथक् रूप मे भी मिलती है।

उप पुराण—पूर्वोक्त पुराणो के अतिरिक्त अनेक 'उप पुराण' भी है, जिनके नाम, क्रम और श्लोक-सख्या के विषय मे विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है। 'सूत सहिता' (अध्याय १, १३-१८) के अनुसार उनकी सख्या २० है और उनके नाम तथा क्रम इस प्रकार है,—१ सनत्कुमार, २ नरसिंह, ३ नान्दी, ४ शिवधर्म, ५ दुर्वासा, ६ नारदीय, ७, कपिल, ८ मानव, ९ उशनस, १० ब्रह्माड, ११ वरुण, १२ कालिका, १३ वसिष्ठ, १४. लिंग, १५ महेश्वर, १६ साम्ब, १७ सौर, १८. पराशर, १९ मारीच, २० भार्गव[2]। उपर्युक्त सूची के नारद, ब्रह्माड और लिंग उपपुराणो का उल्लेख पहिले पुराणो मे भी किया जा चुका है। 'महेश्वर' उप पुराण को कुछ लोग शिव पुराण से अभिन्न मानते हैं।

पुराणो का वर्गीकरण—पुराणो ने अवतारवाद और बहुदेवोपासना का अत्यत पुष्ट धरातल पर प्रचार किया था। उनमे अनेक देवताओ के धार्मिक महत्त्व का कथन होते हुए भी विष्णु, शिव, ब्रह्मा, अग्नि और सूर्य को प्रमुखता दी गई है। प्रत्येक पुराण मे उनमे से किसी एक देवता की प्रधानता की पुष्टि की गई है, किंतु अन्य देवताओ को भी उसके अगीभूत मान कर स्वीकार कर लिया गया है। पूर्वोक्त पाँच प्रमुख देवताओ के अनुसार १८ पुराण भी ५ वर्गो मे विभाजित किये गये है। स्कद पुराण के शिव रहस्य खडार्गत सभव काड मे भी पुराणो का एक वर्गीकरण दिया गया है। उसके अनुसार १० पुराणो मे शिव की, ४ मे विष्णु की, २ मे ब्रह्मा की, १ मे अग्नि की और १ मे सूर्य की प्रधानता है, तथा अन्य देवो की गौणता है[3]। वह वर्गीकरण इस प्रकार है,—

१ शिव की प्रधानता के पुराण—१ शिव, २ भविष्य, ३ मार्कंडेय, ४ लिंग, ५ वराह, ६ स्कद, ७ मत्स्य, ८ कूर्म, ९ वामन और १० ब्रह्माड पुराण।
२ विष्णु की प्रधानता के पुराण—१ विष्णु, २ भागवत, ३ नारद, और ४ गरुड़ पुराण।
३ ब्रह्मा की प्रधानता के पुराण—१ ब्रह्म और २ पद्म पुराण।
४ अग्नि की प्रधानता का पुराण—१ अग्नि पुराण।
५ सूर्य की प्रधानता का पुराण—१ ब्रह्मवैवर्त पुराण।

उपर्युक्त वर्गो मे शिव की प्रधानता वाले पुराणो की सख्या सबसे अधिक है। उनकी श्लोक सख्या प्राय ३ लाख कही जाती है। यह वर्गीकरण उस स्कद पुराण के अनुसार है, जो शिव की महिमा को प्रधानता देता है। इस प्रकार इसे साप्रदायिक आग्रह पर आधारित भी कहा जा सकता है। अन्य पुराणो के अनुसार उक्त वर्गीकरण के क्रम और नामो मे अतर है।

●

---

(१) आर्य सस्कृति के मूलाधार, पृष्ठ २१३
(२) आर्य सस्कृति के मूलाधार, पृष्ठ १७७
(३) स्कद पुराण, सभवकाड, २-३०-३९

चतुर्थ अध्याय

मध्य काल

[विक्रम स० ६०० से विक्रम स० १२६३ तक]

उपक्रम—

इस काल का महत्व—ब्रज के सास्कृतिक इतिहास का यह काल महान् क्रातिकारी परिवर्तनो एव आश्चर्यजनक उलट-फेरो का है। प्राय सात शताब्दियो के इस छोटे से काल मे मथुरामडल की राजनैतिक और सास्कृतिक गति-विधियो के साथ ही साथ इसकी धार्मिक परिस्थिति मे जितने युगातरकारी परिवर्तन हुए, उतने किसी भी दूसरे काल मे नही हुए थे। इस काल के प्रारभ मे महान् गुप्त सम्राटो के साम्राज्य का अत होने से प्राचीन मगध साम्राज्य और उसकी राजधानी पाटलिपुत्र का महत्व समाप्त हो गया था। उसका स्थान हर्षवर्धन के साम्राज्य को प्राप्त हुआ, जिससे उसकी राजधानी कन्नौज की महत्ता बढ गई थी। उसका मथुरामडल की राजनैतिक और सास्कृतिक स्थिति पर भी बडा अनुकूल प्रभाव पडा था।

इस काल मे पुराणो के समन्वयात्मक लोकधर्म का प्रचार और तत्रो की आकर्षक साधना का उदय हुआ था, जिससे सभी धर्म-सप्रदायो मे बडे क्रातिकारी परिवर्तन हुए थे। इसी काल मे कुमारिल भट्ट और शकराचार्य जैसे महान् प्रतिभाशाली विद्वानो ने प्राचीन वैदिक धर्म के ध्वसावशेषों पर उस सुदृढ 'हिंदू धर्म' की नीव डाली थी, जिसके अगीभूत वैष्णव, शैव, शाक्तादि धर्मो ने मथुरामडल की धार्मिक स्थिति को बडा प्रभावित किया था। फलत इस काल के अवैदिक धर्मो मे बौद्ध धर्म की समाप्ति हो गई, जैन धर्म का प्रभाव कम हो गया, और वेदानुकूल भागवत धर्म ने वैष्णव धर्म के रूप मे नया कलेवर प्राप्त किया था। इस काल के अत की सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना विदेशी मुसलमानो द्वारा भीषण आक्रमण करना था, जिसका मथुरामंडल के राजनैतिक, सास्कृतिक और धार्मिक जीवन पर बडा दूरगामी प्रभाव पडा था। यहाँ पर उक्त घटनाओ का सक्षिप्त रूप से सिहावलोकन किया जाता है, जिससे इस काल के धर्म-सप्रदायो की गति-विधियो को समझने मे सुविधा होगी।

कन्नौज के महत्व से मथुरा की गौरव-वृद्धि—सम्राट हर्षवर्धन का पैतृक राज्य थानेश्वर था, किंतु परिस्थितियो ने उसे थानेश्वर के साथ ही साथ कन्नौज जैसे बडे राज्य का भी स्वामी बना दिया था। थानेश्वर राज्य वैदिक धर्म के प्राचीन केन्द्र कुरु जनपद के अतर्गत था। वहाँ सदा से ही वैदिक धर्म और उससे प्रभावित भागवत, शैव, शाक्त आदि धर्म-सप्रदायो का प्रचलन रहा था। जब देश के अन्य भागो मे बौद्ध और जैन धर्मो का व्यापक प्रचार हो गया, तब भी थानेश्वर और उसके निकटवर्ती भाग मे वे अपेक्षाकृत कम प्रचलित हुए थे। कन्नौज की स्थिति भारतवर्ष के हृदयस्थल और उसके परपरागत सास्कृतिक रगमच 'मध्यदेश' के प्राय केन्द्र मे थी। जब कन्नौज नगर हर्ष के साम्राज्य की राजधानी हुआ, तब वह समस्त देश की गति-विधियो का भी प्रेरणा-स्रोत बन गया था।

मथुरामडल थानेश्वर और कन्नौज जैसे नवोत्पन्न शक्तिशाली राज्यो के बीच मे था, और साथ ही उन दोनो के स्वामी हर्षवर्धन के सामाज्य के अतर्गत भी था, इसलिए उसकी धार्मिक नीति का मथुरामडल पर प्रभाव पडना स्वाभाविक था। हर्ष का पूर्वज पुष्यभूति शिवोपासक था और उसका पिता प्रभाकरवर्धन सूर्य का आराधक। हर्ष भी अपनी कुल-परपरा के अनुसार आरभ मे शिव

और सूर्य का उपासक रहा था, किंतु बाद मे उसका झुकाव बौद्ध धर्म की ओर अधिक हो गया था। वस्तुत हर्ष की धार्मिक नीति सहिष्णुतापूर्ण थी और वह सभी धर्मो का सन्मान करता हुआ उन्हे राज्याश्रय प्रदान करता था। उसके काल मे मथुरामडल मे भी सभी धर्म-सम्प्रदाय बिना किसी रुकावट के अपने-अपने ढग से फूलते-फलते रहे थे। हर्ष के शासन काल मे चीनी यात्री हुएनसाग भारत के बौद्ध धर्मस्थानो की यात्रा करने को आया था। वह मथुरा भी गया था। उसने अपने यात्रा-विवरण मे यहाँ की धार्मिक स्थिति के सबध मे जो कुछ लिखा है, उससे उक्त तथ्य की पुष्टि होती है।

पुराणो का प्रभाव—जैसा पहिले लिखा गया है, गुप्त काल अर्थात् ७वी शती तक पुराणो का सकलन, सपादन और वर्गीकरण किया जा चुका था, अत ७वी से १३वी शती तक के इस काल को 'पुराणोत्तर युग' कहा जाता है। इस काल के प्राय सभी धर्म-सप्रदायो पर पुराणो का प्रचुर प्रभाव पडा था। पुराणो मे अवतारवाद और बहुदेवोपासना का समर्थन किये जाने से इस काल मे एक ऐसे समन्वित और व्यापक लोकधर्म का उदय हुआ था, जिसकी नीव धार्मिक सहिष्णुता पर रखी गई थी। उक्त धर्म को पौराणिक अथवा हिंदू धर्म कहा जाता है। इसमे विष्णु, शिव, ब्रह्मा, अग्नि, सूर्य, शक्ति एव गणेश आदि सभी प्रमुख देवताओ को मान्यता दी गई है; जिससे उन सब के उपासको को एक ही धार्मिक मच पर सहिष्णुता पूर्वक एकत्र होने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

प्रत्येक पुराण मे किसी एक देवता की प्रधानता बतलाते हुए भी अन्य देवताओ को उसके अगीभूत मान कर स्वीकार किया गया है। इससे धार्मिक भेद-भाव को कम करने मे पुराणो की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। पौराणिक हिंदू धर्म मे पहिले विष्णु, शिव, ब्रह्मा, अग्नि और सूर्य की उपासना पर अधिक बल देते हुए अन्य देवताओ को भी उपास्य माना गया। बाद मे ब्रह्मा और अग्नि की उपासना क्रमश गणेश और शक्ति मे लीन हो गई थी। इस प्रकार पौराणिक-हिंदू धर्म का अतिम रूप विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणेश की उपासना को प्रधानता देते हुए चला था। इन्ही पच देवो की उपासना-भक्ति को कालातर मे 'स्मार्त धर्म' का नाम भी प्राप्त हुआ था।

इस काल मे पौराणिक धर्म का अधिक प्रचार होने से लोगो की श्रद्धा अवतारवाद और बहुदेवोपासना के प्रति अधिक हो गई थी। भागवत धर्म मे अवतारवाद तो पहिले से ही मान्य था, किंतु बहुदेवोपासना के स्थान पर भगवान् वासुदेव तथा उनके व्यूहो की उपासना प्रचलित थी। पौराणिक धर्म के प्रभाव से भागवतो ने पचदेवोपासना, विशेष कर विष्णु की उपासना को स्वीकार कर लिया, जिसके कारण उनमे और स्मार्तो मे उपासना-पूजा के मच पर बहुत कुछ मेल हो गया था। उससे भागवत धर्म का प्राचीन रूप चाहे कुछ बदल गया, किंतु अपने नये कलेवर मे उसे जनता को अधिक आकर्षित करने की क्षमता प्राप्त हो गई थी।

तांत्रिक साधना का उदय और विकास—भारतीय धर्मोपासना के इतिहास मे यह काल तात्रिक साधना के उदय और प्रसार का युग माना जाता है। इस काल मे बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, पचरात्र, भागवत आदि सभी धर्म-सप्रदायो ने किसी न किसी रूप मे तात्रिक प्रवृत्तियो को अपना लिया था। इसलिए उस युग का नाम ही 'तात्रिक काल' पड गया है। तात्रिक साधना जिस 'तत्र' पर आधारित है, उसका अर्थ है,—'ज्ञान का विस्तार'। 'काशिका' के अनुसार, जिससे ज्ञान का विस्तार हो, वह तत्र है,—'तन्यते विस्तार्यते ज्ञानम् अनेन इति तत्रम्'। इस सामान्य अर्थ से ज्ञान के विशदीकरण की उस प्रवृत्ति का बोध होता है, जो साधना और आचार के क्षेत्र मे इस काल के प्राय

सभी धर्म-सप्रदायो ने अपनायी थी । 'तत्र' के विशिष्ट अर्थ के रूप मे वेद से भिन्न उस शास्त्र का नाम है, जिसमे पुरुष-शक्ति और स्त्री-शक्ति की एकता द्वारा विविध साधनाओ, आचारो और पूजा-पद्धतियो से सिद्धि और मुक्ति को सरलतापूर्वक प्राप्त करने का विधान है। पुरुष—शक्ति और स्त्री—शक्ति के सघट्ट के लिए इसमे देवता के स्वरूप, गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार विविध मत्रो, चक्रो और योग-क्रियाओ की उपासना-विधि का वर्णन हुआ है । तत्र शास्त्र को 'सहिता' अथवा 'आगम' भी कहते है । वैसे शाक्त धर्म मे इसे 'तत्र', पचरात्र-वैष्णव सप्रदायो मे 'सहिता' और शैव धर्म मे 'आगम' कहा जाता है ।

तत्रो की परंपरा और उनका प्रचलन—साधारणतया तत्रो का प्रसिद्ध नाम 'आगम' है । इनके आगम (आये हुए) नाम से यह समझा जा सकता है कि वे वेदोक्त ज्ञान की प्राचीन धारा के अतिरिक्त किसी अन्य स्रोत से आये है । 'कूर्म पुराण' मे लिखा है, तत्र ऐसे ब्राह्मणो द्वारा प्रवर्तित थे, जिन्होने द्विज सुलभ वेद-पाठन के अपने अधिकार को खो दिया था और जो रुढिवादी ब्राह्मणो द्वारा नीची निगाह से देखे जाते थे[1] । । डा० धर्मवीर भारती का मत है,—"तत्र वास्तव मे उन अगणित लोकाचारो तथा लोक मे प्रचलित रहस्यमय अनुष्ठानो का परिणत रूप है, जिसे आदिवासी और समाज के निम्न वर्ग के व्यक्ति सदा से अपनाते रहे है । वह लोक धर्म तात्रिक काल मे उभर कर ऊपर आ गया था । उस समय उसे ग्रहण करने के लिए कितने ही सप्रदाय प्रत्येक धर्म मे बन गये थे । उन सप्रदायो मे साधना प्रधान थी और उस साधना के अनुरूप ही उन्होने अपने देवी-देवताओ का स्वरूप, उनके पारस्परिक सबध, उनकी चर्या, क्रिया, अभिचार, मत्र आदि परिकल्पित कर लिये थे । इसीलिए तत्रो का 'आगम' नाम सर्वथा उपयुक्त है[2] ।

साधना की समानता—बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, पचरात्र, वैष्णव आदि धर्म-सप्रदायो के आधार पर तत्रो के भी कितने ही भेद है, किंतु साधना की दृष्टि से उनकी अनेक बातो मे बडी समानता है । इसके कारण उनके भेदो मे भी अभेदता दिखलाई देती है । उन सभी धर्म-सप्रदायो की सामान्य तात्रिक साधना का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि उन सबमे शक्तिवाद का महत्व और पुरुप-शक्ति एव स्त्री-शक्ति की एकता मान्य है, चाहे उसके लिए विभिन्न नामो का प्रयोग किया गया है । बौद्ध धर्म के उपाय और प्रज्ञा, शैव-शाक्त धर्मो के शिव और शक्ति, तथा पचरात्र-वैष्णव सप्रदायो के विष्णु और लक्ष्मी, राम और सीता अथवा कृष्ण और राधा आदि नाम तात्रिक साधना की दृष्टि से पुरुप-शक्ति और स्त्री-शक्ति के ही द्योतक है ।

सभी धर्म-सप्रदायो मे चाहे उपास्य देवी-देवताओ के स्वरूप, उनके तत्व-दर्शन और मत्रो मे पृथक्ता थी, किंतु उनकी तात्रिक साधना की पद्धति प्राय समान थी और उसकी विशिष्ट विधियो का सब मे निस्सकोच आदान-प्रदान होता था । उनमे तत्व-दर्शन को गौणता और साधना, क्रिया एव चर्या को प्रमुखता दी गई थी । साधना मे गुरु को विशेप महत्व प्राप्त था और साधको मे प्राय वर्ण-जाति का भेद-भाव नही किया जाता था । सब मे शक्ति सहित देवता के रूप-गुण, वस्त्र-वाहन, अस्त्र-शस्त्र और आकृति-प्रकृति के ध्यान द्वारा आराध्य के साथ तादात्म्य, आराध्य की कृपा की कामना, मत्र-यत्र, मुद्रा, कुडलिनी—योग समान रूप से स्वीकृत थे । सभी मे रागात्मक साधना होने से उसकी मिथुनपरक और प्रतीकात्मक व्याख्या की गई थी।

(१) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ ११७
(२) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ ११९

साधना का स्वरूप—तांत्रिक साधना का मूल सिद्धांत है, प्रवृत्ति द्वारा सिद्धि और मुक्ति को प्राप्त करना। इसके लिए तांत्रिक साधक भोग से ही काम को वश में करने की चेष्टा करते हैं। साधना की इस विधि में विरोधाभास जान पड़ता है, किंतु तांत्रिक सिद्धांत के अनुसार ऐसा नहीं है। डा० विश्वंभरनाथ उपाध्याय ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है,—"इन साधना द्वारा निरूपित सभी आचारों और क्रियाओं में 'भाव' को मुख्य आधार माना गया है। बाह्याचार इन भाव को या तो प्रेरणा देने के लिए है, अथवा इस भाव को उच्चतर मानसिक स्थितियों में रूपान्तरित करने के लिए है। इसी दृष्टि से शव-साधना, कुमारी-पूजा, चक्र-पूजा आदि को देखना चाहिए। भयंकर क्रियाओं को छोड़ कर तांत्रिक साधना का आधारभूत सिद्धांत भाव विशेष का विकास है। शैव, शाक्त, बौद्ध, वैष्णव सभी तंत्रों में यही सिद्धांत दिखाई पड़ता है। देवता का ध्यान तथा उनके साथ भावात्मक एकता इन संप्रदायों की साधना का मर्म है। तंत्रों का कथन है, भोग के समय भावना ही मन को कलुषित करती है। 'मैं कुछ अनुचित कर रहा हूँ'—इस भावना के निकल जाने पर प्रवृत्तियों का भोग ग्लानि उत्पन्न नहीं करता। इसीलिए कुमारी-पूजा आदि में स्त्री को देवी रूप में स्वीकार कर सम्पूर्ण विलासमय परिस्थिति को एक सर्वथा पवित्र और दिव्य भाव में बदलने का प्रयत्न किया जाता है। इसी प्रकार काम-प्रवृत्ति भी दिव्य कर्म समझ कर करने से—काम को संतुष्ट करते समय यह भावना करने से कि यह मिलन ब्रह्मांडव्यापी शक्ति और शिव का मिलन है, साधक के मन में लज्जा और ग्लानि नहीं रहती और अंत में मन शांत हो जाता है। इसमें साधक की वासना का दिव्य स्तरों पर प्रक्षेपण हो जाने से वासना दिव्य भाव में बदल जाती है। 'गंधर्वतंत्र' में कहा गया है, उपयोग की विधि तथा भावना से ही वस्तु पवित्र या अपवित्र होती है। वह स्वयं में न पवित्र है, न अपवित्र[1]।"

म. म. डा० गोपीनाथ कविराज ने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए बतलाया है,—"अंतर में जो भोगाकांक्षा विद्यमान है, उसे तृप्त न कर यदि उसे अभिभूत करने की चेष्टा की जायगी, तो उसमें कभी सफलता नहीं हो सकती है। विरोधी प्रबल शक्ति के द्वारा कुछ समय के लिए वह अभिभूत भी हो जाय, परंतु अवसर मिलते ही वह दूने वेग से पुनः जागृत हो उठेगी। चित्त में जब तक जिस विषय के संस्कार रहेंगे, तब तक उस विषय का त्याग नहीं हो सकता। कृत्रिम उपायों से यथार्थ त्याग नहीं हो सकता। चित्त में स्थित वासना अपने आप ही शुद्ध भोग्य वस्तु के मिलने से तृप्त हो जाती है, और ऐसा होने पर उसके फिर उत्पन्न होने की संभावना नहीं रहती, जिससे वह साम्य भाव धारण कर लेती है। उस अवस्था में निवृत्ति देवी का आवाहन नहीं करना पड़ता, स्वभावतः ही उसका आविर्भाव हो जाता है। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा'—ईशोपनिषद् के इस मंत्र में त्याग और भोग का बड़ा सुंदर समन्वय किया गया है। कौशल पूर्वक भोग का नाम ही प्रवृत्ति धर्म है, अर्थात् भोग का एक ऐसा कौशल भी है, जिसका अवलंबन करने से भोग के द्वारा ही भोग का अवसान हो जाता है। तब निवृत्ति अपने आप ही आ उपस्थित होती है, उसके लिए पृथक् रूप से चेष्टा नहीं करनी पड़ती। इस कौशल का अवलंबन न किये जा सकने पर ही भोग बंधन का कारण हो जाता है, और वह कभी धर्म-पदवाच्य नहीं हो सकता। भगवान् के मंगलमय विधान में अशुभ कुछ भी नहीं है। उचित रीति से भोग करने पर हम जान सकेंगे कि भोग भी मंगलमय है, उसमें किसी अंश में भी अमंगल नहीं है। भोग के मूल में त्याग न रहने से जैसे वह भोग धर्म रूप में परिणत होने के योग्य नहीं है, इसी प्रकार त्याग के मूल में भोग न रहने से वह त्याग भी धर्म-पदवाच्य नहीं हो सकता[2]।

(१) संत वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव, पृष्ठ १४३–१४४ का सारांश
(२) भारतीय संस्कृति और साधना (दूसरा भाग), पृष्ठ ९७ से १०८ तक का सारांश।

आकर्षण और प्रचार—जैसा पहिले लिखा गया है, तात्रिक साधना का मूल सिद्धात है,—प्रवृत्ति द्वारा सिद्धि तथा मुक्ति को प्राप्त करना और वह भी कामोपभोग द्वारा । यह एक ऐसा आकर्षक सिद्धात था कि उसकी ओर इस काल के सभी प्रमुख धर्म–सप्रदाय बडी ललक के साथ दौड पडे थे । साधारणतया सभी धर्मो मे भोग-प्रवृत्ति और काम-चेष्टा को उदात्त कर्म नही माना गया है और उन्हे कल्याण एव निर्वाण के मार्ग मे प्राय बाधक ही समझा गया है । इसीलिए भोग-प्रवृत्ति के शमन के लिए साधको को कायाकष्टात्मक कठोर आचारो के पालन करने का विधान किया गया है । किंतु जब तत्राचार्यो ने कायाकष्ट की अपेक्षा कामोपभोग द्वारा ही कल्याण और निर्वाण के प्राप्त होने की सभावना व्यक्त की, तब उनकी ओर साधको का आकर्षण होना स्वाभाविक था । फलत उस काल के प्राय सभी धर्म–सप्रदायो मे तात्रिक साधना का व्यापक प्रचार हुआ था ।

आचार-भेद और उनका भला-बुरा प्रभाव—तात्रिक साधना मे आचार की दृष्टि से दो प्रमुख भेद माने गये है, जिन्हे दक्षिणाचार अथवा दक्षिणमार्ग और वामाचार अथवा वाममार्ग कहा जाता है । दक्षिणमार्ग की तात्रिक साधना सात्वकी और सौम्य होती है, जब कि वाममार्ग की प्राय तामसी और उग्र । बौद्ध, शैव और शाक्त धर्मो मे दोनो प्रकार की साधनाएँ प्रचलित हुई थी, किंतु जैन, पचरात्र और भागवत धर्मो ने प्राय दक्षिणमार्ग को अपनाया था । इस साधना की एक महत्वपूर्ण बात यह थी कि उसने परस्पर विरोधी सिद्धातो के धर्म–सप्रदायो को भी एक ही धार्मिक मत्र पर ला खडा किया था । उसके द्वारा भारतीय धर्मो के पारम्परिक भेद मिटाने का बडा महत्वपूर्ण कार्य हो सकता था, किंतु उसके वाममार्गीय अनाचारो ने ऐसा अनिष्ट किया कि उक्त साधना सभी धर्म-सप्रदायो के लिए अहितकर ही सिद्ध हुई थी । वाममार्ग की गुह्य साधना और उसके वीभत्स आचारो का इस काल मे ऐसा अधड उठा कि उसने प्राय सभी धर्म-सप्रदायो के स्वरूप को धूमिल कर दिया था ।

धार्मिक क्रांति—पुराणो के लोक धर्म और तात्रिक साधना के भले–बुरे प्रभाव ने उस काल के सभी धर्म-सप्रदायो को इतना झकझोर दिया था कि वे सब एक महान् धार्मिक क्राति के कगार पर आ खडे हुए थे । जिन धर्म-सप्रदायो के स्वरूप को उनके आचार्यो ने सुधार लिया था, वे उस सकट से बच गये, किंतु जो नही सुधार सके, वे प्रभावहीन और महत्त्वशून्य हो गये थे । उसी काल मे कुमारिल भट्ट और शकराचार्य जैसे महामनीषी धार्मिक विद्वानो ने वेदानुकूल धर्मो का पुनरुद्धार कर वेद विरोधी धर्मो पर करारी चोट की थी । उस काल के अवैदिक धर्मो मे बौद्ध और जैन धर्म प्रमुख थे, जो उन प्रकाड विद्वानो के शास्त्रीय आक्रमण की चपेट मे आये थे । बौद्ध धर्म अपनी आतरिक दुर्बलताओ के कारण उन वेदोद्धारक महानुभावो की शास्त्रीय मार को सहन नही कर सका, किंतु जैन धर्म ने तप, त्याग और सयम के सुदृढ कवच से अपने अस्तित्व को बचा लिया था ।

राजपूतों का उदय और मुसलमानों का आक्रमण—इस काल की दो अन्य घटनाओ ने भी मथुरामडल की धार्मिक स्थिति को बडा प्रभावित किया था । उनमे से पहली घटना राजपूत शक्ति का उदय और प्रसार था । राजपूत राजागण पौराणिक हिंदू धर्म के अनुयायी थे और उन्हे मथुरा जैसे धार्मिक स्थानो की महत्ता स्वीकृत थी । उस काल के राजपूत राजा आपस मे लडते हुए भी मथुरा की विशिष्ट धार्मिक स्थिति को मानते थे । उन्होने यहाँ पर अनेक मदिर–देवालय बनवा कर उनके व्यय के लिए पर्याप्त सम्पत्ति अर्पित की थी, जिससे वे समृद्धिशाली हो गये थे । दूसरी घटना विदेशी मुसलमानो का आक्रमण था । उससे मथुरामडल की धार्मिक स्थिति पर जो प्रतिकूल प्रभाव पडा, वह इतिहास मे अभूतपूर्व है ।

उससे पहिले भी इस देश पर अनेक विदेशियो ने आक्रमण किया था और उन्होने मुसलमानो की तरह यहाँ लूट–मार भी की थी, किंतु उनके द्वारा यहाँ की धार्मिक स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव नही पडा था। इसका कारण यह था, उन विदेशी आक्रमणकारियो की न तो कोई निजी सस्कृति थी और न उन्हे किसी धर्म का विशेष आग्रह ही था। उन्होने जन–सहार और लूट–मार करने के पश्चात् यहाँ की सस्कृति और यहाँ के धर्मो को स्वीकार कर लिया था। कालातर मे वे जातियाँ यहाँ के जन-जीवन मे ऐसी घुल-मिल गई कि उन्हे भारतीयो से प्रथक् करना भी सभव नही था। मुसलमानो की स्थिति पूर्ववर्ती आक्रमणकारियो से सर्वथा भिन्न थी। वे लोग अपनी सस्कृति और अपने धर्म को अपने साथ लाये थे। उन्हे अपने धर्म का इतना दुराग्रह था कि वे उसे बलपूर्वक यहाँ के लोगो पर लादना चाहते थे। उनके आक्रमण का उद्देश्य ही यहाँ के लोगो को लूटना और उन्हे बलात् मुसलमान बनाना था।

इस काल मे यहाँ के प्राय सभी धर्मो के अनुयायी मूर्ति–पूजक थे। उनके अपने-अपने मदिर-देवालय और पूजा–स्थान थे। मुसलमान मूर्ति-पूजा के बडे विरोधी थे, अत उन्होने सभी धर्म–सप्रदाओ की देव-मूर्तियो को तोडा और उनके मदिर-देवालयो को नष्ट-भ्रष्ट किया था। इस प्रकार उनके द्वारा बौद्ध, जैन, भागवत, शैव, शाक्त सभी धर्मो के पूजा-स्थानो को बडी क्षति पहुँची थी और उनके अनुयायियो को धार्मिक उत्पीडन सहन करना पडा था। मुसलमान आक्रमणकारियो मे महमूद गजनवी पहिला व्यक्ति था, जिसने स० १०७४ मे मथुरामडल पर भीषण आक्रमण किया था। उसकी लूट-मार से यहाँ के प्राय सभी प्रमुख देव-स्थान नष्ट-भ्रष्ट हो गये थे और मथुरा नगर वीरान सा हो गया था। श्रीकृष्ण-जन्मस्थान का सुप्रसिद्ध प्राचीन मदिर उसी काल मे नष्ट हुआ था। इन घटनाओ के प्रकाश मे इस काल के सभी प्रमुख धर्मो की स्थिति का सक्षिप्त विवेचन किया गया है।

१. बौद्ध धर्म

हर्ष काल (स० ६६३–स० ७०४) की स्थिति—हर्षवर्धन अपनी कुल-परपरा के अनुसार आरभ मे सूर्य और शिव का उपासक था, किंतु बाद मे उसका झुकाव बौद्ध धर्म के प्रति हो गया था। हर्ष का बडा भाई राज्यवर्धन भी बौद्ध धर्म का अनुयायी था। जब हर्ष अपनी बहिन राज्यश्री की खोज मे विन्ध्य वन मे विचरण कर रहा था, तब वहाँ के विख्यात बौद्ध श्रमणाचार्य दिवाकर मित्र से उसकी भेट हुई थी। उस धर्माचार्य ने पति-वियोगिनी राज्यश्री को धर्मोपदेश देकर उसे सान्त्वना और शाति प्रदान की थी। हर्ष दिवाकर मित्र को कन्नौज ले गया था। उसके उपदेश से राज्यश्री बौद्ध धर्म मे दीक्षित हो गई थी और वह बौद्ध भिक्षुणी की भाँति बडे सयम-नियम से रहती थी। ऐसा कहा जाता है, राज्यश्री की श्रद्धा बौद्ध धर्म की हीनयानी शाखा सम्मितीय सप्रदाय के प्रति थी। दिवाकर मित्र के प्रभाव और राज्यश्री के सपर्क से हर्ष भी बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धालु हो गया था, किंतु उसकी आस्था उक्त धर्म के महायान सप्रदाय के प्रति अधिक थी। यद्यपि उस काल मे बौद्ध धर्म की अवनति होने लगी थी, तथापि हर्ष के प्रोत्साहन से महायान की अच्छी स्थिति हो गई थी।

हुएनसाग का आगमन—सम्राट हर्ष के शासन काल की एक उल्लेखनीय घटना चीनी यात्री हुएनसाग का बौद्ध धर्मस्थानो की यात्रा करने के लिए भारत आना था। हुएनसाग का जन्म स० ६५३ मे चीन देश मे हुआ था। उसने २० वर्ष की आयु मे प्रवज्या ली थी और ३४ वर्ष की आयु मे वह

भारतवर्ष की ओर चल पड़ा था। मध्य एशिया के बीहड़ स्थानो की कष्टप्रद यात्रा करता हुआ वह स० ६८७ मे कश्मीर पहुँचा था, जहाँ उसने दो वर्ष तक निवास कर बौद्ध धर्म के ग्रथो का अनुशीलन किया था। उसके बाद वह पजाब होता हुआ भारत के अनेक बौद्ध स्थानो मे गया और वहाँ की धार्मिक स्थिति का अध्ययन करता रहा था। वह प्राय १४ वर्ष तक इस देश मे रहा था। उसके पश्चात् स० ७०२ मे वह स्वदेश को वापिस चला गया। वह बौद्ध धर्म के ६५७ दुर्लभ ग्रथ, भगवान् बुद्ध के वज्रासन के अवशेष और सोने, चाँदी तथा चदन की बनी हुई कई छोटी-बड़ी बुद्ध मूर्तियाँ अपने साथ ले गया था।

हुएनसाग ने चीन पहुँच कर भारतीय बौद्ध ग्रथो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया था। वह लगातार १६ वर्षो तक उस महत्त्वपूर्ण कार्य को करता रहा था। उसने उस काल मे ७५ ग्रथो की चीनी अनुवाद किया था। उनमे ऐसे अनेक ग्रथ है, जिनकी मूल प्रतियाँ इस समय भारत मे उपलब्ध नही है, किन्तु अपने चीनी अनुवाद के कारण ही वे इस समय भी सुलभ हैं। उस बौद्ध विद्वान का देहावसान स० ७२१ मे चीन देश मे हुआ था।

हुएनसाग के ग्रथो मे उसकी भारत-यात्रा का विवरण अत्यत महत्वपूर्ण है। उससे इस देश की तत्कालीन धार्मिक स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उससे ज्ञात होता है, उस काल मे बौद्ध धर्म की सुप्रसिद्ध हीनयान और महायान शाखाओ के १८ सप्रदाय प्रचलित थे, जिनके अनुयायियो मे महायानियो की सख्या अधिक थी। फिर भी उस काल मे यह धर्म अवनति के पथ पर अग्रसर होने लगा था। महाराज हर्षवर्धन से हुएनसाग की सर्व प्रथम भेंट स० ७०० मे गौड़ प्रदेश (बगाल) मे हुई थी। उसके बाद वह हर्ष द्वारा आयोजित कन्नौज के धर्म सम्मेलन मे और प्रयाग के दानोत्सव मे भी सम्मिलित हुआ था।

कन्नौज का धर्म सम्मेलन—बौद्ध धर्म के इतिहास मे कन्नौज का धर्म सम्मेलन कदाचित् उस धर्म का सबसे बड़ा अतिम धार्मिक समारोह था। उसमे १८ देशो के राजागण, महायान तथा हीनयान सप्रदायो के ३००० बौद्ध विद्वान, ३००० ब्राह्मण और जैन विद्वान तथा नालदा मठ के १००० पुरोहित सम्मिलित हुए थे। सम्राट हर्ष अपने सभा-पडितो, दरबारियो और हुएनसाग के साथ उसमे उपस्थित हुआ था। सम्मेलन का आयोजन एक विशाल सभा-भवन मे किया था, जिसमे कई सहस्र व्यक्ति बैठ सकते थे। सभा के मुख्य मच पर भगवान् बुद्ध की एक विशाल स्वर्ण प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई थी। उस सम्मेलन का उद्देश्य बौद्ध धर्म के महायान सप्रदाय की श्रेष्ठता प्रमाणित करना था। उसके लिए जो विचार-परिषद बनाई गई थी, उसका अध्यक्ष हर्ष ने हुएनसाग को बनाया था। उस सम्मेलन के समाप्त होने के कुछ समय पश्चात् वह चीनी यात्री अपने देश को वापिस चला गया।

मौद्गलपुत्र, मैत्रायणीपुत्र, यणिपुत्र, उपालि, आनद, राहुल, मजुश्री तथा अन्य वोधिसत्वो के स्तूप है, जिनमे भिक्षुगण व्रत और उपवास के दिनो मे धार्मिक भेट के रूप मे अनेक वहुमूल्य वस्तुएँ अर्पित किया करते है। वहाँ पर उपस्थित सभी व्यक्ति एक दूसरे के प्रति आदर भाव रखते है। अभिधर्म के अध्येता सारिपुत्र के प्रति सन्मान प्रकट करते है, तपस्वी मौद्गलपुत्र के प्रति, सूत्रो का पठन-पाठन करने वाले पूर्ण मैत्रायणीपुत्र के प्रति, तथा विनय और शील की दीक्षा लेने वाले उपालि के प्रति आदर भाव रखते है। भिक्षुणियाँ आनद की आराधना करती है और श्रामणेर जन राहुल की। महायान के मानने वाले वोधिसत्वो की उपासना करते है। सभी भिक्षुगण उपवास के दिनो मे अपनी श्रद्धाजलि स्वरूप विभिन्न प्रकार की भेट अर्पित किया करते है। उनकी रत्नजटित पताकाएँ सर्वत्र फहराती है और धार्मिक अनुष्ठानो का सुगधित धुआँ सब दिशाओ मे भर जाता है। महकदार फूलो की सर्वत्र वर्षा होती रहती है। देश का राजा और उसके मत्रीगण भी उन धार्मिक आयोजनो मे वडे उत्साह पूर्वक भाग लेते है।

नगर के पूर्व की ओर ५–६ ली (१–१। मील) चलने पर एक ऊँचा सघाराम मिलता है। उसके चारो ओर ऊँचाई पर गुफाएँ वनी हुई है। यह सघाराम पूज्य उपगुप्त द्वारा निर्मित है। उसके अदर एक स्तूप है, जिसमे तथागत के नख रखे है। इस सघाराम के उत्तर मे एक प्रस्तर भवन है, जो २० फीट ऊँचा और ३० फीट चौडा है। यही पर पूज्य उपगुप्त अपने उपदेश द्वारा लोगो को वौद्ध धर्म मे दीक्षित किया करते थे। उनके उपदेश से जो लोग अर्हत् अवस्था को प्राप्त होते थे, उनकी स्मृति मे वे एक-एक काष्टखड रखा करते थे। ऐसे अनेक लकडी के टुकडे वहाँ पर एकत्र थे, जिनसे ज्ञात होता था कि उतने व्यक्ति अर्हत् अवस्था को प्राप्त हुए है। ऐसे व्यक्ति किस परिवार व वर्ग से सवधित थे, इसका लेखा वहाँ पर नही रखा गया था।

उस प्रस्तर भवन के २४–२५ ली (प्राय ५ मील) दक्षिण-पूर्व मे एक सूखा तालाव है, जिसके किनारे पर एक स्तूप है। प्राचीन समय मे तथागत उस स्थान पर विचरण किया करते थे। उस समय एक वदर ने भगवान् वुद्ध को एक मधुपात्र भेट किया था। उसके निकटवर्ती वडे वन मे एक झील है, जिसके उत्तर मे विगत चारो वुद्धो के चिह्न है। उसके समीप वे स्तूप है, जो सारिपुत्र, मुद्गलपुत्र आदि १२५० महान् अर्हतो की स्मृति मे वनाये गये है। उन समस्त अर्हतो की समाधि के चिह्न वहाँ पर विद्यमान है। जव तथागत इस ससार मे थे, तो वे प्राय वहाँ पर अपना उपदेश करते हुए विचरण करते थे। जिन स्थानो मे उन्होने विश्राम किया था, वहाँ पर उनके स्मृति-चिह्न स्थापित किये गये है[1]।"

हुएनसाग के उपर्युक्त उल्लेख से हर्षकालीन मथुरा मे वौद्ध धर्मस्थानो की यथार्थ स्थिति, भिक्षुओ के आचार-विचार और उनकी पूजा–विधि का वोध होता है। हुएनसाग का पूर्ववर्ती चीनी यात्री फाह्यान जव स० ४५० के लगभग मथुरा आया था, तव यहाँ के २० सघारामो मे ३ हजार वौद्ध भिक्षु रहते थे, किंतु हुएनसाग के समय मे उनकी सख्या २ हजार ही रह गई थी। उससे ज्ञात होता है कि उस काल मे यहाँ पर वौद्ध धर्म की स्थिति विगडने लगी थी।

---

(१) हुएनसाग्स ट्रेवल्स इन इडिया (जिल्द १), पृष्ठ ३०१–३११

हर्षोत्तर काल से राजपूत काल (सं० ७०४–स० १२६३) तक की स्थिति—अशोक से लेकर हर्षवर्धन तक के प्राय एक हजार वर्षो मे बौद्ध धर्म की खूब उन्नति हुई थी। उसके अतर्गत अनेक सम्प्रदाय बने और उनकी शाखा-प्रशाखाओ का बडा विस्तार हुआ था। वह धर्म भारत मे तो एक सिरे से दूसरे सिरे तक प्रचलित हुआ ही, विदेशो मे भी उसकी ध्वजा फहराने लगी थी। हर्षवर्धन के पश्चात् बौद्ध धर्म की अवनति का युग आरभ हुआ, और शनै -शनै उसका ह्रास होने लगा।

मथुरामडल मे मूल बौद्ध धर्म के जो थेरवादी (हीनयानी) सम्प्रदाय 'सर्वास्तिवाद' और 'सम्मितीय' प्रचलित थे, उनका अस्तित्व हर्षवर्धन के काल तक रहा था, किंतु बाद मे उनका स्थान महासाघिक–महायानी सम्प्रदायो ने ले लिया था। महायान की साधना को सक्षिप्त रूप देने के लिए उसके अतर्गत 'मत्रनय' का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके साथ 'ध्यानी बुद्धो' का महत्व भी जुड गया था। उस समय भगवान् बुद्ध के वचनो को सूक्ष्म मत्र मान कर उनके उच्चारण और जप मात्र को ही सिद्धिदायक समझा जाने लगा था। षडक्षरी मत्र 'ॐ मणिपद्मे हुम्' महायानी बौद्धो के लिए गायत्री से भी अधिक महत्वपूर्ण था, क्यो कि उनके विश्वास के अनुसार उसके जप मात्र से समस्त विघ्न-बाधाओ का विनाश हो सकता था। कालातर मे मत्रनय से तात्रिक साधना का विकास हुआ और उससे वज्रयानी साधना विकसित हुई। इस प्रकार महायान से मत्रयान, मत्र से तत्रयान और तत्र से वज्रयान का उदय हुआ था।

वज्रयान की तांत्रिक साधना—राजपूत काल मे भारत के धार्मिक क्षेत्र मे जिस तात्रिक साधना का उदय हुआ था, उसे बौद्ध धर्म के महायानी सम्प्रदाय वज्रयान ने सभवत सबसे पहिले अपनाया था। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जो वज्र वैदिक देवता इद्र का आयुध था, उसका समावेश बौद्ध धर्म मे कैसे हो गया ? जैसा पहिले लिखा जा चुका है, उत्तर वैदिक काल मे इद्र का महत्व कम हो गया था और पौराणिक काल मे उसकी इतनी उपेक्षा हुई कि नये अवतारो के आगे उसका महत्व बिलकुल ही जाता रहा था। "उसके बाद बौद्ध धर्म की महायानी साधना मे इद्र सहसा अपने नये रूप मे दिखलाई देने लगता है। महायानी सगीतियो मे इद्र को भगवान् बुद्ध का उपदेश सुनते हुए दिखलाया गया है। ऐसा ज्ञात होता है, ब्राह्मणो द्वारा इद्र की उपेक्षा देख कर बौद्धो ने उसे अपनी मडली मे सम्मिलित कर लिया था और कालातर मे सम्भवत गुरु-दक्षिणा स्वरूप इद्र ने अपना अस्त्र भी बोधिसत्वो को सोप दिया। बौद्धगण उससे इतने अभिभूत हुए कि वज्र को शून्यता का ही प्रतिरूप मान बैठे [1]।"

कोशकारो ने वज्र का अर्थ इद्र के आयुध के साथ ही साथ 'मणि' और 'अश्म' भी लिखा है। "एक वैदिक देवता को शिष्य बनाने की भावना, अपने विरोधियो से रक्षा के लिये अमोघ 'अस्त्र' की प्राप्ति, 'मणि' रूप मे वैभव और सिद्धियो की उपलब्धि, 'अश्म' रूप मे अमर काया की प्राप्ति, इन सब ने वज्र की कल्पना को इतना सर्वाच्छादनकारी बना दिया, कि पाँच ध्यानी बुद्धो के अधिष्ठाता परम दैवत् के रूप मे वज्रयानी सिद्धो और चितको ने 'वज्रसत्व' नामक एक छठे बुद्ध की कल्पना की, जो 'प्रज्ञापारमिता' रूपी शक्ति के पति है, जिनका अस्त्र अमोघ वज्र है और जो युगनद्ध रूप मे सदैव अपनी शक्ति से समन्वित रहते है [2]।"

---

(१) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १४२
(२) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १४३

ससार की व्यापक शक्ति को बौद्धो की भाषा मे 'शून्य' कहा गया है। ध्यान की तन्मयता मे उस शून्य का ही चिंतन किया जाता था। "माध्यमिको ने जगत् को शून्यता के स्वभाव का बतलाया था। वज्रयानी आचार्यों ने शून्य को 'वज्र' मे बदल दिया। उन्होंने शून्य को नकारात्मक और रहस्यात्मक न रखकर उसकी वज्रपरक व्याख्या की, वज्र जो दृढ है, अच्छेद्य है, अभेद्य है, सुखदायक है। अत उनकी साधना केवल नकारात्मक साधना न रहकर सक्रिय, भोगमयी, सब प्रवृत्तियो को सतुष्ट कर चलने वाली साधना हो गई। इस प्रकार शून्य को वज्र मे बदल कर उन्होंने अपने धर्म को केवल त्याग और सयमपरक न बना कर भोग और सुख से समन्वित कर दिया, निवृत्तिमूलक धर्म न रहकर वज्रयान मे बौद्ध धर्म प्रवृत्तिमूलक बन गया था[1]।'

वज्रयानी सिद्ध—वज्रयान के साधक आचार्यों को 'सिद्ध कहा गया गया है। वे अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त महायोगी थे। उनकी सख्या ८४ मानी गई है। यद्यपि वज्रयानी ग्रथो मे ८४ सिद्धो की पूरी नामावली मिलती है, तथापि उसमे से अनेक नाम कल्पित जान पडते हैं। प्रामाणिक सिद्धो मे सरहपा, शबरपा, लुईपा, मत्स्येन्द्र, गोरख जालधर, कण्हपा, तिलोपा के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। उनका काल ७ वी शताब्दी से ११ वी शताब्दी तक माना जाता है। वे सभी सिद्धाचार्य प्राय निम्न जातियो के थे और अपनी उच्च कोटि साधना के कारण ही ख्याति प्राप्त कर सके थे।

ह्रास और पतन—वज्रयान की तान्त्रिक साधना ने बौद्ध धर्म के रूप को एक दम बदल दिया था और वही उसके ह्रास एव पतन का भी मुख्य कारण हुई थी। उस जैसे महान् धर्म की वह शोचनीय स्थिति किस प्रकार हुई, इस पर कुछ विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है। भगवान् बुद्ध ने 'गुरु' से बढ कर 'सघ' को महत्व दिया था, जिसके कारण आरभिक बौद्ध धर्म मे गुरुवाद को प्रमुख स्थान नही मिला था। किंतु तान्त्रिक साधना मे मान्य मंत्र, यत्र, तत्र, गुह्य साधना एव योग की कठिन क्रियाओ और उससे संबधित साकेतिक शब्दावली के निर्देशन के लिए गुरु का महत्व बढ गया था। सिद्ध तिलोपा ने कहा,—'परमतत्व पडितो के लिए भी अगम-अगोचर है, किंतु गुरु के प्रसन्न होने पर कौन सी ऐसी वस्तु है, जो अगम रह जाय[2]।" इस प्रकार बौद्ध धर्म उस काल मे गुरुवाद के कठोर बधन मे जकड गया था।

इस धर्म की मूल भावना निवृत्ति और वैराग्य प्रधान थी, किंतु वज्रयानी सिद्धो ने तान्त्रिक साधना के लिए उसकी उपेक्षा कर शुद्ध रागात्मक विधियो को ग्रहण किया था। डा० धर्मवीर भारती ने लिखा है,—"सिद्धो के मार्ग मे कही भी मन की वृत्तियो को सर्वथा निर्मूल कर वैराग्ययुक्त निवृत्तिमय साधना का उपदेश नही है। वे जीवन को ज्यो का त्यो स्वीकार करना चाहते थे और राग का शुद्ध रूप पहिचानने का आग्रह करते थे। इसीलिए उन्होने सासारिक राग का तो परित्याग करने का उपदेश दिया ही है, किंतु निवृत्तिमूलक, निषेधात्मक, निराशावादी विराग को भी बधन का कारण बता कर उसके परित्याग का भी उपदेश दिया है[3]।" उसके कारण बौद्ध धर्म के उस परवर्ती रूप मे वैराग्य वृत्ति का सर्वथा लोप हो गया और शुद्ध राग के साथ ही साथ वासनापूर्ण राग एव भोग-प्रवृत्ति का प्रचलन बढ गया था।

---

(१) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १८४

(२) दोहा कोष, पृष्ठ ४

(३) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १९४

सिद्ध तिलोपा की यह उक्ति वज्रयानी साधना की कुंजी कही जा सकती है,—'जिम विस भक्खइ विसहि पलुत्ता । तिम भव भुञ्जइ भवहि रण जुत्ता ॥—जैसे विष का भक्षण करते रहने से मनुष्य उसके प्रभाव से मुक्त हो जाता है, वैसे ही भव का भोग करने से भी वह भव मे लिप्त नही होता।' जिस साधना मे भोग-प्रवृत्ति को इतना महत्त्व दिया गया हो, उसका अंत वासनापूर्ण अनाचार मे होना स्वाभाविक था।

वज्रयानियो की तांत्रिक साधना को 'पंच मकार,' विशेष कर मुद्रा-मैथुन की मान्यता ने बडा बदनाम किया था। 'मुद्रा' का अर्थ है,—'मोद देने वाली।' उसे नारी के रूप मे कल्पित कर उसके डोम्बी, चाडाली, कपाली, योगिनी, शवरी आदि नाम बतलाये गये है। उन मुद्राओ के साथ आलिंगन ही नही, वरन् मैथुन करना भी तांत्रिक साधना मे आवश्यक माना गया और उसे 'महासुख' का नाम दिया गया था। "प्रज्ञोपाय–विनिश्चय मे बताया गया है कि मुद्रा के आलिंगन से साधक मे वज्रावेश जागता है और वह साधना–मार्ग मे प्रवृत्त होता है। किंतु यह समस्त आलिंगनादि कर्म क्षुब्ध, आसक्त और विषयी मन से नही करने चाहिये, अन्यथा ये बंधन के कारण बन जाते है और इनसे सिद्धि प्राप्त नही होती। मन को इतना अनासक्त रहना चाहिये कि योगी कभी स्खलित ही न हो। बाद मे तो इन पद्धतियो का इतना विकास हुआ कि वज्रोली, सहजोली आदि पद्धतियो का उल्लेख मिलता है, जिनमे साधक मैथुन के समय मुद्रा योगिनी को स्खलित करा देता है, किंतु स्वतः क्षरित नही होता। उसके अनंतर वह नारी के रज को भी प्राणायाम के द्वारा अपने शरीर मे खीच लेता है और उसके काय-वाक्-चित्त की वज्रता को उपलब्ध कर लेता है। महामुद्रा की यह साधना सबसे कठिन साधना मानी जाती थी और इसी साधना मे निष्णात होने के उपरांत ही किसी की गणना सिद्धाचार्यो मे होती थी[१]।"

उस काल के कुछ निष्णात सिद्धाचार्यो ने उस कठिन साधना मे भले ही दक्षता प्राप्त की हो, किंतु अधिकांश साधको के लिए तो वह आग से खेलते हुए भी अपने अंगो को न झुलसने देने जैसी अप्राकृतिक विधि थी। वज्रयानी अनुश्रुतियो से ही ज्ञात होता है कि कतिपय निष्णात सिद्धाचार्य भी उस कठिन साधना मे विफल हुए थे। इसके लिए मत्स्येन्द्रनाथ का उपाख्यान प्रसिद्ध है। जब वे उस प्रकार की साधना करते हुए अपना स्वरूप भूल कर वासनापूर्ण कामोपभोग के चक्कर मे फंस गये थे, तब उनके शिष्य गोरखनाथ ने उनका उद्धार किया था।

बौद्ध धर्म की समाप्ति—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, बौद्ध धर्म श्रमण–संस्कृतिमूलक और वैराग्यप्रधान था, इसलिए उसमे विरक्त भिक्षुओ और गृहत्यागी साधको को अधिक महत्त्व दिया गया था। समाज के बहुसंख्यक गृहस्थ वर्ग की इस धर्म मे उपेक्षा ही की गई थी। वैसे इस धर्म के अनुयायियो मे गृहस्थो की भी बडी संख्या रही थी, तथापि बौद्ध धर्म संघ मे उन्हे कभी महत्त्व का स्थान प्राप्त नही हुआ था। समस्त पालि साहित्य मे बौद्ध गृहस्थो के लिए विवाहादि आवश्यक संस्कारो से संबंधित एक भी ग्रंथ नही था, गृहस्थो के लिए जैसे उसमे कुछ सोचा ही नही गया था। उधर जो बौद्ध विहार पहिले विरक्त भिक्षुओ के संयम, सदाचार तप और त्याग के केन्द्र थे, वे वज्रयानियो की भोगप्रधान और वासनापूर्ण तांत्रिक साधना के कारण भ्रष्टाचार तथा व्यभिचार के अड्डे बन गये थे।

---

(१) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ २२०–२२१

बौद्ध धर्म मे उस शोचनीय परिवर्तन के होने से जनता मे उसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई थी। उसके कारण उक्त धर्म के सभी तत्कालीन सप्रदाय शक्तिहीन और प्रभावशून्य दिखाई देने लगे थे। फिर उसी काल मे सर्वश्री कुमारिल भट्टाचार्य और शकराचार्य जैसे वेदोद्धारक मनीषी विद्वानो ने उन पर शास्त्रीयता की ऐसी करारी चोट की, कि उसके प्रहार से उनकी कमर ही टूट गई थी। जब तक बौद्ध धर्माचार्यो, सिद्धो और विरक्त साधको का आचरण ठीक रहा, तब तक गृहस्थ भी उनके प्रति अनन्य श्रद्धा रखते हुए बौद्धधर्म के विविध सप्रदायो के अनुयायी बने रहे थे, किंतु जब धर्म-गुरु ही दुराचारी हो गये, तब जन साधारण की आस्था उनके धर्म के प्रति कैसे रह सकती थी। फलत बौद्ध धर्म के अगणित अनुयायी अपने पैतृक धर्म से पल्ला छुडा कर अन्य धर्मो, विशेष कर वेदानुकूल पौराणिक एव स्मार्त धर्मो की शरण मे जाने लगे। इसका एक कारण यह भी था कि वेदानुकूल धर्मो के "समर्थको ने स्मार्त तथा पौराणिक सस्कारो और धर्म-विधियो की सहायता से जनता के कौटुम्बिक जीवन से एक रूप होकर उसके हृदय मे अविचल एव अटल स्थान बना लिया था[1]।"

फलत बौद्ध धर्म के सभी सप्रदायो का शनै शनै वेदानुकूल धर्मो मे विलय होने लगा, जिसमे बौद्ध साधना से सबधित तत्र–मत्र, ध्यान–धारणा, पूजा–उपचार और बिंब–प्रतीकादि अनेक बातें वेदानुकूल धर्मो की साधनाओ के साथ घुल-मिल कर चलने लगी थी। कालातर मे बौद्ध धर्म मथुरा-मडल से ही नही, वरन् भारतवर्ष के अधिकाश भाग से ही लुप्त हो गया था। मथुरामडल मे उसका लोप १० वी शती के लगभग हुआ था, किंतु इस देश के पूर्वी भाग मे उसका थोडा–बहुत प्रचार १२ वी शताब्दी तक रहा था। उससे पहिले ही भगवान् बुद्ध को विष्णु के अवतारो मे सम्मिलित कर लिया गया और पूरी के जगन्नाथ जी को श्रीकृष्ण का बौद्धावतार मान लिया गया था। उसके बाद मुसलमानो के आक्रमण और उनके मजहबी अत्याचारो से बौद्ध धर्म पूर्वी भारत से भी लुप्त हो गया। इस समय यह धर्म भारत से बाहर कई देशो मे प्रचलित है, किंतु वहाँ भी उसके रूप मे परिवर्तन हो गया है। भारतवर्ष मे चाहे अब स्पष्ट रूप से बौद्ध धर्म का प्रचार नही है, किंतु उसकी अनेक बाते जाने–बेजाने रूप मे यहाँ के विविध धर्म-सप्रदायो मे अब भी मिलती है।

२. जैन धर्म

हर्ष काल से राजपूत काल (स० ६६३–स० १२६३) तक की स्थिति—सम्राट हर्षवर्धन का झुकाव बौद्ध धर्म के प्रति अधिक था, किंतु उसके सहिष्णुतापूर्ण शासन काल मे जैन धर्म की भी उन्नति हुई थी। चीनी यात्री हुएनसाग के यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है, सम्राट हर्ष सभी धर्मो का आदर करता था। उसने बौद्ध भिक्षुओ के साथ ही साथ जैन साधुओ का भी सत्कार किया था। हूणो के आक्रमण से जैन धर्म की जो भीषण क्षति हुई थी, उसकी पूर्ति का प्रयत्न इस काल मे किया गया और उसमे पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई थी।

धार्मिक स्थलो का जीर्णोद्धार और नव निर्माण—हूणो के आक्रमण के फलस्वरूप मथुरामडल के विविध स्थानो मे जैन धर्म के अनेक स्तूप, चैत्य, देवस्थान आदि ध्वस अथवा जीर्ण अवस्था मे पडे हुए थे। उनके पुनरुद्धार का श्रेय जिन श्रद्धालु व्यक्तियो को है, उनमे सौराष्ट्र निवासी वप्पभट्टि सूरि का नाम उल्लेखनीय है। 'विविध तीर्थकल्प' से ज्ञात होता है कि वप्पभट्टि सूरि ने अपने शिष्य

(१) **वैदिक सस्कृति का विकास**, पृष्ठ २४३

ग्वालियर नरेश आमराज से स० ८२६ वि० मे मथुरा-तीर्थ का जीर्णोद्धार कराया था। उसी समय ईंटो से वना प्राचीन 'देवनिर्मित स्तूप', जो उस समय जीर्णावस्था मे था, पत्थरो मे पुर्ननिर्मित किया गया और उसमे भ पार्श्वनाथ के जिनालय एव भ महावीर के बिम्व की स्थापना की गई। वप्पिभट्ट सूरि ने मथुरा मे एक मदिर का निर्माण भी कराया था, जो यहाँ पर श्वेतावर सप्रदाय का सर्वप्रथम देवालय था।

वौद्ध धर्म के प्रभावहीन और फिर समाप्त हो जाने पर मथुरामडल मे जिन धर्मों की स्थिति अच्छी हो गई थी, उनमे जैन धर्म भी था। १० वी, ११ वी और १२ वी शताब्दियो मे यहाँ पर जैन धर्म की पर्याप्त उन्नति होने के प्रमाण मिलते है। उस काल मे मथुरा के ककाली टीला नामक जैन केन्द्र मे अनेक मदिर-देवालयो का निर्माण हुआ था और उनमे तीर्थकरो की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की गई थी। उस काल की अनेक लेखाकित जैन मूर्तियाँ ककाली टीले की खुदाई मे प्राप्त हुई है। मथुरा के अतिरिक्त प्राचीन शौरिपुर (वटेश्वर, जिला आगरा) भी उस काल मे जैन धर्म का एक अच्छा केन्द्र हो गया था और वहाँ प्रचुर सख्या मे जैन मदिरो का निर्माण हुआ था।

मथुरा का जैन सघ—देश के अन्य भागो मे दिगवर-श्वेतावर भेद-भाव वडी तेजी से वढ रहा था, किंतु मथुरा के जैन सघ मे कई शताब्दियो तक इस प्रकार का भेद नही हुआ था। जब यह भेद वहाँ उत्पन्न हुआ, तव भी वह अधिकतर विद्वानो और साधुओ तक ही सीमित रहा था। साधारण जैन समाज और अजैन जनता उसमे रुचि नही लेती थी, उनके लिए दोनो सप्रदाय समान रूप से मान्य थे। ६ वी शताब्दी मे मथुरा मे दोनो सप्रदायो के पृथक्-पृथक् मदिर वनने आरभ हो गये थे; किंतु वहाँ के प्राचीन स्तूप-चैत्यादि, तीर्थकरो के मदिर और जम्बू स्वामी सिद्ध क्षेत्र दोनो सप्रदाय वालो को समान रूप से पूज्य थे। सोमदेव के काल (१० वी शती) तक मथुरा के प्राचीन 'देव निर्मित स्तूप' की प्रसिद्धि दोनो सप्रदायो मे समान रूप से थी। उस समय तक जैन धर्म दिगवर और श्वेतावर नामक दो प्रमुख सप्रदायो के अतिरिक्त अनेक सघ, गण, गच्छादि मे विभाजित हो चुका था। उन सघो, गणो और गच्छो के नाम विभिन्न स्थानो अथवा प्रदेशो के नामो पर रखे गये थे। मथुरा प्रदेश का जैन सघ इसीलिए 'मथुरा सघ' कहलाता था।

स० ६५३ के लगभग मथुरा निवासी आचार्य रामसेन ने मथुरा सघ को दिगवर आम्नाय के 'काष्ठा सघ' से सवद्ध कर लिया था। काष्ठा सघ के मूल सस्थापक लोहाचार्य कहे जाते है, जो प्रथम शती मे हुए थे। दिगवराचार्य देवसेन सूरि कृत 'दर्शनसार' मे काष्ठासघ की उत्पत्ति नदीतट निवासी कुमारसेन द्वारा स० ७५३ वि० मे वतलाई गई है। "मथुरा सघ नि पिच्छिक भी कहलाता था, क्यो कि उसमे सवधित जैन मुनि मोरपुच्छ या गोपुच्छ की 'पिच्छि' नही रखते थे। 'दर्शनसार' मे जो ५ जैनाभास वतलाये गये हैं, उनमे मथुरा सघ की भी गणना की गई है[1]। मथुरा सघ को जीव-रक्षा के लिए किसी तरह की पिच्छि न रखने के कारण जैनाभास कहा गया है या किसी और कारण से, यह समझ मे नहीं आता। अन्यथा इस सघ के आचार्यो के ग्रथो से कोई सिद्धात भेद का पता नही चलता है[2]।

(१) जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ १७३ - ३६१

(२) वही, पृष्ठ १७४

जैन धर्म की तात्रिक साधना—जैन धर्म तप-त्यागपूर्ण और वैराग्यप्रधान है। इसमे साधको की रागात्मक भोग-प्रवृत्ति को दबाने के लिए कठिन व्रत, उपवास और कृच्छ्र आचारो की व्यवस्था की गई है। इसके कारण इस धर्म मे भोग-प्रवृत्ति की तात्रिक साधना के प्रविष्ट होने की बहुत कम गुजायश थी, किंतु फिर भी उस काल के व्यापक तात्रिक वातावरण का प्रभाव इस धर्म पर भी पडा था।

जैन धर्म मे जो कायाकष्टात्मक कठोर आचारो की व्यवस्था है, वह अधिकतर मुनियो और साधुओ के लिए है। गृहस्थ श्रावको के लिए जैनाचार अपेक्षाकृत कोमल रखे गये है और उन पर तत्रो का पर्याप्त प्रभाव भी दिखलाई देता है। "तीर्थंकरो की पूजा जैन गृहस्थ उसी प्रकार करते हैं, जैसे बौद्ध, शाक्त, शैव व वैष्णव करते है। जैनियो के तीर्थंकरो व हिंदुओ के ईश्वर मे केवल नाम मात्र का ही अतर है। ईश्वर की उपासना से जो मिलता है, वह तीर्थंकर-उपासना मे भी प्राप्त होता है। जिस प्रकार हिंदुओ को ईश्वर के महात्म्य, उनके रूप, वेष, वाहन, मत्र आदि मे विश्वास है, उसी प्रकार तीर्थंकरो के अलग-अलग मत्र और यत्र है। उनकी अनेक महात्म्य कथाएँ है, जो जैन पुराणो मे मिलती है। भक्ति, देवता मे विश्वास, मत्र-साधना, पूजा, उपासना सब कुछ जैन मत मे प्राप्त होता है। इस प्रकार जनप्रिय जैन मत का स्वरूप तात्रिक मत से भिन्न नही दिखाई पडता है। यह जनप्रिय रूप आठवी शताब्दी से और भी अधिक महत्व प्राप्त करता है। जिनसेन कृत 'आदिपुराण' का समय भी यही है। तात्पर्य यह है कि तात्रिक युग मे ही जैन धर्म के जनप्रिय रूप पर तात्रिक प्रभाव देखा जा सकता है[1]।"

"जैन शासन मे तीर्थंकरो की ध्यान-धारणा तात्रिक पद्धति के अनुसार प्रचलित है। ध्यान के चार रूप जैन मत मे मिलते है,— १ पिंडस्थ, २ पदस्थ, ३ रूपस्थ और ४ रूपवर्जित। पिंडस्थ ध्यान मे तात्रिको का षट्चक्र वेध पूर्णतया स्वीकृत है। शाक्तो की पद्धति पर जैनागम मे तीर्थंकर की 'शासन देवता' के रूप मे शक्ति-पूजा भी मान्य है। श्वेतावर मत मे २४ देवियो के नाम मिलते हैं, तथा सरस्वती के १६ व्यूह माने गये है। मठपति जैन साधक मठो मे रह कर तानिक साधना करते थे। वे देवी-अर्चन, वशीकरण, अगनाकर्षण, गारुडी विद्या का अभ्यास करते थे। 'अरिहताणम्' जैन पचाक्षरी है। प्रणव (ओ३म्) तथा माया (ह्रीं) आदि बीजाक्षर भी जैन साधना मे स्वीकृत हैं। साराश यह है कि जैनियो की तात्रिक साधना मे पूरा मत्र शास्त्र स्वीकृत किया गया है। अतर केवल यह है कि इसमे 'वामाचार' स्वीकृत नही है, शेष बाते तात्रिक है[2]।" वामाचार की अस्वीकृति के कारण ही तात्रिक साधना जैन धर्म को इस काल मे बौद्ध, शैव, शाक्तादि धर्म-सप्रदायो की अपेक्षा बहुत कम विकृत कर सकी थी। जो कुछ विकृति आई भी थी, उसे दूर करने का निरतर प्रयास होता रहा था।

धार्मिक साहित्य—भारतीय धर्मो मे जैन धर्म का अत्यत समृद्ध साहित्य है। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, इस धर्म का प्राचीनतम साहित्य प्राकृत भाषा मे रचा गया है। विक्रम की छठी शताब्दी के बाद से जैन विद्वानो ने प्राकृत के अतिरिक्त पहिले सस्कृत मे और फिर अपभ्रश मे भी रचनाएँ करना आरभ किया था। सस्कृत भाषा के ग्रथो मे रविषेण कृत 'पद्मचरित्र (स० ६३४ वि०) और जिनसेन कृत 'अरिष्टनेमि पुराण' (स० ८४० वि०) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनमे से

(१) शक्ति अक (कल्याण), पृष्ठ ४७७

(२) सत वैष्णव काव्य पर तात्रिक प्रभाव, पृष्ठ ४७ से ४९ तक का साराश।

प्रथम ग्रथ मे पद्म अर्थात् राम के चरित्र का कथन जैन दृष्टिकोण से किया गया है। दूसरे मे अरिष्टनेमि और उनके भाई कृष्ण का चरित्र जैन दृष्टिकोण से वर्णित है। इस ग्रथ को जैन 'हरिवश' भी कहते है। हिदू 'हरिवश' मे जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा का कथन है, वहाँ जैन हरिवश मे श्रीकृष्ण के महत्व को कम करके उनके तथाकथित भाई अरिष्टनेमि उपनाम तीर्थंकर नेमिनाथ का उत्कर्ष दिखलाया गया है। यह १२ हजार श्लोक और ६६ सर्ग का विशाल ग्रथ है। इसमे स्थान-स्थान पर दिगबर सप्रदाय की मान्यता के अनुसार जैन सिद्धातो का निरूपण भी किया गया है। इस ग्रथ की एक विशेषता यह है कि इसमे भ महावीर से लेकर इसके रचनाकाल स० ८४० तक की जैन गुरु-परपरा अविच्छिन्न रूप से दी हुई है, जो किसी अन्य ग्रथ मे नही मिलती है। इस ग्रथ के रचयिता जिनसेन पुन्नाट सघ के आचार्य थे। उनके गुरु का नाम कीर्तिसेन था। ग्रथ की रचना वर्द्धमानपुर मे हुई थी। वह वर्द्धमानपुर श्री नाथूराम प्रेमी के मतानुसार काठियावाड का प्रसिद्ध नगर वडवाण था[1]। ग्रथकार का जन्म स० ८१० मे और देहावसान स० ९०० मे हुआ था। उन्होने केवल ३० वर्ष की आयु मे यह विशाल ग्रथ रचा था। जैन धर्म के ६३ शलाका पुरुषो का विशद वर्णन 'महापुराण' मे हुआ है। इसे 'त्रिषष्टिलक्षण महापुराण' भी कहते है। इसकी रचना जिनसेन और उसके शिष्य गुणभद्र ने १०वी शती के लगभग की थी। यह जिनसेन हरिवश के रचयिता पूर्वोक्त जिनसेन से भिन्न थे। इस ग्रथ के दो भाग है, जो 'आदि पुराण' और 'उत्तर पुराण' कहलाते है। आदि पुराण मे आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ का चरित्र वर्णित है और उत्तर पुराण मे शेष ६२ शलाका पुरुषो का चरित्र लिखा गया है। इस ग्रथ का आरभ जिनसेन ने किया था, किंतु उसकी मृत्यु हो जाने पर उसकी पूर्ति उसके शिष्य गुणभद्र ने की थी।

अपभ्रंश भाषा की रचनाएँ—प्राकृत और सस्कृत के साथ ही साथ अपभ्रश भाषा मे भी जैन धर्म का प्रचुर साहित्य रचा गया था। अपभ्रश की रचनाओ मे तो जैन विद्वानो का प्राय एकाधिकार ही रहा है। अब तक अपभ्रश भाषा के जितने ग्रथ उपलब्ध हुए है, उनमे से अधिकाश जैन विद्वानो के रचे हुए है। अपभ्रश भाषा का शूरसेन अर्थात् प्राचीन मथुरामडल से विशेष सबध रहा है। दडी कृत 'काव्यादर्श' मे आभीरादि की बोली और काव्य की भाषा के रूप मे अपभ्रश का उल्लेख किया गया है[2]। ब्रजभाषा के पूर्व रूप शौरसेनी अपभ्रश ने अपने परपरागत सहज माधुर्य से उस काल के जैन कवियो को विशेष रूप से आकर्षित किया था।

अपभ्रश भाषा के जैन कवियो मे सर्वप्रथम और सबसे प्रमुख स्थान स्वयभू का है, जिनका समय स ७३४ से ८५० के बीच का माना गया है। वे अपभ्रश के कवि ही नही, उस भाषा के आचार्य भी थे। उन्होने अपने सुप्रसिद्ध काव्य ग्रथो के साथ ही साथ अपभ्रश के व्याकरण और छदशास्त्र के ग्रथो की भी रचना की थी। उन्हाने अपने जन्म-स्थान, वश, गोत्र, गुरु और सप्रदाय के सबध मे कुछ भी नही लिखा है। ऐमा अनुमान होता है कि वे दाक्षिणात्य थे, और सभवत कर्णाटक के किसी स्थान के निवासी थे[3]। वे गृहस्थ थे, विरक्त साधु नही। पुष्पदत कृत 'महापुराण' के टिप्पण मे उन्हे आपुली सघीय बतलाया गया है, अत वे यापनीय सप्रदाय के अनुयायी जान पडते है[4]।

(१) जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ४२४

(२) आभीरादि गिराः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः (काव्यादर्श, १—३६)

(३) राहुलजी ने स्वयभू को कोसल (मध्यदेश) का निवासी लिखा है। (हिंदी काव्यधारा, पृ० २२)

(४) जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ३७४

स्वयभू के दो ग्रथ विशेष रूप से प्रसिद्ध है । वे हैं,—१. पउम चरिउ (पद्म चरित्र) या राम-कथा २ रिट्ठणेमि चरिउ (अरिष्टनेमि चरित्र) या हरिवश पुराण । ये दोनो विशाल ग्रथ जैनियो के रामायण और महाभारत है । काव्य की दृष्टि से भी ये अत्यत प्रशमनीय हैं । महाकवि धवल और देवसेन १० वी शताब्दी मे हुए थे । धवल द्वारा अपभ्रश भाषा मे रचा हुआ 'हरिवश पुराण' प्रसिद्ध है, जिसमे अरिष्टनेम की कथा लिखी गई है । देवसेन का रचना-काल सं० ९९० है । उनके ग्रथ 'सावयधम्म दोहा' के साथ ही साथ 'दर्शन सार' और 'तत्व सार' भी हैं ।

महाकवि पुष्पदत स्वयभू के पश्चात् अपभ्रश के सबसे प्रमुख कवि हुए है । वे काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण केशव भट्ट के पुत्र थे और शैव से जैन हुए थे । उनका मूल निवास कहाँ था, इसका उल्लेख उनकी रचनाओ मे नहीं मिलता है । श्री नाथूराम प्रेमी का अनुमान है कि वे सम्भवत बरार प्रदेश के निवासी थे[1] । राहुल जी ने उनका जन्म ब्रज या यौधेय (दिल्ली) प्रदेश बतलाया है[2] । वे राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय के महामात्य भरत के आश्रित कवि थे । उनके तीन ग्रथ प्रसिद्ध हैं, जिनके नाम १ तिसट्ठि महापुरिस गुणालकारु (त्रिषष्टि महापुरुष गुणालकार), २ णाय कुमार चरिउ (नाग कुमार चरित्), ३ जसहर चरिउ (यशोधर चरित) है । प्रथम ग्रथ एक विशाल महाकाव्य है, जो 'महापुराण' के नाम से विशेष प्रसिद्ध है । यह 'आदि पुराण और 'उत्तर पुराण' नामक दो खंडो मे विभाजित है । ये दोनो खड स्वतत्र ग्रथो की तरह पृथक्-पृथक् भी मिलते है । आदि पुराण मे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का चरित है और उत्तर पुराण मे शेष २३ तीर्थंकरो के चरित हैं । उत्तर पुराण मे पद्मपुराण (रामायण) तथा हरिवश पुराण (महाभारत) सम्मिलित हैं, और वे पृथक् ग्रथो के रूप मे भी मिलते हैं। इसी खड मे २२ वे तीर्थंकर नेमिनाथ के साथ प्रासगिक रूप मे शूरसेन प्रदेश और कृष्ण का भी उल्लेख हुआ है । इस ग्रथ के दोनो खडो का श्लोक-परिमाण २० हजार के लगभग है । इसे कवि ने ६ वर्ष तक लगातार परिश्रम करने के उपरात स० १०२२ वि० मे पूर्ण किया था । उनके अन्य दोनो ग्रथ 'णायकुमार चरिउ' (नागकुमार चरित) और 'जसहर चरिउ' (यशोधर चरित) खड काव्य है, जिनकी रचना महापुराण के पश्चात् हुई थी ।

मुसलमानो के आक्रमण का प्रभाव—स १०७४ मे जब महमूद गजनवी ने मथुरा पर भीषण आक्रमण किया था, तब यहाँ के धार्मिक स्थानो की बडी हानि हुई थी । ककाली टीला का सुप्रसिद्ध 'देवनिर्मित स्तूप' भी उस काल मे आक्रमणकारियो ने नष्ट कर दिया था क्यो कि उसका उल्लेख फिर नही मिलता है । ऐसा मालूम होता है, उक्त प्राचीन स्तूप के अतिरिक्त ककाली टीला के अन्य जैन देवस्थानो की बहुत अधिक क्षति नही हुई थी, क्यो कि उससे कुछ समय पूर्व ही वहाँ प्रतिष्ठित की गई जैन प्रतिमाएँ अक्षुण्ण रूप मे उपलब्ध हुई हे । सभव है, जैन श्रावको द्वारा उस समय वे किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दी गई हो, और बाद मे उन्हे प्रतिष्ठित किया गया हो ।

महमूद गजनवी के आक्रमण काल से दिल्ली के सुलतानो का शासन आरभ होने तक अर्थात् ११ वी से १३ वी शतियो तक मथुरामडल पर राजपूत राजाओ का शासनाधिकार था । उस काल मे यहाँ जैन धर्म का पर्याप्त प्रभाव था । उसके पश्चात् वैष्णव सप्रदायो का अधिक प्रचार होने से जैन धर्म शिथिल हो गया था ।

(१) जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ३०५

(२) हिंदी काव्य धारा, पृष्ठ १७६

३. वैदिक धर्म

हर्षोत्तर काल (स० ७०४ – स० ८८०) की स्थिति—बौद्ध और जैन जैसे अवैदिक धर्मो के विविध सप्रदायो का अधिक प्रचार होने से वैदिक धर्म की लोकप्रियता मे विगत कई शताब्दियो से जो बराबर कमी होती जा रही थी, वह हर्ष काल (स० ६६३–स० ७०४) मे और भी बढ गई थी। यद्यपि सस्कृतज्ञ विद्वानो मे वेदाध्ययन और वैदिक वाड्मय के पठन-पाठन का पर्याप्त प्रचार था, तथापि वैदिक धर्म के अनुकूल आचार-विचारो के मानने वाले बहुत कम रह गये थे। उसका यह परिणाम हुआ कि वैदिक सस्कृति और वेदानुकूल कर्ममार्ग एव ज्ञानमार्ग की प्राचीन परपराएँ समाप्त-प्राय हो गई थी। उस शोचनीय स्थिति से वैदिक धर्म का पुनरुद्धार कर उसके नष्टप्राय प्रभाव को पुन स्थापित करने का भगीरथ प्रयत्न इस काल मे किया गया। उस महान् कार्य को सम्पन्न करने मे जिन विद्वानो ने सर्वाधिक योग दिया था, उनमे कुमारिल भट्टाचार्य और शकराचार्य के नाम प्रसिद्ध है। कुमारिल भट्ट कुछ पहिले और शकराचार्य कुछ बाद मे हुए थे। कुमारिल भट्ट ने वेदोक्त कर्ममार्ग और शकराचार्य ने वेदोक्त ज्ञानमार्ग की पुनर्स्थापना की थी। यद्यपि उन दोनो के सिद्धातो मे भेद था, तथापि दोनो का उद्देश्य समान रूप से वैदिक परपरा के लुप्तप्राय प्रभाव को पुन स्थापित करना था।

कुमारिल भट्टाचार्य—उनका यथार्थ काल और प्रामाणिक जीवन-वृत्तात अज्ञात है। ऐसा जान पडता है, वे ८ वी शती मे हुए थे। कुछ विद्वानो ने उन्हे दाक्षिणात्य तैलग ब्राह्मण बतलाया है, किंतु श्री चितामणि विनायक वैद्य के मतानुसार वे उत्तर भारतीय थे और आर्यावर्त के किसी स्थान के निवासी थे। उनका देहावसान स० ७५७ मे हुआ था[1]। उन्होने बौद्ध धर्माचार्य श्रीनिकेत से धार्मिक शिक्षा प्राप्त की थी। बौद्ध धर्म का गहन अध्ययन करने पर वे उसके वैदिक कर्मकाड विरोधी सिद्धात से सहमत नही हुए। फलत उन्होने वेदोक्त कर्ममार्ग की श्रेष्ठता प्रमाणित करने का व्रत ग्रहण किया। उन्होने बौद्ध धर्म के तर्कों से ही बौद्ध विद्वानो को पराजित कर वैदिक कर्ममार्ग की पुन प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया था।

कुमारिल का अग्नि-प्रवेश—कुमारिल भट्ट के देहावसान के सबध मे एक किवदती बहुत प्रसिद्ध है। कहते है, उन्हे इस बात से अत्यत क्षोभ था कि उन्होने बौद्ध गुरु से शिक्षा प्राप्त करने पर भी जीवन पर्यन्त बौद्ध धर्म का खडन कर गुरु-द्रोह का पातक किया था। उसके प्रायश्चित के लिए उन्होने वृद्धावस्था मे अग्नि-प्रवेश द्वारा अपना शरीरात करने का निश्चय किया। तदर्थ उन्होने प्रयाग मे त्रिवेणी तट पर चिता बनाई और उसमे जलने की तैयारी करने लगे। जिस समय कुमारिल भट्ट अग्नि मे प्रवेश करने को तत्पर हुए, उसी समय युवक शकराचार्य ज्ञानमार्ग और अद्वैतमत का प्रचार करते हुए वहाँ पहुँच गये थे। उन्होने कुमारिल भट्ट से कर्ममार्ग की प्रधानता पर उनके साथ शास्त्रार्थ करना चाहा। इस पर कुमारिल भट्ट ने कहा,—'मै तो अब अग्नि मे प्रवेश कर रहा हूँ, अत वाद-विवाद नही कर सकता। आप मेरे शिष्य मडन मिश्र से शास्त्रार्थ कीजिये।' ऐसा कहने के बाद उस वयोवृद्ध विद्वान ने प्रसन्नता पूर्वक अग्नि मे प्रवेश कर अपने शरीर का अत कर दिया था!

---

(१) राजपूतो का प्रारंभिक इतिहास, पृष्ठ २८८–२९०

पूर्वोक्त किवदती 'शकर दिग्विजय' ग्र थ पर आधारित है, जिसके सभी वृत्तात को पूर्णतया प्रामाणिक नही माना जाता है। श्री चितामणि विनायक वैद्य का मत है,—"कुमारिल भट्ट के लगभग १०० वर्ष पश्चात् श्री शकराचार्य का उदय हुआ था, अत कुमारिल और शकराचार्य की भेट की कथा काल्पनिक है[१]।" कुमारिल ने कपट पूर्वक वौद्ध धर्म का अध्ययन किया था, जिसके प्रायश्चित्त के लिए उन्हे अपनी देह अग्नि के अर्पित करनी पडी—इस आख्यायिका मे भी थोडा ही सत्याश है। उन्होने वौद्ध धर्म का सागोपाग अध्ययन अवश्य किया था, किंतु उसे कपट नही कहा जा सकता। उस काल के वौद्ध धर्माचार्य विना किसी रुकावट के प्रत्येक व्यक्ति को वौद्ध धर्म की शिक्षा दिया करते थे। कुमारिल ने अपनी देह को जो अग्नि के अर्पित किया था, वह कार्य भी किसी प्रकार के प्रायश्चित्त रूप मे नही था, वल्कि उस काल की प्रथा के अनुसार था। उस काल मे कर्म-बधन से मुक्ति प्राप्त करने के लिए वृद्ध जन स्वत अपनी जीर्ण देह को अग्नि के अर्पण कर देते थे। वह प्रथा आगे चल कर उठ गई थी[२]।

कुमारिल का सिद्धात और उसकी सफलता—कुमारिल भट्ट का धार्मिक सिद्धात मीमासा दर्शन पर आधारित है, अत उन्हे 'मीमासक' कहा जाता है। मीमासा दर्शन के मूल सूत्र 'पूर्व मीमासा' की रचना आचार्य जैमिनि ने की थी और शवरस्वामी ने उसका भाष्य किया था। कुमारिल भट्ट ने उस पर 'वार्तिक' की रचना की थी। "मीमासा शास्त्र कर्मकाड का प्रतिपादक है। इसमे वेद को प्रमाण माना जाता है और यह वेद या उसके शव्द की नित्यता का प्रतिपादन करता है। इसके अनुसार मत्र ही सब कुछ है। वे ही देवता है, देवताओ की कोई अलग सत्ता नही है। सभी कर्म-फल के उद्देश्य से होते हैं, और फल की प्राप्ति कर्म द्वारा होती है[३]।" कुमारिल भट्टाचार्य ने अपने समय के अनेक बौद्धाचार्यो को पराजित कर अपने सिद्धात की श्रेष्ठता प्रमाणित करने मे सफलता प्राप्त की थी। वे मीमासा मार्ग की प्रतिष्ठा द्वारा वेदोक्त यज्ञादि कर्मकाड को पुन प्रचलित करने मे कृतकार्य हुए थे। उनके शिष्यो मे मडन मिश्र प्रमुख थे, जिनका शकराचार्य से शास्त्रार्थ हुआ था।

शकराचार्य—उनके यथार्थ काल के सबध मे मत भेद है, किंतु अधिकाश विद्वान उनकी विद्यमानता नवी शती मे मानते हैं। ऐसा कहा जाता है, उनका जन्म स० ८४६ की वैशाख शु० ५ को हुआ था। वे केरल प्रदेश के नामवुद्री ब्राह्मण थे। अपनी वाल्यावस्था से ही वे अत्यत तीक्ष्ण-बुद्धि, विलक्षण मेधावी और अद्भुत प्रतिभाशाली थे। उन्होने वहुत छोटी आयु मे ही समस्त वैदिक वाङ्मय और विविध शास्त्रो की शिक्षा प्राप्त कर ली थी। विद्याध्ययन करने के अनतर वे सन्यासी हो गये और वेदोक्त ज्ञानमार्ग के प्रचारार्थ देश भर मे भ्रमण करने लगे।

शकर दिग्विजय—शकराचार्य ने अपने सिद्धातो के प्रचारार्थ समस्त भारत की यात्रा की थी। उस यात्रा मे उन्होने विभिन्न धर्मावलवी विद्वानो को शास्त्रार्थ द्वारा पराजित कर उन्हे वैदिक धर्म का अनुयायी वनाया था। उनकी वह यात्रा धार्मिक विजय के रूप मे 'शकर दिग्विजय' के नाम से प्रसिद्ध है। उनके समय मे वौद्ध–जैनादि अवैदिक धर्म तथा शैव, शाक्त, गाणपत्यादि वेदोक्त धर्म–सप्रदाय अपने विकृत रूप मे विद्यमान थे, जो अनेक पथो मे विभाजित होकर जनता मे

---

(१) राजपूतो का प्रारभिक इतिहास, पृष्ठ २९४
(२) वही ,, , पृष्ठ २९०
(३) हिंदुत्व, पृष्ठ ५४९–५५० का साराश

श्री शकराचार्य जी

अनिष्टकारी विचारो का प्रसार कर रहे थे। शकराचार्य ने एक ओर अवैदिक धर्मों का खडन किया, तो दूसरी ओर उन्होने वेदोक्त मत–मतातरो के विकृत रूप का भी बडा विरोध किया था। वे बौद्ध और जैन धर्मो के विभिन्न सप्रदायाचार्यो से शास्त्रार्थ कर उन्हे सर्वत्र पराजित करने मे सफल हुए थे। उसके साथ ही उन्होने दक्षिण मे शैव, शाक्त, गाणपत्यादि विकृत मतो के प्रभाव को समाप्त किया तथा महाराष्ट्र के कापालिको के अनाचार दूर किये। उज्जैन मे भैरवो की भीपण साधना उन्होने बद कराई तथा असम के कामरूप मे शाक्त तात्रिको के तामसी क्रिया–कलाप का अत किया। उनके उक्त धार्मिक अभियान के कारण उस काल के विकृत धर्म–सप्रदायो के विरुद्ध ऐसा जन–मत जागृत हुआ कि उनमे से कई प्रभावशून्य हो गये, और कई नाम मात्र को शेप रह गये थे। बौद्ध धर्म उसी के फल स्वरूप कुछ समय पश्चात् ही समाप्त हो गया था। उन्होने माहिष्मती जा कर कुमारिल भट्ट के विद्वान शिष्य मडन मिश्र से शास्त्रार्थ किया, जिसमे मडन मिश्र ने कर्ममार्ग और शकराचार्य ने ज्ञानमार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया था। उस शास्त्रार्थ की मध्यस्थता मडन मिश्र की पत्नी भारती ने की थी। उस विदुपी महिला ने निरपेक्ष भाव से अपने पति को पराजित और शकराचार्य को विजयी घोपित किया था। शास्त्रार्थ के नियमानुसार मडन मिश्र को शकराचार्य का शिष्य होना पडा। उन्होने गृहस्थ का त्याग कर सन्यास ग्रहण किया और शकराचार्य से दीक्षा लेकर वे सुरेश्वराचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। वे शकराचार्य के वरिष्ठ शिष्यो मे से थे और उन्होने शाकर मत के समर्थन मे कई ग्रथो की रचना की थी।

मठ और शिष्य–परपरा—शकराचार्य ने भारत के चारो कोनो पर चार मठ स्थापित किये, जिनके अध्यक्ष उन्होने अपने प्रधान शिष्यो को नियुक्त किया था। उनके द्वारा स्थापित मठो मे उत्तर का ज्योतिर्मठ वदरिकाश्रम मे, दक्षिण का प्रधान शृ गेरी मठ कर्णाटक मे, पूर्व का गोवर्धन मठ जगन्नाथपुरी मे और पश्चिम का शारदा मठ द्वारका धाम मे है। इन मठो के द्वारा उन्होने इस विशाल देश को धार्मिक एकता के सूत्र मे बाँधने का अभूतपूर्व कार्य किया था। उनकी शिष्य–परपरा के सन्यासी १० वर्गो मे विभाजित है, जिन्हे दशनामी सन्यासी कहा जाता है। उनके नाम १ तीर्थ, २ आश्रम, ३ वन, ४ अरण्य, ५. गिरि, ६ पर्वत, ७ सागर, ८ सरस्वती, ९. भारती और १० पुरी है। वे पूर्वोक्त चारो मठो मे से किसी एक के अतर्गत होते है।

ग्रंथ-रचना—शकराचार्य ने काशी और वदरिकाश्रम मे निवास कर अनेक ग्रथो की रचना की थी, जिनमे ब्रह्मसूत्र, उपनिपद् और गीता के भाष्य अधिक प्रसिद्ध है। ब्रह्मसूत्रो पर आरभिक भाष्य उन्ही का है, जिससे वेदात के गूढ अभिप्राय को समझने मे सुविधा हुई है। उनके पश्चात् अन्य आचार्यो ने भी भाष्य रचे, जिनमे शकर-मत का खडन-मडन किया गया है।

शकर-सिद्धांत—शकराचार्य ने वेदोक्त ज्ञानमार्ग की प्रधानता प्रमाणित कर कर्म और उपासना मार्गो को गौण वतलाया है। उन्होने ब्रह्म और जीव की एकता सिद्ध करते हुए जिस 'अद्वैत' मत की स्थापना की है, वह 'केवलाद्वैत' कहलाता है। उनके मत मे जहाँ एक ओर वेद, उपनिपद् और वेदात दर्शन के सिद्धातो को स्वीकार किया गया है, वहाँ दूसरी ओर बौद्ध धर्म के कतिपय महायानी सिद्धातो को भी आत्मसात कर लिया गया है। उसके कारण कतिपय विरोधी आचार्यो ने उन्हे प्रच्छन्न बौद्ध वतलाते हुए उनके सिद्धात को बौद्ध शून्यवाद का औपनिपद् सस्करण कहा है। वे प्रमुख रूप से ज्ञानमार्ग के समर्थक थे, किंतु उन्होने कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग को भी ज्ञानमार्ग के अवान्तर साधन माने है। इस प्रकार उन्होने गौण रूप से कर्म और भक्ति को भी स्वीकार किया है। उन्होने

निर्गुण और सगुण दोनो प्रकार के ब्रह्मज्ञान की स्थिति निश्चित की है। आरंभिक अवस्था मे साधक की सुविधा के लिए परमात्मा के साकार स्वरूप की व्यवस्था करते हुए उन्होंने मूर्ति-पूजा को भी अपने मत मे ग्रहण कर लिया है। इस प्रकार शंकराचार्य के धार्मिक मत मे किसी प्रकार की संकीर्णता नही है। उनका संप्रदाय स्मार्त मत कहा जाता है, जिसमे पंच देवोपासना की मान्यता है।

वैदिक परंपरा की पुनर्प्रतिष्ठा—श्री शंकराचार्य के महत्व की सबसे बडी बात यह है कि उन्होने शताब्दियो से प्रभावहीन वैदिक परंपरा की पुष्टि की थी और वर्तमान हिंदू धर्म की नींव डाली थी। उन्होंने भारत के प्राचीन तत्वज्ञान की प्रस्थानत्रयी उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र के आधार पर ऐसे अद्वैतवादी मत को प्रचलित किया, जिसके सामने कोई भी अवैदिक धर्म-संप्रदाय नहीं टिक सका था। उनके प्रयत्न से नष्टप्राय वैदिक मान्यताओ का पुनरुद्धार और वर्ण-व्यवस्था की पुनर्स्थापना हुई थी तथा शास्त्रोक्त विधि-विधानो को पुनर्जीवन प्राप्त हुआ था। इस प्रकार जिस कार्य को कुमारिल भट्ट ने आरंभ किया था, उसकी बहुत-कुछ पूर्ति शंकराचार्य ने अपने ढंग से की थी। वे केवल ३३ वर्ष की आयु तक ही जीवित रहे थे किंतु उस अल्प काल मे ही वे जैसा महान् कार्य कर गये, वैसा दूसरे अनेक धर्माचार्य विगत कई शताब्दियो मे भी नही कर सके थे।

मथुरामंडल की धार्मिक स्थिति पर प्रभाव—शंकराचार्य के धार्मिक अभियान का मथुरा-मंडल की धार्मिक स्थिति पर बडा दूरगामी प्रभाव पडा था। उसके कारण यहाँ का बौद्ध धर्म समाप्त-प्राय हो गया और वेदानुकूल धर्मो को बडा बल मिला था। बौद्ध काल मे यहाँ पर जो वर्ण-व्यवस्था भंग हो गई थी, वह फिर से व्यवस्थित की गई। उसके फलस्वरूप अवैदिक धर्म-संप्रदायो के जिन बहुसंख्यक लोगो ने वैदिक धर्म स्वीकार किया था, उन्हे गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार फिर से द्विजातियो मे सम्मिलित किया गया। इस प्रकार सर्वोच्च माने जाने वाले ब्राह्मण वर्ण की संख्या स्वभावतया ही अन्य वर्णों की संख्या से अधिक हो गई थी।

राजपूत राजाओ का योग—९ वीं से ११वीं शतियो तक मथुरामंडल पर कन्नौज के प्रतिहार वंशीय राजपूत राजाओ का अधिकार रहा था। उस काल के प्राय सभी राजपूत राजा वेदानुकूल धर्म-संप्रदायो के अनुयायी थे' अत उनके प्रोत्साहन से यहाँ वैदिक परंपराओ के साथ ही साथ भागवत, शैव, शाक्तादि धर्मों की भी बडी उन्नति हुई थी। उस काल मे यहाँ पौराणिक देव, विशेष कर विष्णु, शिव, शक्ति आदि की उपासना अधिकता से होती थी। उन सभी देवी-देवताओ के अनेक मंदिर-देवालय राजपूत राजाओ द्वारा बनवाये गये थे। ११ वी शती के आरंभ मे जब कन्नौज राज्य पर परवर्ती प्रतिहार राजा विजयपाल का शासन था, तब मथुरा मे दिवाकर भट्ट नामक एक संस्कृतज्ञ ब्राह्मण हुआ था। उसने अपने परिचयात्मक उल्लेख मे मथुरा राज्य की तत्कालीन स्थिति का भव्य वर्णन किया है। उसने लिखा है उस काल मे यहाँ ३६ हजार वेदपाठी ब्राह्मण थे[1] वेदपाठियो की उतनी बडी संख्या यहाँ के वेदानुकूल धर्मों की तत्कालीन सुदृढ स्थिति की सूचक है।

दिवाकर भट्ट का उल्लेख—अपना परिचय देते हुए दिवाकर भट्ट ने लिखा है—"जहाँ सुंदर कालिंदी (यमुना) प्रवाहित होती है, छत्तीस हजार ब्राह्मणो द्वारा तीनो साम गाये जाने वाले ऋक्, यजु और साम की मंत्रध्वनि से जहाँ की सारी भूमि प्रतिध्वनित होती है जहाँ कृष्ण ने कालिय नाग का मर्दन किया, दैत्यो को मारा और बचपन मे बाल-क्रीडा की उसी मथुरा मे मैं दिवाकर भट्ट पैदा हुआ[1]।"

(१) ब्रज भारती

महापंडित राहुल साकृत्यायन जी ने दिवाकर भट्ट के सबध मे जो कुछ लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि वह विद्वान ब्राह्मण ११ वी शती के आरभ मे मथुरा मे पैदा हुआ था । वह प्रतिहार राजा विजयपाल के समय मे मथुरा से कम्बोज (कम्बोडिया) देश को चला गया था । प्राचीन काल से ही भारत के विद्वत् वर्ग धर्म-प्रचारार्थ और वणिक् जन व्यापार-वाणिज्य के लिए विदेशो मे जाते रहे हैं । दिवाकर भट्ट भी सभवत धर्म-प्रचार के लिए ही कम्बोज देश गया था । वहाँ के तत्कालीन राजा राजेन्द्र वर्मा (मृत्यु स० १०२५ वि०) ने भट्ट का बडा सत्कार किया और उसे अपना राज-पुरोहित बनाया, साथ ही अपनी कन्या इद्रलक्ष्मी का विवाह भी उसके साथ कर दिया । उस काल मे ब्राह्मण-क्षत्रियो के वैवाहिक सबध होते थे । राजा के सबधी एक वैभवशाली सामत और राजपुरोहित के रूप मे वह कम्बोज देश मे ही रहने लगा था । उसकी सतान सभवत उसी देश मे बस गई थी[1] ।

गजनवी के आक्रमण का प्रभाव—मथुरा राज्य मे वैदिक और वेदानुकूल धर्म-सप्रदायो की सुदृढ स्थिति महमूद गजनवी के आक्रमण काल तक रही थी । जब गजनवी के भीषण आक्रमण से मथुरा के धर्मप्राण व्यक्तियो का सहार और बहुसख्यक मदिर-देवालयो का ध्वस हुआ, तब यहाँ की धार्मिक स्थिति भी अत्यत शोचनीय हो गई थी । उसके कारण वैदिक धर्म पुन प्रभावहीन हो गया । कालातर मे उसका स्थान पौराणिक धर्म-सप्रदायो ने ग्रहण किया था ।

४. शैव धर्म

हर्ष काल (सं० ६६३ – स० ७०४) की स्थिति—सम्राट हर्षवर्धन जिस राजवश मे उत्पन्न हुआ था, उसका कुल–देवता शिव था और उस वश के राजागण 'परम माहेश्वर' कहलाते थे । हर्ष का पूर्वज पुष्यभूति शिवोपासक था, किंतु उनका पिता प्रभाकरवर्धन शिव के साथ ही साथ सूर्य का भी भक्त था । हर्ष भी अपनी कुल–परपरा के अनुसार आरभ मे शिव और सूर्य का उपासक रहा था । वह 'परम माहेश्वर' कहलाता था और उसकी वह उपाधि राज–मुद्राओ पर अकित होती थी । बाण कृत 'हर्ष चरित्' से ज्ञात होता है, जब सम्राट हर्ष ने शशाक के विरुद्ध अपनी प्रथम रण–यात्रा का आयोजन किया, तब उसने सर्वप्रथम भगवान् 'नील लोहित' का भक्ति भाव से पूजन किया था । उन सब बातो से ज्ञात होता है कि हर्ष शैव था । बाद मे उसका झुकाव बौद्ध धर्म के प्रति अधिक हो गया था, किंतु धार्मिक सहिष्णुता के कारण वह सभी धर्मो का समान रूप से आदर करता था । उस काल मे शैव धर्म का पर्याप्त प्रचार था और उसके कई सप्रदाय प्रचलित थे । राजा और प्रजा सभी शिव के भक्त थे और वे शैव धर्माचार्यो एव साधुओ का बडा सन्मान करते थे ।

हर्षोत्तर काल से राजपूत काल (सं० ७०४ – सं० १२६३) तक की स्थिति—इस काल के राजपूत राजाओ मे से अधिकाश शैव धर्म के अनुयायी थे । उनमे से कई की उपाधि 'परम माहेश्वर' थी । उस समय साधारणतया समस्त भारत मे शैव धर्म का प्रचार था, किंतु शैव दर्शन की दृष्टि से इस धर्म के दो बडे केन्द्र हो गये थे —उत्तर भारत मे कश्मीर और दक्षिण भारत मे तमिल प्रदेश । उस काल मे शैव धर्म के जो प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान हुए, वे प्राय इन्ही दोनो प्रदेशो के निवासी थे । ८ वी शती मे काश्मीरी विद्वान वसुगुप्त और उनके शिष्य कल्लट ने शैव सूत्रो की रचना कर उनका व्यापक प्रचार किया था । उस समय वहाँ के शैवागमो की भी बडी ख्याति हुई थी । इसी शती मे भारत के महान् धार्मिक नेता श्री शकराचार्य का उदय दक्षिण के केरल प्रदेश मे

(१) अतीत से वर्तमान, पृष्ठ १८-१९

हुआ था। यद्यपि वे शैव कुल मे उत्पन्न हुए थे, किंतु उन्होने उस काल के कई विकृत शैव सप्रदायो का विरोध किया था। उनके द्वारा जिस 'केवलाद्वैत' सिद्धात का प्रचार हुआ, उसने शैव धर्म और शैवागमो के साथ ही साथ सभी धर्म–सप्रदायो मे क्रातिकारी परिवर्तन कर दिया था।

शैव धर्म की तात्रिक साधना—शकराचार्य के समय मे शैव धर्म पर तात्रिक साधना और बौद्ध धर्म के परवर्ती रूप वज्रयान का बडा प्रभाव पडा था। उस काल के शैवागम भी वज्रयानी तात्रिक साधना से प्रभावित हुए थे। उनके कारण इस धर्म के प्राचीन सप्रदाय पाशुपत–लाकुलीश के आचार्य और वज्रयानी सिद्धाचार्य एक दूसरे के वहुत निकट आ गये थे। मत्स्येन्द्रनाथ और उनके शिष्य गोरखनाथ को इसीलिए दोनो सप्रदायो की परपरा मे माना जाता है। इस धर्म मे दक्षिणाचार और वामाचार दोनो तात्रिक विधियाँ प्रचुरता से प्रचलित हुई थी।

गोरखनाथ—वे विक्रम की १० वी शती मे हुए थे। शकराचार्य के पश्चात् उनके जैसा प्रभावशाली धर्माचार्य दूसरा नही हुआ। वे अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के कारण वज्रयान और शैव धर्म दोनो की परपराओ से सबधित थे। उन्होने अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की वाममार्गीय तात्रिक साधना को बद कराने और उस समय के शैव धर्म को सशोधित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया था। उनके द्वारा प्रचारित 'योगमार्ग' ने वज्रयान और शैव धर्म दोनो की तात्रिक साधना पर कठोर प्रहार किया था, जिसके फल स्वरूप वज्रयान की तो प्राय समाप्ति ही हो गई थी और शैव धर्म मे वामाचार का प्रचलन वहुत कम हो गया था। दक्षिणाचार की सौम्य तात्रिक साधना इस धर्म मे बराबर चलती रही। उनका योगमार्ग 'नाथ सप्रदाय' के नाम के प्रसिद्ध है। कुछ विद्वानो का मत है कि नाथ सप्रदाय पहिले से ही प्रचलित था और वह किसी न किसी रूप मे प्राचीन पाशुपत–लाकुलीश सप्रदाय से सबधित रहा था। गोरखनाथ ने योगमार्ग और नाथ सप्रदाय को व्यवस्थित एव सगठित रूप प्रदान कर उनका व्यापक प्रचार किया था।

"गोरखनाथ का पथ षट्दर्शनो पर आधारित है। उसकी मान्यता है कि आत्मा की खोज मे कही बाहर जाने की आवश्यकता नही, वह अपने भीतर—काठ के भीतर अग्नि, बीज के भीतर वृक्ष, एव पुष्प के भीतर गध की भाँति—व्याप्त व अतर्निहित है। उन्होने कल्पित देवी–देवताओ की आराधना, वर्ण-विभेद व साप्रदायिक सकीर्णता का विरोध किया और ब्रह्मचर्य, आत्मसयम व युक्ताहार–विहारादि को स्वीकार किया था[1]।" वे योग और ज्ञान मार्गो के समर्थक तथा भक्तिमार्ग के विरोधी थे। 'गोरख जगायौ जोग, भगति भगायौ लोग'–गो० तुलसीदास की इस उक्ति से गोरखनाथ की धार्मिक मान्यता पर प्रकाश पडता है।

शैव दर्शन—जैसा पहिले लिखा गया है, इस काल मे शैव दर्शन की दृष्टि से इस धर्म के दो प्रमुख केन्द्र थे,—उत्तर भारत मे कश्मीर और दक्षिण भारत मे तमिल प्रदेश। काश्मीरी शैव सिद्धात—'त्रिक् दर्शन' या 'प्रत्याभिज्ञा दर्शन' शकराचार्य के अद्वैत सिद्धात से प्रभावित था, किंतु दक्षिण भारत मे शैव धर्म के जिस 'लिंगायत' अथवा 'वीर शैव' सप्रदाय का उदय हुआ था, उस पर विशिष्टाद्वैत का प्रभाव था। शैव धर्म के दाक्षिणात्य सत 'नायनार' के नाम से प्रसिद्ध है। उनका उल्लेख 'पेरिय पुराण' मे मिलता है। ११ वी शताब्दी मे दक्षिण मे एक शैव विद्वान मेयकंडदेवुर हुए थे। उनकी रचना 'शिवज्ञान बोधम्' शैव दर्शन का सार है। उसे शैव धर्म की 'गीता' कहा जाता है।

---

(१) **गोरख बानी** (प्रकाशक का वक्तव्य), पृष्ठ ६–७

शैव धर्म के विविध संप्रदाय—नवी शती के सुप्रसिद्ध शैव विद्वान आनद गिरि ने 'शकर दिग्विजय' ग्रंथ की रचना की थी। उसमे उस काल के शैव सप्रदायो का नामोल्लेख हुआ है। उसके अनुसार उस समय 'पाशुपत, शैव, रौद्र, उग्र, कापालिक, भाट या भट्ट और जगम' नामक शैव सप्रदाय विद्यमान थे। उनके अनुयायियो ने शकराचार्य से शास्त्रार्थ किया था, जिसमे उन सबकी पराजय हुई थी। कालातर मे उनमे से कई सप्रदाय गोरखनाथ के 'नाथ सप्रदाय' मे अतर्भुक्त हो गये थे। यहाँ पर इस काल के कुछ प्रमुख शैव सप्रदायो का सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

कापालिक—शैव धर्म का वह सप्रदाय पौराणिक काल मे विद्यमान था। उसमे शिव के उग्र रूप की उपासना की जाती थी। उसकी उपासना-विधि वडी भयकर और तामसी थी। इसके साधक जटाएँ रखते थे और सिर पर नव चद्र की प्रतिमा धारण करते थे। उनके हाथ मे नर-कपाल का पात्र रहता था, गले मे हड्डियो की माला होती थी, और वे मास तथा मदिरा का सेवन करते थे। उनका निवास प्राय. श्मशानो मे होता था। उनकी भीषण तात्रिक साधना अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी, जिससे जनता मे वडा आतक था। भवभूति कृत 'मालती माधव' मे कापालिको के भयानक रूप, उग्र साधन और वीभत्स आचारो का वर्णन मिलता है। डा० भडारकर ने उनके सबध मे लिखा है,—"वे कपाली शक्ति का आलिगन करते थे, और श्मशानो मे योग-साधना करते थे। वे तात्रिक अनुष्ठान करते थे और भैरव शक्तियाँ जगाते थे, नर बलि देते थे और शिव के भैरव रूप तथा अघोर मुख के उपासक थे[1]।"

जंगम और भारशिव—शैव धर्म का वह सप्रदाय 'भारशिव' कहलाता था। उसके उक्त नाम का कारण कदाचित यह था कि उसके अनुयायी शिव-लिग को आदरपूर्वक अपने सिर अथवा कधो पर धारण करते थे। 'जगम' भी प्राचीन भारशिव ही थे, क्यो कि उनके द्वारा भी शिव-लिग को अपने सिर पर धारण करने का उल्लेख मिलता है। भारशिव सप्रदाय के नाग राजाओ ने मथुरामडल से कुषाण शासन को समाप्त कर दिया था। इस प्रकार इस सप्रदाय की विद्यमानता विक्रम की द्वितीय शताब्दी मे सिद्ध होती है। "महाराज प्रवरसेन द्वितीय (७ वी शती) के दो लेख मिले है,—एक छम्मक का ताम्रपत्र और दूसरा सिवानी का शिलालेख। उनमे 'भारशिव' शैव सप्रदाय का उल्लेख किया गया है[2]।" उनसे ज्ञात होता है कि वह सप्रदाय ७ वी शती तक प्रचलित था।

लिंगायत अथवा वीर शैव—शैव धर्म का वह दाक्षिणात्य सप्रदाय था, जो सुधारवादी प्रवृत्ति को लेकर प्रचलित हुआ था। उस सप्रदाय के अनुयायी तत्कालीन शैवो की कुरीतियो, उनके दुराचारो और व्यर्थ के आडवरो का विरोध करते थे। वे वर्ण-भेद को नही मानते थे और अपने यज्ञोपवीत मे एक छोटा सा शिव-लिग लटकाए रहते थे, जिसके कारण वे 'लिंगायत' कहलाते थे।

रसेश्वर सप्रदाय—शैव धर्म के इस सप्रदाय मे शरीर-साधना और इसके द्वारा अमरत्व की प्राप्ति पर विशेष बल दिया गया है। इस सप्रदाय के मानने वाले पारद और अभ्रक के योग से रस-साधना द्वारा दिव्य शरीर प्राप्त करने मे विश्वास करते है। उनके द्वारा जो अनेक ग्रथ रचे गये है, वे भारतीय चिकित्सा शास्त्र के अमूल्य रत्न है। इस सप्रदाय का हठयोग से घनिष्ठ सबध रहा है।

---

(१) **शैव मत,** पृष्ठ १५३

(२) **सिद्ध साहित्य,** पृष्ठ १२२

५. शाक्त धर्म

हर्ष काल से राजपूत काल (स० ६६३-स० १२६३) तक की स्थिति—इस काल मे जिस तान्त्रिक साधना का उदय एव विकास हुआ था, और जिससे तत्कालीन सभी धर्म-सप्रदाय अभिभूत हुए थे, उसका सर्वाधिक प्रभाव शाक्त धर्म पर पडा था । इस साधना के मूलभूत 'तान्त्रिक' नाम और उससे सबधित विविध 'आचारो' की सार्थकता वस्तुत शाक्त धर्म मे ही हुई है । यहाँ पर इस धर्म के इन आचारो का सक्षिप्त परिचय दिया जाता है ।

शाक्त धर्म के विविध 'आचार'—शाक्त धर्म मे वैदिक, वैष्णव, गाणपत्य, सौर, शैव और शाक्त नामक 'आचार' होते है, जिन्हे एक-दूसरे से क्रमश श्रेष्ठ माना गया है । इस क्रम मे वैदिक आचार सबसे निम्न कोटि के माने गये है और शाक्त आचार सबसे श्रेष्ठ । इस मान्यता से वैदिक और वेदानुकूल धर्मो प्रति इस धर्म के दृष्टिकोण का आभास मिलता है । शाक्त आचारो को भी इस धर्म मे चार वर्गो मे विभाजित किया गया है, जिन्हे दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धाचार और कौलाचार कहा जाता है । इनमे अतिम दोनो आचार सिद्धो और अवधूतो के लिए है, जब कि आरभिक दोनो दक्षिणाचार और वामाचार का विधान शाक्त धर्म के सामान्य साधको के लिए किया गया है । इन्ही दोनो आचारो की सर्वाधिक प्रसिद्धि रही है । इनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है,—

दक्षिणाचार—इस आचार मे स्नान, सध्या, जपादि नियमित कर्म तथा क्षीर-शर्करा आदि सात्विक भोजन किया जाता है, और मदिरा-मासादि तामसी पदार्थों का निषेध होता है । इसमे शक्ति के साथ अन्य देवी-देवताओ की पूजा-उपासना भी हो सकती है । मर्यादा और विधि-निषेध का इसमे पालन किया जाता है ।

वामाचार—इस आचार मे पच 'मकार' के रूप मे मत्स्य, मास, मदिरा का सेवन और मुद्रा-परस्त्री मैथुन मान्य है । इसकी साधना मे प्राय तामसी वस्तुओ का ही उपयोग किया जाता है । इसमे उपास्य देवता के रूप मे एक मात्र शक्ति की मान्यता है और इसमे विधि-निषेध तथा मर्यादा के पालन की कोई खास आवश्यकता नही मानी जाती है ।

साधारणतया इस धर्म मे सभी 'आचारो' का प्रचलन हुआ था, किंतु शाक्त साधको की अधिक रुचि 'वामाचार' अर्थात् 'वाममार्ग' के प्रति रही है । इसीलिए दक्षिणमार्गियो को प्राय 'तान्त्रिक' और वाममार्गियो को 'शाक्त' कहा जाता है । जैसा पहिले लिखा गया है, दक्षिणाचार की साधना सात्वकी और सौम्य है, किंतु वामाचार की तामसी और उग्र होती है । इन दोनो आचारो अथवा मार्गों की उपासना-पद्धति पर प्रकाश डालते हुए डा० धर्मवीर भारती ने बतलाया है,—

"दक्षिणाचार मे प्रभात मे सध्या, मध्यान्ह मे जप, आसन पर बैठना, दूध-शर्करा का पान, रुद्राक्ष की माला धारण करना तथा अपनी पत्नी से सभोग करना यह विहित था । वामाचार इसका प्रतिकूल था । नृदत की माला, कपाल का पात्र, छोटी कच्ची मछलियो का चर्वण, मास-भक्षण और सभी जातियो की परस्त्रियो से समान रूप से मैथुन यह वामाचार था । 'वाडवानलीय' मे यह कहा गया है कि दक्षिणमार्ग ब्राह्मण के लिए, तथा वाममार्ग शूद्रो वा अन्य वर्णो के लिए विहित है । वामाचार मे पाँच 'मकारो' का विधान है,—'मद्यै मासैस्तथा मत्स्यै मुद्राभि मैथुनैरपि'—अर्थात् मद्य, मास, मछली, मुद्रा और मैथुन । इनके आधार पर भैरवी चक्रो की नियोजना होती थी । उन चक्रो

मे स्त्री साधिकाएँ तथा पुरुष साधक मिलते थे और मद्यपान के उपरात 'मनोरथ सुखो की परस्पर पूर्ति' होती थी। इस प्रकार के चक्रो मे वर्ण और जाति का कोई भेद नही रहता था[1]।"

वामाचार की मूल भावना और उसकी विकृति—वामाचार की साधना और उसमे मान्य पंच 'मकार' के उपर्युक्त उल्लेख से उसके विकृत स्वरूप का बोध होता है; किंतु उसकी मूल भावना वैसी नही थी। पच 'मकार' मूलत अपने साकेतिक अर्थ मे ही विहित थे, जैसे मद्य का अभिप्राय ब्रह्मरध्र से निसृत सोमधारा से था, न कि मदिरा से। इसी प्रकार मास, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन के भी साकेतिक अर्थ थे, जिनका स्पष्टीकरण शाक्त ग्रथो मे किया गया है[2]।

किसी भी धर्म के अनुसार साधना करने वाले साधक को अपनी कामनाओ को दवा कर मन को वश मे करना आवश्यक होता है, क्यो कि कामनाओ के उपभोग की इच्छा से उत्पन्न होने वाला मानसिक क्षोभ साधना के मार्ग मे सबसे वडी वाधा है। इस वाधा को दूर करने के लिए वाम-मार्गियो ने बडे विलक्षण सिद्धात का प्रचार किया था। उनका मत था,—"कामनाओ को दवाने से वे मरती नही है, वल्कि अवसर पाते ही वे और भी उग्र रूप धारण कर लेती है। इससे उचित यह है कि समस्त कामनाओ का उपभोग किया जाय। उससे चित्त का क्षोभ दूर होगा और सच्ची साधना प्राप्त होगी[3]।" 'गुह्य समाज तत्र' मे लिखा है,—शीघ्र सिद्धि प्राप्त करने का सरल उपाय कठिन नियमो का पालन करना नही है, वरन् समस्त कामनाओ का उपभोग करना है।

पच 'मकार' की साधना के अनुसार वाममार्गियो की उक्त मान्यता सिद्धात रूप मे चाहे ठीक हो, किंतु व्यावहारिक रूप मे वह कभी श्रेयष्कर सिद्ध नही हुई। तत्राचार्यो ने ही उसके व्यवहार को खड्गधार सा सूक्ष्म पथ वतलाया है। उन्होने कहा है,—"यदि स्त्री-सभोग से मुक्ति मिलती होती, तो कौन वचता? वास्तव मे यह पथ वाघ के कान पकडने या खड्ग की धार पर चलने से भी ज्यादा

---

(१) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १२८

(२) 'आगम-सार' मे पच–'मकारो' के साकेतिक अर्थ इस प्रकार दिये गये है,—

मद्य–सोमधारा क्षरेद् पातु ब्रह्मन्ध्रात वरासने।
पीत्वानन्दमयीम् ता यः स एव मद्यसाधक॥

मांस–मा शव्दात् रसनाज्ञे या तदंशान् रसना प्रिये।
सदा यो भस्येद्देवि स एव मांस-साधकः॥

मत्स्य–गंगायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरत सदा।
तौ मत्स्यौ भक्ष्येद् यस्तु स भवेन्मत्स्यसाधक॥

मुद्रा–सहस्रारे महापद्मे कर्णिका मुद्रिकाचरेत्।
आत्मा तत्रैव देवेशि केवलम् पारदोपमम्॥
अतीव कमनीयम् च महाकुण्डलिनी युतम्।
यत्र ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रासाधक उच्यते॥

मैथुन–मैथुनम् परमतत्वं सृष्टि स्थित्यन्त कारणम्।
मैथुनात् जायते सिद्धि ब्रह्मज्ञानम् सुदुर्लभम्॥ (सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १२९)

(३) दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमाने न सिद्ध्यति।
सर्वकामोपभोगैस्तु सेव्यंश्चाशु सिद्ध्यति॥ (नाथ सम्प्रदाय, पृष्ठ ९१)

कठिन है[1]।" परशुराम कल्पसूत्र मे कहा गया है,—'पच 'मकार' की साधना स्थिर चित्त वालो के लिए हितकारी और दुर्वल इद्रिय वालो के लिए विनाशकारी है । जो लोग लपटता के लिए पच 'मकार' का सेवन करते हैं, वे घोर अधर्म करते है ।' इस प्रकार साधना के क्षेत्र मे कामोपभोग का प्रवेश हुआ, जिससे अधिकारी व्यक्ति तो वहुत कम लाभान्वित हुए, किंतु अनधिकारी व्यक्ति अधिकता मे उसकी आड मे अपनी लपटता की पूर्ति करने लगे । उनके कारण शाक्त धर्म के वामाचार की तात्रिक साधना बुरी तरह विकृत हो गई और वह वज्रयानी बौद्ध सप्रदाय की भाँति ही जनता मे अरुचि एव घृणा की दृष्टि से देखी जाने लगी थी ।

मथुरामडल मे शाक्त धर्म का प्रचार—शाक्त धर्म के वामाचार की कुत्सित साधना वदनाम होने पर भी मथुरामडल मे चलती रही थी, और उसका बौद्ध धर्म की भाँति अत नहीं हुआ था । इसका कारण दक्षिणाचार की साधना थी, जो अपने सात्विक और सौम्य रूप से इस धर्म को वचाये रही । दूसरी वात यह थी कि बौद्ध धर्म जहाँ अवैदिक और वेद-विरोधी था, वहाँ शाक्त धर्म आरभ से ही वैदिक परपरा से सवधित था और वह सदा ही उसका पल्ला पकडे रहा था । इसलिए यहाँ के परपरागत धार्मिक वातावरण मे उसकी सदैव स्थिति बनी रही थी । किसी भी युग मे अनाचारी और कामुक व्यक्तियो का धार्मिक समाज मे कभी सर्वथा अभाव नही हुआ, अत वामाचार की कुत्सित साधना भी वरावर चलती रही थी, किंतु उसका क्षेत्र सीमित था, जब कि दक्षिणाचार की सौम्य साधना अपेक्षाकृत अधिकता से प्रचलित रही थी ।

यद्यपि मथुरामडल मे शक्ति की उपासना-पूजा की अत्यत प्राचीन परपरा रही है, तथापि शाक्त ग्र थो मे इस प्रदेश को शाक्त धर्म के प्रभाव क्षेत्र से वाहर माना गया है । इसका कारण यही जान पडता है कि यहाँ पर कभी शाक्त धर्म का अधिक प्रचार नही हुआ था । 'तत्रराज' के अनुसार शाक्त धर्म के प्रधान केन्द्र गौड (प्राचीन वगाल), कश्मीर और केरल प्रदेश हैं, जहाँ के निवासियो को विशुद्ध शाक्त बतलाया गया हे । इन तीन प्रदेशो मे भी गौड और उसका निकटवर्ती कामरूप ही शाक्त धर्म के प्रमुख केन्द्र रहे है । मध्य काल के पश्चात् जव गौडीय विद्वानो का मथुरामडल से अधिक सपर्क हुआ, तव यहाँ पर शाक्त धर्म का कुछ अधिक प्रचार होने लगा था । बाद मे कृष्ण-भक्ति के व्यापक प्रचलन से अन्य धर्म-सप्रदायो की भाँति शाक्त धर्म भी प्रभाव-शून्य हो गया था ।

६. भागवत धर्म

हर्षोत्तर काल से राजपूत काल (स० ७०४ – स० १२६३) तक की स्थिति—इस काल मे बौद्ध धर्म के प्रभावहीन होने और फिर समाप्त हो जाने से मथुरामडल मे जिन धर्मो की स्थिति अच्छी हो गई थी, उनमे भागवत धर्म अग्रणी था । यह काल राजपूत राजाओ के राज्य विस्तार का था । तत्कालीन गुर्जर-प्रतिहार और राष्ट्रकूट नरेश आपस मे राज्याधिकार के लिए निरतर युद्धरत रहते हुए भी धार्मिक कार्यो मे उदारतापूर्वक योग-दान करते थे । वे राजागण भागवत, शैव, शाक्तादि पौराणिक धर्म-सप्रदायो के अनुयायी होने के कारण मथुरा जैसे धार्मिक स्थल के प्रति बडी श्रद्धा रखते थे । उन्होने यहाँ पर उक्त धर्म-सप्रदायो के मदिर-देवालय बनवाये थे और उनके लिए प्रभूत सपत्ति अर्पित की थी । उनके कारण यहाँ पर भागवत धर्म की बडी समृद्धि हुई

(१) सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १३०

तात्रिक साधना की मुख्य बातें—मथुरामडल मे भागवत धर्म के अतर्गत जो तात्रिक साधना प्रचलित हुई थी, उसकी मुख्य बाते इस प्रकार थी,—

(१) शक्ति सहित उपास्य की भक्ति ।

(२) उपास्य के अनुग्रह की कामना और उनके सानिध्य एव सामीप्य मे रहने की लालसा ।

(३) उपास्य की रागात्मिका भक्ति तथा उनकी रति-लीलाओं का ध्यान, कीर्तन एव गायन ।

(४) गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा ।

(५) सहस्रनाम, मुद्राचिह्न, नाम-जप और यत्र-साधन की मान्यता ।

(६) सिद्धि के लिए वीजमत्र का जप ।

तात्रिक साधना मे वीजमत्र को बडा महत्व दिया गया है और उसे सिद्धि के लिए आवश्यक माना गया है । तत्रो का कथन है, जिस वीज मत्र का जाप करना हुआ साधक साधना मे तत्पर होता है, सर्वप्रथम वह वीज मत्र ही जाज्वल्यमान होकर प्रकट होने लगता है । उसके उपरात वह एक अस्पष्ट मानव के रूप मे परिवर्तित हो जाता है । साधना उसी प्रकार चालू रखने पर वह अस्पष्ट आकृति इष्ट (देवता) की आकृति मे परिवर्तित होने लगती है । उस समय उसकी रहस्यमय आकृति का रूप प्रत्यक्ष दिखलाई देने लगता है । वह रूप इतना भव्य और सुदर होता है कि साधक उसका दर्शन पाकर अलौकिक आनद का अनुभव करने लगता है[1] ।

कालातर मे भागवत धर्म की उपासना-भक्ति का सर्वोत्तम रूप 'रास' माना गया, किंतु तात्रिक साधना मे उसकी भी तत्रानुमोदित व्याख्या की गई है । 'हस विलास' नामक तात्रिक ग्रथ मे 'रास' का अर्थ करते हुए कहा गया है,—"आनद ब्रह्म रूप है और वह इस देह मे ही स्थित है । इस आनद का अभिव्यजक 'रास' है और इसमे तत्पर व्यक्ति 'रसिक' कहलाता है[2] ।" 'हस विलास' से ऐसा ज्ञात होता है कि उस काल मे 'रास' की मान्यता एक विशिष्ट तात्रिक मत के रूप होती थी, जिसमे वैदिक मत को निम्नतम और रास मत को उच्चतम स्थान दिया गया था । उसके सबध मे 'हस विलास' का कथन है,—"वैदिक मत से वैष्णव मत, वैष्णव मत से दक्षिणमार्ग, दक्षिणमार्ग से वाममार्ग, वाममार्ग से सिद्ध मत और सिद्ध मत से रास मत उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है[3] ।" कहने की आवश्यकता नही कि वह मान्यता शाक्त धर्म के वाममार्गीय सिद्धात के सदृश थी ।

डा० विश्वभरनाथ उपाध्याय का मत है,—'हस विलास' मे जो कुछ कहा गया है, वह "स्पष्ट ही रास की तात्रिक व्याख्या है, परतु वह वैष्णव सिद्धात से दूर नही है, क्यो कि रासमडल का प्रतीकात्मक अर्थ ही वैष्णव परपराओ मे भी स्वीकृत है । 'हस विलास' स्पष्ट कहता है, तात्रिक साधक रति-क्रीडा करते है और वैष्णव उसका गायन करते है । गायन भी सुरति ही है,—'गायन-मात्रमेव सुरतम् ।' यही कारण है कि वैष्णव भक्त ध्यान द्वारा राधा-कृष्ण की अश्लील रति-क्रीडा को देख कर लज्जित नही होते । वे उसे देव-रति मान कर प्रसन्न हो-होकर देखते है और जन्म-जन्मातर देखते रहना चाहते है और उसके लिए वे ज्ञानियो की मुक्ति की भी निंदा करते है । भक्तो की युगल उपासना तात्रिको की यामल उपासना से प्रेरित है[4] ।

(१) कल्याण का 'शक्ति अक'

(२) आनन्दो ब्रह्मणो रूप तच्चदेहे व्यवस्थितम् । तस्याभि व्यजको रासो, रसिकस्तत्परायण. ॥

(३) हस विलास, पृष्ठ १३९

(४) सत वैष्णव काव्य पर तात्रिक प्रभाव, पृष्ठ १४४, १४७, १४९ और भूमिका, पृष्ठ ५

मुसलमानों के आक्रमण का प्रभाव—इस काल के अत की सबसे उल्लेखनीय घटना विदेशी मुसलमानो का मथुरामडल पर आक्रमण करना था। उन आक्रमणकारियो मे महमूद गजनवी पहिला व्यक्ति था, जिसने मथुरामडल के देवस्थानो को भीषण हानि पहुँचाई थी। उस काल मे यहाँ पर भागवत धर्म के अनेक समृद्धिशाली मदिर-देवालय थे, जिनमे श्रीकृष्ण-जन्मस्थान के वासुदेव मदिर की बडी ख्याति थी। वह मदिर विगत छह शताब्दियो से मथुरामडल मे भागवत धर्म का प्रधान केन्द्र रहा था। तत्कालीन नरेशो और धनाढ्य व्यक्तियो द्वारा अर्पित प्रभूत सम्पत्ति उक्त मदिर मे सचित थी, जिसे देख कर विदेशी लुटेरो की आँखे चौंधिया गई थी। उन्होने उक्त सम्पत्ति को लूटने के साथ ही साथ उस महत्त्वपूर्ण देवस्थान को भी नष्ट कर दिया था। यहाँ पर उस शोचनीय दुर्घटना का सक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान के भागवत मंदिर का ध्वस—महमूद गजनवी ने अपना ९वाँ आक्रमण स० १०७४ मे किया था, जिसमे उसने मथुरा नगर को लूटा था। उस आक्रमण का विवरण महमूद के मीरमुशी अल-उत्वी ने अपनी पुस्तक 'तारीखे यमीनी' मे तथा बाद के मुसलमान लेखक बदायुनी और फरिश्ता ने अपने-अपने ग्रथो मे विस्तार से किया है। फरिश्ता ने लिखा है, महमूद गजनवी मेरठ से महावन होता हुआ मथुरा पहुँचा था। मथुरा को लूटने से पहिले उसने महावन के दुर्ग पर राजा कूलचद (कुलचद्र) से घमासान युद्ध किया था। उक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि उस समय मथुरामडल का राजनैतिक केन्द्र महावन था और कुलचद्र वहाँ का शासक था। महमूद की विशाल सेना ने कुलचद्र को पराजित किया और महावन को लूट कर वह मथुरा पर चढ दौडा। मथुरा उस समय बडा समृद्धिशाली नगर था, जो यमुना नदी के किनारे पत्थर के मजबूत परकोटा के अदर वर्तमान कटरा केशवदेव के आस-पास बसा हुआ था। नगर के दोनो ओर सुदर मकान और देवालय थे और उनके बीचोबीच भगवान् वासुदेव का विशाल मदिर था। महमूद ने २० दिनो तक नगर को लूटा और उसे बर्बाद किया। वासुदेव मदिर सहित समस्त देवालय एव भवन तोडे और जलाये गये, तथा अनेक लोगो को मार डाला गया। मथुरा की लूट मे महमूद को अपार सपत्ति प्राप्त हुई थी।

भगवान् वासुदेव के मदिर के सबध मे अल-उत्वी ने लिखा है,—"शहर के बीच मे सभी मदिरो से ऊँचा एव सुदर एक मदिर था, जिसका पूरा वर्णन न तो चित्र रचना द्वारा और न लेखनी द्वारा किया जा सकता है। सुलतान महमूद ने स्वय उस मदिर के बारे मे लिखा है,—'यदि कोई व्यक्ति उस प्रकार की इमारत बनवाना चाहे, तो उसे दस करोड़ दीनार (स्वर्ण मुद्रा) से कम न खर्च करने पडेगे और उसके निर्माण मे २०० वर्ष लगेंगे, चाहे उसमे बहुत ही योग्य तथा अनुभवी कारीगरो को ही क्यो न लगाया जावे[1]।"

उस मदिर की बर्बादी के सबध मे डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है,—"महमूद का आँखो देखा वर्णन और उसके आधार पर किया हुआ अनुमान दोनो ही सत्य है, क्योंकि गुप्त काल से एक हजार ई० तक लगभग ६०० वर्षों की अवधि मे वह विराट मदिर सँवारा और सजाया गया था। उस दीर्घ समय मे वहाँ जो अतुल धन-सपत्ति और सुवर्ण राशि एकत्र हो चुकी थी, उसका वर्णन भी यथार्थ ही महमूद के मीरमुशी ने किया है। बीस दिन तक की लूट मे ५ सोने की प्रतिमाएँ मिली, जिनमे माणिक्य की आँखे जडी हुई थी। उनका मूल्य ५० हजार दीनार था। एक और सोने

---

(१) पोद्दार अभिनंदन ग्रथ, पृष्ठ ८३२

मूर्ति मिली, जिसका वजन ९८३०० मिष्कल या लगभग १४ मन था, उसमे करीब डेढ सेर का एक नीलम जडा हुआ था। चाँदी की सौ भारी-भारी मूर्तियाँ सौ ऊँटो पर लाद कर ले जाई गई थी। उस मेरु तुल्य राशि या कुबेर के कोश को देख कर लुटेरो की आँखे फट गई थी। उन्होने समझा कि रत्नो की खान हाथ आ गई। · · ·उस आपत्ति काल मे लोगो ने मूर्तियो को कुओ मे फेंक दिया गया था, मथुरा के कितने ही कुएँ उन मूर्तियो से पटे हुए मिले है[1]।"

कृष्ण-जन्मस्थान पर नये मंदिर का निर्माण—महमूद गजनवी के आक्रमण ने मथुरा के मदिर–देवालयो का ऐसा सर्वनाश किया कि यहाँ का धार्मिक वैभव एक प्रकार से समाप्तप्राय हो गया था। बाद मे जब शाति स्थापित हुई, तब मथुरा नगर फिर से बसने लगा और यहाँ मदिर–देवालय भी बनाये जाने लगे। कन्नौज के राजकुमार विजयचद्र उपनाम विजयपाल ने स० १२०७ मे मथुरा के कृष्ण–जन्मस्थान मे गजनवी द्वारा ध्वस किये गये मदिर की पुरानी कुर्सी पर एक नया मदिर बनवाया था, जिसकी पूर्ति स० १२१२ मे हुई थी। उसके निर्माण मे जज्ज (यज्ञ) नामक एक प्रतिष्ठित राजकीय अधिकारी ने विशेष योग दिया था। कटरा की खुदाई मे उस काल का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि उस मदिर के प्रबध के लिए न्यास (ट्रस्ट) के रूप मे एक गोष्ठी बनाई गई थी, जिसके १४ सदस्य थे और 'जज्ज' उसका प्रधान था। मदिर के व्यय के लिए २ मकान, ६ दूकान और १ बडी वाटिका की व्यवस्था की गई थी। उक्त अभिलेख सस्कृत पद्य की २९ पक्तियो का है और वह लखनऊ सग्रहालय मे सुरक्षित है।

भागवत धर्म के नाम-रूप का परिवर्तन—इस काल के अत तक भागवत धर्म पर पुराणो के धार्मिक समन्वय, तात्रिक साधना की स्वीकृति और मुसलमानो के भीषण आक्रमण तथा उनके मजहबी तास्सुब का यह प्रभाव हुआ कि उसके नाम और रूप मे परिवर्तन हो गया था। वह अब 'वैष्णव धर्म' कहा जाने लगा था और उसमे भगवान् वासुदेव के रूप मे भगवान् विष्णु के विविध अवतारो की, विशेष कर भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति का प्रचलन हो गया था। उस नये नाम–रूप के कारण भागवत धर्म को मानो नव जीवन प्राप्त हुआ था। उसका प्रभाव मथुरामडल से भी अधिक अन्य स्थानो मे दिखलाई दिया था। उसके प्रधान केन्द्र तब दक्षिण के महाराष्ट्र, कर्नाटक, आध्र और तमिलनाड प्रदेश थे। वही पर सर्वश्री रामानुज, विष्णुस्वामी, निवार्क, मध्व तथा कालातर मे वल्लभ और चैतन्य के गुरु माधवेन्द्रपुरी का प्रादुर्भाव हुआ था। उनके कारण वैष्णव धर्म के विविध सप्रदायो का उदय होने से भगवान् विष्णु और उनके अभिन्न स्वरूप लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की उपासना–भक्ति का प्रकाश समस्त भारतवर्ष मे फैल गया था।

●

(१) श्रीकृष्ण–जन्मभूमि या कटरा केशवदेव, पृष्ठ १४

पंचम अध्याय

उत्तर मध्य काल (१)

[विक्रम सं० १२६३ से विक्रम स० १५८३ तक]

उपक्रम—

इस काल का महत्त्व—ब्रज के सास्कृतिक इतिहास का यह काल राजनीति के साथ ही साथ धर्मोपासना की दृष्टि से भी सर्वथा नूतन युग का सूचक है। इस काल मे दो ऐसी महान् घटनाएँ हुई थी, जिन्होने यहाँ की राजनैतिक स्थिति के साथ ही साथ धार्मिक गति–विधियो पर युगातरकारी प्रभाव डाला था। पहिली घटना उस दु.खद प्रसग की हे, जिससे यहाँ की राजनैतिक स्वाधीनता समाप्त हो गई थी, और यह प्रदेश मुसलमानी शासन के अतर्गत एक पराधीन राज्य वन गया था। दूसरी घटना यहाँ के प्राचीन धर्मो के स्वरूप–परिवर्तन की थी। इस काल से पहिले मथुरामडल के धर्म–सप्रदायो मे जो क्रातिकारी परिवर्तन हुए थे, उसके कारण इस काल मे बौद्ध धर्म की समाप्ति हो गई थी और जैन धर्म के प्रभाव मे कमी आ गई थी। प्राचीन वैदिक और भागवत धर्मो का स्थान श्रुति–स्मृति–पुराण प्रतिपादित वैष्णव धर्म ने ग्रहण किया था और शैव–शाक्तादि धर्मो के अनुयायियो की सख्या कुछ वढ गई थी। वैष्णव धर्म के अतर्गत यहाँ पर कृष्णोपासक सप्रदायो के प्रचार का सूत्रपात हुआ, जिससे कालातर मे अन्य धर्म–सप्रदायो का महत्त्व बहुत कम हो गया था।

कृष्णोपासना की पृष्ठभूमि पर आधारित जिस ब्रज सस्कृति का ऐतिहासिक विवेचन इस ग्रथ मे किया गया हे, उसके यथार्थ स्वरूप के निर्माण का आरभ इसी काल मे हुआ था। इसका श्रेय उन कृष्णोपासक धर्माचार्यो और कृष्ण–भक्त संत-महात्माओ को है, जिन्होने तत्कालीन सुलतानो की मजहवी तानाशाही के कष्टो को सहन करते होते हुए भी वडे साहसपूर्वक अपना धार्मिक अभियान चलाया था। इस काल का यह वडा विचित्र विरोधाभास है कि जहाँ एक ओर विदेशी शासको ने परपरागत ब्रज सस्कृति को समाप्त करने का क्रूरतापूर्ण प्रयास किया था, वहाँ दूसरी ओर उसी के शक्तिशाली नूतन रूप की यहाँ स्थापना की गई थी। ब्रज संस्कृति के स्वरूप-निर्माण और उसके प्रचार–प्रसार के सूत्रपात से सबधित होने के कारण इस काल का निश्चय ही वडा महत्त्व है।

मुसलमानी राज्य की स्थापना और सुलतानो का शासन—मथुरामडल पर विदेशी मुसलमानो का सर्वप्रथम आक्रमण स० १०७४ मे महमूद गजनवी के नेतृत्व मे हुआ था। उसने यहाँ पर लूट-मार तो की थी, किंतु अपना राज्याधिकार कायम नहीं किया था। उसके प्राय एक शताब्दी पश्चात् मुहम्मद गोरी ने आक्रमण किया था। उस काल मे मथुरामडल के निकटवर्ती प्रदेश पर पृथ्वीराज और जयचद्र जैसे शक्तिशाली राजपूत राजाओ का शासन था। उस समय मथुरामडल संभवत कन्नौज नरेश जयचद्र के प्रभाव-क्षेत्र मे था। मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज और जयचद्र को पराजित कर भारत मे मुसलमानी राज्य की नीव डाली थी। जयचद्र की पराजय फीरोजावाद के निकटवर्ती जिस चदवार नामक स्थान पर हुई थी, वह दुर्भाग्य से ब्रज प्रदेश का एक ही गाँव था। फलत. इस भू–भाग पर मुसलमानो का अधिकार हो गया था।

मुहम्मद गोरी का देहात होने पर उसके सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली को राजधानी वना कर मुसलमानी राज्य के सचालन का सूत्रपात किया था । कुतुबुद्दीन ऐबक मे लेकर इब्राहीम लोदी तक दिल्ली के मुसलमान शासको को 'सुलतान' कहा जाता है और उनके शासन काल स० १२६३ से स० १५८३ तक की अवधि को 'सल्तनत काल' कहते है । उन काल के ३२० वर्षो की अवधि मे मथुरामडल का समस्त प्रदेश, जो अब ब्रजमडल कहा जाने लगा था, दिल्ली के सुलतानो के शासन मे रहा था।

सुलतानी काल का धार्मिक उत्पीडन—दिल्ली के मुसलमान सुलतान कई वशो और कई जातियो के थे, किंतु उन सवका सामान्य उद्देश्य इस धार्मिक भू-भाग पर इस्लामी शरीयत के अनुसार शासन करना और यहाँ के धर्मप्राण निवासियो को वलपूर्वक मुसलमान वनाना था। डा० रामधारीसिंह 'दिनकर' ने ठीक ही लिखा है,—"भारत मे इस्लाम का आरभिक इतिहास मारकाट, लूटखसोट, धर्म-परिवर्तन, अभद्रता और अन्याय का इतिहास है[1] ।"

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, सुलतानी शासन से पहिले ब्रजमडल विविध धर्म-सप्रदायो का एक वडा केन्द्र था। यहाँ पर जैन, वैष्णव, शैव, शाक्त धर्मो के अनेक देवस्थान थे, जो सुलतानो के मजहवी तास्सुव के कारण नष्ट कर दिये गये थे । उनमे से कुछ स्थानो पर सराय, मस्जिद और मकतवो का निर्माण किया गया, किंतु अधिकाश ध्वसावस्था मे ही छोड दिये गये थे । कामवन की पहाडी पर वने हुए विख्यात विष्णु मदिर को इल्तुमश ने क्षतिग्रस्त किया था और फीरोज तुगलक ने उसे पूरी तरह नष्ट कर उसके सामान से वहीं पर एक मसजिद वनवा दी थी । मथुरा के अनिकुडा घाट पर भी एक प्राचीन हिंदू देवालय था। अलाउद्दीन खिलजी ने शासन सँभालते ही उसे स० १३५४ मे नष्ट करा दिया था। वहाँ पर भी एक मसजिद वनाई गई थी, जो कालातर मे यमुना नदी मे वह गई थी । मथुरा के श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पर कन्नौज के राजकुमार विजयपाल ने स० १२१२ मे जो मदिर वनवाया था, उसे सुलतान सिकदर लोदी ने स० १५७३ मे नष्ट करा दिया था। उस काल मे व्रज के धर्मस्थानो का ऐसा सर्वनाश किया गया था कि उस युग के किसी मदिर-देवालय का समूचा नमूना तो क्या, उसका ध्वसावशेप तक भी नही मिलता है।

सुलतानो के शासन काल मे मुसलमानो के अतिरिक्त अन्य धर्मावलवी अपने धार्मिक कृत्य स्वतंत्रता पूर्वक नही कर पाते थे। उन्हे किसी प्रकार अपने धर्मो मे वने रहने के लिए अपमानपूर्ण 'जजिया' नामक कर देना पडता था। सुलतानी आदेश से एक वार मथुरा मे हिंदुओ को यमुना मे स्नान करने और घाटो पर क्षौर कर्म कराने से भी रोक दिया गया था। 'भक्तमाल' और वल्लभ सप्रदायी 'वार्ता' मे उक्त घटना का चमत्कारपूर्ण वर्णन करते हुए उसे 'मत्र वाधा' का नाम दिया गया है। किंतु उसका वास्तविक अभिप्राय यह है कि उस काल मे जो लोग मथुरा के विश्रामघाट पर स्नान-क्षौरादि धार्मिक कार्यो के लिए जाते थे, उन्हे काजी के आदेशानुसार वलात् मुसलमान वना लिया जाता था। उस सकट के कारण लोगो ने यमुना मे स्नान करना और वहाँ के घाटो पर क्षौर कराना ही वद कर दिया था। 'भक्तमाल' के अनुसार निंवार्क सप्रदाय के आचार्य केशव काश्मीरी भट्ट जी ने और 'वार्ता' के अनुसार पुष्टिमार्ग के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य जी ने मथुरा निवासियो को उस सकट से मुक्त किया था।

---

(१) सस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ २७४

पूर्वोक्त घटना किस सुलतान के शासन काल मे हुई थी, इसके सबध मे विद्वानो मे मतभेद है। निंवार्क सप्रदायी विद्वान उसे अलाउद्दीन खिलजी के काल की घटना वतलाते है, जब कि वास्तव मे वह सिकदर लोदी के काल की बात है। दिल्ली के सुलतानो मे सिकदर लोदी का शासन काल (स० १५४६–स० १५७४) उसके मजहबी उन्माद के कारण विशेष रूप से बदनाम रहा है। उस काल के मजहबी अत्याचारो के रोमाचकरी विवरणो से स्वय मुसलमान इतिहासकारो के ग्रथ ही भरे पडे हैं। अकबर कालीन इतिहासकार मुहम्मद कासिम कृत 'तारीखे फरिश्ता' और जहाँगीर काल के इतिहास लेखक अब्दुल्ला कृत 'तारीखे दाऊदी' के तत्सबधी उल्लेख इसके प्रमाण है।

सुलतानो के कठोर शासन काल मे व्रजमडल मे मूर्ति-पूजा और मदिर-निर्माण पर कडी पाबदी लगा दी गई थी। सिकदर लोदी ने और भी अधिक कडाई से उसका पालन कराया था। श्री वल्लभाचार्य जी ने उसकी उपेक्षा कर व्रज के गोवर्धन नामक धार्मिक स्थल की गिरिराज पहाड़ी पर श्रीनाथ जी के मदिर बनवाने का उपक्रम किया था। यह उस काल की स्थिति मे बडा साहसपूर्ण कार्य था। वल्लभ सप्रदायी वार्ता साहित्य मे उक्त महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख मिलता है। उस समय मदिर के निर्माण कार्य का आरभ तो हो गया, किंतु उसकी पूर्ति सिकदर लोदी की मृत्यु के उपरात हुई थी। ऐसा जान पडता है, सुलतानी आदेश से या तो उसके निर्माण कार्य को बीच मे ही रोक दिया गया था, या बने हुए मदिर को खडित कर दिया गया था। 'वार्ता' मे स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि स० १५७४ मे वह मदिर पूरा हुआ था। उससे पहिले ही सिकदर लोदी की मृत्यु हो चुकी थी।

दिल्ली के प्राय सभी सुलतान इस्लाम मजहब के प्रचारक पहिले थे, और प्रजापालक नरेश बाद मे। उनका प्रजा-पालन भी मुसलमानो तक ही सीमित था। अपनी हिंदू प्रजा के प्रति वे अपना कोई कर्तव्य समझते थे, तो केवल यह कि उनके परपरागत धर्म को छुडवा कर उन्हे मुसलमान बना दिया जाय! इसके लिए वे ऐसे कानून बनाते थे, जिनसे हिंदुओ का जीवन इतना सकटपूर्ण हो जाय कि वे स्वत मुसलमान बनने को बाध्य हो जावे। ऐसी स्थिति मे नाना कष्टो को सहन करते हुए भी जो हिंदू अपने धर्म पर कायम रहे थे, उन्हे बलात् मुसलमान बनाने अथवा कत्ल करने के अनेक उपाय किये गये थे। जो लोग किसी प्रकार मुसलमान बना लिये जाते थे, उन्हे फिर हिंदू धर्म मे वापिस जाने का कोई मार्ग नही था। पहिले तो मुसलमान शासक ही उसकी आज्ञा नही देते थे। उनके कानून के अनुसार किसी मुसलमान बने हुए व्यक्ति का हिंदू धर्म मे वापिस जाना भीषण अपराध था, जिसका दड केवल मौत थी! फिर हिंदू धर्मावलबी भी उन लोगो को स्वीकार करने के लिए तैयार नही होते थे। बलात् मुसलमान बने हुए हिंदू भी सोचते थे कि हिंदू बन कर शासन की कोपदृष्टि और समाज की उपेक्षा सहन करने की अपेक्षा तो मुसलमान बने रहना ही अच्छा है। इस लिए वे बेचारे मन मार कर और विवशता पूर्वक मुसलमान बने रहे थे।

सुलतानो ने भारत मे इस्लाम के प्रचार के लिए जो भीषण अत्याचार किये थे, उनका दुष्परिणाम ब्रज के हिंदुओ को सबसे अधिक भोगना पडा था; किंतु फिर भी उन्होने साहस और धैर्य को नही छोडा था। वे मुसलमान शासको के अत्याचार सहते रहे, लुटते-मरते रहे, आवश्यकता होने पर यहाँ से भागते भी रहे, किंतु उन्होने स्वेच्छा से कभी इस्लाम स्वीकार नही किया। कश्मीर और बगाल के हिंदू बडी सख्या मे मुसलमान हुए थे; किंतु ब्रज मे, जो सुलतानो की नाक के नीचे था, इस्लाम मजहब अधिक नही फैल सका था। उस भीषण परिस्थिति मे कई शताब्दियो तक रहने पर भी ब्रज मे मुसलमानो का सख्या १० प्रति शत भी नही हो सकी थी। इससे ज्ञात होता है, उस काल के ब्रजवासियो मे अपने धर्म के प्रति कितनी गहरी आस्था थी।

ब्रज के धार्मिक मनीषियो की देन—मुसलमानो की मजहबी तानाशाही की उस चुनौती को साहस और धैर्य के साथ स्वीकार करने की प्रेरणा व्रजमडल के साथ ही उत्तर भारत के करोड़ों निवासियो को उन धर्माचार्यों, सतो और भक्तो से प्राप्त हुई थी, जिन्होंने उस काल की भीषण परिस्थिति मे भी भारत के विभिन्न स्थानो से आकर यहाँ पर निर्भीकता पूर्वक अपने भक्ति-सम्प्रदायो का प्रचार किया था । उन महानुभावो ने अपने तप-त्यागपूर्ण आदर्श जीवन तथा कल्याणकारी धर्मोपदेश से यहाँ के निवासियो की धार्मिक भावना को सुदृढ करते हुए उनके मनोबल को बनाये रखा था । बडे आश्चर्य की बात है कि इतना अत्याचार सहने पर भी व्रज के तत्कालीन किसी धर्माचार्य अथवा भक्त-कवि की रचना मे मुसलमानो के प्रति कोई आक्रोश या दुर्भाव व्यक्त नहीं किया गया ! इसे उन महात्माओ की अलौकिक क्षमा-वृत्ति और प्राणी मात्र के प्रति समदृष्टि ही कहा जा सकता है । उन धार्मिक मनीषियो की ब्रज के लिए यह निश्चय ही महान् देन थी । उनकी जितनी भी प्रशसा की जाय, वह कम है ।

इस काल मे धर्माचार्यो और सत-महात्माओ द्वारा जो धार्मिक मत प्रचलित किये गये थे, उनमे वैष्णव धर्म के भक्ति मार्ग पर आधारित विभिन्न सप्रदायो का सर्वाधिक महत्व है । उन भक्ति सप्रदायो का ब्रज मे प्रचलन होने से उनकी अतिशय लोकप्रियता के कारण यहाँ के अन्य धर्म-सप्रदाय प्रभावहीन और महत्त्वशून्य हो गये थे । इसलिए इस अध्याय मे पहिले वैष्णव धर्मोक्त भक्तिमार्ग के उदय और विकास पर प्रकाश डाल कर, फिर उस पर आधारित भक्ति-सम्प्रदायो का संक्षिप्त परिचय दिया गया है । तदुपरात इस काल के धर्म-सप्रदायो की स्थिति और यहाँ आने वाले कतिपय प्रमुख भक्तजनो का भी उल्लेख कर दिया गया है ।

वैष्णव धर्म

वासुदेवोपासक धर्म का पुनरावर्त्तन—कृष्ण-काल मे वासुदेवोपासक धर्म की जो धारा प्राचीन व्रजमडल अर्थात् शूरसेन जनपद से निकल कर द्वारका गई थी, उसने वहाँ से चल कर सौराष्ट्र, विदिशा, विदर्भ और कर्नाटक आदि प्रदेशो मे शनै शनै. प्रवाहित होने के उपरात दक्षिण के तमिल प्रदेश मे पहुँच कर विराम लिया था । उस वासुदेवोपासक धर्म ने विभिन्न युगो मे और विविध क्षेत्रो मे कई नाम-रूप धारण किये, जिनमे सात्वत, पचरात्र, भागवत धर्मो की दीर्घकालीन परपरा रही है । दक्षिण मे वही धर्म 'वैष्णव धर्म' के रूप मे विकसित हुआ था । इसके विकास मे पहिले वहाँ के आलवार भक्तो ने और फिर वैष्णव धर्माचार्यो ने बडा योग दिया था ।

वैष्णव धर्म का मूल तत्व 'भक्ति' है, जिसे विक्रम की ५ वी शती से लेकर १२ वी शती तक के काल मे क्रमश आलवारो और आचार्यो ने दक्षिणी भारत के विभिन्न भागो मे बडे विशद रूप मे प्रचारित किया था । १२ वी शती के पश्चात् वैष्णव धर्म के भक्ति तत्व की वह निर्मल धारा वैष्णव धर्माचार्यो द्वारा दक्षिण से उत्तर की ओर प्रवाहित की गई थी, और जो अपने जन्मस्थान व्रजमडल मे जा कर, वहाँ परपरा से प्रचलित भागवत धर्म के परवर्ती रूप के साथ मिलती हुई कई शाखाओ के रूप मे फैल गई थी । इस प्रकार अनेक शताब्दियो पश्चात् वासुदेवोपासक धर्म का वैष्णव धर्म के रूप मे यहाँ पुनरावर्त्तन हुआ था । उस समय इसका नया नाम और नया रूप-रग था, किंतु इसकी मूल भावना अपने प्राचीन रूप से भिन्न नही थी ।

भक्तिमार्ग का उदय और विकास—भक्तिमार्गीय वैष्णव धर्म का प्रचार उत्तर भारत मे दक्षिणी धर्माचार्यों द्वारा किये जाने से यह समझा जाने लगा कि भक्ति तत्व का जन्म ही दक्षिण मे हुआ और वह मूल रूप मे द्रविडो की देन है। प्राय यह माना जाता है कि आर्यो का आरभिक धर्म कर्मकाड–प्रधान था, जिसमे यज्ञादि सकाम कर्ममार्ग की प्रमुखता थी। बाद मे उसमे उपासना और ज्ञान मार्गो का भी उदय हुआ था। किंतु भक्तिमार्ग आर्यो मे तब विकसित हुआ, जब वे द्रविडो के सपर्क मे आये थे। इस मान्यता को उस अनुश्रुति से अधिक बल मिला है, जो पद्म पुराण के उत्तरखड और भागवत पुराण के माहात्म्य मे कही गई है।

भक्ति के जन्म की अनुश्रुति—पद्म पुराण मे उल्लिखित अनुश्रुति के अनुसार भक्ति ने नारद जी को अपने जन्म और विकास की कथा बतलाते हुए कहा है,—"मै द्रविड प्रदेश मे उत्पन्न हुई, कर्णाटक मे बडी हुई, महाराष्ट्र मे कुछ काल तक स्थित रही, और फिर गुजरात मे जाकर वृद्धा हुई हूँ[1]।" इसी प्रकार की एक किंवदती कबीर पथी आदि सत सप्रदायो मे भी प्रचलित है। उसमे बतलाया गया है कि भक्तिमार्ग का जन्म दक्षिण के द्राविड प्रदेश मे हुआ था, जहाँ से स्वामी रामानद उसे उत्तर मे लाये थे। फिर उनके कबीरादि शिष्यो ने उसका व्यापक प्रचार किया था[2]।

उपर्युक्त अनुश्रुतियाँ भक्तिमार्गीय विकास क्रम के वस्तुत द्वितीय चरण से सबधित है और वे भी ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्णतया सत्य नही है। भक्तिमार्ग का मूल तत्व उत्तर भारत मे वैदिक धर्म की पृष्ठभूमि मे अकुरित हुआ, और उसका आरभिक विकास उत्तर वैदिक काल मे नारायण अथवा वासुदेव की उपासना के रूप मे हुआ था। फिर उस भक्तिगर्भित वासुदेवोपासक धर्म को शूरसेन प्रदेश के सात्वत क्षत्रियो के वशज दक्षिण मे ले गये थे। यह भक्तिमार्ग के उद्भव और विकास का प्रथम चरण था। उसके द्वितीय चरण का विकास दक्षिण मे वहाँ के आलवार भक्तो और उनके सुयोग्य उत्तराधिकारी सर्वश्री रामानुज, निंबार्क, विष्णुस्वामी, मध्व आदि धर्माचार्यो द्वारा किया गया था। वे सभी भक्तगण दक्षिण के थे। उनकी परपरा मे केवल रामानद ही उत्तर भारत के थे, जिन्होने अपने कबीरादि शिष्यो द्वारा उत्तर मे भी मार्गमार्ग का प्रचार किया था।

जहाँ तक द्वितीय चरण के विकास-क्रम की सत्यता का सबध है, उसे भी अल्पाश मे ही सत्य कहा जा सकता है। रामानद ने तो केवल रामानुज के भक्ति सप्रदाय को ही कुछ परिवर्तित रूप मे अपने कबीरादि शिष्यो द्वारा प्रचलित किया था, किंतु रामानुज के अतिरिक्त दक्षिण के अन्य धर्माचार्यो ने भी स्वय और अपने शिष्यो द्वारा उत्तर भारत मे अपने भक्ति सप्रदायो का प्रचार किया था। उन धर्माचायो मे वल्लभाचार्य जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे दाक्षिणात्य परपरा मे होते हुए भी उत्तर भारत के ही थे। फिर रामानद के सत शिष्यो की अपेक्षा तो निंबार्क, मध्व और वल्लभ के बहुसख्यक शिष्यो की भक्त–मडली को ही भक्तिमार्ग का सच्चा प्रतिनिधि कहा जा सकता है, जिनका उल्लेख उक्त अनुश्रुति मे नही है। इसीलिए उसे ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्णतया सत्य नही माना जा सकता है।

---

(१) उत्पन्ना द्राविडेचाहं, कर्णाटके वृद्धिंगता।
स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे, गुर्जरो जीर्णतागता॥

(२) भक्ति द्राविड़े ऊपजी, लाये रामानद।
परगट करी कबीर ने, सात द्वीप नौ खंड॥

यहाँ पर हम भक्ति मार्ग के दोनो चरणो पर क्रमश विचार करते हुए उनके उदय और विकास-क्रम का सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते है,—

भक्तिमार्ग का प्रथम चरण—वैदिक सहिता और ब्राह्मण भाग मे कर्ममार्ग का तथा आरण्यक और उपनिषद् मे ज्ञानमार्ग का प्रमुख रूप से उल्लेख हुआ है, किंतु उनमे भक्तिमार्ग के तत्व भी बीज रूप मे मिलते है। सहिताओ मे अग्नि, इन्द्र, वरुण, रुद्र, सविता आदि की स्तुति के जो मत्र है, उनमे व्यक्त विनय-भावना मे उपासना और भक्ति का भी आभास मिलता है। यहाँ कुछ मत्र दिये जाते हैं—

त्वमस्माक तवस्मसि (ऋ ८–८१–३२), अर्थात्–तू हमारा है और हम तेरे हैं।

स न इद्र शिव सखा (ऋ ८–९३–३), अर्थात्–वह इद्र हमारा कल्याणकारी सखा है।

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुद प्रमुद आसते। ···तत्र माममृत कृधि ॥ (ऋ ९–११३–११), अर्थात्–हे भगवन्! मुझे सदा आनद, मोद, प्रमोद और प्रसन्नता की मन स्थिति मे रखिए।

ॐ गाव इव ग्राम यूयुधिरिवाश्वान्, वाश्रेव वत्स सुमना दुहाना। पतिरिव जाया अभिनोन्येतु, धर्ता दिव सविता विश्ववार ॥ (ऋ १०–१४९–४) अर्थात्–जैसे गायें ग्राम के प्रति शीघ्र ही जाती है, जैसे शूरवीर योधा अपने प्रिय अश्व पर बैठने के लिए जाता है, जैसे स्नेह पूरित मन वाली और बहुत दूध देने वाली रँभाती हुई गाय अपने प्रिय बछडे के प्रति शीघ्रता से जाती है, एव जैसे पति अपनी प्रियतमा सुदरी पत्नी से मिलने के लिए शीघ्र जाता है, वैसे ही समस्त विश्व द्वारा वरण करने योग्य निरतिशय–आनदनिधि सविता हमारे समीप आता है[1]।

उपर्युक्त मत्रो मे उपास्य के प्रति उपासक की आत्मीय भावना और उपास्य की अतिशय दयालुता का उल्लेख हुआ हे, जिसे भक्ति तत्व के बीजारोपण का व्यजक कहा जा सकता है। कतिपय विद्वानो ने पूर्वोक्त तथ्य को पूर्णतया स्वीकार नही किया है। म म डा० गोपीनाथ कविराज का कथन है,—"यद्यपि कुछ लोग वैदिक उपासना का भक्ति के स्थान मे ग्रहण कर लेते हैं, जो किसी अश मे ठीक भी है, तथापि 'भक्ति' शब्द का जो वाच्यार्थ है, वह वैदिक कर्मकाड अथवा ज्ञानकाड या उपासनाकाड मे स्पष्ट रूप से नही मिलता है। यद्यपि एकायन मार्ग आदि का निदर्शन वैदिक साहित्य मे भी है, तथापि इसके बहुल प्रचार का प्रमाण वैदिक ग्रथो मे दिखाई नही देता[2]।"

उपनिषद् काल आध्यात्मिक उन्नति के साथ ही साथ भक्ति तत्व के अकुरित होने का भी युग था। इसका सकेत 'श्वेताश्वतर' और 'कठ' आदि उपनिषदो मे मिलता है। कठोपनिषद के एक श्लोक मे कहा गया है,—"यह आत्मा न तो प्रवचन से, न मेधा से और न बहुत अध्ययन से ही उपलब्ध होता है। यह जिसे स्वीकार करता है, उसी को प्राप्त होता है। उसके लिए यह आत्मा अपने स्वरूप को स्वय व्यक्त करता है[3]।" इस श्लोक मे बतलाया है कि परमात्मा की प्राप्ति के लिए स्वय उसकी कृपा के बिना विद्या, बुद्धि और पाडित्य से उसका प्राप्ति होना सभव नही है। यह भावना निश्चय ही भक्ति तत्व के अकुरित होने का सूचक है।

---

(१) कल्याण (भक्ति अक), पृष्ठ ३४–३५

(२) भारतीय संस्कृति और साधना (दूसरा भाग), पृष्ठ १८४

(३) नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया, न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुतो तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥ (कठोपनिषद, १–२–२३)

उपनिषदो का मथन कर भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया था, उसमे भक्ति तत्व का पादप स्पष्टतया पल्लवित होता हुआ दिखलाई देता है, जो पौराणिक काल मे पुष्पित और फलित हुआ था। इस प्रकार श्रीकृष्ण का धर्मोपदेश भक्तिमार्ग का आदिम रूप और श्रीमद् भगवत् गीता इसका आदि ग्रथ कहा जा सकता है। वह भक्तिमार्गीय धर्म ही शूरसेन जनपद के यादवो की परपरा द्वारा दक्षिणी भारत मे प्रसारित किया गया था। इसी को दक्षिण के आलवार (वैष्णव) और नायनार (शैव) भक्तो ने ग्रहण कर अपने भावानात्मक काव्य द्वारा विकसित किया था। वह भक्ति मार्ग का प्रथम चरण था।

भक्तिमार्ग का द्वितीय चरण—दक्षिण के आलवार भक्तो की उपासना और उनकी भाव-पूर्ण तमिल रचनाओ के द्वारा भक्तिमार्ग का द्वितीय चरण अग्रसर हुआ था। उसी को बाद मे वैष्णव धर्माचार्यो ने अपने भक्ति सप्रदायो और दार्शनिक सिद्धातो द्वारा दक्षिण से उत्तर की ओर प्रसारित किया था। उस दूसरे चरण से सबधित प्रधान ग्रथ श्रीमद् भागवत है, जो भक्तिमार्ग का प्रमुख प्रेरणा-स्रोत माना जाता है।

दक्षिण भारत मे ५वी शती से ११वी शती तक का काल भक्तिमार्ग के व्यापक आदोलन का युग था। उससे पहिले वहाँ ज्ञान-वैराग्यमार्गीय बौद्ध और जैन धर्मो की प्रमुखता थी। जब वहाँ भक्तिमार्ग का प्रचार बढ गया, तब बौद्ध-जैन धर्म गौण हो गये और उनके स्थान पर वैष्णव और शैव धर्मो ने प्रधानता प्राप्त की थी। उस समय भक्त कवियो द्वारा विष्णु और शिव की भक्ति से सबधित गीत गाये जाने लगे थे। उस प्रकार के गीत अत्यधिक सख्या मे उस समय तमिल भाषा मे रचे गये थे। उस काल के शैव भक्त 'नायनार' और वैष्णव भक्त 'आलवार' कहे गये है। यहाँ पर आलवार भक्तो का सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

दक्षिण के आलवार भक्त—दक्षिण भारत के आरभिक वैष्णव भक्तो को 'आलवार' [illegible] गया है। 'आलवार' शब्द तमिल भाषा का है, जिसका अभिप्राय 'अध्यात्म ज्ञान एव भगवद् [illegible] लीन महापुरुष' होता है। विक्रम की प्राय पाँचवी शताब्दी से दशवी शताब्दी तक [illegible] मे अनेक 'आलवार' भक्त हुए थे, जिनमे से १२ प्रमुख माने जाते है। वे भक्तगण [illegible] अन्त्यज तक और राजा से लेकर अकिंचिन तक विविध वर्णो और विभिन्न [illegible] किशोरी बाला भी हुई थी। वे सब विद्वान तो अधिक नही थे, [illegible] आध्यात्मिक रग मे रँगे हुए भक्त महापुरुष थे। उनका रहन-[illegible]। वे आत्म समर्पण की भावना रखते थे। भगवान् विष्णु और [illegible] उन्होने गायन किया था। उन्हे दक्षिण मे देवताओ की भाँति [illegible] अनेक मदिरो मे ठाकुर जी की प्रतिमाओ के साथ-साथ [illegible]

रचना की थी। कुलशेखर केरल प्रदेश के राजा थे, किंतु वे जनक के समान राजकीय वैभव से सर्वथा विरक्त रहे थे। अत मे उन्होने राज सिंहासन का परित्याग कर भगवान् रगनाथ की भक्ति मे अपना जीवन अर्पित कर दिया था। उनका रचा हुआ एक स्तोत्र ग्रथ 'मुकुदमाला' वैष्णवो मे अत्यत लोकप्रिय है। विष्णुचित्त एक विद्वान भक्त थे। उन्हे पोरियालवार भी कहा जाता है। उनके रचे हुए भक्ति-भावपूर्ण गीत दिव्य प्रवधम् मे सकलित मिलते है। उनमे से कतिपय गीतो को तमिल मूल और सस्कृत तथा हिंदी अनुवाद सहित श्री वलदेव उपाध्याय ने उद्धृत किया है, जिनमे कृष्ण-भक्ति का मार्मिक कथन हुआ है। दक्षिण के वैष्णव भक्त वहाँ के मदिरो मे देवता को पुष्प-समर्पण करने के समय श्रीकृष्ण का ध्यान करते हुए उनका गद्‌गद कठ से गायन करते है[1]। विष्णुचित्त की पोष्य पुत्री गोदा अण्डाल थी, जो दक्षिण की सर्वाधिक प्रसिद्ध वाला थी। तिरुप्पन अन्त्यज जाति के एक विख्यात वैष्णव भक्त थे।

गोदा अण्डाल—विष्णुचित्त उपनाम पोरियालवार को एक दिन मदिर के तुलसी-उद्यान मे नवजाता कन्या प्राप्त हुई थी। निस्सतान विष्णुचित्त ने उसे भगवान् की देन समझा और वे अपनी पुत्री के समान उसका पालन-पोषण करने लगे। वह कन्या अपने पालक पिता की भक्ति-भावना के कारण अपनी वाल्यावस्था मे ही भगवान् रगनाथ की अनन्य भक्त हो गई थी। उसका आरभिक नाम 'कोदइ' था, किंतु वाद मे वह गोदा, रगनायकी अथवा अण्डाल के नाम से प्रसिद्ध हुई थी। तामिल भाषा मे अण्डाल का अर्थ है,—'जिसका उद्धार हो चुका है'।

अण्डाल अत्यत रूपवती थी, और उसने जीवन पर्यंत अविवाहित रह कर भगवान् रगनाथ की दाम्पत्य भाव से उपासना की थी। वैष्णव भक्तो की मान्यता है कि अण्डाल ने अपनी अनन्य भक्ति के कारण भगवान् रगनाथ को पति रूप मे प्राप्त किया था। उसे विष्णुप्रिया भूदेवी का अवतार माना जाता है और उसकी मूर्ति की पूजा श्री रगनाथ जी की मूर्ति के साथ की जाती है। उसका जन्म स० ७०० के लगभग हुआ था। इस प्रकार वह उत्तर भारत की सुप्रसिद्ध भक्त कवियत्री मीरावाई से वहुत पहिले हुई थी। अण्डाल और मीरा दोनो की भक्ति मे वडी समानता है। इसलिए अण्डाल को दक्षिण की मीरा अथवा मीरा को उत्तर की अण्डाल कहा जाता है। मीरा की तरह ही उसके भक्तिपूर्ण विरह के गीत उपलब्ध हैं, जिन्हे तमिल भाषा मे 'पासुरम्' कहते हैं। वह अपने रचे हुए 'पासुरम्' को मीरा की तरह ही मधुर कठ से भाव-विभोर होकर भगवान् के समक्ष नृत्य करती हुई गाती थी। ऐसा कहा जाता है, अत मे वह भगवान् रगनाथ मे ही समा गई थी। उसके रचे हुए ३० 'पासुरम्' गीतो का सग्रह 'तिरुप्पावै' कहलाता है, जिसका गायन तमिल प्रदेश के घर-घर मे होता है।

दक्षिण के वैष्णव धर्माचार्य और भक्त महानुभाव—आलवारो की परपरा प्राय दशम् शताब्दी तक चलती रही थी। उसके पश्चात् दक्षिण मे वैष्णव आचार्यो का युग आरभ हुआ था। जहाँ तक भक्तिमार्ग का सबध है, वे आचार्यगण आलवारो की परपरा मे उनके सुयोग्य उत्तराधिकारी थे, किंतु उन दोनो की जीवन-धाराएँ कई बातो मे पृथक्-पृथक् थी। उन दोनो की तुलना करते हुए विद्वत्वर श्री वलदेव उपाध्याय ने लिखा है,—"आलवार तथा आचार्य दोनो ही विष्णु-भक्ति के जीवत प्रतिनिधि थे, परतु दोनो मे एक पार्थक्य है। आलवारो की भक्ति उस पावन-सलिला सरिता की नैसर्गिक धारा के समान है, जो स्वय उद्वेलित होकर प्रखर गति से वहती जाती है और जो कुछ सामने आता है, उसे तुरत वहा कर अलग फेक देती है। आचार्यो की भक्ति उस तरगिणी के

(१) भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ ३३-३७

समान है, जो अपनी सत्ता जमाये रखने के लिए रुकावट डालने वाले विरोधी पदार्थों से लडती-झगडती आगे बढती है । आलवारो के जीवन का एक मात्र आधार था प्रपत्ति—विशुद्ध भक्ति, परतु आचार्यों के जीवन का एक मात्र सार था भक्ति तथा कर्म का मजुल समन्वय । आलवार शास्त्र के निष्णात विद्वान न होकर भक्ति रस से सिक्त थे । आचार्य वेदात के पारगत विद्वान ही न थे, प्रत्युत तर्क और युक्ति के सहारे प्रतिपक्षियो के मुखमुद्रण करने वाले पडित थे । आलवारो मे हृदयपक्ष की प्रबलता थी, तो आचार्यो मे बुद्धिपक्ष की दृढता थी[1] ।"

विक्रम की दशवी शताब्दी के पश्चात् तमिल प्रदेशीय आलवारो के भक्तिमार्ग का प्रवाह वैष्णव धर्माचार्यो और वैष्णव भक्तो द्वारा उत्तर की ओर मोड दिया गया था । धर्माचार्यो मे सर्वश्री रामानुज, विष्णुस्वामी, निवार्क और मध्व प्रमुख थे । वैष्णव भक्तो मे कर्णाटक के हरिदासो ने और महाराष्ट्र के वारकरी सत ज्ञानेश्वर तथा नामदेव ने १३वी—१४वी शताब्दियो मे भक्ति आदोलन को वल प्रदान किया था । उसी काल मे श्री रामानुजाचार्य की परपरा के सर्वश्री राघवानद और रामानद ने उत्तर भारत मे भक्ति आदोलन को गति प्रदान की थी । नामदेव (स० १३२७—स० १४०७) ने महाराष्ट्र के साथ पजाब मे भी भक्ति आदोलन का नेतृत्व किया था और रामानद(स.१३५६—स १४६७) की प्रेरणा से कबीरादि सतो ने निर्गुण भक्ति का प्रचार किया था ।

उन सब महानुभावो के प्रयत्न से वैष्णव धर्म के भक्ति आदोलन की ऐसी बाढ आई कि उसके प्रबल प्रवाह मे शैव, शाक्त, जैन आदि धर्म-सप्रदायो के साथ ही साथ शकराचार्य का अद्वैत मत भी नही टिक सका था । उस आदोलन के प्रमुख सूत्रधार दक्षिण के विविध धर्माचार्य थे । उन सबका प्रधान उद्देश्य भक्तिमार्ग को दृढतापूर्वक स्थापित कर उसका व्यवस्थित रूप से प्रचार करना था । इस उद्देश्य की पूर्ति मे सबसे बडी बाधा शकराचार्य के अद्वैतवाद की थी, जिसमे भक्ति-तत्व को सिद्धातत कोई स्थान नही था । इसीलिए वैष्णव धर्माचार्यो ने समान रूप से शकर-सिद्धात का विरोध किया था ।

शंकर-सिद्धांत की पृष्ठभूमि—समस्त वैदिक वाङ्मय सामान्य रूप से दो भागो मे विभाजित है, जिन्हे 'कर्मकाड' और 'ज्ञानकाड' कहा जाता है । वैदिक सहिताओ के मत्र भाग सहित ब्राह्मण ग्रथो का यज्ञ सबधी भाग, जिसमे मानव कर्तव्य का निर्देश है और जिसका कर्म से प्रत्यक्ष सबध है, 'कर्मकाड' कहलाता है । आरण्यक और उपनिषदो का आध्यात्मिक ज्ञान साधारणतया 'ज्ञानकाड' के अतर्गत माना जाता है । उपनिषदो का विशाल वाङ्मय उत्तर वैदिक काल की रचना है, इसलिए इसे वेदात भी कहा जाता है । वेदात का अर्थ है,—'वेदो का अतिम भाग' । उपनिपदो मे ऐसी अनेक श्रुतियाँ मिलती है, जिनका अभिप्राय एक—दूसरे से भिन्न सा जान पडता है । ऐसे श्रुति—वाक्यो को समन्वित रूप मे सकलित कर श्री बादरायण व्यास ने जो दार्शनिक रचना प्रस्तुत की थी, उसे 'उत्तर मीमासा' कहा जाता है । चूकि इसमे ब्रह्म सबधी ज्ञान की प्रधानता है, अत इसे 'ब्रह्मसूत्र' भी कहते है और इसी का अपर नाम 'वेदात सूत्र' भी है । श्रीमद् भगवत गीता मे भी उपनिपदो का सार है, इसलिए इसे भी वेदात कहा जाता है । इस प्रकार उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवत गीता—ये तीनो ही वेदात के आधारभूत ग्रथ है, और इनमे समस्त वैदिक वाङ्मय के आध्यात्मिक ज्ञान का सार-तत्व दिया गया है । इन तीनो ग्रथो को 'प्रस्थानत्रयी' कहते है, जिस पर शकर—सिद्धात की पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ है ।

---

(१) भागवत संप्रदाय, पृष्ठ १८६

प्रस्थानत्रयी का भाष्य—प्रस्थानत्रयी भारतीय तत्वज्ञान का अक्षय कोश है । इसका महत्व इसी से ज्ञात होता है कि प्रत्येक धर्माचार्य ने अपने सिद्धात को सत्य सिद्ध करने के लिए उसे प्रस्थानत्रयी से प्रमाणित करना आवश्यक समझा है । शकराचार्य पहिले धर्माचार्य थे, जिन्होंने प्रस्थानत्रयी के भाष्य द्वारा अपने अद्वैतावाद के सिद्धात को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया था । उनके पश्चात् जब वैष्णव धर्माचार्यो ने शकराचार्य के मत के विरुद्ध अपने भक्तिमार्गीय सप्रदायो की स्थापना की, तब उन्हे भी अपने मतो की प्रामाणिकता प्रस्थानत्रयी से पुष्ट करने की आवश्यकता प्रतीत हुई थी । फलत सभी प्रमुख सप्रदायो के प्रवर्तक धर्माचार्यो ने प्रस्थानत्रयी का भाष्य किया है । ऐसे भाष्यकर्ताओ मे सर्वश्री रामानुज, निंबार्क, मध्व और वल्लभ के नाम अधिक प्रसिद्ध है ।

शंकर सिद्धात और भक्ति संप्रदाय—शकराचार्य ने अपने अद्वैत सिद्धात मे केवल ब्रह्म की सत्ता स्वीकृत की थी । उनके मतानुसार एक मात्र 'ब्रह्म' ही सत् है; इसके अतिरिक्त सब कुछ असत् अर्थात् 'माया' है । यह दृश्यमान 'जगत्' और इसके सभी पदार्थ भी उनके मतानुसार मिथ्या एव मायाजन्य है । उन्होने ब्रह्म को निर्गुण, किंतु माया के कारण सगुण सा भासित होने वाला माना है । इस प्रकार आलवारो और वैष्णवचार्यों द्वारा प्रचारित भक्तिमार्ग के लिए शकर सिद्धात मे तत्वत कोई स्थान नही था । इसलिए भक्ति सप्रदायो के सफल अभियान के लिए विभिन्न आचार्यों को शकर सिद्धात का खडन करना आवश्यक हो गया था ।

वैसे शकराचार्य के काल मे ही भक्तिमार्ग का महत्व मान लिया था, अत वे भी उसके प्रभाव से बच नही सके थे । उनके मत मे ब्रह्म को निर्गुण मानते हुए भी व्यावहारिक रूप मे पचदेवो की उपासना स्वीकृत थी । उन्होने श्रीकृष्ण की स्तुति के जो स्तोत्र रचे थे, वे भक्ति–भावना मे ओत-प्रोत हैं । उनके द्वारा रचे हुए गीता और विष्णु सहस्रनाम के भाष्य तथा प्रबोधसुधाकरादि ग्रथ भक्तिवाद से सर्वथा रहित नही है । यहाँ तक कि उन्होने श्रीकृष्ण की प्रतिमा का पूजन और श्रीकृष्ण विषयक अनुराग को भी स्वीकार कर लिया है । उन्होने कहा है,—'यदुनाथ श्रीकृष्ण को साकार मानने पर भी वे एकदेशीय नही है, बल्कि सर्वान्तर्यामी साक्षात् सच्चिदानद स्वरूप परमात्मा है'—

'यद्यपि साकारोऽय तथैकदेशी विभाति यदुनाथ । सर्वगत सर्वात्मा तथाप्यय सच्चिदानन्द. ॥'

वैष्णव आचार्यो ने शकराचार्य की तरह पारमार्थिक और व्यावहारिक उभय दृष्टिकोणो के औचित्य को स्वीकार नही किया था । वे व्यावहारिक ही नही, बल्कि पारमार्थिक रूप मे भी भक्ति-भावना की आवश्यकता मानते थे । उन्होने शकराचार्य के केवलाद्वैत के विरुद्ध अद्वैतवाद के अन्य रूप विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत और द्वैताद्वैत ही निश्चित नही किये, वरन् द्वैत को भी स्वीकार कर लिया था । यह बतलाने की आवश्यकता नही कि इस प्रकार का सैद्धातिक विकास–क्रम वैष्णव धर्म के भक्ति सप्रदायो के बढते हुए प्रभाव का अनिवार्य परिणाम था ।

वैष्णव धर्म के भक्ति सप्रदायो मे जगत् को सत्य और मानव जीवन को वास्तविक मानते हुए कर्म को महत्व दिया गया है, जब कि शकराचार्य के मत मे समस्त दृश्यमान जगत् को असत्य और भ्रम मानते हुए ज्ञान की महत्ता स्वीकृत हुई है । वैष्णव धर्म मानव जीवन को सफल बनाने की प्रेरणा देता है, किंतु शाकर मत मृत्यु के पश्चात् पुन जन्म धारण न करने की चिंता करता है । वैष्णव धर्म मे पुनर्जन्म की लालसा इसलिए होती है कि अपने उपास्य की पुन भक्ति करने का आनद प्राप्त हो, किंतु शाकर मत मे मुक्ति (पुनर्जन्म न होने) को हितकर माना गया है । इन्ही कारणो से जन समाज शाकर मत की अपेक्षा वैष्णव धर्म के भक्ति सप्रदायो के प्रति अधिक आकर्षित हुआ था ।

धार्मिक विभाग—कुमारिल भट्ट और शकराचार्य द्वारा अवैदिक और वेद-विरोधी धर्म-सप्रदायो को पदच्युत करने के उपरात जब वैदिक धर्म के विकसित रूप मे पौराणिक हिंदू धर्म की प्रतिष्ठा की गई, तब धार्मिक ग्रथो मे मत, मार्ग और सप्रदायो का विवेचन आरभ हुआ था। साधारणतया धर्म, मत, मार्ग, सप्रदाय और पथ ये सभी शब्द समानार्थक समझे जाते है, किंतु वास्तव मे ये भिन्न-भिन्न अर्थ के द्योतक है। इनमे 'धर्म' शब्द सबसे प्राचीन और अत्यत व्यापक अभिप्राय का बोधक है। मत और मार्ग मे कौन सा शब्द पुराना है, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है, कदाचित 'मत' शब्द 'मार्ग' की अपेक्षा प्राचीन है। महाभारत मे मत शब्द उस काल मे प्रचलित पांच प्रकार की ज्ञान-प्रणालियो के लिए व्यवहृत हुआ है। उस काल के वे पाँच मत साख्य, योग, पचरात्र, वेदात और पाशुपत थे[1]। महाभारत के पश्चात् इन शब्दो के बोधक अभिप्राय मे अतर पड गया था। इस समय इनका जो अभिप्राय समझा जाता है, वह प्राय इस प्रकार है,—

(१) मत—धर्मोपासना का कोई विशिष्ट रूप, जैसे वैष्णव मत, शैव मत और शाक्त मत। इनकी महत्ता सूचित करने के लिए इन्हे 'धर्म' भी कहा जाता है।

(२) मार्ग—धर्मोपासना की कोई विशिष्ट विधि, जैसे कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग।

(३) सप्रदाय—किसी भी धर्म या मत का कोई विशिष्ट वर्ग अथवा उसके अनुयायियो की कोई परपरा। एक धर्म या मत के अतर्गत कई सप्रदाय हो सकते हैं, जैसे वैष्णव मत के अतर्गत रामानुज सप्रदाय, निंवार्क सप्रदाय, माध्व सप्रदाय आदि।

(४) पथ—धार्मिक साधना की कोई विशिष्ट प्रणाली, जो उसके प्रचलनकर्ता के नाम के साथ व्यवहृत होती है। यह शब्द अधिकतर निर्गुणिया सतो की साधना पद्धति के लिए ही रूढ हो गया है। जैसे कबीर पथ, नानक पथ, दादू पथ आदि।

दार्शनिक विभाग—जगत् मे अचेतन और चेतन दो प्रकार के पदार्थ है। इनमे अचेतन विषयक विचारशास्त्र को 'विज्ञान' कहते है और चेतन सबधी निर्णयशास्त्र 'दर्शन' कहा जाता है। दर्शन के मुख्यतया वैदिक और अवैदिक नामक दो विभाग किये जाते है। फिर इन दोनो दार्शनिक विभागो मे से प्रत्येक ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी उपविभाग होते हैं। इस प्रकार दर्शन के चार विभाग हुए,—१. ईश्वरवादी वैदिक दर्शन, २ अनीश्वरवादी वैदिक दर्शन, ३ ईश्वरवादी अवैदिक दर्शन और ४ अनीश्वरवादी अवैदिक दर्शन।

ईश्वरवादी वैदिक दर्शनो मे 'उत्तर मीमासा' अर्थात् वेदात दर्शन मुख्य है। उसमे दो मार्ग है,—१. निर्विशेष ब्रह्मवाद और २. सविशेष ब्रह्मवाद। निर्विशेष ब्रह्मवाद 'अद्वैतवाद' कहलाता है। सविशेष ब्रह्मवाद पाँच प्रकार का है,—१ विष्णुपरक, २. शिवपरक, ३ शक्तिपरक, ४ सूर्यपरक और ५. गणपतिपरक। विष्णुपरक ब्रह्मवाद के चार दार्शनिक उपविभाग किये जाते है,—१. विशिष्टाद्वैत, २. शुद्धाद्वैत, ३. द्वैताद्वैत और ४. द्वैत।

भारतीय दर्शन के विभिन्न वादो का प्रधान उद्देश्य यह निर्णय करना है कि ब्रह्म, जीव और जगत् का स्वरूप तथा उनका प्रकृत सबध किस प्रकार का है। विविध उपनिषदो और उनके सारूप ब्रह्मसूत्रो मे ऐसे अनेक वचन मिलते है, जिनमे ब्रह्म, जीव और जगत् के स्वरूप तथा उनके पारस्परिक सबध मे अस्पष्टता का आभास होता है। इसी अस्पष्टता के विवेचन, विश्लेषण और स्पष्टीकरण के

---

(१) साख्यं योग. पांचरात्रं वेदा. पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्ये राजर्षे विद्धि नाना मतानि वै॥ (महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय ३८६)

लिए अनेक महानुभावो ने समय-समय पर अपनी विद्या, बुद्धि और निष्ठा के अनुसार ब्रह्मसूत्रो पर विविध भाष्यो की रचना की है । इन भाष्यो द्वारा भारतीय तत्वज्ञान के पाँच प्रमुख दार्शनिक सिद्धात निश्चित किये गये हैं, जिन्हे अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद और द्वैतवाद कहा गया है।

उक्त वादो मे अद्वैतवाद के प्रमुख प्रचारक श्री शकराचार्य हुए हैं। उनके दार्शनिक सिद्धात मे, जैसा पहिले लिखा जा चुका है, भक्ति के लिए तत्वत कोई स्थान नही है, इसीलिए भक्तिमार्गीय वैष्णव आचार्यो ने अद्वैतवाद का विरोध करते हुए विभिन्न वादो के आधार पर अपने-अपने भक्ति सप्रदायो की स्थापना की थी।

वैष्णव धर्म के चार संप्रदाय—श्री शकराचार्य के अद्वैत सिद्धात के विरोध मे दक्षिण के चार प्रमुख धर्माचार्यो के चार दार्शनिक सिद्धात और उनके आधार पर चार धार्मिक सप्रदाय स्थापित हुए थे । उनमे से श्री रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत के आधार पर 'श्री सप्रदाय', श्री विष्णुस्वामी ने शुद्धाद्वैत के आधार पर 'रुद्र सप्रदाय', श्री निंबार्काचार्य ने द्वैताद्वैत के आधार पर 'सनक सप्रदाय' और श्री मध्वाचार्य ने द्वैतवाद के आधार पर 'ब्रह्म सप्रदाय' का प्रचलन एव प्रचार किया था । उन चारो सप्रदायो मे भगवान् विष्णु और उनके अवतारो की उपासना की जाती है, अत वे 'वैष्णव सप्रदाय' कहे जाते है। 'इन चारो सप्रदायो ने एक प्रकार से पाचरात्र सिद्धात का ही अनुकरण किया है[1]', अत उन्हे प्राचीन पचरात्र-भागवत धर्म की परंपरा मे माना जाता है।

चारो सप्रदायो के मूल प्रवर्त्तक के रूप मे श्री, रुद्र, सनकादि और ब्रह्म नामक देवताओ को बतलाने का अभिप्राय उन्हे 'सनातन' सिद्ध करने का असभव प्रयत्न कहा जा सकता है । यह स्वय-सिद्ध है कि वे चारो वैदिक देवता उक्त सप्रदायो का प्रवर्त्तन करने के लिए इस धरा-धाम पर कभी अवतीर्ण नही हुए थे । सर्वश्री रामानुज, विष्णुस्वामी, निंबार्क और मध्व नामक जिन आचार्यो ने वास्तव मे उन सप्रदायो का प्रचलन किया था, उन्हे उक्त देवताओ का अवतार भी नही माना गया है। इसलिए भी उन देवताओ के नामो की सार्थकता सिद्ध नही होती। किसी प्रकार सगति मिलाने के लिए हम चाहे तो पूर्वोक्त चारो आचार्यो को उन चारो देवताओ के ऐतिहासिक प्रतिनिधि मान सकते हैं।

ये चारो सप्रदाय किस काल मे प्रचलित हुए थे, इसके सबध मे बडा मतभेद और विवाद है। चारो ही सप्रदाय एक-दूसरे से प्राचीन होने का दावा करते है, इसलिए इनके काल-क्रम को निश्चित करना अत्यत कठिन हो गया है। विविध धार्मिक ग्रथो मे इन सप्रदायो का नामोल्लेख जिस क्रम से हुआ है, उससे भी उनके काल का बोध नही होता है। पद्म पुराण के तथाकथित प्रमाण के अनुसार रामानुज कृत श्री सप्रदाय, मध्वाचार्य कृत ब्रह्म सप्रदाय, विष्णुस्वामी कृत रुद्र सप्रदाय और निंबार्काचार्य कृत सनकादि सप्रदाय का क्रम है[2]।

---

(१) भारतीय सस्कृति और साधना (दूसरा भाग), पृष्ठ १८२

(२) सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते विफला मता.।
अत. कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिन ॥
श्री-ब्रह्म-रुद्र-सनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः।
चत्वारस्ते कलौ देवि सप्रदाय प्रवर्त्तकाः॥ (पद्म पुराण ?)

'प्रमेय रत्नावली' के अनुसार रामानुज, मध्व, विष्णुस्वामी और निंबार्क का क्रम है[1], किंतु अन्यत्र विष्णुस्वामी, निंबार्क, मध्व और रामानुज का क्रम लिखा गया है[2]। इस सबध के अधिकाश उल्लेख और अनुसधान श्री रामानुजाचार्य के 'श्री सप्रदाय' को आरभिक और श्री मध्वाचार्य के 'ब्रह्म सप्रदाय' को अतिम स्थान प्रदानकरते हैं। इनके सबध मे अधिक विवाद भी नही है। श्री विष्णुस्वामी के रुद्र सप्रदाय और श्री निंबार्काचार्य के सनकादि सप्रदाय का काल-क्रम ही विवाद और मतभेद का कारण बना हुआ है। ये दोनो सप्रदाय पर्याप्त प्राचीन है। इनके अनुयायी इन्हे रामानुज से पूर्व के ही नही, बल्कि शकराचार्य से भी पूर्व के मानते है। फिर इन दोनो मे कौन सा पूर्ववर्ती और कौन सा परवर्ती है, यह भी विवादग्रस्त प्रश्न है।

जहाँ तक इन सप्रदायो द्वारा वैष्णव धर्म के विकास का सबध है, वहाँ तक इनका एक क्रम निर्धारित किया जा सकता है। इसे काल-क्रम की दृष्टि से तो सर्वथा प्रामाणिक नही कहा जा सकता, किंतु वैष्णव धर्म के विकास की विवेचना के लिए इसे सुविधाजनक समझा गया है। वह क्रम इस प्रकार है—

नाम	दार्शनिक सिद्धात	प्रचलनकर्ता
(१) श्री सप्रदाय	विशिष्टाद्वैत	रामानुजाचार्य
(२) रुद्र सप्रदाय	शुद्धाद्वैत	विष्णुस्वामी
(३) सनकादि संप्रदाय	द्वैताद्वैत	निंबार्काचार्य
(४) ब्रह्म सप्रदाय	द्वैत	मध्वाचार्य

इन सप्रदायो की कई बातो मे समानता है और कई बातो मे भिन्नता। समानता की बातो मे सबसे उल्लेखनीय यह है कि उपासना के क्षेत्र मे ये सभी सप्रदाय भक्तिमार्ग को सर्वोपरि मानते है। शाकर मत मे ब्रह्म को निर्गुण और माया के कारण सगुण सा भासित होने वाला माना गया है; किंतु वैष्णव सप्रदायो ने ब्रह्म को माया के कारण नही, बल्कि स्वरूप से सगुण माना है। शकराचार्य ने जगत् को ब्रह्म की सत्ता से भिन्न केवल भ्राति अथवा माया कहा था, किंतु समस्त वैष्णव सप्रदायो ने शाकर मत के इस सिद्धात को अस्वीकार कर जगत् को भी ब्रह्म के समान सत् स्वीकार किया है। शाकर मत के अनुसार मुक्त जीव स्वय ब्रह्म है, किंतु वैष्णव सप्रदायो ने मुक्त जीव को ब्रह्म न मान कर उसे वैकुठ मे निवास करते हुए सच्चिदानद प्रभु की सेवा करने वाला बतलाया है।

उपर्युक्त बातो के अतिरिक्त वैष्णव सप्रदायो की और भी कई बातो मे समानता है; किंतु ब्रह्म और जीव अर्थात् परमात्मा और आत्मा की सत्ता के सबध मे इन चारो सप्रदायो मे भी सैद्धातिक मतभेद है। इस मौलिक मतभेद के कारण ही वैष्णव धर्म के ये चार सप्रदाय प्रकाश मे आये है और वेदात के चार प्रमुख सिद्धात स्थिर हुए हैं। उन चारो सप्रदायो को आरभ मे दक्षिण भारत के विविध स्थानो मे प्रचारित किया था। कालातर मे वे उत्तर भारत मे भी प्रचलित हुए थे। यहाँ पर उन चारो का सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

---

(१) रामानुजं श्री स्वीचक्रे मध्वाचार्यं चतुर्मुखः।
विष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुः सनः॥ (प्रमेय रत्नावली)

(२) विष्णुस्वामी प्रथमतो निम्बादित्यो द्वितीयकः।
मध्वाचार्यस्तृतीयस्तु तुर्यो रामानुजः स्मृतः॥ (वैष्णव धर्मनो सक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ २३५)

(१) श्री संप्रदाय

नाम और सिद्धात—इस सप्रदाय की मान्यता है कि भगवान् विष्णु ने इसका सर्व प्रथम उपदेश श्रीदेवी (लक्ष्मी) को दिया था। उन्ही के नाम पर इसका 'श्री सप्रदाय' नाम प्रसिद्ध हुआ है। इस सप्रदाय का दार्शनिक सिद्धात 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है। विशिष्ट का अभिप्राय 'चेतन—अचेतन विशिष्ट ब्रह्म' से है, और अद्वैत का अभिप्राय 'अभेद अथवा एकत्व' मे। इस प्रकार चेतन—अचेतन—विभागविशिष्ट ब्रह्म के अभेद अथवा एकत्व के प्रतिपादन करने वाले दार्शनिक सिद्धात को 'विशिष्टाद्वैत' कहा गया है।

प्रेरणा-स्रोत—श्री सप्रदाय और विशिष्टाद्वैत सिद्धात को व्यवस्थित रूप से प्रचलित करने का श्रेय श्री रामानुजाचार्य को है, किंतु इसके लिए उन्हे दो पूर्ववर्ती आचार्य नाथमुनि और यामुनमुनि से प्रेरणा प्राप्त हुई थी। **नाथमुनि**—दाक्षिणात्य आचार्यो मे सर्वप्रथम माने जाते हैं। उनका काल स० ८८१ स० ९८१ तक है। वे शठकोप आलवार की शिष्य—परपरा मे थे। उन्होने तमिल भाषा के भक्तिपूर्ण गीतो का सकलन 'नालायिर प्रबधम्' के नाम से किया था। **यामुनमुनि**—नाथमुनि के पौत्र थे। उनका जन्म स० १०१० मे मदुरा मे हुआ था। वे विवाहित एव गृहस्थ थे और एक प्रसिद्ध विद्वान थे। उन्होने कई विद्वत्तापूर्ण ग्रथो की रचना की थी, जिनमे विशिष्टाद्वैत सिद्धात की आरभिक प्रतिष्ठा की गई थी। उनका 'आगम प्रामाण्य' इस विषय का महत्वपूर्ण ग्रथ है। उनकी एक प्रसिद्ध रचना 'आलवदार स्तोत्र' भी है। उनकी पौत्री के पुत्र श्री रामानुजाचार्य थे, जिन्होने विशिष्टाद्वैत सिद्धात और श्री सप्रदाय को व्यवस्थित रूप मे प्रचारित किया था।

रामानुजाचार्य—वैष्णव सप्रदायाचार्य श्री रामानुज का जन्म वि स १०७४ मे दक्षिणी भारत के श्री पेरेम्बुपुरम् मे हुआ था। वे आरभ से ही बडे कुशाग्रबुद्धि और प्रतिभासम्पन्न थे। उन्होने बचपन मे यादवप्रकाश नामक एक विद्वान से वेदात का अध्ययन किया था। कालातर मे यादवप्रकाश स्वय रामानुज के शिष्य हो गये थे। वे आरभ मे गृहस्थ थे, किंतु उन्होने शीघ्र ही अनुभव किया कि जो महान् कार्य वे करना चाहते है, उसे गृहस्थाश्रम मे रह कर करना सभव नही है, अत उन्होने सन्यास ग्रहण कर लिया। सन्यासी होने के अनतर वे आलवार भक्तो के भक्ति-मार्ग का प्रचार करने लगे। इसके लिए उन्होने भारत के अधिकाश प्रदेशो की यात्रा की थी। उनका प्रमुख उद्देश्य अपने परम गुरु यामुनाचार्य द्वारा प्रवर्तित विशिष्टाद्वैत सिद्धात का प्रतिपादन और प्रचलन करना था। इसके हेतु उन्होने ब्रह्मसूत्रो पर विद्वत्तापूर्ण भाष्य की रचना की थी, जो 'श्री भाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। विशिष्टाद्वैत की पुष्टि के लिए उन्होने और भी कई ग्रथो का प्रणयन किया था, जिनमे गीता भाष्य, वेदात सार और वेदात दीप नामक ब्रह्मसूत्र वृत्ति, वेदात सग्रह, गद्यत्रय आदि उल्लेखनीय है।

रामानुजाचार्य के ग्रथो मे विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन और अद्वैतवाद का खडन किया गया है। उसके कारण उनके अनेक विरोधी भी हो गये थे, किंतु वे निर्भीकता पूर्वक अपने सिद्धात का प्रचार करते रहे थे। उन्होने दक्षिण के मेलकोट, श्रीरगम् आदि स्थानो मे कई विष्णु मदिरो की प्रतिष्ठा की थी। उनके प्रयत्न से वहाँ के विष्णु मदिरो की पूजा—उपासना वैखानस सहिता के स्थान पर पाचरात्र सहिता के अनुसार होने लगी थी। उनसे पहिले यामुनाचार्य के 'आगम प्रामाण्य' मे भी पचरात्र का समर्थन किया गया था। 'श्री सप्रदाय' की दक्षिण मे अनेक गद्दियाँ है, जिनमे तोताद्रि,

व्यकटाद्रि, श्रीरगम् और विष्णुकाची की गद्दियाँ अधिक प्रसिद्ध है। ऐसा कहा जाता है, रामानुजाचार्य १२० वर्ष की आयु तक जीवित रहे थे और उनका देहावसान स० ११९४ मे हुआ था।

विशिष्टाद्वैत सिद्धांत—रामानुज ने ब्रह्म को अद्वैत मानते हुए भी उसे चिन्मय आत्मा और जड प्रकृति इन दो पदार्थों से विशिष्ट बतलाया है। वे शकराचार्य की भाँति जगत् को मिथ्या एव मायाजन्य नही मानते, बल्कि इसे ब्रह्म मे लीन और ईश्वर को विश्व मे अर्तहित बतलाते है। उनका मत है, जगत् को मिथ्या बतलाये बिना भी ब्रह्म का एकत्व प्रमाणित किया जा सकता है। उनके मतानुसार तीन मूल तत्व है—१. प्रकृति, २ आत्मा और ३ ईश्वर। प्रकृति जड पदार्थ है, जिसे माया या अविद्या भी कहते है। आत्मा चेतन है, किंतु अणु प्रमाण है। ईश्वर सर्वनियता एव विभु है, और वह सत्य, ज्ञान एव आनद गुणो से विशिष्ट है। इन तीनो मूल तत्वो की समष्टि का नाम ही ब्रह्म का एकत्व है। जड प्रकृति और चेतन आत्मा दोनो से विशिष्ट ईश्वर ब्रह्म से भिन्न नही है। ब्रह्म सगुण और सविशेष है। इसके गुणो की सख्या नही है और इसकी शक्ति माया है। जीव और जगत् ब्रह्म के अगीभूत होने से ब्रह्म की ही भाँति सत्य है। ब्रह्म विभु है, पूर्ण है, ईश्वर है, किंतु जीव अणु है, खडित है और दास है। नारायण विष्णु सबके अधीश्वर ब्रह्म है। वे सृष्टि, स्थिति और सहार के एकमात्र कर्त्ता है। वे चतुर्भुज है, और शख–चक्र–गदा–पद्मधारी है। श्री, भू और लीला उनकी शक्तियाँ है। भगवान् के दासत्व की प्राप्ति का नाम ही मुक्ति है, जिसकी उपलब्धि का साधन भक्ति है, ज्ञान नही। ज्ञान भक्ति का सहायक मात्र है। वैकुठ मे श्री, भू और लीला देवियो सहित नारायण-विष्णु की सेवा करना ही परम पुरुषार्थ है। भगवान् की भक्ति दास्य भाव से ही करनी चाहिये। इस सप्रदाय के अनुयायी विरक्त और गृहस्थ दोनो प्रकार के होते है।

प्रपत्ति योग—श्री सप्रदाय के भक्ति तत्त्व का सार 'प्रपत्ति' है, जिसका अभिप्राय भगवान् की शरण मे जाना है। इस सप्रदाय के अनुसार यही यथार्थ सन्यास है। ज्ञानयुक्त भक्तियोग मे न तो सब की सामर्थ्य है और न अधिकार ही है, किंतु प्रपत्ति योग सबके लिए सुगम एव सुलभ है और यह शीघ्र ही फलप्रद भी है। "अन्य मार्गो मे चलने के लिए पुरुषार्थ या आत्मचेष्टा की आवश्यकता होती है, परतु प्रपत्ति योग मे पुरुषार्थ की अपेक्षा नही रहती। इसीलिए वर्ण–आश्रम आदि का विचार किये बिना सभी लोगो का इसमे अधिकार है। 'प्रभो! मैं अत्यत दीन-हीन हूँ, अत्यत दुर्बल हूँ, मुझमे कोई सामर्थ्य नही है, मैंने आपके चरणो मे आत्मसमर्पण किया है। आप मेरा भार ग्रहण कीजिये,' जब जीव सरल हृदय से व्याकुल होकर एक बार भी इस प्रकार भगवच्चरणो मे शरणापन्न होता है, तभी भगवान् उस जीव को ग्रहण कर अपना लेते है। उसके अनतर उस जीव का सब प्रकार का भार भगवान् के हाथ मे ही रहता है। भगवान् आश्रितवत्सल है, शरणागतपालक हैं एव प्रपन्न का उद्धार करना ही उनका व्रत है। भगवत्प्रपत्ति स्वतत्र रूप से ही मोक्ष साधन है, यह बात रामानुज सप्रदाय के आचार्यो ने विभिन्न शास्त्रो के आधार पर सिद्ध की है। ब्रह्मपुराण मे कहा है,—'ध्यानयोग से रहित होकर भी केवल प्रपत्ति के प्रभाव से मृत्यु–भय का अतिक्रम कर विष्णुपद प्राप्त किया जा सकता है।' अहिर्बुध्न्यसहिता मे लिखा है,—'साख्य अथवा योग, यहाँ तक कि भक्ति से भी जिस अनावर्तनीय परम धाम की प्राप्ति नही हो सकती, वह एक मात्र प्रपत्ति से ही प्राप्त होता है।' आर्त्त और दृप्त के भेद से प्रपत्ति दो प्रकार की है[१]।"

---

(१) भारतीय सस्कृति और साधना (दूसरा भाग), पृष्ठ १९५

ब्रजमडल मे श्री संप्रदाय का प्रचार—जैसा पहिले लिखा गया है, वैष्णव धर्म के भक्ति सप्रदाय पहिले दक्षिण के विभिन्न स्थानो मे प्रचलित हुए थे, बाद मे उनका प्रचार उत्तर भारत मे हुआ था। तदनुसार श्री सप्रदाय के आरभिक प्रचार क्षेत्र दक्षिण मे तमिलनाड और आध्र प्रदेश है। दक्षिण भारत मे इस सप्रदाय का जितना अधिक प्रचार है, उत्तर भारत मे उतना नही है,—ब्रजमडल मे तो और भी कम है। फिर भी पौराणिक उल्लेखो के आधार पर कहा जाता है कि 'श्री सप्रदाय' के उपास्य भगवान् नारायण—विष्णु की उपासना मथुरामडल मे प्राचीन काल से ही होती रही है। यहाँ का प्राचीनतम धार्मिक केन्द्र मधुवन विष्णु की उपासना का पुराण—प्रसिद्ध स्थल रहा है। श्री रूपगोस्वामी (१६वी शती) ने पुराणो के आधार पर जिस 'मथुरा माहात्म्य' ग्रथ की रचना की, उसमे विष्णु के पर्यायवाची केशव, स्वयभू, पद्मनाभ, दीर्घविष्णु, गतश्रम, गोविद, हरि और वराह को मथुरामडल के देवता बतलाया गया है[1]। 'वाराह पुराण' मे भी लिखा है, मथुरा मे दीर्घविष्णु, पद्मनाभ और स्वयभू के दर्शन करने से सकल अभीष्ट की प्राप्ति होती है[2]। इन पौराणिक उल्लेखो से सिद्ध होता है कि मथुरामडल मे विष्णु की उपासना—पूजा की प्राचीन परपरा रही है।

ऐसा अनुमान होता है, कृष्णोपासक धर्माचार्यों द्वारा कृष्ण—भक्ति का प्रचार किये जाने से पहिले अर्थात् १५वी शती तक, यहाँ पर विष्णु की उपासना-पूजा और विष्णुपूजक सप्रदाय का अच्छा प्रचलन था। इसका सकेत कबीर के नाम से प्रचलित एक किंवदती मे मिलता है[3]; यद्यपि कबीर वचनावली की कतिपय मुद्रित प्रतियो मे इसका भिन्न पाठ भी उपलब्ध है[4]। मथुरामडल के गोवर्धन नामक स्थान मे 'श्री सप्रदाय की प्राचीन गद्दी रही है। उनकी गुरु—परपरा के सबध मे कहा जाता है कि श्री रामानुज के पूर्ववर्ती श्री नाथमुनि ने उत्तरी भारत की सहकुटुंब यात्रा की थी। उस समय वे मथुरा भी आये थे और उन्होने यमुना मे स्नान किया था। बाद मे उसी की स्मृति मे उन्होने अपने पौत्र का नाम 'यामुन' रखा था। उक्त यामुनाचार्य के उत्तराधिकारी श्री रामानुजाचार्य हुए थे, जिनकी शिष्य—परपरा के किसी प्राचीन धर्माचार्य ने गोवर्धन मे 'श्री सप्रदाय' की प्रथम उत्तरभारतीय गद्दी स्थापित की थी[5]। उक्त गद्दी के स्थापनकर्त्ता का निश्चित नाम और उसकी स्थापना का यथार्थ काल बतलाना सभव नही है।

श्री सप्रदाय की दूसरी शाखा 'रामानदी सप्रदाय' का यहाँ पर आरभ से ही प्रचार रहा था। इस सप्रदाय के वैरागी साधुओ की गद्दी की यहाँ प्राचीन परपरा का उल्लेख मिलता है। स्वामी रामानद के प्रधान शिष्यो का मथुरामडल से सबध आरभ से ही रहा था। इसका उल्लेख आगामी पृष्ठो मे रामानंदी सप्रदाय के प्रसग मे किया गया है।

---

(१) श्री मथुरा माहात्म्य, पृष्ठ ९२
(२) वही ,, , पृष्ठ ४६
(३) चारभुजा के भजन मे, भूले ब्रज के सत।
'कबिरा' सुमिरै ताहि को, जाकै भुजा अनंत॥
(४) चारभुजा के भजन मे, भूलि परे सब सत।
'कबिरा' सुमिरै तासु को, जाके भुजा अनंत॥
—कबीर वचनावली (ना प्र सभा), पृष्ठ १
(५) श्री ब्रजांक (नाम माहात्म्य, वर्ष ३ सख्या १), पृष्ठ ६६

श्री रामानुजाचार्य जी
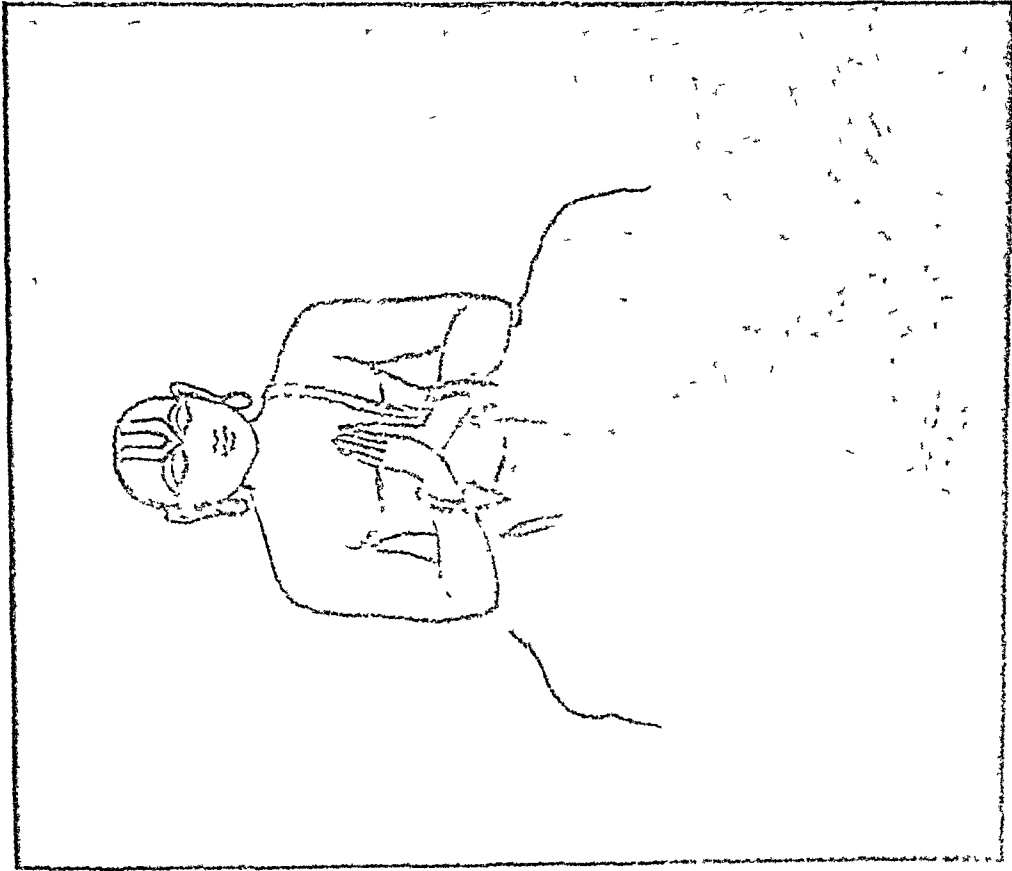
श्री विष्णुस्वामी जी

(२) रुद्र संप्रदाय

नाम और सिद्धांत—इस सप्रदाय के आरभकर्त्ता भगवान् शकर माने जाते है, इसीलिए इसे 'रुद्र सप्रदाय' कहते है। ऐसी प्रसिद्धि है, रुद्र ने इसका सर्वप्रथम उपदेश बालखिल्य ऋषियो को दिया था। वही ज्ञान कालातर मे विष्णुस्वामी को प्राप्त हुआ था। उन्होने लोक मे इसका प्रचार करने के हेतु पृथक् सप्रदाय की स्थापना की थी, जो उनके नाम पर 'विष्णुस्वामी सप्रदाय' भी कहा जाता है। इसका दार्शनिक सिद्धात क्या था, इसे निश्चयपूर्वक बतलाना कठिन है, क्यो कि इसके समर्थन मे विष्णुस्वामी ने जिन ग्रथो की रचना की थी, वे आजकल उपलब्ध नही है। वैष्णव धर्म के सप्रदाय-प्रवर्त्तको मे विष्णुस्वामी का नाम प्रसिद्ध रहा है, और पद्म एव भविष्यादि पुराणो मे उन्हे 'शुद्धाद्वैत' सिद्धात का प्रसिद्धिकर्त्ता बतलाया गया है[1]। वल्लभ सप्रदाय के ग्रथो मे श्री बल्लभाचार्य जी को विष्णुस्वामी मतानुवर्ती और उनकी गद्दी का अधिकारी माना गया है[2]। डा० भडारकर ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि विष्णुस्वामी का दार्शनिक सिद्धात वही था, जो बल्लभाचार्य जी का है[3]। इन सब प्रमाणो से यही निश्चित होता है कि रुद्र सप्रदाय का दार्शनिक सिद्धात 'शुद्धाद्वैत' था।

विष्णुस्वामी—रुद्र सप्रदाय के ऐतिहासिक प्रवर्त्तक और प्रचलनकर्त्ता श्री विष्णुस्वामी का जीवन-वृत्तात उपलब्ध नही है। उनके सबध मे यह किवदती प्रचलित है, कि वे दिल्ली के किसी सुलतान के अधीन द्रविड प्रदेशीय राजा के एक ब्राह्मण मत्री के पुत्र थे। वे शास्त्रज्ञ विद्वान, परम तपस्वी और भक्तहृदय महानुभाव थे। कहते हैं, उन्होने कठिन तपस्या द्वारा भगवान् वासुदेव के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त किया था। उसके बाद वे उसी रूप की मूर्ति बनवा कर उसके माध्यम से भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना-भक्ति करते रहे थे। वे 'श्रीकृष्ण तवास्मि' मत्र का अहर्निश जाप किया करते थे। वे दीर्घजीवी हुए थे और वृद्धावस्था मे उन्होने शास्त्रोक्त विधि से सन्यास ग्रहण किया था।

अस्तित्व-काल—विष्णुस्वामी किस काल मे हुए थे, इसके सबध मे विविध विद्वानो मे बडा मतभेद है। यह निश्चित है कि वे एक प्राचीन आचार्य थे, किंतु उनका यथार्थ समय अनिश्चित है। गदाधरदास कृत 'सप्रदाय प्रदीप' मे लिखा है, बल्लभाचार्य जी के काल (१६वी शती) तक विष्णुस्वामी सप्रदाय के सात सौ आचार्य हो चुके थे। यदि इस मत को स्वीकार किया जाय, तो विष्णुस्वामी को इतना अधिक प्राचीन आचार्य मानना होगा, जितना कि वे किसी भी प्रमाण से सिद्ध नही किये जा सकते है। ऐसी दशा मे 'सप्रदाय प्रदीप' का कथन सर्वथा अप्रामाणिक और निराधार है। १४वी शती के लगभग श्रीधर स्वामी द्वारा श्रीमद् भागवत ग्रथ की प्रसिद्ध टीका रची गई थी, जिसमे विष्णुस्वामी के कतिपय उद्धरण दिये गये है। इससे ज्ञात होता है कि विष्णुस्वामी का समय १४वी शती से पूर्व का अवश्य है। नाभाजी कृत 'भक्तमाल' मे साधु ज्ञानदेव को विष्णुस्वामी की शिष्य-परपरा मे बतलाया गया है[4]। यदि वे ज्ञानदेव श्रीमद् भगवत गीता के महाराष्ट्री अनुवादकर्त्ता

---

(१) वैष्णव धर्म नो सक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ २३५

(२) संप्रदाय प्रदीप

(३) वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड मायनर रिलीजस सिस्टम्स्, पृष्ठ १०९

(४) भक्तमाल, छप्पय स० ४८

ज्ञानदेव से अभिन्न हो, तो विष्णुस्वामी का समय १३वी शती तक माना जा सकता है[1]। उमी आधार पर सर्वश्री भडारकर, आर्थर वेनिस, सतीशचद्र विद्याभूपण आदि विद्वानो ने विष्णुस्वामी का ममय १३वी शती के लगभग माना है[2] । किंतु ये सब मत आनुमानिक है, विष्णुस्वामी का यथार्थ काल वस्तुत अभी तक अनिश्चित ही हे ।

दार्शनिक सिद्धांत और उपास्य देव—विष्णुस्वामी के दार्शनिक मिद्धात का वास्तविक स्वरूप तो उनके ग्रथो के मिलने पर ही जाना जा सकता है, किंतु यदि वल्लभाचार्य जी का शुद्धाद्वैतवाद ही विष्णुस्वामी का सिद्धात हे, तव उसकी स्पष्ट रूप-रेखा उपलब्ध है । उमे आगामी पृष्ठो मे वल्लभाचार्य जी के प्रसग मे लिखा गया है । जहाँ तक उपास्य देव का सबध है, विष्णुस्वामी के मतानुसार गोपाल कृष्ण साक्षात् ईश्वर है, और नृसिह उनके प्रधान अवतार हैं । अत इस सप्रदाय के प्रमुख उपास्य देवता भी नृसिह है ।

शिष्य-परंपरा—नाभाजी ने विष्णुस्वामी की शिष्य-परपरा मे ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन और वल्लभाचार्य का नामोल्लेख किया है[3] । इनमे मे ज्ञानदेव और नामदेव को नाथ मप्रदाय से सबधित माना जाता है । ऐसी दशा मे नाभाजी के कथन की प्रामाणिकता मदिग्ध हो जाती है। असल मे विष्णुस्वामी के जीवन-वृत्तात की तरह उनकी शिष्य-परपरा भी अनिश्चित है । श्रीमद् भागवत के टीकाकार और नृसिह के उपासक श्रीधर स्वामी, जो १४वी शती मे विद्यमान थे, इसी सप्रदाय के थे । ऐसा ज्ञात होता है, विष्णुस्वामी सप्रदाय की परपरा अविच्छिन्न रूप मे प्रचलित नही रही थी, इसीलिए उसका प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नही होता है । यह किंवदती अत्यत प्रसिद्ध है कि शकराचार्य के अद्वैत मतानुयायी किसी विद्वान ने विष्णुस्वामी की गद्दी पर आसीन तत्कालीन आचार्य को इस सप्रदाय के 'परमात्मा साकार है' वाले सिद्धात पर शास्त्रार्थ कर उसे पराजित कर दिया था । उसके कारण लोक मे विष्णुस्वामी सप्रदाय की प्रतिष्ठा भग हो गई थी । वल्लभाचार्य जी के समय मे यह सप्रदाय नाममात्र के लिए शेष था, और इसकी उच्छिन्न गद्दी पर कोई विल्वमगल नामक आचार्य आसीन थे । विद्यानगर के सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ मे विजयी होने पर वल्लभाचार्य जी को शुद्धाद्वैत सिद्धात और विष्णुस्वामी सप्रदाय की पुन प्रतिष्ठा करने का अधिकार प्राप्त हुआ था[4] । फलत उन्होने विष्णुस्वामी के योग्य उत्तराधिकारी के रूप मे उनके सिद्धात और सप्रदाय को विकसित कर उसे नवीन रूप मे प्रचलित किया था ।

ब्रजमंडल मे रुद्र संप्रदाय का प्रचार—ब्रजमडल मे इस सप्रदाय का प्रचार कब और किस आचार्य द्वारा हुआ, इसका प्रामाणिक विवरण प्राप्त नही होता है । वैसे इस सप्रदाय के ब्रज मे कई देवस्थान है, जिनमे वृदावन का सुप्रसिद्ध श्री विहारी जी का मदिर प्रमुख है । इस मदिर के गोस्वामीगण अपने को विष्णुस्वामी सप्रदाय का अनुयायी मानते है, किंतु उनके यहाँ भी इसकी प्राचीन परपरा का उल्लेख नही मिलता है ।

---

(१) **भारतीय सस्कृति और साधना** (दूसरा भाग), पृष्ठ २३८

(२) **वैष्णव धर्म नो सक्षिप्त इतिहास**, पृष्ठ २३६

(३) **भक्तमाल**, छप्पय स० ४८

(४) **अष्टछाप परिचय**, पृष्ठ ५१

(३) सनकादि संप्रदाय

नाम और सिद्धांत—इस सप्रदाय की मान्यता है कि सनकादि महर्षियो ने भगवान् के हसावतार से ब्रह्मज्ञान की निगूढ शिक्षा प्राप्त कर उसका सर्व प्रथम उपदेश अपने शिष्य देवर्षि नारद को दिया था। इसीलिए यह सप्रदाय 'सनकादि सप्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी मूल परपरा के कारण इसे 'हस सप्रदाय' अथवा 'देवर्षि सप्रदाय' भी कहते है। इसके ऐतिहासिक प्रतिनिधि श्री निंबार्काचार्य हुए है, इसलिए इसका लोकप्रसिद्ध नाम 'निंबार्क सप्रदाय' है। इस सप्रदाय का दार्शनिक सिद्धात 'द्वैताद्वैतवाद' कहलाता है। इसी को 'भेदाभेदवाद' भी कहते है। 'भेदाभेद' एक प्राचीन दार्शनिक सिद्धात है, जिसकी परपरा श्री निबार्काचार्य के पहिले से ही विद्यमान थी। 'भेदाभेद सिद्धात.के प्राचीन आचार्यो मे औडुलोमि, आश्मरथ्य, भर्तृप्रपच, भास्कर और यादव के नाम मिलते है[1]। उस प्राचीन सिद्धात की 'द्वैताद्वैतवाद' के नाम से पुनर्स्थापना करने का श्रेय श्री निंबार्काचार्य को है।

निबार्काचार्य—इस सप्रदाय के लोकप्रसिद्ध सस्थापक श्री निंबार्काचार्य जी का प्रामाणिक वृत्तात उपलब्ध नही है। ऐसा कहा जाता है, उनका जन्म आध्र राज्यातंगत गोदावरी तटवर्ती वैदूर्यपत्तन (वर्तमान पैठण) नामक स्थान मे कार्तिक शुक्ला १५ को हुआ था। उनके पिता का नाम अरुण अथवा जगन्नाथ, तथा माता का नाम जयती अथवा सरस्वती था। उनकी जन्म-तिथि वैशाख शु० ३ भी कही जाती है, किंतु अधिक प्रसिद्धि कार्तिक शु० १५ की है। इस सप्रदाय मे उन्हे भगवान् के सुदर्शन चक्र का अवतार माना जाता है।

नाम की अनुश्रुति—उनका आरभिक नाम नियमानद था। एक घटना विशेष के कारण उनका नाम नियमानद से निबादित्य अथवा निबार्क पड गया था। वह घटना उनके जीवन-वृत्तात से सबधित अनुश्रुतियो मे सबसे अधिक प्रसिद्ध है। घटना इस प्रकार बतलाई जाती है,—जिस समय नियमानद मथुरामडल के गोबर्धन नामक स्थान मे निवास करते थे, उस समय एक यति (सन्यासी अथवा जैन मुनि) उनसे धर्म-चर्चा करने के लिए उनके आश्रम मे आया था। नियमानद और यति को धार्मिक वार्त्तालाप करते हुए सध्या हो गई थी। वार्त्तालाप के अनतर नियमानद ने यति से भोजन करने को कहा, किंतु सूर्यास्त हो जाने के कारण उसने स्वीकार नही किया। इस प्रकार अतिथि-सत्कार मे व्यवधान पडने से नियमानद को बडा क्षोभ हुआ। उसी समय ऐसा चमत्कार हुआ कि नियमानद के आश्रम मे लगे हुए निब वृक्ष की ओट मे सूर्य का प्रकाश दिखलाई देने लगा। नियमानद ने यति से कहा,—'अभी सूर्यास्त नही हुआ है, आप भोजन कीजिए।' सूर्य को देख कर यति ने भोजन किया और जैसे ही वह उससे निवृत्त हुआ, वैसे ही सूर्यास्त हो गया। उस घटना को नियमानद की दिव्य शक्ति अथवा योग-सिद्धि का चमत्कार समझा गया और निंब पर 'आदित्य', 'भास्कर' अथवा 'अर्क' (सूर्य) दिखलाने से वे निंबादित्य, निंबभास्कर अथवा निंबार्क के नाम से प्रसिद्ध हो गये। उनका निवास-स्थान भी निंबग्राम कहा जाने लगा। वह स्थान गोवर्धन के निकट 'नीमगाँव' कहलाता है। इस समय यहाँ निंबार्क सप्रदाय का एक मदिर बना हुआ है।

श्री निंबार्काचार्य किस काल मे विद्यमान थे, इसके सबध मे कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नही होता है। डा० भडारकर ने उनकी विद्यमानता रामानुज के पश्चात् अनुमानित की है। उन्होने इस सप्रदाय की गुरु-परपरा के आधार पर उनका देहावसान-काल मोटे तौर पर स० १२१९

---

(१) भागवत संप्रदाय, पृष्ठ ३३५-३३८

अर्थात् सन् ११६२ अनुमानित किया है[1]। यह केवल अनुमान मात्र है, वास्तव मे श्री निंबार्काचार्य का अस्तित्व काल अभी तक अनिश्चित है।

ग्रथ-रचना—श्री निंबार्काचार्य जी ने वेदात पारिजात सौरभ, वेदात कामधेनु, रहस्य षोडशी, प्रपन्न कल्पवल्ली और कृष्ण स्तोत्र आदि ग्रथो की रचना की थी। वेदात पारिजात सौरभ ब्रह्मसूत्र पर निंबार्काचार्य कृत वृत्ति है, जिसमे वेदात सूत्रो की सक्षिप्त व्याख्या द्वारा द्वैताद्वैतवाद का प्रतिपादन किया गया है। इसमे द्वैताद्वैतवाद का मडन तो है, किंतु किसी अन्य सिद्धात का खडन नही किया गया है।

द्वैताद्वैत सिद्धांत—इस सप्रदाय का द्वैताद्वैत सिद्धात ब्रह्म और जीव के स्वाभाविक भेदाभेद सबध पर आधारित है। इसके अनुसार ब्रह्म जीव से भिन्न भी है और अभिन्न भी। ब्रह्म सर्वज्ञ, विभु (व्यापक) और अप्रच्युत स्वभाव है तथा जीव अल्पज्ञ और अणु है, इस अर्थ मे ब्रह्म जीव से भिन्न है। किंतु जिस प्रकार पत्ते, प्रभा और इद्रियाँ पृथक् स्थिति रखते हुए भी क्रमश वृक्ष, दीपक और प्राण से अभिन्न है, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म से अभिन्न है। यह ब्रह्म और जीव की भिन्नाभिन्नता ही द्वैताद्वैत सिद्धात का मूल तत्व है। जीव ब्रह्म के समान सत् होने पर भी अपने ज्ञान और भोग की प्राप्ति के लिए ईश्वर के आश्रित है। वह बद्ध और मुक्त दोनो दशाओ मे ही ईश्वर के अधीन और आश्रित रहता है। जगत् ब्रह्म का ही परिणाम है, अत वह भी ब्रह्म और जीव के समान सत् है। ब्रह्म जगत् का उपादान कारण भी है, और निमित्त कारण भी। जिस प्रकार मकडी अपने अदर की सामग्री से जाला बनाती है, उसी प्रकार ब्रह्म अपने अदर से ही जगत् का निर्माण करता है।

इस सप्रदाय के सिद्धातानुसार ब्रह्म जगत्-कर्तृत्व आदि गुणो का आश्रय होने से सगुण है, और वह सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से अभिन्न है। "ब्रह्म समस्त कल्याण-गुणो का आकर, सत्य-ज्ञानस्वरूप, अनत और सच्चिदानद-विग्रह है। इसकी शक्ति अचित्य और अनत है। यह एक ओर जैसे गोपीकात है, दूसरी ओर वैसे ही रमानाथ है। गोपी प्रेम की अधिष्ठात्री है, रमा या लक्ष्मी ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री है। इसलिये भगवान् जैसे ऐश्वर्य के आधार है, वैसे ही माधुर्य के भी आश्रय हैं। पुराणादि मे जिनका सत्यभामा नाम से वर्णन किया गया है, वही रमा भूशक्ति है[1]। राधा और कृष्ण पृथक्-पृथक् न होकर एक ही परमतत्व हैं। वह परमतत्व आनद और आह्लाद रूप मे क्रीडा करने को कृष्ण और राधा के स्वरूपो मे प्रकट होता है। वैसे जो कृष्ण है, वही राधा है, और जो राधा है, वही कृष्ण है,—

'य कृष्ण सापि राधा च, या राधा कृष्ण एव स। एक ज्योति द्विधा भिन्न, राधा माधव रूपकम् ॥'

उपास्य देव—इस सप्रदाय के परमाराध्य और परमोपास्य युगलस्वरूप श्री राधा-कृष्ण है। श्रीकृष्ण सर्वेश्वर है, तो राधा सर्वेश्वरी, श्री कृष्ण आनदस्वरूप हैं, तो राधा आह्लादस्वरूपिणी। राधा का स्वरूप कृष्ण के सर्वथा अनुरूप (अनुरूप सौभगा) माना गया है। धर्मोपासना मे राधा की यह महत्ता सर्व प्रथम निंबार्क सप्रदाय मे ही स्वीकृत हुई थी। श्री निंबार्काचार्य कृत 'दशश्लोकी' के सुप्रसिद्ध श्लोक मे राधा के इसी महत्तम स्वरूप का स्मरण किया गया है,—

'अगेतु वामे वृषभानुजा मुदा, विराजमानामनुरूप सौभगाम्।
सखी सहस्रै परिसेविता सदा, स्मरेम देवी सकलेष्ट कामदाम् ॥'

इस सप्रदाय मे राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति के प्रतीक सर्वेश्वर शालिग्राम की प्रमुख रूप से सेवा-पूजा होती है।

---

(१) वैष्णविजम, शैविजम एण्ड मायनर रिलीजस सिस्टम्स, पृष्ठ ८८ की पाद-टिप्पणी।

(२) भारतीय सस्कृति और साधना (दूसरा भाग), पृष्ठ २११

श्री मध्वाचार्य जी
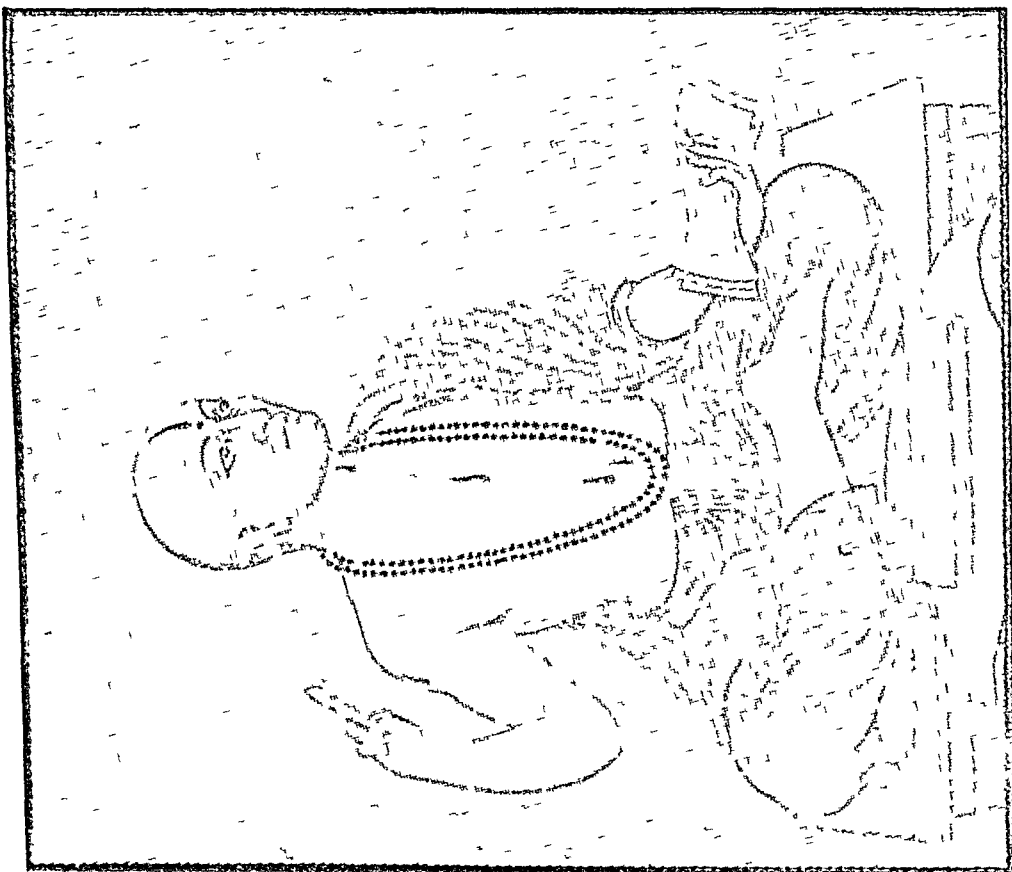
श्री निंबार्काचार्य जी

शिष्य-परंपरा—श्री निबार्काचार्य के शिष्यो मे श्रीनिवासाचार्य प्रमुख थे, और वही उनके उत्तराधिकारी हुए थे। उनका निवास स्थान ब्रज मे गोबर्धन के निकटवर्ती राधाकुड माना जाता है, जहाँ उनके चरण-चिह्न युक्त बैठक बनी हुई है। उनका जन्म-दिवस माघ शु० ५ (बसत पचमी) प्रसिद्ध है। उन्होने निंबार्काचार्य कृत 'वेदात पारिजात सौरभ' नामक ब्रह्मसूत्र–भाष्य पर 'वेदात कौस्तुभ' नामक टीका की रचना की थी। निबार्काचार्य की शिष्य-परपरा के १६वे श्री देवाचार्य थे, जो गुजरात नरेश कुमारपाल के राज्याभिषेक के समय विद्यमान बतलाये जाते है। उनके एक शिष्य श्री ब्रजभूषणजी थे, जिनकी शाखा मे वृ दाबन के श्री रसिकबिहारी जी की गद्दी तथा टट्टी सस्थान है। उनका जन्मोत्सव माघ शु० ५ को मनाया जाता है। निंबार्काचार्य की शिष्य–परपरा के ३३वे आचार्य श्री केशव काश्मीरी भट्ट थे, जो दिग्विजयी विद्वान थे। उन्होने 'प्रस्थानत्रयी' पर भाष्य रचना की है।

ब्रजमंडल में सनकादि संप्रदाय का प्रचार—वैष्णव धर्म के चारो सप्रदायो मे सनकादि सप्रदाय का ब्रजमडल से सर्वाधिक प्राचीन सबध सिद्ध होता है। राधा सहित कृष्ण की उपासना–भक्ति को भी सर्व प्रथम इसी सप्रदाय मे मान्यता दी गई थी। श्री निंबार्काचार्य के जन्म–स्थान की अनुश्रुति के अनुसार उन्हे आन्ध्र राज्य मे उत्पन्न तैलग ब्राह्मण माना जाता है, किंतु इनके सप्रदाय का आध्र राज्य से कोई खास सबध ज्ञात नही होता है। इस सप्रदाय का प्रचार क्षेत्र उत्तर भारत रहा है, इसलिए कुछ विद्वान निंबार्काचार्य को उत्तर भारतीय आचार्य ही मानते है।

वैसे उनका जन्म चाहे दक्षिण भारत मे ही हुआ हो, किंतु उनका कार्यक्षेत्र आरंभ से ही उत्तर भारत, विशेष कर मथुरामडल रहा है। इस सप्रदाय के आरभिक केन्द्र गोबर्धन स्थित नीमगाँव और मथुरा स्थित ध्रुवक्षेत्र है। मथुरा के ध्रुव टीला और नारद टीला नामक प्राचीन स्थलो पर इस सप्रदाय के मदिर और आचार्यों की समाधियाँ हैं। १७वी शताब्दी से इस सप्रदाय का प्रमुख केन्द्र वृ दावन हो गया है। इसकी प्रधान गद्दी राजस्थान के सलेमाबाद नामक स्थान मे है।

(४) ब्रह्म संप्रदाय

नाम और सिद्धांत—इस सप्रदाय की मान्यता के अनुसार इसके आरभिक उपदेष्टा ब्रह्मा जी हैं, अत यह 'ब्रह्म सप्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है। इसका दार्शनिक सिद्धात 'द्वैतवाद' कहलाता है, जो शकराचार्य के अद्वैतवाद के सर्वथा विरुद्ध है। इस सप्रदाय मे दार्शनिक सिद्धात की अपेक्षा भक्तितत्व पर अधिक बल दिया गया है, इसीलिए इसमे प्रस्थानत्रयी से भी अधिक श्रीमद् भागवतादि पुराणो को महत्त्व दिया जाता है। वैष्णव धर्म के चारो सप्रदायो मे भक्तिमार्ग का सर्वाधिक प्रतिनिधित्व करने वाला यही सप्रदाय है, जब कि अन्य तीनो सप्रदाय भक्तिमार्ग से अधिक अपने दार्शनिक सिद्धातो का प्रतिनिधित्व करते है। ब्रह्मा जी द्वारा प्रवर्तित माने जाने वाले इस सप्रदाय का लोक मे प्रचार श्री मध्वाचार्य जी ने किया था।

मध्वाचार्य—उनका जन्म मैसूर राज्यातर्गत दक्षिण कनाडा क्षेत्रवर्ती उडीपि जिला के वेल्ले ग्राम मे स० १२९५ की माघ शु० सप्तमी को हुआ था। 'कुछ विद्वानो ने आश्विन शु० दशमी (विजया दशमी) को उनका जन्म होना लिखा है, किंतु वह उनके वेदात साम्राज्य के अभिषेक का दिन है, जन्म का नही[1]।' उनके पिता का नाम नारायण भट्ट (मधिजी भट्ट) और माता का नाम वेदवती था।

---

(१) संत अंक (कल्याण, वर्ष १२ संख्या १), पृष्ठ ४३४

वे भार्गव गोत्रीय दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे । उनका आरभिक नाम वासुदेव था । ऐसा कहा जाता है, वे ११ वर्ष की आयु मे ही सन्यासी हो गये थे। तब उनका नाम पूर्णप्रज्ञ रखा गया था । बाद मे वे आनदतीर्थ अथवा मध्वाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए थे ।

मध्वाचार्य ने अपने जन्म ग्राम वेल्ले के निकटवर्ती उडीपि नामक स्थान मे विद्याध्ययन किया था । बाद मे वे वहाँ के श्री अनतेश्वर मदिर के मठाधीश हो गये थे । उन्होने सुब्रह्मण्य, मध्यतल और उडीपि नामक स्थानो मे तीन शालिग्राम प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की थी। बाद मे उन्होने उडीपि मे ही श्री नर्तकगोपाल के नाम से श्री कृष्ण के विग्रह की प्रतिष्ठा की थी । नर्तकगोपाल का उक्त देवस्थान ही उनके सप्रदाय का प्रधान केन्द्र है । उसके और पास इस सप्रदाय के और भी अनेक मदिर है । इस प्रकार दक्षिण भारत का उडीपि नामक स्थान माध्व सप्रदाय का प्रमुख तीर्थस्थल है ।

उन्होने आरभ मे एक अद्वैतवादी गुरु से वेदात की शिक्षा प्राप्त की थी, किन्तु उन्हें अद्वैतवाद के सिद्धात से सतोष नही हुआ था । फलत उन्होने उसके विरुद्ध द्वैतवाद की स्थापना की और उसके प्रचारार्थ समस्त भारत का भ्रमण किया । अपने सिद्धात के समर्थन मे उन्होने अनेक ग्रथो की रचना की थी, जिनमे उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र के भाष्य, गीता तात्पर्य निर्णय, न्याय विवरण, तत्र सार सग्रह, विष्णु-तत्व निर्णय, श्रीकृष्णामृत महार्णव आदि उल्लेखनीय है । उन्होने अद्वैत सिद्धात के खडन मे जो ग्रथ रचे थे, उनमे मायावाद खडन और प्रपचमिथ्यात्ववाद खडन उल्लेखनीय है । उनका देहावसान स० १३७४ की माघ शु० नवमी को उडीपि मे हुआ था ।

द्वैतवाद सिद्धांत—श्री मध्वाचार्य का दार्शनिक सिद्धात 'द्वैतवाद' कहलाता है, जो शाकर अद्वैतवाद के सर्वथा प्रतिकूल और उसका सबसे प्रबल विरोधी है । विशिष्टाद्वैतवाद और द्वैताद्वैतवाद भी अद्वैतवाद का विरोध करते है, अत उन्हे भी प्रकारातर से द्वैतवादी कहा जा सकता है । पुरुष और प्रकृति केवल दो तत्वो की सत्ता मानने वाला साख्य मत भी एक प्रकार से द्वैतवाद ही है, किंतु माध्व सप्रदाय का द्वैतवाद इन सब से निराला है । वास्तविक अर्थ मे मध्वाचार्य द्वारा प्रवर्तित सिद्धात ही सच्चा 'द्वैतवाद' है । श्री शकराचार्य ने कर्मप्रधान जगत् को मिथ्या और भ्रम मात्र बतलाया था, जिससे लोक जीवन मे रुचि उत्पन्न होना सभव नही था । उसके विरुद्ध श्री मध्वाचार्य ने जीवन की वास्तविकता समझते हुए उसे व्यावहारिक और रुचिपूर्ण बनाने का आधार अपने द्वैतवाद मे प्रस्तुत किया है ।

इस सिद्धात के अनुसार दो पदार्थ या तत्व मुख्य हैं, जो स्वतत्र और अस्वतत्र हैं । स्वतत्र तत्व परमात्मा है, जो विष्णु के नाम से प्रसिद्ध है, और जो सगुण तथा सविशेष है । अस्वतत्र तत्व जीवात्मा है। ये दोनो तत्व नित्य और अनादि है, जिनमे स्वाभाविक भेद है । यह भेद पाँच प्रकार का है, जिसे शास्त्रीय परिभाषा मे 'प्रपच' कहा गया है।"यह अनादि और सत्य है,—भ्राति-कल्पित नही है। ईश्वर जीव और जड पदार्थो से भिन्न है, जीव जड पदार्थ और अन्य जीवो से भिन्न है एव एक जड पदार्थ अन्य जड पदार्थ भिन्न है । जब तक यह तात्त्विक भेदबोध उदित नही होता, तब तक मुक्ति की आशा बहुत दूर की बात है । अभेदज्ञान से ही बधन हुआ है, अतएव इस प्रकार के ज्ञान की निवृत्ति हुए बिना बधन से छुटकारा पाने की सभावना नही है । भगवान् के सभी गुण जैसे सत्य है, वैसे ही ईश्वर और जीव आदि का भेद भी सत्य है । जगत् सत्य है एव पचविध भेदयुक्त जगत् का प्रभाव भी सत्य है । नित्य वस्तुगत भेद नित्य है और अनित्य वस्तुगत भेद अनित्य है । परमात्मा अनत

गुणपूर्ण है। उनका प्रत्येक गुण असीम और निरतिशय होने से पूर्ण है। वे किस प्रकार की वस्तु है, यह नही कहा जा सकता, भावना भी नही की जा सकती। लक्ष्मी परमात्मा से भिन्न है, और एकमात्र परमात्मा के ही अधीन है। ब्रह्मादि लक्ष्मी के पुत्र हैं, जो उनसे नीचे है और प्रलय मे उन्ही मे लीन होते है। परमात्मा की कृपा के प्रभाव से बलवती होकर लक्ष्मी पलक लेशमात्र मे विश्व-सृष्टि आदि आठ कार्यों का सपादन करती रहती है[1]।"

माध्व सिद्धात मे विष्णु ही सर्वोपरि तत्व माने जाते है। वे समस्त देवताओ मे श्रेष्ठ है। जीवो की संख्या अनत है, और वे अनादि काल से माया-मोहित एव बद्ध है। जीव का एक मात्र कर्त्तव्य विष्णु भगवान् की सेवा करना है। यही उसका परम पुरुषार्थ है। भगवान् की कृपा से ही वह सालोक्य, सामीप्य मुक्ति पा कर वैकुठ मे निवास करता हुआ अक्षय आनद प्राप्त करता है। वैकुठ की प्राप्ति ही जीव की मुक्ति है। मुक्तावस्था मे जीव की पृथक् स्थिति रहती है। सक्षेप मे मध्वाचार्य के सिद्धात की रूप-रेखा निम्न लिखित दो श्लोको मे व्यक्त की गई है,—

श्रीमन्मध्वमते हरि परतर, सत्य जगत् तत्वतो।
भेदो जीवगणा हरेनुचरा, नीचोच्चभाव गता ॥१॥
मुक्तिर्नैज सुखानुभूतिरमला भक्तिश्य तत्साधने।
ह्यक्षादित्रितच प्रमाणखिलाम्नायैक वेद्यो हरि ॥२॥

उपर्युक्त श्लोको मे माध्व सिद्धात की प्रमुख ९ बाते गई है,—१. हरि अर्थात् विष्णु सर्वोच्च तत्व हैं। २ जगत् सत्य है। ३ ब्रह्म और जीव का भेद वास्तविक है। ४ जीव ईश्वराधीन है। ५ जीवो मे तारतम्य है। ६. आत्मा के आतरिक सुखो की अनुभूति ही मुक्ति है। ७. शुद्ध और निर्मल भक्ति ही मोक्ष का साधन है। ८ प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण है। ९ वेदो द्वारा ही हरि जाने जा सकते है।

ब्रजमंडल में ब्रह्म संप्रदाय का प्रचार—इस सप्रदाय का आरभ से ही प्रमुख प्रचार क्षेत्र दक्षिण भारत रहा है और वही के कर्णाटक (मैसूर राज्य) तथा दक्षिणी महाराष्ट्र मे इसके प्रधान केन्द्र है। उत्तर भारत मे इसका प्रचार माधवेन्द्रपुरी द्वारा १६वी शताब्दी मे हुआ था। उसी काल मे पुरी महोदय ब्रज मे पधारे थे। उनकी शिष्य–परपरा मे श्री चैतन्य महाप्रभु ने एक नवीन भक्ति सप्रदाय प्रचलित किया था। इस सप्रदाय द्वारा मथुरामडल के धार्मिक विकास मे जो महान् योग दिया गया, उसका उल्लेख आगे के पृष्ठो मे किया गया है।

अन्य धर्म–संप्रदाय

उपक्रम—वैष्णव धर्म और उसके विविध सप्रदायो के प्रचार का आरभ होने से ब्रज के अन्य धर्म-सप्रदायो का महत्व कम होने लगा था। फलत. इस काल मे जैन, शैव, शाक्तादि धर्मो के अनेक अनुयायी वैष्णव सप्रदायो मे सम्मिलित होने लगे थे, जिससे उनके अनुयायियो की सख्या दिन–प्रतिदिन कम होने लग गई थी। यहाँ पर उक्त धर्म-सप्रदायो की तत्कालीन स्थिति पर कुछ प्रकाश डाला जाता है।

---

(१) भारतीय सस्कृति और साधना (दूसरा भाग), पृष्ठ २१६ मे २२३ तक का साराश।

जैन धर्म

जैनियों की मथुरा-यात्रा—वैष्णव सप्रदायो का प्रचार होने से इस काल मे जैन धर्म का प्रभाव घट गया था, किंतु मथुरामडल के जैन देवस्थानो के प्रति श्रद्धा बनी रही थी । वैष्णव सप्रदायो का केन्द्र बनने से पहिले मथुरा नगर जैन धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र था । श्वेतावर और दिगवर दोनो सप्रदायो के जैन साधु और श्रावकगण मथुरा तीर्थ की यात्रा करने आते थे । ऐसे अनेक तीर्थ-यात्रियो का उल्लेख जैन धर्म के विविध ग्रथो मे हुआ है । सुप्रसिद्ध शोधक विद्वान श्री अगरचद जी नाहटा ने उक्त उल्लेखो का सकलन कर इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है[1] । उनके लेख से ज्ञात होता है कि प्रथम शती से सतरहवी शती तक जैन यात्रियो के आने का क्रम चलता रहा था ।

उस युग मे सामूहिक रूप से तीर्थ—यात्रा की जाती थी । जैन धर्म मे तीर्थ यात्रियो के उस समूह को 'सघ' कहा गया है । प्रत्येक सघ के मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका के क्रम के चार अग होते थे । कतिपय धनी सेठ उस काल मे वडे-वडे यात्री सघो का सचालन करते थे और उनकी रक्षा, व्यवस्था आदि का समस्त व्यय—भार स्वय वहन करते थे । उन्हे 'सघपति' कहा जाता था । वर्तमान काल के सघी, सघवी, सिंघई और सिंगई उस काल के 'सघपति' के ही अपभ्रश है[2] । उनके पूर्वजो ने किसी काल मे यात्री—सघो का सचालन किया होगा ।

इस काल मे मथुरा तीर्थ की यात्रा करने वाले जैन यात्रियो मे सर्वप्रथम मणिधारी जिनचद्र सूरि का नाम उल्लेखनीय है । 'युग प्रधान गुर्वावली' के अनुसार उक्त सूरि जी ने स० १२१४—१७ के काल मे मथुरा तीर्थ की यात्रा की थी । उक्त गुर्वावली मे खरतर गच्छ के आचार्य जिनचद्र सूरि के नेतृत्व मे ठाकुर अचल द्वारा सगठित एक वडे सघ द्वारा भी यात्रा किये जाने का उल्लेख हुआ है । वह यात्री—सघ स० १३७५ मे मथुरा आया था । उसने मथुरा के सुपार्श्व और महावीर तीर्थो की यात्रा की थी । मुहम्मद तुगलक के शासन काल (स० १३८२—स० १४०८) मे कर्णाटक के एक दिगवर मुनि की मथुरा-यात्रा का उल्लेख मिलता है । उसी काल मे सेठ समराशाह ने शाही फरमान प्राप्त कर एक वडे यात्री—सघ का सचालन किया था । उसी सघ के साथ यात्रा करते हुए गुजरात के श्वेतावर मुनि जिनप्रभ सूरि स० १३८५ के लगभग मथुरा पधारे थे । उन्होने यहाँ के जैन देवालयो के दर्शन और जैन स्थलो की यात्रा करने के साथ ही साथ ब्रज के विविध तीर्थो की भी यात्रा की थी । उक्त यात्रा के अनतर जिनप्रभ सूरि ने स० १३८८ मे 'विविध तीर्थ कल्प' नामक एक वडे ग्रथ की रचना प्राकृत भाषा मे की थी । उसमे उन्होने मथुरा के समस्त जैन तीर्थो का वर्णन लिखा है । इस ग्रथ का एक भाग 'मथुरापुरी कल्प' हे, जिसमे मथुरा तीर्थ से सवधित जैन धर्म की अनेक अनुश्रुतियो का उल्लेख हुआ है । इसके साथ ही उसमे मथुरामडल से सवधित कुछ अन्य ज्ञातव्य बातें भी लिखी गई है । उनसे यहाँ की तत्कालीन धार्मिक स्थिति पर अच्छा प्रकाश पडता है ।

ऐसा कहा जाता है, उस समय सेठ समराशाह ने मथुरा के कतिपय स्तूपो का जीर्णोद्धार भी कराया था । वे समराशाह गुजरात के निवासी एक धनी ओसवाल सेठ थे[3] । उन्होने स० १३७१ मे प्रचुर धन व्यय कर शत्रुजय तीर्थ का उद्धार कराया था । तीर्थ—यात्रा सघो की व्यवस्था करने के

---

(१) मथुरा के जैन स्तूपादि की यात्रा (ब्रज भारती, वर्ष ११ अक २)

(२) जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ५४०

(३) ब्रज भारती, वर्ष १५ अक २

कारण वे 'सघपति' कहलाते थे। उनकी उदारता और दानवीरता का वर्णन अम्बदेव कृत 'सघपति समराशाह रास' मे किया गया है। इस ग्रथ की रचना स० १३७१ मे हुई थी।

धार्मिक रचनाएँ—इस काल मे जैन धर्म की प्राय समस्त रचनाएँ अपभ्रश भाषा मे निर्मित हुई थी और उन्हे अधिकतर गुजरात के जैन साधुओ ने रचा था। १४वी शती के कवि लक्खण रायभा (आगरा) के निवासी होने के कारण अवश्य ही ब्रज से सबधित थे। उनकी रचना 'अणुवय रयण पईव' (अनुव्रत रत्न प्रदीप) की एक हस्त लिखित प्रति स० १५७५ की उपलब्ध है। यह ग्रथ अप्रकाशित है[1]। इसमे कवि ने आत्म परिचय के अतर्गत अपने निवास स्थान (रायभा) का भी वर्णन किया है। उसके साथ ही वहाँ के राजा आह्वमल्ल, रानी ईसरदे, मत्री कण्हड्डु की भी प्रशसा लिखी है[2]। इसी काल मे स्वयभू से ६-७ सौ वर्ष बाद जसकित्ति (यश कीर्ति) नामक जैन कवि ने स्वयभू कृत 'हरिवश पुराण' (रिट्ठणेमि चरिउ) की वृद्धि की थी। प्रेमी जी का मत है कि मुनि जसकित्ति के समय मे उस प्राचीन ग्रथ की पूर्ण प्रति दुर्लभ हो गई थी। मुनि जी को जो प्रति मिली थी, वह जीर्ण तथा अपूर्ण थी, जिसके अतिम पृष्ठ नष्ट हो गये थे। उन्होने अपनी रचना द्वारा उसे पूर्ण कर उस अश पर अपने नाम का उल्लेख भी कर दिया था। उस कवि ने स्वय भी अपभ्रश भाषा मे हरिवश पुराण बनाया था, इसलिए उसे स्वयभू के प्राचीन ग्रथ को पूरा करना कठिन नही था। उक्त मुनि जसकित्ति (यश कीर्ति) काष्ठासघ-माथुरान्वय के भट्टारक थे। वे गोपाचल (ग्वालियर) की गद्दी पर आसीन थे। उनके गुरु का नाम गुणकीर्ति था। जसकित्ति के दो अपभ्रश ग्रथ मिलते है,— १. हरिवशपुराण, २ चदप्पह चरिउ। वे ग्वालियर के तोमर वशीय राजा कीर्तिसिंह के शासन-काल मे १६वी शती के आरभ मे विद्यमान थे[3]।

शैव–शाक्त धर्म

वामाचार की प्रतिक्रिया—इस काल मे वैष्णव धर्म के प्रचार के साथ ही साथ शैव-शाक्त धर्मो मे प्रचलित वामाचार ने भी उन पर बडा प्रतिकूल प्रभाव डाला था। उसके कारण शैव धर्म मे तो वामाचार की तान्त्रिक साधना बहुत कम हो गई थी, किंतु शाक्त धर्म मे बराबर चलती रही थी। उसके विरोध मे उस काल के निर्गुणिया सतो ने बडा प्रबल प्रचार किया था। कबीर साहब (स० १४२५–स० १५०५) के कितने ही दोहो मे शाक्तो की कटु निंदा और वैष्णव भक्तो की प्रशसा मिलती है। इस प्रकार के कतिपय दोहे यहाँ दिये जाते है,—

चदन की कुटकी भली, नाँ बँबूर की अवराँउ।
वैस्नौ की छपरी भली, नाँ साषत का बड गाँउ॥
'कबीर' धनि ते सुदरी, जिनि जाया वैस्नौ पूत।
राम सुमरि निरभै हुवा, सब जग गया अऊत[4]॥

---

(१) हिंदी काव्य धारा, पृष्ठ ४३२
(२) हिंदी काव्य धारा, पृष्ठ ४४२–४५०
(३) जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ३८० की टिप्पणी
(४) कबीर ग्रंथावली (ना प्र. सभा), पृष्ठ ५२–५३

कबीर शाक्तो के इतने विरुद्ध थे कि उन्होने उनको कुत्ता और सूअर तक कहने मे सकोच नही किया है। उन्होने कहा है,—'साकत सुनहा दूनो भाई। एक नीदे एक भौकत जाई[1]॥

साकत ते सूकर भला, सूखा राखे गाँव। बूडा साकत वापुडा, वैसि ममरणी नाँव॥

रामानंदी संप्रदाय

नाम और सिद्धांत—इस सम्प्रदाय के प्रचारक स्वामी रामानद थे, और इसमे भगवान् राम की भक्ति को प्रमुखता दी गई है। इसलिए इसे 'रामानदी' अथवा 'रामावत' सम्प्रदाय कहा जाता है। रामानद जी 'श्री सम्प्रदाय' के प्रमुख प्रचारक श्री रामानुजाचार्य की शिष्य-परपरा मे हुए थे और यह सम्प्रदाय भी श्री सम्प्रदाय की शाखा के रूप मे विकसित हुआ है, अत दोनो के दार्शनिक सिद्धात मे बहुत समानता है। जहाँ तक उपासना-भक्ति का सबध है, उनकी कुछ बातो मे अतर है।

स्वामी रामानंद—श्री रामानुजाचार्य की शिष्य-परपरा मे वे स्वामी राघवानद के शिष्य थे। इस सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार उनका जन्म स० १३५६ की माघ कृ० ७ गुरुवार को प्रयाग मे हुआ था और वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम पुण्यसदन, माता का नाम सुशीला, और उनका आरभिक नाम रामदत्त था। वे प्रारभ से ही बडे तीव्र बुद्धि और मेधावी थे। उन्होने काशी मे दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया था और वही पर श्री राघवानद जी से वैष्णवी दीक्षा ली थी[2]।

वैष्णव सम्प्रदायो के प्रवर्त्तको और प्रमुख प्रचारको मे से प्राय सभी दाक्षिणात्य थे, किंतु स्वामी रामानद उत्तर भारतीय धर्माचार्य थे। उनका प्रचार–क्षेत्र आरभ से ही उत्तरी भारत रहा था। उनके काल मे दिल्ली के सुलतानो के मजहवी शासन मे हिंदू जनता को बडा कष्ट उठाना पडा था। सुलतानो की तानाशाही से हिंदू तीर्थस्थानो मे बडे आतक और भय का वातावरण बना हुआ था। स्वामी रामानद ने उत्तर भारत के प्रमुख तीर्थो मे अपने सम्प्रदाय के केन्द्र स्थापित किये और वहाँ के निवासियो मे भगवान् राम की भक्ति का प्रचार किया था। उन्होने जाति-पाँति, ऊँच-नीच और छूआछूत का भेद-भाव किये विना सभी वर्णो और जातियो के व्यक्तियो को राम-मत्र का उपदेश दिया था। उनके सैकडो शिष्य थे, जिनमे सवर्णो के साथ शूद्र और अन्त्यज भी थे। उनके सवर्ण शिष्यो मे स्वामी अनतानद प्रधान थे और निम्नजातीय शिष्यो मे कबीर प्रमुख थे, जो मुसलमान जुलाहा थे। उनके निम्नजातीय अन्य शिष्यो मे रैदास चमार, सेना नाई और धना जाट के नाम प्रसिद्ध है। 'जाति-पाँति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै, सो हरि का होई॥'—यह उक्ति रामानद जी द्वारा प्रचलित की हुई ही मानी जाती है।

स्वामी रामानद का देहावसान उनके सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार स० १४६७ की वैशाख शु० ३ को हुआ था। इस प्रकार वे प्राय १११ वर्ष की आयु तक जीवित रहे थे[3]। कुछ अन्य विद्वान उनके देहावसान-काल को जन्म-काल मानने के पक्ष मे है, जिससे उनकी विद्यमानता का समय प्राय एक शताब्दी आगे तक का हो जाता है। उनके जीवन से सबधित ऐतिहासिक घटनाओ और उनकी शिष्य-परपरा से भी इसी काल की सगति बैठती है। श्री बलदेव उपाध्याय के मतानुसार स्वामी रामानद का समय स० १४६७ से स० १५६७ तक है[4]।

(१) **कबीर ग्रथावली** (ना प्र सभा), प्रस्तावना, पृष्ठ १७
(२) **श्री भक्तमाल** (वृ दावन सस्करण), पृष्ठ २५७–२६०
(३) **भक्तमाल का 'भक्ति-सुधा-स्वाद' तिलक** (तृतीय सस्करण), पृष्ठ २९३
(४) **भागवत संप्रदाय**, पृष्ठ २५३
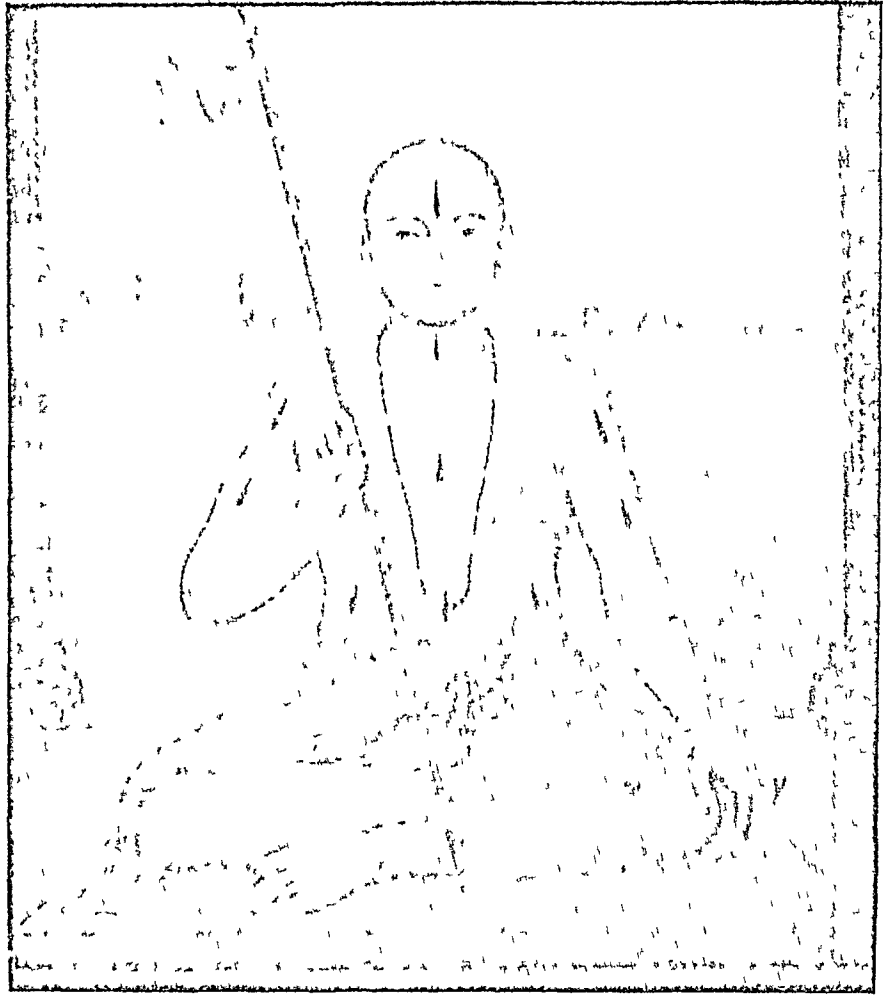
स्वामी रामानद जी
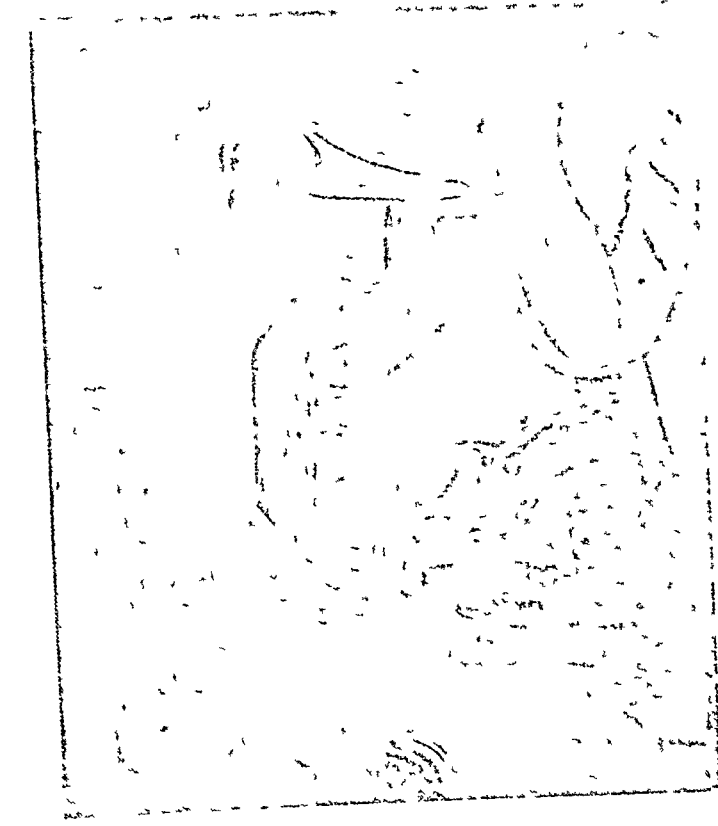
स्वामी अग्रदास जी और श्री नारायणदास जी (नाभाजी)
[सगुण भक्त परम्परा]

श्री कबीरदास जी
[निर्गुण सन्त परम्परा]

विशिष्टता और महत्व—स्वामी रामानद ने श्री सप्रदाय के 'विशिष्टाद्वैत' और 'प्रपत्ति' सिद्धात के आधार पर अपने सप्रदाय का सगठन किया था, किंतु उन्होने तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार और युग के अनुकूल लोकोपयोगी नवीन विचारो का भी उसमे समावेश किया था। "शैव तथा शाक्त पथियो के प्रभाव से समाज मे तत्र, मत्र, कील-कवचादि तात्रिक उपासना के अगो के प्रति लोगो का आकर्षण देख कर उन्होने रामोपासना मे भी उसकी व्यवस्था की थी। रामरक्षा की रचना इसी उद्देश्य से हुई थी। इसी प्रकार नाथपथी उपासको के आदर्श पर सत-जीवन के प्रत्येक कृत्य के लिए उन्होने पृथक्-पृथक् मत्रो की रचना कर सिद्धात-पटल का निर्माण किया था। यह सब केवल इस उद्देश्य से किया गया कि रामोपासना युग-धर्म के अनुकूल बने और पथो के दलदल मे फँसी हुई जनता का उद्धार करके उन्हे उचित मार्ग-प्रदर्शन कर सके। उनके शिष्यो ने तीर्थस्थानो मे जम कर राम-भक्ति का प्रचार किया था। उसके कारण यवन शासको की असहिष्णुता से प्रोत्साहित मुसलमानो द्वारा नष्ट-भ्रष्ट किये जाने से तीर्थो की रक्षा हुई। उसके साथ ही वलपूर्वक मुसलमान वनाये गये हिंदुओ को रामतारक मत्र की दीक्षा देकर पुन हिंदू बनाने का क्रम भी चलाया गया[1]।"

उन्होने जाति-पाँति का भेद-भाव मिटा कर वैष्णव मात्र मे समता का प्रचार किया था और नवधा भक्ति से भी अधिक प्रेमा भक्ति को श्रेयष्कर वतलाया था। वैष्णव धर्माचार्यो मे सर्वप्रथम स्वामी रामानद ने ही शूद्रो और अन्त्यजो को मत्र-दीक्षा दी थी, जिसका अनुकरण बाद मे सर्वश्री वल्लभाचार्य और चैतन्यदेव के सप्रदायो मे भी किया गया था। सभी धर्म-सप्रदायो मे परपरा से पोषित देववाणी सस्कृत की अपेक्षा उन्होने लोक-भाषा को प्रधानता दी थी। इस प्रकार मध्यकालीन सप्रदाय-प्रवर्त्तको मे स्वामी रामानद अपनी विशेषताओ के कारण महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी है।

भक्ति-सिद्धांत और उपासना—जैसा पहिले लिखा गया है, स्वामी रामानद के सप्रदाय का दार्शनिक सिद्धात श्री रामानुजाचार्य जी द्वारा प्रचारित 'श्री सप्रदाय' के विशिष्टाद्वैत दर्शन पर आधारित है। उसके साथ ही इसका भक्ति-सिद्धात भी उक्त सप्रदाय मे मान्य 'दास्य भक्ति' और 'प्रपत्ति' के सदृश है, किंतु इस सप्रदाय की विशिष्टता इसकी उपासना-विधि मे है। जहाँ श्री सप्रदाय मे भगवान् नारायण की उपासना की जाती है, वहाँ इस सप्रदाय के उपास्य भगवान् राम है। श्री सप्रदाय के 'नारायण मत्र' के स्थान पर इस सप्रदाय का षड्क्षरी 'राम मत्र' है। इस सप्रदाय के 'तिलक' मे भी श्री सप्रदायी तिलक से भिन्नता है। श्री सप्रदाय की दीक्षा उच्च वर्ण के लोगो को ही दी जाती है, किंतु रामानदी सप्रदाय मे सभी वर्णों और जातियो के व्यक्तियो को सम्मिलित होने का अधिकार है। श्री सप्रदाय मे सगुण भक्ति मान्य है, किंतु रामानदी सप्रदाय मे निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति दोनो का समन्वय किया गया है। इस प्रकार रामानदी सप्रदाय का भक्ति-सिद्धात अत्यत उदार और युग के अनुकूल है। मुसलमानी शासन-काल की विषम परिस्थिति मे इसके द्वारा सकटग्रस्त हिंदू धर्म की वडी रक्षा हुई थी।

शिष्य-परंपरा—रामानदी सप्रदाय मे मान्य सगुण-निर्गुण भक्ति-भेद से रामानद जी की शिष्य-परपरा दो वर्गो मे विभाजित है, जिन्हे 'वैरागी' और 'सत' कहा जाता है। वैरागी समुदाय मे भगवान् राम की सगुण भक्ति मान्य है, जिसकी परपरा अधिकतर स्वामी अनतानद के शिष्य-प्रशिष्यो द्वारा चली है। सत समुदाय मे राम की निर्गुण भक्ति स्वीकृत है, जिसका प्रचार कवीर-रैदास आदि

---

(१) राम-भक्ति मे रसिक संप्रदाय, पृष्ठ ६३-६४ का साराश।

के पंथो द्वारा हुआ है । जहाँ तक व्रजमडल का सबध है, यहाँ पर राम की सगुण भक्ति का ही अधिक प्रचार हुआ था। फलत. यहाँ पर वैरागी भक्तो की गद्दियाँ स्थापित हुई थी और उनकी दीर्घकालीन परपरा चली थी ।

व्रजमंडल में रामानंदी संप्रदाय का प्रचार—जिस समय स्वामी रामानद के सप्रदाय का उदय हुआ था, उस समय यहाँ पर दिल्ली के सुलतानो का शासन था । यद्यपि सुलतानी शासन की असहिष्णुतापूर्ण धार्मिक नीति ने वैष्णव धर्म के लिए बडी कठिन परिस्थिति पैदा कर दी थी; तब भी वैष्णव धर्माचार्यों के अदम्य साहस और अपूर्व उत्साह से इनके विविध सप्रदायो का यहाँ पर प्रचार होने लगा था। रामानदी आचार्यों का ध्यान आरभ से ही व्रज की ओर गया था; फलत. अन्य सप्रदायो की भाँति इस सप्रदाय का केन्द्र भी यहाँ पर स्थापित हो गया था। वैष्णव सप्रदायो द्वारा व्रज मे भगवान् कृष्ण की सगुण भक्ति का प्रचार किया जा चुका था, अत. रामानदी सप्रदाय के वैरागी समुदाय की सगुण भक्ति यहाँ पर सरलता से प्रचलित हो गई थी, किंतु कबीरादि सतो की निर्गुण भक्ति के लिए यहाँ का वातावरण अनुकूल सिद्ध नही हुआ था ।

स्वामी रामानद ने स्वय व्रज मे आ कर अपने सप्रदाय का प्रचार किया या नहीं, इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख नही मिलता है, किंतु उन्हे भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति श्रद्धा थी और उन्हे मथुरा-मडल का महत्व स्वीकृत था । इसे उन्होने अपने शिष्य श्री सुरसुरानद के प्रश्नो का उत्तर देते हुए व्यक्त किया था । उसका कुछ अश इस प्रकार है,—'सत्स्थाने मथुराभिधाश्रमवरे श्री बालकृष्ण परम् ।'—अर्थात् जहाँ सत्पुरुषो का निवास है, ऐसे मथुरा नामक श्रेष्ठ आश्रम मे श्री बालकृष्ण जी की पूजा करे[1] । स्वामी रामानद के प्रधान शिष्य स्वामी अनतानद और उनके वैरागी समुदाय का व्रज से घनिष्ठ सबध रहा है ।

स्वामी अनंतानंद—वे रामानद जी के प्रधान शिष्य और रामानदी सप्रदाय मे वैरागी साधुओ की परपरा के प्रवर्त्तक थे। वे एक विद्वान धर्माचार्य थे. अत उन्होंने श्री सप्रदाय के समर्थन मे कई ग्रंथो की रचना सस्कृत भाषा मे की थी । उन ग्रथो के अत मे जो श्लोक लिखा मिलता है, उनसे ज्ञात होता है कि वे शेषार्य वश मे उत्पन्न हुए और यादवाद्रि नामक स्थान के निवासी थे[2]। नाभा जी ने बतलाया है, वे भगवान् राम के साथ ही साथ भगवान् कृष्ण के भी भक्त थे,—'रघुवर जदुवर गाइ बिमल कीरति सच्यौ धन[3] ।' उनकी विद्यमानता का समय १६वी शताब्दी का आरभिक काल है ।

स्वामी अनंतानद के शिष्यो मे कृष्णदास पयहारी प्रमुख थे, और पयहारी जी के शिष्यो मे कीलदास प्रधान थे । उन सबका व्रजमडल से घनिष्ठ सबध बतलाते हुए मथुरा स्थित गलताकुज के अध्यक्ष श्री पराकुशाचार्य लिखा है,—"उस काल मे मथुरा नगर सस्कृत विद्या का प्रमुख केन्द्र था । यहाँ पर स्वामी अनतानद का सस्कृत विद्यालय था, जिसमे बालक कीलदास ने विद्याध्ययन किया था। विद्यालय का स्थान उनके नाम पर 'अनतवाडा' कहलाता था, जो इस समय 'अतापाडा' के नाम से मथुरा का एक मुहल्ला है[4] ।

---

(१) श्री वैष्णवमहाब्ज भास्कर ('नाम माहात्म्य' का 'श्री व्रजांक', पृष्ठ २५)

(२) श्री भक्तमाल (वृंदावन संस्करण), पृष्ठ २६३

(३) भक्तमाल, छप्पय संख्या ३७

(४) सिद्ध योगी श्री कीलदास जी, पृष्ठ २

श्री पराकुशाचार्य ने अपने मत के समर्थन मे कोई प्रमाण नही दिया है, अत स्वामी अनतानद और उनके विद्यालय के सवध मे तो कोई निश्चयात्मक बात नही कही जा सकती, किंतु कीलदास का मथुरा से अवश्य ही घनिष्ठ सवध रहा था । डा० भगवतीप्रसाद सिंह ने स्वामी अनतानद जी की गादी का स्थान 'अनतगुफा' मथुरा बतलाया है[१] । मथुरा मे इस नाम की कोई गुफा नहीं है । मथुरा नगर के कीलमठ मुहल्ला मे जो प्राचीन गुफा है, उसे कीलदास जी की साधना–स्थली कहा जाता है । ऐसा मालूम होता है, आरभ मे वह स्वामी अनतानद जी की भजनस्थली थी । बाद मे उसका कीलदास जी से अधिक सबध होने से वह उनके नाम से ही प्रसिद्ध हो गई थी । इस प्रकार मथुरा की इस गुफा का अनुपम ऐतिहासिक महत्व सिद्ध होता है ।

कृष्णदास पयहारी—उनके नाम और दुग्धाहार के उनके व्रत से ऐसा अनुमान होता है कि वे गोपालकृष्ण और उनके जन्मस्थान मथुरा के प्रति बडे श्रद्धालु थे । उनका काल स० १५५६–१५८४ माना जाता है[२] । उन्होंने जयपुर मे 'गलताश्रम' नामक विख्यात श्रीवैष्णव सस्थान की स्थापना की थी । उनकी स्मृति मे मथुरा के प्रयागघाट पर 'गलताकुज' नामक मठ का निर्माण स० १६४५ मे किया गया था । यह श्री सप्रदाय का एक प्रसिद्ध देवस्थान है ।

स्वामी कृष्णदास पयहारी के अनेक शिष्य थे, जिनमे २४ का नामोल्लेख नाभा जी ने किया है[3] । उन शिष्यो मे स्वामी कीलदास, स्वामी अग्रदास, नारायणदास, सूरजदास, कल्याणदास का मथुरामडल से घनिष्ठ सवध सिद्ध होता है ।

धार्मिक उपलब्धि

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व इस काल की धार्मिक उपलब्धि का उल्लेख करना अत्यत आवश्यक है । इस उपलब्धि की दो बाते विशेष रूप से उल्लेखनीय है,—१. ब्रज के धर्म-सप्रदायो मे राधा का महत्व और २ ब्रज मे कृष्ण-भक्तो का आगमन । इन दोनो बातो ने ब्रज के प्राय. सभी धर्म-सप्रदायो को बडा प्रभावित किया है ।

इतिहासज्ञो का कहना है कि धार्मिक क्षेत्र मे राधा का महत्व इतना पुराना नही है, जितना कि कृष्ण का है । इधर ब्रज के कृष्णोपासक धर्म-सप्रदायो मे राधा-कृष्ण का अन्योन्याश्रित सबंध माना गया है । ऐसी स्थिति मे राधा के धार्मिक महत्व की परपरा का अनुसधान करना और यहाँ के विविध सप्रदायो मे उसकी क्या स्थिति है, इस पर प्रकाश डालना आवश्यक समझा गया है ।

कृष्णोपासक धर्म-सप्रदायो की प्रतिष्ठा होने से श्री कृष्ण के जन्म और उनकी लीलाओ के पुनीत स्थल ब्रजमडल का महत्व बहुत बढ गया था । उसकी ओर विविध स्थानो के कृष्ण-भक्तो का इतना आकर्षण हुआ कि वे उस काल की यात्रा सबधी कठिनाइओ को सहन कर यहाँ पर निरतर आने लगे थे । उनमे से कुछ ने तो यहाँ की धार्मिक स्थिति को भी बडा प्रभावित किया था । ऐसे कतिपय कृष्ण-भक्तो का सक्षिप्त परिचय देना भी आवश्यक माना गया है । यहाँ पर इस काल की इन दोनो उपलब्धियो का सक्षिप्त कथन किया जाता है ।

---

(१) राम भक्ति में रसिक सप्रदाय, पृष्ठ ३२६

(२) राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृष्ठ १०६

(३) भक्तमाल, छप्पय स० ३६

१. ब्रज के धर्म-संप्रदायो मे राधा का महत्व

राधा के धार्मिक महत्व की पृष्ठभूमि—

उपक्रम—ब्रज के सभी धर्म-सप्रदायो मे राधा-तत्व को किसी न किसी रूप मे अवश्य मान्यता प्राप्त हुई है। जहाँ तक कृष्णोपासक सप्रदायो का सबध है, कृष्ण के साथ राधा का नाम ऐमी सुदृढ आस्था के साथ जुडा हुआ है कि एक के बिना दूसरे की कल्पना भी नही की जा सकती है। फिर भी ऐतिहासिक अनुसधान से सिद्ध होता है कि धार्मिक क्षेत्र मे राधा के महत्व की परपरा कृष्ण के समान प्राचीन नही है। कुछ विद्वान तो राधा के चरित्र को ऐतिहासिक सत्य न मान कर उसे प्रेमदेवी के रूप मे कल्पित एक मनोरम उपाख्यान समझते हैं। हमारे मतानुसार राधा के चरित्र की ऐतिहासिकता मे सदेह करना हठधर्मी है। राधा का अस्तित्व उतना ही सत्य है, जितना कृष्ण का। कृष्ण के आरभिक जीवन मे उनके साथ बाल-क्रीडा करने वाली अनेक ब्रज-बालाओ मे एक ऐसी परम सुदरी गोप-कन्या अवश्य थी, जो कृष्ण से सर्वाधिक स्नेह करती थी और कृष्ण भी उसके प्रति अत्यत अनुरक्त थे। यह दूसरी बात है कि उसका 'राधा' नाम आरभ से ही न होकर बाद मे प्रसिद्ध हुआ हो।

'राधा' नाम की व्युत्पत्ति—जब धर्मोपासना के क्षेत्र मे कृष्ण का महत्व विविध रूपो मे स्थापित हो गया, तब उनकी माधुर्य भक्ति के लिए राधा को भी धार्मिक मान्यता प्राप्त हुई थी। उस समय 'राधा' नाम की व्युत्पत्ति पर विचार किया गया और उसकी कई प्रकार से व्याख्या की गई। उक्त विचार-विमर्श एव व्याख्या के मुख्य निष्कर्ष इस प्रकार हैं,—

१ श्रीमद् भागवत के 'आराधित' शब्द से राधा नाम का सकेत मानने वालो का मत है कि कृष्ण की विशेष रूप से 'आराधना' करने के कारण ही उसका 'राधा' नाम पडा है।

२ ब्रह्मवैवर्त पुराण मे लिखा है, गोलोक धाम मे श्री कृष्ण के साथ रमण की इच्छा से 'धावन' करने के कारण ही उसका 'राधा' नाम प्रसिद्ध हुआ है।

३. राधिकोपनिषद् का उल्लेख है कि कृष्ण जिसकी 'आराधना' करते है, अथवा जो सदा कृष्ण की आराधना करती हे, उसे 'राधिका' कहा गया है।

राधा का उद्भव और विकास—राधा नाम की उपर्युक्त व्याख्या उस काल की है, जब कि धार्मिक क्षेत्र मे राधा के महत्व की पूरी तरह स्थापना हो गई थी। कहने की आवश्यकता नही है कि उक्त व्याख्या का राधा के उद्भव और विकास से कोई सबध नही है। अनुसधान से यह प्रमाणित हो गया है कि धार्मिक क्षेत्र मे राधा का प्रवेश होने से पहिले उसे साहित्य और पुराणादि मे अपनाया गया था। राधा के साहित्यिक और पुराणोक्त उल्लेख ही उसके उद्भव और विकास पर प्रकाश डालते है, और वही उसके धार्मिक महत्व की पृष्ठभूमि का भी निर्माण करते है। यहाँ पर उन्ही का कुछ सक्षिप्त विवेचन किया गया है।

साहित्य मे राधा—अब तक के अनुसधान से ज्ञात होता है कि राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओ का सर्वप्रथम उल्लेख लोक-साहित्य मे हुआ था। इसके प्रमाण के लिए प्राकृत भाषा की 'गाहा सत्तसई' का नाम लिया जाता है। प्रतिष्ठानपुर के राजा हाल सातवाहन ने अपने समय की शृंगार रसपूर्ण प्राकृत गाथाओ का सकलन 'गाहा सत्तसई' के नाम से कराया था। उक्त रचना के अत साक्ष्य से ज्ञात होता है कि राजा हाल विक्रम सवत् के आरभ मे विद्यमान था। इस प्रकार राधा के नामोल्लेख की परपरा कम से कम दो हजार वर्ष पुरानी अवश्य है।

'गाहा सत्तसई' का उल्लेख—प्राकृत भाषा के इस प्राचीन सकलन मे श्री कृष्ण की व्रज-लीलाओ से सबधित कई गाथाएँ है। उनमे से एक गाथा मे कह्नु (कृष्ण) का राहिआ (राधिका) के प्रति स्नेह-भावना का उल्लेख एक गोपी द्वारा इस प्रकार किया गया है,—"हे कृष्ण! तुम (अपने) मुख-मारुत द्वारा (मुँह की फूंक से) राधिका के (मुख पर लगे) गो-रज को हटाकर इन बल्लभियो तथा अन्य महिलाओ के गौरव का हरण कर रहे हो[1]।" रूप गोस्वामी कृत 'उज्ज्वल नीलमणि' मे 'गाहा सत्तसई' की एक और गाथा उद्धृत की गई है। उसमे भी राधा-कृष्ण की प्रेमलीला का कथन किया गया है[2]।

'पंचतंत्र' का उल्लेख—'गाहा सत्तसई' के उपरात 'पचतत्र' (रचना-काल प्राय ५वी शती) मे राधा-कृष्ण की प्रेमलीला का उल्लेख हुआ है। उक्त ग्रथ मे एक ततुवाय (बुनकर) के पुत्र की कथा है। उसमे बतलाया गया है कि वह अपने प्रेमावेश मे कृष्ण का स्वाग बना कर और लकडी के बने हुए गरुड पर सवार होकर अपनी प्रेयसी एक राजकन्या के समक्ष उपस्थित हुआ था। उसने अपनी प्रेमिका को राधा की उपमा देते हुए अपनी प्रेमाभिव्यक्ति की थी[3]।

उपर्युक्त लोक-रचनाएँ इस बात की द्योतक है कि राधा-कृष्ण की प्रेमलीला ५वी शती तक व्यापक रूप से जन साधारण मे प्रचलित थी। डा० मुशीराम शर्मा का कथन है,—'यह निश्चित है कि पचम शताब्दी तक राधा के स्वरूप की प्रतिष्ठा आर्य जाति मे हो चुकी थी, क्यो कि पाँचवी शताव्दी के पश्चात् जो सस्कृति साहित्य निर्मित हुआ, उसमे राधा का उल्लेख कई स्थानो पर है[4]।' इस प्रकार राधा-कृष्ण की प्राचीन प्रेम-कथा पहिले प्राकृत भाषा के लोक काव्य मे, और फिर सस्कृत भाषा के काव्य-नाटकादि मे उल्लिखित हुई थी।

अपभ्रंश की रचनाओं के उल्लेख—प्राकृत भाषा की परपरा का निर्वाह अपभ्रश भाषा की रचनाओ मे किया गया था। फलत हेमचद्र कृत व्याकरण मे सकलित अपभ्रश के दोहो और 'प्राकृत पैंगलम्' के कतिपय छदो मे राधा का उल्लेख मिलता है[5]। अपभ्रश भाषा की उपलब्ध कृतियो मे जैन धर्मावलबी कवियो की रचनाएँ अधिक है। अपभ्रश के जैन कवियो मे पुष्पदत (१०वी शती) का महत्वपूर्ण स्थान है। उसके 'महापुराण' मे राधा-कृष्ण की कथा जैन दृष्टिकोण से लिखी गई है। अपभ्रश की सभी रचनाएँ अभी तक प्रकाश मे नही आई है, किंतु फिर भी ऐसा अनुमान होता है कि उनमे राधा-कृष्ण की प्रेमलीला का पर्याप्त उल्लेख हुआ होगा। इसका कारण यह है कि अपभ्रश के कवियो ने तत्कालीन लोक-रुचि के अनुसार ही अपनी रचनाएँ की थी।

---

(१) मुह-मारुण तं कह्नु गोरअं, राहिआएँ अवणेन्तो।
एताणं बल्लवीण अण्णाणं, खं गोरअ हरसि॥

(२) लीलाहि तुलिअसेलो रक्खउ, वो राहिआ त्थनपर्फसे।
हरिणो पढम समागम सज्भस, वेवल्लिओ हत्थो॥

(३) सुभगे! सत्यमभिहितं भवत्या परं, किंतु राधा नाम मे भार्या गोपकुलप्रसूता प्रथम आसीत्।
(श्री राधा-माधव चिन्तन, पृष्ठ १६–१७)

(४) भारतीय साधना और सूर-साहित्य, पृष्ठ १७४

(५) भारतीय वाङ्मय में राधा, पृष्ठ २१९–२२४

संस्कृत के काव्य-नाटकादि के उल्लेख—८वी शताब्दी के कविवर भट्ट नारायण ने स्वरचित 'वेणी सहार' नाटक के मगलाचरण मे ही केलिकुपिता राधा से अनुनय-विनय करते हुए श्री कृष्ण की वदना की है। १०वी शती के काश्मीरी साहित्यशास्त्री आनदवर्धन द्वारा सपादित 'ध्वन्यालोक' मे किसी पूर्ववर्ती कवि के दो पुराने श्लोक उद्धृत किये गये हैं। उनमे राधा-कृष्ण की प्रेमलीला का सरस कथन हुआ है[1]।

१०वी शती की कई अन्य रचनाओ मे, जैसे नलचम्पू, शिशुपाल वध टीका, यशस्ति तिलक चम्पू, कवीन्द्र वचन समुच्चय मे भी राधा-कृष्ण की लीलाओ का उल्लेख मिलता है[2]। इनके उपरात धनजय के दशरूपक, भोज के सरस्वती कठाभरण, क्षेमेन्द्र के दशावतार चरित्र, श्रीधर दास द्वारा सकलित सदुक्ति कर्णामृत आदि अनेक रचनाओ मे राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओ का वर्णन हुआ है। १२वी शती के पश्चात् सस्कृत साहित्य मे राधा का उल्लेख और भी विस्तार से किया गया था।

'गीतगोविंद' और 'कृष्ण-कर्णामृत' के उल्लेख—१३वी शती के आरभिक काल मे सस्कृत भाषा के दो भक्त-कवि जयदेव और बिल्वमगल ने अपने सुप्रसिद्ध गीत-काव्य 'गीतगोविंद' और 'कृष्ण-कर्णामृत' मे राधा-कृष्ण की प्रेम लीलाओ का माधुर्य भक्तिपूर्ण गायन किया था। जयदेव गौड (बगाल) के राजा लक्ष्मणसेन के दरबारी कवि थे। इस प्रकार वे स० १२२५ के लगभग विद्यमान थे। प्राय वही काल बिल्वमगल का भी है। उन दोनो की रचनाओ से सिद्ध होता है कि १३वी शती तक राधा का महत्व धार्मिक क्षेत्र मे स्वीकृत हो चुका था। जयदेव और बिल्वमगल दोनो की रचनाएँ कृष्णोपासक भक्ति सप्रदायो मे धर्म-ग्र थो के रूप मे मान्य रही है।

जयदेव का इस दृष्टि से बडा महत्व है कि उन्होने साहित्य की राधा को धर्म के साथ जोड दिया था। उन्होने अपने काव्य-प्रेमियो से स्पष्टतया कहा है, यदि विलास कला के साथ हरि-स्मरण करने का मन हो, तभी उनकी कोमल-कात पदावली का श्रवण करना चाहिए,—

यदि हरिस्मरणे सरस मनो, यदि विलास कलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्त पदावली, शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्॥

इस प्रकार 'गीतगोविंद' काव्य कला को धर्मोपासना के साथ जोडने वाली एक सुदृढ कडी सिद्ध हुआ है।

पुराणादि में राधा—भारतीय वाङ्मय मे पुराणो का अत्यत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। महाभारत मे इन्हे इतिहास के साथ वेद का उपबृ हण अर्थात् वृद्धि एव व्याख्या करने वाला कहा गया है,—'इतिहास-पुराणाभ्या वेद समुपबृ हयेत्'। जहाँ भारतीय इतिहास-परपरा के आदिम ग्रथ के रूप मे 'महाभारत' का महत्व है, वहाँ पुराण-परपरा के रूप मे अनेक पुराणोपपुराणो का भी उल्लेखनीय स्थान है। इन पुराणो मे से कई ने राधा की महत्ता को धार्मिक क्षेत्र मे स्थापित करने की गौरवपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की है।

कृष्ण-चरित्र के आरंभिक ग्रथो में राधा का अभाव—महाभारत, हरिवश और विष्णु पुराण कृष्ण-चरित्र के आरभिक ग्रथ माने जाते हैं। किंतु इन तीनो ग्रथो मे कृष्ण की बाल-सगिनी राधा का उल्लेख नही है। महाभारत मे राधा का उल्लेख न होने का यह कारण हो सकता है कि इसमे कृष्ण की वे बाल-लीलाएँ नही है, जिनसे राधा का सबध है। उसमे तो कृष्ण के प्रौढ काल की उन

---

(१) श्री राधा-माधव चिंतन, पृष्ठ १७–१८
(२) श्री राधा का क्रम-विकास, पृष्ठ १२०–१२४

द्वारका-लीलाओ का ही कथन हुआ है, जिनमे राधा के नामोल्लेख की आवश्यकता भी नही थी। किंतु हरिवंश और विष्णु पुराण मे जहाँ कृष्ण की बाल-लीलाओ का विशद वर्णन किया गया है, वहाँ भी राधा का नामोल्लेख नही मिलता है। यह राधा के प्राचीन महत्व की एक बडी कमी रही है।

भागवत का अस्पष्ट उल्लेख—पुराणो मे श्रीमद् भागवत ही कृष्ण की व्रज-लीलाओ तथा गोप-गोपियो के साथ उनकी बाल-क्रीडाओ का सर्व प्रधान आकर ग्रथ है, किंतु उसमे भी राधा का स्पष्टतया उल्लेख नही है। एक स्थल पर 'आराधित.' शब्द आया है, जिसे विद्वानो ने राधा का द्योतक समझ लिया है[1]। एक अन्य स्थल पर 'राधसा' शब्द भी आया है,जिसका सामान्य अर्थ 'ऐश्वर्य' या 'विभूति' होता है, किंतु राधा की महत्ता के अत्यत आग्रही विद्वानो ने कष्ट कल्पना द्वारा उसे भी राधा से सबधित मान लिया है[2]। कल्पना की और भी ऊँची उडान करने वालो ने तो ऋग्वेद में भी राधा को ढूंढ निकाला है[3]। किंतु इस प्रकार के प्रयत्नो की सार्थकता सदैव सदिग्ध रहेगी।

व्रज के कृष्णोपासक धर्माचार्यो और भक्त महानुभावो ने, विशेषतया गौडीय गोस्वामियो ने, पुराणादि ग्र थो का मथन कर उनमे से राधा-तत्व का नवनीत प्राप्त करने मे अत्यत परिश्रम-साध्य सत्प्रयास किया था। उन्हे मत्स्य, पद्म और देवी भागवतादि कई पुराणो मे तो राधा सबधी उल्लेख मिल गये, किंतु श्रीमद् भागवत मे राधा का स्पष्ट कथन न मिलने से उन्हे अवश्य ही निराशा हुई होगी। किंतु आत्म सतोष के लिए उन्होने मान लिया कि भागवतकार ने जान-बूझ कर ही राधा के नाम को गुप्त रखा है,—उसका साकेतिक रूप मे उल्लेख करना ही उन्हे इष्ट था। सर्वश्री सनातन गोस्वामी, रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी, कृष्णदास कविराज, विश्वनाथ चक्रवर्ती आदि सभी गौडीय विद्वानो ने अपने-अपने ग्र थो मे विविध युक्तियो और तर्को से इसी प्रकार का समाधान प्रस्तुत किया है[4]।

---

(१) अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतोयाननयद्रहः॥ (१०–३०–२८)

(२) नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्वता, विदूर काष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्।
निरस्त साम्यातिशयेन राधसा, स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः॥ (२-४-१४)

उपर्युक्त श्लोक का साधारण अर्थ है,—'जो अत्यत भक्तवत्सल हैं, और हठपूर्वक भक्तिहीन साधन करने वाले लोग जिनकी छाया भी नही छू सकते, उन ब्रह्मस्वरूप और अपने धाम मे विहार करने वाले ऐश्वर्यशाली भगवान् श्री कृष्ण की मैं वदना करता हूँ।' किंतु 'कल्याण' (कृष्णाक पृष्ठ २७०) मे इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है,—'सात्वत भक्तो के पालक कुयोगियो के लिए दुर्जेय प्रभु को हम नमस्कार करते हैं। (वे भगवान्) स्वधाम (वृ दावन) मे समानता और आधिक्य को निरस्त करने वाली राधा के साथ क्रीडा करने वाले हैं।'

(३) स्तोत्रं राधानांपते गीर्वाहो वीर यस्यते। विभूतिरस्तु सूनृता॥ (ऋग्वेद, १–३०–३५)

उपर्युक्त सूक्त का अर्थ है,—'हे राधाओ के वीर पति! आपका स्तोत्र (यश) श्रुतियो–शास्त्रो द्वारा जानने योग्य है। आपकी विभूति सत्यरूपा हो!' यहाँ 'राधा' शब्द बहुवचन मे आया है, अतः उसे गोप-कुमारी राधा से सबधित मानना सर्वथा असगत है। किंतु मासिक 'मानव धर्म'(कृष्णाक, पृष्ठ १४) मे राधा शब्द के बहुवचनात्मक प्रयोग का भी कष्टकल्पना द्वारा ही स्पष्टीकरण किया गया है।

(४) भारतीय वाङ्मय मे श्री राधा, पृष्ठ ११–१४

उनके अनेक तर्को मे से एक यह है कि जब लोक व्यवहार मे भी इष्ट धन को छिपा कर रखा जाता है, तब साधना के क्षेत्र मे राधा जैसे परम धन को गुप्त रख कर ही सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। उदाहरणार्थ कुम्हार अपने अवाँ मे कच्चे वर्तनो को पकाने के लिए उन्हें मिट्टी के घने लेप से छिपा देता है। यदि कही से लेप हट जाता है, तो वहाँ के वर्तनो के प्रकट हो जाने से वे पक नहीं पाते हैं[1]। इसी प्रकार माधुर्य भक्ति की परिपक्वता के लिए भागवत मे भी भक्तो के परम धन राधा-नाम को छिपा कर रखा गया है। परम रसिक श्री हरिराम व्यास ने भी इसी प्रकार की उक्ति प्रस्तुत की है[2]।

पूर्वोक्त समाधान से भावुक भक्तो को चाहे सतोष हो जाय, किंतु आजकल के तर्कशील पाठक का सतुष्ट होना कठिन है। वे तो यही कहेगे कि कृष्ण से अत्यत प्रेम करने वाली अथवा उनकी विशेष रूप से आराधना करने वाली एक गोप-कन्या से भागवतकार अवश्य परिचित थे; किंतु उसके राधा नाम का उन्हे कदापि परिचय नही था। उस कृष्णाराधिका को 'राधिका' अथवा 'राधा' नाम से लिखने की परपरा भागवत के रचना-काल के पश्चात् ही प्रचलित हुई है।

मत्स्य और पद्म पुराणो के उल्लेख—मत्स्य पुराण शिव की महिमा सूचक एक मध्यम आकार की रचना है, किंतु पद्म पुराण ब्रह्मा और विष्णु की महत्ता का अत्यत विशालकाय ग्रथ है। दोनो का रचना-काल सातवी शती के लगभग माना जाता है। राधा-तत्व के आरंभिक शोधक गौडीय गोस्वामियो ने इन दोनो पुराणो मे से राधा सबधी बहुत थोडे से श्लोको को ही उद्धृत किया है। उनके काल मे उन पुराणो मे राधा विषयक उतने ही श्लोक रहे होगे। इस समय पद्म पुराण का जो सस्करण उपलब्ध है, उसमे राधा सबधी पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं, जिन्हे अनेक विद्वानो ने प्रक्षिप्त और बाद मे बढाया हुआ माना है[3]। इन पुराण का मूल भाग ७वीं शती के आस-पास का माना जाता है, किंतु फर्कुहर के मतानुसार इसका अधिकाश भाग सोलहवी शती के बाद का रचा हुआ है[4]।

पद्म पुराण के 'पातालखड' मे वृदावन का माहात्म्य और राधा-कृष्ण के युगल ध्यान का वर्णन है। इसके 'उत्तरखड' मे राधाष्टमी के व्रत का उल्लेख करते हुए राधा-पूजन के महत्व को विस्तार से बतलाया गया है। इसके इन उल्लेखो से स्पष्ट होता है कि वे उस काल के हैं, जब राधा की महत्ता पूरी तरह स्थापित हो गई थी।

अन्य पुराणो के उल्लेख—मत्स्य और पद्म के अतिरिक्त जिन अन्य पुराणो मे राधा सबंधी उल्लेख मिलते हैं, उनमे वायु, वराह, स्कद, भविष्य और नारद नामक पुराण उल्लेखनीय हैं। किंतु उक्त उल्लेखो के सबध मे यह निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता कि वे उसी काल के है, जब कि

---

(१) गोपनादिष्टसम्पत्तिः सर्वथा परिसिध्यति।
कुलालपुर के पात्रमन्तर्वाष्पतया तथा॥ (श्री भागवतामृत)

(२) परम धन श्री राधा-नाम आधार।
श्री शुकदेव प्रगट नहिं भाख्यौ, जान सार कौ सार॥ (व्यास वाणी)

(३) १ श्री राधा का क्रम-विकास, पृष्ठ १०६-११३
२. राधावल्लभ संप्रदाय. सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ १९१
३. भारतीय वाङ्मय मे श्री राधा, पृष्ठ १६

(४) एन आउट लाइन आफ दि रिलीजस लिटरेचर आफ इंडिया, पृष्ठ २३२

इन पुराणो की रचना हुई थी, अथवा उन्हे बाद मे बढाया गया है । स्कद पुराण मे कहा गया है, राधिका जी कृष्ण की आत्मा हैं, जिनके साथ सदैव रमण करने से वे 'आत्माराम' कहलाते है,— 'आत्मा तु राधिका तस्य तथैव रमणादसौ । आत्माराम इति प्रोक्तो मुनिभिर्गूढ वेदिभि ।।' इस प्रकार के जो उल्लेख इन पुराणो मे मिलते है, उन्हे अनेक विद्वान प्रक्षिप्त मानते है । जिन पुराणो का ऊपर नामोल्लेख किया गया है, उनमे विष्णु की अपेक्षा शिव की महत्ता के पुराण अधिक है । उनके साथ ही उस काल के जैन पुराणो मे भी कृष्ण के साथ राधा का उल्लेख हुआ है, किंतु उनका दृष्टिकोण दूसरा है ।

ब्रह्मवैवर्त का उल्लेख—राधा की महत्ता और उसकी लीलाओ का सर्वाधिक वर्णन जिस पुराण मे हुआ है, वह ब्रह्मवैवर्त है । बल्कि यह कहना उचित होगा कि इस अकेले पुराण मे ही राधा सबधी जितनी सामग्री है, उतनी सस्कृत के समस्त प्राचीन वाड्मय मे एकत्र रूप मे भी नही है । इसीलिए इसे 'राधा पुराण' भी कहा जा सकता है, किंतु इसके वर्तमान रूप की प्रामाणिकता सदिग्ध है । मत्स्य और नारद पुराणो मे ब्रह्मवैवर्त का जो आकार-प्रकार बतलाया गया है, उससे इसके प्रस्तुत रूप की सगति नही मिलती है । इसकी पुष्टि गौडीय गोस्वामियो के ग्र थो से होती है, जिनमे ब्रह्मवैवर्त के राधा सबधी उद्धरण नही लिये गये है । यदि गोस्वामियो के काल (१६वी शती) मे यह पुराण आजकल के से रूप मे ही उपलब्ध होता, तो वे निश्चय ही इसके राधा सबधी उल्लेखो को अपने ग्र थो मे उद्धृत करते । इससे सिद्ध होता है, ब्रह्मवैवर्त का वर्तमान रूप गौडीय गोस्वामियो के बाद का है ।

कुछ विद्वानो का कथन है, ब्रह्मवैवर्त का आरभिक भाग तो पुराना है; किंतु अत का समस्त कृष्ण–जन्मखड प्रक्षिप्त है, जो १६वी शती के बाद उसमे सम्मिलित किया गया है । श्री ग्राउस का मत है, स्वय रूप–सनातन गोस्वामी-बधुओ ने ही इस पुराण की रचना की थी[1], किंतु यह भ्रमात्मक कथन है । वास्तविक बात यह मालूम होती है कि धार्मिक क्षेत्र मे राधा की महत्ता के प्रबल आग्रही किसी दाक्षिणात्य अथवा गौडीय विद्वान ने १६वी शताब्दी के पश्चात् ब्रह्मवैवर्त की प्राचीन प्रति मे पर्याप्त प्रक्षेप कर उसे वर्तमान रूप दिया था ।

इस पुराण मे समस्त लोको के शिरोमणि गोलोक का, और उसके अतर्गत दिव्य वृ दावन एव उसके रासमडल का बडा ही भव्य वर्णन किया गया है । उक्त दिव्य वृ दावन मे श्री राधा जी अपनी असख्य गोपियो सहित निवास करती है और श्री कृष्ण के साथ नित्य रास मे तल्लीन रहती है । इसमे राधा जी की अनेक दिव्य लीलाओ के मनोरम कथन के साथ उनके विविध नामो का भी उल्लेख किया गया है । उनमे से मुख्य सोलह नाम इस प्रकार हैं,—'राधा, रासेश्वरी, रासवासिनी, रसिकेश्वरी, कृष्ण प्राणाधिका, कृष्णप्रिया, कृष्णस्वरूपिणी, कृष्णवामागसभूता, परमानदरूपिणी, कृष्णा, वृ दावनी, वृ दा, वृ दावनविनोदिनी, चद्रावली, चद्रकाता और शतचद्रनिभानना[2] ।'

ब्रह्मवैवर्त के कई श्लोको और जयदेव कृत 'गीतगोविंद' के पदो मे बडा साम्य है । इस पुराण के 'श्रीकृष्ण-जन्म खड' अध्याय १५ के आरंभिक ७ श्लोकों मे राधा-कृष्ण के मिलन की जो अलौकिक कथा है, उसी के जैसा भाव 'गीतगोविंद' के मगलाचरण वाची पद मे भी मिलता है ।

---

(१) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमॉयर (तृतीय सस्करण), पृष्ठ ७५

(२) राधावल्लभ संप्रदाय, पृष्ठ १६१

'गीतगोविंद' का वह पद इस प्रकार है,—

मेघैर्मेदुरम्बर वनभुव, श्यामास्तमालद्रुमै र्नक्त भीरुरय त्वमेव तदिम राधे गृह प्रापय।
इत्थ नन्दनिदेश तश्चलितयो प्रत्यध्व कुञ्जद्रुम। राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रह केलय [१]॥

अभी तक यह निश्चय नही किया जा सका है कि गीतगोविंद का उक्त कथन ब्रह्मवैवर्त की कथा के आधार पर किया गया है, अथवा गीतगोविंद के आधार पर ही ब्रह्मवैवर्त मे वह कथा सम्मिलित की गई है। डा० मुशीराम शर्मा का मत है कि ब्रह्मवैवर्त के आधार पर जयदेव ने और फिर बगाल, विहार और ब्रज के भक्त-कवियो ने राधा-केलि का कथन कर उसे धार्मिक मान्यता से समन्वित किया है[२]। यदि इस मत को माना जाता है, तो ब्रह्मवैवर्त के इस अश की रचना गौडीय गोस्वामियो से बहुत पहिले की सिद्ध होती है, जिसे स्वीकार करना सभव नही है।

देवी भागवत का उल्लेख—शाक्त धर्मावलवी इस पुराण को श्रीमद् भागवत के स्थान पर मुख्य १८ पुराणो मे मानते है, जब कि वैष्णव धर्मावलबी इसकी गणना उप पुराणो मे करते हैं। इसमे राधा का उल्लेख शाक्त धर्मोक्त शक्ति तत्व के रूप मे हुआ है। इसके खड ९, अध्याय ५० मे लिखा गया है,—'मूल प्रकृतिरूपिणी चिन्मयी भुवनेश्वरी से प्राण और बुद्धि की अधिष्ठात्री दो देवियाँ प्रकट हुई। उनमे से प्राण की अधिष्ठात्री देवी का नाम 'राधा' और बुद्धि की देवी का नाम 'दुर्गा' था। राधा की आराधना का षडक्षरी मत्र 'श्री राधायै स्वाहा' है, जो सर्वप्रथम श्री कृष्ण को रासमडल मे प्राप्त हुआ था। राधा की पूजा किये विना किसी को कृष्ण की पूजा करने का अधिकार नही है। कृष्ण क्षण भर को भी राधा के बिना नही रह सकते[३]।'

पुराणेतर ग्रथो के उल्लेख—जिन पुराणेतर ग्रथो मे राधा का उल्लेख मिलता है, उनमे ब्रह्मसहिता, गर्गसहिता, विविध तान्त्रिक ग्रथ, तथा राधिकोपनिषद्, गोपालोत्तरतापनी उपनिषद् और राधिकातापनी उपनिषद् उल्लेखनीय है। इनमे से 'ब्रह्मसहिता' १६वी शती से पहिले की रचना है, किंतु उसका प्रचार दक्षिण भारत मे ही था। जब चैतन्यदेव अपनी दक्षिण–यात्रा के लिए गये थे, तब उन्होने वहाँ पर इसकी प्रतिलिपि कराई थी। उसके बाद ही उत्तर भारत मे इस ग्रथ का प्रचार हुआ था[४]। 'गर्ग सहिता' एक बडा ग्र थ है, जिसमे कृष्ण के साथ राधा का भी विशद वर्णन हुआ है। इस पर ब्रह्मवैवर्त का पर्याप्त प्रभाव है, और यह १६वी शती के पश्चात् की रचना है। तान्त्रिक ग्र थो मे 'राधा तत्र' प्रमुख है। इसके अतिरिक्त रुद्रयामल तन्त्र, गौतमीय तत्र आदि हैं, जो सभी अर्वाचीन रचनाएँ है। इनमे राधा की महिमा तान्त्रिक दृष्टिकोण से वर्णित है।

---

(१) **इस पद का सरस पद्यानुवाद भक्त-कवि रामराय जी ने इस प्रकार किया है,—**
घन घिरि आयौ वन, सघन तिमिर छायौ, रैनि मे डरेगे देखि, लेखि यो दृगन ते।
नद यो कहत वृषभानु-नदिनी सो, नद-नदनहिं घरै जाहु लैकै वेगि वन ते॥
सखी के वचन पाइ, प्रेम के रचन भरे, चले तरु तीर छाँह जमुना पुलिन ते।
'रामराय' मारग रहसि रस-केलि भरे, ऐसे राधा-माधौ बाधा हरै मेरे मन तें॥

(२) **भारतीय साधना और सूर साहित्य**, पृष्ठ १७५

(३) **राधावल्लभ संप्रदाय**, पृष्ठ १९१

(४) **चैतन्य मत और ब्रज साहित्य**, पृष्ठ ७

राधा और कृष्ण के नाम से जो अनेक उपनिषद् रचे गये है, उनमे से कोई भी १६वी शती से पहिले का नही है, कुछ तो और भी बाद के हैं। इनमे राधा के महत्व की दृष्टि ने 'राधिकोपनिषद्' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसका साराश इस प्रकार है,—

'सनकादि महर्षियो के पूछे जाने पर श्री ब्रह्मा जी ने कहा कि भगवान् श्रीकृष्ण ही परम देव हैं। ये छैओ ऐश्वर्यो से पूर्ण, गोप-गोपियो से सेव्य, श्री वृंदावन देवी से आराधित और श्री वृंदावन के अधीश्वर हैं। यही एक मात्र सर्वेश्वर हैं। इन्ही श्री हरि के एक स्वरूप नारायण भी हैं, जो कि अखिल ब्रह्माडो के अधीश्वर है। ये श्रीकृष्ण प्रकृति से भी पुरातन और नित्य है। इनकी आह्लादिनी, सधिनी, ज्ञान, इच्छा और क्रिया आदि बहुत सी शक्तियाँ हैं। उनमे आह्लादिनी सर्वप्रधान है। यही परम अतरगभूता श्री राधा है। कृष्ण इनकी आराधना करते है, अथवा ये सर्वदा कृष्ण की आराधना करती है, इसलिए ये राधा कहलाती है। इन श्री राधिका के शरीर से ही गोपियाँ उत्पन्न हुई है। ये राधा और श्री कृष्ण रस-सागर श्री विष्णु के एक शरीर से ही क्रीडा के लिए दो हो गये है। इन राधिका जी की अवज्ञा करके जो श्री कृष्ण की आराधना करना चाहता है, वह महामूर्ख है[1]।' डा० विजयेन्द्र स्नातक के मतानुसार यह एक अर्वाचीन उपनिषद् है, जिसकी रचना १७वी शती से पहिले की नही हो सकती[2]। हम भी इससे सहमत है।

राधा के धार्मिक महत्व का विकास—

'गीतगोविंद' और 'ब्रह्मवैवर्त' का योग—पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि जिन साहित्यिक और पौराणिक रचनाओ ने राधा के धार्मिक महत्व की पृष्ठभूमि का निर्माण किया है, उनमे 'गीतगोविंद' और 'ब्रह्मवैवर्त' का सर्वाधिक योग है। इनके राधा सवधी कथन की समान भावना का उल्लेख पहिले किया जा चुका है। उसके कारण ये विवाद के प्रश्न वन गये है कि इन दोनो ग्रथो मे से किसकी रचना पहिले हुई और किसकी वाद मे, फिर दोनो मे से किसके कथन का किस पर प्रभाव पडा है? इन प्रश्नो का यथार्थ उत्तर देना बडा कठिन है। अनेक विद्वानो ने इनके सवध मे अपने-अपने विचार व्यक्त किये है, किंतु उनमे से किसका मत प्रामाणिक है और किसका अप्रामाणिक, यह निश्चय पूर्वक वतलाना सभव नही है।

डा० मुशीराम शर्मा ने भक्ति सप्रदायो मे राधावाद की स्थापना का श्रेय 'ब्रह्मवैवर्त' को दिया है। उनके मतानुसार जयदेव ने इसी के आधार पर अपने 'गीतगोविंद' मे राधा के महत्व का कथन किया है। उनका कहना है,—"ब्रह्मवैवर्त पुराणकार ने राधा की स्थापना उसके समग्र रूप मे कर दी है। इस पुराण ने भक्ति के स्वरूप को ही वदल दिया। राधा—चरित्र की पूर्ण प्रतिष्ठा का श्रेय भी इसी पुराण को देना पडेगा। वगीय वैष्णव धर्म को इसने माधुर्य प्रधान वना दिया और समस्त वंगाल कृष्ण की केलि—कल्लोलो मे अवगाहन करने लगा। जयदेव ने इसी नूतन वैष्णव धर्म का अवलम्बन करके 'गीतगोविंद' की रचना की[3]।" डा० शर्मा ने 'ब्रह्मवैवर्त' के रचना-कार के सवध मे अनुमान करते हुए कहा है कि यह पुराण 'अपने वर्तमान रूप मे किसी वगाली पडित का

---

(१) सूर और उनका साहित्य (सशोधित द्वितीय सस्करण), पृष्ठ १७६—१७७

(२) राधावल्लभ संप्रदाय, पृष्ठ १९२

(३) भारतीय साधना और सूर-साहित्य, पृष्ठ १७५

रचा हुआ जान पडता है । इसका प्राचीन रूप उपलब्ध नही है[1] ।' बगाली पडितो के शिरोमणि सर्वश्री सनातन-रूप गोस्वामी-बधु इसके रचयिता नही हैं, यह हम पहिले ही बतला चुके हैं ।

रसिकराज जयदेव ने चाहे ब्रह्मवैवर्त से प्रभावित होकर ही 'गीतगोविंद' की रचना की हो, फिर भी राधा-कृष्ण की सरस वृ दावन-लीलाओ के सर्वप्रथम गायक होने का श्रेय सदा से उन्ही को दिया जाता रहा है । सर्वश्री सनातन-रूप गोस्वामियो के समकालीन वृ दावन के अनेक भक्त-कवियो ने उनके इस महत्व को स्वीकार किया है[2] ।

जयदेव के समकालीन भक्त-कवि विल्वमगल और उनकी सरस रचना 'कृष्ण-कर्णामृत' का उल्लेख पहिले किया जा चुका है । रसिकाचार्य जयदेव का जन्म बगाल मे और लीलाशुक विल्वमगल का दक्षिण मे हुआ था । इससे सिद्ध होता है कि राधा का साहित्य मे धर्म मे प्रविष्ट होना किसी विशेष प्रदेश अथवा विशिष्ट घटना का प्रभाव नही है, वरन् कृष्ण-भक्ति की देशव्यापी धारा के परिवर्तित नवीन रूप मे विकसित होने का ही परिणाम है । यद्यपि विल्वमगल और जयदेव की रचनाएँ प्राय एक ही काल की हैं, तथापि राधावाद की जो मदाकिनी साहित्यिक क्षेत्र मे प्रवाहित हो रही थी, उसे धार्मिक क्षेत्र मे मोड देने का श्रेय 'कृष्ण-कर्णामृत' की अपेक्षा 'गीतगोविंद' को अधिक है । 'कृष्ण-कर्णामृत' का प्रचार दक्षिण भारत तक ही सीमित था । जब चैतन्य देव ने अपनी दक्षिण–यात्रा की थी, तब 'ब्रह्म सहिता' की भाँति 'कृष्ण-कर्णामृत' की भी उन्होने प्रतिलिपि कराई थी । उसके बाद ही उसका उत्तर भारत मे अधिक प्रकार हो सका था[3] ।

यह बडे आश्चर्य की बात है कि धार्मिक क्षेत्र मे राधावाद को बलपूर्वक मोड देने वाले जयदेव और विल्वमगल दोनो ही राधा-कृष्णोपासक किसी वैष्णव धर्म-सप्रदाय से सबधित नही थे ! ऐसा अनुमान होता है, जयदेव जी शैव अथवा शाक्त थे, यद्यपि कई वैष्णव सप्रदाय उन्हे अपनी परपरा

---

(१) भारतीय साधना और सूर-साहित्य, पृष्ठ १७५

(२) १ 'गीतगोविंद' का सरस पद्यानुवाद करने वाले रामराय जी (स० १५६०–सं० १६३०) ने जयदेव जी के सबध मे कहा है,—

रसिकवर श्री जयदेव उदार ।
होते जो न मही मे, तौ को गातौ कुज-विहार ।।
महारस-सागर पूरन चद ।
कोमल ललित पदावलि विलसित, उदयौ 'गीतगोविंद' ।।
जुगल रस कौ यह प्रथम प्रकास ।
ता पाछे सब कोऊ बरन्यौ, लै लघु-गुरु आभास ।।

२. भक्तवर हरिराम व्यास जी (सं० १५६७–सं० १६६९) ने कहा है,—

श्री जयदेव से रसिक न कोऊ, जिन लीला–रस गायौ ।
जाकी जुगति अखडित मडित, सब ही के मन भायौ ।।
विविध विलास कला कवि मडन, जीवन भागनि आयौ ।
वृ दाबन कौ रसमय वैभव, पहिलै सबनि सुनायौ ।
ता पाछै औरनि कछु पायौ, सो रस सबनि चखायौ ।।

(३) चैतन्य मत और ब्रज साहित्य, पृष्ठ ७

मे मानते है[1] । विल्वमगल जी ने तो स्पष्ट रूप से अपने को पचाक्षरी का जप करने वाला शैव घोषित किया है, यद्यपि वे गोपी-किशोर कृष्ण का भी स्मरण करते है[2]। जयदेव जी से प्रेरणा प्राप्त कर मालाधर वसु, चडीदास और यशोराज खाँ ने प्राचीन बगला भाषा मे, तथा विद्यापति ने मैथिली-हिंदी मे राधा-कृष्ण की सरस लीलाओ का गायन किया है; किंतु वे सभी अवैष्णव थे । चडीदास शाक्त अथवा सहजिया और विद्यापति शैव कहे जाते है; किंतु उनकी रचनाओ ने वैष्णव धर्मावलबी राधा-कृष्णोपासक भक्तो तथा कवियो को प्रेरणा प्रदान की है । चैतन्य महाप्रभु ने स्वय जयदेव, चडीदास और विद्यापति की रचनाओ से प्रेरणा प्राप्त कर राधा-कृष्ण की भक्ति का व्यापक प्रचार किया था ।

जयदेव कृत 'गीतगोविंद' अपनी सरस रचना-शैली के कारण १३वी शताब्दी से ही उत्तर भारत के विस्तृत क्षेत्र मे और सभवत. दक्षिण मे भी बराबर प्रचलित रहा है । उसने विविध क्षेत्रीय भाषाओ मे रची हुई राधा-कृष्ण की प्रेमलीलाओ को प्रभावित कर उनके द्वारा राधावाद के व्यापक प्रचार मे महत्वपूर्ण योग दिया है । उसके साथ ही ब्रह्मवैवर्त की धार्मिक महत्ता के योग ने उसके प्रभाव को और भी बढा दिया था ।

निबार्क संप्रदाय की देन—ब्रज के कृष्णोपासक धर्म-सप्रदायो मे कृष्ण के साथ राधा की भी उपासना करने का आरभिक श्रेय निंबार्क सप्रदाय को दिया जाता है । इस सप्रदाय के ऐतिहासिक प्रवर्त्तक श्री निंबार्काचार्य जी ने राधा-कृष्ण के युगल स्वरूप की उपासना का प्रचार किया था । उनकी 'दश श्लोकी' रचना के सुप्रसिद्ध स्तोत्र मे राधा जी के महत्तम रूप का जिस प्रकार गुण-गान किया गया है, उसका उल्लेख गत पृष्ठो मे किया जा चुका है । उसके अतिरिक्त श्री निंबार्काचार्य जी के एक 'राधाष्टक स्तोत्र' की भी प्रसिद्धि है, जिसकी आरभिक पक्तियाँ इस प्रकार है,—

नमस्तै श्रियै राधिकायै परायै । नमस्ते नवस्ते मुकुन्द प्रियायै ॥

धर्म के साथ दर्शन, उपासना और साहित्य के क्षेत्रो मे राधावाद के विकास-क्रम की विवेचना करने मे डा० शशिभूषण दासगुप्त ने अत्यत विद्वत्तापूर्ण सत्प्रयास किया है । उनके शोध का निष्कर्ष है कि राधातत्व के मूल मे प्राचीन शक्तितत्व निहित है । 'क्या विचार और क्या भाषा सभी दृष्टियों से शैव-शाक्त तन्त्रोक्त शक्तिवाद और वैष्णव शास्त्रोक्त शक्तिवाद मे कोई खास पार्थक्य करना सभव नही मालूम होता है[3] ।' दासगुप्त महाशय का यह कथन बगाल के विषय मे ठीक सकता है, जहाँ के वैष्णव धर्म और राधातत्व पर शाक्त धर्म और शक्तितत्व का प्रचुर प्रभाव पडा है । किंतु बगाल से अन्यत्र दक्षिण और फिर ब्रजमडल के सबध मे उनका कथन पूर्णतया ठीक नही है ।

---

(१) ब्रह्मचारी बिहारीशरण ने श्री जयदेव जी को निंबार्क सप्रदाय का अनुयायी बतलाते हुए 'निंबार्क माधुरी' मे सर्वप्रथम उन्ही का नामोल्लेख किया है, किंतु वे जयदेव जी के निंबार्की होने का कोई पक्का प्रमाण नही दे सके हैं । वृ दाबन निवासी श्री यमुनावल्लभ जी के पूर्वजो की परपरा चैतन्य सप्रदाय से सबधित रही है । वे श्री जयदेव जी को अपना पूर्वज मानते है, किंतु उनके धर्म-सप्रदाय के सबध मे उनके पास भी कोई विश्वसनीय प्रमाण नही है ।

(२) शैवावयं न खलु विचारणीयं, पंचाक्षरीजपपरा नितरां तथापि ।
चेतो मदीयमतसी कुसुमावभासं, स्मेराननं स्मरति गोपवधू किशोरम् ॥
—कृष्ण-कर्णामृत, २–२४

(३) श्री राधा का क्रम-विकास, पृष्ठ ८०

बगाल मे राधातत्व के विकसित होने से पहिले ही दक्षिण भारत मे लक्ष्मीतत्व से राधातत्व का विकास हो चुका था, जो वहाँ के आलवार भक्तो की रचनाओं मे लक्षित होता है। वही राधातत्व पहिले निंबार्काचार्य के सप्रदाय मे गृहीत हुआ, और फिर कृष्णोपासना के अन्य सप्रदायो मे अपनाया गया था। इन सप्रदायो पर शाक्त धर्म का प्रभाव नही कहा जा सकता। इसका एक बडा प्रमाण यह है कि उक्त धर्म से प्रभावित बगाल के राधातत्व पर परकीयावाद की छाप है, जब कि निंबार्काचार्य के सप्रदाय मे और उसके साथ ही साथ ब्रजमडल के अन्य धर्माचार्य सर्वश्री वल्लभ, हरिवंश और हरिदास के सप्रदायो मे राधा जी को स्वकीया माना गया है। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि शाक्त धर्म की ऐसी ही मान्यताओं के कारण उसके प्रति इन सप्रदायो की सदैव बड़ी अरुचि रही है।

श्री निंबार्काचार्य के प्रधान शिष्यो मे श्रीनिवासाचार्य जी के पश्चात् औदुम्बराचार्य जी का नामोल्लेख मिलता है। उनके नाम से प्रसिद्ध 'औदुम्बर सहिता' मे राधा-कृष्ण के युगल तत्व का भावपूर्ण कथन किया गया है[1]। तदनुसार 'राधा-कृष्ण का यह युग्म सदा-सर्वदा विद्यमान रहता है। यह नित्यवृंदावन मे नित्यविहार करता है। यह जोडी सच्चिदानद रूप है और सामान्यता अगम्य होने से विरले ही सुजन इस तत्व को जानते हैं। राधा और मुकुद दोनो समभावेन अवस्थित रहते हैं। वे सरिता की दो लहरो की भाँति अलग-अलग दीखने पर भी वास्तव मे एक हैं।'

निंबार्क सप्रदाय की गुरु-परपरा के ३४वे आचार्य श्रीभट्ट जी इस सप्रदाय के प्रथम वाणीकार थे[2]। उनकी सरस ब्रजभाषा रचना 'जुगल शतक' मे श्री राधा-कृष्ण के नित्यविहार के साथ उनकी समान स्थिति का भी तात्विक विवेचन किया गया है। श्रीभट्ट जी का कथन है, जिस प्रकार दर्पण मे मुख और नेत्रो मे नेत्र प्रतिबिंबित होते हैं, उसी प्रकार प्रिया-प्रिय श्री राधा-कृष्ण भी एक दूसरे से कभी अलग नही होते[4]। श्रीभट्ट जी के यशस्वी शिष्य हरिव्यास देव जी कृत 'महावानी' मे राधा-कृष्ण के युगल विहार का अत्यत मनोरम और भव्य वर्णन किया गया है। इसमे निंबार्क सप्रदाय की भावना के अनुसार राधा-कृष्ण की अभिन्नता के द्योतक अनेक सरस पद भी मिलते हैं[5]।

---

(१) जयति सततमाद्य राधिकाकृष्णयुग्मं। व्रतसुकृतनिदान यत् सदैतिह्यमूलम् ॥
विरलसुजनगम्यं सच्चिदानन्दरूप। व्रजवलयविहारं नित्यवृंदावनस्थम् ॥
कल्लौलकौ वस्तुत एकरूपकौ। राधामुकुन्दौ समभावभावितौ ॥

(२) भारतीय वाङ्मय मे श्री राधा, पृष्ठ ७३

(३) श्री आचार्य-परपरा परिचय, पृष्ठ १५

(४) दर्पन मे प्रतिबिंब ज्यो, नैन जु नैननि माँहि।
यो प्यारी-पिय पलक हू, न्यारे नहिं दरसाहिं ॥

(५) १. कृष्ण रूप श्री राधिका, राधा रूप श्री स्याम।
दरसन को ए दोय हैं, हैं एकहि सुख-धाम ॥

२ सदा-सर्वदा जुगल-इक, एक-जुगल तन धाम।
आनंद अरु आह्लाद मिलि, विलसत हैं द्वै नाम ॥
एक स्वरूप सदा द्वै नाम।
आनंद के आह्लादिनि स्यामा, आह्लादिनि के आनंद स्याम ॥
सदा-सर्वदा जुगल-एक तन, एक-जुगल तन विलसत धाम ॥
'श्री हरिप्रिया' निरंतर नितप्रति, कामरूप अद्भुत अभिराम ॥

मध्वाचार्य और चैतन्य जी के संप्रदायों की देन—माध्व सप्रदाय के उपास्य लक्ष्मी-नारायण है। इस सप्रदाय की मान्यता के अनुसार 'नारायण' ब्रह्म रूप है, और 'लक्ष्मी' उनकी 'अघटित-घटन-पटीयसी' अचिन्त्य शक्ति है। इस प्रकार इस सप्रदाय मे 'लक्ष्मी-तत्व' की मान्यता है, और 'राधा-तत्व' को मूलत. इसमे स्थान नही मिला है। श्री मध्वाचार्य जी की शिष्य-परपरा मे श्री माधवेन्द्र पुरी नामक प्रकाड विद्वान और परमभक्त सन्यासी हुए है। उन्हे माध्व सप्रदाय के अतर्गत 'राधा-तत्व' के प्रवर्त्तक माना जाता है। उनके पश्चात् ही इस सप्रदाय मे 'राधा-भाव' को मान्यता प्राप्त हुई थी।

श्री माधवेन्द्र पुरी के शिष्य श्री ईश्वर पुरी हुए, और उनके शिष्य श्री चैतन्य महाप्रभु थे। जयदेव जी कृत 'गीतगोविंद' के प्रचार से बगाल–उडीसा के शक्तिवाद से प्रभावित प्रदेशो मे 'राधा-वाद' का जो अकुर जमा था, उसे सर्वश्री माधवेन्द्र पुरी और ईश्वर पुरी ने सीच कर पल्लवित किया। वाद मे 'राधावाद' का वही पौधा श्री चैतन्य देव के काल मे लहलहाता हुआ वृक्ष बन गया था। श्री चैतन्य जी 'राधावाद' के प्रमुख प्रचारक होने के साथ ही साथ स्वय भी राधा-भाव के मूर्तिमान स्वरूप थे। चैतन्य सप्रदाय मे उन्हे राधा-कृष्ण का सम्मिलित अवतार माना जाता है[1]।

चैतन्य देव के अतरग पार्षद स्वरूप दामोदर के 'कडचा' मे चैतन्य जी के अवतार का उद्देश्य वतलाते हुए कहा गया है,—'जिस प्रेम द्वारा मेरी अद्भुत मधुरिमा का राधा आस्वादन करती है, वह प्रणय-महिमा कैसी है, और राधा के प्रणय द्वारा आस्वादित मेरी वह मधुरिमा कैसी है, तथा इसके अनुभव मे राधा को जो सुख होता है, वह कैसा है, इसी लोभ से शची माता के गर्भ रूपी सिंधु से चैतन्य रूपी चद्रमा ने राधा-भाव से जन्म लिया है[2]। कृष्णदास कविराज का कथन हे,—'राधा और कृष्ण स्वरूपत. एक आत्मा है। वे लीला रस के आस्वादन के लिए दो देह धारण कर एक-दूसरे के साथ विलास करते है। वे दोनो सम्मिलित रूप मे रस के आस्वादन के लिए ही अव श्री चैतन्य गोस्वामी के रूप मे अवतीर्ण हुए है[3]।'

श्री चैतन्य देव मे राधा-भाव का विशेष रूप से प्रकाश उनकी दक्षिण-यात्रा मे राय रामानद के साथ तत्व-चितन करने के उपरात हुआ था। स० १५६७ मे चैतन्य देव और रामानद की सर्वप्रथम भेट गोदावरी नदी के तट पर हुई थी। उस समय दोनो मे जो प्रश्नोत्तर हुए, उनमे साध्य-साधन तत्व और राधा-तत्व पर विचार-मथन किया गया था। चैतन्य सप्रदाय मे राधा-तत्व को दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय गौडीय गोस्वामियो द्वारा व्रज मे रचे हुए ग्रथो को है। उक्त गोस्वामियो मे अन्यतम जीव गोस्वामी कृत पट् सदर्भो मे राधा-तत्व का नर्वाधिक सैद्धातिक विवेचन हुआ है, किंतु इन ग्रथो की रचना मे दक्षिणात्य गोपाल भट्ट गोस्वामी का सहयोग प्रसिद्ध है। इम प्रकार चैतन्य सप्रदाय का राधावाद दक्षिण की विचार-धारा से अनुप्राणित कहा जा मकता है, किंतु वह बगाल–उडीसा मे व्याप्त शक्तिवाद से भी प्रभावित है[4]।

---

(१) चैतन्य मत और व्रज साहित्य, पृष्ठ १०४

(२) श्रीराधायाः प्रणयमहिमा कीदृशो वा नयैवास्वाद्यो येनाद्भुत मधुरिमा कीदृशो वा मदीयः।
सौख्यंचास्या मदनुभवतः कीदृशं वेति लोभात्तद्भावाढ्यः समजनि शची गर्भसिन्धौ हरीन्दुः॥

(३) राधा-कृष्ण एक आत्मा, दुइ देह धरि। अन्योन्ये विलसे, रस आस्वादन करि।
सेइ दुइ एक एवे चैतन्य गोसाईं। रस आस्वादिते दोहैं हैला एक ठाईं॥
—श्री चैतन्य चरितामृत, आदि लीला, ४–४६, ५०

(४) चैतन्य मत और व्रज साहित्य, पृष्ठ ९९

कृष्णदास कविराज ने चैतन्य सप्रदाय मे स्वीकृत राधा-तत्व का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। उनका कथन है, सच्चिदानद परब्रह्म कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति का सार 'प्रेम' है, प्रेम का सार 'भाव' है और भाव की पराकाष्ठा 'महाभाव' है। महाभाव स्वरूपा 'श्रीराधा' ठकुरानी है, जो समस्त गुणो की खान और कृष्णकाताओ मे सर्वश्रेष्ठ हैं। उनका चित्त, उनकी इद्रियाँ और काया सभी कृष्ण-प्रेम से भरपूर है। वे कृष्ण की निजशक्ति और उनकी क्रीडाओ मे सहायक हैं। राधा पूर्ण शक्ति है और कृष्ण पूर्ण शक्तिमान् है। इन दोनो मे कोई भेद नही है, यह शास्त्रो मे प्रमाणित है। राधा-कृष्ण सदैव एक स्वरूप है। वे लीला रस के आस्वादन के लिए दो रूप धारण किये हुए है[1]।

राधा-तत्व और परकीयावाद—चैतन्य सप्रदाय मे रागानुगा भक्ति को सर्वाधिक महत्व दिया गया है और इसमे परकीयावाद को भी मान्यता प्राप्त हुई है। चैतन्य देव के आदेशानुसार गौडीय गोस्वामी गण वृ दावन मे निवास करने के लिए आये थे। उनके आने से पहिले ही ब्रज मे निम्बार्क और मध्व के वैष्णव सप्रदायो ने कृष्ण-भक्ति के साथ राधा-तत्व का भी प्रचार कर रखा था। गौडीय गोस्वामियो के वृ दावन-निवास के काल मे ही ब्रज मे सर्वश्री वल्लभाचार्य, हित हरिवश और हरिदास स्वामी के भक्ति-सप्रदायो का प्रचार हुआ था। इन सभी सप्रदायो मे राधा को स्वकीया माना गया है। गौडीय गोस्वामीगण यद्यपि बगाल के परकीयावाद से प्रभावित थे, तथापि ब्रज की स्वकीया भावना के कारण वे अपने ग्रथो मे परकीयावाद का स्पष्ट रूप से समर्थन नही कर सके हैं। इस सबध मे दिये हुए उनके तर्को से ऐसा आभास होता है कि ब्रज की स्वकीयाप्रधान भक्ति के कारण उन्होने अपना हार्दिक मत प्रकट करने मे सकोच किया है। रूप गोस्वामी कृत 'उज्ज्वल नीलमणि' की 'लोचनरोचनी' टीका मे जीव गोस्वामी ने अपनी विवशता को व्यक्त करते हुए कहा है कि इसमे जहाँ स्वेच्छा से लिखा गया है, वहाँ कुछ परेच्छा से भी लिखा गया है, अत पूर्वापर सबध का विचार रखना चाहिए,—'स्वेच्छया लिखित किंचित्, किंचिदत्र परेच्छया। यत पूर्वापरसम्बन्ध तत् पूर्वापर परम[2]।।'

कृष्णदास कविराज इस प्रकार की दुविधा मे नही पडे है। उन्होने स्पष्ट रूप से परकीयावाद का समर्थन किया है। उनका कथन है,—'परकीया भाव मे रस का अधिक उल्लास होता है और यह ब्रज से अन्यत्र कही भी नही है। यह भाव ब्रज की गोपागनाओ मे निरतर विद्यमान है, और उनमे भी श्रीराधा जी मे इस भाव की चरम सीमा है[3]। राधा-तत्व मे परकीयावाद की स्थापना चैतन्य सप्रदाय की ऐसी विशेषता है, जो ब्रज के अन्य सप्रदायो मे नही मिलती है।

---

(१) ह्लादिनीर-सार 'प्रेम', प्रेम-सार 'भाव'। भावेर परमकाष्ठा नाम 'महाभाव' ।।
महाभावस्वरूपा 'श्रीराधा' ठाकुराणी। सर्वगुण-खानि कृष्ण-काता शिरोमणि ।।
कृष्ण प्रेम भावित यार चित्तेन्द्रिय काय। कृष्ण—निजशक्ति राधा क्रीड़ार सहाय ।।
राधा पूर्ण शक्ति, कृष्ण पूर्ण शक्तिमान। दुइ वस्तु भेद नाहि शास्त्र-प्रमाण ।।
राधा-कृष्ण ऐछे सदा एकइ स्वरूप। लीलारस आस्वादिते धरे दुइ रूप ।।
—श्री चैतन्य चरितामृत, आदि लीला, ४–५९, ६०, ६१, ८३, ८५

(२) चैतन्य मत और ब्रज साहित्य, पृष्ठ १०१–१०३

(३) परकीया भावे अति रसेर उल्लास। ब्रज विना इहार अन्यत्र नाहि वास ।।
ब्रजवधूगणेर एइ भाव निरवधि। तार मध्ये श्रीराधाय भावेर अवधि ।।
—श्री चैतन्य चरितामृत, आदि लीला, ४–४२, ४३

वल्लभ संप्रदाय की देन—डा० शशिभूषण दासगुप्त ने धर्म, दर्शन, उपासना और साहित्य के क्षेत्रो मे राधा के क्रमिक विकास का अत्यत विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है, किंतु वे वगीय धर्म-सप्रदायो और विशेप कर चैतन्य मत पर ही यथार्थ निष्कर्ष उपस्थित कर सके है। सर्वश्री रामानुज, मध्व और निवार्क के सप्रदायो पर भी उसके निष्कर्ष गभीर है, यद्यपि उन्हे पूर्णतया प्रामाणिक नही कहा जा सकता। किंतु सर्वश्री वल्लभाचार्य, गो० हित हरिवश और स्वामी हरिदास के सप्रदायो की राधा सवधी मान्यताओ पर वे ठीक तरह से प्रकाश नही डाल सके है। विद्वद्वर प० वलदेव उपाध्याय ने 'भारतीय वाङ्मय मे श्री राधा' नामक अपने ग्र थ मे भी राधा की महत्ता का विशद विवेचन किया है। उनका कथन डा० दासगुप्त के निष्कर्पो का वहुत-कुछ पूरक कहा जा सकता है।

श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने भक्ति-सिद्धात मे सच्चिदानद परब्रह्म श्रीकृष्ण को परमाराध्य एव परमोपास्य माना है, और एक मात्र उन्ही को केन्द्र-बिंदु वना कर अपने साप्रदायिक वृत्त का निर्माण किया है[1]। इसके साथ ही उन्होने ठाकुर–सेवा मे वाल–भाव को प्रधानता दी है। इससे प्राय ऐसा समझा जाता रहा है कि उन्होने राधा-तत्व को मान्यता प्रदान नही की, और एक मात्र वात्सल्य भक्ति का ही उपदेश दिया था। श्री बल्लभाचार्य जी के पश्चात् उनके पुत्र गो० विट्ठलनाथ जी के काल मे इस सप्रदाय मे माधुर्य भक्ति को महत्त्व दिया गया था और तभी राधा-तत्व को भी मान्यता प्राप्त हुई थी। इस प्रकार की धारणा दूसरे अनेक विद्वानो के साथ ही साथ डा० दासगुप्त की भी रही है। उनका कथन है,—'पुष्टिमार्ग के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य ने गोपालकृष्ण की उपासना को अपनी धर्म-साधना मे ग्रहण किया था। उन्होने श्रीकृष्ण के बाल रूप पर ही जोर दिया है; इसलिए उनके विवेचन मे राधा के वारे मे कोई विचार या उल्लेख नही मिलता है। कहा जाता है कि इस सप्रदाय की उपासना के अदर वल्लभाचार्य के पुत्र आचार्य विट्ठलनाथ ने ही राधावाद का प्रवर्त्तन किया था[2]।'

निस्सदेह श्री बल्लभाचार्य जी ने पुष्टि सप्रदाय मे भगवान् कृष्ण की अतिशय महत्ता स्वीकृत की है, किंतु उनके विवेचन मे राधा के विषय मे कोई विचार या उल्लेख नही मिलता, यह ठीक नही है। उन्होने विविध स्तोत्रो मे कृष्ण के साथ राधा का जिस प्रकार स्मरण किया है, उससे स्पष्ट होता कि उनकी राधा सवधी मान्यता भी प्राय अन्य सप्रदायाचार्यो के सदृश ही है। उनके 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' मे रसरूप कृष्ण का स्मरण माधुर्य-मूर्ति राधा के साथ 'राधा विशेप सभोग प्राप्तदोप निवारक' के नाम से किया गया है। आचार्य जी के नाम से प्रसिद्ध 'श्रीकृष्ण प्रेमामृत' स्तोत्र के 'राधा वरुन्धनरत', 'राधासर्वस्वसम्पुष्ट', 'राधिकारतिलम्पट' आदि सरस विशेपणो से तथा 'श्रीकृष्णाष्टकम्' के 'श्रीराधिकारमण', 'राधावरप्रियवरेण्य', 'राधिकावल्लभ' आदि राधासयुक्त विशेपणो से यही प्रमाणित होता है कि स्वय वल्लभाचार्य जी ने ही पुष्टि सप्रदाय मे राधा को उनके यथार्थ रूप मे

(१) 'तत्वदीप निवंध' के एक श्लोक मे वल्लभ संप्रदाय की रूपरेखा इस प्रकार बतलाई गई है,—

एक शास्त्र देवकीपुत्रगीतं, एको देवो देवकीपुत्र एव।
मन्त्रोप्येकस्तस्य नामानि यानि, कर्माप्येक तस्य देवस्य सेवा ॥

अर्थात्—कृष्ण कृत गीता ही एक मात्र शास्त्र हे, कृष्ण ही एक मात्र आराध्य देव हैं, कृष्ण नाम ही एक मात्र मन्त्र है और कृष्ण-सेवा ही एक मात्र कर्त्तव्य है।

(२) श्री राधा का क्रम-विकास, पृष्ठ २८४

प्रतिष्ठित किया था । "श्रीमद् भागवत (२।४।१४) के सुविख्यात श्लोक —'निरस्त साम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रस्यते नम '—की 'सुबोधिनी' मे जिस तत्त्व का प्रतिपादन किया है, वह आचार्य जी की राधा-तत्व से पूर्ण अवगति का विशद परिचायक है । उससे स्पष्ट है कि भगवान् स्वीय 'राधस्' शक्ति से सवेष्टित होकर स्वरूपानद मे स्वय विहार किया करते हैं । 'राधस्' शब्द 'राधा' का ही प्रतीक है[1] ।" श्री वल्लभाचार्य जी ने राधा को कृष्ण से अभिन्न 'उनकी स्वरूपशक्ति' अथवा 'सिद्धिशक्ति' माना है और गोपियो मे प्रमुख एव उनकी स्वामिनी होने से उन्हे प्राय 'स्वामिनी' नाम से उल्लिखित किया है ।

जहाँ तक श्री वल्लभाचार्य जी के भक्ति-सिद्धात का सबध है, उनके द्वारा केवल 'वात्सल्य भक्ति' को मान्यता देने की बात भी सर्वथा अप्रामाणिक है । उन्होने 'ठाकुर-सेवा' मे ही वात्सल्य भक्ति को प्रधानता दी है, किंतु उपासना मे भक्ति के सभी रूपो को स्वीकार किया है, जिनमे 'माधुर्य भक्ति' भी सम्मिलित है । उन्होने 'रसोवैस ', 'सर्वरस ' आदि श्रुति वाक्यो के आधार पर अपने इष्टदेव को रसात्मक बतलाते हुए उनके मधुर रूप का स्पष्टीकरण किया है । उनके रचे हुए 'मधुराष्टक' और 'परिवृढाष्टक' स्तोत्रो मे तथा रासपचाध्यायी की 'सुबोधिनी' मे श्रीकृष्ण के माधुर्यमडित स्वरूप और पुष्टि सप्रदाय की माधुर्य भक्ति का उल्लेख मिलता है ।

अष्टछाप के सर्वाधिक वयोवृद्ध कवि कुभनदास जी श्री वल्लभाचार्य जी के आरभिक शिष्यो मे से थे । उन्होने सर्वश्री सूरदास, कृष्णदास, परमानददास प्रभृति आचार्य जी के अन्य शिष्यो से पहिले ही स० १५५६ के लगभग दीक्षा ली थी और तभी से वे निकुज लीला सबधी माधुर्य भक्ति के पद-गान द्वारा श्रीनाथ जी का कीर्तन करने लगे थे[2] । इस प्रकार के पदो को सुन कर आचार्य जी ने प्रसन्नता पूर्वक कहा था,—'कुभनदास ! निकुज-लीला सबधी-रस को अनुभव भयो ।...तिहारे बडे भाग्य हैं, जो प्रथम प्रभु तुमको प्रमेय बल को अनुभव बताये, तासो तुम सदा हरि रस मे मगन रहोगे[3] ।' कुभनदास जी माधुर्य भक्ति के प्रति इतने अनुरक्त थे कि उन्होने अपने समस्त पदो मे उसी का समावेश किया है, यहाँ तक कि उन्होने वात्सल्य भक्ति का कोई भी पद नही रचा ।

---

(१) भारतीय वाड्मय मे श्री राधा, पृष्ठ ८०–८१

(२) उनके पदो के कुछ अश इस प्रकार हैं,—

१ बनी राधा - गिरिधर की जोरी ।
मनहुँ परस्पर कोटि मदन - रति की सुदरता चोरी ।।
नौतन स्याम नदनदन, वृषभानुसुता नव गोरी ।
मनहुँ परस्पर बदन - चद्र को, पीवत तृषित चकोरी ।।

२ रसिकनी रस मे रहति गडी ।
कलक - बेलि वृषभाननदिनी, स्याम - तमाल चढी ।।
विहरत लाल सग राधा के, कौने भाँति गढी ।
'कुभनदास' लाल गिरिधर सँग, रति - रस - केलि पढी ।।

—कुभनदास (काकरोली) पद स० १७१–१७२

(३) चौरासी वैष्णवन की वार्ता मे 'अष्टसखान की वार्ता' (अग्रवाल प्रेस), पृष्ठ ६१

वार्ता मे लिखा है,—'सो कुभनदास सगरे कीर्तन युगल स्वरूप सबधी कीये । बधाई, पलना, बाललीला गाई नाही[1]।' कुभनदास के अतिरिक्त पद्मनाभदास और श्रीभट्ट[2] आदि वल्लभाचार्य जी के के अन्य सेवको ने भी पुष्टि सप्रदाय के आरभिक काल मे ही केवल माधुर्य भक्तिपूर्ण निकुज लीला के पदो का गायन किया था[3] । इससे सिद्ध होता है कि इस सप्रदाय मे माधुर्य भक्ति का प्रचलन गो० विट्ठलनाथ जी के काल मे नही हुआ; बल्कि उसके बहुत पहिले स्वय वल्लभाचार्य जी द्वारा ही किया गया था । यह वह काल है, जब कि चैतन्य देव जी का भक्ति-प्रचार उनके जन्मस्थान नवद्वीप तक ही सीमित था, और सर्वश्री हित हरिवश एव स्वामी हरिदास के भक्ति सप्रदायो का उदय भी नही हुआ था । गो० विट्ठलनाथ जी ने आचार्य जी द्वारा प्रवर्तित माधुर्य भक्ति की उस परपरा को ही विशद रूप मे प्रचारित किया था । वे उसके प्रवर्त्तक नही थे, प्रचारक थे ।

गो० विट्ठलनाथ के काल मे राधा जी की मान्यता बहुत बढ गई थी । उन्होने स्वय राधा-प्रार्थना चतु श्लोकी, श्री स्वामिन्यष्टक, श्री स्वामिनी स्तोत्र एव स्वामिनी प्रार्थना नामक भक्ति-भावपूर्ण सरस स्तोत्रो की रचना की थी और राधा-कृष्ण की युगल उपासना पर विशेष बल दिया था । उन्होने 'स्वामिन्यष्टक' मे 'राधा' नाम को समस्त वेद-शास्त्रो का छिपा हुआ धन और गूढ मत्र-रूप बतलाया है, जिसे सदा जपते रहने की उन्होने कामना की है[4] । वे राधा जी के प्रति इतने आस्थावान् थे कि उनकी चरण—शरण से क्षण भर के लिए भी अलग होने की अपेक्षा मृत्यु को श्रेयष्कर समझते थे[5] । 'श्री स्वामिनी स्तोत्र' मे वे श्री राधा-कृष्ण के निकुज-गृह मे दासी भाव से उपस्थित होकर वहाँ की रज को अपने केश-पुज से झाडने की लालसा करते है[6] । 'उनकी दृष्टि मे श्री स्वामिनी जी का स्थान इतना उदात्त तथा उन्नत था कि वे अपने भौतिक तथा आध्यात्मिक विविध कार्यो का अवसान श्री राधा जी द्वारा ही सम्पन्न होना बतलाते है[7] ।'

श्री वल्लभाचार्य जी द्वारा प्रतिष्ठित और गो० विट्ठलनाथ जी द्वारा प्रचारित पुष्टि सप्रदाय के दार्शनिक सिद्धात और भक्ति तत्व का सरस भाष्य पुष्टिमार्गीय भक्त-कवियो ने अपने पदो मे किया है, जिनमे सूरदास जी अग्रगण्य है । उन्होने राधा जी को परमपुरुष कृष्ण की प्रकृति और लीला-पुरुषोत्तम कृष्ण के साथ उनके नित्यधाम वृ दावन मे सतत विहाररत बतलाया है । सूरदास कृत

---

(१) चौरासी वैष्णवन की वार्ता में 'अष्टसखान की वार्ता' (अग्रवाल प्रेस), पृष्ठ ६२

(२) यह निंबार्क संप्रदाय के आचार्य श्रीभट्ट जी से पृथक् भक्त-कवि थे ।

(३) सूर-निर्णय, (द्वितीय सस्करण), पृष्ठ २१०

(४) रहस्य श्री राधेत्यखिल निगमानामिव धनम् ।
निगूढ मद् वाणी जपतु सतत जातु न परम् ॥

(५) इत्थं जीवनमस्तु क्षणमपि भवदिध्र विप्रयोगे तु ।
मरण भवतादेवं भावे शरणं त्वमेव मे भूयाः ॥

(६) गेहे निकुंजे निशि संगतायाः, प्रियेण तल्पे विनिवेशितायाः ।
स्वकेश वृन्दैस्तव पादपंकजं सम्मार्जयिष्यामि मुदा कदापि ॥

(७) भारतीय वाङ्मय मे श्री राधा, पृष्ठ ८२ से ८४ तक का सारांश ।

रचनाओ मे ऐसे अनेक पद हैं, जिनमे राधा-कृष्ण के नित्य विहार का कथन हुआ है[1]। पुष्टि सप्रदाय मे स्वकीया भक्ति की प्रधानता है और स्वामिनी रूप श्री राधा जी को इसमे स्वकीया माना गया है। वैसे इस सप्रदाय मे परकीया भक्ति की भी अवमानता नही है, किंतु उसका आधार श्रुतिरूपा गोपागना श्री चद्रावली को माना गया है। नित्यविहार की भावना मे श्री राधा जी को श्रीकृष्ण के बायीं ओर तथा चद्रावली जी को दाहिनी ओर स्थित माना जाता है। सूरदास के एक सरस पद मे उन दोनो की यथावत् स्थिति का भी कथन किया गया है[2]। सूरदास के अतिरिक्त पुष्टि सप्रदाय के अन्य कवियो के भी तत्सबधी अनेक पद उपलब्ध है।

हित हरिवंश और स्वामी हरिदास के संप्रदायो की देन—ब्रज के इन दोनो भक्ति-सप्रदायो मे ही श्री राधा जी का वास्तविक और सर्वाधिक महत्व माना गया है। उन सप्रदायो के प्रवर्त्तक सर्वश्री हित हरिवश जी और स्वामी हरिदास जी के उत्थान का काल इस अध्याय की काला-वधि मे नही आता है, अत इनकी राधा सबधी मान्यता पर भी आगामी अध्याय मे उनके सप्रदायो के विवरण मे लिखा जावेगा। यहाँ पर प्रसग वश इस पर कुछ थोड़ा सा प्रकाश डाला गया है।

हित हरिवश जी का भक्ति-मत 'राधावल्लभ सप्रदाय' कहलाता है, और स्वामी हरिदास का 'हरिदासी' अथवा 'सखी सप्रदाय'। इन दोनो मे राधा जी की महत्ता का आधार उनकी 'नित्य-विहार' की मान्यता है, जिसका गायन वृ दावन के अनेक रसिक महात्माओ ने बडी तल्लीनता मे

---

(१) १. व्रजहिं बसे आपुहि बिसरायो।
प्रकृति-पुरुष एकहि करि जानहु, बातन भेद करायो॥
जल-थल जहाँ रहौ तुम बिन नहिं, वेद - उपनिषद गायो।
द्वै तन, जीव एक, हम दोऊ सुख कारन उपजायो॥
ब्रह्म रूप, द्वितीया नहिं कोऊ, तब मन तिया जनायो।
'सूर' स्याम मुख देखि, अलप हँसि, आनँद-पुज बढायो॥

२. नित्यधाम वृ दावन स्याम। नित्यरूप राधा ब्रज बाम॥
नित्यरास, जल नित्यविहार। नित्यमान खडिताऽभिसार॥
ब्रह्म रूप येई करतार। करनहार त्रिभुवन ससार॥

—सूरसागर (ना प्र सभा), पद स० २३०५, ३४६१

३. वृ दावन हरि यह विधि क्रीडत, सदा राधिका सग।
भोर निसा कबहूँ नहिं जानत, सदा रहत इकरग॥

—सूर-सारावली (अग्रवाल प्रेस), स० १०६६

(२) नंदनदन हँसे नागरी-मुख चितै, हरषि चंद्रावली कंठ लाई।
वाम भुज रमनि, दच्छिन भुजा सखी पर, चले वन-धाम सुख कहि न जाई॥
मनो बिबि दामिनी बीच नव घन सुभग, देखि छबि काम रति सहित लाजै।
किधौं कचन-लता बीच सु तमाल तरु, भामिनिन बीच गिरिधर बिराजै॥
गये गृहकुज अलि गुज सुमननि पुज, देखि आनद भरे 'सूर'—स्वामी।
राधिका-रमन, जुवती-रमन, मन-रवन, निरखि छबि होत मन-काम कामी॥

—सूरसागर (ना प्र सभा), पद सख्या २७८८

किया है। राधावल्लभ सप्रदाय के विख्यात भक्त-कवि चाचा वृ दावनदास के मतानुसार उक्त रसिको मे व्यासनद श्री हित हरिवंश जी सर्वोपरि है। उनके पश्चात् अन्य तीन महात्मा सुमोखन शुक्ल कुल-दिवाकर श्री हरिराम व्यास जी, श्री आशुधीर-सुत आनदमूर्ति स्वामी हरिदास जी तथा भक्ति-स्तभ श्री प्रबोधानद जी का स्थान हे[1]। वृ दावन के रसिक भक्तो मे हित हरिवश जी के सर्वोपरि होने का कारण यह है कि उन्होने ही उपासना और भक्ति के क्षेत्रो मे राधा जी के सर्वाधिक महत्त्व की स्थापना की है, जिसका अनुकरण अन्य रसिक भक्तो ने भी किया है।

राधावल्लभ संप्रदाय की मान्यता—व्रज के कृष्णोपासक धर्म-सप्रदायो मे या तो राधा की अपेक्षा कृष्ण को प्रधानता दी गई है, या दोनो को अभिन्न मानते हुए उनकी समान स्थिति बतलाई गई है, किंतु राधावल्लभ सप्रदाय मे कृष्ण की अपेक्षा राधा की प्रधानता स्वीकृत है। कृष्णोपासक धर्म-सप्रदायो मे पुराणादि धार्मिक ग्रथो के आधार पर कृष्ण को 'परतत्व' और उन्हे राधा द्वारा 'आराधित' बतलाया गया है, किंतु इस सप्रदाय मे राधा ही 'परातपर तत्व' है और वह स्वय कृष्ण की भी आराध्या है। प्रत्येक सप्रदाय मे परमोपास्य 'इष्ट' तथा मत्रदाता 'गुरु' पृथक्-पृथक् होते है, किंतु राधावल्लभ सप्रदाय मे राधा जी परमाराध्या एव परमोपास्या होने से 'इष्ट' भी है, और मत्र-दात्री होने से 'गुरु' भी। इस सप्रदाय की मान्यता है कि स्वय श्री राधा जी ने ही हित हरिवश जी को मत्र-दीक्षा दी थी। इस प्रकार इस सप्रदाय मे श्री राधा जी परात्पर तत्व है, कृष्णाराध्या है, परम-इष्ट है और साथ ही परमगुरु भी है। ये ऐसी विशेषताएँ है, जो इस सप्रदाय की राधा सबधी भावना को अन्य धर्म-सप्रदायो की राधा विषयक मान्यताओ से पृथक् कर देती है।

राधावल्लभ सप्रदाय की राधा सबधी उक्त भावना के कारण ही नाभा जी ने हित हरिवश जी को 'हृदय मे राधा के चरणो की प्रधानता रख कर अत्यत सुदृढ उपासना करने वाला' कहा हे, और उनके 'पथ का अनुसरण करना' तथा उनकी 'भजन की रीति को जानना' किसी पुण्यवान् के लिए ही सभव बतलाया है[2]। प्रियादास जी ने भी इसका समर्थन करते हुए कहा है,—'हित जी की रीति को लाखो मे कोई एक विरला ही जान सकता है, जिसके अनुसार राधा को प्रधान मान कर ही बाद मे कृष्ण का ध्यान किया जाता है[3]।' स्वय हित हरिवश जी ने भी राधा जी की प्रधानता विषयक अपनी भावना की स्पष्ट घोषणा करते हुए कहा है,—'कोई चाहे किसी को भी अपना उपास्य और इष्ट माने, किंतु मै दृढता के साथ शपथ पूर्वक कहता हूँ कि मेरे लिए तो 'प्राणनाथ' श्री राधा जी ही

---

(१) सबके जु मुकुटमनि व्यासनंद। पुनि सुकुल सुमोखन कुल-सुचद ॥
सुत आसुधीर मूरति अनंद। धनि भक्ति-थंभ परबोधानद ॥
इन मिलि जु भक्ति कीनी प्रचार। ब्रज-वृंदावन नितप्रति विहार ॥
—श्री हित हरिवश गोस्वामी, पृष्ठ २१८

(२) श्री राधा-चरन प्रधान हृदै, अति सुदृढ उपासी।
कुंज-केलि दंपती, तहाँ की करत खवासी ॥
व्यास-सुवन पथ अनुसरै, सोई भले पहिचान है।
हरिवश गुसाई भजन की रीति, सकृत कोउ जानि है ॥ —भक्तमाल, छप्पय न० ९०

(३) हित जी की रीति कोऊ लाखनि मे एक जानै, राधाई प्रधान मानै, पाछै कृष्ण ध्याइयै।
—भक्तिरस बोधिनी, कवित्त न० ३६४

सब कुछ है[1] ।' हित जी श्री राधा जी के ऐसे अनन्योपासक थे कि उन्होंने वेदों के श्रवण और मोक्ष-प्राप्ति की उपेक्षा तथा शुकादि सेवित परब्रह्म कृष्ण के भजन की भी अनिच्छा करते हुए एक मात्र श्री राधा जी के पदारविंद के रस मे ही निमग्न होने की अपनी आकाक्षा व्यक्त की है[2] ।

'शक्तिवाद' का अभाव—राधावल्लभ सप्रदाय के भक्ति-सिद्धात मे राधा जी के अनुपम महत्व और उसकी उपासना-विधि मे 'राधा की प्रधानता' को 'शक्तिवाद' न समझ लिया जावे, इस आशका का निराकरण करते हुए गो० ललिताचरण जी ने लिखा है,—'युगल उपासना मे श्रीराधा की प्रधानता रखने मे एक भय रहा हुआ है । इससे एक प्रकार का शक्तिवाद स्थापित होता है, जो वैष्णव धर्म के मूल पर ही कुठाराघात करता है । यह ऐतिहासिक तथ्य है कि वैष्णव धर्म का शाक्त मत के साथ वडा लवा सघर्ष चला था । . अत' यह निर्विवाद है कि सब वैष्णव सप्रदाय इस वात के लिए सतर्क थी कि उनके किसी सिद्धात पर शाक्त मत की छाया न पड जाय । हित प्रभु ने अपने प्रेम-सिद्धात की रचना इस प्रकार की है कि राधा के प्रति उनका सहज पक्षपात शक्तिवाद नही वन पाया है । उनके सिद्धात मे श्रीराधा-कृष्ण प्रेम के सहज भोग्य और भोक्ता है, और उनमे शक्ति-शक्तिमान् का सवध नही है । प्रेमपात्र की—भोग्य की—सहज प्रधानता होती है । नित्य प्रेम-विहार मे श्रीराधा प्रेमपात्र है, और उनकी प्रधानता भोग्य की सहज प्रधानता है, शक्ति की प्रधानता नही है[3]।

हरिदासी सप्रदाय की मान्यता—स्वामी हरिदास जी गोस्वामी हित हरिवश जी के समकालीन और वृ दावन मे उनके परम सखा एव नित्य विहार की उपासना मे उनके अनन्य सहयोगी थे । हित जी के सदृश उन्हे भी रसोपासना के एक विशिष्ट 'मत' के प्रवर्त्तक माना जाता है । वह मत 'हरिदासी सप्रदाय' अथवा 'सखी सप्रदाय' कहलाता है । इस सप्रदाय मे भी श्री राधा जी को 'इष्ट' माना गया है, जैसा कि स्वामी जी की उपासना-पद्धति के व्याख्याता श्री भगवतरसिक का कथन है,—

'जुगल मत्र की जाप, वेद रसिकन की वानी । श्री वृ दावन धाम, इष्ट स्यामा महारानी ॥'

इस प्रकार हित जी और स्वामी जी के सप्रदायो की उपासना-विधि एव राधा जी सबधी उनकी मान्यता मे इतनी समानता है कि उनके अतर को समझना बडा कठिन है । परतु उनमे कुछ अतर तो है ही, तभी तो इन दोनो सप्रदायो की पृथक्-पृथक् परपराएँ प्रचलित हुई है ।

श्री रूपसखी नामक एक भक्त-कवि ने राधा जी को प्रमुखता देने वाले ब्रज के तीन सप्रदायो की उपासना पर प्रकाश डालते हुए कहा है,—'गो० रूप-सनातन जी द्वारा प्रचारित चैतन्य सप्रदाय मे 'ब्रज रस' को महत्व दिया गया है, और हित हरिवश जी के राधावल्लभ सप्रदाय मे 'वृ दावन रस' को मान्यता प्राप्त हुई है, परतु स्वामी हरिदास जी के सखी सप्रदाय मे 'नित्यविहार रस' की उपासना की जाती है[4] । नित्य विहार की मान्यता राधवल्लभ सप्रदाय मे भी है, जिसे रूपसखी जी ने वृ दावन रस कहा है । इस प्रकार हित जी के तथाकथित 'वृ दावन रस' और स्वामी जी के 'नित्य विहार रस' के सूक्ष्म अतर को समझ लेने पर ही हरिदासी सप्रदाय की राधा सवधी मान्यता को भली भाँति समझा जा सकता है ।

---

(१) रहौ कोऊ काहू मनहि दियें ।
मेरे प्राणनाथ श्रीश्यामा, शपथ करौं तृन छियें ॥ —श्री स्फुट वाणी, स० २०

(२) श्री राधा सुधानिधि, श्लोक स० ८३

(३) श्री हित हरिवंश गोस्वामी, पृष्ठ २१५-२१६

(४) रूप-सनातन ब्रज कह्यौ, वृ दाबन हरिवश । नित्यविहार उपास मे, श्री हरिदास प्रशस ॥

'नित्यविहार रस' की उपासना—पुराणो के अनुसार परब्रह्म कृष्ण ने अपनी प्रकृति राधा के साथ ब्रज मे अवतार लेकर विविध लीलाएँ की है। उनमे नद–यशोदा, सखी–सखा आदि प्रियजनो तथा कसादि दुष्ट जनो के साथ उनकी विविध लीलाओ सहित राधा-कृष्ण की सयोग-वियोगात्मक केलि–क्रीडाएँ भी है, और मथुरा–द्वारका की चिर वियोगात्मक लीलाएँ भी है। स्वामी जी के 'नित्यविहार' की मान्यता मे मथुरा–द्वारका की लीलाओ के साथ ही साथ ब्रज की लीलाओ को भी स्थान प्राप्त नही है। ब्रज की केलि-क्रीडाओ मे सयोग के साथ वियोग भी है, चाहे वह क्षणिक ही है। किंतु 'नित्यविहार' की चिरतन लीलाओ मे पल भर के लिए भी प्रिया-प्रियतम की पृथकता अस्वीकृत है। स्वामी जी ब्रज-लीलाओ के प्रति इतने उदासीन थे कि उन्होने अपनी रचनाओ मे राधा जी को 'वृषभानुनदिनी' तक नही कहा, बल्कि सर्वत्र उन्हे श्यामा, प्यारी, लाडिली आदि नामो से ही सबोधित किया है। उनके एक पद मे उल्लिखित 'हमारौ दान मार्‌यौ इनि[1]' की भावना मे कुछ विद्वानो के मतानुसार ब्रजलीला का समावेश है, किंतु उसमे भी वस्तुत 'निकुज लीला' का कथन है।

स्वामी जी के 'नित्यविहार रस' का आधार चिरतन केलि-क्रीडाओ मे तल्लीन 'श्यामा-कुजविहारी' की युगल जोडी है। यह घन-दामिनि के समान एक-दूसरे से अभिन्न, सहज, स्वाभाविक, सदा सग रहने वाली और क्षणिक वियोग से भी सर्वथा रहित है। यह जोडी चिरस्थायी है, जो पहिले भी थी, अब भी है तथा आगे भी इसी प्रकार अचल और अडिग रहेगी[2]। यह जोडी नित्य-विहार रस की तल्लीनता मे एक-दूसरे के तन, मन और प्राण मे समा जाने के लिए सदैव लालायित रहती है[3]।

श्रीश्यामा-कुजबिहारी का यह 'नित्यविहार' समस्त देवताओ के लिए दुर्लभ है और उसके लिए लक्ष्मीपति विष्णु सदा ललचाते है। यहाँ तक कि ब्रज मे केलि-क्रीडा करते हुए राधा-कृष्ण भी उसके बिना व्याकुल रहते है[4]। नित्यविहार के लिए देवताओ की दुर्लभता और विष्णु भगवान् का ललचाना तो समझ मे आता है, किंतु राधा-कृष्ण का भी उसके लिए व्याकुल होना बडी विलक्षण बात है। यही विलक्षणता स्वामी हरिदास के नित्यविहार रस की उपासना है। इसमे 'श्रीश्यामा-कुजविहारी' के रूप मे श्री राधा जी के अलौकिक महत्व की जो मान्यता है, वह ब्रज के किसी भी धर्म-सप्रदाय मे नही मिलती है।

---

(१) यह पद 'केलिमाल', स० ६२ का है।

(२) १. जोरी विचित्र बनाई री माई, काहू मन के हरन को।
ज्यो घन-दामिनि संग रहत नित, बिछुरत नाँहिन और बरन को॥

२ (माई री) सहज जोरी प्रगट भई जु, रंग की गौर-स्याम घन-दामिनि जैसें।
प्रथम हुती, अब हूँ, आगे हूँ रहि है, न टरि हैं तैसें॥
—केलिमाल, पद स ४ और ५

(३) ऐसी जिय होत, जो जीय सो जिय मिलै,
तन सो तन समाइ ल्यो, तौ देखो कहा हो प्यारी॥ —केलिमाल, पद स ३५

(४) याही तें दुर्लभता सबको, लछिमीपति ललचात।
जद्यपि राधा-कृष्ण बसत ब्रज, बिनु बिहार बिललात॥ —श्री बिहारिनदास की वाणी

२. ब्रज मे कृष्ण-भक्तो का आगमन

ब्रज की गौरव-वृद्धि—वैष्णव धर्म के कृष्णोपासक सप्रदायो का उदय और प्रसार होने से श्री कृष्ण के जन्म और उनकी विविध लीलाओ के पुनीत स्थलो का महत्त्व बहुत बढ गया था । वे समस्त स्थल ब्रजमडल मे स्थित थे, अत उनके कारण इस काल मे ब्रज की अभूतपूर्व गौरव-वृद्धि हुई थी । पुराणो मे जहाँ श्रीकृष्ण की विविध लीलाओ का कथन हुआ है, वहाँ ब्रजमडल और इसके लीला-स्थलो का भी गुण-गान किया गया है । पुराणो मे कहा गया है कि मथुरामडल अर्थात् ब्रजमडल साधारण भू-भाग नही है, वरन् यह महत्तम गोलोक धाम से अवतरित पावन दिव्य प्रदेश है । इसके प्रत्येक स्थल की अलौकिक महिमा है । इस प्रकार ब्रज की गौरव-वृद्धि करने मे पुराणो का अनुपम योग रहा है ।

ब्रज के अवतरण की अनुश्रुति—पुराणादि धार्मिक ग्रथो मे ऐसी कई अनुश्रुतियाँ मिलती हैं, जिनमे दिव्य गोलोक धाम से ब्रज के अवतरण की बात कही गई है । 'गर्ग सहिता' का उल्लेख है, जब देवताओ की प्रार्थना पर भगवान् श्रीकृष्ण भू-भार हटाने के लिए गोलोक से पृथ्वी पर अवतार लेने को प्रस्तुत हुए, तब राधा जी उनके वियोग मे व्यथित होने लगीं । इस पर श्रीकृष्ण ने उनसे भी अवतार लेने को कहा । राधा जी ने कहा कि पृथ्वी पर न तो वृ दावन है, न यमुना है, न गोवर्धन है, फिर वहाँ मेरे मन को किस प्रकार सुख मिलेगा[1]? तब श्रीकृष्ण ने राधा जी के सुख के लिए निज गोलोक धाम से वृ दावन, गोवर्धन और यमुना सहित ८४ कोस की ब्रजभूमि पृथ्वी पर प्रेषित की थी[2]। यही बात फिर वृ दावन खड मे भी कही गई है[3] । इस प्रकार ब्रज की समस्त भूमि गोलोक से अवतरित दिव्य भूमि मानी जाती है । इसके साथ ही सुरम्य वृ दावन, गिरिराज गोवर्धन तथा पुण्यसलिला यमुना का भी अलौकिक महत्व माना गया है ।

वृ दावन का महत्त्व और उसका प्राचीन रूप—ब्रज के समस्त लीला-स्थलो मे वृ दावन को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बतलाया गया है । इसे श्रीकृष्ण की माधुर्यमयी केलि-क्रीडा (रासलीला) का प्रधान केन्द्र और रासेश्वरी राधा जी का पुनीत क्रीडा-स्थल माना जाता है । 'पद्मपुराण' (११-१७) के अनुसार यह ब्रज के सुप्रसिद्ध बारह वनो मे सातवाँ वन है । प्राचीन काल मे यह एक विशाल सघन वन था, जो अपने प्राकृतिक सौन्दर्य और रमणीक वन-वैभव के लिए विख्यात था । स्कद पुराण (मथुरा खड) के अनुसार इसमे तपस्वी मुनियो के अनेक आश्रम थे, और इसमे बहुसख्यक जगली पशु विचरण किया करते थे[4] । श्रीमद् भागवत (दशम स्कध) से ज्ञात होता है कि वृ दावन मे ही गिरि गोबर्धन हे, और उसके निकट यमुना प्रवाहित होती है ।

---

(१) यत्र वृ दाबन नास्ति यत्र नो यमुना नदी ।
यत्र गोवर्धनो नास्ति तत्र मे न मन सुखम् ।। (गर्ग सहिता, गोलोक खड, ३—३२)

(२) वेद नाग क्रोश भूमिं स्वधाम्न श्रीहरिः स्वम् ।
गोवर्धन च यमुना प्रेषयामास भू परि ।। (गर्ग सहिता, गोलोक खड, ३—३३)

(३) गर्ग सहिता, वृ दावन खड, अध्याय २, श्लोक ७

(४) मथुरा माहात्म्य (रूप गोस्वामी कृत), पृष्ठ ७४

भागवत का उल्लेख है, जब कस के अत्याचारो के कारण नदादि गोपो को गोकुल मे रहना असभव हो गया, तब वे अपनी गायो के साथ वृ दाबन के सघन और सुरक्षित वन मे जा कर रहे थे। कस का विशेष दूत अक्रूर जब कृष्ण-बलराम को मथुरा ले जाने के लिए वृ दावन गया था, तब उसका रथ मथुरा से प्रात काल चला था और वह वृ दावन की गोप-बस्ती मे सायकाल पहुँचा था[1]। इससे ज्ञात होता है कि कृष्णकालीन वृ दाबन अत्यत विस्तीर्ण था और वह मथुरा नगर से काफी दूर था। इसका समर्थन 'गर्गसहिता' से होता है, जिसमे लिखा गया है कि उस काल का वृ दावन २४ कोस तक विस्तृत था। उसमे गिरिराज गोवर्धन के साथ ही साथ वृहत्सानु (बरसाना) और नदीश्वर (नदगाँव) की पहाडियाँ भी थी[2]। इस प्रकार प्राचीन वृ दाबन के सुविशाल और महत्वपूर्ण स्वरूप का बोध होता है। वर्तमान वृ दावन उसी वृहत् वृ दावन का एक सीमित भाग और लघु रूप है।

ब्रज के लीला-स्थलों की दुर्दशा—जब मथुरामडल मे जैन और बौद्ध धर्मो का बोलबाला था, तब कृष्णोपासको की सख्या कम होने के कारण श्रीकृष्ण-लीला के प्राचीन स्थलो की खोज-खबर लेने वाले लोग नाम मात्र को ही रह गये थे। उस काल मे वे पुनीत स्थल प्राय अरक्षित और उपेक्षित पडे रहे थे। जब हूणो के और फिर मुसलमानो के आक्रमण हुए, तब तो वे लीला-स्थल नष्टप्राय ही हो गये थे। मथुरा नगर अपना परपरागत धार्मिक महत्व खो बैठा था और ब्रज का सुविशाल रमणीक वृ दावन बीहड जगल बन गया था। उस जगल मे कुछ एकातवासी तपस्वियो के आश्रम थे, और कही-कही पर कतिपय ग्वालाओ की छोटी बस्तियाँ थी, किंतु उसका अधिकाश भाग निर्जन और अज्ञात था।

ब्रज का आकर्षण और कठिनाई—जिस काल मे दिल्ली के सुलतानो की मजहबी तानाशाही से ब्रजमडल पर सकट के बादल छाये हुए थे, उसी काल मे भारत का दक्षिणी भाग वैष्णव धर्माचार्यो के धार्मिक आदोलन के आलोक से जगमगा रहा था। उसके दिव्य प्रकाश मे वैष्णव धर्म के अतर्गत जो भक्ति सप्रदाय स्थापित हुए थे, उनका उल्लेख गत पृष्ठो मे किया जा चुका है। वे धार्मिक सप्रदाय वेदानुकूल होते हुए भी अपनी भक्ति-साधना के लिए अधिकतर पुराणो पर आश्रित थे। उनके अनुयायियो मे वैष्णव पुराणो का, विशेषतया श्रीमद् भागवत का प्रवचन-पारायण होता था, और पौराणिक कथाओ का रसास्वादन किया जाता था। कृष्णोपासक सप्रदायो के अनुयायी गण श्रीमद् भागवत मे वर्णित श्रीकृष्ण के लीला-स्थलो की चर्चा मे विशेष रुचि लेते थे। उनका ब्रज-वृ दावन की ओर इतना आकर्षण रहता था कि उनमे से जिन महानुभावो को जब सुयोग मिलता, तब ही वे वहाँ की यात्रा करते, और यदि सभव होता, तो वहाँ निवास करने के लिए तैयार हो जाते थे।

पुराणो मे श्रीकृष्ण के जिन लीला-स्थलो का उल्लेख हुआ है, वे उस काल के निर्जन और बीहड वृ दावन मे कहाँ स्थित थे, इसका ठीक-ठीक परिचय कुछ वनवासी तपस्वियो के अतिरिक्त थोडे लोगो को ही था। उस समय वे प्राचीन स्थल अरक्षित अवस्था मे पडे हुए थे। उनमे जगली लता-गुल्म और झाड-झकाड उग आये थे। वहाँ पहुँचने के मार्ग गोखरू, थूहड एव नागफनी के काँटो से आच्छादित थे और उनमे हिंसक पशुओ तथा चोर-डाकुओ का भी भय था। जो कृष्णोपासक भक्त

---

(१) श्रीमद् भागवत, दशम स्कंध

(२) गर्ग संहिता, वृंदावन खड, अध्याय १, श्लोक १५, १६, १७

जन मार्ग की कठिनाइयो को सहन कर श्रीकृष्ण के लीला-स्थलो के दर्शन और उनकी यात्रा करने के लिए ब्रज मे आते थे, वे प्राय' मथुरा से गोवर्धन जा कर वहाँ गिरिराज की परिक्रमा करके ही वापिस चले जाते थे। ब्रज के अन्य लीला-स्थलो के दर्शन करने का सौभाग्य विरलो को ही प्राप्त होता था।

ऐसा ज्ञात होता है, वर्तमान वृदावन के बसने से पूर्व वर्तमान गोवर्धन को ही प्राचीन वृदावन का महत्व प्राप्त था। श्रीकृष्ण-काल के स्मृति-चिह्नो मे यमुना नदी और गिरिराज ही शेष रह गये थे, अत कृष्णोपासक भक्तो के लिए मथुरा मे यमुना का स्नान और गोवर्धन मे गिरिराज की परिक्रमा करना आवश्यक माना जाता था। ब्रज मे आने वाले भक्त जन उस काल के मुसलमान हाकिमो की मजहवी तानाशाही के कारण मथुरा मे नही ठहरते थे, और उनकी नजर बचा कर गोवर्धन चले जाते थे। वहाँ पर दर्शन-परिक्रमा करने के उपरात या तो वे कुछ समय तक निवास करते थे, अथवा अपने स्थानो को वापिस लौट जाते थे। ब्रज के बीहड वनो मे कटकाकीर्ण मार्ग-स्थित अन्य लीला-स्थलो तक पहुँचना सब के लिए सभव नही था।

कतिपय आगत महानुभाव—कृष्णोपासक धर्म-सप्रदायो का प्रचलन होने से वैष्णव धर्माचार्यो और भक्त महानुभावो का श्रीकृष्ण के लीला-धाम ब्रज के प्रति अतीव आकर्षण हो गया था। वे लोग ब्रज की यात्रा करने और वहाँ के लीला-स्थलो के दर्शन से लाभान्वित होने के लिए स्वभावत ही उत्सुक होने लगे, किंतु उस काल मे उनकी मनोभिलाषा की पूर्ति होना बडा कठिन था। उस समय एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करना आज-कल की तरह सरल और सुगम नही था। फिर उस काल मे समस्त ब्रज प्रदेश दिल्ली के सुलतानो की मजहवी तानाशाही मे आतकित था, अत धार्मिक कार्य के लिए यहाँ आना तो और भी सकटपूर्ण था। ऐसी कठिन परिस्थिति मे भी उस काल मे जिन भक्तजनो ने ब्रज मे आकर निवास किया था, उनके साहस और उत्साह की जितनी भी प्रशसा की जाय, वह कम ही होगी। यहाँ पर उस काल मे आने वाले कतिपय प्रमुख महानुभावो का उल्लेख किया जाता है।

श्री निंबार्काचार्य—कृष्णोपासक वैष्णव धर्माचार्यो मे श्री निंबार्काचार्य पहिले महानुभाव थे, जिन्होने अपने सप्रदाय मे राधा-कृष्ण की उपासना को मान्यता दी थी और उनके लीला-धाम ब्रज मे निवास करने का आयोजन किया था। वे अपने सुदूर स्थान से चल कर मार्ग के कष्टो और असुविधाओ को सहन करते हुए मथुरा आये और यहाँ के ध्रुव क्षेत्र मे उन्होने निवास किया। फिर वे यमुना मे स्नान कर गोवर्धन चले गये, जहाँ उन्होने गिरिराज की परिक्रमा की। गोवर्धन की पावन भूमि मे उनका मन रम गया था, अत वे वहाँ पर स्थायी रूप से निवास करने लगे। उसी स्थान पर उन्होंने अपने ग्रथो की रचना की थी, और अपने सप्रदाय को व्यवस्थित रूप प्रदान किया था। गोवर्धन के जिस स्थल पर उन्होने निवास किया था, वह उनके कारण निंवग्राम के नाम से प्रसिद्ध हो गया। वर्तमान काल मे वह नीमगाँव कहलाता है, जो गोवर्धन के निकट एक छोटा सा ग्राम है। वहाँ पर निंबार्क सप्रदाय का एक मदिर बना हुआ है।

श्री निंबार्काचार्य किस काल मे ब्रज मे आये थे, इसके सबध मे कोई प्रामाणिक उल्लेख नही मिलता है। ऐसा जान पडता है, वे १३वी शताब्दी से पहिले आये थे। उनके पश्चात् उनके प्रमुख शिष्य श्रीनिवासाचार्य भी ब्रज मे रहे थे। उनका निवास-स्थान गोवर्धन का निकटवर्ती राधाकुड कहा जाता है। श्रीनिवासाचार्य जी के पश्चात् निंबार्क सप्रदाय के कौन-कौन से आचार्य ब्रज मे रहे थे,

इसका प्रामाणिक वृत्तात उपलब्ध नही है। कालातर मे सर्वश्री केशव काश्मीरी भट्ट, श्रीभट्ट और हरिव्यास देव ने मथुरा के ध्रुव क्षेत्र पर निवास किया था। उन तीनो आचार्यों की समाधियाँ वहाँ के नारद टीला पर बतलाई जाती है।

मथुरा मे उनके सप्रदाय का केन्द्र आरभ से ही ध्रुव क्षेत्र रहा, जहा पर उनकी शिष्य-परपरा के कई आचार्यों ने समय-समय पर निवास कर उत्तरी भारत मे निंबार्क सप्रदाय का प्रचार किया था। गोवर्धन और मथुरा मे इस सप्रदाय के प्रारभिक केन्द्र होने से यह सिद्ध होता है कि ब्रज मे इस सप्रदाय का उस समय प्रचार हुआ, जब वर्तमान वृ दाबन की बस्ती नही बसी थी। वृंदाबन के बस जाने पर वहाँ भी इस सप्रदाय के मदिर, देवालय और अखाडे बन गये थे।

श्री निंबार्काचार्य के ब्रज मे निवास करने से यहाँ पर राधा-कृष्णोपासना का वातावरण बनने लगा। उससे प्रेरणा प्राप्त कर विविध स्थानो से कृष्णोपासक भक्त जन ब्रज मे आने लगे थे। ऐसे भक्तजनो मे लीलाशुक बिल्वमगल, रसिकराज जयदेव, निंबार्क सप्रदाय के आचार्य सर्वश्री गागल भट्ट, केशव काश्मीरी भट्ट और श्रीभट्ट तथा माध्व सप्रदायी यतिराज माधवेन्द्र पुरी, उनके शिष्य श्री ईश्वर पुरी और पुष्टि सप्रदाय के प्रवर्त्तक श्री बल्लभाचार्य के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यहाँ पर उन सब का सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

लीलाशुक बिल्वमंगल—बिल्वमगल जी का कोई प्रामाणिक वृत्तात नही मिलता है। उनके सबध मे जो अनुश्रुतियाँ और दत कथाएँ प्रचलित है, उनके आधार पर श्री कृष्णदास कविराज ने 'चैतन्य-चरितामृत' मे और नाभाजी ने 'भक्तमाल' मे उनका सक्षिप्त परिचय दिया है। फिर प्रियादास ने भक्तमाल की टीका मे उनके सबध मे विस्तारपूर्वक लिखा है। इन्ही सूत्रो के आधार पर बिल्वमगल जी का जीवन-वृत्तात ज्ञात होता है।

उनके विषय मे प्रसिद्ध है कि वे दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे और पढरपुर के निकट कृष्ण-वेण्णा नदी के पश्चिम तटवर्ती किसी ग्राम के निवासी थे। उन्हे काशी अथवा उत्कल प्रदेश का निवासी भी कहा जाता है, किंतु ये कथन ठीक नही मालूम होते है। अपने आरभिक जीवन मे वे चितामणि नामक एक रूपवती देवदासी पर इतने मोहित थे कि जब तक उसे एक बार देख नही लेते थे, तब तक उन्हे चैन नही पडता था। कहते है, अपने पिता के श्राद्ध के कारण एक बार दिन मे वे उसके पास नही जा सके थे, अत रात मे अचानक उसके घर पहुँच गये। चितामणि को उस समय उनका इस प्रकार आना रुचिकर नही हुआ। उसने उनको फटकारते हुए कहा,—"यदि तुम्हें भगवान् के प्रति भी ऐसी ही आसक्ति होती, तो तुम्हारा कल्याण हो जाता!" उसकी यह बात उन्हें लग गई, और वे तभी से भक्ति-मार्ग के पथिक बन गये। वे प्रात.काल होते ही अपने ग्राम के निकट रहने वाले सोम गिरि नामक सन्यासी की शरण में गये। उनसे दीक्षा लेकर वे भगवद्-भक्ति और श्रीकृष्ण का गुण-गान करने लगे। लीला-गान विषयक उनकी मधुर रचनाओ के कारण उन्हे 'लीलाशुक' कहा जाने लगा और वे इसी नाम से लोक मे प्रसिद्ध हुए।

कुछ समय पश्चात् वे अपने आराध्य देव श्रीकृष्ण के लीला-धाम मथुरामडल की ओर चल दिये। मार्ग मे उन्होने एक रूपवती कुलवधू को देखा। यद्यपि वे ससार से विरक्त होकर भक्तिमार्ग के पथिक बन चुके थे, तथापि पूर्व संस्कार-वश उनके हृदय मे वासना के कुछ अकुर तब भी विद्यमान थे। उनके कारण वे उस रूपवती रमणी पर आसक्त हो गये और उसका पीछा करते हुए उसके घर तक पहुँच गये! वहाँ पर उनको अपने कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ। उन्होने अपने पतन का कारण

नेत्रो को समझ कर उन्हे सुई से फोड डाला । इन प्रकार अंधे होकर वे पुन अपनी यात्रा को चल दिये । नेत्रविहीन होने के कारण वे अत्यत दुखी होकर मार्ग मे भटकने लगे । कहते हैं, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने उनका हाथ पकडकर उन्हे मार्ग बतलाया था । फिर वे किसी प्रकार ब्रज मे पहुंच गये और वहाँ पर दिन-रात श्रीकृष्ण के लीला-रस मे निमग्न रहने लगे । उनका अत काल ब्रज मे बीता था और उनका पार्थिव शरीर भी वहाँ की पावन रज मे ही मिला था ।

वल्लभ सप्रदाय के एक ग्रथ 'सप्रदाय प्रदीप' (रचना काल स० १६१०) मे भी बिल्वमगल की कथा आती है । उसमे लिखा गया है कि वे विष्णुस्वामी सप्रदाय के प्राचीन आचार्य थे । उन्होंने स्वप्न मे श्री वल्लभाचार्य जी से कहा था कि वे विष्णुस्वामी की नष्टप्राय परपरा को पुनर्जीवन प्रदान करे । 'सप्रदाय प्रदीप' मे उल्लिखित बिल्वमगल के समय की सगति इन बिल्वमगल के समय से नहीं होती है । इनकी उपलब्ध रचनाओ मे विष्णुस्वामी सप्रदाय से उनका कोई सबध भी ज्ञात नही होता है, अत 'सप्रदाय प्रदीप' के बिल्वमगल कोई अन्य महानुभाव हो सकते हैं ।

वे किस धर्म अथवा सप्रदाय के अनुयायी थे, इनके विषय मे निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है । उनकी रचनाओं से उनका कृष्णोपासक होना सिद्ध होता है, अत. वे वैष्णव समझे जा सकते है । किंतु उन्होने कृष्ण-कर्णामृत (द्वितीय शतक, श्लोक स० ७४) मे स्पष्ट रूप से अपने को शैव बतलाते हुए गोपीवल्लभ कृष्ण के प्रति भी अपनी आसक्ति व्यक्त की है, जैसा कि गत पृष्ठो मे लिखा जा चुका है। वे किस काल मे हुए, इसके सवध मे विद्वानो मे मतभेद है । उनका समय १०वी से १५वी शताब्दी के बीच का माना गया है । श्री शशिभूषण दासगुप्त का मत है कि श्रीधर दास के 'सदुक्ति-कर्णामृत' (१।५८।५) मे 'कृष्ण-कर्णामृत' का स० १०६ वाला पद उद्धृत है । इनसे कृष्ण-कर्णामृत का रचना-काल कम से कम १२वी सदी मान लेने मे कोई रुकावट नही पडती है । इस प्रकार इसके रचयिता बिल्वमगल को 'गीतगोविंद'-कार जयदेव के समकालीन अथवा उनसे कुछ पूर्व माना जा सकता है । वे दाक्षिणात्य थे, यह निर्विवाद है ।

वे भक्तहृदय होने के साथ ही साथ रससिद्ध कवि भी थे । उनकी भक्तिपूर्ण सस्कृत रचना 'कृष्ण-कर्णामृत' अत्यत प्रसिद्ध है । उन्होने श्रीकृष्ण के प्रेम मे मग्न होकर अनुनय-विनय, हास्य-रोदन, हर्ष-उन्माद और नृत्य-प्रलाप करते हुए जो सयोग-वियोगात्मक गान रचे थे, वही 'कृष्ण-कर्णामृत' मे सकलित हुए हैं । इनमे एक प्रेमी हृदय की आकुल पुकार एव विह्वलतापूर्ण आर्त्तनाद है, अत इनमे सयोग की अपेक्षा वियोग रस की अधिक निष्पत्ति हुई है । यह रचना कृष्ण-भक्तो को अत्यत प्रिय रही है ।

बिल्वमगल के आरभिक जीवन-वृत्तात के अनुसार उनका विलासी होना और चितामणि नामक देवदासी से प्रताडित होने पर उनका भक्ति-मार्ग की ओर उन्मुख हो जाना, फिर श्रीकृष्ण द्वारा उनका उद्धार किया जाना आदि बाते कुछ परिवर्तन के साथ हिंदी के दो सर्वमान्य भक्त-कवि गो० तुलसीदास और महात्मा सूरदास के जीवन-वृत्तातो मे भी मिलती है । वस्तुत ये दत-कथाएँ मूल रूप मे बिल्वमगल जी से ही सबधित है, जैसा कि नाभा जी के कथन से स्पष्ट होता है[1] ।

(१) कर्णामृत सु कवित्त, जुक्ति अनुच्छिष्ट उचारी । रसिक जनन जीवन जु हृदय हारावलि धारी ।।
हरि पकरायौ हाथ, बहुरि तहँ लियौ छुडाई । 'कहा भयौ कर छूटैं, बदौं जो हिय तें जाई'।।
चितामणि सँग पायकैं, ब्रजवधू-केलि बरनी अनूप ।
कृष्ण-कृपा-कोपर प्रगट, बिल्वमंगल मंगल-स्वरूप ।। (भक्तमाल, छप्पय स० ४६)

कविराज जयदेव—भक्त-कवियो के शिरोमणि रसिकराज जयदेव जी अपनी अमर कृति 'गीतगोविंद' के कारण विख्यात हैं, किंतु उनका प्रामाणिक जीवन-वृत्तात उपलब्ध नही है । नाभा जी ने उनकी रचना 'गीतगोविंद' और 'अष्टपदी' का उल्लेख करते हुए उन्हे शृ गार-भक्ति रस के ऐसे कवि-चक्रवर्ती कहा है, जिनके सरस काव्य को सुनने के लिए स्वय भगवान् राधारमण जी प्रसन्न होकर अवश्य दर्शन देते है[1]। प्रियादास जी ने उनका विस्तृत वृत्तात लिखा है, किंतु वह अलौकिकतापूर्ण और किवदतियो पर आधारित है[2] ।

जयदेव जी के सबध मे अब तक जो अनुसधान हुआ है, उससे ज्ञात होता है कि उनका जन्म बगाल राज्यातर्गत वीरभूमि नामक स्थान के निकटवर्ती किंदुबिल्व ग्राम मे स० ११६५ के लगभग हुआ था । उनके पिता का नाम भोजदेव और माता का नाम रामादेवी अथवा राधादेवी था । जब वे छोटी आयु के थे, तभी उनके माता-पिता का देहात हो गया था । उसके उपरात वे जगन्नाथपुरी चले गये थे । उनका आरभिक जीवन भगवान् जगन्नाथ जी के भक्तिपूर्ण गीतो का गायन करते हुए बीता था । श्री जगन्नाथ जी की स्तुति विषयक उनकी 'अष्टपदी' सभवत वहाँ पर ही रची गई थी । उस काल मे बगाल का राजा लक्ष्मणसेन (स० ११७६–स० १२३५) सस्कृत काव्य का बडा प्रेमी और सुकवियो का आश्रयदाता था । उसके दरबार मे गोवर्धनाचार्य, उमापतिधर, शरण और महाकवि धोयी जैसे कवि-पुगव विद्यमान थे । जयदेव जी जन्मजात कवि और गायक थे । अपने सरस गेय काव्य के कारण वे राजा लक्ष्मणसेन के दरबारी कवि हो गये थे । उन्होने वहाँ बडी प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि प्राप्त की थी ।

वे गृहस्थ थे, विरक्त नही । उनकी दो पत्नियो का उल्लेख मिलता है, जिनमे से एक का नाम पद्मावती जी और दूसरी का रोहिणी जी था । उनके पुत्र का नाम कृष्णदेव था, जिसका जन्म स० १२१५ के लगभग हुआ था । उन्होने समस्त भारत की यात्रा की थी और वे व्रज मे भी आये थे । ऐसा कहा जाता है, उन्होने मथुरा के निकटवर्ती रावल ग्राम मे कुछ काल तक निवास किया था । उनके सेव्य ठाकुर श्री राधामाधव जी थे । वह देव-प्रतिमा उन्हे रावल मे ही प्राप्त हुई थी । उनका देहात सभवत बगाल के कदुलीग्राम मे हुआ था । उसी स्थान पर उनकी समाधि बनी हुई है, जहाँ मकर सक्राति के अवसर पर प्रति वर्ष एक बडा मेला लगता है । पौष शु ७ को उसी स्थान पर उनकी जयती का भी उत्सव मनाया जाता है । इन उत्सवो मे हजारो वैष्णव सम्मिलित होते है । उस समय उनकी समाधि की परिक्रमा करते हुए सामूहिक सकीर्तन किया जाता है ।

जयदेव जी की प्रसिद्ध रचना 'गीतगोविंद' सस्कृत भाषा का एक गेय प्रबध काव्य है, जिसमे १२ सर्ग हैं । अपनी कोमल-कात पदावली, सरस रचना-शैली और सगीतात्मकता के कारण आरभ से ही इसकी बडी प्रसिद्धि रही है । इसके अनुकरण पर अनेक कवियो ने गेय काव्य रचे, किंतु उन्हे जयदेव के समान सफलता नही मिल सकी । वास्तव मे 'गीतगोविंद' अपने विषय की अनुपम रचना है । इसने जयदेव जी को अमर कर दिया है । इसमे राधा-कृष्ण की जिन मधुर लीलाओ का भक्तिपूर्ण कथन किया गया है, उन्होने जयदेव जी को साहित्य के माध्यम से धर्म मे प्रतिष्ठित किया है । भारतीय भाषाओ के परवर्ती भक्त-कवियो को इससे प्रचुर प्रेरणा मिली है ।

---

(१) भक्तमाल, छप्पय सं० १५०

(२) भक्तिरस बोधिनी, कवित्त सं० १४४–१६३

जयदेव जी महाकवि होने के साथ ही परम भक्त भी थे। उनकी भक्ति माधुर्य भाव की थी। उन्होने 'गीतगोविंद' के आरभ मे ही अपनी भावना को स्पष्ट करते हुए कहा है,—'जिनके सरस मन मे विलास कला द्वारा हरि-स्मरण का कुतूहल हो, उसी को जयदेव की कोमल-कात पदावली सयुक्त मधुर वाणी को सुनना चाहिए[1]।' इस प्रकार की घोषणा के कारण सर्वश्री कीथ, मानियर विलियम्स और रामकुमार वर्मा जैसे विद्वान समालोचको ने जयदेव जी की धार्मिकता और आध्यात्मिकता पर शका की है। उन्होने लिखा है,—'गीतगोविंद मे आध्यात्मिकता का सकेत भले ही मान लिया जावे, किंतु इसमे कामसूत्र के सकेतो के आधार पर राधा-कृष्ण का परिरभन है, विलास है, क्रीडा है। इस क्रीडा मे ही रहस्यवाद का सकेत आलोचको द्वारा माना गया है[2]।'

वर्तमान आलोचको के मत के विरुद्ध जयदेव जी को आरभ से ही एक भक्त-कवि और उनकी रचना 'गीतगोविंद' को एक भक्तिपूर्ण काव्य माना गया है। राधा-कृष्णोपासक भक्त जनो ने तो उनके महत्व को स्वीकार किया ही है, कबीर जैसे स्पष्टवादी निर्गुण सत ने भी महात्मा नामदेव के साथ जयदेव जी को भी शुकदेव, उद्धव, अक्रूर, हनुमान, शकर जैसे परम भागवतो की कोटि का भक्त माना है[3]। श्री चैतन्य महाप्रभु 'गीतगोविंद' को सुन कर भक्ति भाव मे आत्म विभोर हो जाया करते थे। उन्होने अपने अनुयायियो को उसका निरतर गायन और श्रवण करने का आदेश दिया था। श्री जगन्नाथ जी के मदिर सहित अगणित देव-स्थानो मे ठाकुर जी के समक्ष सदा से ही इनके सरस पदो का गायन होता रहा है। इन सब बातो के कारण जयदेव जी को भक्त-कवि और उनकी रचना को भक्ति-काव्य मानने मे कोई सदेह नही होना चाहिए।

श्री गांगल भट्टाचार्य—इस अध्याय की काल-सीमा मे व्रज मे आने वाले भक्त जनो मे निंबार्क सप्रदाय के आचार्य श्री गागल भट्ट और उनकी शिष्य-परपरा के आचार्यों के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री गागल भट्ट जी को निंबार्क सप्रदाय का ३२वाँ आचार्य माना जाता है और उनके जन्मोत्सव की तिथि चैत्र कृ० २ कही जाती है[4]। वे दिग्विजयी विद्वान श्री केशव काश्मीरी भट्ट के गुरु थे, इसी से उनके साप्रदायिक महत्व का अनुमान किया जा सकता है। श्री गागल भट्ट जी किस काल मे विद्यमान थे, यह बडी उलझी हुई पहेली है। निंबार्क सप्रदायी मान्यता के अनुसार श्री केशव काश्मीरी जी अलाउद्दीन खिलजी के शासन-काल (स १३५३ से स १३७३) मे विद्यमान थे[5]। इस प्रकार उनके गुरु श्री गागल भट्ट जी का समय उनसे कुछ पहिले अर्थात् १४वीं शताब्दी का आरभिक काल समझा जाता है, किंतु इसकी सगति अन्य प्रमाणो से नही होती है।

---

(१) यदि हरि स्मरणे सरस मनो, यदि विलास कला सु कुतूहलम्।
मधुर कोमलकात पदावली, शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्॥

(२) हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (तृ० स०), पृ० ५०२

(३) १ माते सुकदेव, ऊधौ, अक्रूर। हनुमत माते लै लगूर॥
सिव माते हरि-चरनन सेव। कलि माते नामा-जयदेव॥ (कबीर बीजक)
२ जयदेव, नामा, विप्प सुदामा, तिनकी कृपा भई अपार॥ (आदि ग्रथ)

(४) श्री आचार्य-परपरा-परिचय, पृष्ठ १२

(५) वही , पृष्ठ १३

वृ दावन के भक्त-कवि श्री हरिराम जी व्यास ने अपने पूर्ववर्ती और समकालीन कतिपय सतो एव भक्तो का नामोल्लेख किया है, जिससे उसके अस्तित्व-काल का अनुमान किया जा सकता है। व्यास जी अपने एक पद मे कुछ विशिष्ट भक्तो से आत्मीयता का नाता जोडते हुए कहते है,—"मै रूप-सनातन का सेवक हूँ और गागल भट्ट की मुझ पर कृपा रही है। रसिक हरिदास और हरिवश ने भी मुझे अपने से पृथक् नही किया है, अर्थात् अपने साथ रखा है[1]।" इस उल्लेख के अनुसार यदि सर्वश्री रूप, सनातन, हरिदास और हित हरिवश के साथ ही साथ गागल भट्ट जी को व्यास जी का समकालीन न भी समझा जावे, तब भी उनसे कई शताब्दी पूर्व का मानना भी सभव नही है। काल-क्रम के अनुसार व्यास जी को निंबार्क सप्रदायी भक्ताचार्यो मे से स्वयभूराम जी, उद्धव जी और परशुराम जी आदि का अथवा अधिक से अधिक उनके गुरु हरिव्यास देव जी का नामोल्लेख करना चाहिए था। किंतु वे उनके अतिरिक्त हरिव्यास देव जी के गुरु श्रीभट्ट जी और उनके गुरु केशव काश्मीरी भट्ट जी का भी नामोल्लेख न कर उनके गुरु गागल भट्ट जी का उल्लेख वर्तमान काल की सी क्रिया मे करते है। इससे ज्ञात होता है, वे 'गगल भट्ट' निंबार्क सप्रदाय के आचार्य गागल भट्ट जी से पृथक् कोई अन्य भक्त जन थे।

श्री गागल भट्ट जी कहाँ के निवासी थे और वे किस काल मे व्रज मे आये थे, इसके सबध मे कोई प्रामाणिक उल्लेख नही मिलता है। नाभा जी ने उन्हे श्री भीष्म भट्ट जी का पुत्र तथा श्री वर्धमान भट्ट जी का भाई वतलाया है और उनकी भागवत-कथा की वड़ी प्रशसा की है[2]। इसके अतिरिक्त उनका कोई जीवन-वृत्त प्राप्त नही होता है। उनकी नाम-छाप का एक होली का पद मिलता है[3], किंतु यह उन्ही की रचना है, अथवा उक्त नाम के किसी अन्य भक्त-कवि की—यह भी निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता। कदाचित यह उन गगल भट्ट जी की रचना है, जिनका नामोल्लेख व्यास जी के पद मे हुआ है।

श्री केशव काश्मीरी भट्टाचार्य—उन्हे श्री गागल भट्टाचार्य का शिष्य और निंबार्क सप्रदाय का ३३ वाँ आचार्य माना जाता है और उनके जन्मोत्सव की तिथि ज्येष्ठ शु० ४ कही जाती है[4]। यद्यपि वे तैलग प्रदेशीय दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे, तथापि कश्मीर मे अधिक काल तक निवास

---

(१) इतनौ है सब कुटुम हमारौ।
रूप-सनातन कौ हौं सेवक, गगल भट्ट सुढारौ॥
आसू कौ हरिदास रसिक, हरिवंश न मोहिं बिसारौं।
—भक्त-कवि व्यास जी, पृष्ठ स० १६६, साधु-स्तुति का पद स० २१

(२) भक्तमाल, छप्पय स० ८२

(३) दोऊ राजत जुगल किसोर, अति आनंद भरे।
व्रज जुवतिन के चित चोर, परम विचित्र खरे॥ × ×
मदन लजानौ देखिकै, कमल नैन की केलि।
'गगल' प्रभु आये घरै, सब सुख-सागर झेलि॥
—शृंगार रस सागर (प्रथम खंड), पृष्ठ स० २४७ पद स० १२७

(४) श्री आचार्य-परंपरा-परिचय, पृष्ठ १३-१४

करने के कारण काश्मीरी कहलाते थे। उनका जन्म निंवार्काचार्य जी के वश मे उन्ही के जन्म-स्थान वैदूर्यपत्तन (आध्र राज्य) मे हुआ था[1]। वे दिग्विजयी विद्वान, तपस्वी महात्मा, परम भक्त और प्रकाड शास्त्र-वेत्ता थे। उन्होने तीन वार समस्त भारत की यात्राएँ की थी, जिनमे उन्होने विधर्मियो को पराजित कर वैष्णव धर्म का प्रचार किया था। उन्होंने अनेक ग्रथो की रचना की थी। इनमे प्रस्थानत्रयी पर उनके विद्वतापूर्ण भाष्य और भागवत की टीका विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अपने उत्तर जीवन मे वे व्रज मे आकर वस गये थे। उनके जीवन-वृत्तात की घटनाओ मे मथुरा के मुसलमान काजी से उनके सघर्प की अनुश्रुति अत्यत प्रसिद्ध है।

मथुरा के मुसलमान काजी से सघर्ष—नाभा जी कृत 'भक्तमाल' और प्रियादास जी कृत 'भक्ति रस वोधिनी' टीका मे इस घटना का विस्तार पूर्वक कथन किया गया है। उसमे ज्ञात होता है, जव भट्ट जी कश्मीर मे थे, तव उन्होंने सुना कि मथुरा मे विश्राम घाट के द्वार पर मुसलमानो ने एक ऐसा यत्र लगा रखा है कि जो कोई हिंदू सहज स्वभाव से उधर होकर निकलता है, तो यत्र के प्रभाव से उसकी सुन्नत (मुसलमानी सस्कार की एक क्रिया) हो जाती है। तव उसे पकड कर वलात् मुसलमान वना लिया जाता है। भट्ट जी अपने वहुसख्यक शिष्यो के साथ वहाँ आये और उस स्थान पर जम कर वैठ गये। मुसलमान उनके वस्त्र हटा कर यह देखना चाहते थे कि उनकी सुन्नत हुई है या नही। इस पर उन्होंने क्रोध मे भर कर सब को फटकार दिया। मुसलमानो ने मथुरा के सूवेदार से फरियाद की। सूवेदार ने भट्ट जी को पकडने के लिए जो सैनिक भेजे, वे पराजित होकर मारे गये और उन्हे यमुना मे प्रवाहित कर दिया गया[2]। इस प्रकार किसी से हार न मानने वाला मुसलमान काजी भी भट्ट जी की आध्यात्मिक शक्ति का परिचय प्राप्त कर भयभीत हो गया था[3]।

सघर्ष का काल—नाभा जी कृत 'भक्तमाल' और प्रियादास जी कृत 'भक्ति रस वोधिनी' टीका मे यह नही वतलाया गया कि सघर्प की वह घटना किस मुसलमान शासक के काल मे हुई थी। निंवार्क सप्रदायी विद्वानो ने उक्त घटना को दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन खिजली के शासन काल (स० १३५३—स० १३७३) की, अथवा उससे भी पहिले (स० १२१७) की वतलाते हुए श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी की विद्यमानता भी उसी काल की सिद्ध करने का प्रयास किया है[4]।

---

(१) श्री भक्तमाल (वृंदावन), पृष्ठ ५०६

(२) मथुरा मध्य मलेच्छ वाद करि वरवट जीते।
काजी अजित अनेक, देखि परिचै भयभीते॥ (भक्तमाल, छप्पय स० ७५)

(३) आपु काश्मीर सुनी, वसत विश्रात तीर, तुरक समूह द्वार जत्र इक धारियै।
सहज सुभाय कोउ निकसत आय, ताको पकरत जाय, ताके सुन्नत निहारियै॥
सग लै हजार शिष्य, भरे भक्तिरंग महा, अरे वाही ठौर, वोले नीच, पट टारियै।
क्रोध भरि भारे, आय सूवा पै पुकारे, वे तो देखि सवै हारे, मारे जल वोरि डारियै॥
—भक्तमाल टीका, कवित्त स० ३३७

(४) श्री आचार्य-परपरा-परिचय, पृष्ठ १३, श्री युगल शतक की भूमिका, पृष्ठ १३ और वृंदावन से प्रकाशित 'श्री भक्तमाल', पृष्ठ ५०६—५१६

उस घटना की वास्तविकता की समीक्षा करने से पहिले हम उसके काल पर विचार करना चाहते हैं, क्यों कि इससे श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी के काल पर भी प्रकाश पड़ सकेगा। उक्त घटना का उल्लेख नाभा जी और प्रियादास जी की रचनाओं के अतिरिक्त वल्लभ संप्रदायी वाङ्मय 'श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' और यदुनाथ जी कृत 'वल्लभ दिग्विजय' (सं० १६७८) में भी हुआ है। जहाँ भक्तमाल और उसकी टीका में उस घटना का संबंध श्री केशव काश्मीरी जी से बतलाया गया है, वहाँ 'वार्ता' में वह घटना श्री वल्लभाचार्य जी से संबंधित मानी गई है। हमने उसका विस्तृत वर्णन 'पुष्टि संप्रदाय' के प्रसंग में श्री वल्लभाचार्य जी के जीवन-वृत्त के साथ आगामी पृष्ठों में किया है। यहाँ पर उसके काल-निर्णय के संबंध में यह उल्लेखनीय है कि 'वार्ता' में उक्त घटना को सिकंदर लोदी के काल की बतलाया गया है[1]।

अब प्रश्न यह है कि निंबार्क संप्रदायी विद्वानों के मतानुसार वह घटना अलाउद्दीन खिलजी के काल (सं० १३५३–सं० १३७३) की है, अथवा पुष्टि संप्रदायी 'वार्ता' के अनुसार सिकंदर लोदी के काल (सं० १५४६–सं० १५७४) की ? इतिहास से सिद्ध है कि अलाउद्दीन खिलजी और सिकंदर लोदी दोनों ही क्रूर और हिंसक प्रकृति के शासक थे। खिलजी के शासन काल में मथुरा के असिकुंडा घाट के निकटवर्ती एक प्राचीन मंदिर को तोड़ कर उसके मसाले से वहाँ एक मसजिद बनाये जाने का उल्लेख तो मिलता है[2]; किंतु उस समय मथुरा में धार्मिक संघर्ष जैसा कोई सामूहिक लोक-उत्पीडन हुआ हो, इसका कथन किसी इतिहास ग्रंथ में नहीं हुआ है। ब्रज के निंबार्क संप्रदायी विद्वान श्री ब्रजवल्लभ शरण जी ने उक्त घटना को अलाउद्दीन खिलजी से भी पहिले सं० १२१७ की बतलाया है। उनका कथन है कि श्री केशव काश्मीरी जी के नाम का एक पट्टा सं० १२१७ का मिल रहा है, जिसे यवनों के तांत्रिक अत्याचार से हिंदू धर्म की रक्षा करने के निमित्त उन्हें सभी ब्रजवासियों ने अर्पित किया था और उसे समर्पित करने वालों में यवन भी थे[3]। वह तथाकथित 'पट्टा' अभी तक प्रकाश में नहीं आया है और न यही ज्ञात हो सका है कि उक्त कथन किस आधार पर किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से सं० १२१७ का काल सर्वथा अप्रामाणिक है, क्यों कि तब तक मुसलमानी राज्य ही कायम नहीं हुआ था, अतः मथुरा में यवन काजी द्वारा लोक-उत्पीडन किये जाने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है।

जहाँ तक सिकंदर लोदी के शासन काल का संबंध है, वह मथुरामंडल के निवासियों के लिए बड़े कष्ट और संकट का रहा था। उसका उल्लेख अनेक ऐतिहासिक और सांप्रदायिक ग्रंथों में हुआ है। उस मजहबी बादशाह ने मथुरा के हिंदुओं को अपने विश्वास के अनुसार धार्मिक कृत्य करने से रोक दिया था; यहाँ तक कि उसने उनके यमुना में स्नान करने और घाटों पर क्षौर कर्मादि करने पर भी कड़ी पाबंदी लगा दी थी। उसके काजी–मुल्लाओं ने अनेक प्रकार के अत्याचार द्वारा मथुरा निवासी हिंदुओं को बलात् मुसलमान बनाने की चेष्टा की थी। उस घोर आपत्ति के काल में वैष्णव धर्म के जिन आचार्यों और संतों ने मथुरा के हिंदुओं को [illegible] [illegible] का साहस किया था, उनमें श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी और वल्लभाचार्य जी के नाम [illegible]

(१) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृ० १०–११

(२) ब्रज का इतिहास (प्रथम खंड), पृ० १३८

(३) श्री युगल शतक की भूमिका, पृ० १३

उल्लेख मिलता है। इस प्रकार वह घटना सिकदर लोदी के शासन काल की ज्ञात होती है और उसके कारण श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी और श्री वल्लभाचार्य जी की विद्यमानता भी एक ही समय की सिद्ध होती है।

श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी और श्री वल्लभाचार्य जी एक ही काल मे विद्यमान थे, इनके समर्थन मे पुष्टि सप्रदायी ग्रथो के वे उल्लेख भी है, जिनमे इन दोनो महानुभावो की भेट का कथन हुआ है। गदाधर द्विवेदी कृत 'सप्रदाय प्रदीप' (रचना काल स० १६१०) मे सर्वश्री काश्मीरी भट्टाचार्य जी और वल्लभाचार्य जी की भेट का उल्लेख है[१]। इसके अतिरिक्त 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अतर्गत 'माधव भट्ट काश्मीरी की वार्ता' है। उसमे लिखा गया है, माधव भट्ट पहिले श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी के सेवक थे और उन दोनो ने श्री वल्लभाचार्य जी से श्रीमद् भागवत की कथा सुनी थी[२]। वार्ता मे लिखा है,—'केशव भट्ट विद्या मद ते ऊँचे आसन पर बैठिके कथा सुनते और माधव भट्ट मन लगाय दास भाव सो सुनते[३]।' वल्लभाचार्य जी की कथा सुनने से माधव भट्ट का मन काश्मीरी जी से हट कर आचार्य जी की ओर आकर्षित हो गया था। उससे क्षुब्ध होकर श्री काश्मीरी जी ने माधव भट्ट को वल्लभाचार्य जी के पास चले जाने को कहा था। माधव भट्ट आचार्य जी के शिष्य और उनके प्रधान लिपिक हो गये थे। उन्होने आचार्य जी के समस्त ग्रथो की हस्तलिपियाँ तैयार की थी। माधव भट्ट की मृत्यु वल्लभाचार्य जी के देहावसान से कुछ समय पूर्व हुई थी[४]।

श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी की भेंट श्री वल्लभाचार्य जी के साथ ही साथ श्री चैतन्य महाप्रभु से भी हुई थी। इसका उल्लेख चैतन्य सप्रदायी विख्यात विद्वान सर्वश्री वृ दावनदास और कृष्णदास कविराज के साथ ही साथ प्रियादास जी ने भी किया है। वृ दावनदास कृत 'चैतन्य भागवत' और कृष्णदास कविराज कृत 'चैतन्य चरितामृत' मे श्री केशव भट्ट जी के नाम का स्पष्टतया उल्लेख नही है, वरन् उनकी सुप्रसिद्ध उपाधि 'दिग्विजयी' से उन्हे सबोधित किया गया है[५]। प्रियादास जी कृत 'भक्ति रस बोधिनी' भक्तमाल टीका मे स्पष्ट रूप से श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी का नामोल्लेख हुआ है। उसमे मथुरा के मुसलमान काजी के साथ श्री काश्मीरी भट्ट जी के सघर्ष का वर्णन करने से पहिले ४ कवित्तो मे उनकी चैतन्य महाप्रभु से भेट होने का कथन किया गया है। प्रियादास के लेखानुसार वह भेट चैतन्य महाप्रभु के जन्मस्थान नदिया मे हुई थी और उसमे उन दोनो महापुरुषो द्वारा शास्त्र-चर्चा किये जाने के अनतर काश्मीरी जी का चैतन्य जी के समक्ष हतप्रभ होना बतलाया गया है[६]।

---

(१) सप्रदाय प्रदीप (विद्या विभाग, काँकरोली), पृष्ठ ७४ और १००

(२) माधव भट्ट काश्मीरी की वार्ता (चौरासी वैष्णवन की वार्ता, स० २७)

(३) द्वारकादास परिख द्वारा संपादित 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' (तृ० स०), पृष्ठ १४८

(४) वही ,, ,, ,, पृष्ठ १४८—१५२

(५) श्री चैतन्य भागवत, आदि खड, नवम् अध्याय और श्री चैतन्य चरितामृत, आदि लीला, षोड़श अध्याय देखिये।

(६) भक्तमाल (भक्तिसुधा स्वाद तिलक, तृ० स०) पृष्ठ ५६०—५६२ पर प्रकाशित प्रियादास कृत कवित्त स० ३३३ से ३३५

वृंदावन से प्रकाशित 'श्री भक्तमाल' मे प्रियादास जी के कथन की समीक्षा करते हुए श्री केशव काश्मीरी भट्टाचार्य और श्री चैतन्य महाप्रभु की भेट से सबधित वे चार कवित्त प्रक्षिप्त माने गये है[1]। प्रियादास जी चैतन्य मतानुयायी थे। सभव है, सर्वश्री वृंदावनदास और कृष्णदास कविराज के कथनो को स्पष्ट कर उन्हे विशद रूप मे प्रचारित करने मे उनका साप्रदायिक उद्देश्य रहा हो, किंतु वैसा ही कथन अन्य संप्रदायो के भक्तो की रचनाओ मे भी मिलता है। उदाहरणार्थ रामोपासक महाराज रघुराज सिंह कृत 'राम रसिकावली–भक्तमाला' मे भी इसी प्रकार का उल्लेख किया गया है[2]।

सर्वश्री केशव काश्मीरी भट्ट जी और चैतन्य महाप्रभु के समकालीन होने की अनुश्रुति निंवार्क सप्रदाय मे भी प्रचलित है। उसके अनुसार श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी द्वारा सर्वश्री चैतन्य जी और नित्यानद जी आदि को शिष्य बनाने की मान्यता रही है। निंबार्क सप्रदायाचार्य श्री गोविंददेव जी (आचार्यत्व काल स० १८००—स० १८१४) कृत 'जयति चतुर्दश' ग्रथ के अतर्गत 'श्री गुरु परपरा जयति' मे इसका स्पष्ट कथन है[3], और 'श्री आचार्य–परपरा–परिचय' मे इसका सकेत किया गया है[4]। श्री वल्लभाचार्य जी सर्वश्री चैतन्य महाप्रभु और नित्यानद जी के समकालीन थे, अत निंबार्क सप्रदायी उल्लेखो के अनुसार भी वे श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी के काल मे विद्यमान माने जावेंगे।

हमे यह कहने मे कोई सकोच नही है कि चैतन्य, वल्लभ और निंवार्क सप्रदायी ग्रथो के पूर्वोक्त कथनो मे साप्रदायिकता का आग्रह है। उनमे एक सप्रदाय के धर्माचार्य के महत्व को दूसरे संप्रदाय के धर्माचार्य की तुलना मे जिस प्रकार घटा-बढा कर लिखा गया है, उसका समर्थन कोई तटस्थ समीक्षक नही कर सकता। किंतु उनमे जो ऐतिहासिक तथ्य निहित है, उसकी भी उपेक्षा नही की जा सकती। इन उल्लेखो की दीर्घकालीन शृंखला से यह समझा जा सकता है कि सर्वश्री वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु की भेट श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी से किसी काल मे अवश्य हुई थी। हमारे अनुमान से उन तीनो महानुभावो की भेट का समय स० १५५० से स० १५६० के बीच का हो सकता है। उस समय सर्वश्री वल्लभाचार्य और चैतन्य देव की आयु १५–२० वर्ष से अधिक की नही होगी और श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी १००–१२५ वर्ष से कम के नही होगे।

श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी का अत्यत दीर्घायु होना निंवार्क संप्रदाय मे भी मान्य है। इस सप्रदाय के विद्वानो ने भट्टाचार्य जी की जीवन–लीला का एक छोर अलाउद्दीन खिलजी के काल (स० १३५३–१३७३) मे माना है, तो दूसरा छोर चैतन्य महाप्रभु के नदिया-निवास काल (स० १५६२) मे। यदि श्री व्रजवल्लभ शरण जी के मत को स्वीकार किया जाय, तो आरभिक छोर स० १२१७ तक खिच जाता है। इस प्रकार काश्मीरी जी का जीवन-काल १३ वी शती के

---

(१) श्री भक्तमाल (वृंदावन), पृष्ठ ५०८–५१९

(२) राम रसिकावली–भक्तमाला मे प्रकाशित 'केशव भट्ट की कथा', पृष्ठ ६९८–६९९

(३) जयति काश्मीरि केशव सुभट जक्त-गुरु, जीत सब भुव भक्ति प्रचुर कीनीं।
कृष्ण चैतन्य नित्यानदादिक त्रिगुण, बहु शिष्य करि अमित हरि-मूर्ति दीनीं ।।
—निंवार्क माधुरी, पृष्ठ ४९१

(४) श्री आचार्य-परंपरा-परिचय, पृष्ठ १३

आरभ से १६वी शती के अत तक पहुँचने मे उनकी आयु ४०० वर्ष से कम की सिद्ध नही होती है। इसके लिए निंबार्क सप्रदायी विद्वानो का स्पष्टीकरण है कि केशव काश्मीरी जी 'अष्टाग सिद्ध योगी[1]' और 'दिव्य सिद्धि युक्त[2]' थे। एक भक्ति-सप्रदायाचार्य को 'अष्टाग सिद्ध योगी' और 'दिव्य सिद्धि युक्त' वतलाना भक्ति सिद्धात के कहाँ तक अनुकूल है, यह विचारणीय है। वैसे सत-महात्माओं का दीर्घायु होना सर्वथा सभव है, किंतु उनके जीवन-काल की अवधि १००-१२५ वर्ष की तो हो सकती है, ४०० वर्ष की नही। यह मानना सर्वथा हास्यास्पद है कि श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी अलाउद्दीन खिलजी के काल मे सिकदर लोदी के काल तक विद्यमान रहे थे। हमारे अनुमान से उनका उपस्थिति-काल स० १४४० से स० १५६५ के लगभग है। इस प्रकार फीरोज तुगलक के काल मे लेकर सिकदर लोदी के काल तक उनकी विद्यमानता मानी जा सकती है।

श्री वेदप्रकाश गर्ग ने ऐतिहासिक और साप्रदायिक उल्लेखो की परिश्रम पूर्वक खोज और समीक्षा करने के अनतर श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी के काल का निरूपण किया है और मथुरा के यात्रिक सघर्ष की वास्तविकता पर प्रकाश डाला है। उनका मत है, मथुरा का वह सकट काश्मीरी जी और वल्लभाचार्य जी दोनो के सम्मिलित प्रयास से दूर हुआ था। उक्त घटना का काल उन्होने स० १५६० के लगभग अनुमानित किया है। उनका निष्कर्ष है, केशव काश्मीरी भट्टाचार्य जी निश्चित रूप से चैतन्य महाप्रभु तथा वल्लभाचार्य जी के समकालीन थे और यात्रिक सघर्ष वाली घटना दिल्ली के तत्कालीन सुलतान सिकदर लोदी के राजत्व काल मे घटी थी[3]। हम भी गर्ग जी के निष्कर्ष से सहमत हैं, किंतु उक्त घटना का काल हमारे मतानुसार स० १५६० से कुछ पूर्व का है। 'श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' के अनुसार उक्त घटना वल्लभाचार्य जी की प्रथम यात्रा के काल मे हुई थी, जव कि वे पहली वार व्रज मे आये थे। वह काल स० १५५० का माना गया है[4]।

यात्रिक सघर्ष का वास्तविक स्वरूप—लोक प्रचलित अनुश्रुतियो और किंवदतियो के कारण 'भक्तमाल' और 'वार्ता' आदि साप्रदायिक ग्रथो मे मथुरा के सघर्ष को उसके वास्तविक रूप से भिन्न एक चमत्कारपूर्ण घटना वना दिया गया है। असल मे वह एक ऐतिहासिक घटना है, जिसका सवध सिकदर लोदी की हिंदुओ को तग करने की नीति से है। गत पृष्ठो मे हम लिख चुके है कि उस असहिष्णु सुलतान ने मथुरा के हिंदुओ को यमुना मे स्नान करने तक की मनाही करदी थी, ताकि वे अपने धार्मिक कृत्य न कर सके। उसने हिंदुओ को वलात् मुसलमान वनाने के लिए अनेक अमानुषिक आदेश प्रचलित किये थे। उनके कारण मथुरा मे वडा आतक था और वहाँ के निवासी वडे परेशान थे।

उस काल मे सर्वश्री केशव काश्मीरी भट्ट और वल्लभाचार्य जी जैसे सत-महापुरुषो ने अत्यत साहस पूर्वक हिंदुओ के उस सकट को दूर करने का प्रयास किया था। 'भक्तमाल' मे लिखा है, केशव काश्मीरी जी ने मथुरा के मुसलमान सूवेदार के सैनिको को मार कर यमुना मे प्रवाहित

---

(१) निंवार्क माधुरी, पृष्ठ ४७३

(२) श्री आचार्य-परपरा-परिचय, पृष्ठ १३

(३) श्री केशव काश्मीरी भट्टाचार्य का समय-निरूपण, (साहित्य सगम), पृष्ठ ७२-७३

(४) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ १०-११

श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी (यन्त्र-बाधा का निवारण करते हुए)
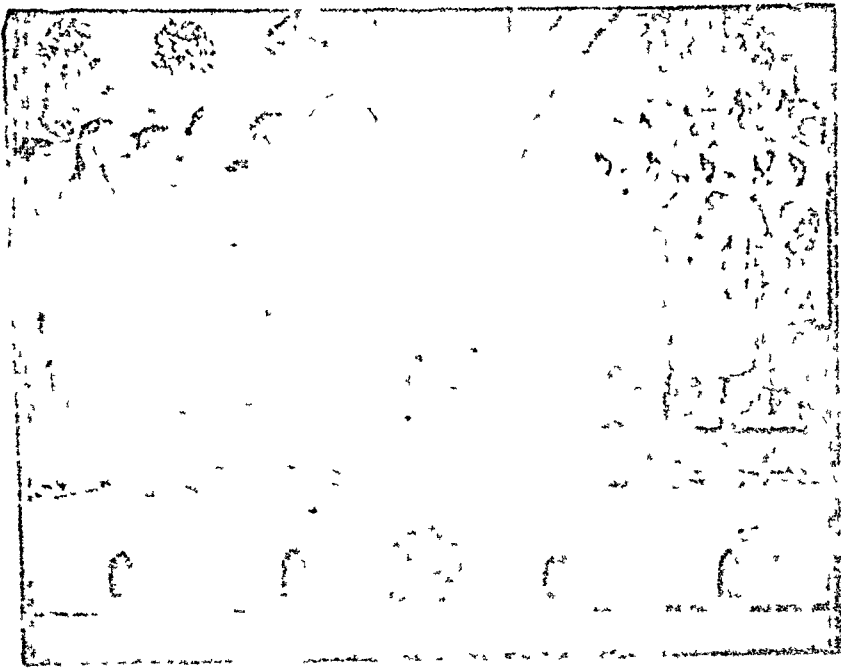
(यांत्रिक संघर्ष में विजय)
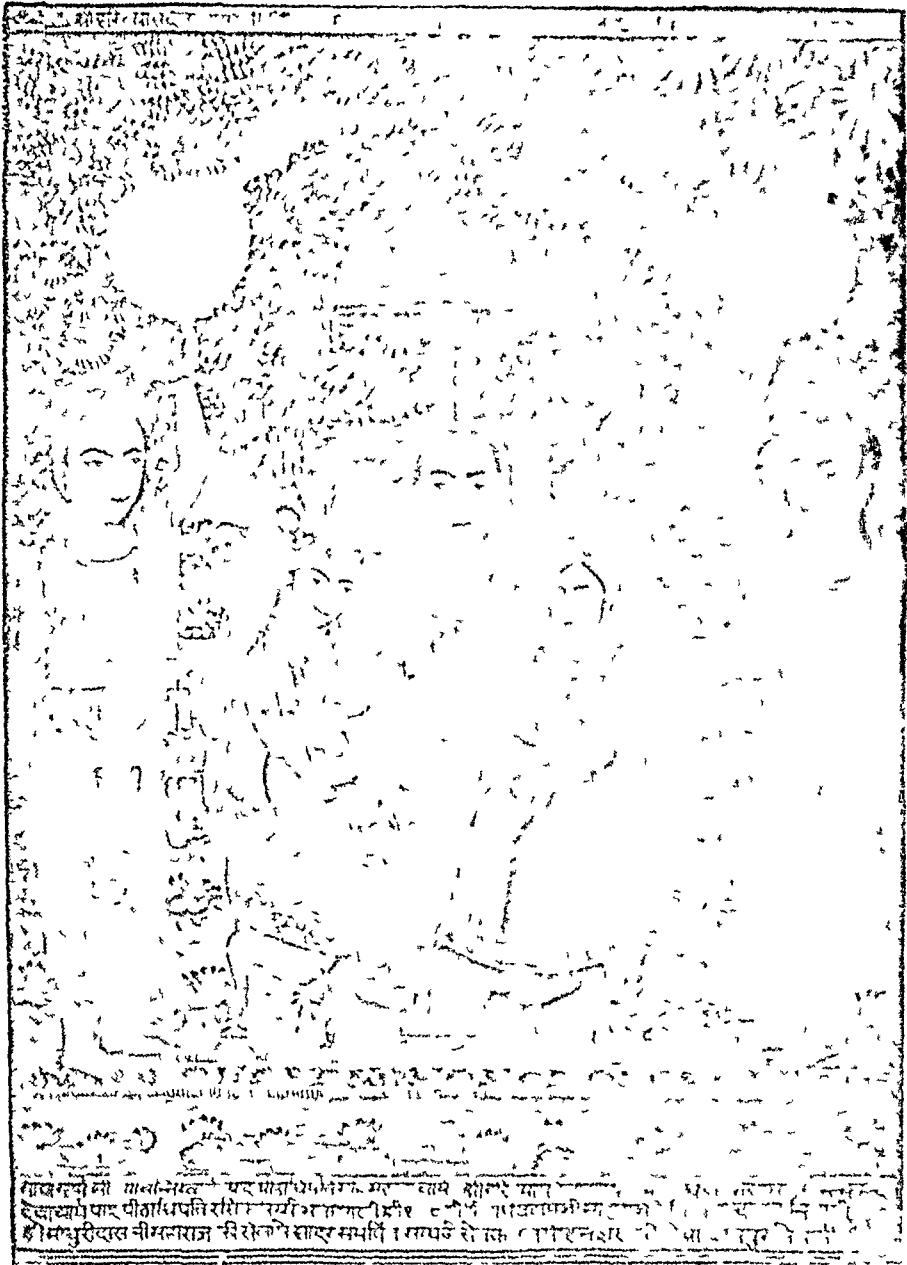
श्री श्रीभट्ट देव जी (श्रीराधा-कृष्ण को गोद मे लेने के भावावेश मे)

कर दिया था और वहाँ के काजी को पराजित किया था। उस काल की विषम परिस्थिति मे अत्याचार पीडित हिंदुओ द्वारा मुसलमानो के साथ उस प्रकार का व्यवहार किया जाना सभव नही था। 'भक्तमाल' के उक्त विवरण की अपेक्षा 'श्रीगोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' का कथन अधिक उपयुक्त जान पडता है। 'वार्ता' मे लिखा गया है कि बल्लभाचार्य जी ने अपने दो सेवको को दिल्ली भेज कर उनके द्वारा सिकदर लोदी को प्रभावित किया था, जिसके फल स्वरूप मथुरा के हिंदुओ का सकट दूर हुआ था। उक्त घटना का बौद्धिक समाधान यह हो सकता है कि जहाँ पहिले मुसलमान अधिकारियो ने हिंदुओ को यमुना मे स्नान करने की बिलकुल मनाही कर दी थी, वहाँ उक्त महात्माओ के प्रयत्न से कुछ राजकीय कर देने पर उन्हे स्नानादि करने की आज्ञा मिल गई होगी। इस प्रकार का तीर्थ-कर उस काल मे मथुरा मे प्रचलित था और उसे बाद मे मुगल सम्राट अकबर ने हटाया था।

भट्टाचार्य जी का अतिम जीवन और देहावसान—उक्त घटना के पश्चात् श्री केशव भट्टाचार्य जी मथुरा मे स्थायी रूप से रहने लगे थे। वे तब तक अत्यत वृद्ध हो चुके थे। उनका निवास-स्थान मथुरा मे ध्रुव क्षेत्र था, जहाँ के ध्रुव टीला और उसके निकटवर्ती नारद टीला पर वे अपनी शिष्य-मडली के साथ निवास करते थे। उनका देहावसान अनुमानत स० १५६५ के लगभग मथुरा मे हुआ होगा। वहाँ के नारद टीला पर चरण-चिह्न युक्त जो तीन समाधियाँ बनी हुई है, उनमे से एक श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी की बतलाई जाती है।

श्री श्रीभट्ट जी—वे श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी के शिष्य थे। निवार्क सप्रदाय की आचार्य-परपरा मे उन्हे ३४ वाँ आचार्य माना जाता है, और उनके जन्मोत्सव की तिथि अगहन शु० १२ कही जाती है[1]। साप्रदायिक मान्यता के अनुसार उन्होने आश्विन शु० २ को आचार्यत्व ग्रहण किया था, अत. उस दिन उनका पाटोत्सव मनाया जाता है[2]। श्री रूपरसिक जी की वाणी मे श्रीभट्ट जी के जीवन-वृत्त से सबधित जो सकेत मिलते हैं, उनसे ज्ञात होता है कि उनका जन्म गौड ब्राह्मण परिवार मे हुआ था और उनके पूर्वज जिला हिसार (हरियाना) के निवासी थे; किंतु उनके माता-पिता उनके जन्म से बहुत पहिले ही मथुरा मे आकर बस गये थे। श्रीभट्ट जी का जन्म मथुरा मे ही हुआ था[3]। जब श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी मथुरा पधारे और यवन काजी के अत्याचारो से ब्रजवासियो की रक्षा करने के उपरात यहाँ के ध्रुव क्षेत्र मे निवास करने लगे, तब श्रीभट्ट जी उनके शिष्य हुए थे[4]। श्री काश्मीरी भट्ट जी के पश्चात् श्रीभट्ट जी ने उनके उत्तराधिकारी के रूप मे निवार्क सप्रदाय की आचार्य-गद्दी को सुशोभित किया था। वे जीवन-पर्यत ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए भक्ति-भाव मे तल्लीन रहे थे।

विद्यमानता का काल—श्रीभट्ट जी किस काल मे विद्यमान थे, इसके सबध मे बडा विवाद है। नानपारा (जिला बहराइच) के पुस्तकालय मे श्रीभट्ट जी की रचना 'युगल शतक' की एक प्रति है, जिसके अत मे एक दोहा दिया हुआ है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अनु-सधानकर्ताओ ने 'खोज रिपोर्ट' के लिए उक्त दोहा की जो प्रतिलिपि की थी, उसमें 'युगल शतक' का

(१) श्री आचार्य-परपरा-परिचय, पृष्ठ १४-१५
(२) श्री युगल शतक की भूमिका, पृष्ठ ६
(३) श्री भक्तमाल (वृंदाबन), पृष्ठ ५१७ और श्री आचार्य-परपरा-परिचय, पृष्ठ १४
(४) श्री युगल शतक की भूमिका, पृष्ठ ५

रचना-काल स० १३५२ समझा गया है[1]। खोज-रिपोर्ट के अध्यक्ष डा० हीरालाल जैन ने उक्त दोहा मे आये हुए 'राम' के स्थान पर 'राग' पाठ होने की संभावना प्रकट करते हुए इसे सं १६५२ वि की रचना माना है[2]। इस संबंध मे यह उल्लेखनीय है कि यह दोहा 'युगल शतक' की अन्य प्रतियो मे नही मिलता है, अत इसे संदिग्ध भी समझा जा सकता है। मिश्रबंधुओं ने इसका रचना-काल स० १६३० के लगभग माना है[3]।

निंबार्क संप्रदायी विद्वान अभी तक 'युगल शतक' का रचना-काल स० १३५२ मान कर श्रीभट्ट जी की विद्यमानता का काल विक्रम की १४ वी शताब्दी मानने के पक्ष मे रहे हैं[4]। किंतु एक नवीन तथ्य की उपलब्धि से अब कुछ विद्वानो का झुकाव १५ वी शताब्दी की ओर होने लगा है। वृ दावन से प्रकाशित 'श्री भक्तमाल' के के संपादक महोदय ने श्रीभट्ट जी के जीवन-वृत्त की समीक्षा करते हुए बतलाया है कि कश्मीर के मुसलमान शासक शाहीखाँ के शासन काल मे श्रीभट्ट जी कश्मीर मे थे और वहाँ के निवासियो के रोगो को दूर करने के लिए उन्हे औषधि दिया करते थे[5]। डा० नारायणदत्त शर्मा ने अपने शोध-प्रबंध मे 'तबकाते अकबरी'—भाग ३ के आधार पर इसका समर्थन किया है[6]। किंतु इन दोनो विद्वानो के कथनो मे कुछ भ्रांतियाँ है, जिनका संशोधन होना आवश्यक है।

'श्री भक्तमाल' के संपादक ने कश्मीर के शासक शाहीखाँ का उपनाम सिकंदर बुतशिकन बतलाते हुए उसका शासन काल सन् १४२७ ई० (स १४८४) लिखा है, जब कि डा० नारायण दत्त शर्मा ने स० १४३५ से स० १४८७ वि० बतलाया है। इस संबंध मे यह जानना आवश्यक है कि शाहीखाँ का नाम वास्तव मे शाहखाँ था, और वह जैनुल आबदीन के नाम से अधिक प्रसिद्ध था। सिकंदर बुतशिकन (मूर्तिभंजक) उनका उपनाम नही था, वरन् उसके पिता का नाम था। जहाँ सिकंदर हिंदू धर्म का बडा दुश्मन और मंदिर–मूर्तियो को नष्ट करने वाला था, वहाँ जैनुल आबदीन एक उदार एव कलाप्रिय शासक था। उसके गुणो के कारण ही वह 'कश्मीर का अकबर' कहा गया है। उसने सन् १४२० के जून माह से सन् १४७० के अंत तक प्राय. ५२ वर्ष तक शासन किया था[7]। इस प्रकार उसका यथार्थ शासन काल स १४७७ से स १५२७ तक है। यदि श्रीभट्ट जी जैनुल आबदीन के शासन काल मे कश्मीर मे थे, तब उनकी विद्यमानता विक्रम की १५ वी शताब्दी के अंतिम और १६ वी शताब्दी के प्रारंभिक काल मे मानी जावेगी। किंतु 'तबकाते अकबरी' मे जिस श्रीभट्ट वैद्य को कश्मीर का दरबारी पंडित बतलाया गया है, वह माधुर्य भक्ति के सरस पद–रचयिता और निंबार्क संप्रदाय के आचार्य श्रीभट्ट जी से अभिन्न था,

(१) नैन बान पुनि राम ससि, गनौ अंक गति वाम।
'जुगल सतक' पूरन भयौ, संवत् अति अभिराम॥
(२) श्री भक्तमाल, (वृ दावन), पृष्ठ ५१८
(३) मिश्रबंधु विनोद (प्रथम भाग), पृष्ठ ३५१
(४) श्री निंबार्क माधुरी, पृष्ठ ६, श्री आचार्य-परंपरा-परिचय, पृष्ठ १४ और श्री युगल शतक की भूमिका, पृष्ठ १०
(५) श्री भक्तमाल (वृ दावन), पृष्ठ ५१८
(६) निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण–भक्त हिंदी कवि (प्रथम खंड), पृष्ठ ३३
(७) दिल्ली सल्तनत (डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव), पृष्ठ ३१०

इसे मानने का कोई भी प्रमाण उपलब्ध नही है। हमारे मतानुसार कश्मीर का वह श्रीभट्ट वैद्य कोई दूसरा व्यक्ति था। इसी नाम का एक भक्त-कवि श्री वल्लभाचार्य जी के आरभिक सेवको मे भी हुआ है और उसकी रचना निबार्क सप्रदायाचार्य श्रीभट्ट जी की तरह माधुर्य भक्ति की ही है[1], किंतु उसकी पृथकता प्रमाणित है। श्रीभट्ट जी की उपलब्ध रचना की परिष्कृत ब्रजभाषा और उसमे व्यक्त माधुर्य भक्ति के विकास की दृष्टि से उनकी विद्यमानता १४ वी अथवा १५ वी शताब्दी मानना सभव नही है। हमारे अनुमान से वे स १५२५ से स १६०० के लगभग विद्यमान रहे होगे।

श्रीभट्ट जी की विशेषता—केशव काश्मीरी भट्ट जी तक प्राय सभी निबार्क संप्रदायी आचार्य दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे, किंतु श्रीभट्ट जी उत्तर भारतीय गौड ब्राह्मण थे। उनसे पहिले के आचार्यो ने सस्कृत मे रचना की थी, किंतु श्रीभट्ट जी निबार्क सप्रदाय के प्रथम ब्रजभाषा वाणी-कार थे। उनकी रचना 'युगल शतक' को इसीलिए इस सप्रदाय मे 'आदि वाणी' कहा जाता है। यद्यपि श्रीभट्ट जी ने सस्कृत मे भी कुछ स्तोत्रो की रचना की थी, किंतु उनका सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रथ ब्रजभाषा मे रचा हुआ 'युगल शतक' ही है।

श्रीभट्ट जी से पहिले तक के आचार्यो का लक्ष्य द्वैताद्वैत दर्शन और नवधा भक्ति का प्रसार करना था, किंतु श्रीभट्ट जी ने अपनी रचना द्वारा माधुर्य भक्ति के प्रचार को प्रमुखता प्रदान की थी। नाभा जी ने उनके सबध मे कहा है,—'श्रीभट्ट जी की रचना माधुर्य भाव से ओत-प्रोत है, और उसमे ललित लीलाओ से युक्त आनदकद श्री राधा–कृष्ण के ऐसे स्वरूप के दर्शन होते है, जो कवियो और रसिको के मानस मे प्रेम की वर्षा करते है[2]।' श्रीभट्ट जी राधा–कृष्ण की दिव्य मधुर लीलाओ का अहर्निश अवलोकन, मनन और गायन करते हुए सखी भाव मे निमग्न रहा करते थे। उनका एक प्राचीन चित्र मिलता है, जिसमे वे सखी भाव मे दिखलाये गये है और उनकी गोद मे युगल किशोर श्री राधा–कृष्ण विराजमान है। उनकी रचना 'युगल शतक' के दोहो सहित १०० पदो मे ब्रज लीला मिश्रित निकुज लीला का सरस कथन हुआ है।

देहावसान और शिष्य परंपरा—श्रीभट्ट जी का देहावसान मथुरा के ध्रुव क्षेत्र मे हुआ था, जहाँ के नारद टीला पर उनकी समाधि होने की मान्यता है। उनके शिष्यो मे दो प्रधान थे,—१. श्री हरिव्यास देव जी और २ श्री वीरम त्यागी जी। श्री हरिव्यास देव जी से निंबार्क सप्रदाय की प्रमुख परपरा चली है, जिसका उल्लेख आगामी पृष्ठो मे इस सप्रदाय का विवरण लिखते हुए किया गया है। श्री हरिव्यास जी के शिष्यो की शाखाओ द्वारा निंबार्क सप्रदाय का बडा प्रचार हुआ था। श्री वीरमदेव जी के शाखा के कुछ लोग अयोध्या के निकट दारानगर मे तथा राज-स्थान के कृष्णगढ और कोटा नामक स्थानो मे मिलते है। श्रीभट्ट जी की शिष्य–परपरा के कुछ गृहस्थ गौड ब्राह्मण मथुरा के ध्रुव क्षेत्र मे तथा जयपुर और कानपुर मे भी निवास करते है[3]।

श्री माधवेन्द्र पुरी—वैष्णव धर्म के कृष्णोपासक सप्रदायो मे निबार्क सप्रदाय के पश्चात् कदाचित माध्व सप्रदाय के आचार्य और भक्तगण ब्रजमडल मे आये थे। उनमे श्री माधवेन्द्र पुरी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे श्री मध्वाचार्य की शिष्य-परपरा मे लक्ष्मीपति जी के शिष्य थे।

---

(१) वल्लभीय सुधा, (वर्ष ३, अक ३–४) मे प्रकाशित 'श्रीभट्ट पदावली'

(२) भक्तमाल, छप्पय स० ७६

(३) श्री आचार्य-परंपरा-परिचय, पृष्ठ १४–१५

पुरी जी के शिष्यो मे सर्वश्री ईश्वर पुरी, परमानद पुरी, केशव पुरी, रामचद्र पुरी विख्यात सन्यासी हुए है। उनके अन्य शिष्यो मे सर्वश्री अद्वैताचार्य, नित्यानद प्रभु और माधवदास के नाम भी प्रसिद्ध है। पुरी जी के शिष्य ईश्वरपुरी जी चैतन्य महाप्रभु के गुरु थे। उनके दूसरे शिष्य अद्वैताचार्य और नित्यानद प्रभु चैतन्यदेव के प्रमुख सहकारी थे। इस प्रकार चैतन्य सप्रदाय की स्थापना मे माधवेन्द्र पुरी का आरभिक योग रहा है। उनके अन्य शिष्य केशव पुरी जी श्री वल्लभाचार्य जी के बडे भाई कहे जाते है। स्वय वल्लभाचार्य जी को भी माधवेन्द्र पुरी ने काशी मे विद्याध्ययन कराया था। वल्लभ सप्रदाय के उपास्य देव श्रीनाथ जी के प्राकट्य एव उनकी आरभिक सेवा-पूजा की व्यवस्था मे भी उनका योग था। इस प्रकार वल्लभ सप्रदाय की स्थापना से परोक्षरूपेण उनका सबध रहा है। पुरी जी के एक शिष्य माधवदास ने वृ दावन के सुप्रसिद्ध भक्त-कवि हरिराम व्यास के पिता सुमोखन शुक्ल को माध्व सप्रदाय की दीक्षा दी थी और स्वय व्यास जी को भी उपदेश देकर उनके सदेहो का निवारण किया था[1]। इस प्रकार वैष्णव-धर्म के कई सप्रदायो से घनिष्ठ रूप मे सबधित होने के कारण श्री माधवेन्द्र पुरी का धार्मिक महत्व स्वयसिद्ध है।

बडे आश्चर्य की बात है, वैष्णव जगत् के परमाराध्य इन पुरी जी का क्रमबद्ध जीवन-वृत्तात उपलब्ध नही है। नाभाजी कृत 'भक्तमाल' मे अनेक भक्तो का विस्तृत वृत्तात लिखा गया है, किंतु उसके एक छप्पय मे ८ हरिभक्त सन्यासियो के साथ माधवेन्द्र पुरी का नामोल्लेख मात्र किया गया है[2]। उसमे उनका कोई वृत्तात नही लिखा गया। प्रियादास जी ने भी नाभा जी के छप्पय की टीका करते हुए पुरी जी के सबध मे कुछ भी नही लिखा है। उनके जीवन-वृत्तात की बिखरी हुई सामग्री श्रीगोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, श्री चैतन्य चरितामृत और कतिपय बगला ग्रथो मे प्राप्त होती है। इन ग्रथो की कई बाते परस्पर विरुद्ध है। उनमे दिये हुए तिथि-सवत् भी पुरी जी की जीवनी के काल-क्रम मे अतर उपस्थित करते है। फिर भी इन सामग्री के आधार पर उनका सक्षिप्त परिचय लिखा जाता है।

पुरी जी का जीवन-परिचय—ऐसा कहा जाता है, वे तैलग प्रदेश के दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। 'चैतन्य चरितामृत' मे उनके द्वारा गोवर्धन मे गोपाल जी (श्रीनाथ जी) की देव-प्रतिमा के प्राकट्य की कथा लिखी गई है। उससे ज्ञात होता है, उन्होने श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा की आरभिक व्यवस्था बगाली ब्राह्मणो से कराई थी। उनके शिष्यो मे अधिकतर बगाली हरि-भक्ति थे। इससे श्री बलदेव उपाध्याय ने उन्हे 'बगाल का पक्षपाती' समझ कर बगाली वैष्णव बतलाया है[3]। पुरी जी चाहे बगाली हो अथवा दाक्षिणात्य, किंतु बगाल मे कृष्ण-भक्ति की आधार-शिला रखने का श्रेय उन्ही को है। उनका जन्म-स्थान और जन्म-सवत् अनिश्चित है। अनुमानत वे स० १५०० से कुछ पूर्व उत्पन्न हुए थे। वे माध्व सप्रदाय के आचार्य, सर्व शास्त्रो के ज्ञाता और परम भक्त सन्यासी थे। वे विरक्त भाव से प्राय मौन होकर कृष्ण-विरह मे व्याकुल घूमा करते थे। उन्होने कई बार विविध तीर्थो की यात्राएँ की थी। जिस काल मे वे दक्षिण की तीर्थ-यात्रा करने के अनतर काशी मे आकर रहने लगे थे, उसी काल मे वल्लभाचार्य जी के पिता लक्ष्मण भट्ट जी भी वहाँ निवास करते थे। माधवेन्द्र पुरी ने लक्ष्मण भट्ट जी के कहने पर बालक वल्लभ को आरभिक शिक्षा प्रदान की थी[4]।

---

(१) भक्त-कवि व्यास जी, पृष्ठ ६५-६६
(२) भक्तमाल, छप्पय स० १८१
(३) भागवत सप्रदाय, पृष्ठ ४९७
(४) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ २६

वल्लभाचार्य ने कुछ ही वर्षों मे वेद-शास्त्र का पूर्ण ज्ञान उपलब्ध कर काशी के विद्वानो मे उच्च स्थान प्राप्त किया था। इस प्रकार स० १५४३ से १५४५ तक माधवेन्द्र पुरी का काशी मे रहना सिद्ध होता है।

माध्व सप्रदाय की आचार्य-परपरा मे लक्ष्मीपति जी तक किसी की रुचि माधुर्य भक्ति की ओर नही हुई थी। इस सप्रदाय मे माधवेन्द्र पुरी जी ही माधुर्य भक्ति के सर्वप्रथम प्रतिष्ठाता माने गये है। वे माध्व सप्रदाय के अतर्गत राधा-भाव के भी प्रवर्त्तक और प्रचारक थे। कालातर मे उनके मार्ग पर चल कर चैतन्य महाप्रभु ने इसी भक्ति-पद्धति को समुन्नत रूप मे प्रचलित किया था।

गोपाल-प्रतिमा का प्राकट्य—माधवेन्द्र पुरी एक स्थान पर अधिक काल तक निवास न कर प्राय भ्रमण किया करते थे। वे काशी से तीर्थ–यात्रा करते हुए ब्रज मे गये थे। मथुरा पहुँच कर उन्होने यमुना मे स्नान किया और केशव भगवान् के दर्शन किये। फिर वे ब्रज–यात्रा करने के अभिप्राय से गोबर्धन चले गये थे। जिस काल मे वे गोबर्धन पहुँचे, उस समय वहाँ की गिरिराज पहाडी पर एक देव–प्रतिमा के प्रकट होने के चिह्न दिखलाई दे रहे थे, जिससे ब्रजवासियो को बडा कौतुहल होता था। बल्लभ सप्रदायी साहित्य मे लिखा है, स० १४६६ की श्रावरण कृष्णा ३ रविवार को गिरिराज पहाडी पर सहसा एक प्रतिमा की ऊर्ध्व वाम भुजा का प्राकट्य हुआ था। स० १५३५ की वैशाख कृष्णा ११ को, जिस दिन बल्लभाचार्य जी का जन्म हुआ, उसी दिन उक्त प्रतिमा के मुखारविंद का प्राकट्य हुआ था। गोबर्धन के ब्रजवासियो ने उस दिन बडा उत्सव मनाया था। सद्दू (साधू) पाडे, मानिकचद आदि ब्रजवासी गण उस मुखारविंद पर दूध चढाने लगे और उसकी पूजा करने लगे। वे उसे देवदमन, इद्रदमन और नागदमन का स्वरूप कहा करते थे[1]। श्री माधवेन्द्र पुरी ने उक्त मुखारविंद के दर्शन किये और वे उसकी सेवा–पूजा करते हुए वहाँ निवास करने लगे।

माधवेन्द्र पुरी के ब्रज मे आने और गोबर्धन मे देव–प्रतिमा की सेवा-पूजा करने का काल स० १५४६ के लगभग सिद्ध होता है; क्यो कि स० १५४५ तक वे काशी मे रहे थे। उस देव–प्रतिमा को बल्लभ सप्रदाय मे गोबर्धननाथ गिरिधर अथवा श्रीनाथ जी कहा जाता है और चैतन्य सप्रदाय मे उसे गोपाल जी कहते हैं। उसके प्राकट्य का श्रेय बल्लभ सप्रदाय मे बल्लभाचार्य जी को[2] और चैतन्य सप्रदाय मे माधवेन्द्र पुरी को[3] दिया गया है। वास्तव मे वे दोनो ही महानुभाव उस श्रेय के भागीदार है। श्री माधवेन्द्र पुरी के सेवा–काल तक वह देव–विग्रह गिरिराज की कदरा मे ही विराजमान था और पुरी जी ने उसी स्थल पर उनकी आरभिक सेवा–पूजा की व्यवस्था की थी। बल्लभाचार्य जी ने बाद मे आकर उस देव-प्रतिमा को एक मदिर मे प्रतिष्ठित कर उसकी सेवा-पूजा का यथोचित प्रबध किया था। गोबर्धन के जिस स्थल पर श्रीनाथ-गोपाल का प्राकट्य हुआ था, उसे बाद मे गोपालपुरा अथवा यतिराज माधवेन्द्र पुरी के नाम पर यतिपुरा कहा जाने लगा। यह स्थान आजकल भी 'जतीपुरा' के नाम से प्रसिद्ध है।

पुरी जी का अतिम जीवन—'श्री चैतन्य चरितामृत' के अनुसार श्री माधवेन्द्र पुरी ने २ वर्ष तक गोबर्धन मे श्रीनाथ–गोपाल की सेवा-पूजा की थी। उसके पश्चात् उन्होने गौड प्रदेश से आये हुए दो बगाली ब्राह्मणो को सेवा का भार सोप दिया था और वे गोपाल जी के लिए चदन एव कपूर लेने के लिए दक्षिण-यात्रा को चले गये थे। उस समय वे गौड और जगन्नाथपुरी भी गये थे।

(१) श्री गोबर्धननाथ की प्राकट्य वार्ता, पृष्ठ ३-५ तथा कांकरोली का इतिहास, पृष्ठ ४८-४९

(२) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ ९–१४

(३) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्यखंड, परिच्छेद ४

जब वे १ मन चदन और २० तोला कपूर लेकर वापिस लौट रहे थे, तब मार्ग मे ही उनका देहावसान हो गया था[1]। पुरी जी का यथार्थ काल अनिश्चित है। चैतन्य सप्रदायी साहित्य के अनुसार उनका देहात स० १५४० की वैशाखी पूर्णिमा को[2] अर्थात् चैतन्य महाप्रभु के जन्म से पहिले ही हो गया था। वल्लभ सप्रदायी साहित्य मे उनकी विद्यमानता बहुत बाद तक बतलाई गई है। उसके अनुसार जब वल्लभाचार्य जी ने श्री गोवर्धननाथ की यथोचित सेवा-पूजा का प्रबध किया था, तब राधाकुड पर निवास करने वाले बगाली ब्राह्मण सेवा के लिए नियुक्त किये गये थे। श्री माधवेन्द्र पुरी जी को उनका मुखिया बतलाया गया है[3]। वह काल स० १५५० से १५६८ तक का होता है[4]। ऐसी स्थिति मे पुरी जी के देहावसान-काल का निश्चय करना कठिन हो जाता है। हमारे मतानुसार स० १५५० के पश्चात् उनकी विद्यमानता असगत मालूम होती है। उनका देहावसान स० १५५० के लगभग दक्षिण मे हुआ था। वे उच्च कोटि के सत, विरक्त भक्त और कृष्ण-विरह की साक्षात् मूर्ति थे।

श्री ईश्वर पुरी—वे श्री माधवेन्द्र पुरी के प्रमुख शिष्य और श्री चैतन्य महाप्रभु के गुरु थे। उनका जन्म हालि नगर के निकटवर्ती कुमारहट्ट नामक स्थान के एक ब्राह्मण कुल मे हुआ था। वे अपने आरभिक जीवन मे ही विरक्त होकर श्री माधवेन्द्र पुरी जी के शिष्य हो गये थे। श्री वृदावन-दास ने लिखा है,—'माधवेन्द्र पुरी का समस्त प्रेम-तत्त्व ईश्वर पुरी को प्राप्त हुआ था और वे अपने गुरु के उस प्रेम-प्रसाद को भक्तो मे वितरण करते हुए सर्वत्र भ्रमण किया करते थे[5]।' वे उस समय नवद्वीप भी गये थे, जिस समय युवक चैतन्य वहाँ अध्यापन का कार्य करते थे। वे उनकी विद्वत्ता पर अत्यत प्रसन्न हुए थे। उन्होने वहाँ पर अद्वैताचार्य की भक्त-मडली मे भी उपस्थित होकर भक्त जनो को कृतार्थ किया था। उसी समय उन्होने स्वरचित 'कृष्ण-लीलामृत' की शिक्षा गदाधर पडित को दी थी[6]। बाद मे चैतन्य जी ने उनसे गया धाम मे दीक्षा प्राप्त की थी।

वे एक स्थान पर स्थायी रूप से न रह कर प्राय तीर्थाटन किया करते थे। स० १५६७ के लगभग वे ब्रज मे भी आये थे। उस समय उन्होने यमुना-स्नान कर गोवर्धन मे गिरिराज जी की परिक्रमा की थी और गोपाल जी के दर्शन किये थे। राजनैतिक एव धार्मिक परिस्थिति की प्रतिकूलता के कारण वे यहाँ पर अधिक काल तक नही रहे और शीघ्र ही देशाटन को चले गये थे।

श्री वल्लभाचार्य जी—इस अध्याय की काल सीमा मे ब्रज मे आने वाले वे विख्यात भक्त और सर्वाधिक प्रतिष्ठित धर्माचार्य थे। उन्होने जिस 'पुष्टि सप्रदाय' की स्थापना की थी, उसने ब्रज की धार्मिक स्थिति को बडा प्रभावित किया था। उनका विस्तृत जीवन-वृत्तात उनके सप्रदाय के प्रसग मे आगामी पृष्ठो मे लिखा गया है।

---

(१) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्यखंड, परिच्छेद ४
(२) श्री माधवेन्द्र पुरी एव वल्लभाचार्य, पृष्ठ १६
(३) श्री गोबर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ २०
(४) अष्टछाप-परिचय, पृष्ठ ६–१०,
(५) श्री चैतन्य भागवत, आदिखड, ७–२५३, २५४
(६) वही ,, ,, ,, ७–२२६, २३०

षष्ट अध्याय

उत्तर मध्य काल (२)

[विक्रम स० १५८३ से विक्रम स० १८८३ तक]

उपक्रम—

इस काल का महत्व—ब्रज के सास्कृतिक इतिहास का यह काल विविध दृष्टियो से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । यद्यपि इसकी कालावधि केवल तीन शताब्दियो की है, तथापि इस थोडे काल मे ही जहाँ ब्रज सस्कृति के वर्तमान रूप का निर्माण तथा चरमोत्कर्ष हुआ, वहाँ उसका शोचनीय ह्रास होने पर उसके पुनरुत्थान का प्रयास भी किया गया था। इस काल के आरभ मे वर्तमान ब्रज सस्कृति के निर्माता महान् धर्माचार्य एव उनके अनुगामी सुप्रसिद्ध भक्त गण हुए और उनका प्रशसक एव प्रोत्साहनकर्त्ता मुगल सम्राट अकबर जैसा अनुपम शासक हुआ था । उन सब के कारण उस युग को ब्रज सस्कृति का 'स्वर्ण काल' कहा जा सकता है । किंतु दुर्भाग्य से वह स्थिति एक शताब्दी तक भी नही रही, और औरगजेब जैसे धर्मान्ध मुगल सम्राट के उत्पीडन एव अत्याचार से ब्रज सस्कृति का शोचनीय ह्रास होने लगा था । यद्यपि ब्रज के तत्कालीन धर्माचार्य एव भक्त महानुभावो ने तथा उनमे श्रद्धा रखने वाले कतिपय राजपूत, जाट और मरहठा सरदार-सामतो ने ब्रज सस्कृति के पुनरुत्थान का प्रयास किया था, किंतु उन्हे अधिक सफलता प्राप्त नही हुई थी। इस प्रकार यह काल ब्रज की राजनैतिक गति-विधियो से भी अधिक इसकी सास्कृतिक उन्नति-अवनति के लिए अपना अनुपम महत्त्व रखता है । उसका जो भला-बुरा प्रभाव ब्रज की तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति पर पडा था, उसी का विवेचन इस अध्याय मे किया गया है। यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि यह काल जितना महत्वपूर्ण है, उतना ब्रज के दीर्घकालीन इतिहास का कोई दूसरा काल नही है ।

मुगल काल (स १५८३ से स १८०५ तक) की स्थिति—राजनैतिक दृष्टि से इस काल का आरभ बाबर द्वारा दिल्ली के सुलतान इब्राहीम लोदी और राजस्थान के राणा सागा की पराजय से होता है । बाबर और उसके वशज मुगल सम्राट कहलाते है, जिनका शासन स० १५८३ से स० १८०५ तक रहा था, अत यह २२२ वर्ष का काल इतिहास मे 'मुगल काल' के नाम से प्रसिद्ध है । सुलतानो की राजधानी दिल्ली थी, किंतु बाबर ने मुगल राज्य की स्थापना आगरा मे की थी और उसी को अपनी राजधानी बनाया था । बाबर के पश्चात् हुमायू, अकबर और जहाँगीर के पूरे शासन-काल मे तथा शाहजहाँ के आरभिक काल मे आगरा मे ही राजधानी रही थी। उन विख्यात सम्राटो के शासन मे आगरा की अभूतपूर्व उन्नति हुई थी और वह भारतवर्ष का सब से प्रसिद्ध नगर हो गया था। चूकि आगरा ब्रज प्रदेश के अतर्गत है, अत उसकी उन्नति का प्रभाव समस्त ब्रजमडल की प्रगति पर पडा था । फलत उस काल मे ब्रज की अपूर्व भौतिक समृद्धि होने के साथ ही साथ उसकी धार्मिक उन्नति भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी ।

अकबर की उदार धार्मिक नीति—मुगल सम्राट अकबर ने अपने पूर्ववर्ती सुलतानो की नीति के विरुद्ध धार्मिक उदारता की नीति अपनायी थी । उसने सुलतानी काल की मजहबी तानाशाही के सभी आदेशो को रद्द कर दिया था, जिससे सभी धर्मो के अनुयायी अपने-अपने विश्वास के अनुसार धार्मिक कृत्य करने के लिए स्वतत्र हो गये थे। मूर्ति-पूजा और मदिर-निर्माण पर लगी हुई पाबदियाँ

हटा दी गई तथा जजिया कर और गो-वध को बद कर दिया गया । उस काल मे वैष्णव धर्म के विविध सप्रदायो के महान् आचार्य, अनेक सत-महात्मा और भक्तजन हुए थे, जिन्होने अपनी विद्वत्ता, त्याग-तपस्या, उपासना-भक्ति और अपने निर्मल आचरण से राजा से रक तक सभी वर्ग के नर-नारियो को प्रभावित किया था । स्वय सम्राट अकबर और उसके प्रमुख दरबारियो ने विविध धर्मों के आचार्यो एव सत-महात्माओ के प्रति श्रद्धा व्यक्त की थी । वह काल ब्रजमडल के लिए निश्चय ही 'स्वर्ण काल' था । यह बडे सौभाग्य की बात थी कि उस काल मे एक ओर ब्रज मे महान् धार्मिक पुरुष हुए, तो दूसरी ओर उदार शासक भी हुआ था । उस मणि-काचन सयोग का प्रत्यक्ष प्रभाव ब्रज की आश्चर्यजनक उन्नति के रूप मे दिखलाई दिया था । उसका श्रेय जहाँ ब्रज के सत-महात्माओ को है, वहाँ अकबर की उदार धार्मिक नीति को भी है ।

यद्यपि तत्कालीन परिस्थिति के कारण ब्रज के सभी धर्म-सप्रदायो को प्रगति करने का समान सुयोग मिला था, तथापि ब्रज की जनता ने वैष्णव धर्म के विविध सप्रदायो के प्रति विशेष अभिरुचि प्रकट की थी । फलत उस काल मे जैन, शैव, शाक्त, स्मार्तादि धर्मों की अपेक्षा वैष्णव धर्म के भक्तिमार्गीय सप्रदायो की अधिक उन्नति हुई थी । उस समय ब्रज के साथ ही साथ समस्त उत्तर भारत मे राधा-कृष्णोपासना का व्यापक प्रचार हो गया था ।

नीति-परिवर्तन और धार्मिक अशाति—अकबर के शासन काल मे धार्मिक उदारता की जो नीति अपनायी गई थी, उसमे बाद के मुगल सम्राटो ने परिवर्तन कर दिया था । सम्राट जहाँगीर अपने पिता अकबर की भाँति धार्मिक दृष्टि से जागरूक और उदार नही था, फिर भी उसके काल मे ब्रज की कुछ प्रगति ही हुई थी । अकबर के काल मे ब्रज मे जिन मदिर-देवालयो का बनना आरभ हुआ था, उनकी पूर्ति जहाँगीर के काल मे हुई थी । मथुरा के श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पर ओडछा के राजा वीरसिंह देव ने उसी काल मे श्री केशवराय जी का विशाल मदिर बनवाया था । यह सब होते हुए भी एक विशिष्ट घटना ने उस काल मे कुछ समय तक ब्रज मे धार्मिक अशाति उत्पन्न कर दी थी । वह घटना तिलक-माला प्रसग' के नाम से प्रसिद्ध है ।

यद्यपि जहाँगीर सभी धर्म-सप्रदायो के प्रति उदासीन था, तथापि उसका झुकाव वैष्णव भक्तो की अपेक्षा निर्गुणिया सतो की ओर अधिक था । जहाँगीर के आत्म-चरित से ज्ञात होता है कि वह उज्जैन निवासी एक तान्त्रिक सत जदरूप (चिद्रूप) से बडा प्रभावित हो गया था । वह अकेला ही उसकी गुफा मे जा कर उससे वार्तालाप करता था और उसके सतसग मे बडी शाति का अनुभव करता था[1] । वल्लभ सप्रदायी ग्रथो से ज्ञात होता है कि जहाँगीर ने सत जदरूप के वैष्णव विरोधी विचारो से प्रेरित होकर एक बार ऐसा आदेश जारी कर दिया था, जिससे वैष्णवो की कठी-माला और उनके तिलक पर रोक लगा दी गई थी[2] । उसके कारण ब्रज के वैष्णव सप्रदायो मे बडी खलबली मच गई थी । उस काल मे ब्रज मे अनेक धर्माचार्य और भक्तजन थे । वे अपने धार्मिक चिह्नो की इस प्रकार अवज्ञा किये जाने से बडे दुखी थे, किंतु उनमे से किसी को भी शाही आदेश के विरुद्ध आवाज उठाने का साहस नही हुआ था । अत मे वल्लभ सप्रदाय के गोस्वामी गोकुलनाथ जी के

---

(१) जहाँगीर का आत्म-चरित, पृष्ठ ४१७–४१६

(२) वैष्णव धर्म नो सक्षिप्त इतिहास (गुजराती), पृष्ठ २६६ की टिप्पणी

श्रीकृष्ण–जन्मस्थान के मन्दिर–निर्माता
ओरछा–नरेश वीरसिंह देव

प्रयत्न से जहाँगीर ने अपनी उस अनुचित आज्ञा को वापिस ले लिया था । यद्यपि उक्त घटना से ब्रज के वैष्णव सम्प्रदायो की धार्मिक स्थिति पर अल्प कालीन ही कुप्रभाव पडा था, फिर भी उससे वैष्णव और अवैष्णव धर्मो के पारम्परिक विद्वेष का जो बीज-वपन हुआ, वह कालातर मे पल्लवित होकर प्रकट हुआ था ।

धार्मिक विद्वेष का सूत्रपात—मुगल सम्राट शाहजहाँ को हिंदू धर्म के किसी सम्प्रदाय से कोई प्रेम नही था, वल्कि कुछ द्वेष ही था । उसके शासन काल मे धार्मिक विद्वेष का जो सूत्रपात हुआ, वह औरगजेब के काल मे अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था । मुगल सम्राटो मे सर्वप्रथम शाहजहाँ ने मदिरो के निर्माण पर रोक लगायी थी । उसने स० १६८९ मे जब इस प्रकार का आदेश जारी किया, तव ब्रज मे वडी वेचैनी और धार्मिक अशाति उत्पन्न हो गई थी । उस समय तक मुगल दरबार मे हिंदू राजाओ का पर्याप्त प्रभाव था, जिसके कारण शाहजहाँ ने अपनी उस आज्ञा को कार्यान्वित करने पर जोर नही दिया था । शाहजहाँ के उत्तर काल मे साम्राज्य की राजधानी आगरा से हटा कर दिल्ली मे कायम की गई थी । उस परिवर्तन का भी ब्रज की प्रगति पर बुरा प्रभाव पड़ा था । फलत शाहजहाँ के शासन काल मे ब्रज की धार्मिक उन्नति की गति मद पड गई थी ।

शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र दारा शिकोह सम्राट अकबर की तरह उदार धार्मिक विचारो का था । उसने धर्म ग्रथो का अच्छा अध्ययन किया था । वह हिंदू धर्म का बडा प्रेमी था, और उसे हिंदू जनता से बडी सहानुभूति थी । मथुरा के श्री केशवराय जी के मदिर मे उसने स्वय एक सुदर कटहरा का निर्माण कराया था । शाहजहाँ का छोटा पुत्र औरगजेब अपने बडे भाई दारा की प्रकृति के एक दम विपरीत था । वह हिंदू धर्म का कट्टर दुश्मन था । दुर्भाग्य से शाहजहाँ के उपरात औरगजेब ही दारा को कत्ल करा कर मुगल सम्राट वना था । उसके तख्त पर बैठने के काल स० १७१५ से ब्रज मे धार्मिक विद्वेष का दौर प्रवल रूप मे चल पडा था ।

धार्मिक उत्पीडन—औरगजेब ने सर्वप्रथम मथुरा के केशवराय जी के मदिर से वह कटहरा हटाने की आज्ञा दी, जिसे उसके बडे भाई दारा ने बनवाया था । शाही आज्ञा से मथुरा के फौजदार अब्दुल नबी ने स० १७१७ मे मदिर मे घुस कर वह कटहरा बलात् तोडवा दिया था । स० १७१८ मे मथुरा के एक विशाल हिंदू मदिर के स्थान पर उसने वह आलीशान मसजिद बनवाई, जो मथुरा शहर के मध्य मे अभी तक विद्यमान है, और 'नबी साहब की मसजिद' कहलाती है ।

उन उत्तेजनात्मक कार्यवाहियो से ब्रज के हिंदुओ के कान खडे हो गये और वे भविष्यत् दुर्दिनो की आशका करते लगे । स १७२४ मे औरगजेब ने हिंदुओ के मदिर-देवालयो और विद्यालयो को नष्ट करने तथा मूर्ति-पूजा पर पावदी लगाने का फरमान जारी कर दिया । उसके कारण ब्रज के हिंदुओ मे अशाति और विरोध की ज्वाला धधक उठी थी । महावन के निकट की ग्रामीण हिंदू जनता ने तो गोकुला जाट के नेतृत्व मे विद्रोह ही कर दिया था । मथुरा का फौजदार अब्दुल नबी उस विद्रोह को दवाने के लिए गया, किंतु वह स० १७२६ मे मारा गया । उस घटना से औरगजेब बुरी तरह क्रुद्ध हो गया था । उसने भारी सेना भेज कर मुट्ठी भर विद्रोहियो को कुचल दिया था ।

उक्त घटना के उपरात औरगजेब ने ब्रज मे ऐसा दमन-चक्र चलाया कि उसमे वहाँ सुलतानी काल से भी अधिक बुरी स्थिति उत्पन्न हो गई थी । उस काल मे हिंदुओ के सिर पर मानो आपत्ति का पहाड ही टूट पडा था । ब्रज मे आने वाले तीर्थ—यात्रियो पर भारी कर लगाया गया, मदिर—देवालय नष्ट किये जाने लगे, जजिया कर फिर से चालू कर दिया गया और हिंदुओ को बलात्

मुसलमान बनाने का अभियान जोरो से चल पडा[1]। तोडे गये मदिरो के स्थान पर मसजिद और सराय बनाई गई तथा मकतब और कसाईखाने कायम किये गये। हिंदुओ के दिल को दुखाने के लिए गो-वध करने की खुली छूट दे दी गई।

धर्माचार्यों का निष्क्रमण—जब ब्रज मे ऐसा अधेर होने लगा, तब यहाँ के धर्मप्राण भक्तजन अपनी देव-मूर्तियो और धार्मिक पोथियो को लेकर भागने का विचार करने लगे। किंतु भाग कर कहाँ जावे, यह उनके लिए बडी समस्या थी। वे तीर्थ स्थानो मे रह कर अपना धर्म-कर्म करना चाहते थे, किंतु उस काल मे वहाँ रहना उनके लिए सर्वथा असभव हो गया था[2]। उस समय कुछ प्रभावशाली हिंदू राज्यो की स्थिति औरगजेब की मजहबी तानाशाही से मुक्त थी, अत ब्रज के अनेक धर्माचार्य एव भक्तजन अपने परिकर के साथ वहाँ जा कर बसने लगे। वल्लभ सप्रदाय के परमोपास्य श्रीनाथ जी तथा अन्य देव स्वरूप उसी काल मे ब्रज से हटा कर हिंदू राज्यो मे ले जाये गये थे। उस अभूतपूर्व धार्मिक निष्क्रमण के फलस्वरूप ब्रज मे गोवर्धन और गोकुल जैसे समृद्धिशाली धर्मस्थान उजड गये थे, और महिमामडित वृ दावन शोभाहीन हो गया था। औरगजेब के शासन मे ब्रज की जैसी बर्बादी हुई, उसका यथार्थ वर्णन नही किया जा सकता है।

अव्यवस्था और अशाति—मुगल शासन के उत्तर काल मे जो सम्राट हुए, उन्हे औरगजेब के मजहबी तास्सुब की नीति का दुष्परिणाम भोगना पडा था। उस काल के राजपूत, मरहटा, जाट और सिक्ख जैसे प्रबल हिंदू वीरो पर उनका शाही प्रभाव नही रह गया था और वे अपने मत्रियो के हाथ की कठपुतली मात्र बन गये थे। उस काल मे दो सैयद-बधु अब्दुल्ला और हुसैनअली मुगल शासन के प्रधान सूत्रधार थे। वे इतने प्रभावशाली और शक्तिसम्पन्न थे कि जिसे चाहते, उसे बादशाह बना देते, और जब चाहते, उसे तरत मे उतार देते थे। उन्होने अपनी कूटनीतिज्ञता से अनेक मुगल सरदारो के साथ ही साथ कुछ हिंदू सामतो का भी सहयोग प्राप्त कर लिया था। अकबर की नीति के अनुकरण का ढोग करते हुए वे हिंदू रीति-रिवाजो का पालन करते थे और उनके व्रत-उत्सवो को मनाते थे। बसत और होली पर वे हिंदुओ के साथ मिल कर रग-गुलाल मे खेलते थे[3]।

---

(१) उस काल के कवियो की रचनाओ मे औरगजेबी अत्याचारो का इस प्रकार उल्लेख हुआ है,—

१ जब ते साह तख्त पर बैठे। तब ते हिंदुन ते उर ऐंठे॥
महँगे कर तीरथन लगाये। देव-देवालै निदरि ढहाए॥
घर—घर बाँधि जेजिया लीन्हे। अपने मन भाये सब कीन्हे॥(लाल कृत 'छत्र प्रकाश')

२ देवल गिरावते फिरावते निसान अली, ऐसे डूबे राव-राने सबी गये लब की॥(भूषण कवि)

(२) महात्मा 'सूर किशोर' ने उस काल के भक्तो की मनोव्यथा को इस प्रकार व्यक्त किया है,—

जहँ तीरथ तहँ जमन-बास, पुनि जीविका न लहियैं।
असन-बसन जहँ मिलै, तहाँ सतसग न पैयै॥
राह चोर—बटमार कुटिल, निरधन दुख देही।
सहवासिन सन बैर, दूर कहुँ बसै सनेही॥
कहै 'सूर किसोर' मिलै नही, जथा जोग चाही जहाँ।
कलिकाल ग्रसेउ अति प्रबल हिय, हाय राम! रहियै कहाँ? (मिथिला माहात्म्य, छद १)

(३) लेटर मुगल्स (प्रथम भाग), पृष्ठ १००

तत्कालीन मुगल सम्राट फर्रुखसियर (स १७७०–१७७५) ने जोधपुर के राजा अजीतसिंह को दबा कर उसकी पुत्री इद्रकुँवरि को बलात् शाही हरम मे दाखिल कर दिया था। उससे मारवाडी राजपूत मुगल शासन के वडे विरोधी हो गये थे। जब स० १७७५ मे फर्रुखसियर की हत्या कर दी गई, जब सैयद बधुओ ने मारवाड नरेश को प्रसन्न करने के लिए इद्रकुँवरि को उसके पिता के घर भेज दिया था[1]। "इतिहासकारो का मत है, सैयद बधुओ की सम्मति से ही वह राजपूत बेगम 'शुद्ध' होकर सन्मान के साथ अपने नैहर जोधपुर को गई थी । मुगलो के शासन काल की वह पहिली घटना थी, जब शाही हरम से कोई राजपूत कन्या अपने पैतृक घर को वापिस गई हो[2]" ।

धार्मिक पुनरुत्थान का प्रयत्न—मुगल सम्राट मुहम्मद शाह के शासन काल (स १७७६–स १८०५) मे सैयद बधुओ का प्रभाव समाप्त हो गया था । उस काल मे मुसलमानी शासन के ह्रास और हिंदू राजशक्ति के पुनरुत्थान का युग आया था । राजस्थान मे राजपूत नरेश, ब्रज मे जाट सरदार, दक्षिण और मध्य भारत मे मरहटा सामत तथा पजाब मे सिक्ख वीर हिंदू राज-शक्ति के सुदृढ स्तभ थे । हिंदू तीर्थो मे काज़ी-मुल्लाओ का आतक कम हो गया था, जिससे तीर्थ–यात्रियो और भक्तजनो के आवागमन से वहाँ की धार्मिक चहल-पहल बढ गई थी । ब्रज के धर्म-स्थान अपने लुप्त गौरव को पुन प्राप्त करने लगे थे । वृ दावन उस काल मे ब्रज का प्रधान धार्मिक केन्द्र हो गया था । वहाँ के वैष्णव धर्माचार्य अपने-अपने सप्रदायो की उन्नति करने मे लग गये थे ।

उस काल मे आमेर का सवाई राजा जयसिंह वडा प्रभावशाली हिंदू नरेश हुआ था । मुगल सम्राट मुहम्मद शाह ने अपने साम्राज्य की शासन-व्यवस्था को सुदृढ एव राज-प्रबध को ठीक करने के लिए जयसिंह का सहयोग प्राप्त किया और उसे आगरा का सूबेदार बना दिया था । वह स १७७७ से स. १७८३ तक आगरा का सूबेदार रहा था । उस काल मे और उसके बाद भी, वह मुगल दरबार का सर्वाधिक शक्तिशाली सामत था । मथुरा-वृ दावन सहित समस्त ब्रजमडल उसके प्रशासन और प्रभाव–क्षेत्र मे था । उसने हिंदुओ की स्थिति को सुधारने और ब्रज के महत्व को बढाने का भारी प्रयत्न किया था । अपने प्रभाव से उसने मुहम्मद शाह से कई राजकीय सुविधाएँ प्राप्त की थी, जिनमे 'जज़िया' कर का हटाना भी था । उस अपमानजनक कर के हटते ही ब्रज की हिंदू जनता ने आत्म-गौरव का अनुभव करते हुए शाति और सतोष की श्वास ली थी ।

वैष्णव-अवैष्णव सघर्ष—सवाई जयसिंह के शासन काल के कुछ पहिले से ही शैव, शाक्त, स्मार्तादि धर्मो के अनुयायी गण वैष्णव सप्रदायी भक्तजनो मे धार्मिक सघर्ष करने लगे थे । औरगजेब के शासन-काल तक ब्रज के सभी धर्म-सप्रदायो के अनुयायी तत्कालीन शासको की मज़हबी तानाशाही और काजी-मुल्लाओ के उत्पीडन से अपनी रक्षा करने मे प्रयत्नशील रहे थे । वह काल वैष्णव और अवैष्णव सभी धर्म-सप्रदायो के लिए समान रूप से सकट का था । उस समय सबको अपने-अपने अस्तित्व को बचाने की चिंता थी, इसलिए उनका पारस्परिक विद्वेष उभर कर ऊपर नही आ सका था । किंतु जब हिंदू राज-शक्ति का पुनरुत्थान होने से इस्लामी खतरा कम हो गया, तब वे सभी धर्म-सप्रदाय अपनी-अपनी उन्नति की चेष्टा मे पारस्परिक सघर्ष मे भी फँस गये थे । उस काल मे

(१) लेटर मुगल्स (प्रथम भाग), पृष्ठ ४२६
(२) राम-भक्ति मे रसिक सप्रदाय, पृष्ठ १२६

वैष्णव धर्म के भक्ति-सप्रदायो ने अधिक उन्नति की थी । उनकी लोकप्रियता के सामने शैव, शाक्त, स्मार्तादि अवैष्णव धर्म-सप्रदाय नही टिक पा रहे थे । वैष्णव सप्रदायो के बढते हुए प्रभाव ने उन्हे पराभूत सा कर दिया था । उससे उनमे प्रतिहिंसा की भावना जागृत हो गई, जिसने उग्र धार्मिक सघर्ष का रूप धारण कर लिया था ।

अवैष्णव साधको के अत्याचार—उस काल मे अवैष्णव सप्रदायो के उग्र साधक धार्मिक उपदेश और शास्त्र का सहारा छोड कर तामसी उपाय एव शस्त्र द्वारा वैष्णव भक्तो को पराजित करने की चेष्टा करने लगे थे । शैव धर्मानुयायी उग्र साधु और कनफटा जोगी, स्मार्त धर्म के दशनामी सन्यासी तथा गोसाई और नागा आदि के दल के दल बडे-बडे दड, चीमटे, त्रिशूल और शस्त्रो द्वारा वैष्णवो को आतकित और पीडित करते हुए फिरते थे । उनकी बडी-बडी जमाते वैष्णव तीर्थो मे जा कर वहाँ के भजनानदी वैष्णव साधुओ एव सात्विक प्रकृति के भक्तजनो पर प्रहार करती थी, और उन्हे वैष्णवी तिलक एव कठीमाला त्यागने के लिए विवश करती थी ।

ब्रज मे वैष्णवो की अपेक्षा अवैष्णवो का प्रभाव बहुत कम था, अत यहाँ पर धार्मिक विद्वेष उग्र रूप मे प्रकट नही हुआ था । किंतु अवध और उसके निकटवर्ती पूर्वी क्षेत्रो मे जहाँ वैष्णव साधुओ की अपेक्षा दशनामी गोसाईयो और शैव वैरागियो का जोर अधिक था, वहाँ उनके धार्मिक विद्वेष ने बडा भयावह रूप धारण किया था । प्रेमलता जी कृत 'बृहत् उपासना रहस्य' मे गोसाईयो के तत्कालीन नेता लच्छी गिरि के अत्याचारो का और महात्मा रामप्रसाद के जीवन-वृत्त 'श्री महाराज चरित्र' मे दशनामी गोसाईयो द्वारा अयोध्या पर किये गये एक आक्रमण का उल्लेख करते हुए बतलाया गया है,—

लच्छी गिरि यक भयउ गोसाई । प्रभु पद विमुख कस की नाई ॥
लै सहाय बहु यती गोसाई । बहु वैस्नव मारेउ बरियाई ॥
शस्त्र लिये धावत जग डोलै । मारहिं निदरि वचन कटु बोलै ॥
उमगेउ खल जिमि नदी तलावा । वैस्नव धर्महिं चहत उडावा ॥ × ×
जहँ वैराग वेष कहुँ पावहिं । ताहि भाँति बहु त्रास देखावहिं ॥
तिनके डर सब लोग डेराने । जहँ-तहँ बैठि यकत लुकाने ॥
बदलि वेष निज छाप छिपाई । कोउ निज भाँति न देहि देखाई[1] ॥

वैष्णवो द्वारा आत्म-रक्षा का प्रयत्न—अवैष्णव साधुओ के अत्याचारो से अपनी रक्षा करने के लिए ब्रज के वैष्णव भक्तो ने कोई प्रयत्न नही किया था । वे सदा से धार्मिक उत्पीडन को सहन करते रहने से उसके अभ्यस्त हो गये थे, अत उस नये सकट के प्रति भी सहिष्णु बने रहे । किंतु राजस्थान के रामानदी वैष्णव साधुओ ने अवैष्णवो के उत्पीडन से अपनी रक्षा करने का बीडा उठाया था । उसे राजस्थान की वीर-भूमि का प्रभाव ही कहा जा सकता है । उसकी पहल जयपुर राज्य की रामानदी गद्दी के अध्यक्ष स्वामी बालानद ने की थी ।

बालानद जी का वैष्णव सगठन—'राम दल की विजय-श्री' नामक पुस्तिका मे स्वामी बालानद और उनके द्वारा वैष्णव सप्रदायो के सगठन किये जाने का वृत्तात लिखा गया है । उसके अनुसार बालानद जी का जन्म राजस्थान के किसी गाँव मे स १७१० मे हुआ था । वे बाल्यावस्था

(१) राम भक्ति मे रसिक सप्रदाय, पृष्ठ ११६–१२०

मे ही जयपुर राज्य की रामानदी गद्दी के आचार्य विरजानद जी के शिष्य हो गये थे और उनके पश्चात् वहाँ के आचार्य हुए थे । इस गद्दी की परपरा स्वामी रामानद जी के शिष्य स्वामी सुरसुरानद की पाँचवी पीढी के आचार्य अनभयानद जी से चली है । अनभयानद जी की शिष्य-परपरा मे विरजानद जी पाँचवें और वालानद जी छठे आचार्य थे । इस गद्दी की विशेष ख्याति स्वामी वालानद जी के समय मे ही हुई थी । उनके द्वारा वैष्णवो मे शक्ति और शौर्य का सचार किये जाने से उन्हे रामानदी सप्रदाय मे हनुमान जी का अवतार माना जाता है[1] ।

स्वामी वालानद ने अवैष्णवो के आतक और उत्पीडन से वैष्णवो की रक्षा करने के लिए चारो सप्रदायो के वैष्णवो का एक शक्तिशाली सगठन बनाने का निश्चय किया, जिसके लिए वृ दावन मे एक सभा बुलाई गई[2] । उस काल मे उत्तर भारत मे ब्रज का वृ दावन ही समस्त वैष्णव सप्रदायो का प्रमुख केन्द्र था, अत इसी स्थान पर उस महत्वपूर्ण सभा का आयोजन किया गया था । उसमे निर्णय किया गया कि चारो सप्रदायो के वैष्णवो को पारस्परिक भेद-भाव मिटा कर एक सूत्र मे वँध जाना चाहिए और अपनी रक्षा के लिए वैष्णव साधुओ के एक दल को सैनिक ढग से सगठित करना चाहिए । उक्त निर्णय के अनुसार वैष्णव सप्रदायो मे 'अनी—अखाडो' का निर्माण किया गया था । वृ दावन की वह सभा किस सवत् मे हुई, इसका उल्लेख नही मिलता है, किंतु ऐसा अनुमान होता है कि वह स० १७७० के लगभग हुई होगी ।

अनी-अखाडे—वैष्णव धर्म के चारो सप्रदायो मे दार्शनिक सिद्धात और उपासना विषयक कतिपय भिन्नताओ के कारण आरभ से ही आपस मे कुछ मतभेद रहा है । किंतु जब अवैष्णव धर्मों के उग्र साधुओ की असहिष्णुता और उनके उत्पीडन से सभी वैष्णव सप्रदायो के जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो गया, तब उन्होने पारस्परिक मतभेद और साप्रदायिक सकीर्णता को भुला कर एक अनुशासनबद्ध सामूहिक सगठन की व्यवस्था की थी । उस सगठन को सैनिक रूप दिया गया, और उसके अतर्गत ३ 'अनी' तथा १८ 'अखाडे' बनाये गये । अनी का अर्थ है 'समूह' अथवा 'सेना', और अखाडा का अभिप्राय 'अखड' से है[3] । इस प्रकार वे 'अनी-अखाडे' चारो वैष्णव सप्रदायो के सामूहिक सैनिक सगठन थे ।

जिस तरह आपद्धर्म के कारण गुरु नानक देव के सीधे-सादे धार्मिक शिष्य (सिक्ख) समुदाय को गुरु गोविंदसिंह ने सैनिक सगठन मे परिवर्तित कर दिया था, उसी प्रकार वैष्णव धर्म के भजनानदी साधुओ की जमातो को स्वामी वालानद ने सैनिक अखाडे बना दिये, किंतु दोनो की स्थिति मे मौलिक अतर था । सिक्खो का सगठन एक विधर्मी राज-शक्ति की मजहबी तानाशाही के विरुद्ध हुआ था, किंतु वैष्णव अखाडे हिंदू धर्म के कतिपय सप्रदायो की उच्छृ खल प्रवृत्ति के विरोध मे बनाये गये थे । ऐसे अनेक अवसर आये, जब शैव साधुओ और दशनामी गोसाईयो का वैष्णव अखाडो के वैरागी भक्तो से दुर्भाग्यपूर्ण सशस्त्र सघर्ष हुआ था ।

---

(१) राम भक्ति मे रसिक संप्रदाय, पृष्ठ ३३५, ३८८

(२) वही , पृष्ठ १२०

(३) भजन रत्नावली (पृष्ठ ३०४) मे 'अखाडा' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है,—
'अखंड संज्ञासकेता. कृतो धर्म विवृद्धये ।' (राम भक्ति मे रसिक सप्रदाय, पृष्ठ १२१)

सवाई जयसिंह का धार्मिक समन्वय—उस काल मे आमेर के सवाई राजा जयसिंह ने राजनैतिक क्षेत्र के अतिरिक्त धार्मिक क्षेत्र मे भी बडी महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की थी। वह एक धर्मप्राण नरेश होने के साथ ही साथ दूरदर्शी राजनयिक भी था। वह शैव, शाक्त, स्मार्त, वैष्णव आदि सभी धर्म-सप्रदायो को विशाल हिंदू धर्म के महत्वपूर्ण अग मानता था और उनके पारस्परिक सघर्ष को हिंदू समाज के सामूहिक हित के विरुद्ध समझता था। वह वैष्णव धर्म के परपरागत चतु सम्प्रदायो के अतिरिक्त उस काल के नवीन भक्ति-सप्रदायो के स्वतत्र अस्तित्व को भी हिंदू-हित के लिए अवाछनीय मानता था। यह बडे महत्व की बात थी कि तत्कालीन मुगल सम्राट महम्मद शाह (स० १७७६-स० १८०५) ने अपने साम्राज्य की सुरक्षा और सुव्यवस्था के कार्य मे उसे सहयोग देने के लिए आमत्रित किया था। फलत वह दिल्ली सम्राट की ओर से स० १७७७ मे आगरा प्रात का सूबेदार बनाया गया। जब वह आगरा का सूबेदार हुआ तो समस्त ब्रजमडल भी उसके प्रभाव क्षेत्र मे आ गया था। उस काल मे उसने यहाँ के धर्म-सम्प्रदायो के पारस्परिक विद्वेष को दूर कर उन्हे एक सूत्र मे बांधने का क्रातिकारी प्रयास किया था। जयसिंह का उद्देश्य अच्छा था, किंतु उसकी पूर्ति के लिए उसने जो साधन अपनाये, उनसे ब्रज के कई सप्रदायो को बडा कष्ट उठाना पडा था।

वृदावन के कतिपय भक्ति सप्रदायो ने उस काल मे वैष्णव धर्म के परपरागत चतु सम्प्रदायो और वैदिक विधि-निषेधो के प्रति उपेक्षा दिखलाई थी। सवाई राजा जयसिंह की दृष्टि मे वह धार्मिक मर्यादा का उल्लघन था, जिसे सहन करने के लिए वह तैयार नही था। उसने वृदावन के उन भक्ति सप्रदायो के आचार्यो को आदेश दिया कि वे या तो वैष्णव धर्म के चतु सप्रदायो मे से किसी एक के साथ सबद्ध हो, या अपने स्वतत्र अस्तित्व की शास्त्रीय प्रामाणिकता सिद्ध करें। इसके लिए उसने स० १७८० के लगभग अपनी राजधानी आमेर मे एक वृहत् 'धर्म सम्मेलन' का आयोजन किया था और उसमे सम्मिलित होने के लिए ब्रज के सभी धर्म-सप्रदायो के प्रतिनिधियो को आमत्रित किया। उक्त समेलन मे हिंदू धर्म के विविध धर्म-सप्रदायो के पारस्परिक विद्वेष को दूर कर उनमे एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया था।

उस समय ब्रज मे वैष्णव धर्माचार्य सर्वश्री रामानुज, विष्णुस्वामी, निंबार्क और मध्व के परपरागत चतु सप्रदायो के साथ ही साथ सर्वश्री रामानद, वल्लभ, चैतन्य, हरिवश और हरिदास के भक्ति सप्रदाय भी प्रचलित थे। रामानद, वल्लभाचार्य और चैतन्य देव के सप्रदाय क्रमश सर्वश्री रामानुज, विष्णुस्वामी और मध्व के सप्रदायो की परपरा मे विकसित हुए थे, अत वे अपने मूल सप्रदायो से किसी न किसी रूप मे सबद्ध थे। स्वामी हरिदास और हित हरिवश के भक्ति सप्रदाय अपना स्वतत्र अस्तित्व मानते थे, किंतु सवाई जयसिंह के आदेशानुसार उन्हे भी चतु. सप्रदायो मे से किसी एक के साथ अपना सबध जोडना आवश्यक था। उस विषम परिस्थिति मे स्वामी हरिदास के अनुयायी विरक्त साधुओ ने निंबार्क सप्रदाय से और गृहस्थ गोस्वामियो ने विष्णुस्वामी सप्रदाय से अपना-अपना सबध स्थापित किया था। इस प्रकार हरिदासी सप्रदाय दो वर्गो मे विभाजित हो गया। हित हरिवश जी के अनुयायी राधावल्लभीय भक्तजन किसी भी सप्रदाय से सबद्ध नही हो सके थे, अत उन्हे सवाई जयसिंह के राजकीय कोप का भाजन बनना पडा था। तत्कालीन राधावल्लभीय आचार्य श्री रूपलाल गोस्वामी उसी कारण वृदावन छोड कर कामवन मे निवास करने को बाध्य हुए थे। स० १८०० मे जब जयसिंह का देहावसान हो गया,
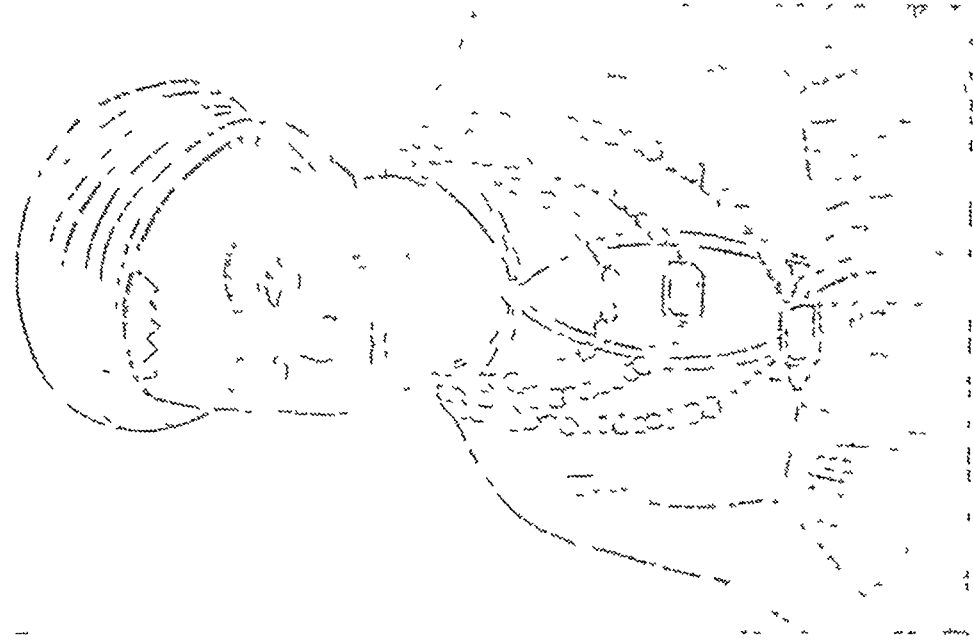
माधवजी (महादजी) सिंधिया
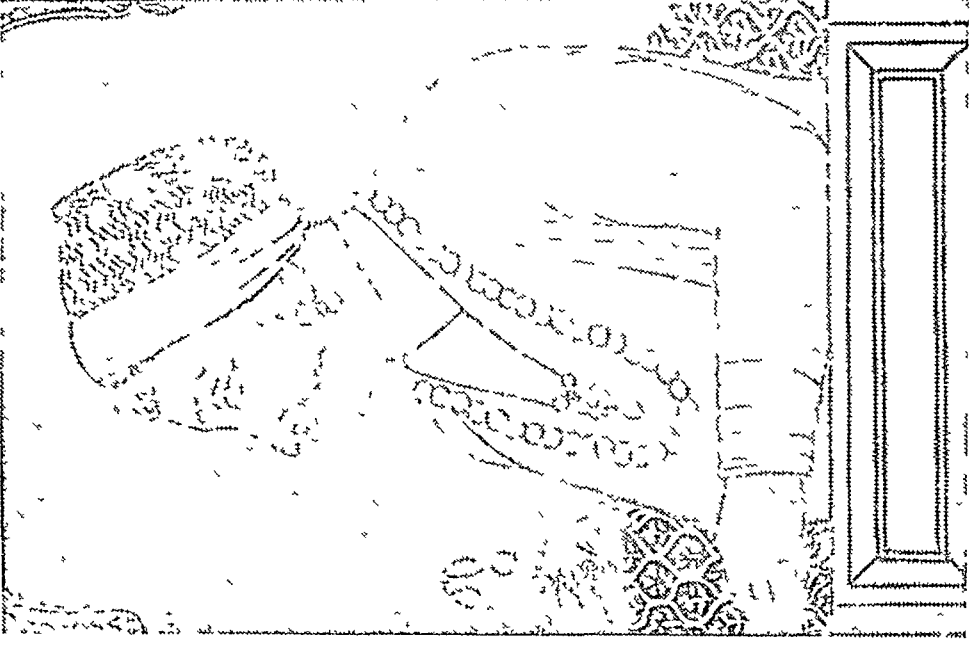
मवाई राजा जयसिह

तब कही वे वृ दाबन मे वापिस आ सके थे[1]। इस प्रकार सवाई जयसिंह ने अपने दृष्टिकोण के अनुसार ब्रज मे साप्रदायिक सगठन और धार्मिक समन्वय का उल्लेखनीय कार्य किया था।

जाट-मरहठा काल (सं १८०५ से सं. १८८३ तक) की स्थिति—उस काल के जाट राजा और मरहठा सरदारो ने ब्रज की राजनैतिक गति—विधियो मे बडी महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की थी, किंतु वे यहाँ की धार्मिक स्थिति को उन्नत नही कर सके थे। वैसे वे दोनो ही हिंदुत्व के प्रबल समर्थक और ब्रज की गौरव-वृद्धि के बडे इच्छुक थे, किंतु राजनैतिक झझटो मे उलझे रहने और आपसी विद्वेष मे फँस जाने के कारण वे ब्रज की धार्मिक प्रगति मे कोई खास योग देने मे असमर्थ रहे थे। उस कालावधि मे जाटो के राजा बदनसिंह, सूरजमल और जवाहरसिंह तथा मरहठो के अधिपति पेशवा और उनके सरदार माधव जी सिंधिया जैसे वीर—पु गव दो प्रबल हिंदू-राजशक्तियो का प्रतिनिधित्व करते थे। यदि वे दोनो मिल कर विदेशी आक्रमणकारियो का सामना करते, तो छत्रपति शिवाजी के 'हिंदू पातशाही की स्थापना' के स्वप्न को साकार बना सकते थे, किंतु उन्होने आपस मे ही लडते रह कर हिंदू-हित की बडी हानि की थी। उसका दुष्परिणाम अहमदशाह अब्दाली के भीषण आक्रमण के रूप मे इस भू-भाग को भोगना पडा था।

अब्दाली द्वारा ब्रज का विनाश—अफगानिस्तान के पठान शासक अहमदशाह अब्दाली ने स. १८१४ मे इस देश पर बडा भीषण आक्रमण किया था। उस समय शक्तिहीन मुगल सम्राट आलमगीर (द्वितीय) दिल्ली के तख्त पर आसीन था। उसने आक्रमणकारी का प्रतिरोध करने की अपेक्षा उससे अपमानपूर्ण सधि कर ली थी। फलत. पहिले तो अब्दाली ने दिल्ली को लूटा, और फिर वह धूँआधार मचाता हुआ ब्रजमडल पर चढ दौडा। उस समय जाटो और मरहठो मे इस प्रदेश के स्वामित्व के लिए वैमनस्य और विवाद चल रहा था। उसके कारण कोई भी पक्ष इस भू-भाग की सुरक्षा के लिए अपने को उत्तरदायी नही समझता था। उस शोचनीय स्थिति मे अरक्षित पडे हुए ब्रज के धर्म-स्थान अब्दाली के क्रूर सैनिको की बर्बरता के शिकार हुए थे।

अफगानी सैनिको ने मथुरा और वृ दाबन पर आक्रमण कर उन्हे खूब लूटा। उन्होने धन बटोरने के लिए मदिरो को नष्ट—भ्रष्ट किया, मूर्तियो को तोडा, पडा-पुजारियो को मौत के घाट उतारा और स्त्रियो को अपमानित किया। उनके क्रूर कारनामो से ब्रज के अनेक धर्म-स्थान बर्बाद हो गये और बहु सख्यक वैष्णव भक्तो की जाने गई। चाचा वृ दावनदास कृत 'हरि कला बेली' मे वृ दावन मे मारे गये जिन विशिष्ट धार्मिक व्यक्तियो का नामोल्लेख हुआ है, उनमे ब्रजभाषा के विख्यात कवि घनानद जी और राधावल्लभीय भक्त जन गोस्वामी मुकुदलाल एव बाबा प्रेमदास विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

मथुरा और वृ दाबन मे पैशाचिक लीला करने के उपरात अब्दाली के सैनिक ब्रज के तीसरे प्रमुख धार्मिक केन्द्र गोकुल मे लूट—मार करने को गये थे। वहाँ पर नागा साधुओ और वैरागियो के सशस्त्र दलो ने उनसे जम कर मोर्चा लिया। उसी समय दैव योग से अब्दाली की सेना मे हैजा फैल गया। फलत आक्रमणकारियो को वापिस लौटना पडा। इस प्रकार नागाओ के अद्भुत साहस और आकस्मिक दैवी सहायता के कारण गोकुल के धर्म स्थान अब्दाली की क्रूरता के शिकार नही

---

(१) **श्री हित हरिवश गोस्वामी**, पृष्ठ ७०—७२, ४८४—४८५

सके थे। फिर भी उसके द्वारा मथुरा–वृंदावन में जैसा विनाश किया गया, उससे ब्रज का धार्मिक महत्व समाप्तप्राय हो गया था। औरंगजेब के काल में ब्रज के सर्वनाश में जो कुछ कमी रह गई थी, वह अब्दाली के उस आक्रमण से पूरी हो गई। वह ऐसा भीषण आघात था कि उसने ब्रज के धर्म–संप्रदायों की ह्रासोन्मुखी स्थिति को फिर नहीं सुधरने दिया।

जाट राजाओं की देन—यद्यपि उस काल की विषम राजनैतिक परिस्थिति के कारण बदनसिंह, सूरजमल और जवाहरसिंह जैसे यशस्वी जाट राजा ब्रज की धार्मिक उन्नति करने में असमर्थ रहे थे, फिर भी अन्य क्षेत्रों में उनकी देन का बड़ा महत्व है। जाट नरेश सदा से श्री गिरिराज जी के अनन्य उपासक रहे हैं। उन्होंने गोवर्धन में कतिपय धार्मिक आयोजन भी किये थे, किंतु उनकी अधिक रुचि वहाँ पर दर्शनीय इमारतें बनवाने की ओर थी। फलत उनके द्वारा गोवर्धन के साथ ही साथ वृंदावन, डीग और भरतपुर में सुंदर भवन, मंदिर, कुंज, छतरी और दुर्गों का निर्माण किया गया था। ये इमारतें ब्रज की वास्तु कला के अनुपम नमूने हैं।

माधव जी सिंधिया का ब्रज-प्रेम—मरहठों का विख्यात सेनापति माधव जी सिंधिया महान् वीर और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ होने के साथ ही साथ हिंदुत्व का बड़ा अभिमानी एवं ब्रज का अनन्य प्रेमी था। तत्कालीन मुगल सम्राट शाह आलम (सं १८१६–सं १८६३) पर उसका बड़ा प्रभाव था, जिसके कारण उसने ब्रजवासियों की दशा सुधारने और ब्रज की धार्मिक स्थिति को कुछ उन्नत करने के लिए कई राजकीय सुविधाएँ प्राप्त की थी। वह मथुरा के श्रीकृष्ण-जन्म स्थान पर एक विशाल मंदिर भी बनवाना चाहता था, किंतु कई कारणों से उसकी इच्छा पूरी नहीं हो सकी। प्रकृति से वह एक धार्मिक महापुरुष था। वृंदावन के धर्माचार्यों और विशेष कर हरिदासी संप्रदाय के विरक्त संतों के प्रति उसकी बड़ी श्रद्धा थी। वह ब्रज के साहित्य, संगीत और रास का बड़ा प्रेमी था। उसने स्वयं भी ब्रजभाषा में भक्तिपूर्ण पदों की रचना की थी। यदि उसे राजनैतिक झंझटों से अवकाश मिलता तो वह ब्रज की धार्मिक प्रगति में पर्याप्त योग दे सकता था।

अंगरेजों का आधिपत्य—सं० १८५२ में माधव जी सिंधिया की मृत्यु हो गई थी। उसके पश्चात् ब्रज में योग्य शासक के अभाव से जो अव्यवस्था उत्पन्न हुई, उसका लाभ तत्कालीन अंगरेजी कंपनी को मिला था। जनरल लेक के कमान की अंगरेजी सेना ने सं० १८६० में मथुरा पर अधिकार कर लिया। फिर जनरल कँवरमियर ने सं० १८८३ में भरतपुर के जाट राजा को पराजित कर उसके अधिकार से गोवर्धन सहित ब्रज के बड़े भू-भाग को छीन लिया। इस प्रकार ब्रज प्रदेश अंगरेजों की दासता के बंधन में बँध गया।

धार्मिक स्थिति का सिंहावलोकन—जैसा कि 'उपक्रम' के आरंभ में ही कहा गया है स. १५८३ से स १८८३ तक का यह काल ब्रज के धर्म-संप्रदायों के इतिहास में सर्वाधिक महत्व का है। इसी काल में जहाँ महान् मुगल सम्राट अकबर की उदार धार्मिक नीति के फल स्वरूप ब्रज के सभी धर्म–संप्रदायों की चरमोन्नति हुई थी, वहाँ औरंगजेब की धर्मान्धता और अहमदशाह अब्दाली के भीषण आक्रमण के कारण उन्हें शोचनीय अवनति के दिन भी देखने पड़े थे। उन राजनैतिक घटनाओं का प्रभाव ब्रज के वैष्णव संप्रदायों पर अधिक पड़ा था, उनमें भी वल्लभ संप्रदाय सर्वाधिक रूप में प्रभावित हुआ था। अत पहिले वल्लभ संप्रदाय का, फिर दूसरे भक्ति संप्रदायों का और तत्पश्चात् ब्रज के अन्य धर्म-संप्रदायों का विशद वर्णन इस अध्याय में किया गया है।

१. बल्लभ संप्रदाय

नामकरण—ब्रज के वैष्णव संप्रदायो मे श्री वल्लभाचार्य द्वारा प्रचारित भक्ति-सप्रदाय सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसे वल्लभाचार्य जी के नाम पर 'वल्लभ सप्रदाय' कहा जाता है। इसका एक प्रसिद्ध नाम 'पुष्टि मार्ग' अथवा 'पुष्टि सप्रदाय' भी है। इस नाम की प्रेरणा आचार्य जी को श्रीमद् भागवत से प्राप्त हुई थी। भागवत का उल्लेख है, भगवान् के अनुग्रह से ही जीवात्मा का वास्तविक पोषण (पुष्टि) होना सभव है,—'पोषण तदनुग्रह [1]'। भगवान् की कृपा से ही जीव के हृदय मे भगवद्भक्ति का सचार होता है और उसी से भगवत्-प्राप्ति भी होती है। इस प्रकार भगवान का अनुग्रह (पोषण) ही भगवद्भक्ति का साधन है और वही उसका फल भी है। भगवद्भक्ति और भगवान की प्राप्ति में काल, कर्म और स्वभाव बाधक होते है, किंतु श्री वल्लभाचार्य जी का मत है,—'पुष्टि कालादि बाधिका[2]', अर्थात् पुष्टि (भगवत्-कृपा) मे कालादि (काल, कर्म, स्वभाव) की बाधा भी नही हो पाती है। इसलिए भक्ति मार्ग मे 'पुष्टि' को प्रधानता देने वाले इस सप्रदाय को 'पुष्टि मार्ग' कहा गया है।

परंपरा—वैष्णव धर्म के चतु सप्रदायो मे यह भक्ति मार्ग विष्णुस्वामी द्वारा प्रवर्तित 'रुद्र सप्रदाय' की परपरा मे विकसित हुआ है और इसका दार्शनिक सिद्धात भी विष्णुस्वामी सप्रदाय का 'शुद्धाद्वैतवाद' ही है। ऐसी मान्यता है कि श्री लक्ष्मण भट्ट जी विष्णुस्वामी सप्रदाय के अनुयायी थे और उन्होने अपने पुत्र श्री वल्लभाचार्य जी को स्वय ही मत्र-दीक्षा दी थी। विष्णुस्वामी सप्रदाय के तत्कालीन आचार्य बिल्वमगल जी के पश्चात् वल्लभाचार्य जी को उक्त सप्रदाय की आचार्य गद्दी पर आसीन किया गया था[3]। इसके साथ ही स्वय वल्लभाचार्य जी ने भी अपने को 'विष्णुस्वामी मर्यादानुयायी' अथवा 'विष्णुस्वामी महानुवर्ती' घोषित किया है[4]। इस प्रकार मूल परपरा और दार्शनिक सिद्धात की अभिन्नता की दृष्टि से यह सप्रदाय विष्णुस्वामी सप्रदाय से सबद्ध है, किंतु स्वतत्र विकास और भक्ति तत्व की भिन्नता के कारण इसे पृथक् सप्रदाय माना गया है।

---

(१) भागवत, द्वितीय स्कंध, दशम अध्याय, श्लोक ४

(२) तत्वदीप निबध

(३) सप्रदाय प्रदीप, पृष्ट ५६,१०२, सप्रदाय कल्पद्रुम, पृष्ठ २८ और अष्टछाप परिचय, पृष्ठ ६

(४) १. अवतिका (उज्जैन) के तीर्थ-पुरोहित नरोत्तम शर्मा के लिए श्री आचार्य जी ने सं १५४६ चैत्र शुद्ध प्रतिपदा (चैत्रादि स. १५४७ वि०) को एक वृत्ति-पत्र प्रदान किया था, जो संस्कृत भाषा और तेलगु लिपि मे उपलब्ध है। उसमे आचार्य जी ने अपने को 'विष्णुस्वामी मर्यादानुयायी' लिखा है। (कांकरोली का इतिहास, पृ २८-२९)

२ वल्लभाचार्य कृत 'निबन्ध' के प्रथम प्रकरण की पुष्पिका मे 'विष्णुस्वामी मतानुवर्ति श्री वल्लभ दीक्षित विरचिते' लिखा मिलता है।

३ सं० १५६८ के ज्येष्ठ मास मे श्री वल्लभाचार्य अपने ज्येष्ठ भ्राता श्री रामकृष्ण भट्ट के साथ बदरीनाथ की यात्रा को गये थे। उस समय उन्होंने वहाँ के पुरोहित वासुदेव तैलंग को एक वृत्ति-पत्र लिख कर दिया था। उसमे उन्होंने अपने को 'विष्णुस्वामि मतानुवर्ती' लिखा है। (कां. इ, पृ ४६–४७ और श्री वल्लभ विज्ञान, वर्ष १ स [illegible])

श्री वल्लभाचार्य जी (स १५३५-स १५८७)—

जीवन-वृत्तांत—श्री वल्लभाचार्य जी विष्णुस्वामी सप्रदाय की परपरा मे एक स्वतत्र भक्ति-पथ के प्रतिष्ठाता, शुद्धाद्वैत दार्शनिक सिद्धात के समर्थ प्रचारक और भगवत्-अनुग्रह प्रधान एव भक्ति-सेवा समन्वित 'पुष्टि मार्ग' के प्रवर्त्तक थे। वे जिस काल मे उत्पन्न हुए थे, वह राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक सभी दृष्टियो से बडे सकट का था। राजनैतिक दृष्टि से उस समय भारत का अधिकाश भाग विदेशी मुसलमान शासको की दासता के बधन मे बँधा हुआ था। वे शासक गण प्राय आपस मे लडते रहते थे, जिससे अशाति, अरक्षा और उथल-पुथल के कारण जनता को घोर कष्ट उठाना पड रहा था। धार्मिक दृष्टि से एक ओर उसे तास्सुवी मुसलमान शासको की मजहबी तानाशाही से खतरा रहता था, तो दूसरी ओर उसे तात्कालिक धर्म-गुरुओ ने या तो जगत् से विरक्त कर रखा था, या रूढिग्रस्त धर्माडबरो के जाल मे फँसा रखा था। सामाजिक दृष्टि से ऐसी अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, जिससे वर्णाश्रम के आचार-विचार और समाज के विधि-विधान नाम मात्र को रह गये थे। ऐसी विषम परिस्थिति मे श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने धर्मोपदेश द्वारा जनता का जैसा कल्याण किया, उसके कारण उनका नाम अमर हो गया है।

पूर्वज और माता-पिता—श्री वल्लभाचार्य जी के पूर्वज आंध्र राज्य मे गोदावरी तटवर्ती काकरवाड नामक स्थान के निवासी थे। वे भारद्वाज गोत्रीय तैलग ब्राह्मण थे। उनका कुल 'वेलनाट' अथवा 'वेल्लनाडु' नाम से प्रसिद्ध था और उसमे सोम यज्ञ कर्त्ता कई धर्मिष्ठ पुरुष समय-समय पर उत्पन्न हुए थे। उनके पिता श्री लक्ष्मण भट्ट दीक्षित प्रकाड विद्वान और धार्मिक महापुरुष थे। उनका विवाह विद्यानगर (विजयनगर) के राजपुरोहित सुशर्मा की गुणवती कन्या इल्लम्मागारू के साथ हुआ था, जिससे रामकृष्ण नामक पुत्र और सरस्वती एव सुभद्रा नाम की दो कन्याओ की उत्पत्ति हुई थी।

कुछ समय पश्चात् लक्ष्मण भट्ट जी ने तीर्थ-यात्रा करने का विचार किया। वे स्त्री-बच्चे और आवश्यक सामान को लेकर अपने जन्म-स्थान से उत्तर भारत की ओर चल पडे। उन्होंने प्रयाग, काशी, गया आदि तीर्थो की यात्रा की, और फिर स० १५३४ मे काशी जा कर वहाँ के हनुमान घाट पर स्थायी रूप से रहने लगे। कुछ काल तक काशी मे निवास करने पर उन्होंने यह चर्चा सुनी कि दिल्ली का सुलतान एक बडी सेना के साथ नगर पर आक्रमण करने के लिए आ रहा है। उस आपत्ति से बचने के लिए अनेक व्यक्ति सुरक्षित स्थानो मे जाने का प्रबध करने लगे। लक्ष्मण भट्ट जी और उनके साथ के दाक्षिणात्यो का विचार अपने प्रदेश मे जाने का हुआ। फलतः वे लोग काशी छोड कर दक्षिण की ओर चल दिये। उस समय लक्ष्मण भट्ट जी की पत्नी इल्लम्मा जी गर्भवती थी, किंतु उन्हे उसी स्थिति मे लबी यात्रा के लिए प्रस्थान करना पडा था।

जन्म—श्री लक्ष्मण भट्ट अपने सगी-साथियो के साथ यात्रा के कष्टो को सहन करते हुए जब वर्तमान मध्य प्रदेशातर्गत रायपुर जिले के चपारण्य नामक वन मे होकर जा रहे थे, तब उनकी पत्नी को अकस्मात प्रसव-पीडा होने लगी। सायकाल का समय था। सब लोग पास के चौडा नगर मे रात्रि को विश्राम करना चाहते थे, किंतु इल्लम्मा जी वहाँ तक पहुँचने मे भी असमर्थ थी। निदान लक्ष्मण भट्ट अपनी पत्नी सहित उस निर्जन वन मे रह गये और उनके साथी आगे बढ कर चौडा नगर मे पहुँच गये। उसी रात्रि को इल्लमागारू ने उस निर्जन वन के एक विशाल शमी वृक्ष के नीचे अठमासा शिशु को जन्म दिया। बालक पैदा होते ही निश्चेष्ट और सज्ञाहीन सा

ज्ञात हुआ, इसलिए इल्लम्मागारू ने अपने पति को सूचित किया कि मृत बालक उत्पन्न हुआ है। रात्रि के अधकार मे लक्ष्मण भट्ट भी शिशु की ठीक तरह से परीक्षा नही कर सके। उन्होने दैवेच्छा पर सतोष मानते हुए बालक को वस्त्र मे लपेट कर शमी वृक्ष के नीचे एक गडहे मे रख दिया और उसे सूखे पत्तो से ढक दिया। तदुपरात उसे वही पर छोड कर आप अपनी पत्नी सहित चौडा नगर मे जाकर रात्रि मे विश्राम करने लगे।

दूसरे दिन प्रात काल आगत यात्रियो ने बतलाया कि काशी पर यवनो की चढाई का सकट दूर हो गया है। उस समाचार को सुन कर उनके कुछ साथी काशी वापिस जाने का विचार करने लगे और शेष दक्षिण की ओर जाने लगे। लक्ष्मण भट्ट काशी जाने वाले दल के साथ हो लिये। जब वे गत रात्रि के स्थान पर पहुँचे, तो वहाँ पर उन्होने अपने पुत्र को जीवित अवस्था मे पाया। ऐसा कहा जाता है, उस गडहे के चहुं ओर प्रज्वलित अग्नि का एक मडल सा बना हुआ था और उसके बीच मे वह नवजात बालक खेल रहा था। उस अद्भुत दृश्य को देख कर दम्पती को बडा आश्चर्य और हर्ष हुआ। इल्लम्मा जी ने तत्काल शिशु को अपनी गोद मे उठा लिया और स्नेह से स्तन-पान कराया। उसी निर्जन वन मे बालक के जात कर्म और नामकरण के सस्कार किये गये। बालक का नाम 'वल्लभ' रखा गया, जो बडा होने पर सुप्रसिद्ध महाप्रभु बल्लभाचार्य हुआ। उन्हे अग्निकुड से उत्पन्न और भगवान की मुखाग्नि स्वरूप वैश्वानर का अवतार माना जाता है। इस प्रकार उस महापुरुष का जन्म बडी विचित्र परिस्थिति मे स० १५३५ की वैशाख कृ० ११ रविवार को चम्पारण्य मे हुआ था।

जन्म-काल और जन्म-स्थान का निर्णय—श्री वल्लभाचार्य के जन्म-काल के सबध मे एक दूसरा पक्ष भी रहा है, जिसके अनुसार उनका जन्म—सवत् १५२९ माना गया है। यह पक्ष वल्लभ सप्रदाय के चतुर्थ गृह की 'भरूची' शाखा का है। इस शाखा के मान्य विद्वान् कल्याण भट्ट मठपति कृत 'कल्लोल' ग्रथ मे उक्त सवत् का सर्व प्रथम उल्लेख किया गया था। उक्त सवत् के पक्ष और विपक्ष मे 'अनुग्रह' वर्ष ६ के कई अको मे तथा अन्य सामयिक पत्र-पत्रिकाओ एव चर्चा-सभाओ मे विविध विद्वानो ने अपने-अपने विचार प्रकट किये थे। यह उल्लेखनीय है कि 'कल्लोल' के अतिरिक्त वल्लभ सप्रदाय के अन्य ग्रथ, जैसे वल्लभ दिग्विजय, सप्रदाय प्रदीप, सप्रदाय कल्पद्रुम, निज वार्ता आदि मे तथा वशावलियो एव जन्म-बधाई के पदो मे स० १५३५ का ही उल्लेख मिलता है। इसके साथ ही ज्योतिष गणना से इस सवत् के तिथि-वार भी ठीक बैठते है[1]। इस प्रकार पर्याप्त वाद-विवाद और प्रचुर विचार-विमर्श होने के उपरात स० १५३५ की वैशाख कृ० ११ रविवार ही अतिम रूप से वल्लभाचार्य जी का जन्म-दिवस मान लिया गया है।

उनके जन्म-स्थान चम्परण्य की स्थिति के सबध मे भी कुछ विद्वानो को भ्रम हुआ है। श्री ग्राउस ने इसे बनारस के पास का कोई जगल बतलाया है[2], और डा० धीरेन्द्र वर्मा ने इसे विहार राज्य का चपारन नामक स्थान समझा है[3]। उक्त विद्वानो के भ्रम का निवारण सर्व प्रथम

(१) कांकरोली का इतिहास, पृष्ठ १९—२० और वल्लभीय सुधा, वर्ष ११ अक ३ देखिये
(२) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमाअर्स (तृ स.), पृष्ठ २६१
(३) ब्रजभाषा, पृष्ठ १४

'काकरोली का इतिहास' नामक ग्रथ मे किया गया था, जहाँ इस स्थान की यथार्थ स्थिति मध्य-प्रदेश राज्य के रायपुर जिला मे बतलाई गई है[1]। बनारस और चपारन मे कोई ऐसा स्मृति-चिह्न नही मिलता है, जिससे उन्हे वल्लभाचार्य जी का जन्म-स्थान कहा जा सके, किंतु मध्य प्रदेश के रायपुर जिला मे इसकी विद्यमानता है। वहाँ पर राजिम नामक एक कस्बा और रेल का जो स्टेशन है, उससे ७ मील दूर जगल मे 'चपाझर' नामक स्थान है। वहाँ श्री वल्लभाचार्य जी की बैठक बनी हुई है, और वहाँ प्रचुर काल से आचार्य जी का जन्मोत्सव भी मनाया जाता रहा है। इससे प्रमाणित होता है कि मध्य प्रदेश का यह 'चपाझर' नामक स्थान ही महाप्रभु वल्लभाचार्य जी का जन्म-स्थल 'चपारण्य' है। राजिम से चपाझर तक बैल गाडी से अथवा पैदल जाना पडता है[2]।

आरंभिक जीवन—वल्लभाचार्य जी का आरंभिक जीवन काशी मे व्यतीत हुआ था, जहाँ उनकी शिक्षा-दीक्षा तथा उनके अध्ययनादि की समुचित व्यवस्था की गई थी। उनके पिता श्री लक्ष्मण भट्ट ने उन्हे गोपाल मत्र की दीक्षा दी थी और श्री माधवेन्द्र पुरी से उन्हे आरंभिक शिक्षा प्राप्त हुई थी। उनके विद्या-गुरुओ मे लक्ष्मण भट्ट और माधवेन्द्र पुरी के अतिरिक्त सर्वश्री विष्णु-चित, तिरूमल और गुरुनारायण दीक्षित के नाम भी मिलते हैं। वे आरभ मे ही अत्यत कुशाग्र बुद्धि और अद्भुत प्रतिभाशाली थे। उन्होने छोटी आयु मे ही वेद, वेदाग, दर्शन, पुराण, काव्यादि मे तथा विविध धार्मिक ग्रथो मे अभूतपूर्व निपुणता प्राप्त की थी। वे वैष्णव धर्म के अतिरिक्त जैन, बौद्ध, शैव, शाक्त, शाकर आदिक धर्म-सप्रदायो के अद्वितीय विद्वान थे। उन्होंने अपने ज्ञान और पाडित्य के कारण काशी के विद्वत् समाज मे आदरणीय स्थान प्राप्त किया था।

कुटुंब-परिवार—उनका कुटुंब-परिवार काफी बडा और समृद्ध था, जिसके अधिकाश व्यक्ति दक्षिण के आध्र प्रदेश मे निवास करते थे। उनकी दो बहिने और तीन भाई थे। बडे भाई का नाम रामकृष्ण भट्ट था। वे माधवेन्द्र पुरी के शिष्य और दक्षिण के किसी मठ के अधिपति थे। उन्होने तपस्या द्वारा बडी सिद्धि प्राप्त की थी। स० १५६८ मे वे वल्लभाचार्य जी के साथ बदरीनाथ धाम की यात्रा को गये थे। अपने उत्तर जीवन मे वे सन्यासी हो गये थे। उनकी सन्यासावस्था का नाम केशवपुरी था। वल्लभाचार्य जी के छोटे भाई रामचद्र और विश्वनाथ थे। रामचद्र भट्ट बडे विद्वान और अनेक शास्त्रो के ज्ञाता थे। उनके एक पितृव्य ने उन्हे गोद ले लिया था और वे अपने पालक पिता के साथ अयोध्या मे निवास करते थे। उन्होने अनेक ग्रथो की रचना की थी, जिनमे शृंगार रोमावली शतक (रचना-काल स० १५७४), कृपा-कुतूहल, गोपाल लीला महाकाव्य और शृंगार वेदात के नाम मिलते है।

वल्लभाचार्य जी का अध्ययन स० १५४५ मे समाप्त हो गया था। तब उनके माता-पिता उन्हे लेकर तीर्थ-यात्रा को चले गये थे। वे काशी से चल कर विविध तीर्थो की यात्रा करते हुए जगदीश पुरी गये और वहाँ से दक्षिण चले गये। दक्षिण के श्री वेकटेश्वर बाला जी मे स० १५४६ की चैत्र कृ० ९ को उनका देहावसान हुआ था। उस समय वल्लभाचार्य जी की आयु केवल ११-१२ वर्ष की थी, किंतु तब तक वे प्रकाड विद्वान और अद्वितीय धर्म-वेत्ता के रूप मे प्रसिद्ध हो चुके थे। उन्होने काशी और जगदीश पुरी मे अनेक विद्वानो से शास्त्रार्थ कर विजय प्राप्त की थी।

---

(१) काकरोली का इतिहास, पृष्ठ १५

(२) वार्ता साहित्य, पृष्ठ ६०६

यात्राएँ—श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने अध्ययन की समाप्ति और पिता जी की मृत्यु के अनतर अपने भक्ति सिद्धात के व्यापक प्रचार के लिए विस्तृत यात्राएँ करने का निश्चय किया। उसकी पूर्ति के लिए सर्व प्रथम उन्होने अपनी माता जी को दक्षिण स्थित विद्यानगर मे उनके भाई के घर पहुँचा दिया। उसके उपरात वे निश्चित होकर देशाटन करने लगे। उन्होने समस्त भारत-वर्ष की कई बार यात्राएँ की थी। उन यात्राओ मे उन्होने प्रकाड विद्वत्ता एव प्रबल युक्तियो द्वारा उस समय के मत-मतान्तरो द्वारा फैलाये गये पाखडवाद और शाकर मत के मायावाद का खडन तथा अपने विशुद्ध ब्रह्मवाद एव भक्ति–सेवाप्रधान पुष्टिमार्ग का मडन किया था। उसके लिए उन्हे अनेक स्थानो मे विविध धर्म–सप्रदायो के विद्वानो एव धर्माचार्यो से शास्त्रार्थ करना पडा था, किंतु उसमे सदैव उनकी विजय हुई थी। उन्होने प्राय २० वर्ष तक लगातार परिभ्रमण और देशाटन करते हुए लबी यात्राएँ की थी।

उनके आरभिक जीवन की सफलता के लिए उन यात्राओ का बडा महत्व है। उनके कारण उनकी ख्याति समस्त देश मे व्याप्त हो गई और वे अपने युग के सर्वप्रधान धर्माचार्य माने जाने लगे। उनके अधिकाश शिष्य–सेवक उन यात्राओ मे ही हुए थे, और उनके अनेक ग्रथ भी उसी काल मे रचे गये थे। वल्लभ सप्रदाय मे उन यात्राओ को श्री आचार्य जी की 'पृथ्वी प्रदक्षिणा' अथवा 'दिग्विजय' कहा जाता है। उन यात्राओ मे तीन प्रमुख है, जिनकी महत्वपूर्ण घटनाओ का सक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है।

प्रथम यात्रा—श्री वल्लभाचार्य जी की इस यात्रा का आरभ 'वार्ता' साहित्य के अनुसार स० १५४८ की वैशाख कृ० २ को हुआ था। वैसे वे स० १५४६ से ही यात्रा कर रहे थे, जब कि वे प्रमुख तीर्थ स्थानो और धार्मिक स्थलो मे धर्म-प्रचार करते हुए स० १५४६ के अत मे उज्जैन पहुँचे थे। उन्होने चैत्रादि स० १५४७ के आरभिक दिवस चैत्र शु० १ को उज्जैन के तीर्थ-पुरोहित नरोत्तम शर्मा के लिए वृत्ति-पत्र प्रदान किया था। उसके पश्चात् वे ओडछा गये, जहाँ उन्होने 'घट सरस्वती' नामक एक तात्रिक विद्वान को शास्त्रार्थ मे पराजित किया। स० १५४८ मे वे विद्यानगर गये थे। उसी समय सभवत उन्होने अपनी माता जी को उनके भाई के निवास-स्थान पर छोडा था। विद्यानगर की विद्वत्सभा मे उन्होने मायावादियो से शास्त्रार्थ कर उन्हे निरुत्तर किया था। कुछ विद्वानो ने भ्रम वश इस शास्त्रार्थ को विद्यानगर के राजा कृष्णदेव राय की धर्म-सभा वाला वह प्रसिद्ध शास्त्रार्थ समझा है, जिसमे विविध धर्मो के विद्वानो को पराजित करने से आचार्य जी का 'कनकाभिषेक' किया गया था। वहाँ से दक्षिण-पूर्व के तीर्थ स्थानो की यात्रा करते हुए जब वे 'झाडखड' (जगन्नाथ पुरी से वैजनाथ धाम तक का वन्य प्रदेश) मे पहुँचे, तब स १५४९ की फाल्गुन शु० ११ को अकस्मात उनके अत करण मे ब्रज की ओर जाने की प्रेरणा हुई थी। फलत वे वहाँ से सीधे ब्रजमडल की ओर चल दिये थे।

वे स० १५५० की ग्रीष्म ऋतु के अत मे ब्रज मे पहुँचे, और वह उनकी प्रथम ब्रज-यात्रा थी। उन्होने वहाँ चातुर्मास्य किया और गोकुल का अनुसधान कर वहाँ के गोविंदघाट पर श्रीमद् भागवत का पारायण किया था। उसी स्थल पर उन्होने श्रावण शु० ११ को अपने प्रमुख सेवक दामोदरदास हरसानी को सर्व प्रथम मत्र-दीक्षा दी थी। इस प्रकार उन्होने समर्पण मत्र द्वारा अपने 'पुष्टि' मार्गीय सप्रदाय की स्थापना की थी। उसके उपरात उन्होने मथुरा जाकर वहाँ के विश्राम घाट की 'यत्र-बाधा' दूर की। उस यात्रा मे ७ वर्ष लगे थे और वह स. १५५३ मे पूरी हुई थी।

द्वितीय यात्रा—वह यात्रा स० १५५४ की ज्येष्ठ शु० २ रविवार को आरभ हुई थी। उसमे आचार्य जी ने अपने विशुद्ध ब्रह्मवाद और पुष्टिमार्गीय भक्ति सिद्धात का व्यापक प्रचार किया था। उसी यात्रा मे वे ब्रज के गोवर्धन नामक प्राचीन लीला-स्थल मे गये थे। वहाँ स० १५५६ मे उन्होने गिरिराज पहाडी पर श्रीनाथ जी के स्वरूप का प्रागट्य कर उनकी सेवा-पूजा की आरभिक व्यवस्था की थी। उसी समय सद्दू पाडे, रामदास चौहान, कुभनदास प्रभृति अनेक ब्रजवासी गण आचार्य जी के शिष्य-सेवक हुए थे। इस सप्रदाय के कुछ ग्रथो मे श्रीनाथ जी की सेवा का आरभ आचार्य जी की प्रथम यात्रा के काल मे होना लिखा गया है, किंतु अन्य घटनाओ की सगति मे वह कथन ठीक नही मालूम होता है।

इस द्वितीय यात्रा मे वे धर्म-प्रचार करते हुए महाराष्ट्र के विख्यात तीर्थ पढरपुर गये थे। वहाँ पर श्री विट्ठलेश जी का दर्शन करने के अनतर उन्हे अपना विवाह करने की प्रेरणा हुई थी। फलत वे पढरपुर से विद्यानगर गये और वहाँ से अपनी माता जी को साथ लेकर काशी आ गये। वह यात्रा स० १५५८ मे पूर्ण हुई थी और उसमे प्राय ४ वर्ष लगे थे।

उस यात्रा की समाप्ति पर उन्होने स० १५५८ की आषाढ शु० ५ को काशी मे मधुमगल नामक सजातीय ब्राह्मण की सुलक्षणा कन्या महालक्ष्मी (अक्का जी) के साथ विवाह किया था। उस समय महालक्ष्मी जी की आयु केवल ८ वर्ष की थी, अत गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने का अभी समय नही आया था। उस अवसर का लाभ उठाने के लिए वे तृतीय यात्रा का आयोजन करने लगे।

तृतीय यात्रा—वह यात्रा स० १५५८ के पौष मास मे आरभ हुई थी और श्री वल्लभाचार्य जी की सर्वाधिक महत्वपूर्ण यात्रा थी। उसमे उनके गौरव की अभूतपूर्व वृद्धि हुई थी। उस यात्रा मे वे सबसे पहिले गोवर्धन गये, जहाँ उनकी प्रेरणा से अबाला के एक धनाढ्य सेठ पूरनमल खत्री ने श्रीनाथ जी के विशाल मदिर बनवाने की योजना बनायी थी। इस मदिर का निर्माण कार्य सं १५५९ की वैशाख कृ० ३ को आरभ हुआ। उसके उपरात वे अनेक स्थानो मे भ्रमण और अपने मत का प्रचार करते हुए स १५६३ मे काशी मे गये। वहाँ पर 'पत्रावलम्बन' ग्रथ द्वारा उन्होने मायावादियो और शैव-शाक्तो को निरुत्तर किया। काशी से वे पुन गोवर्धन गये। वहाँ पर स १५६४ मे पूरनमल खत्री द्वारा बनवाए हुए नवीन मदिर मे उन्होने श्रीनाथ जी के स्वरूप को विराजमान किया। उस कार्य के अनतर वे दक्षिण चले गये। वहाँ पर स १५६५-६६ मे उन्होने विद्यानगर के सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ मे भाग लिया था। उस शास्त्रार्थ मे विजयी होने के कारण राजा कृष्णदेव राय द्वारा उनका 'कनकाभिषेक' किया गया। वह यात्रा स १५६६ के लगभग पूरी हुई।

यात्रा की समाप्ति पर वे श्रीनाथ जी के दर्शनार्थ गोवर्धन गये थे। उसी काल मे सूरदास और कृष्णदास उनके सेवक हुए थे। आचार्य जी ने सूरदास को श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा करने का आदेश दिया और कृष्णदास को मदिर की व्यवस्था का भार सोपा था। उसके उपरात आचार्य जी गृहस्थ धर्म के निर्वाहार्थ अडैल मे जा कर रहने लगे थे।

ब्रज आगमन—जब श्री वल्लभाचार्य जी अपनी प्रथम यात्रा करते हुए 'झाडखड' मे पहुँचे, तब स १५४९ की फाल्गुन शुक्ला ११ गुरुवार को भगवत्-प्रेरणा से अकस्मात् उन्हे ब्रज मे जाने की इच्छा हुई थी। वे अपनी यात्रा के पूर्व कार्यक्रम को स्थगित कर सीधे ब्रजमडल की ओर चल दिये[1]। उनके साथ जो सेवक थे, उनमे दामोदरदास हरसानी तथा कृष्णदास मेघन प्रमुख थे,

(१) श्री गोबर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ ९–१०
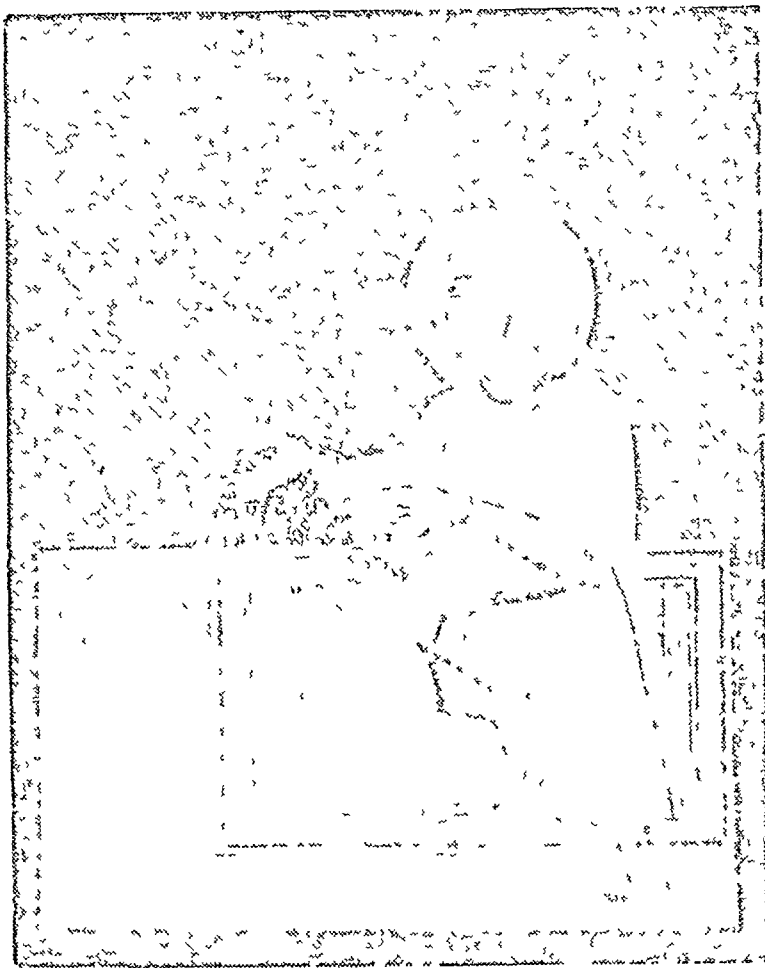
महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी
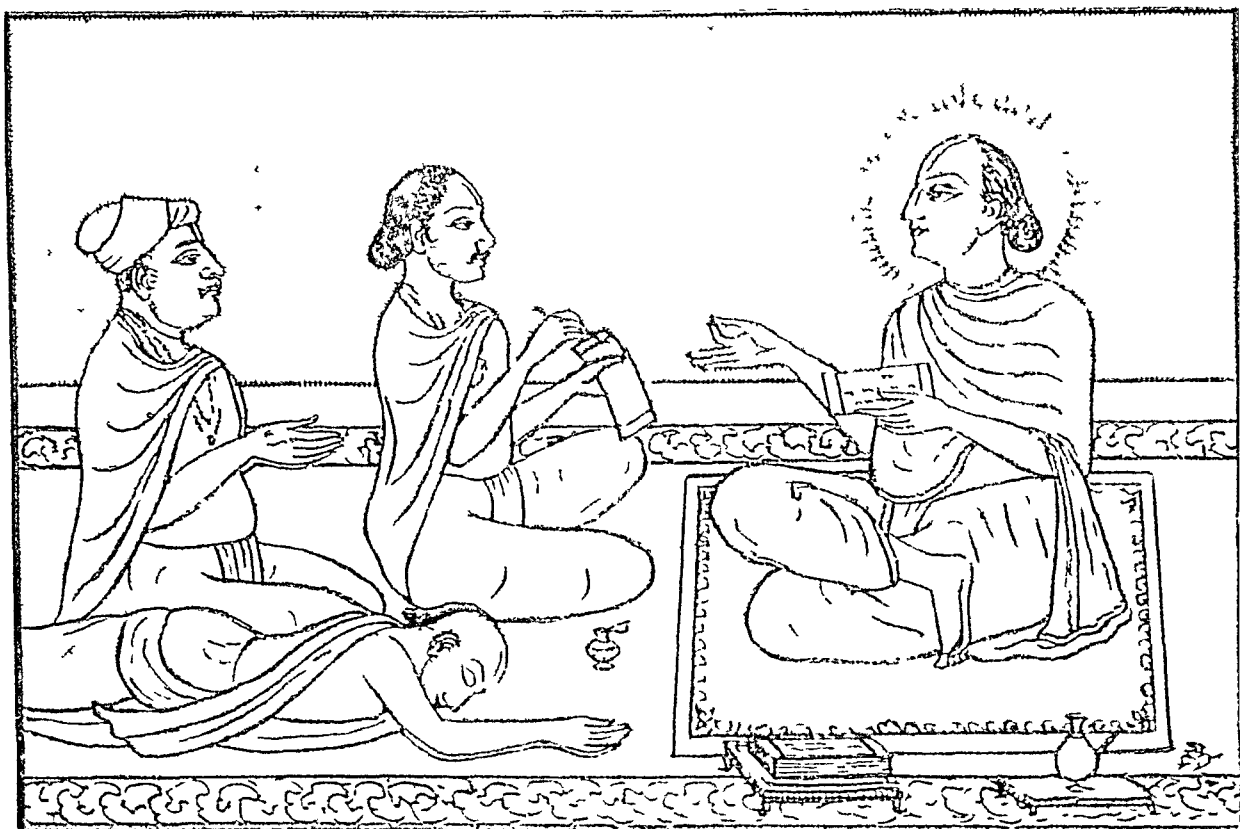
श्री आचार्य जी और सर्वश्री माधव भट्ट, दामोदरदास हरसानी एव कृष्णदास मेघन

और वे स १५५० की ग्रीष्म ऋतु मे व्रज मे आये थे। उनका आगमन इस पुरातन प्रदेश के भाग्योदय का सूचक था। उनके कारण इसे जो गौरव प्राप्त हुआ, वह इतिहास प्रसिद्ध है। उस काल मे समस्त व्रजमडल पर दिल्ली के सुलतान सिकदर लोदी का कठोर शासन था। उसके दमनकारी आदेशो से यहाँ पर ऐसा आतक और भय छाया हुआ था कि धर्मप्राण हिंदुओ का यहाँ पर रहना बडा कठिन हो गया था। फिर भी श्री आचार्य जी ने यहाँ पर ही 'चातुर्मास्य' करने का निश्चय किया था।

'गोकुल' का अन्वेषण—व्रज की सीमा मे प्रविष्ट होने पर उन्होने यमुना के उस पार मथुरा के सामने वाले 'वृहदारण्य' मे विश्राम किया। वे भगवान् श्रीकृष्ण के आरभिक लीला-स्थल 'गोकुल' मे निवास करना चाहते थे, किंतु उस काल मे यमुना पार के उस विशाल वन मे नदालय सहित श्रीकृष्ण के शैशव कालीन प्राचीन स्थलो की यथार्थ स्थिति अज्ञात थी। उस वन के एक भाग मे 'महावन' का ऐतिहासिक स्थल था, किंतु महमूद गजनवी के आक्रमण के पश्चात् वह भी वीरान हो गया था। श्री आचार्य जी उस बीहड वन मे श्रीकृष्ण की शैशव-लीला के प्राचीन स्थलो का अन्वेषण करने लगे। उन्होने वर्तमान गोकुल के उस स्थल को विशेष महत्वपूर्ण समझा, जिसे आजकल 'गोविंदघाट' कहते है।

'श्री बैठक चरित्र' के अतर्गत गोकुल की बैठक के प्रसग मे लिखा गया है, जब श्री आचार्य जी को गोकुल की यथार्थ स्थिति के निश्चय करने मे कठिनाई हो रही थी, तब श्री यमुना जी ने स्त्री का रूप धारण कर उन्हे बतलाया था कि नदी के तट पर जहाँ छोकर का अमुक वृक्ष है, वहाँ 'गोविंदघाट' का प्राचीन लीला—स्थल है, और उसी के निकट का भू-भाग प्राचीन गोकुल है।

'समर्पण मत्र' की दीक्षा और 'पुष्टि मार्ग' की स्थापना—गोकुल की स्थिति निश्चित हो जाने पर श्री वल्लभाचार्य जी ने वहाँ चातुर्मास्य करते हुए भागवत की कथा कहना आरभ किया। दामोदरदास हरसानी और कृष्णदास मेघन प्रभृति उनके सेवक तथा कतिपय व्रजवासी गण उक्त कथा को बडी श्रद्धा पूर्वक सुनते थे। श्रावण मास मे श्री आचार्य जी ने भागवत का साप्ताहिक पारायण किया था। जिस दिन पारायण की समाप्ति हुई, उस दिन स १५५० की श्रावण शु० ११ (पवित्रा एकादशी) थी। उस शुभ तिथि की मध्य रात्रि को श्री आचार्य जी को दिव्य अनुभूति हुई कि स्वय भगवान श्रीहरि उन्हे साप्रदायिक दीक्षा के शुभारभ करने का आदेश दे रहे है। आचार्य जी ने अपने ग्रथ 'सिद्धात रहस्य' के आरभ मे लिखा है,—"श्रावण मास की शुक्ला एकादशी को रात्रि के समय साक्षात् भगवान् ने उनसे कहा कि वे जीवो के देह गत पच दोषो की निवृत्ति के लिए उन्हे 'ब्रह्म सबध' की दीक्षा दे[1]।"

भगवत् आदेश की पूर्ति के निमित्त श्री आचार्य जी ने उसी समय अपने प्रमुख सेवक दामोदरदास हरसानी को जगाया और उसे समर्पण मत्र द्वारा 'ब्रह्म सबध' की प्रथम दीक्षा दी। इस प्रकार दामोदरदास हरसानी की दीक्षा द्वारा श्री वल्लभाचार्य जी ने स० १५५० की श्रावण शुक्ला ११ को व्रज मे गोकुल के गोविंदघाट पर 'पुष्टि मार्ग' की स्थापना की थी। उस अवसर पर

---

(१) श्रावणस्याऽमले पक्ष एकादश्या महानिशि। साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ॥
ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयो। सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधा स्मृता. ॥
—सिद्धान्त रहस्य, १-२

गोकुल–महावन के कुछ ब्रजवासियो ने भी आचार्य जी से मन्त्र-दीक्षा ली थी। इनका सकेत आचार्य जी के सेवक अच्युतदास गौड की वार्ता मे मिलता है। उनमे लिखा है, जब आचार्य जी महावन मे नारायणदास ब्रह्मचारी के घर पधारे, तब ब्रह्मचारी जी ने और बालक अच्युतदास ने उनसे मत्र प्राप्त किया था[1]।

मत्र–दीक्षा के शुभारभ की पुनीत स्मृति मे गोकुल के गोविंदघाट पर छोकर के वृक्ष के नीचे पहिले एक कच्चा चबूतरा बनाया गया और बाद मे पक्की 'बैठक' बनवाई गई थी। श्री आचार्य जी की ८४ बैठको मे से इसे प्रथम बैठक होने का गौरव प्राप्त है। इसी के ओर-पास की भूमि मे आचार्य जी के सुयोग्य पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने बाद मे बस्ती बनायी थी, जिसे वर्तमान गोकुल कहा जाता है।

विश्रामघाट की 'यंत्र-बाधा' का निवारण–जैसा लिखा जा चुका है, जब आचार्य जी ब्रज मे आये, उस समय यह धार्मिक प्रदेश दिल्ली के सुलतान सिकदर लोदी की मजहबी तानाशाही के कष्टो से कराह रहा था। सिकदर लोदी बडा तास्सुबी और क्रूर शासक था। ऐसा कहा जाता है, वह एक निम्न जातीय हिंदू माता का पुत्र था, इसलिए तुर्क मुसलमान सरदार उसे सुलतान बनाने के पक्ष मे नही थे। उसने हिंदुओ पर भीषण अत्याचार कर यह सिद्ध करना चाहा था कि वह भी किसी कट्टर मुसलमान से कम नही है। उसके काजी–मुल्लाओ और राजकीय कर्मचारियो ने मथुरा मे ऐसे अमानवीय आदेश जारी कर रखे थे कि उनसे वहाँ के निवासियो का जीवन दूभर हो गया था। श्री वल्लभाचार्य जी ब्रजवासियो का कष्ट दूर करने के निमित्त गोकुल से मथुरा गये और वहाँ के तीर्थ पुरोहित उजागर चौबे के निवास–स्थान पर ठहरे।

'श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' मे लिखा है, जब श्री आचार्य जी मथुरा मे यमुना–स्नान करने के लिए विश्रामघाट को जाने लगे, तब उजागर चौबे तथा दूसरे लोगो ने इसका निषेध किया। उसका कारण बतलाते हुए उन्होने कहा,—'दिल्ली के सुलतान सिकदर लोदी का कामदार रुस्तम अली यहाँ आया था, उसका चौबो ने उपहास किया। उससे रुष्ट होकर उसने विश्रामघाट पर एक ऐसा यत्र टाँग दिया है कि उसके नीचे होकर जो हिंदू निकलता है, उसकी चोटी कट जाती है और दाढी निकल आती है। इस प्रकार मुसलमान किये जाने के भय से कोई भी हिंदू यमुना–स्थान नही कर पाता है।' आचार्य जी ने उन लोगो के कथन पर ध्यान नही दिया, और वे अपने साथियो सहित विश्रामघाट की ओर चल दिये। उन्होने वहाँ यमुना–स्नान किया। उन पर यत्र का कोई प्रभाव नही हुआ, किंतु बाद मे फिर हिंदुओ की चोटी कटने लगी और दाढी निकलने लगी। मथुरा निवासियो ने श्री आचार्य जी से प्रार्थना की, कि वे उस यत्र-बाधा को सदा के लिए समाप्त कर दे। इस पर श्री आचार्य जी ने अपने दो सेवक वासुदेवदास और कृष्णदास को एक यत्र देकर दिल्ली भेजा। उस यत्र से प्रभावित होकर सिकदर लोदी ने मथुरा की यत्र-बाधा को हटाने के लिए आदेश जारी कर दिया, जिससे मथुरा निवासियो का कष्ट दूर हो गया[2]। उसी स्मृति मे विश्रामघाट पर 'श्री आचार्य जी महाप्रभु की बैठक' बनाई गई है।

---

(१) चौरासी वैष्णवन की वार्ता, वार्ता सं ५४ अच्युतदास गौड की वार्ता
(२) श्री गोबर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ १०–११

'वार्ता' मे जिस तथाकथित 'यत्र-बाधा' को चमत्कारिकता के रग मे रँग कर उसे वल्लभाचार्य जी के अलौकिक प्रभाव की सूचक सिद्ध करने की चेष्टा की गई है, वह वास्तव मे एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है। उसमे रुस्तम अली और श्री आचार्य जी के यत्रो की करामात का कथन तथा चोटी के स्थान पर दाढी निकलने आदि की बाते बिलकुल कपोल कल्पनाएँ है। मथुरा के चौबो द्वारा रुस्तम अली का उपहास करने की बात भी सर्वथा असगत है। उस काल मे सुलतान सिकदर लोदी के कठोर शासन का ऐसा आतक था कि किसी हिंदू द्वारा राजकीय कर्मचारी तो क्या, किसी साधारण मुसलमान के साथ भी वैसा व्यवहार करना कदापि सभव नही था। आश्चर्य की बात है, डा हरिहरनाथ टडन जैसे आधुनिक विद्वान ने भी मथुरा के चौबो द्वारा रुस्तम अली से उपहास किये जाने की बात को 'सच' माना है! गोया उस काल मे भी मथुरा मे आजकल की सी स्थिति थी। उन्होंने रुस्तम अली द्वारा एक बडी कैंची या कतरनी को टाँगने, उससे खडी चोटी वालो की चोटी का कुछ भाग कट जाने और उसे रस्सी से दाढी की तरह बाँध देने की हास्यास्पद बाते लिख कर उस काल के हिंदुओ की वास्तविक स्थिति को अनदेखी किया है[१]!

उस घटना मे तथ्य की बात यह है कि वल्लभाचार्य जी के ब्रज मे आने से पहिले मथुरा के विश्रामघाट पर हिंदुओ का श्मशान था, जहाँ हिंदू अपने मृतको का दाह-सस्कार करने के अनतर क्षौर कर्म और स्नानादि किया करते थे। सिकंदर लोदी ने मथुरा के हिंदुओ को बलात् मुसलमान बनाने के लिए उनके धार्मिक कृत्यो पर कडी पाबदी लगा दी थी। उस क्रूर सुलतान के मजहबी उन्माद के कारनामो से स्वय मुसलमानो के लिखे हुए इतिहास ग्रथो के पन्ने भरे पडे हैं।

अलीगढ विश्वविद्यालय मे सुरक्षित 'तबकाते अकबरी' की एक हस्तलिखित प्रति के आधार पर प्रोफेसर हलीम ने लिखा है कि सिकदर लोदी के शासन मे राज्य की ओर से मथुरा के घाटो पर कर्मचारी नियुक्त थे, जो हिंदुओ को यमुना मे स्नान नही करने देते थे और बाल नही बनवाने देते थे। प्रोफेसर हलीम की तरह डा ईश्वरीप्रसाद और डा आशीर्वादीलाल ने भी लिखा है कि स १५४९ के आस-पास मथुरा मे हिंदुओ को यमुना मे स्नान करने की स्वतत्रता प्राप्त नही थी। 'तारीखे दाऊदी' मे भी इसी प्रकार का उल्लेख हुआ है[२]। 'तारीखे दाऊदी' जहाँगीर कालीन इतिहास-लेखक अब्दुल्ला की रचना है। इसमे सिकदर लोदी के धर्मोन्माद और अत्याचारो का जो उल्लेख है, उसे श्री ग्राउस ने इस प्रकार उद्धृत किया है,—'सिकदर ने मथुरा के हिंदुओ पर अपने सिर और दाढी मुडवाने तथा धार्मिक कृत्य करने की कडी पाबदी लगा दी थी। उसके आदेश के कारण मथुरा मे हिंदुओ को नाई मिलना कठिन हो गया था[३]।' अब्दुल्ला से पहिले अकबर कालीन इतिहास-लेखक फरिश्ता ने भी 'तारीखे फरिश्ता' मे उसी प्रकार का कथन करते हुए लिखा था,—'सिकदर का आदेश था कि कोई हिंदू यमुना–स्नान न करे। उसने नाइयो को कडी हिदायत की थी कि वे हिंदुओ के सिरो और दाढियो को न मूडे। उसके कारण हिंदू अपनी धार्मिक क्रियाएँ नही कर सकते थे[४]।'

---

(१) देखिये 'वार्ता साहित्य', पृष्ठ ५४०

(२) हिस्ट्री आफ दि राइज आफ दि महम्मडन पावर, जिल्द २, पृष्ठ ५८६

(३) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमाअर (तृतीय सस्करण), पृष्ठ ३४

(४) हिस्ट्री आफ दि राइज आफ दि महम्मडन पावर, जिल्द २, पृष्ठ ५८६

श्री बल्लभाचार्य जी ने पहिले तो विश्रामघाट पर से श्मशान हटवाया, ताकि हिंदू अपने मुर्दो का दाह सस्कार अन्यत्र कर सके। फिर उन्होने हिंदुओ को यमुना–स्नान की आज्ञा दिलवाने के लिए अपने दो सेवको को सिकदर लोदी के पास फरियाद करने दिल्ली भेजा[१]। उस काल मे इस प्रकार की फरियाद करना भी बडे साहस का काम था, जिसे कोई प्रबल आत्म विश्वासी व्यक्ति जीवन का खतरा उठा कर ही कर सकता था। ऐसा जान पडता है, श्री आचार्य जी के प्रयास से सिकदर लोदी ने कुछ शर्तो के साथ मथुरा मे हिंदुओ को यमुना–स्नान करने और वहाँ के घाटो पर क्षौर कर्मादि करने की सुविधा प्रदान कर दी थी। कदाचित उसके लिए राजकीय कर देना पडता था। उस प्रकार का तीर्थ-कर सुलतानो के शासन–काल मे मथुरा मे लगता था, जिसे मुगल सम्राट अकबर ने स १६२० मे हटाया था। सुलतानी काल मे हिंदुओ को हिंदू बने रहने के लिए 'जजिया' नाम का एक और कर भी देना पडता था, जिसे मुगल सम्राट अकबर ने ही स १६२७ मे बद किया था।

आचार्य जी के प्रयास से मथुरा के हिंदुओं को यमुना–स्नान और क्षौर कर्मादि धार्मिक कृत्य करने की जो सुविधा प्राप्त हुई थी, वह उनके महत्व की एक बडी बात थी। उसे 'वार्ता' साहित्य मे 'यत्र-बाधा' जैसी चमत्कारपूर्ण घटना की कल्पना द्वारा वास्तविकता से परे कर दिया गया है। 'काकरोली का इतिहास' का यह उल्लेख कि "आचार्य चरण की त्याग वृत्ति के माहात्म्य से प्रभावित होकर सिकदर लोदी ने वैष्णव सप्रदायो के साथ किसी प्रकार का जोर-जुल्म न करने की मुनादी पिटवादी[२]" भी सर्वथा अप्रामाणिक है। इतिहास से सिद्ध है, सिकदर लोदी का मजहबी उन्माद उसके समस्त शासन-काल मे बराबर जारी रहा था। उसके आदेश से राजकीय कर्मचारी गण ब्रज मे चाहे जब सकट उपस्थित कर देते थे, जिनसे वहाँ भय और आतक छा जाता था। ऐसी कई घटनाओ का उल्लेख इतिहास और साप्रदायिक साहित्य मे मिलता है।

श्रीनाथ जी की सेवा और मदिर-निर्माण का आयोजन—श्री वल्लभाचार्य जी अपनी 'द्वितीय यात्रा' के प्रसग मे स १५५६ मे पुन ब्रज मे आये थे। उस समय सिकदर लोदी का दमन चक्र वहाँ पर बडी तेजी से चल रहा था। उसने मूर्ति-पूजा और मदिर-निर्माण पर कडी पाबदी लगा दी थी और पुराने मदिरो की मरम्मत करने का निषेध कर दिया था। उस काल मे ब्रज के अधिकाश मदिर–देवालय उपेक्षित और जीर्ण होने के कारण अत्यत शोचनीय अवस्था मे थे। इस पर भी जब राजकीय कर्मचारियो की उन पर क्रूर दृष्टि पड जाती थी, तभी उन्हे नष्ट-भ्रष्ट करने करने का प्रबल अभियान चल पडता था। इस प्रकार ब्रज के हिंदू अपने धार्मिक विश्वास के अनुसार उपासना और सेवा-पूजा करने के अधिकार से वचित हो गये थे। श्री वल्लभाचार्य जी ने सिकदर लोदी के दमनकारी कठोर आदेशो की उपेक्षा कर अपने अदम्य साहस और अपूर्व आत्म-बल का परिचय दिया था।

'वार्ता' से ज्ञात होता है, श्री वल्लभाचार्य जी मथुरा से गोवर्धन गये और वहाँ सद्दू (साधु) पाडे के चबूतरे पर उन्होने विश्राम किया। गिरिराज पहाडी की तलहटी मे, जहाँ आजकल आन्यौर गाँव है, वहाँ उन दिनो सद्दू पाडे का निवास-स्थान था। वह गोपालन का कार्य करता था, और उसके पास बहुसख्यक गाये थी। वहाँ पहुँचने पर आचार्य जी को ज्ञात हुआ कि गिरिराज

---

(१) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता पृष्ठ ११

(२) कांकरोली का इतिहास, पृष्ठ ३४

पहाडी की कदरा से एक भगवद् स्वरूप का प्राकट्य हुआ है। श्री माधवेन्द्र पुरी ने उनका नाम 'गोपाल' रख कर उनकी पूजा के आयोजन की चेष्टा की थी, किंतु उस काल की विषम परिस्थिति के कारण वे समुचित व्यवस्था नही कर सके थे। वहाँ के ब्रजवासियों मे उक्त देव स्वरूप के प्रति अत्यत श्रद्धा और भक्ति की भावना थी, किंतु वे मुलतानी शासन के आतक के कारण प्रकट रूप मे उनकी पूजा आदि करने का साहस नही कर पाते थे।

श्री आचार्य जी ने उक्त देव स्वरूप के दर्शन किये और उन्हे 'गोवर्धननाथ' अथवा 'श्रीनाथ जी' के नाम से प्रसिद्ध किया। उन्होने वहाँ के ब्रजवासियो को कृष्णाश्रय का मंत्र देकर उनमे आत्म वल का सचार कर दिया और उन्हे श्रीनाथ जी की यथोचित रीति से सेवा-पूजा करने के लिए उत्साहित किया। उनके प्रोत्साहन से ब्रज मे श्रीनाथ जी के रूप मे भगवान श्रीकृष्ण की वाल-किशोर भावनात्मक सेवा-पूजा प्रचलित हुई थी। आचार्य जी ने गिरिराज पहाडी पर एक छोटा सा कच्चा मदिर वनवा कर उसमे श्रीनाथ जी के स्वरूप को विराजमान कर दिया था। स्थानीय ब्रजवासी गण वडी श्रद्धा-भक्ति पूर्वक उनकी सेवा-पूजा करने लगे। उसी अवसर पर सद्दू पाडे, मानिकचद पाडे, रामदास चौहान, कुभनदास, अच्युतदास प्रभृति अनेक ब्रजवासी आचार्य जी के शिष्य-सेवक हुए थे। आचार्य जी ने रामदास चौहान को श्रीनाथ जी की सेवा करने के लिए नियुक्त किया। सद्दू पाडे और अन्य ब्रजवासी श्रद्धा-भक्ति पूर्वक सेवा मे सहयोग देते थे और कुभनदास कीर्तन करते थे। श्रीनाथ जी की सेवा की वह आरभिक व्यवस्था कर आचार्य जी पुन अपनी यात्रा को चले गये। गोवर्धन मे श्रीनाथ जी की सेवा के प्रचलन से मानो ब्रज मे धार्मिक और सास्कृतिक पुनरुत्थान की आधार-शिला ही रख दी गई थी, जिसका श्रेय श्री वल्लभाचार्य जी को था।

उसके पश्चात् जब श्री वल्लभाचार्य जी स १५५८ मे ब्रज मे आये, तब उन्होने अम्बाला के एक धनाढ्य हरिभक्त पूरनमल खत्री को श्रीनाथ जी का पक्का मदिर बनवाने के लिए बडा इच्छुक पाया, किंतु मुलतानी आतक के कारण उसे साहस नही हो रहा था। उस काल की विषम परिस्थिति मे किसी नये मदिर के निर्माण का आयोजन करना राजकीय सकट को आमन्त्रित करना था। किंतु श्री आचार्य जी की प्रेरणा और उनके प्रोत्साहन से मदिर-निर्माण की आवश्यक व्यवस्था की जाने लगी। उसके लिए आगरा से हीरामन नामक एक कुशल शिल्पी वुलाया गया, जिसने मदिर का मानचित्र वना कर उसके निर्माण का आवश्यक प्रवध किया था।

हीरामन शिल्पी ने शिखरदार मदिर का मानचित्र वनाया था, किंतु आचार्य जी नदालय की भावना के अनुसार विना शिखर का हवेलीनुमा मदिर वनवाना चाहते थे। उसका एक कारण यह भी था कि उस काल के यवन आक्राता शिखरो से मदिरो को सरलता से पहचान कर उन्हे नष्ट कर दिया करते थे। फिर भी मदिरो की वास्तु कला के अनुसार शिखर वनाना आवश्यक था, अत श्रीनाथ जी के मदिर को भी उसी प्रकार का वनाया गया। 'वार्ता' मे लिखा है, श्रीनाथ जी ने स्वप्न मे पूरनमल खत्री को मदिर वनवाने के लिए और हीरामन मिस्त्री को मानचित्र वना कर मदिर निर्माण करने के लिए प्रेरित किया था। मदिर का शिखर भी श्रीनाथ जी की प्रेरणा से ही वनाया गया था[1]। वैसे तो जगत् के सभी कार्य भगवत्-प्रेरणा से ही सम्पन्न होते है, किंतु निमित्त रूप से किसी व्यक्ति विशेष का कर्तृत्व माना जाता है। 'वार्ता' मे श्रीनाथ जी की इच्छा को प्रमुखता प्रदान करते हुए श्री आचार्य जी के महत्व को गौण कर दिया गया है।

---

(१) श्रीगोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ १७-१८

'वार्ता' मे लिखा है, स १५५६ की वैशाख शु० ३ को श्रीनाथ जी के मदिर के निर्माण का कार्यारभ हुआ था। उसमे एक लाख से अधिक रुपया लग गया था, किंतु फिर भी मदिर पूरा नही हो सका था। 'वार्ता' के अनुसार मदिर के पूर्ण न होने का कारण द्रव्याभाव ही था[1]। हमारे मत से वास्तविक बात यह थी कि सिकदर लोदी के आदेश से या तो मदिर का निर्माण कार्य रोक दिया था, अथवा बने हुए मदिर को तोड दिया गया था। इसका स्पष्ट उल्लेख चैतन्य सप्रदायी साहित्य मे मिलता है, जिसके आधार पर लिखा गया है,—"सिकदर लोदी के काजी ने जब ब्रज के मदिरो पर अत्याचार करना आरभ किया, तब यवनो के उपद्रव के डर से गौडीय पुजारी श्रीनाथ-गोपाल को मदिर से नीचे उतार कर तीन मील दूर 'टोड का घना' नामक घनघोर वन मे ले गये और वहाँ गुप्त भाव से सेवा करने लगे। उधर सुलतान के लोगो ने पूरनमल द्वारा बनवाये हुए मदिर को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। यवनो का उपद्रव शात होने पर एक मील दूर 'श्याम ढाक' नामक स्थान पर एक पर्ण मदिर बनवा कर उसमे श्रीनाथ-गोपाल को विराजमान किया गया था[2]।"

श्रीनाथ जी को 'टोड का घना' मे छिपाना—'श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' मे भी श्रीनाथ जी को 'टोड का घना' मे ले जाने का कथन किया गया है, किंतु उसमे वास्तविक कारण की उपेक्षा कर 'चतुरा नागा' नामक भगवद् भक्त को दर्शन देने का उद्देश्य बतलाया गया है। वे चतुरा नागा कौन से भक्त जन थे, इसका स्पष्ट उल्लेख नही मिलता है। निंबार्क सप्रदाय मे चतुर चिंतामणि जी, जो श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी की शिष्य-परपरा मे छठे आचार्य थे, 'नागाजी' कहलाते है, किंतु उनके समय की सगति इन चतुरा नागा मे नही होती है। ऐसा मालूम होता है, वे निंबार्क सप्रदायी नागा जी से भिन्न कोई दूसरे भक्त जन थे। फिर भी उनके सबध मे विशेष अनुसधान करने की आवश्यकता है।

'अष्ट सखान की वार्ता' के अतर्गत कुभनदास की वार्ता मे भी उक्त घटना का उल्लेख हुआ है, जिसका कारण स्पष्ट रूप से 'म्लेच्छ का उपद्रव' बतलाया गया है। उसमे लिखा है, भगवत् द्वेषी म्लेच्छ की लूट-मार से बचने के लिए गोवर्धन के सद्दू पाडे, मानिकचद पाडे, रामदास और कुभनदास श्रीनाथ जी के स्वरूप को 'टोड का घना' नामक एक निर्जन और कटकाकीर्ण बीहड वनखड मे ले गये थे। ब्रजवासी गण खान-पान और रहन-सहन की कठिनाइयो को सहन करते हुए भी उस दुर्गम स्थल मे तब तक रहे, जब तक भय की आशका बनी रही थी। शाति स्थापित होने पर वे पुन श्रीनाथ जी को लेकर गोवर्धन लौट आये थे[3]। उस घटना का उल्लेख कुभनदास ने अपने दो पदो मे किया है[4]।

---

(१) श्रीगोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ १६

(२) श्री माधवेन्द्र पुरी एव वल्लभाचार्य, पृष्ठ १७–१८

(३) कुभनदास की वार्ता, प्रसग २

(४) १ भावत तोहि टोड को घनौ।
काँटे लगे, गोखरू टूटे, फाटत है सब तनौ॥ × ×

२ बैठ्यौ आइकै बन माँहि। × ×
डरपति फिरै मृगी ते सिंघ क्यो, ए बाते हमको न सुहाहिं।
'कुभनदास' प्रभु गोवर्धनधर, सूनो भवन देखि पछितांहि॥

—कुभनदास (विद्या विभाग, काकरोली), पद स ३६८, ३६६

पूर्वोक्त पदो की उल्लेखनीय बात यह है कि इनमे आक्रमणकारियो के प्रति रोष व्यक्त न करते हुए श्रीनाथ जी के प्रति ही व्यगोक्ति की गई है। कुभनदास प्रभृति व्रजवासियो की भावना थी कि वे घटनाएँ श्रीनाथ जी की लीला मात्र है। श्रीनाथ जी अपनी इच्छा से इस प्रकार के खेल कर रहे है, वरना उस तुच्छ सुलतान की क्या सामर्थ्य है कि वह उनका बाल भी बाका कर सके।

उक्त घटना का उल्लेख पुष्टि सप्रदाय के वार्ता साहित्य के साथ ही साथ चैतन्य मत के साहित्य मे भी मिलता है। 'वार्ता' मे उक्त घटना की तिथि स. १५५२ की श्रावण शु० ३ बुधवार बतलाई गए है[1], और चैतन्य मत के साहित्य मे स. १५५५ लिखी गई है[2]। डा हरिहरनाथ टडन ने 'वार्ता' की तिथि मे वार की भूल बतलाई है[3]। इस प्रकार वह तिथि अप्रामाणिक हो जाती है। डा टडन उसे स १६१४ की घटना मानते है। उनके मतानुसार मुगल सम्राट अकबर के शासन काल मे आदिलशाह सूर और हेमू के विद्रोह के समय वह गडबडी हुई थी[4]। हमारे मतानुसार वह घटना स १५५६ के कुछ समय बाद की है, जब कि आचार्य जी श्रीनाथ जी की सेवा–पूजा की आरभिक व्यवस्था कर अपनी यात्रा के लिए चले गये थे[5]। चैतन्य मत के साहित्य मे लिखा गया है, उस घटना के समय श्रीनाथ–गोपाल का देव विग्रह ३ दिनो तक 'टोड का घना' मे रहा था। उस समय उपद्रवकारियो ने पूरनमल खत्री द्वारा बनवाये हुए श्रीनाथ जी के मदिर को तोड दिया, जिसके कारण श्रीनाथ जी को 'श्याम ढाक' नामक स्थान मे एक अस्थायी पर्ण मदिर बना कर रखा गया था[6]।

श्रीनाथ जी को गांठोली के बन में छिपाना—सिकदर लोदी अपने अतिम काल तक व्रज की देव-मूर्तियो और उनके देवालयो के लिए सकट पैदा करता रहा था। इसका प्रमाण 'चैतन्य चरितामृत' के उस उल्लेख से मिलता है, जिसमे श्रीनाथ जी के स्वरूप को सुरक्षा के लिए गाठोली के बन मे ले जाने की बात कही गई है। श्री चैतन्य महाप्रभु का व्रज–आगमन सुलतान सिकदर लोदी के देहावसान से कुछ समय पहिले स. १५७२–७३ के लगभग हुआ था। उस समय उन्होने मथुरा मे श्री केशव भगवान के दर्शन किये थे। जब वे श्री गोपाल जी (श्रीनाथ जी) के दर्शन करने के लिए गोबर्धन गये, तब उन्हे मालूम हुआ कि गौडीय पुजारियो ने उस देव-स्वरूप को गिरिराज पहाडी के मदिर से हटा कर गाठोली के बन मे छिपा दिया है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने उक्त बन मे जाकर ही उनके दर्शन किये थे[7]। चैतन्य सप्रदायी साहित्य से ज्ञात होता है कि स. १५७२ के अगहन मास मे एक दिन गोबर्धन मे यह खबर बडे जोरो से फैली कि वहाँ शीघ्र ही आक्रमण होने वाला है। उससे बचने के लिए गौडीय पुजारी गण गोपाल जी के स्वरूप को गाठोली

---

(१) श्री गोबर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ १७
(२) श्री माधवेन्द्र पुरी एवं बल्लभाचार्य, पृष्ठ १७
(३) वार्ता साहित्यः एक वृहत् अध्ययन, पृष्ठ ५४२
(४) वही ,, ,, पृष्ठ
(५) अष्टछाप परिचय, पृष्ठ ८–१०
(६) श्री माधवेन्द्र पुरी एवं बल्लभाचार्य, पृष्ठ १८
(७) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य खड, परिच्छेद १८, पयार ३०–३१

के घने बन मे ले गये थे और उन्हे वहाँ के ज्वाला कुड पर तीन दिन तक रखा था। जब आक्रमण का सकट टल गया, तब चौथे दिन श्री गोपाल जी को गिरिराज पहाडी के मदिर मे ले जाकर पधराया गया था[1]।

श्रीनाथ जी के मदिर-निर्माण की पूर्ति और सेवा का विस्तार—जैसा पहिले लिखा गया है, पूरनमल खत्री ने श्रीनाथ जी के मदिर-निर्माण का आरभ तो स १५५६ मे कर दिया था, किन्तु वह पूरा नही हो सका था। 'वार्ता' मे उसका कारण द्रव्याभाव वतलाया गया है, किन्तु हमारे मतानुसार वह धनाभाव से भी अधिक सिकदर लोदी का मजहबी उन्माद था, जिससे उक्त मदिर पूरा नही किया जा सका था। 'वार्ता' मे लिखा है, वह मदिर २० वर्ष तक पूरा नही हुआ था और उस अधूरे मदिर मे ही श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा होती रही थी। जब पूरनमल खत्री ने पर्याप्त धनोपार्जन कर लिया, तब उसने स. १५७६ मे मदिर को पूरा कराया। उस समय श्री वल्लभाचार्य जी अडैल से गोवर्धन आये थे, और स १५७६ की वैशाख शु० ३ (अक्षय तृतीया) को उन्होंने बडे समारोह पूर्वक श्रीनाथ जी का पाटोत्सव किया था[2]।

'वार्ता' मे मदिर के पूर्ण होने का जो कारण बतलाया गया है, वह भी सर्वांश मे सत्य नही है। वास्तविक बात यह है कि जब तक सिकदर लोदी जीवित रहा, तब तक मंदिर पूरा नही,-किया जा सका था। स १५७४ मे जब उस क्रूर सुलतान की मृत्यु हो गई, तब ब्रजवासियो ने सतोष की श्वास ली थी। सिकदर का पुत्र इब्राहीम अपने पिता के समान कट्टर नही था, और वह ब्रजमडल की ओर से उदासीन होकर जौनपुर तथा कडा-मानिकपुर के युद्ध अभियानो मे उलझा हुआ था। उन कारणो से उस काल मे ब्रज मे कुछ शाति थी। उस परिस्थिति का लाभ उठा कर श्री वल्लभाचार्य जी ने श्रीनाथ जी के मदिर को पूरा कराने के लिए पूरनमल खत्री को प्रेरित किया था। निदान पूरनमल के द्रव्य से वह मदिर स १५७६ मे पूरी तरह बन कर तैयार हुआ था। उस समय श्री आचार्य जी अडैल से वहाँ पधारे थे, और स १५७६ की वैशाख शु० ३ को उस नवीन मदिर मे श्रीनाथ जी का पाटोत्सव किया था।

तब तक श्रीनाथ जी का वैभव भी बहुत बढ गया था। मदिर मे सेवा-पूजा विशाल आयोजन के साथ की जाती थी। श्रीनाथ जी के दूध-घर की सेवा के लिए सैकडो गायें थी, जिन्हे सद्दू पाडे प्रभृति ब्रजवासियो ने भेट की थी। उस काल तक सूरदास और कृष्णदास भी आचार्य जी के सेवक हो चुके थे। उन दोनो को स. १५६७ मे आचार्य जी ने मत्र-दीक्षा दी थी। सूरदास को श्रीनाथ जी के मदिर का प्रमुख कीर्तनकार नियत किया गया था और कुभनदास उनके सहायक बनाये गये थे। कृष्णदास को मदिर का अधिकारी नियत किया गया, जिन्होने मदिर की समुचित व्यवस्था कर पुष्टि सप्रदाय के प्रचार का महत्वपूर्ण कार्य किया था। स १५७७ मे परमानददास भी श्री आचार्य जी से दीक्षा लेकर गोवर्धन आ गये थे। वे भी सूरदास और कुभनदास के साथ श्रीनाथ जी का कीर्त्तन करते थे। इस प्रकार अष्टछाप के चारो वरिष्ठ महानुभाव—सूरदास, कुभनदास, परमानददास एव कृष्णदास ने श्रीनाथ जी की विविध भाँति से सेवा और उनके समक्ष पद-गान करते हुए ब्रज मे कृष्ण-भक्ति के व्यापक प्रचार मे योग दिया था।

---

(१) श्री माधवेन्द्र पुरी एव बल्लभाचार्य, पृष्ठ २७

(२) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ

सुलतानो के आतकपूर्ण शासन काल मे श्रीनाथ जी का वह मदिर ही व्रजमडल मे पहिला नया देवालय बनाया गया था। उसके कम से कम ५० वर्ष बाद फिर मुगल सम्राट अकबर के उदार शासन काल मे व्रज के विविध स्थानो मे मदिर-देवालय बनाये गये थे। इस प्रकार उस सकट काल मे श्रीनाथ जी की सेवा प्रचलित करने और उनका मदिर बनवाने के लिए श्री आचार्य जी के साहस और आत्म बल की जितनी प्रशसा की जाय, वह कम ही होगी।

विद्यानगर का शास्त्रार्थ और आचार्यत्व—श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने भक्ति-सिद्धात की स्थापना के लिए जो अनेक शास्त्रार्थ किये थे, उनमे विद्यानगर की धर्म-सभा का शास्त्रार्थ सब से अधिक महत्वपूर्ण था। जब आचार्य जी अपनी तृतीय यात्रा करते हुए दक्षिण मे अपने पूर्वजो के ग्राम काकरवाड मे गये, तब उन्होने सुना कि विद्यानगर मे एक महत्वपूर्ण शास्त्रार्थ हो रहा है। दक्षिण प्रदेशीय विद्यानगर (विजयनगर) राज्य के हिंदू नरेश महाराजा नृसिह वर्मा के सुयोग्य सहकारी राजा कृष्णदेव राय ने विद्यानगर मे एक विशाल धर्म-सभा का आयोजन किया था, जिसमे विविध धर्म-सप्रदायो के विद्वान अपने-अपने सिद्धातो की श्रेष्ठता प्रमाणित कर रहे थे[1]। शास्त्रार्थ मे एक ओर मध्व, निंबार्क, विष्णुस्वामी और रामानुज सप्रदायो के वैष्णव विद्वान थे, और दूसरी ओर शंकराचार्य के अनुयायी अद्वैतवादी और शैव-शाक्त आदि अवैष्णव विद्वान थे। वैष्णवो के प्रमुख वक्ता माध्व सप्रदाय के आचार्य व्यासतीर्थ थे, और अवैष्णवो के प्रधान वक्ता शकर मतानुयायी विद्यातीर्थ थे। दोनो पक्षो मे प्रबल वाद-विवाद हुआ। अत मे वैष्णव पक्ष गिरने लगा। वल्लभाचार्य भी उस शास्त्रार्थ का समाचार सुन कर वहाँ पर गये थे। उन्होने वैष्णव पक्ष के समर्थन मे ऐसा प्रकाड पाडित्य प्रदर्शित किया कि गिरता हुआ वह पक्ष प्रबल हो गया, और अद्वैतवादियो तथा अवैष्णवो को पराजय उठानी पडी[2]। वैष्णवो की उस विजय का कारण वल्लभाचार्य जी थे, अत वहाँ के वैष्णव आचार्यो और राजा कृष्णदेव राय ने उनका समुचित आदर-सन्मान करने का निश्चय किया।

वल्लभाचार्य जी की विद्वत्ता से प्रभावित होकर माध्व सप्रदाय के आचार्य व्यासतीर्थ उनको अपने सप्रदाय का आचार्य बनाना चाहते थे, और विष्णुस्वामी सप्रदाय के आचार्य उनको विष्णु-स्वामी की गद्दी पर आसीन करना चाहते थे। विष्णुस्वामी ने जिस शुद्धाद्वैत सिद्धात का प्रतिपादन किया था, वह वल्लभाचार्य जी के समय मे नाम मात्र के लिए विद्यमान था। कहते हैं, विष्णुस्वामी की गद्दी पर उस समय बिल्वमगल नामक एक आचार्य थे, जो किसी योग्य विद्वान को अपना उत्तरा-धिकारी बना कर आप समाधिस्थ होना चाहते थे। वल्लभाचार्य जी का दार्शनिक सिद्धात विष्णु-स्वामी मत के अनुकूल था, अत उन्होने विष्णुस्वामी सप्रदाय के आचार्य का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। 'सप्रदाय कल्पद्रुम' तथा पुष्टि सप्रदाय के अन्य ग्रथो मे वल्लभाचार्य जी को विष्णुस्वामी सप्रदाय का आचार्यत्व प्रदान करने वाले व्यक्ति का नाम बिल्वमगल लिखा गया है। बिल्वमगल नाम के तीन व्यक्ति हुए है। यहाँ पर विष्णुस्वामी सप्रदायानुगामी द्रविड देशीय बिल्वमगल जी से अभिप्राय है[3]।

---

(१) गुजराती ग्रंथ 'श्री विट्ठलेश चरितामृत', पृ० ८५

(२) कांकरोली का इतिहास, पृ० ३७

(३) संप्रदाय प्रदीप, प्रकरण ३, पृष्ठ ४५

राजा कृष्णदेव राय ने वल्लभाचार्य जी को सन्मानित करने के लिए उनका कनकाभिषेक किया और विभिन्न वैष्णवाचार्यों ने उनको विष्णुस्वामी सप्रदाय का आचार्य घोषित करते हुए 'आचार्य चक्र चूडामणि जगद्गुरु श्रीमदाचार्य महाप्रभु' की उपाधि से सन्मानित किया। तभी से वे लोक मे 'श्री आचार्य जी महाप्रभु' के'नाम से विख्यात हुए थे। कनकाभिषेक मे वल्लभाचार्य जी को विपुल स्वर्ण भेट किया था। उसमे से उन्होने केवल ७ स्वर्ण मुद्राएँ लेकर शेष धन को उपस्थित विद्वान ब्राह्मणो मे वितरित कर दिया था।

वल्लभाचार्य जी की जीवन-घटनाओ मे विद्यानगर के कनकाभिषेक का विशेष महत्व है, किंतु उसका ठीक-ठीक सवत् पुष्टि सप्रदाय के ग्रथो मे भी नही मिलता है। कतिपय साप्रदायिक ग्रथो मे श्री वल्लभाचार्य जी की प्रथम यात्रा के समय कनकाभिषेक का होना लिखा गया है। डा० दीनदयाल गुप्त ने इसी मत को स्वीकार किया है[१], किंतु ऐतिहासिक काल-क्रम से वह घटना स १५६५ से पूर्व की नही हो सकती, क्यो कि राजा कृष्णदेव राय का शासन-काल उसी सवत् से आरभ होता है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के कई प्रसगो मे वल्लभाचार्य जी की प्रथम यात्रा मे ही विद्यानगर के एक शास्त्रार्थ का सकेत मिलता है। उस शास्त्रार्थ मे भी उन्होंने मायावाद का खडन और ब्रह्मवाद का प्रतिपादन किया था। ऐसे शास्त्रार्थ उनकी तीनो यात्राओं मे अनेक बार हुए थे। उस शास्त्रार्थ को कनकाभिषेक वाला प्रसिद्ध शास्त्रार्थ समझ लेने से यह भ्रम चल पडा है।

गुजरात के सावली नामक ग्राम मे एक कूए की खुदाई के समय कुछ ऐतिहासिक महत्व की सामग्री प्राप्त हुई है। इस सामग्री मे एक जीर्ण ताडपत्र भी है, जिसमे वल्लभाचार्य जी के कनकाभिषेक का समय स. १५६५ अकित है[२]। इस लेख की प्राप्ति से यह भली भाँति सिद्ध हो गया है कि कनकाभिषेक वल्लभाचार्य जी की प्रथम यात्रा मे नही, बल्कि उनकी तृतीय यात्रा मे हुआ था। उस समय उनकी आयु ३० वर्ष के लगभग थी।

गृहस्थाश्रम और संतान—वल्लभाचार्य जी ने स १५३५ से स १५५८ तक ब्रह्मचर्याश्रम का पालन किया था। वे जीवन पर्यंत ब्रह्मचर्य व्रत का निर्वाह करना चाहते थे, किंतु अपने मत के प्रचारार्थ उत्तराधिकारी की आवश्यकता समझ कर उन्हे विवाह करना पडा। उनका विवाह स १५५८ मे हुआ था, किंतु पत्नी के अल्पायु होने से उन्होने तृतीय यात्रा के पश्चात् स १५६६ मे गृहस्थाश्रम मे प्रवेश किया था। उस समय तक वे अपनी यात्राओ की पूर्ति, धार्मिक दिग्विजय और आचार्यत्व-ग्रहण कर चुके थे। वे गृहस्थाश्रम के निर्वाहार्थ प्रयाग के दूसरी ओर यमुना के दक्षिण तट पर स्थित अडैल नामक ग्राम मे अपना स्थायी निवास बना कर रहे थे। उनका दूसरा स्थायी निवास काशी के निकटवर्ती चरणाट नामक स्थल मे भी था।

वल्लभाचार्य जी के दो पुत्र हुए थे। बडे पुत्र गोपीनाथ जी का जन्म स १५६८ की आश्विन कृ० १२ को अडैल मे और छोटे पुत्र विट्ठलनाथ जी का जन्म स. १५७२ की पौष कृ० ९ को चरणाट मे हुआ था। दोनो पुत्र अपने पिता के समान विद्वान और धर्मनिष्ठ थे।

---

(१) अष्टछाप और वल्लभ सप्रदाय, पृष्ठ ७०

(२) विद्यापत्तनम्। श्री नृसिंहवर्म सार्वभौम स्वस्ति श्री साम्राज्ये मीन मासे ११ लोकगुरु आचार्य चक्रवर्ति श्री प्रभु वल्लभ हेमाभिषिक्तम्। ...आवृत्ति पूर्ण कार्तिक शु०... अब्द १५६५

—श्री बसतराम शास्त्री कृत गुजराती 'पुष्टिमार्ग नो इतिहास', पृष्ठ १९

शुद्धाद्वैत सिद्धांत—वल्लभ सप्रदाय का दार्शनिक सिद्धात 'शुद्धाद्वैतवाद' कहलाता है। ऐसा समझा जाता है, इस सिद्धात के प्रवर्त्तक आचार्य विष्णुस्वामी थे, जो श्री वल्लभाचार्य से कई शताब्दी पहिले हुए थे। वल्लभाचार्य जी ने उसी को विकसित और व्यवस्थित कर परिष्कृत रूप मे प्रस्तुत किया था। इस दार्शनिक सिद्धात के नाम मे 'अद्वैत' के साथ 'शुद्ध' शब्द इसलिए जोडा गया है, ताकि इसे सर्वश्री शकराचार्य और रामानुजाचार्यादि के सिद्धातो से पृथक् समझा जा सके। शकराचार्य ने ब्रह्म को अद्वैत मानते हुए उसके अतिरिक्त सब कुछ माया अर्थात् मिथ्या माना है, इसलिए उनके अद्वैतवाद मे ब्रह्म के साथ माया की भी मान्यता है। रामानुजाचार्य ने अद्वैत ब्रह्म को चिन्मय आत्मा और जड प्रकृति से विशिष्ट बतलाया है। वल्लभाचार्य ने पूर्वोक्त आचार्यों के मत के विरुद्ध ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन किया है, इसलिए उनका सिद्धात 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है; जब कि शकराचार्य और रामानुजाचार्य के सिद्धात क्रमश· 'केवलाद्वैत' और 'विशिष्टा-द्वैत' कहे गये हैं। अन्य आचार्यों के दार्शनिक सिद्धात 'प्रस्थानत्रयी'—वेद, गीता और ब्रह्मसूत्र—पर आधारित है; किंतु वल्लभ सिद्धात मे उन तीनो के साथ भागवत को भी सम्मिलित कर 'प्रमाण चतुष्ट्य' की मान्यता है।

वल्लभाचार्य जी कृत ब्रह्मसूत्र का 'अणुभाष्य' शुद्धाद्वैत दार्शनिक सिद्धात का प्रमुख उपजीव्य ग्रथ है। इसके अतिरिक्त आचार्य जी कृत 'तत्वार्थ दीप निबध' और भागवत की 'सुबोधिनी टीका', उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी कृत 'विद्वन्मडन' और 'सुबोधिनी टिप्पणी', उनके वशज पुरुषोत्तम जी कृत 'अणु भाष्य प्रकाश', 'विद्वन्मडन टीका' और 'सुबोधिनी-टिप्पणी-प्रकाश' तथा अन्य विद्वानो की बहु सख्यक रचनाओ द्वारा इस सिद्धांत का स्पष्टीकरण किया गया है। सुप्रसिद्ध विद्वान डा. गोपीनाथ कविराज ने वल्लभ सप्रदाय के प्रमुख दार्शनिक ग्रथो का नामोल्लेख करने के अनतर उनके समुचित महत्त्व को स्वीकार नही किया है। उनका कथन है,—रामानुजीय अथवा माध्व संप्रदाय के तुल्य वल्लभ सप्रदाय का साहित्य व्यापक अथवा पाडित्यपूर्ण नही है। 'शतदूषणी' अथवा 'न्यायामृत' के तुल्य ग्रथ शुद्धाद्वैत दर्शन के साहित्य मे नही हैं[1]। श्री कठमणि शास्त्री कृत 'शु. पु. सस्कृत वाड्मय' ग्रथ से स्पष्ट है कि इस सप्रदाय का साहित्य बडा समृद्ध है, अत कविराज जी का उक्त कथन ठीक नही है।

आविर्भाव और तिरोभाव—वल्लभ सिद्धात मे 'आविर्भाव' और 'तिरोभाव' को विशेष महत्व दिया गया है। इन दो पारिभाषिक शब्दो का ज्ञान होने पर ही वल्लभ सिद्धात के मर्म को समझा जा सकता है। वल्लभाचार्य जी ने बतलाया है,—"यह सृष्टि दो प्रकार की है—जीवात्मक और जडात्मक। इन्ही दो तत्वो के सम्मिश्रण से सृष्टि उत्पन्न हुई है। हम जो कुछ देखते हैं, वह चैतन्य, जड किंवा प्रकृति और उन दोनो का सम्मिश्रण—इन तीनो के अतिरिक्त और कुछ नही है। इन्ही तीनो के द्वारा संसार मे अनेक दृश्य दिखाई देते हैं और लोप हो जाते हैं। वस्तुओ का दिखाई देना और लोप होजाना, यह केवल आविर्भाव और तिरोभाव है। कोई वस्तु वास्तव मे नष्ट नही हो जाती है। ब्रह्माड मे जो परमाणु हैं, इनका नाश नही होता है। जिसे लोग नाश समझते है, वह रूपातर होना है। परमाणु मे रूपातर होने से वस्तुओ का नाश होता हुआ दिखाई देता है। वस्तुओ का एक रूप मे दूसरे रूप मे परिणित हो जाना—यही 'तिरोभाव' और 'आविर्भाव' है[2]।

---

(१) भारतीय संस्कृति और साहित्य (दूसरा भाग), पृष्ठ २३९
(२) सूरदास (आचार्य रामचद्र शुक्ल), पृष्ठ २३८

वल्लभ सिद्धांत का सार-तत्व—शंकराचार्य के सिद्धांत का सार आधे श्लोक में ही बतलाते हुए कहा गया है,—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः'—ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, और जीव ही ब्रह्म है, वह ब्रह्म से अलग नहीं है। इसके विरुद्ध वल्लभाचार्य के सिद्धांत का सार-तत्व भी आधे श्लोक में इस प्रकार बतलाया गया है,—'ब्रह्म सत्यं जगत् सत्यं, अंशो जीवो हि नापरः'—ब्रह्म सत्य है, जगत् सत्य है और जीव भगवान का अंश है, वह परब्रह्म नहीं है। इस प्रकार विविध आचार्यों के दार्शनिक सिद्धांतों में ब्रह्म, जीव और जगत् के संबंध में विभिन्न मत प्रकट किये गये हैं। वल्लभ संप्रदाय के शुद्धाद्वैत सिद्धांतानुसार इनके स्वरूप का जो विवेचन किया गया है, उसे संक्षिप्त रूप में यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

परब्रह्म—वैदिक वाङ्मय में 'नायमात्मा प्रवचेनलभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' आदि वचनों द्वारा जिस आत्मतत्व की दुर्लभता का बखान किया गया है, उसे मनीषियों ने 'परब्रह्म' कहा है। परब्रह्म 'एक' है, किंतु इसके 'अनेक' नाम-रूप कहे गये हैं। वह निर्गुण होते हुए भी सगुण है, और निराकार होते हुए भी साकार है। वह कर्त्ता-अकर्त्ता, सूक्ष्म-स्थूल, कार्य-कारण सभी कुछ है। यह विरुद्ध धर्माश्रयी, अनंत शक्तिमान्, विभु और प्रभु है। अक्षर तत्व, कर्म तत्व, काल तत्व और स्वभाव—ये सब परब्रह्म के ही स्वरूपांर्गत हैं। इसके तीन मुख्य धर्म माने गये हैं,—सत्, चित् और आनंद, जिनके कारण इसे 'सच्चिदानंद' कहते हैं। इसी परब्रह्म को श्रुति, स्मृति, शास्त्र और पुराणादि में ईश्वर, परमात्मा और भगवान् भी कहा गया है।

भारतीय तत्वज्ञान के निदर्शक तीन प्रमुख ग्रंथ हैं,—उपनिषद्, भगवत् गीता और ब्रह्मसूत्र, जो क्रमशः श्रुतिप्रस्थान, स्मृतिप्रस्थान और न्यायप्रस्थान कहे जाते हैं। इनमें महर्षि वादरायण व्यास कृत 'ब्रह्मसूत्र' प्रधान है। इसमें ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन करते हुए जीव और जगत् से इसका संबंध बतलाया गया है। इसके प्रथम सूत्र,—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में ही ब्रह्म की जिज्ञासा की गई है, जिससे इसके प्रतिपाद्य विषय का बोध हो जाता है। यह ग्रंथ सूत्र शैली में लिखा गया है, जिसके अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए विविध धर्माचार्यों ने अनेक भाष्यों की रचना की है। वल्लभाचार्य जी कृत ब्रह्मसूत्र भाष्य 'अणु भाष्य' कहलाता है, जिसमें परब्रह्म के शुद्धाद्वैत स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। शुद्धाद्वैत सिद्धांत के अनुसार परब्रह्म के आधिदैविक स्वरूप को 'पुरुषोत्तम', आध्यात्मिक स्वरूप को 'अक्षरब्रह्म' और भौतिक स्वरूप को 'जगत्' कहते हैं। परब्रह्म अपनी अनंत शक्तियों के साथ निरंतर अपने आप में आंतर रमण करता रहता है, इसलिए इसे 'आत्माराम' कहा जाता है।

पुरुषोत्तम कृष्ण—जब परब्रह्म को बाह्य प्रकार से रमण करने की इच्छा होती है, तब अपने आनंद धर्मों वाले दिव्य आधिदैविक 'पुरुषोत्तम' रूप से कृष्ण के रूप में प्रकट होकर अपनी शक्तियों के साथ बाह्य रमण करता है। श्री स्वामिनी, चंद्रावली, राधा आदि पुरुषोत्तम कृष्ण की आधिदैविक शक्तियाँ हैं, जिनसे अनंत भाव रूपी सखी-सहचरियाँ प्रकट होती हैं। इन शक्तियों के साथ क्रीडा करने के लिए पुरुषोत्तम कृष्ण अपने में से गोकुल, वृंदावन, गोवर्धन, यमुना आदि को भी प्रकट करते हैं। ये सब परब्रह्म पुरुषोत्तम के ऐश्वर्य रूप होने से चैतन्य हैं, फिर भी कृष्ण-लीला के लिए इन्होंने जडता धारण कर रखी है। गीता, भागवत आदि ग्रंथों में परब्रह्म के जिस भव्य स्वरूप का प्रतिपादन हुआ है, वह भक्ति का विषय होने से ज्ञान-क्रिया-विशिष्ट, साकार और सगुण है। यही पुरुषोत्तम कृष्ण है।

श्री वल्लभाचार्य का कथन है, परब्रह्म कृष्ण ही सत्, चित् और आनद रूप मे सर्वत्र व्याप्त है। वही ब्रह्मा, विष्णु और शिव रूप से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदि समस्त कार्यो को सम्पन्न करते है[1]। वे समस्त दिव्य गुणो से युक्त है। उनका दिव्य रजोगुण ब्रह्मा रूप से सृष्टि करता है, दिव्य सतोगुण विष्णु रूप से सब की रक्षा करता है और उनका दिव्य तमोगुण रुद्र रूप से सहार भी करता है।

अपनी आनदमयी नित्य और दिव्य लीलाओ का औरो को प्रकट ज्ञान कराने के लिए साक्षात् पुरुषोत्तम कृष्ण सारस्वत कल्प मे ब्रज मे अवतरित हुए थे। पुरुषोत्तम के अविर्भाव से उनका समस्त लीला-परिकर और उनके लीला-स्थल भी गोप-गोपियो एव वृ दावन-गोवर्धन आदि के रूप मे अवतीर्ण हुए थे। इस प्रकार समस्त ब्रजमडल कृष्ण-रूप हो गया था। तभी इस भू-तल की सामग्री पुरुषोत्तम कृष्ण के भोग योग्य हो सकी थी। भक्ति और उपासना के लिए आचार्य जी ने इन कृष्ण को ही सर्वोपरि देवता स्वीकार किया है; क्यो कि उनके मतानुसार कृष्ण से बढ कर वस्तुत कोई भी दोष रहित देवता नही है[2]।

परब्रह्म कृष्ण का विरुद्ध धर्माश्रयत्व—शुद्धाद्वैत सिद्धात के अनुसार परब्रह्म कृष्ण सर्व धर्मो के आश्रय रूप है, अत वे 'धर्मी' कहलाते है। उनमे परस्पर विरुद्ध धर्म भी साथ-साथ रहते है, यही उनकी विशिष्टता और विचित्रता है। वल्लभाचार्य जी ने बतलाया है, प्रकृतिजन्य सत्, रज, तम गुणो के अभाव मे परब्रह्म कृष्ण जिस प्रकार 'निर्गुण' है, उसी प्रकार आनदादि दिव्य गुणो के होने से सगुण' भी है। इसी तरह वे निराकार होते हुए भी साकार है। वे अणु भी हैं, और महान् से भी महान् है। वे सर्वतत्र-स्वतत्र होते हुए भी भक्त के आधीन है। इस प्रकार परब्रह्म कृष्ण विरुद्ध धर्मो के आश्रय रूप है[3], अत 'कर्तुम अकर्तुम अन्यथा कर्तुम सर्व—भवन—समर्थ' हैं। वे भक्तो को अपने इस रूप का अनुभव करा कर जगत् मे नि सीम माहात्म्य प्रकट करते है। उनकी इस विशिष्टता और विचित्रता के मानने पर ही वेदादि मे वर्णित ब्रह्म के निर्गुण-सगुण और निराकार—साकार रूप की प्रतिपादक श्रुतियो का मतैक्य हो सकता है। इस प्रकार वल्लभ सप्रदाय के दार्शनिक सिद्धात मे वेद, वेदात और पुराणादि धर्म ग्रथो की एक-वाक्यता प्रमाणित की गई है।

जीव—शुद्धाद्वैत सिद्धात मे जीव को ब्रह्म का चिदश कहा गया है। श्री वल्लभाचार्य ने अग्नि के विस्फुलिगो (चिनगारियो) की तरह ब्रह्म मे से जीवो की उत्पत्ति बतलाई है। जिस प्रकार अग्नि और चिनगारी दोनो मे स्वरूप से कोई भेद नही है, उसी प्रकार ब्रह्म और जीव का भी स्वरूपगत अभेदत्व है, अर्थात् मूल रूप मे जीव भी उतना ही सत्य है, जितना स्वय ब्रह्म। फिर भी जीव ब्रह्म नही है, क्यो कि ब्रह्म अशी है और जीव केवल उसका अश मात्र है। जिस प्रकार छोटी-बडी चिनगारियो मे अग्नि का न्यूनाधिक अश विद्यमान होता है, उसी प्रकार जीवो की भी स्थिति है। जीव और ब्रह्म मे यह अतर है कि जीव की शक्ति अपनी सत्ता के अनुसार सीमित है, जब कि ब्रह्म की शक्तियाँ असीम और अनत है।

---

(१) परब्रह्म तु कृष्णोहि सच्चिदानंदकं बृहत्। जगत्तु त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मविष्णुशिवास्ततः। देवता रूपवत् प्रोक्ता ब्रह्मणीत्थं हरिर्मतः॥ (सिद्धात मुक्तावली, श्लोक स ३—१०)

(२) कृष्णात् परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम्। (अन्त करण प्रबोध, श्लोक १)

(३) विरुद्ध सर्वधर्माणामाश्रयो युक्त्य गोचर. (निबन्ध)

श्री वल्लभाचार्य ने जीव की तीन अवस्थाएँ मानी हैं,—शुद्ध, ससारी और मुक्त। शुद्धावस्था मे जीवो मे आनदात्मक भगवदैश्वर्यादि धर्मों की स्थिति रहती है, अत उस अवस्था मे जीव ब्रह्म रूप होता है। जब ईश्वेच्छा से जीव का माया से सबध होता है, तब उसमे से ऐश्वर्यादि भगवत् धर्म तिरोहित हो जाते है। उस समय 'मैं' और 'मेरे' की मिथ्या कल्पना करता हुआ जीव सासारिक मोह-ममता मे फँस कर अपने स्वरूप को भूल जाता है। वह जीव की ससारी-अवस्था होती है, और उस समय वह अपने को दीन, हीन एव पराधीन मान कर अनेक प्रकार के दु ख उठाता है। पुन भगवत्-अनुग्रह से जब जीव भगवान् की शरण मे जाता है, तब माया के भ्रम-जाल से उसकी मुक्ति हो जाती है, और वह अपने मूल स्वरूप मे फिर से स्थित हो जाता है। वह जीव की मुक्तावस्था होती है। आचार्य जी के मतानुसार तीनो अवस्थाओ मे जीव का परम कर्त्तव्य है कि वह भगवद्-भजन करे। रामानुज एव निंबार्क जैसे पूर्ववर्ती आचार्यों की तरह वल्लभाचार्य ने भी जीव के अणुत्व का समर्थन किया है। जीव को अणु सिद्ध करने के कारण ही उनका रचा हुआ ब्रह्मसूत्र भाष्य कुछ विद्वानो के मतानुसार 'अणु भाष्य' कहलाता है।

जगत्—शुद्धाद्वैत सिद्धात के अनुसार जगत् परब्रह्म का भौतिक स्वरूप है। वल्लभाचार्य जी का कथन है, भगवान् श्रीहरि अपने सत्धर्म से अट्ठाईस तत्त्व रूप मे जगत् स्वरूप होते हैं[1]। इस प्रकार भगवत्-कृति जन्य और भगवत् स्वरूपात्मक होने के कारण जगत् भी ब्रह्म के समान ही सत् है, जैसे 'कारण' और 'कार्य' की समान स्थिति होती है। शकराचार्य की भाँति वल्लभाचार्य ने जगत् को असत् अथवा मिथ्या नही माना है। 'स वै न रेमे', 'तस्मादेकाकी न रमते', 'स द्वितीय-मैच्छत' आदि श्रुति वाक्यो मे भी एकाकी और आत्माराम ब्रह्म के बाह्य रमण करने, 'एक' से 'बहुत' होने अथवा आनदादि धर्मों के आस्वादन करने की इच्छा से उसके जगत् रूप मे आविर्भूत होने का सकेत मिलता है।

साधारणतया 'जगत्' और 'ससार' समानार्थक शब्द माने जाते है, किंतु शुद्धाद्वैत सिद्धात के अनुसार इनमे भारी भेद है। जगत् ब्रह्मरूप होने के कारण सत्य है, किंतु ससार मायाग्रस्त जीव के अविद्या-अज्ञानादि से माना हुआ 'मैं' और 'मेरेपन' की कल्पना मात्र है, इसलिए यह असत्य है। वल्लभाचार्य का कथन है, जहाँ कही पुराणो मे जगत् को माया रूप मिथ्या कहा गया है, वहाँ उसका अभिप्राय वस्तुत. वैराग्य भाव को उत्पन्न करना है[2]। जब भगवत्-अनुग्रह से विद्या-ज्ञान के उदय होने पर जीव मुक्त अर्थात् जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त करता है, तब उसके 'ससार' (अविद्या-अज्ञानादि) का तो अत हो जाता है, किंतु जगत्-प्रपच फिर भी बना रहता है। प्रलय काल मे जब भगवान् आत्मरमण करने की इच्छा करते है, तब भी जगत् का नाश नही होता है, वरन् उसका 'तिरोभाव' होता है, अर्थात् वह अपने मूल स्वरूप परब्रह्म मे उसी प्रकार लीन हो जाता है, जिस प्रकार घट के टूट जाने पर उसके भीतर का आकाश वृहद् आकाश मे समा जाता है। जगत् का यह आविर्भाव और तिरोभाव एक मात्र भगवान् की इच्छा पर आधारित है। 'जगत्' और 'ससार' का यह भेद शुद्धाद्वैत सिद्धात की विशेषता है। वल्लभ सप्रदाय के अतिरिक्त अन्य किसी सप्रदाय मे इस प्रकार का भेद नही किया गया है।

---

(१) **अष्टाविंशति तत्वानां स्वरूप यत्र वै हरिः** (निबन्ध)

(२) **मायिकत्वं पुराणेषु वैराग्यार्थमुदीर्यते** (निबन्ध)

माया—शुद्धाद्वैत सिद्धात के अनुसार माया परब्रह्म की स्वरूपा शक्ति है, अत इसे 'आत्म माया' कहा गया है। यह परब्रह्म मे सदा वेष्टित रहती है। जिस प्रकार अग्नि से उसकी दाहक शक्ति और सूर्य से उसका प्रकाश भिन्न नही है, उसी प्रकार परब्रह्म से आत्म-माया भी भिन्न नही है। यह माया परब्रह्म के आधीन है, परब्रह्म उसके आधीन अथवा आश्रित नही है, इसलिए ब्रह्म के सत्य स्वरूप को माया कभी आच्छादित नही कर सकती है।

श्री वल्लभाचार्य जी ने भागवत् की 'सुबोधिनी' टीका मे माया के दो रूप बतलाये हैं। उसका एक रूप 'व्यामोहिका' है। इस रूप मे वह भगवान् के चरणो की दासी है, अत भगवान् के सेवक के पास जाने मे लज्जित होती है[1]। उसका दूसरा रूप 'करण' है। इससे भगवान् जगत् की उत्पत्ति तथा उसका पालन और सहार करते है[2]। जब महाप्रलय के अनतर परब्रह्म बाह्य रमण करने की इच्छा से जगत् का आविर्भाव करते हैं, तब उनका प्रथम कार्य आत्म-माया का प्रकाश करना होता है। वल्लभाचार्य ने शकराचार्य की भाँति माया को 'सत्–असत्–विलक्षण तथा अनिर्वचनीय' नही माना है।

पुष्टिमार्ग—श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने दार्शनिक सिद्धात शुद्धाद्वैतवाद को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए जिस भक्ति मार्ग का प्रचलन किया, वह 'पुष्टिमार्ग' के नाम से प्रसिद्ध है। शुद्धाद्वैतवाद के लिए आचार्य जी चाहे विष्णुस्वामी के ऋणी रहे हो, किंतु पुष्टिमार्ग के प्रवर्त्तक होने का श्रेय उन्ही को ह। कहते है, इसके लिए वल्लभाचार्य जी को निम्नलिखित आतरिक प्रेरणा हुई थी,—"अन्य सम्प्रदायो (रामानुज, मध्व, निवार्क) मे नारद पचरात्र वैखानसादि शास्त्र प्रतिपादित दीक्षा-पूजा का प्रचार होने से यद्यपि विष्णुस्वामी सम्प्रदाय मे आत्म–निवेदनात्मक भक्ति की स्थापना की गई है, तथापि वह मर्यादामार्गीय है। अब आपके उस सप्रदाय मे पुष्टि (अनुग्रह) मार्गीय आत्म-निवेदन द्वारा प्रेम स्वरूप निर्गुण भक्ति का प्रकाश करना है। सप्रति भक्तिमार्गानुयायी जन समाज शाकर सिद्धात के प्रचार से पथ-भ्रष्ट हो रहा है, अत उसके कर्तव्य तो आपके द्वारा ही सपन्न हो सकते है[3]।"

फलत वल्लभाचार्य जी ने पूर्वाचार्यो के मर्यादामार्गीय भक्ति सम्प्रदायो से भिन्न अपने पुष्टिमार्गीय सप्रदाय की स्थापना की थी। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, आचार्य जी को इस नाम की प्रेरणा श्रीमद् भागवत से प्राप्त हुई थी और इसका प्रारभ उन्होंने ब्रज मे यमुना तट की उस पावन भूमि मे किया था, जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण की शैशव कालीन लीलाएँ हुई थी। वल्लभाचार्य जी के मतानुसार भगवान् के अनुग्रह से ही जीव के हृदय मे भक्ति का सचार होकर उसका वास्तविक कल्याण होता है।

भक्ति के सामान्यत. दो भेद माने गये हैं, जिन्हे 'मर्यादा भक्ति' और 'पुष्टि भक्ति' कहा जाता है। मर्यादा भक्ति मे वेद–शास्त्र विहित साधनो की आवश्यकता और फल की आकाक्षा रहती है, किंतु पुष्टि भक्ति साधन निरपेक्ष और आकाक्षा रहित होती है। वल्लभ सप्रदाय के सुप्रसिद्ध व्याख्याता श्री हरिराय जी ने 'पुष्टिमार्ग लक्षणानि' मे इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है,—

---

(१) श्री सुबोधिनी, २–७–४७

(२) श्री सुबोधिनी, १०–५४–१५

(३) सप्रदाय प्रदीप

"जिस मार्ग मे लौकिक तथा अलौकिक, सकाम अथवा निष्काम सब साधनो का अभाव ही श्री कृष्ण के स्वरूप–प्राप्ति मे साधन है, अथवा जहाँ जो फल है, वही साधन है, उसे 'पुष्टिमार्ग' कहते है। जिस मार्ग मे सर्व सिद्धियो का हेतु भगवान् का अनुग्रह ही है, जहाँ देह के अनेक सबध ही साधन रूप बन कर भगवान् की इच्छा के बल पर फल रूप सबध बनते है, जिस मार्ग मे भगवद्–विरह अवस्था मे भगवान् की लीला के अनुभव मात्र से सयोगावस्था का सुख अनुभूत होता है, और जिस मार्ग मे सब भावो मे लौकिक विषय का त्याग है, और उन भावो के सहित देहादि का भगवान् को समर्पण है, वह 'पुष्टिमार्ग' कहलाता है[1]।"

आचार्य रामचद्र शुक्ल ने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है,—"पुष्टिमार्ग मे आने के लिए यह आवश्यक है कि लोक और वेद के प्रलोभनो से दूर हो जाय—उन फलो की आकाक्षा छोड दे, जो लोक का अनुकरण करने से प्राप्त होते है, तथा जिनकी प्राप्ति वैदिक कर्मों के सपादन द्वारा की गई है। यह तभी हो सकता है, जब कि साधक अपने को भगवान् के चरणो मे समर्पित कर दे। इसी 'समर्पण' से इस मार्ग का आरभ होता है और पुरुषोत्तम भगवान् के स्वरूप का अनुभव और लीला-सृष्टि मे प्रवेश हो जाने पर अत। बीच का मार्ग 'सेवा' द्वारा प्राप्त होता है, जिससे अहता और ममता का नाश हो जाता है और भगवान् के स्वरूप के अनुभव की क्षमता प्राप्त होती है[2]।"

'समर्पण' अर्थात् 'ब्रह्म सवध'—पुष्टिमार्ग मे समर्पण (आत्म-निवेदन) अर्थात् ब्रह्म सवध को बडा महत्व दिया गया है। सच तो यह है, इसके बिना पुष्टिमार्ग की कल्पना भी नही की जा सकती है। ससार की अहता–ममता त्याग कर परब्रह्म श्रीकृष्ण के चरणो मे आत्म-निवेदन कर दीनता पूर्वक उनका अनुग्रह प्राप्त करने को 'समर्पण' अर्थात् 'ब्रह्म सवध' कहते हैं। यह पुष्टि-मार्गीय दीक्षा है, जिसे प्राप्त करने पर साधक को एक विशिष्ट प्रकार के रहन-सहन और आचार-विचार का पालन करना पडता है।

मानव की इद्रियाँ स्वभावत दुष्ट है और सासारिक बातो मे उनकी शीघ्र ही प्रवृत्ति हो जाती है, इसलिए श्री वल्लभाचार्य जी ने बतलाया है कि दुष्ट इद्रियो के हित के लिए ससार की समस्त वस्तुओ का सबध जगदीश्वर श्रीकृष्ण से कर देना ही उचित है[3]। इस प्रकार उपासक और उपास्य अथवा जीव और ब्रह्म का शाश्वत सबध स्थापित करने वाली इस पवित्र दीक्षा के सबध मे लोक मे बडा भ्रम फैला हुआ है, किंतु यह सब अज्ञान के कारण है।

वस्तुत इस दीक्षा का अभिप्राय यह है कि जीव अविद्या के कारण ब्रह्म मे अपना सबध भूल गया है। यह सहस्रो वर्षो से परब्रह्म श्री कृष्ण का वियोग सहन करता हुआ जन्म–मरण के चक्कर मे पडा हुआ है। गुरु उस विस्मृत सबध की पुन याद दिलाता है और श्री कृष्ण के चरणो मे दीक्षार्थी का आत्म-निवेदन अर्थात् आत्म-समर्पण कराता है। दीक्षार्थी भक्ति-भाव से अपने दोषो की निवृति के लिए श्री कृष्ण की शरण मे जाता है। इस प्रकार आत्म–निवेदन, सबध-स्थापन और शरण-गमन इन तीनो के एकीकरण को 'समर्पण' अर्थात् 'ब्रह्म-सबध' कहते है। इन तीनो अशो को पृथक्-पृथक् समझ कर इस सस्कार पर आक्षेप करना भूल है।

---

(१) अष्टछाप और वल्लभ सप्रदाय, पृष्ठ ३९५
(२) शुक्ल जी कृत 'सूरदास'
(३) निरोध लक्षण, श्लोक १२

श्री वल्लभाचार्य जी के प्रतिनिधि के रूप मे उनका वशज कोई गोस्वामी आचार्य जिस मत्र से जीव का श्री कृष्ण के चरणो मे आत्म–निवेदन अर्थात् समर्पण कराता है, वह इस प्रकार है,—"श्री कृष्ण शरण मम। सहस्र परिवत्सरमित काल जात कृष्ण वियोग जनितताप क्लेशानद तिरोभावोह, भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्त करणानि तद्धर्माश्च दारागार पुत्रवित्तेहापराणि आत्मना सह समर्पयामि। दासोह कृष्ण तवास्मि।" इसका अभिप्राय इस प्रकार है,—"मै कृष्ण की शरण मे हूँ। सहस्रो वर्षो से मेरा श्री कृष्ण से वियोग हुआ है। वियोगजन्य ताप और क्लेश से मेरा आनद तिरोहित हो गया है, अत मै भगवान् श्री कृष्ण को देह, इद्रिय, प्राण, अत करण और उनके धर्म, स्त्री, गृह, पुत्र, वित्त और आत्मा सब कुछ अर्पित करता हूँ। हे कृष्ण ! मैं आपका दास हूँ, मैं आप का ही हूँ।"

यह चौरासी अक्षरो का 'गद्य मत्र' कहलाता है, जो 'ब्रह्म सबध' की विशिष्ट दीक्षा का है। सामान्य दीक्षा अष्टाक्षर मत्र 'श्री कृष्ण शरण मम' से अथवा पचाक्षर मत्र 'कृष्ण तवास्मि' से ही दी जाती है। अष्टाक्षर मत्र को 'नाम मत्र' भी कहते है। इन दोनो मत्रो का उच्चारण पूर्वोक्त गद्य मत्र के क्रमश. आरभ और अत मे भी किया जाता है। ऐसी प्रसिद्धि है, श्री वल्लभाचार्य जी के हस्ताक्षरो से लिखा हुआ मूल गद्य मत्र जूनागढ (गुजरात) के श्री दामोदर जी के मदिर मे सुरक्षित है।

यह आत्म–समर्पण की भावना मूलत श्रीमद् भगवत गीता मे मिलती है। गीता के अत मे श्री कृष्ण ने अर्जुन को अपना सर्वोत्तम उपदेश देते हुए उसे भगवान् की शरण मे जाने को कहा है,—'सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज।' जब जीव आत्म–समर्पण की भावना से भगवान् की शरण मे जावेगा, तब वे भी उसे कैसे छोड सकते है ! इस सवध मे श्रीमद् भागवत मे भी श्री कृष्ण की उक्ति है,—'जो व्यक्ति दारागार, पुत्राप्त, प्राण और वित्त सहित मेरी शरण मे आता है, हे उद्धव ! मैं भी उसको किस प्रकार त्याग सकता हूँ[1] !'

उपर्युक्त वाक्यो को प्रमाण मान कर श्री वल्लभाचार्य जी ने ब्रह्म सवध अथवा आत्म-निवेदन की प्रणाली प्रचलित की थी, जो अब तक व्यवहार मे आती है। यदि कोई व्यक्ति, चाहे वह आचार्य हो चाहे दीक्षार्थी, अज्ञानवश उसका दुरुपयोग करता है, वह निश्चय ही वल्लभाचार्य जी के मत के विरुद्ध आचरण करता है।

समर्पण विधि—वल्लभ सप्रदायी साहित्य मे समर्पण अर्थात् मत्र–दीक्षा की कई विधियो का उल्लेख मिलता है, जो इस प्रकार है,—१ पत्र द्वारा मत्र लिख कर भेजना, २ किसी भी समय और किसी भी स्थान पर अधिकारी भक्त को मत्र देना तथा ३. विशेप विधि पूर्वक श्री ठाकुर जी के सान्निध्य मे मत्र देना।

उक्त विधियो मे से प्रथम विधि राजघरानो की उन अत पुर वासिनी महिलाओ के लिए थी, जिन्हे रनिवास से वाहर आने की वहुत कम सुविधा होती थी। इस प्रकार की दीक्षा राजा जयमल की वहिन को दी गई थी। इसका उल्लेख "हरिदास वनिया की वार्ता' मे हुआ है। उक्त वार्ता से ज्ञात होता है, गोसाई विट्ठलनाथ जी ने एक पत्र मे समर्पण मत्र लिख कर भेजा था, जिसे

(१) ये दारागार पुत्राप्त प्राणन् वित्त मिमं परं।
हित्वामां शरणं यात· कथं तां स्त्यक्तुमुत्सहे॥

'स्नान करके अपरस मे बाँचने' की आज्ञा दी गई थी[1]। दूसरी विधि उन दैवी और अधिकारी महानुभावो के लिए थी, जिनको धार्मिक विधि-विधान विषयक बाह्याचार की अधिक आवश्यकता नही थी। इस प्रकार की दीक्षा श्री वल्लभाचार्य जी ने अपनी व्रजयात्रा के प्रसग मे गोघाट पर सूरदास को दी थी। उस समय आचार्य जी भोजन करने के उपरात गद्दी पर विराजमान थे और सूरदास भी सभवत भोजन करके ही आये थे। आचार्य जी ने सूरदास को दोबारा स्नान करा कर समर्पण मत्र दिया था[2]। वे दोनो विधियाँ विशेष स्थिति मे विशेष प्रकार के दीक्षार्थियो के लिए थी, और उनके देने वाले भी सर्वश्री वल्लभाचार्य जी और विट्ठलनाथ जी जैसे समर्थ आचार्य थे। तीसरी सामान्य विधि साधारणतया प्रचलित थी, और वही अब भी प्रचलित है। उसके अनुसार दीक्षार्थी को पहिले दिन व्रत करना पडता है। दूसरे दिन स्नान करके वह आचार्य की सेवा मे उपस्थित होता है। उस समय आचार्य उसे ठाकुर जी के सन्मुख समर्पण मत्र सुना कर दीक्षित करते है।

श्री वल्लभाचार्य जी और उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी ने उच्च कुल के सवर्ण हिंदुओ के साथ ही साथ शूद्रो, अन्त्यजो और मुसलमानो को भी पुष्टि सप्रदाय मे सम्मिलित होने का अधिकार दिया था। अन्त्यजो और मुसलमानो को केवल 'नाम' सुनाया जाता था। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' मे सर्वश्री वल्लभाचार्य जी और विट्ठलनाथ जी के कितने ही अन्त्यज और मुसलमान शिष्य-सेवको के नाम मिलते हैं।

पुष्टिमार्गीय सेवा—श्री वल्लभाचार्य जी ने भगवान् श्री कृष्ण की सदैव सेवा करना जीव का आवश्यक कर्त्तव्य बतलाया है। उनका मत है, ऐसा करने से सासारिक दु खो से निवृत्ति होती है और ब्रह्म का बोध होता है[3]। साधारणतया 'सेवा' और 'पूजा' समानार्थक माने जाते हैं, किंतु वल्लभ सप्रदाय की भक्ति-भावना के अनुसार इनमे भेद है। उपास्य देव की स्नेह पूर्वक की गई परिचर्या 'सेवा' कहलाती है, जो विधि-विधान की अपेक्षा भावात्मकता से की जाती है। किंतु स्नेह और भावना की उपेक्षा कर विधि-विधान के आग्रह से की गई परिचर्या को 'पूजा' कहते हैं। 'सेवा' पुष्टिमार्गीय सप्रदाय की विशेषता है, जब कि 'पूजा' मर्यादामार्गीय सप्रदायो मे प्रचलित है।

श्री आचार्य जी ने 'सेवा' के दो प्रकार बतलाये है,—१ क्रियात्मक सेवा और २ भावात्मक सेवा। क्रियात्मक सेवा भी दो प्रकार की बतलाई है,—१. तनुजा और २ वित्तजा। अपने आप तथा स्त्री, पुत्र, कुटुबादि द्वारा की गई शारीरिक सेवा को 'तनुजा' कहते हे, जब कि धन-सपत्ति तथा उनसे सबधित समस्त साधनो से की गई सेवा 'वित्तजा' कहलाती है। इस प्रकार की सेवाओ से जीव की अहता-ममता नष्ट होकर भक्ति की दृढता होती है। भावनात्मक सेवा मानसी है, जिसे आचार्य जी ने सर्वोत्तम बतलाया है। इसे भगवान् मे चित्त को सर्वरूपेण प्रवण करने से ही किया जा सकता है, और इसकी सिद्धि तनुजा-वित्तजा प्रकार वाली क्रियात्मक सेवा के अनतर ही होती है[4]। इसीलिए पुष्टिमार्गीय सेवा मे क्रियात्मक सेवा पर विशेष बल दिया गया है।

---

(१) दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता मे 'हरिदास बनिया की वार्ता', प्रसग स. १

(२) चौरासी वैष्णवन की वार्ता में 'सूरदास की वार्ता', प्रसग स. १

(३) कृष्ण सेवा सदा कार्या. .। तत. ससार दु.खस्य निवृत्तिर्ब्रह्म बोधनम्। (सि. मु १-२)

(४) सिद्धात मुक्तावली, श्लोक १-२ देखिये।

बल्लभ संप्रदाय के प्रधान उपास्य देव श्रीनाथ जी
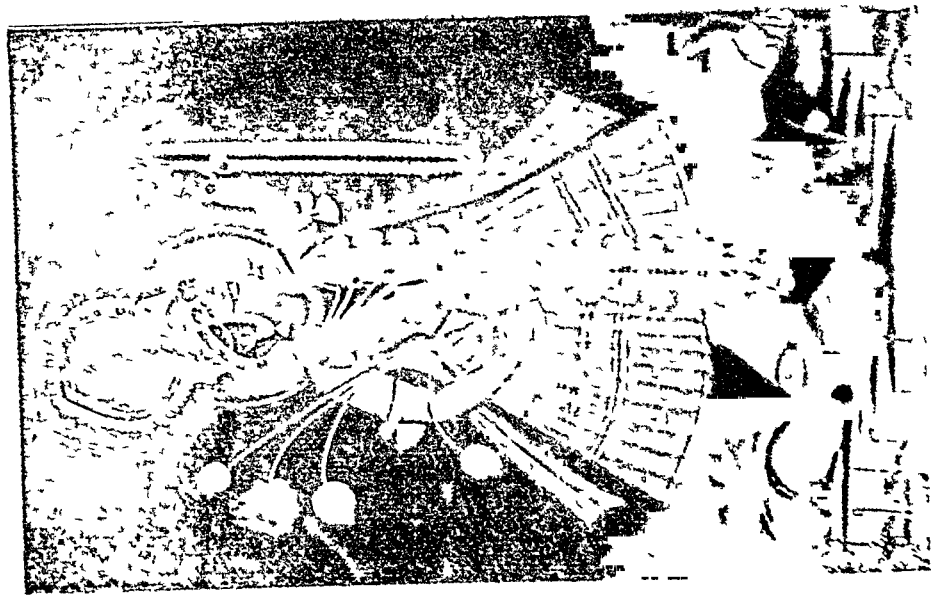
श्री यमुना जी

श्री गिरिराज जी

पुष्टिमार्गीय सेवा के दो क्रम है,—१. प्रात काल से सायकाल पर्यंत की 'नित्योत्सव सेवा' तथा २ बारह महीनो और छहो ऋतुओ की 'वर्षोत्सव सेवा'। आचार्य जी ने पुष्टिमार्ग की गुरु ब्रज की गोपियो को माना है, अतः उन्ही की प्रेम-भावना के अनुसार उन्होने पुष्टिमार्गीय सेवा-विधि का निर्माण किया है।

नित्योत्सव की सेवा-विधि मे वात्सल्य भाव की प्रधानता है। मातृभाव स्वरूपा ब्रजागनाओ ने श्री कृष्ण के प्रति वात्सल्य स्नेह से प्रेरित होकर उनकी परिचर्या प्रात काल के जागरण से सायकालीन शयन पर्यंत की थी। नित्योत्सव की सेवा मे आचार्य जी ने ब्रजागनाओ की उसी भावना को चरितार्थ किया है। नित्योत्सव की सेवा मे आठ समय के उत्सव होते है। इन्हे १. मगला, २. शृगार, ३. ग्वाल, ४. राजभोग, ५ उत्थापन, ६. भोग, ७. सध्या-आरती और ८. शयन कहा जाता है। इनसे प्रातःकाल से सायकाल पर्यंत श्री कृष्ण-सेवा मे मन लगा रहता है।

वर्षोत्सव की सेवा-विधि मे द्वादश मास एव षट् ऋतुओ के उत्सवो, अवतारो की जयतियो, लोक-त्यौहारो और वैदिक पर्वो का समावेश किया गया है। इनसे आचार्य जी ने आसक्ति रूप स्वकीय और व्यसन रूप परकीय प्रेम-भावना, लोक-भावना तथा ब्रह्म-भावना का कृष्ण-सेवा मे विनियोग कर दिया है।

नित्योत्सव और वर्षोत्सव दोनो प्रकार की सेवा-विधियो के तीन प्रमुख अग है,—१. शृगार, २. भोग और ३ राग। ये तीनो सासारिक व्यसन भी है, जिनसे बचना जीव के लिए बडा कठिन होता है। श्री वल्लभाचार्य जी ने इनसे जीव को छुटकारा दिलाने के लिए इन्हे भगवत्सेवा मे लगा दिया है। उनका मत है, भगवान् के ससर्ग से इन व्यसनों का विकृत रूप शुद्ध हो जाता है, यहाँ तक कि भगवत्ससर्ग के प्रभाव से ये व्यसन स्वय भगवद्रूप हो जाते है। इसी बात को श्रीमद् भागवत मे और भी स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि बुरे और भले कैसे ही विषयो को भगवान के साथ लगाया जाय, वे सभी भगवत् रूप हो जाते है[1]।

इस प्रकार सासारिक विषयो मे फँसा हुआ जीव भी भगवत्सेवा के कारण भगवदीय होकर जीवन्मुक्त हो सकता है। इस तरह की सेवा-विधि श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने सप्रदाय मे प्रचलित की थी, जिसका विस्तार बाद मे उनके पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी के समय मे हुआ था।

सेव्य स्वरूप—वल्लभ सप्रदाय मे परब्रह्म कृष्ण ही परमाराध्य, परमोपास्य और परम सेव्य भी है। इस सप्रदाय की मान्यता है कि अनवतार दशा मे परब्रह्म कृष्ण श्रीनाथ जी के रूप मे ब्रज मे प्रकट हुए है। इस प्रकार श्रीनाथ जी का स्वरूप श्री कृष्ण की बाल्य-किशोर अवस्था का, और गिरिराज-धारण करने के भाव का है। उनकी ऊर्ध्व भुजा इसी भाव की सूचक है, अतः इन्हे 'गिरिधर' अथवा 'गोवर्धननाथ' कहा जाता है। श्री कृष्ण की तरह श्रीनाथ जी को भी गाये अत्यत प्रिय है, अत इन्हे 'गोपाल' भी कहा गया है।

वल्लभ सप्रदाय की मान्यता है, जिस दिन गिरिराज पहाडी पर श्रीनाथ जी का प्राकट्य हुआ था, उसी दिन उनकी रक्षा के लिए गोबर्धन के विविध स्थानो से चतुर्व्यूह भी प्रकट हुए थे। उनमे से गोविंददेव नामक वासुदेव व्यूह गोविंदकुड से, सकर्षणदेवनामक सकर्षण व्यूह सकर्षणकुड से, दानीराय नामक प्रद्युम्न व्यूह दानघाटी से और हरिदेव नामक अनिरुद्ध व्यूह श्रीकुड से प्रकटे थे।

(१) कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्य सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥ (भागवत, १०-२९-१५)

इस प्रकार श्रीनाथ जी वल्लभ सप्रदाय मे सर्वोपरि सेव्य स्वरूप माने गये है। उनके अतिरिक्त इस सप्रदाय मे आठ सेव्य स्वरूप और भी हैं, जिनके नाम १ श्री नवनीतप्रिय जी, २ श्री मथुरेश जी, ३ श्री विट्ठलनाथ जी, ४ श्री द्वारकाधीश जी, ५ श्री गोकुलनाथ जी, ६ श्री गोकुलचद्रमा जी, ७ श्री मदनमोहन जी और ८ श्री बालकृष्ण जी है। श्रीनाथ जी सहित ये स्वरूप श्रीकृष्ण के ९ विशिष्ट रूपो के प्रतीक नव निधि रूप हैं। श्री वल्लभाचार्य जी के समय से लेकर अब तक ये वल्लभ सप्रदाय के सर्वमान्य सेव्य स्वरूप रहे हैं। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि अन्य सप्रदायो की देव मूर्तियो की तरह इन्हे 'मूर्ति' न कह कर 'स्वरूप' कहा जाता है। वल्लभ सप्रदायी भक्त-जन इनकी सेवा साक्षात् कृष्ण का स्वरूप मान कर करते है।

श्री आचार्य जी ने उक्त स्वरूपो के अतिरिक्त गिरिराज (पहाड़ी) और यमुना (नदी) की भी बडी महिमा बतलाई है। फलत वल्लभ सप्रदाय मे श्री गिरिराज जी और श्री यमुना जी को भी सेव्य स्वरूप माना जाता है। श्री गिरिराज जी भगवान् श्री कृष्ण के सखा और श्री यमुना जी उनकी पटरानी एव पुष्टि शक्ति के रूप मे उपास्य और सेव्य हैं। पुष्टि सप्रदायी भक्तो को श्री गिरिराज जी का दर्शन और उनकी परिक्रमा करना आवश्यक माना गया है। इसलिए ब्रज–यात्रा के अवसर पर प्रति वर्ष उनसे सबधित अनेक उत्सव और समारोह होते है। श्री यमुना जी का स्नान और उसका जल-पान भी पुष्टि सप्रदायी भक्तो का आवश्यक कर्त्तव्य समझा जाता है।

पुष्टिमार्गीय भक्ति—वल्लभ सप्रदाय मे मत्र–दीक्षा लेकर कृष्ण-सेवा करने के अनतर किसी व्यक्ति को पुष्टिमार्गीय भक्ति करने का अधिकारी माना जाता है। पुष्टिमार्गीय भक्ति मे आरभ से अत तक प्रेम की प्रधानता है, अत इसे प्रेमलक्षणा भक्ति कहते है। आचार्य जी ने श्री कृष्ण को परब्रह्म मानते हुए उनका स्वरूप तो वही स्वीकार किया, जो उपनिषदो मे प्रतिपादित है, किंतु उनकी प्राप्ति का सरल–सुगम साधन 'ज्ञान मार्ग' की अपेक्षा 'भक्ति मार्ग' बतलाया है। उनके मतानुसार भक्ति मार्ग शुद्ध प्रेम द्वारा की गई सेवा का मार्ग है, इसीलिए उन्होंने जीव के कल्याण के लिए भक्ति और सेवा को एक–दूसरे से सबद्ध कर दिया है। श्री वल्लभाचार्य जी ने विशुद्ध प्रेम को 'शुद्ध पुष्टि' बतलाया है। गोपियाँ विशुद्ध प्रेम की प्रतीक है, अत उन्होंने गोपियो को गुरु मान कर उनके प्रेमात्मक साधनो को ही पुष्टि भक्ति के प्रमुख साधन माना है। वल्लभाचार्य जी ने गोपियो को तीन श्रेणियो मे विभाजित कर उनकी भक्ति-भावना के अनुसार ही पुष्टिमार्गीय भक्ति की व्यवस्था की है।

गोपियो की तीन श्रेणियाँ इस प्रकार हैं,—१ ब्रजागनाएँ, २ गोप-कुमारिकाएँ और ३. गोपागनाएँ। ब्रजागनाओ ने श्री कृष्ण का बाल भाव से भजन किया था, अत. उनकी भक्ति वात्सल्य भावना की है। पुष्टि सप्रदाय की नित्य सेवा–विधि मे भी वात्सल्य भक्ति की प्रधानता है। गोप-कुमारिकाओ ने कात्यायनी व्रत से श्री कृष्ण को पति रूप मे प्राप्त करने के लिए भजन किया था, अत उनकी भक्ति स्वकीय भाव की है। गोपागनाओ ने लोक–वेद के भय से मुक्त होकर और सर्व धर्मो के त्याग पूर्वक श्री कृष्ण की प्राप्ति के लिए भजन किया था, अत उनकी भक्ति परकीय भाव की है। इस प्रकार पुष्टि सप्रदाय मे केवल वात्सल्य भक्ति ही नही, बल्कि सख्य, काता–स्वकीय और परकीय–तथा ब्रह्म भाव की निर्गुण भक्ति भी ग्राह्य है।

वल्लभ सप्रदाय मे सभी प्रकार की भक्ति करने वाले भक्त जन आरभ से ही होते रहे है। कुछ लोगो का यह कथन कि इस सप्रदाय मे केवल वात्सल्य भक्ति ही मान्य है, सर्वथा निराधार और अप्रमाणिक है। यद्यपि इस सप्रदाय मे कांता भक्ति की आधार गोप-कुमारिकाएँ और गोपागनाएँ मानी गई हैं; तथापि वल्लभाचार्य जी ने श्री राधा जी का भी यथोचित महत्व स्वीकार किया है। उनकी रचना पुरुषोत्तम सहस्रनाम, त्रिविधि नामावली आदि मे माधुर्यमूर्ति श्री राधा जी का उल्लेख मिलता है। आचार्य जी के पुत्र गो० विट्ठलनाथ जी के समय मे जब पुष्टि सप्रदायी भक्ति मे माधुर्य भाव की प्रधानता हो गई थी, तब राधा जी का और भी महत्व बढ गया था। उस समय उन्हे परब्रह्म कृष्ण की आत्म शक्ति माना गया। गो० विट्ठलनाथ जी कृत 'शृ गार रस मडन' और 'स्वामिनी स्तोत्र' मे इसी प्रकार का भक्ति-भाव प्रकट किया गया है।

फिर भी पुष्टिमार्गीय भक्ति के एक मात्र आधार भगवान् श्री कृष्ण हैं। वल्लभाचार्य जी ने श्री कृष्ण को केन्द्र-बिंदु मान कर ही अपने सप्रदाय का वृत्त बनाया है। उन्होने अपने दार्शनिक और भक्ति सिद्धात का सार तथा अपने सप्रदाय की रूप-रेखा एक ही श्लोक मे व्यक्त करते हुए कहा है,— एक शास्त्र देवकीपुत्रगीत, एको देवो देवकीपुत्र एव। मत्रोप्येकस्तस्य नामानि यानि, कर्माप्येक तस्य देवस्य सेवा[1]॥ अर्थात्—कृष्ण कृत गीता ही एक मात्र शास्त्र है, कृष्ण ही एक मात्र आराध्य देव हैं, कृष्ण का नाम ही एक मात्र मत्र है और कृष्ण-सेवा ही एक मात्र कर्तव्य कर्म है।

वैराग्य-संन्यास—पुष्टिमार्गीय भक्ति मे वैराग्य और सन्यास भी मान्य है, किंतु इनका स्वरूप ज्ञानमार्गीय वैराग्य-सन्यास से भिन्न माना गया है। वल्लभाचार्य जी ने 'भक्तिवर्धिनी' और 'सन्यास निर्णय' नामक अपनी रचनाओ मे पुष्टिमार्गीय वैराग्य-सन्यास का विवेचन किया है।

'भक्तिवर्धिनी' मे आचार्य जी ने कहा है, भक्ति का अधिकारी व्यक्ति घर मे रह कर वर्ण तथा आश्रम के धर्मो का पालन करे और मुख्य रूप से भगवान् की तनुजा-वित्तजा सेवा करता रहे। इससे उसका मन लौकिक विषयो से हट जावेगा और प्रेम, आसक्ति एव व्यसन की भक्ति-भावना दृढ हो जावेगी। इस प्रकार का अभ्यास करने से जब वह प्रेमलक्षणा भक्ति की उच्च अवस्था को पहुँच जावे, तब वह चाहे तो घर को छोड कर सन्यास भी ले सकता है, किंतु फिर भी उसे निष्क्रिय न होकर सत्सग और प्रभु-सेवा मे लगा रहना चाहिए।

'सन्यास-निर्णय' मे आचार्य जी ने कहा है, सन्यास का अर्थ है सर्वस्व त्याग, किंतु देहधारी जीव के लिए यह संभव नही है। यदि पुत्र-कलत्रादि का गृह-बंधन प्रभु के प्रेम की प्राप्ति मे बाधक होता हो, तो सन्यास लिया जा सकता है; किंतु उसमे दंड-कमंडलु धारण करने जैसे बाह्य वेश को स्वीकार करने की आवश्यकता नही है। भक्तिमार्गीय सन्यास ज्ञान-सन्यास नही है, वरन् [illegible] सन्यास है, अर्थात् अतिशय विरक्ति होने पर उसे उन समस्त फलो की आकांक्षा को भी त्याग देना चाहिए, जो उच्च कोटि के भक्त को प्रभु की कृपा से प्राप्त हो जाते हैं। भक्तिमार्गीय सन्यासी सब ओर से मन हटा कर प्रभु के विरहानंद मे लीन हो जाता है। श्री वल्लभाचार्य जी ने भक्तिमार्गीय सन्यास का पर्यवसान श्री कृष्ण की रासलीला मे बतलाया है; इसी से उनके [illegible] का अभिप्राय समझा जा सकता है। इस प्रकार का सन्यास स्वयं आचार्य जी ने भी अपने अंतिम काल मे लिया था।

---

(१) तत्त्वदीप निबंध श्लोक ४

आचार्य जी के ग्रंथ—श्री वल्लभाचार्य जी ने समकालीन परिस्थिति के परिज्ञान और धार्मिक सिद्धातो के प्रचार के लिए तीन वार देशव्यापी पैदल यात्राएँ की थी, जिनमे उनके जीवन के प्राय २५ वर्ष लगे थे। इस प्रकार पर्यटन और प्रचारादि मे अधिक व्यस्त रहने के कारण उन्हे निश्चित हो कर ग्रथ-रचना करने का अवकाश नही मिला था। फिर भी उन्होने अनेक छोटे-वडे ग्रथो की रचना की थी, जिनसे उनके गभीर अध्ययन और प्रकाड पाडित्य का परिचय मिलता है। उनके अधिकाश गथ यात्रा-काल मे ही रचे गये थे। उस समय माधव भट्ट नामक एक काश्मीरी पडित उनके लिपिक का कार्य करते थे। अवकाश के समय मे आचार्य जी अपने ग्रथो को वोल कर लिखाते थे और माधव भट्ट लिखते थे। दैवी इच्छा से माधव भट्ट का असामयिक देहावसान हो गया था। उस समय आचार्य जी भागवत की 'सुवोधिनी' टीका की रचना कर रहे थे। माधव भट्ट के निधन का समाचार सुन कर आचार्य जी ने कहा था,—'सुवोधिनी अधूरी रह गई। भगवद्-इच्छा इतनी की ही थी[1]।' फलत माधव भट्ट के देहावसान से आचार्य जी के कई ग्रथ अधूरे रह गये, और कई की अधिक प्रतियाँ नही की जा सकी थी।

आचार्य जी ने कुल कितने ग्रथ रचे थे, यह निश्चय पूर्वक कहना कठिन है। उनके ग्रथो की कोई प्राचीन प्रामाणिक सूची नही मिलती है। साधारणतया ऐसा समझा जाता है कि उन्होने ८४ ग्रथो की रचना की थी। 'वल्लभ दिग्विजय' ग्रथ मे इसी प्रकार का उल्लेख है, किंतु 'सप्रदाय कल्पद्रुम' मे उनके ग्रथो की सख्या ३५ वतलाई गई है। अभी तक जो ग्रथ प्रकाश मे आये हैं, उनसे यह कहा जा सकता है कि ८४ की सख्या अनुश्रुति मात्र है ३५ की सख्या ठीक मालूम होती है। प० पुरुषोत्तम पुरोहित ने आचार्य जी के अधिकाधिक ग्रथो का नामोल्लेख करने का प्रयास करते हुए ७१ ग्रथो की सूची प्रकाशित की है[2], किंतु उन्होने स्वय इस सख्या मे न्यूनता होने की सभावना व्यक्त की है। आचार्य जी के ग्रथो की सख्या चाहे कितनी ही हो, किंतु इस समय उनके ३१ छोटे-वडे ग्रथ माने जाते हे, जिनके नाम इस प्रकार हैं,—

१ ब्रह्मसूत्र का 'अणु भाष्य' और 'वृहद् भाष्य', २ भागवत की 'सुवोधिनी' टीका, ३ भागवत तत्वदीप निवध, ४ पूर्व मीमासा भाष्य, ५ गायत्री भाष्य, ६ पत्रावलवन, ७ पुरुषोत्तम सहस्रनाम, ८ दशमस्कध अनुक्रमणिका, ९ त्रिविध नामावली, १० शिक्षा श्लोक, ११-२६ षोडश ग्रथ, (१ यमुनाष्टक, २ वालबोध, ३ सिद्धात मुक्तावली, ४ पुष्टि प्रवाह मर्यादा भेद, ५, सिद्धात रहस्य, ६ नवरत्न, ७ अत करण प्रबोध, ८ विवेकधैर्याश्रय, ९. कृष्णाश्रय, १० चतु श्लोकी, ११ भक्तिवर्धिनी, १२ जलभेद, १३ पचपद्य, १४. सन्यास निर्णय, १५ निरोध लक्षण, १६ सेवा फल), २७ भगवत्पीठिका, २८ न्यायादेश, २९ सेवा फल विवरण, ३० प्रेमामृत तथा ३१ विविध अष्टक, (१ मधुराष्टक, २ परिवृढाष्टक, ३ नदकुमार अष्टक, ४ श्री कृष्णाष्टक, ५ गोपीजन-वल्लभाष्टक आदि)।

आचार्य जी के वडे ग्रथो मे ब्रह्मसूत्र भाष्य और भागवत की सुवोधिनी टीका सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, किंतु ये दोनो ग्रथ अपूर्ण मिलते हैं। उनके छोटे ग्रथो मे 'षोडश ग्रथ' अधिक प्रसिद्ध है और उनका प्रचार भी बहुत है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से ज्ञात होता है कि इन

---

(१) चौरासी वैष्णवन की वार्ता मे 'माधव भट्ट की वार्ता', प्रसग ४

(२) श्री महाप्रभु जी के ग्रथ (श्री बल्लभ विज्ञान, वर्ष ६ अंक १)

छोटे ग्रथो को आचार्य जी ने विविध अवसरो पर अपने शिष्य–सेवको के प्रवोधनार्थ रचे थे। जैसा पहिले लिखा चुका है, माधव भट्ट के असामयिक निधन से आचार्य जी के ग्रथो की अधिक प्रतियाँ नही की जा सकी थी। आचार्य जी का तिरोधान होने पर उनके अधिकाश ग्रथो की प्रामाणिक प्रतियाँ उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री गोपीनाथ जी के अधिकार मे आई थी। जब गोपीनाथ जी का असामयिक निधन हो गया, तब उनकी विधवा बहू जी उक्त प्रतियो को अपने साथ दक्षिण स्थित अपने पिता के घर ले गई थी, जहाँ वह अमूल्य ग्रथ–राशि लुप्त हो गई थी। श्री आचार्य जी के दूसरे पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी ने वडी चेष्टा पूर्वक अनेक ग्रथो की प्रतिलिपियाँ कराई थी। आगरा निवासी कन्हैयाशाल क्षत्रिय को आचार्य जी के समस्त छोटे ग्रथ कठस्थ थे। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने आगरा जाकर उनसे वे ग्रथ लिखवाये थे[1]। इस समय श्री वल्लभाचार्य जी के जितने ग्रथ उपलब्ध है, वे सब गो० विट्ठलनाथ जी के काल मे ही सगृहीत किये गये थे।

आचार्य जी ने अपने शुद्धाद्वैत सिद्धात के प्रतिपादन के लिए महर्षि वादरायण व्यास कृत 'ब्रह्मसूत्र' (उत्तर मीमासा) पर भाष्य–रचना की थी। ऐसा समझा जाता है, उन्होने वृहद् और सूक्ष्म दो रूपो मे भाष्य रचा था। समयाभाव के कारण वृहद् भाष्य का क्रम नही चल सका, पर सूक्ष्म भाष्य की रचना वे करते रहे थे, किंतु वह भी पूरी नही की जा सकी थी। वाद मे गो० विट्ठलनाथ जी ने उसकी पूर्ति की थी। सभव है, आचार्य जी ने सूक्ष्म भाष्य की पूरी रचना की हो, और गोपीनाथ जी की विधवा पत्नी के ग्रथो के साथ उसकी पूर्ण प्रति नष्ट हो गई हो। वृहद् भाष्य का जितना अश रचा गया था, वह आचार्य पुरुषोत्तम जी (जन्म स १७१४) के समय तक विद्यमान था। पुरुषोत्तम जी ने वल्लभाचार्य कृत भाष्य पर 'प्रकाश' नामक विद्वत्तापूर्ण विवरण लिखा था। श्री कठमणि शास्त्री का मत है, वृहद् भाष्य का वह अश 'प्रकाश' मे अतर्लीन हो गया है[2]। आचार्य जी कृत सूक्ष्म भाष्य 'अणु भाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्मसूत्र के जो चार अध्याय है, उनमे से आचार्य जी कृत भाष्य रचना दो अध्यायो की पूरी और तीसरे की अधूरी ही मिलती है। तीसरे अध्याय की पूर्ति और चौथे अध्याय की रचना गो विट्ठलनाथ जी ने की थी।

'सुबोधिनी' श्रीमद् भागवत की विद्वत्तापूर्ण विशद टीका है, जिसकी रचना आचार्य जी ने अपने भक्ति–सिद्धात के समर्थन मे की थी। सुवोधिनी के अत साक्ष्य और श्री व्रजराय जी कृत 'सुबोधिनी विवरण' से विदित होता है कि इस विशद टीका से पहिले श्री आचार्य जी ने भागवत की एक सूक्ष्म टीका भी की थी, जो इस समय अप्राप्य है। सुवोधिनी नामक विशद टीका भी भागवत के सभी स्कधो पर नही मिलती है। इस समय प्रथम, द्वितीय, तृतीय और दशम स्कधो की पूरी तथा एकादश स्कध के कुछ अश की टीका ही उपलब्ध है, शेष स्कधो की टीका नही मिलती है। कतिपय आधुनिक विद्वानो का अनुमान है, श्री आचार्य जी ने सभी स्कधो पर सुवोधिनी रची होगी[3], किंतु माधव भट्ट की वार्ता से उक्त अनुमान की असगति स्पष्ट होती है। भागवत का हृदय–स्थल उसका दशम स्कध है, और सौभाग्य से इस स्कध की पूरी सुवोधिनी उपलब्ध है। इससे आचार्य जी की रचना–प्रणाली का महत्व समझा जा सकता है। श्री हरिराय जी ने कहा है,—

---

(१) चौरासी वैष्णवन की वार्ता मे 'कन्हैयाशाल क्षत्री की वार्ता', प्रसग १

(२) शु. पु. संस्कृत वाङ्मय (प्रथम खड), पृष्ठ १०१

(३) देखिये, श्री वल्लभ विज्ञान, वर्ष ६ अंक १ और ११

'जिसने वल्लभाचार्य जी का आश्रय नहीं लिया, सुबोधिनी का पठन-पाठन नहीं किया और श्री कृष्ण की आराधना नहीं की, उसका जन्म इस भू-तल पर व्यर्थ है —नाश्रितो वल्लभाधीशो न च दृष्टा सुबोधिनी। नाराधि राधिकानाथो वृथा तज्जन्म भूतले ॥' साराश यह है, सुबोधिनी श्री आचार्य जी की सर्वाधिक महत्व की रचना है। इस पर गो. विट्ठलनाथ जी की 'टिप्पणी', श्री पुरुषोत्तम जी का 'प्रकाश' तथा अन्य आचार्यों और विद्वानो के लेख-विवरणादि उपलब्ध हैं। इसका सर्व प्रथम प्रकाशन भागवत की उस अष्ट टीका के साथ हुआ था, जिसे स. १९६० मे श्री नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी ने वृंदावन मे प्रस्तुत किया था। उसके उपरात इस ग्रथ के अनेक सस्करण प्रकाशित हो चुके है।

'भागवत तत्व दीप निबध' की रचना सुबोधिनी से पहिले हुई थी। इसका अध्ययन करने पर ही सुबोधिनी के मर्म को भली भांति समझा जा सकता है। 'दशम स्कध अनुक्रमणिका' ९८ श्लोको की एक छोटी रचना है, जिसमे श्री कृष्ण की लीलाओं की सूची दी गई है। 'वार्ता' से ज्ञात होता है कि इसका श्रवण करने से ही सूरदास जी और परमानददास जी को लीला-गान की प्रेरणा हुई थी, जिससे 'सूरसागर' और 'परमानदसागर' जैसे गौरव ग्रथो की रचना हो सकी थी। 'श्री पुरुषोत्तम सहस्रनाम' एक सुप्रसिद्ध साप्रदायिक रचना है। श्री आचार्य जी ने श्रीमद् भागवत मे से शुद्धाद्वैत सिद्धात प्रतिपादक एक हजार नामो का सकलन कर इसकी रचना की है। इसीलिए इसे भागवत का 'सार-समुच्चय' कहा गया है। ऐसी प्रसिद्धि है, आचार्य जी ने अपने ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ जी को समस्त भागवत के पाठ का फल प्राप्त करने के लिए इसका नित्य पाठ करने का आदेश दिया था। 'पत्रावलबन' एक महत्वपूर्ण सैद्धातिक रचना है। इसमे वेद और वेदात की एकवाक्यता का प्रतिपादन किया गया है। इसे आचार्य जी ने मायावादियो को निरुत्तर करने के लिए रचा था। 'षोडश ग्रथ' आचार्य जी कृत १६ छोटी रचनाओं का समुच्चय है। इसमे आचार्य जी ने अपने दार्शनिक और भक्ति सिद्धातो का स्पष्टीकरण सक्षिप्त और सरल रीति से किया है। इन ग्रथो का वल्लभ सप्रदाय मे बहुत प्रचार है। इनमे से 'अत करण प्रबोध' आचार्य जी की अतिम कृति कही जाती है[1]। वल्लभाचार्य जी के ये समस्त ग्रथ सस्कृत भाषा मे हैं।

आचार्य जी के शिष्य-सेवक—श्री वल्लभाचार्य जी प्रकाड विद्वान और महान् धर्मोपदेष्टा थे। साथ ही उनका व्यक्तित्व अत्यत प्रभावशाली और रहन-सहन बड़ा आकर्षक था। उन सब कारणो से जो व्यक्ति भी उनके सपर्क मे आते थे, वे नतमस्तक होकर उनके अनुगामी बन जाते थे। इस प्रकार उनके बहुसख्यक शिष्य-सेवक हुए थे, जिनमे ब्राह्मण से लेकर शूद्र और अन्त्यज तक सभी वर्णो एव जातियो के व्यक्ति थे, किंतु उनमे ब्राह्मणो और क्षत्रियो की सख्या अधिक थी। उनके अनुगामियो मे पडित-मूर्ख, धनी-निर्धन, गृहस्थ-विरक्त, कुलीन-अकुलीन सभी वर्गों और श्रेणियो के आबाल-वृद्ध एव नर-नारी थे। उनके प्रमुख शिष्य-सेवको मे से ८४ का वृत्तात 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' मे मिलता है। उनके अतिरिक्त और भी कितने ही मुख्य शिष्य-सेवक थे, जिनका नामोल्लेख विविध वार्ता ग्रथो मे हुआ है।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' मे उल्लिखित आचार्य जी के शिष्य-सेवको मे सर्व प्रथम नाम दामोदरदास हरसानी का आता है। वे आचार्य जी के पट्ट शिष्य और अतरग सेवक थे। उन्हे

(१) देखिये, चौरासी वैष्णवन की वार्ता मे 'माधव भट्ट की वार्ता', प्रसग ४ का 'भाव'।

आचार्य जी ने सर्व प्रथम ब्रह्म सबध की मत्र-दीक्षा दी थी और पुष्टिमार्गीय भक्ति-सिद्धात, सेवा विधि तथा भगवत्–लीला रहस्य की गूढतम बाते बतलाई थी। आचार्य जी का तिरोधान होने पर उनके बालक पुत्र गो विट्ठलनाथ जी को पुष्टि सप्रदाय की अनेक महत्वपूर्ण बाते हरसानी जी से ही ज्ञात हुई थी। आचार्य जी के आरभिक सेवको मे दूसरे प्रमुख व्यक्ति कृष्णदास मेघन थे, जो सोरो के क्षत्रिय थे। वे उनके विश्वसनीय अनुचर, खवास एव भडारी—सब कुछ थे, और आचार्य जी की सभी यात्राओ मे उनके साथ रहे थे। उन्होने आरभ से अत तक आचार्य जी के साथ रह कर उनकी दिन-रात सेवा की थी। जब आचार्य जी का तिरोधान हुआ, तब उन्होने भी अपना शरीर छोड दिया था।

आचार्य जी के व्रजवासी सेवको मे आन्योर के सद्दू पाडे प्रमुख थे, जो अपनी पत्नी भवानी, पुत्री नरो और भाई मानिकचद के साथ आचार्य जी के शिष्य हुए थे। उनके साथ ही कुभनदास, अच्युतदास और रामदास चौहान ने भी आचार्य जी से मत्र–दीक्षा प्राप्त की थी। उन सब ने आचार्य जी के आदेशानुसार श्रीनाथ जी की आरभिक सेवा की समुचित व्यवस्था की थी। अन्य व्रजवासी शिष्य–सेवको मे अडीग के अवधूनदास, मथुरा के नारायणदास भाट और कविराज भाट, शेरगढ के त्रिपुरदास कायस्थ तथा महाबन के नारायणदास ब्रह्मचारी के नाम उल्लेखनीय है। आगरा निवासी शिष्य-सेवको मे कन्हैयाशाल और विष्णुदास छीपा के नाम उल्लेख योग्य है। कन्हैयाशाल को आचार्य जी ने अपने सभी छोटे ग्रथो की शिक्षा दी थी और गो विट्ठलनाथ जी ने उन्ही से उक्त ग्रथो की प्रतिलिपियाँ प्राप्त की थी। विष्णुदास छीपा बडे आस्थावान भक्त जन थे। उन्होने दीर्घायु प्राप्त की थी और अपनी वृद्धावस्था मे वे गोकुल आकर गो विट्ठलनाथ जी के ड्योढीवान हुए थे।

आचार्य जी के विद्वान शिष्यो मे दामोदरदास हरसानी के अतिरिक्त माधव भट्ट, हरिवश, अच्युतदास, पद्मनाभदास, मुकुददास, गगाधर भट्ट, हरिहर भट्ट, ब्रह्मानद, कृष्णचद्र आदि के नाम विविध वार्ता ग्रथो मे मिलते है। माधव भट्ट आचार्य जी के लिपिक थे। उनका देहावसान आचार्य जी की विद्यमानता मे हुआ था। दामोदरदास हरसानी अच्युतदास और हरिवश जी आचार्य जी के बाद तक जीवित रहे थे। उन्होने गो विट्ठलनाथ जी को पुष्टिमार्गीय भक्ति और सेवा सबधी गूढ बाते बतलाई थी, तथा 'शृगार रस मडन' ग्रथ की भाव प्रधान रचना मे सहयोग दिया था। पद्मनाभदास कन्नौज के विद्वान ब्राह्मण और कथा–व्यास थे। वे आचार्य जी से दीक्षा लेकर व्रज मे आ गये थे। उन्हे मथुरा के निकटवर्ती कर्णावल नामक स्थान से श्री मथुरेश जी का स्वरूप प्राप्त हुआ था। मुकुददास मालवा के कायस्थ थे और भागवत के मर्मज्ञ विद्वान एव सुकवि थे। उन्होने भागवत के आधार पर 'मुकुदसागर' नामक एक बडे काव्य-ग्रथ की रचना की थी, किंतु वह अभी तक उपलब्ध नही हुआ है।

आचार्य जी के शिष्यो मे अनेक सुकवि, गायक और कीर्तनकार भी थे, जिनमे कुभनदास, सूरदास, परमानददास और कृष्णदास प्रमुख थे। कुभनदास पुष्टिमार्गीय कवियो मे सबसे वयोवृद्ध और माधुर्य भक्ति के सरस गायक थे। वे श्रीनाथ जी के सर्वप्रथम कीर्तनकार हुए थे। सूरदास जी पुष्टिमार्गीय कवियो के शिरोमणि और व्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते है। उनका 'सूरसागर' व्रजभाषा भक्ति साहित्य का अक्षय भडार है। परमानददास और कृष्णदास का स्थान भी पुष्टिमार्गीय कवि–गायको मे बहुत ऊँचा है। कृष्णदास उच्च कोटि के भक्त-कवि होने के साथ ही साथ

श्रीनाथ जी के मदिर के प्रथम अधिकारी भी थे। उन्होंने श्रीनाथ जी के सेवा–विस्तार और माहात्म्य–सवर्धन का महत्वपूर्ण कार्य किया था। वे चारो महानुभाव श्रीनाथ जी के कीर्तनकार थे, जिन्हे बाद मे गो विट्ठलनाथ जी ने 'अष्टछाप' मे सम्मिलित किया था। उनके अतिरिक्त आचार्य जी के जो शिष्य–सेवक सुकवि और गायक थे, उनमे गोपालदास काशी वाले, गदाधरदास, प्रभुदास भाट, त्रिपुरदास, कृष्णदास घघरी, कृष्णा दासी, रामदास मेवाड़ी, भगवानदास सांचोरा, गोपालदास ईटोडा क्षत्री, रामदास मुखिया, जीवनदास खत्री, यादवेन्द्र, थिरदास, लकुटी, अग्रदास और श्रीभट्ट के नाम उल्लेखनीय हैं। वे अग्रदास रामानदी अग्रदास जी से और श्रीभट्ट निंबार्क संप्रदायी श्रीभट्ट जी से भिन्न भक्त जन थे।

आचार्य जी का तिरोधान—जब वल्लभाचार्य जी की आयु प्राय ५२ वर्ष की हुई, तब उन्हे ऐसा आभास होने लगा कि उनका लौकिक कार्य पूरा हो गया है, और उनके तिरोधान का अब समय आ गया है। फलत स १५८७ की ज्येष्ठ कृ० १० को वे अपने निवास स्थान अडैल से प्रयाग आये और वहाँ उन्होंने पुष्टिमार्गीय सन्यास ग्रहण किया। उसके उपरात वे काशी चले गये, जहाँ ४० दिन तक अनशन और विप्रयोग करते हुए विरक्ति भाव से प्रभु के विरहानद का अनुभव करते रहे। अत मे स १५८७ की आषाढ शु० ३ को मध्याह्न काल मे काशी के हनुमान घाट पर उन्होने गगा जी मे प्रवेश किया और बीच धारा मे जाकर जल–समाधि द्वारा अपने नश्वर शरीर को छोड दिया। वे ५२ वर्ष, २ माह और ७ दिन पर्यंत इस भू–तल पर रहे थे।

आचार्य जी की बैठकें—श्री वल्लभाचार्य जी ने अपनी यात्राओ मे जहाँ श्रीमद् भागवत का प्रवचन किया था, अथवा जिन स्थानो का उन्होने विशेष माहात्म्य बतलाया था, वहाँ उनकी बैठके बनी हुई है, जो 'आचार्य महाप्रभु जी की बैठकें' कहलाती हैं। वल्लभ सप्रदाय मे ये बैठके मदिर-देवालयो की भाँति ही पवित्र और दर्शनीय मानी जाती हैं। इन बैठको की सख्या ८४ है, और ये समस्त देश मे फैली हुई हैं। इनमे से २४ बैठकें ब्रजमडल मे हैं, जो ब्रज चौरासी कोस की यात्रा के विविध स्थानो मे बनी हुई हैं।

ब्रज स्थित बैठको का विवरण इस प्रकार है,—

१ गोकुल मे —गोविंदघाट पर है, जो स १५५० मे आचार्य जी के सर्वप्रथम ब्रज मे पधारने और वहाँ भागवत का प्रवचन करने के अनतर दामोदरदास हरसानी को ब्रह्म सबध की प्रथम दीक्षा देने की स्मृति मे बनाई गई है।

२ ,, —श्री द्वारकानाथ जी के मदिर के बाहर है, जो 'बडी बैठक' कहलाती है।

३ ,, —शैया मदिर की बैठक के नाम से प्रसिद्ध है।

४ मथुरा मे —विश्रामघाट पर है, जो स १५५० मे आचार्य जी के प्रथम बार मथुरा पधारने और वहाँ की 'यत्र–बाधा' के निवारण एव श्रीमद् भागवत की कथा कहने की स्मृति मे बनाई गई है।

५. मधुवन मे —कृष्णकुड पर है।

६ कुमुदवन मे—विहारकुड पर है।

७ बहुलावन मे—कुड पर वट वृक्ष के नीचे है।

८. राधाकुड मे—वल्लभघाट पर है।

९ गोवर्धन मे—चकलेश्वर के निकट मानसी गगा के गगाघाट पर है।

१०. गोबर्धन मे—चद्रसरोवर पर छोकर के वृक्ष के नीचे है।
११ ,, —आन्यौर मे सद्दू पाडे के घर मे है। इस स्थल पर श्री आचार्य जी ने स. १५५६ मे श्रीनाथ जी की आरभिक सेवा का आयोजन किया था।
१२ ,, —गोविंदकुड पर है।
१३. ,, —जतीपुरा मे श्री गिरिराज जी के मुखारविंद के सन्मुख है। यहाँ पर श्रीनाथ जी के प्राकट्य की स्मृति मे व्रज-यात्रा के अवसर पर 'कुनवाडा' किया जाता है।
१४ कामबन मे —श्रीकुड पर है।
१५. बरसाना मे —गह्वरबन के कृष्णकुड पर है।
१६ करहला मे —कृष्णकुड पर है।
१७ सकेत मे —कुड पर छोकर के वृक्ष के नीचे है।
१८ प्रेमसरोवर मे —कुड पर है।
१९. नदगाँव मे —पानसरोवर पर है।
२० कोकिलाबन मे —कृष्णकुड पर है।
२१ शेषशायी मे —क्षीरसागर कुड पर है।
२२ चीरघाट मे —यमुना तट पर कात्यायिनी देवी के मदिर के निकट है।
२३ मानसरोवर मे —कुड पर है।
२४ वृ दाबन मे —वशीबट पर है।

आचार्य जी का चित्र—श्री बल्लभाचार्य जी का जो प्राचीनतम और सर्वाधिक प्रामाणिक चित्र माना जाता है, वह कृष्णगढ (राजस्थान) के राजकीय मदिर से प्राप्त हुआ है। उसके सबध मे बल्लभ सप्रदाय मे यह अनुश्रुति प्रचलित है कि दिल्ली के सुलतान सिकदर लोदी ने आचार्य जी की प्रभुता से प्रभावित होकर उसे अपने शाही चित्रकार 'होनहार' से बनवाया था। वह चित्र सुलतानी काल के पश्चात् मुगल बादशाहो की शाही चित्रशाला मे विद्यमान रहा था और उसे कृष्णगढ के राजा रूपसिंह ने शाहजहाँ से प्राप्त किया था। इसका उल्लेख सर्वप्रथम कृष्णगढ के राजकवि जयलाल जी ने 'नागर समुच्चय' ग्रथ मे किया था, और बाद मे उसके आधार पर विद्वद्वर श्री कठमणि शास्त्री ने 'काकरोली का इतिहास' मे लिखा[1]। 'श्री बल्लभ विज्ञान' के आरभिक अक मे उक्त ऐतिहासिक चित्र की प्रतिकृति प्रकाशित करते हुए उसी अनुश्रुति को दोहराया गया है। आश्चर्य की बात है, बल्लभ सप्रदाय मे अभी तक उक्त चित्र के सबध मे वह भ्रमात्मक प्रवाद चल रहा है, और बडे-बडे विद्वानो के रहते हुए भी उसका सशोधन नही किया गया है।

आचार्य जी के उपलब्ध चित्रो मे यह निश्चय ही प्राचीनतम है, और इसका ऐतिहासिक महत्व भी निर्विवाद है, किंतु इसे सिकदर लोदी द्वारा अपने शाही चित्रकार होनहार से बनवाने की बात सर्वथा अप्रामाणिक है। दिल्ली के सुलतान अपने मजहबी कारणो से मूर्तियो और चित्रो के बडे विरोधी थे। इसके लिए सुलतान फीरोजशाह तुगलक (शासन काल स. १४०८–१४४५) का उदाहरण देना पर्याप्त होगा। उसके 'आत्म वृतात' से ज्ञात होता है कि उसके प्रासादो की दीवारो और दरवाजो पर जो तस्वीरे थी, उन सबको उसने अल्लाहताला की आज्ञानुसार पुतवा दिया और जिन-जिन वस्तुओ—डेरे, परदे, कुर्सियो पर जहाँ-जहाँ किसी किस्म की प्रतिमूर्ति पाई गई, उसको

(१) काकरोली का इतिहास, पृष्ठ ३४

भी मिटा दिया। उसकी निगाह मे वह एक धार्मिक कर्तव्य था[1]। सिकदर लोदी सभी सुलतानों मे सबसे ज्यादा कट्टर था। वह कुरान और हदीस के अनुसार मूर्तियों और चित्रो को नष्ट करना अपना मजहवी फर्ज समझता था। ऐसी स्थिति मे उसके द्वारा एक वैष्णव धर्माचार्य का चित्र बनवाने और उसे आदर पूर्वक अपनी चित्रशाला मे रखने की कल्पना भी नही की जा सकती है। फिर जिस 'होनहार' चित्रकार को सिकदर कालीन समझा जाता है, वह उसके प्रायः दो शताब्दी पश्चात् शाहजहाँ के काल मे हुआ था, और उसी का दरबारी चित्रकार था[2]।

ऐसा अनुमान होता है, मुगल सम्राट अकबर की उदार धार्मिक नीति के कारण जब हिंदू सत–महात्माओ का आदर किया जाने लगा, तभी उनके चित्र भी बनाये जाने लगे थे। वर्तमान चित्र शाहजहाँ के काल मे उसके दरबारी चित्रकार 'होनहार' ने बनाया था। संभव है, उस चित्र की मूल 'शवीह' अकबर के किसी दरबारी हिंदू चित्रकार ने बनाई हो, और उसी के आधार पर होनहार ने उसका चित्रण किया हो। कृष्णगढ के राजा रूपसिंह ने अपनी वीरता से शाहजहाँ को प्रसन्न कर उससे वह चित्र प्राप्त किया था, और अपने राज-मदिर मे उसे श्रद्धा पूर्वक प्रतिष्ठित किया था। वर्तमान काल मे नाथद्वारा के चित्रकारो ने उसके आधार पर जो चित्र बनाये हैं, वही इस समय प्रचलित है।

आचार्य जी का महत्त्व और उनकी धार्मिक देन—श्री वल्लभाचार्य जी का प्रादुर्भाव होने से पहिले इस देश की धार्मिक अवस्था बडी शोचनीय थी। वेदोक्त कर्म, ज्ञान और उपासना की मर्यादा नष्टप्राय हो गई थी। नाना प्रकार के मत–मतातरो के विवाद और पाखडो के कारण आस्तिक जनता किंकर्तव्य विमूढ हो रही थी। जहाँ भारत मे 'जीवेम शरद शतम्' तथा 'व्यशेमहि देवहित यदायु' के उद्घोष से दीर्घ जीवन को सार्थक करने की मगल–कामना की जाती थी, वहाँ 'सर्व क्षणिक' तथा 'जगन्मिथ्या' के प्रचार से जीवन को व्यर्थ और भारस्वरूप माना जाने लगा था। उसके फल स्वरूप भोली–भाली आस्तिक जनता या तो निरुपाय होकर घिघियाती[3]–रिरियाती और रोती–चिल्लाती थी, अथवा जगन्नाथ जी के रथ के नीचे दब कर या 'काशी–करवट' द्वारा अपने जीवन का अत करने मे ही परम कल्याण मानती थी[4]। साधारण जनता से ऊपर का ज्ञानी और पडित कहलाने वाला वर्ग 'सोऽह' का मत्र जपता हुआ अहकारविमूढ और गर्वोन्मत्त होकर अनुचित पथ का अनुसरण कर रहा था। उधर विधर्मी शासको ने अपनी धर्मान्धतापूर्ण कुटिल नीति से घोर आतक और सकट पैदा कर दिया था।

उस त्रिदोषात्मक भयकर रोग से ग्रसित देश की दुर्दशा का अनुभव करते हुए वल्लभाचार्य जी ने कहा था,—'सर्व मार्गेपु नष्टेपु कलौ च खलधर्मिणि। पाखडप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम ॥
अहकारविमूढ़ेपु सत्सु पापानुवर्तिपु। लाभ पूजार्थयत्नेपु कृष्ण एव गतिर्मम ॥
म्लेच्छाक्रान्तेपु देशेपु पापैक निलयेपु च। सत्पीडाव्यग्र लोकेपु कृष्ण एव गतिर्मम[5] ॥'

---

(१) भारतीय चित्र कला (मेहता), पृष्ठ ३८

(२) वही ,, ,, , पृष्ठ ६३

(३) चौरासी वैष्णवन की वार्ता मे 'सूरदास की वार्ता', प्रसग १

(४) वही ,, ,, , वार्ता स० ६४ का 'भाव'

(५) कृष्णाश्रय, श्लोक स० १,४ और २

उन्होंने उक्त रोग के उपचार के लिए सजीवनी स्वरूप जो धर्मोपदेश दिया, वह निश्चय ही बडा कल्याणकारी सिद्ध हुआ। उससे उत्तरी भारत के धार्मिक जगत् मे एक क्रांति की लहर सी दौड गई। आचार्य जी ने भगवान् श्री कृष्ण के महत्व को सर्वोपरि बतलाते हुए मानव को एक मात्र उन्ही का आश्रय ग्रहण करने को कहा था। उनके उपदेश से दुखी जीवो को सान्त्वना और सतोष प्राप्त हुआ, तथा वे निश्चित और निर्भय होकर परब्रह्म भगवान श्री कृष्ण की शरण मे जाने लगे। उनका मत ऐसा आकर्षक, उपयोगी, सुगम और श्रेयस्कर सिद्ध हुआ कि राजा-रक, पडित-मूर्ख, गुण-अगुणी, ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष सभी वर्गो के व्यक्तियो मे इसका सरलता से प्रचार हो गया, और प्राय समस्त उत्तरी भारत, विशेष कर ब्रज, राजस्थान और गुजरात के अगणित व्यक्तियो ने इसे स्वीकार कर लिया।

आचार्य जी का व्यक्तित्व बडा प्रभावशाली और आकर्षक था। वे अपने समय के धुरधर विद्वान, आदर्श महात्मा और सुप्रसिद्ध धर्माचार्य थे। वे निस्पृह, त्यागी और परोपकारी थे। उनको राजा–महाराजा और धनी–मानी व्यक्तियो से कई बार अपार द्रव्य प्राप्त हुआ था, किंतु उन्होंने उसे स्वय स्वीकार न कर साधु–सतो और विद्वन्मडली मे वितरित करा दिया, अथवा भगवत्सेवा मे लगा दिया था। उनका स्वभाव सरल और रहन–सहन सादा था। उन्होंने जीवन भर सिले हुए वस्त्र नही पहिने, और न चरण–पादुका आदि का ही उपयोग किया था। उनका प्रखर पाडित्य उनके ग्रथो से प्रकट है और उनकी अनुपम विद्वत्ता एव तर्क–शक्ति उनके शास्त्रार्थो से सिद्ध होती है। उन्होंने सुलतानी काल की अत्यत विषम परिस्थिति मे कृष्णोपासना के पुनरुद्धार और प्रचार का जो बीज-वपन किया, वह मुगल शासन के अनुकूल वातावरण मे ब्रज के अन्य धर्माचार्यो एव सत–महात्माओ के सिंचन से लहलहाता हुआ विशाल वृक्ष बन गया था।

श्री गोपीनाथ जी (स १५६८ – स १५९९)—

जीवन-वृत्तांत—श्री गोपीनाथ जी महाप्रभु बल्लभाचार्य जी के ज्येष्ठ पुत्र थे। उनका जन्म स १५६८ की आश्विन कृ १२ को अडैल मे हुआ था। उनकी शिक्षा-दीक्षा श्री बल्लभाचार्य जी के निरीक्षण मे हुई थी, अत उन पर अपने यशस्वी पिता की प्रकाड विद्वत्ता और धार्मिक प्रकृति का पर्याप्त प्रभाव पडा था। जब श्री बल्लभाचार्य जी का स. १५८७ मे काशी मे तिरोधान हो गया, तब गोपीनाथ जी पुष्टि सप्रदाय के आचार्य हुए थे। उस समय वे केवल १९ वर्ष के युवक थे। उसी वर्ष उनके पुत्र पुरुषोत्तम जी का जन्म हुआ था।

श्रीनाथ जी की सेवा-व्यवस्था—श्री वल्लभाचार्य जी ने श्रीनाथ जी की सेवा बगाली वैष्णवो को दी थी, और मदिर की व्यवस्था करने का अधिकार कृष्णदास को दिया था। अधिकारी कृष्णदास बगालियो की सेवा-विधि से सतुष्ट नही थे। उन्होने उनकी शिकायत गोपीनाथ जी से की थी। स० १५८६ मे सर्वश्री गोपीनाथ जी और विट्ठलनाथ जी श्रीनाथ जी की सेवा सबधी जाँच के लिए गोवर्धन आये। उन्होने कृष्णदास की शिकायत को ठीक पाया। कृष्णदास ने बगालियो को श्रीनाथ जी की सेवा से पृथक् करने के लिए कहा, किंतु गोपीनाथ जी अपने पिता द्वारा किये गये प्रबध मे उलट-फेर नही करना चाहते थे। जब कृष्णदास ने बहुत जोर दिया, तब श्रीनाथ जी की सेवा के हित मे उचित व्यवस्था करने का आदेश देकर गोपीनाथ जी अपने भाई के साथ अडैल वापिस चले गये। उसके पश्चात् कालातर मे अधिकारी कृष्णदास ने युक्ति पूर्वक बगालियो को निकाल दिया था। इसका विस्तृत वर्णन आगे किया जावेगा। स० १५६५ मे गोपीनाथ जी जब जगन्नाथपुरी की यात्रा को गये, तब वहाँ के तीर्थ-पुरोहित कृष्णदास गुच्छिद्वार को उन्होने एक वृत्तिपत्र लिख कर दिया था। उन्होने विविध स्थानो की यात्रा मे जो धन प्राप्त किया था, उसे श्रीनाथ जी के लिए अर्पित कर दिया। उस धन से सोने-चादी के बर्तन तथा सेवा सबधी आवश्यक साज-सामान का सचय किया गया, जिससे श्रीनाथ जी की सेवा का वैभव बढने लगा था।

ग्रथ-रचना—गोपीनाथ जी बडे विद्वान पुरुष थे। इससे अनुमान होता है कि उन्होंने भी अपने पिता एव छोटे भाई की तरह अनेक ग्रथो की रचना की होगी, किंतु उनका केवल एक ग्रथ 'साधन दीपिका' ही उपलब्ध है। इस ग्रथ मे उन्होंने भक्ति की साधन स्वरूपा सेवा-विधि पर अच्छा प्रकाश डाला है। सप्रदाय कल्पद्रुम मे उनके रचे हुए तीन अन्य ग्रथ 'सेवा विधि', 'नाम निरूपण सज्ञा' और 'वल्लभाष्टक' का भी उल्लेख है[1], किंतु ये ग्रथ आजकल उपलब्ध नही है।

देहावसान—गोपीनाथ जी अधिक काल तक जीवित नही रहे थे। उनका आकस्मिक और और असामयिक निधन जगदीशपुरी मे उस समय हुआ था, जब वे वहाँ दर्शन-यात्रा के लिए गये थे। उनका देहावसान किस काल मे हुआ था इस सबध मे बडा मतभेद है। वल्लभ सप्रदाय के ग्रथो मे उससे सबधित विविध सवत् मिलते है; अत उनके निधन-काल की समीक्षा करना आवश्यक है।

'श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' मे लिखा गया है, श्री गोपीनाथ जी के आचार्य होने के तीन वर्ष पश्चात् उनके बालक पुत्र पुरुषोत्तम जी की गोवर्धन मे अकाल मृत्यु हो गई थी। उससे उदास होकर गोपीनाथ जी जगदीशपुरी की यात्रा करने चले गये थे, जहाँ उनका भी आकस्मिक निधन हो गया था[2]। इस प्रकार उक्त वार्ता मे सर्वश्री गोपीनाथ जी और उनके पुत्र पुरुषोत्तम जी दोनो का निधन-काल स १५६० लिखा गया है। 'सप्रदाय कल्पद्रुम' मे गोपीनाथ जी का देहावसान काल सं १६२० लिखा मिलता है[3]। उसी सवत् को 'काकरोली का इतिहास' मे भी स्वीकृत किया गया है[4]। 'सप्रदाय प्रदीप' से ज्ञात होता है, स १६१० मे जब यह ग्रथ पूर्ण हुआ था, तब श्री गोपीनाथ जी और पुरुषोत्तम जी दोनो ही विद्यमान नही थे[5]।

---

(१) सप्रदाय कल्पद्रुम, पृष्ठ १४२
(२) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ २३
(३) सप्रदाय कल्पद्रुम, पृष्ठ ६८
(४) काकरोली का इतिहास, पृष्ठ ८७-८८
(५) सप्रदाय प्रदीप, चतुर्थ प्रकरण
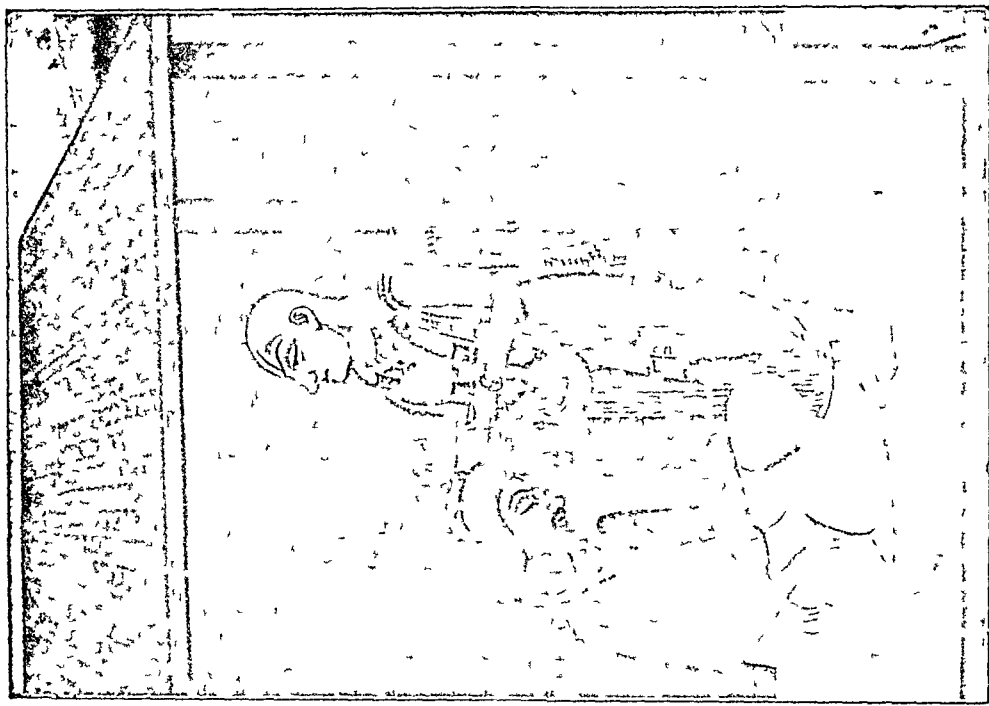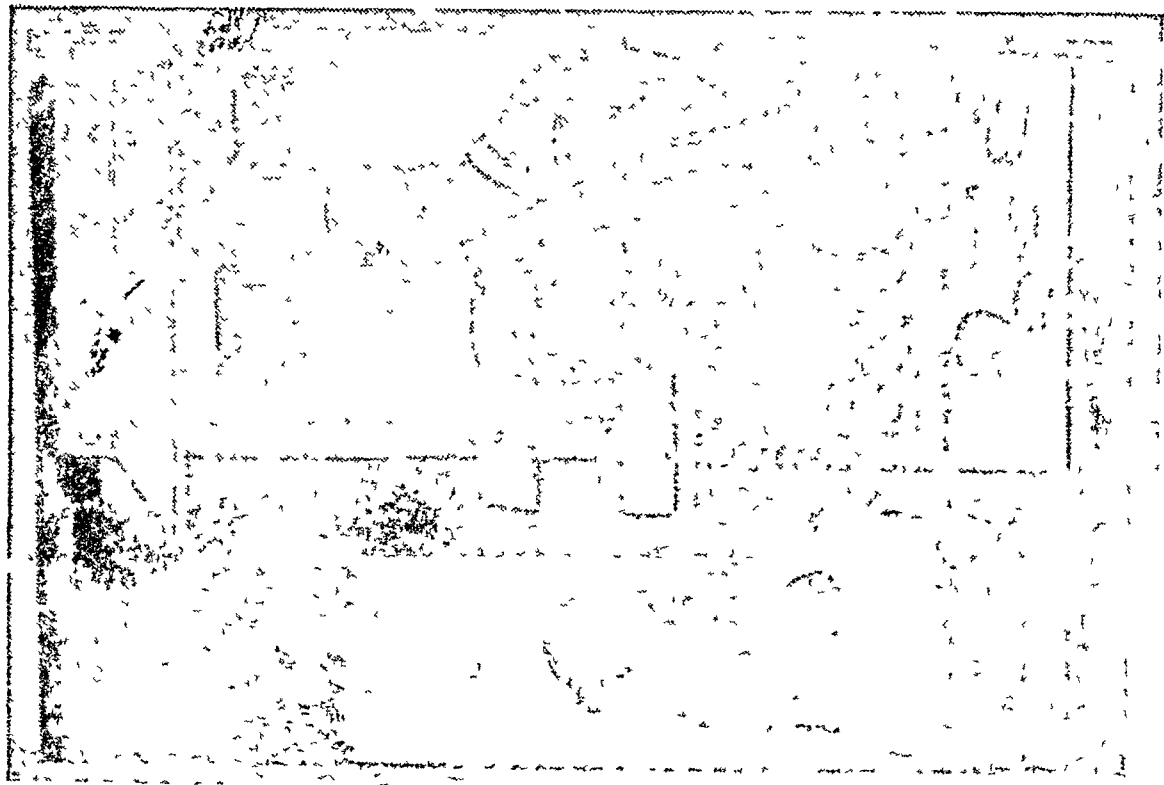
गो० विट्ठलनाथ जी और सूरदास जी

वल्लभ सप्रदाय की ऐतिहासिक घटनाओ और साप्रदायिक उल्लेखो की सगति मिलाने से श्री गोपीनाथ जी और पुरुपोत्तम जी के निधन से सबधित उक्त सभी सवत् भ्रमात्मक सिद्ध होते है। इस सबध का अतिम निष्कर्ष यह है कि श्री गोपीनाथ जी का निधन स १५६६ मे जगदीशपुरी मे हुआ था[1]। श्री पुरुषोत्तम जी की भी अकाल मृत्यु हुई थी, किंतु वह गोपीनाथ जी की विद्यमानता मे नही, वरन् उनके पश्चात् स १६०६ मे हुई थी[2]।

गोपीनाथ जी के उत्तराधिकार का विवाद—गोपीनाथ जी का देहावसान होने पर उनके उत्तराधिकारी का प्रश्न उपस्थित हुआ था। उस समय उनके एक मात्र पुत्र पुरुषोत्तम जी की आयु केवल १२ वर्ष की थी। गोपीनाथ जी के पुत्र होने के कारण नियमानुसार पुरुषोत्तम ही पुष्टि सप्रदाय की आचार्य-गद्दी के वास्तविक अधिकारी थे, किंतु अल्प-वयस्क होने के कारण उन्हे साप्रदायिक उत्तरदायित्व सोपना सप्रदाय के अनेक वरिष्ट व्यक्तियो को उचित ज्ञात नही होता था। वे लोग श्री वल्लभाचार्य जी के द्वितीय पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी को गोपीनाथ जी का उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे। श्री विट्ठलनाथ जी अपने ज्येष्ठ भ्राता श्री गोपीनाथ जी के आचार्यत्व-काल से ही सप्रदाय के उत्तरदायित्व को सँभाल रहे थे, अत उनकी योग्यता सर्व विदित थी। इसीलिए पुष्टि सप्रदाय के वरिष्ट व्यक्तियो ने उन्ही को आचार्य बनाने का आग्रह किया था।

गोपीनाथ जी की विधवा पत्नी श्री विट्ठलनाथ जी के आचार्य बनाये जाने के विरुद्ध थी। वह अपने बालक पुत्र पुरुषोत्तम जी को आचार्य-गद्दी पर बैठा कर स्वय सप्रदाय की देख-भाल करना चाहती थी। इसलिए उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर एक ऐसा पारिवारिक कलह और साप्रदायिक विवाद उठ खडा हुआ, जिसने पुष्टि सप्रदाय के सभी प्रमुख व्यक्तियो को दो गुटो मे विभाजित कर दिया था। यद्यपि विट्ठलनाथ जी ने आचार्य बनने की कभी इच्छा प्रकट नही की, तथापि सप्रदाय के अधिकाश व्यक्ति उन पर बरावर जोर डालते रहे। कुछ थोडे से व्यक्ति पुरुषोत्तम जी के समर्थक थे, जिनमे सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति श्रीनाथ जी के मदिर के अधिकारी कृष्णदास थे।

स. १६०५-६ मे पुरुषोत्तम जी की आयु १८ वर्ष की हो गई। उनके वयस्क हो जाने पर उनके पक्षपातियो ने उन्हे आचार्य बनाये जाने का जोरदार आदोलन किया, जिसके कारण कई अप्रिय घटनाएँ भी हो गई थी। उनमे सबसे अधिक दु खद घटना श्री विट्ठलनाथ जी के लिए श्रीनाथ जी की ड्योढी बद किया जाना था। उस काल मे अधिकारी कृष्णदास का इतना अधिक प्रभाव था कि उन्होने पुरुपोत्तम जी का पक्ष लेकर स १६०६ मे श्री विट्ठलनाथ जी का श्रीनाथ जी के मदिर मे प्रवेश करना ही बद कर दिया था। वल्लभ सप्रदायी वार्ताओ मे उक्त घटना को गगाबाई के प्रसग से जोडा गया है, किंतु वास्तव मे उसका कारण आचार्यत्व के उत्तराधिकार का विवाद था[3]।

श्री विट्ठलनाथ जी के लिए श्रीनाथ जी की ड्योढी बद किये जाने से वह विवाद और भी अधिक उग्र रूप धारण करता, किंतु उसके कुछ समय पश्चात् ही पुरुपोत्तम जी की गोवर्धन मे अकस्मात मृत्यु हो गई थी। उसके कारण उत्तराधिकार का वह विवाद स्वत शात हो गया और श्री विट्ठलनाथ जी सर्व सम्मति से गोपीनाथ जी के उत्तराधिकारी मान लिये गये।

---

(१) लेखक कृत 'अष्टछाप परिचय,' पृष्ठ १६-२१ देखिये।

(२) वही ,, , पृष्ठ २३

(३) चौ. वै वार्ता मे 'कृष्णदास की वार्ता' तथा 'अष्टछाप-परिचय', पृ. २०६-२१०,२२१-२२३

श्री विट्ठलनाथ जी (स० १५७२ – स० १६४२)—

जीवन-वृतात—श्री विट्ठलनाथ जी महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के द्वितीय पुत्र और श्री गोपीनाथ जी के छोटे भाई थे। उनका जन्म स १५७२ की पौष कृ० ६ शुक्रवार को काशी के निकटवर्ती चरणाट (चुनार) नामक स्थान मे हुआ था। उनकी शिक्षा-दीक्षा काशी मे हुई थी। वे आरभ से ही बडे मेधावी और प्रतिभाशाली थे। उन्होने १५ वर्ष की आयु मे ही सागोपाग वेद, वेदातादि दर्शन और भागवतादि पुराणो का आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर साप्रदायिक ग्रथो का भली भाँति अनुशीलन किया था। उनकी विद्वत्ता उनके रचे हुए ग्रथो मे प्रकट है। उन्होने अपनी योग्यता और सूझ–बूझ मे पुष्टि सप्रदाय का व्यापक प्रचार किया, जिससे वह वैष्णव धर्म के कृष्णोपासक सप्रदायो मे सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित हो गया था। उनके दो विवाह हुए थे, जिनसे उन्हे ११ सतान—७ पुत्र और ४ पुत्रियाँ हुई थी।

श्रीनाथ जी की सेवा-व्यवस्था मे परिवर्तन—श्री गोपीनाथ जी का निधन होने के अनतर स १६०० मे श्री विट्ठलनाथ जी सकुटुब ब्रज मे आये और अपने ज्येष्ठ भ्राता की पुण्य स्मृति मे उन्होने ब्रज-यात्रा की थी। उसी समय उन्होने मथुरा के उजागर चौबे को एक वृत्ति-पत्र लिखा था। उन कार्यो से निवृत्त होकर उन्होने श्रीनाथ जी की सेवा–व्यवस्था पर ध्यान दिया। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, स १५७६ की वैशाख शु० ३ को वल्लभाचार्य जी ने पूरनमल खत्री द्वारा निर्मित नये मदिर मे श्रीनाथ जी का पाटोत्सव किया था। तभी से श्रीनाथ जी की सेवा का दायित्व बगाली वैष्णवो पर था, और वहाँ की समस्त व्यवस्था करने का अधिकार कृष्णदास को था। वह व्यवस्था गोपीनाथ जी के देहावसान-काल तक यथावत् चलती रही थी।

उस समय तक वल्लभाचार्य जी द्वारा निश्चित सामान्य विधि से ही श्रीनाथ जी की सेवा होती थी। गोपीनाथ जी ने अपने जीवन–काल मे उसमे परिवर्तन करने की आवश्यकता नही समझी थी। किंतु विट्ठलनाथ जी अब सप्रदाय का वैभव बढाना चाहते थे, अत उन्होने श्रीनाथ जी की सेवा–प्रणाली मे भी तदनुसार परिवर्तन करने का विचार किया। इस प्रकार के परिवर्तन के लिए द्रव्य की अत्यत आवश्यकता थी। विट्ठलनाथ जी और अधिकारी कृष्णदास दोनो ही इसकी व्यवस्था करने लगे। विट्ठलनाथ जी ने इस कार्य के लिए यात्रा करने का विचार किया, अत. स १६०० मे ही वे अडैल होते हुए गुजरात गये। गोपीनाथ जी के निधन के उपरात साप्रदायिक कार्य से की हुई अपनी उस प्रथम यात्रा मे विट्ठलनाथ जी को अत्यत सफलता प्राप्त हुई थी। उन्होने उस यात्रा मे पुष्टि सप्रदाय का यथेष्ट प्रचार किया। वे जहाँ भी गये, वहाँ ही अनेक व्यक्ति उनके शिष्य-सेवक हुए और उनको यथेष्ट धन प्राप्त हुआ। यात्रा के अनतर वे ब्रज मे आकर गोवर्धन गये और समस्त अर्जित सम्पत्ति को उन्होने श्रीनाथ जी की भेट कर दिया। इस प्रकार श्रीनाथ जी की सेवा की समुचित व्यवस्था कर वे अपने स्थायी निवास अडैल वापिस चले गये।

यद्यपि श्रीनाथ जी की सेवा पहिले से अधिक सरजाम पूर्वक होने लगी थी, तथापि अधिकारी कृष्णदास उससे सतुष्ट नही थे। इसका कारण यह था कि उन्हे बगाली पुजारियो की सेवा-विधि से बडा असतोष था। वल्लभ सप्रदाय के ब्रजवासी वैष्णव और साधु-सतो को भी उन पुजारियो की सेवा-प्रणाली पसद नही थी। उन्होने अनेक बार इसकी शिकायत अधिकारी कृष्णदास से की थी। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के 'भावप्रकाश' मे लिखा है, उन बगाली पुजारियो की

सेवा-पद्धति पुष्टि सप्रदाय के अनुकूल नही थी। श्रीनाथ जी की सेवा के साथ वे देवी की भी पूजा करते थे और उन्होने श्रीनाथ जी के बहुत से द्रव्य का दुरुपयोग किया था[1]।

अधिकारी कृष्णदास ने युक्ति पूर्वक बगाली पुजारियो को श्रीनाथ जी के मदिर से निकाल दिया, और वहाँ की सेवा-पूजा के लिए अपने आदमियो को नियुक्त कर दिया। तभी से आचार्य जी के सेवक रामदास प्रभृति साँचोरा–औदीच्य ब्राह्मण श्रीनाथ जी की सेवा करने लगे। उन्ही के सजातीय अब भी पुष्टि सप्रदाय के मदिरो मे सेवा-पूजा करते है, जब कि आचार्य जी के सजातीय तैलग ब्राह्मणो ने कभी इसमे हस्तक्षेप नही किया।

सेवा–परिवर्तन का काल—साप्रदायिक उल्लेखो मे श्रीनाथ जी की सेवा-परिवर्तन के दो सवत्—१५६० और १६२८ मिलते है। हमारे मतानुसार स १५६० मे उक्त घटना का सूत्रपात हुआ और स १६२८ मे उसका समापन। स १५८७ मे श्री वल्लभाचार्य जी का देहावसान हुआ था, तभी से अधिकारी कृष्णदास श्रीनाथ जी के मदिर की नवीन व्यवस्था करने के लिए उत्सुक थे। उस समय गोपीनाथ जी विद्यमान थे, और वे ही तत्कालीन आचार्य थे, किंतु 'वार्ता' मे उस घटना के प्रसग मे उनका नामोल्लेख न होकर सर्वत्र विट्ठलनाथ जी का नाम मिलता है। इसके दो कारण हो सकते है। एक तो जिस समय कृष्णदास उसकी स्वीकृति प्राप्त करने अडैल गये थे, उस समय गोपीनाथ जी किसी दूरस्थ प्रदेश की यात्रा करने चले गये हो, जैसा कि वे प्राय: किया करते थे। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि उस समय गोपीनाथ जी का देहावसान हो गया हो, और उनके पश्चात् विट्ठलनाथ जी ही साप्रदायिक कार्यों की देख–भाल कर रहे हो। 'वार्ता' के प्रसगो की पूर्वापर सगति मिलाने से वह घटना स १५६० की अपेक्षा गोपीनाथ जी के देहावसान के अनतर स १६०२ के लगभग होना समीचीन जान पडती है। यही वह समय है, जब विट्ठलनाथ जी सप्रदाय के प्रमुख व्यक्ति होते हुए भी आचार्यत्व के विवाद और पारिवारिक कलह के कारण कोई नवीन क्रातिकारी व्यवस्था करने मे सकोच करते थे। स १६०६ तक बगालियो मे श्रीनाथ जी की सेवा विषयक सभी अधिकार निश्चय पूर्वक लिये जा चुके थे। उस समय अधिकारी कृष्णदास का प्रभाव इतना बढ गया था कि उन्होने पुरुषोत्तम जी का पक्ष लेकर विट्ठलनाथ जी की उपेक्षा की और उन्हे श्रीनाथ जी के मदिर मे प्रवेश करने से भी रोक दिया था।

जैसा पहिले कहा गया है, साप्रदायिक इतिहास मे उक्त घटना का काल स. १६२८ भी मिलता है। इसका एक विशेप कारण है। बगालियो को सेवा से निकालने के बाद वे बहुत दिनो तक अपने अधिकारो के लिए झगडा करते रहे थे, किंतु कृष्णदास की दबग नीति के कारण उनको सफलता नही मिली थी। स १६२८ मे, अकबर के शासन–काल मे, बगालियो ने श्रीनाथ जी की मालकियत का प्रश्न फिर से उठाया और वे अपनी फरियाद अकबर बादशाह के पास तक ले गये। उस समय अधिकारी कृष्णदास ने राजा टोडरमल और राजा बीरबल के नाम विट्ठलनाथ जी से पत्र मँगवाये थे। उन दोनो की सहायता से ही बगालियो का झगडा सदा के लिए तय हुआ था[2]। वह अतिम निर्णय स १६२८ मे हुआ था। इस प्रसग मे टोडरमल और बीरबल के नाम 'वार्ता' मे आये है। उक्त नामो की सगति भी इसी प्रकार मिल सकती है, अन्यथा स. १५६० मे उनका हस्तक्षेप करना इतिहास के विरुद्ध पड़ता है।

---

(१) चौरासी वैष्णवन की वार्ता मे 'कृष्णदास की वार्ता', प्रसग २ का 'भाव'
(२) वही ,, ,, ,, , प्रसग २

आचार्यत्व का विवाद—जैसा पहिले लिखा गया है, श्री गोपीनाथ जी का निधन होने के कई वर्ष बाद तक भी श्री विट्ठलनाथ जी ने अपने को पुष्टि सम्प्रदाय का आचार्य घोषित नही किया था, यद्यपि सम्प्रदाय के अधिकाश व्यक्तियो ने उनको ही आचार्य मान लिया था और वही सम्प्रदाय की देख-भाल भी कर रहे थे। यह बात गोपीनाथ जी की विधवा पत्नी को असह्य थी। वे अपने बालक पुत्र पुरुषोत्तम जी को ही आचार्य-पद का वास्तविक अधिकारी मानती थी और कृष्णदास उनका समर्थन कर रहे थे। चूँकि विट्ठलनाथ जी अत्यत लोकप्रिय और आचार्य-पद के सर्वथा योग्य थे, अत गोपीनाथ जी की पत्नी को अपने उद्देश्य मे सफलता नही मिल रही थी।

गोपीनाथ जी अपने आचार्यत्व-काल मे भी उतने लोकप्रिय नही रहे थे, जितने कि तब विट्ठलनाथ जी थे। पुष्टि सम्प्रदाय के आचार्य होते हुए भी गोपीनाथ जी का आकर्षण सम्प्रदाय के सर्वोपरि उपास्य देव श्रीनाथ जी अपेक्षा जगन्नाथ जी के प्रति विशेष था। वे श्री जगन्नाथ जी के दर्शनार्थ बार-बार जगदीशपुरी जाया करते थे, और अत मे वहाँ पर ही उनका देहावसान हुआ था। विट्ठलनाथ जी बचपन से ही श्रीनाथ जी के परम भक्त थे। वे गोवर्धन मे महीनो रह कर श्रीनाथ जी की सेवा-पूजा किया करते थे। 'वार्ता' से ज्ञात होता है, वल्लभाचार्य जी की विद्यमानता मे भी गोपीनाथ जी के साप्रदायिक विचार अपने पिता जी के सिद्धातो के पूर्णतया अनुकूल नही थे। वल्लभाचार्य जी ने 'पुष्टिमार्ग' का प्रचार किया था, किंतु गोपीनाथ जी 'मर्यादामार्गीय' कहलाते थे[1]। सम्प्रदाय मे यह भी मान्यता चल पडी थी कि विट्ठलनाथ जी कृष्ण के और गोपीनाथ जी बलदेव के अवतार हैं[2], अत साम्प्रदायिक व्यक्तियो का आकर्षण गोपीनाथ जी की अपेक्षा विट्ठलनाथ जी की ओर विशेष रहता था। वार्ता' मे ऐसे प्रसगो का भी उल्लेख है, जब कि पुष्टि सप्रदाय के शिष्यो ने गोपीनाथ जी का चरणोदक न लेकर विट्ठलनाथ जी का लिया था[3]। उस समय जो पुष्टि सप्रदाय के शिष्य बनते थे, वे अपनी दीक्षा प्राय विट्ठलनाथ जी से ही लेते थे, गोपीनाथ जी से नही। यही कारण है कि अष्टछाप के तीन भक्त-कवि गोविंदस्वामी, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास गोपीनाथ जी के आचार्य-गद्दी पर रहते हुए भी विट्ठलनाथ जी से ही दीक्षित हुए थे। इन सब बातो से सिद्ध होता है कि विट्ठलनाथ जी अत्यत लोकप्रिय और पुष्टि-सम्प्रदाय के शिष्य-सेवको मे अत्यत आदरणीय थे।

जब तक पुरुषोत्तम जी अल्प-वयस्क थे, तब तक उनकी माता भी चुप रही थी। स १६०५ मे जब पुरुषोत्तम जी को १८वाँ वर्ष लगा, तब उनकी माता जी ने उन्हे पुष्टि सम्प्रदाय की आचार्य गद्दी पर बैठाने का आदोलन उठाया। उनको विट्ठलनाथ जी के समक्ष तो अपना मतव्य प्रकट करने का साहस नही हुआ, किंतु वे अपने कतिपय समर्थको द्वारा अपने उद्देश्य को सफल करने की चेष्टा करने लगी। विट्ठलनाथ जी की योग्यता और लोकप्रियता के कारण उनके विरुद्ध पुरुषोत्तम जी का समर्थन करने वाला कोई वरिष्ट व्यक्ति मिलना कठिन था, किंतु दैवयोग से उस समय एक ऐसी घटना हुई, जिसके कारण गोपीनाथ जी की विधवा पत्नी को पुरुषोत्तम जी का पक्ष समर्थन करने के लिए श्रीनाथ जी के मदिर के अधिकारी कृष्णदास जैसे प्रभावशाली व्यक्ति मिल गये। वह घटना पुष्टि सप्रदाय मे 'गगाबाई का प्रसग' के नाम से प्रसिद्ध है।

---

(१) चौ वै की वार्ता में 'देवा कपूर खत्री' और 'प्रभुदास जलोटा' की वार्ताओ का 'भाव'
(२) वही ,, 'देवा कपूर खत्री' और 'नारायणदास भाट' की वार्ताओ का 'भाव'
(३) वही ,, 'दामोदरदास हरसानी की वार्ता', प्रसग ५ का 'भाव'

गगाबाई का प्रसंग—जिस समय का यह वृत्तात लिखा जा रहा है, उस समय गगाबाई नामक एक वैष्णव महिला का श्रीनाथ जी के मदिर मे अधिक आना-जाना रहता था। गगाबाई श्रीनाथ जी की सेविका और बल्लभाचार्य जी की शिष्या थी। वह एक धनाढ्य महिला थी और उसके द्रव्य को लेने वाला कोई उत्तराधिकारी नही था। उन दिनो श्रीनाथ जी की परिवर्तित सेवा-प्रणाली के कारण कृष्णदास को मदिर के व्यय के लिए द्रव्य की अधिक आवश्यकता रहती थी, अत उन्होने गगाबाई से घनिष्टता बढा कर उसके द्रव्य को श्रीनाथ जी के उपयोग मे लेना आरभ कर दिया। गगाबाई कृष्णदास की यहाँ तक कृपापात्र हुई कि श्रीनाथ जी के भोग के समय मे भी उसे वहाँ से हटाने का किसी को साहस नही होता था; यद्यपि उस समय उसका वहाँ रहना पुष्टि सप्रदाय की सेवा—विधि के विरुद्ध था। श्री विट्ठलनाथ जी गगाबाई की अनधिकार उस चेष्टा से असतुष्ट थे, किंतु मदिर के अधिकारी होने के कारण वे कृष्णदास से इस सबध मे कुछ नही कहते थे।

गगाबाई पर अधिकारी कृष्णदास की इस प्रकार अनुचित कृपा बहुत से व्यक्तियो के हृदय मे सदेह उत्पन्न करने लगी। कई दुर्बुद्धि व्यक्तियो ने यहाँ तक कह डाला कि अधिकारी कृष्णदास और गगाबाई का अनुचित सबध है। ऐसे ही व्यक्तियो ने यह शिकायत विट्ठलनाथ जी के पास भी पहुँचाई। विट्ठलनाथ जी तो पहले से ही गगाबाई से असतुष्ट थे, अत उन्होने कृष्णदास से इस विषय मे कुछ पूछ-ताछ किये बिना ही गगाबाई का श्रीनाथ जी के मदिर आना-जाना बद करा दिया।

विट्ठलनाथ जी की उस आज्ञा के कारण अधिकारी कृष्णदास उनसे बडे रुष्ट हुए। बगालियो को सेवा—पूजा से हटाने के कारण उनका प्रभाव बहुत बढ गया था और वे इतने निरकुश हो गये थे कि मदिर की प्रबध—व्यवस्था मे किसी का भी हस्तक्षेप सहन करने के लिए तैयार नही थे। उसके साथ ही वे विट्ठलनाथ जी की अपेक्षा पुरुषोत्तम जी को बल्लभाचार्य जी की गद्दी का वास्तविक उत्तराधिकारी मानते थे। उक्त कारणो से उन्होने विट्ठलनाथ जी की गगाबाई सबधी आज्ञा की ही अवहेलना नही की, बल्कि स्वय उन पर ही श्रीनाथ जी के मदिर मे प्रवेश करने की पाबदी लगा दी।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' मे उस दुर्घटना का कारण गगाबाई को तो बतलाया है, किंतु उसमे कृष्णदास से उसके 'अनुचित सबध' अथवा 'पारिवारिक कलह' या 'आचार्यत्व के विवाद' के सबध मे कुछ नही लिखा गया है। उसमे केवल इतना ही लिखा मिलता है कि एक दिन श्रीनाथ जी के राजभोग की सामग्री पर गगाबाई की दृष्टि पड गई, अत उस सामग्री को श्रीनाथ जी ने स्वीकार नही किया। जब यह बात विट्ठलनाथ जी को ज्ञात हुई, तो उन्होने खेद पूर्वक अधिकारी कृष्णदास से कहा,—"तुम्हारे ही कारण आज श्रीनाथ जी को कष्ट हुआ है।" उनके उक्त शब्दो से रुष्ट होकर कृष्णदास ने उनका श्रीनाथ जी के मदिर मे आना बद करा दिया। लीला भावना वाली चौरासी वार्ता मे 'गगाबाई की दृष्टि' वाली बात तो लिखी गई है, किंतु उसकी सगति पुरुषोत्तम जी के उत्तराधिकार से भी मिलाई गई है[1]। वास्तव मे उस दुर्घटना का मुख्य कारण लोकापवाद और आचार्यत्व का विवाद था, 'गगाबाई की दृष्टि' वाली बात तो आनुषगिक और भावनात्मक मात्र है।

---

(१) लीला भावना वाली चौ वै की वार्ता मे 'कृष्णदास की वार्ता', प्रसग ७

विप्रयोग—श्रीनाथ जी की ड्योढी बंद किये जाने से विट्ठलनाथ जी को हार्दिक क्लेश हुआ, किंतु उन्होंने अपने पिता द्वारा नियुक्त अधिकारी की आज्ञा का उल्लंघन करने की कोई चेष्टा नहीं की। वे गोवर्धन से हट कर उसके निकटवर्ती परासोली ग्राम स्थित चन्द्रसरोवर पर रहने लगे। वे छै महीने तक श्रीनाथ जी के दर्शन से वंचित रहे थे, किंतु उन्होंने अधिकारी कृष्णदास की आज्ञा के विरुद्ध मंदिर में प्रवेश करने की चेष्टा नहीं की। पुष्टि सम्प्रदाय के किसी व्यक्ति को भी अधिकारी की उस अनुचित आज्ञा के विरोध करने का साहस नहीं हुआ। उक्त घटना से विट्ठलनाथ जी की शांत प्रकृति और कृष्णदास के प्रभाव का ज्ञान भली भाँति हो सकता है।

श्रीनाथ जी के दर्शन से वंचित होने पर विट्ठलनाथ जी ने उस समय 'विप्रयोग' किया था। वे अन्न का त्याग कर केवल दुग्धाहार करते हुए परासोली-चन्द्रसरोवर पर रहे थे। उस काल में श्री वल्लभाचार्य जी के वरिष्ट शिष्य दामोदरदास हरसानी और रामदास मुखिया प्राय: विट्ठलनाथ जी से मिलने के लिए आते रहते थे। विट्ठलनाथ जी भागवत का पाठ करने के अनंतर हरसानी जी से श्री वल्लभाचार्य जी की जीवनी और लीला-भावना के प्रसंगों को सुना करते थे। हरसानी जी द्वारा कथित वे प्रसंग 'महाप्रभु जी की प्राकट्य वार्ता' के प्रारंभिक अंश 'श्री गुसाईं जी और दामोदरदास जी को संवाद' के रूप में प्राप्त हैं[1]। उक्त 'संवाद' की हस्तप्रति काकरोली के सरस्वती भंडार (बंध सं ९३-४) में सुरक्षित है।

श्रीनाथ जी के वियोग में विह्वल होकर विट्ठलनाथ जी ने उस काल में अपनी आंतरिक वेदना की जो काव्यात्मक अभिव्यक्ति की थी, वह पुष्टि संप्रदायी साहित्य में 'विज्ञप्ति' के नाम से उपलब्ध है। 'वार्ता' का उल्लेख है, विट्ठलनाथ जी 'विज्ञप्ति' के श्लोकों को कागज पर लिख कर उन्हें फूल-माला में छिपा कर रामदास मुखिया के द्वारा श्रीनाथ जी की सेवा में भेजा करते थे[2]। 'विज्ञप्ति' के श्लोकों की एक-एक पंक्ति अतिशय दैन्य, भगवत्-विप्रयोग और आत्म-निवेदन की भावना से भरी हुई है। उदाहरणार्थ,—'ईदृश कोऽपराधोऽस्ति, हृदयेश न वेद्‌म्यहम्। येतान्तराय एतावान् श्रीमुखावलोकने मम॥'—अर्थात्, हे हृदयेश्वर! मेरे बेजाने मुझ से ऐसा कौन सा अपराध हो गया, जिससे मुझे आपके श्रीमुख के दर्शन करने में भी बाधा उत्पन्न हो गई है!'

विट्ठलनाथ जी की क्षमाशीलता और कृष्णदास का पश्चात्ताप—जब श्री विट्ठलनाथ जी को विप्रयोग करते हुए छै महीने बीत गये, और कृष्णदास ने अपनी आज्ञा वापिस नहीं ली, तब विट्ठलनाथ जी के ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी ने मथुरा के हाकिम के पास इसकी फरियाद की। हाकिम ने कृष्णदास को गिरफ्तार कर कारागार में डाल दिया, और विट्ठलनाथ जी को श्रीनाथ जी के मंदिर में प्रवेश करने की राजाज्ञा प्रदान की। गिरिधर जी राजकीय आदेश को लेकर परासोली गये और अपने पिता जी से श्रीनाथ जी के मंदिर में प्रवेश करने को कहा। इस पर विट्ठलनाथ जी ने उत्तर दिया,—'अधिकारी कृष्णदास की आज्ञा बिना हम मंदिर में नहीं जावेंगे। गिरिधर जी ने कहा,—'कृष्णदास तो अपने कर्म के प्रायश्चित स्वरूप मथुरा के कारागार में है।' कृष्णदास की उस विपत्ति के समाचार से विट्ठलनाथ जी को बड़ा दु:ख हुआ। उन्होंने कहा, जब तक अधिकारी कृष्णदास बंधनमुक्त नहीं होंगे, तब तक वे अन्न-जल भी ग्रहण नहीं करेंगे। उनकी उस प्रतिज्ञा को सुन कर मथुरा के हाकिम ने कृष्णदास को कारागार से मुक्त करा दिया और विट्ठलनाथ जी ने

(१) लेखक कृत 'अष्टछाप-परिचय', पृष्ठ २२

(२) लीला भावना वाली चौ वैं. की वार्ता में 'कृष्णदास की वार्ता', प्रसंग ७

उनका अधिकारी के रूप मे ही स्वागत-सत्कार किया। विट्ठलनाथ जी की उस अलौकिक क्षमा-शीलता और अपूर्व उदारता का कृष्णदास पर बडा प्रभाव पडा। उन्होने अपने कृत्य पर पश्चात्ताप करते हुए विट्ठलनाथ जी से क्षमा-याचना ही नही की, प्रत्युत वे उसी दिन से उनके अनन्य भक्त हो गये। कृष्णदास का वह परिवर्तित भाव उनके कई पदो मे व्यक्त हुआ है[1]।

'वार्ता' साहित्य के आधार पर यह समझा जा सकता है कि आचार्यत्व के विवाद सबधी पारिवारिक कलह का सूत्रपात स. १६०२ मे हुआ था। गगावाई के प्रसग को लेकर जब कृष्णदास का विट्ठलनाथ जी से मतभेद हुआ, तब स. १६०५ मे उक्त विवाद ने उग्र रूप धारण किया था। तभी स. १६०५ की पौष शु० ६ से स. १६०६ की आषाढ शु० ५ तक के छै माह मे विट्ठलनाथ जी के लिए श्रीनाथ जी की ड्यौढी बद रही थी। उसी काल मे विट्ठलनाथ जी ने विप्रयोग किया था[2]। स १६०६ के आषाढ कृष्ण पक्ष मे दैवयोग से पुरुषोत्तम जी का असामयिक देहावसान हो गया था। इस प्रकार आचार्यत्व के विवाद, पारिवारिक कलह और कृष्णदास से मतभेद होने के कारण जो अप्रिय घटना हुई थी, वह पुरुषोत्तम जी के निधन, राजकीय हस्तक्षेप और विट्ठलनाथ जी की क्षमाशीलता के फल स्वरूप कृष्णदास के परिवर्तित दृष्टिकोण से समाप्त हुई थी। पुरुषोत्तम जी के निधन–दिवस से १३ दिन पश्चात् स १६०६ की आषाढ शु. ५ को विट्ठलनाथ जी ने पुन मदिर मे प्रवेश कर श्रीनाथ जी के दर्शन किये थे।

आचार्यत्व-ग्रहण और सांप्रदायिक उन्नति—स १६०७ मे विट्ठलनाथ जी ने विधि-पूर्वक आचार्यत्व ग्रहण किया था। उसके उपरात वे पुष्टि सप्रदाय की सागोपाग उन्नति करने मे लग गये थे। गोपीनाथ जी की विधवा पत्नी निराश होकर अपनी निजी सपत्ति और वल्लभाचार्य जी एव गोपीनाथ जी के ग्रथो की अनेक हस्त प्रतियाँ अपने साथ लेकर दक्षिण प्रदेश स्थित अपने पितृालय चली गई थी[3]। वह अमूल्य ग्रथ-राशि वहाँ अस्त-व्यस्त होकर अप्राप्य हो गई थी।

श्री वल्लभाचार्य जी के तिरोधान के समय विट्ठलनाथ जी किशोरावस्था के थे, अतः उन्हे सप्रदायी भक्ति और सेवा-भावना का समस्त तत्व उन्हे स्वय आचार्य जी से जानने का [illegible] अवसर नही मिला था। वल्लभाचार्य जी ने साप्रदायिक तत्व की शिक्षा विशेष रूप से अपने प्रमुख शिष्य दामोदरदास हरसानी को दी थी। विट्ठलनाथ जी ने अपनी माता जी के कहने अनुसार दामोदरदास जी से पुष्टि संप्रदाय की सेवा-भक्ति का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया था[4]। इसके अतिरिक्त अच्युतदास से उन्होने सप्रदाय की लीला-भावना की जानकारी उपलब्ध की थी[5]।

---

(१) १. ताही को सिर नाइयै, जो श्री वल्लभ-सुत पद-रज रति होहि।
२. परम कृपालु श्री वल्लभनंदन, करत कृपा निज हाथ दै माथै।
३. बलिहारी विट्ठलेश की, जिन जगत उद्धार्यौ।
—कृष्णदास पद सग्रह (कांकरोली), सं. [illegible] और नि. की. सं. [illegible]

(२) १. लीला भावना वाली चौ. वै. की वार्ता मे 'कृष्णदास की वार्ता', प्रसंग [illegible]
२ लेखक कृत 'अष्टछाप-परिचय, पृष्ठ [illegible]

(३) यदुनाथ जी कृत 'वल्लभ दिग्विजय'

(४) चौ वै. की वार्ता मे 'दामोदरदास हरसानी की वार्ता', प्रसंग [illegible]

(५) चौ. वै की वार्ता में 'अच्युतदास सनोढिया की वार्ता', प्रसंग [illegible]

विट्ठलनाथ जी ने आरभ से ही इस बात का अनुभव किया कि पुष्टि सप्रदाय की सागोपाग उन्नति के लिए उसकी सेवा-भावना का क्रियात्मक रूप मे विस्तार होना आवश्यक है। इसके लिए उन्होने श्रीनाथ जी की सेवा के अतर्गत शृ गार, भोग एव राग के विस्तार करने की एक योजना बनाई और उसे कार्यान्वित करने का भरपूर प्रयास किया। 'राग' के विस्तार का घनिष्ट सबध 'कीर्तन' से था, जिसे समुचित रूप मे सम्पन्न करने के लिए उन्होने आचार्यत्व-ग्रहण करने से पहिले ही 'अष्टछाप' की स्थापना कर दी थी। इसके सबध मे विस्तार से आगे लिखा गया है।

ब्रज का स्थायी निवास—सर्वश्री वल्लभाचार्य जी और गोपीनाथ जी का ब्रज से घनिष्ट सबध होते हुए भी उन्होने स्थायी रूप से यहाँ रहने का विचार नही किया था। विट्ठलनाथ जी उनके समय से ही ब्रज मे अधिक रहा करते थे। उन्हे गोवर्धन और गोकुल मे निवास करना बडा आनददायक जान पडता था। आचार्यत्व ग्रहण करने से पहिले ही उन्होने अपने अनेक शिष्यो की तरह अष्टछाप के तीन महानुभाव सर्वश्री गोविदस्वामी, छीतस्वामी और नददास को गोकुल मे ही पुष्टि सप्रदाय की दीक्षा दी थी। फिर भी उस काल मे उनका स्थायी निवास अडैल मे था। आचार्यत्व ग्रहण करने के पश्चात् वे स्थायी रूप से ब्रज मे रहने की योजना बनाने लगे।

मुगल सम्राट अकबर का शासन आरभ होने से पहिले हिंदू धर्माचार्यों का ब्रज मे निवास करना सुविधाजनक नही था, किंतु अकबर के शासन काल मे स्थिति बदल गई थी। स १६१६ मे सम्राट अकबर ने बैरमखाँ से स्वतत्र होकर राज्य शासन का समस्त प्रबध अपने हाथ मे ले लिया था, और ब्रज प्रदेश के प्रमुख नगर आगरा मे राजधानी कायम कर राजकीय सुव्यवस्था एव धार्मिक उदारता के साथ शासन करना आरभ किया था। उसी काल मे श्री विट्ठलनाथ जी ने अडैल से हट कर स्थायी रूप से ब्रज मे निवास करने का निश्चय किया। ब्रज मे आने से पहिले वे कुछ समय तक गोडवाना की रानी दुर्गावती के आग्रह से उसकी राजधानी गढा (म प्र) मे रहे थे। गढा जाते हुए वे मार्ग मे राजा रामचद्र बघेला की राजधानी मे भी रुके थे। रामचद्र बघेला ने उनका बडा सत्कार किया था। वह राजा सगीत कला का बडा प्रेमी था। सगीत-सम्राट तानसेन अकबरी दरबार मे जाने से पहिले उसी राजा के आश्रय मे रहा था और वहाँ पर ही उसका विट्ठलनाथ जी से परिचय हुआ था। विट्ठलनाथ जी वहाँ से रानी दुर्गावती की राजधानी गढा मे गये। उस समय उनकी प्रथम पत्नी का देहात हो चुका था। रानी दुर्गावती के आग्रह से स १६२० की वैशाख शुक्ला ३ (अक्षय तृतीया) को उन्होने एक सजातीय तैलग भट्ट की पुत्री पद्मावती जी के साथ अपना द्वितीय विवाह किया था। स १६२१ मे जब रानी दुर्गावती का मुगल सम्राट अकबर से भीषण युद्ध छिड जाने की आशका हुई, तब विट्ठलनाथ जी वहाँ से अडैल होते हुए स्थायी रूप से ब्रज-वास करने के विचार से मथुरा आ गये थे।

श्री विट्ठलनाथ जी स १६२३ मे मथुरा आये थे। उन्होने यहाँ पर रानी दुर्गावती द्वारा निर्मित एक बडे भवन मे सपरिवार निवास किया था। रानी ने उक्त भवन मे विट्ठलनाथ जी और उनके छहो पुत्रो के लिए सात घर बनवाये थे, जिनके कारण वह 'सतघरा' कहलाता था[1]। इस समय वह प्राचीन भवन तो नही रहा, किंतु उसके स्थान पर एक दूसरा छोटा मकान बना हुआ है। मथुरा मे जहाँ वह भवन था, उसके और-पास का मुहल्ला अब भी 'सतघरा' के नाम से प्रसिद्ध है।

---

(१) भावसिंध की वार्ता, पृष्ठ २७३

'सतघरा' मे श्रीनाथ जी—श्री विट्ठलनाथ जी मथुरा के 'सतघरा' मे अपने पारिवारिक जनो को छोड कर आप स १६२३ मे गुजरात की यात्रा को चले गये थे। पीछे से उनके ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी ने कुछ समय के लिए श्रीनाथ जी के स्वरूप को गोवर्धन से लाकर उसी सतघरा भवन मे विराजमान किया था। उस समय श्रीनाथ जी के साथ गोवर्धन से सूरदासादि भक्तगण भी मथुरा आये थे। उसी स्थान पर वृदावन के गौडीय गोस्वामियो ने श्रीनाथ जी के दर्शन किये थे। सूरदास और अकबर की भेंट भी सभवत. उसी काल मे मथुरा मे हुई थी।

वार्ता साहित्य और साप्रदायिक अनुश्रुति से ज्ञात होता है कि श्रीनाथ जी स १६२३ की फाल्गुन कृ ७ को मथुरा पधारे और यहाँ के 'सतघरा' मे २ माह २२ दिन अर्थात् स. १६२४ की वैशाख शु १३ तक विराजमान रहे थे। उसके पश्चात् वैशाख शु १४ (नृसिंह जयती) को पुन उन्हे गिरिराज के मदिर मे पधराया गया था। उस काल मे श्रीनाथ जी के उत्सवो की नित्य नई झाँकियाँ मथुरा मे होती रही थी। उस प्रकार का धार्मिक आयोजन मथुरा के मुसलमानी शासन मे सभवत' प्रथम वार हुआ था, जिसका श्रेय सम्राट अकवर की उदार धार्मिक नीति को है।

सम्राट अकवर से सपर्क—राज्य शासन सँभालने के पश्चात् सम्राट अकवर स १६२० मे प्रथम वार मथुरा आया था। उस समय यहाँ पर यात्रियो से 'तीर्थ-यात्रा कर' और स्थायी रूप से निवास करने वाले हिंदुओ से 'जजिया कर' लिया जाता था। इसी प्रकार के कई अमानवीय कर यहाँ सुलतानी काल से लगते आ रहे थे। सम्राट अकवर ने स १६२० मे 'तीर्थ-यात्रा कर' और स १६२१ मे 'जजिया कर' हटा दिया, जिससे व्रजवासियो ने सुख और सतोष की श्वास ली थी। उसी काल मे सम्राट ने यहाँ वल्लभ सप्रदाय और श्री विट्ठलनाथ जी के सबध मे भी सुना होगा। जव विट्ठलनाथ जी स १६२३ मे मथुरा आकर वस गये, तव उन्होने सम्राट अकवर से सपर्क स्थापित किया। श्री विट्ठलनाथ जी के आकर्षक व्यक्तित्व, प्रगाढ पाडित्य और धार्मिक जीवन से सम्राट अत्यत प्रभावित हुआ था। उसी समय अकवर के अनेक उच्च पदाधिकारी और दरवारी गण भी विट्ठलनाथ जी के सपर्क मे आये थे। सम्राट अकवर का प्रोत्साहन पुष्टि सप्रदाय की उन्नति मे वडा सहायक सिद्ध हुआ था।

गोकुल मे वस्ती और मदिरो का निर्माण—श्री विट्ठलनाथ जी अपने परिवार सहित मथुरा मे रह तो रहे थे, किंतु नागरिक अशाति के कारण वहाँ का रहना उन्हे रुचिकर ज्ञात नही होता था। वे व्रज के शात वातावरण मे निवास करना चाहते थे। मथुरा के निकटवर्ती गोकुल नामक स्थान वल्लभाचार्य जी के समय से ही पुष्टि सप्रदाय का मुख्य स्थान हो गया था और गोवर्धन के पश्चात् इस सप्रदाय का वही प्रमुख केन्द्र माना जाता था। श्री विट्ठलनाथ जी भी वहाँ प्राय रहा करते थे।

सवत् १६२८ मे उन्होने स्थायी रूप से गोकुल मे वसने का आयोजन किया। इसके लिए सम्राट अकवर से सुविधा प्राप्त कर उन्होने मथुरा के सामने यमुना नदी के उस पार पर्याप्त भूमि उपलब्ध की और उस पर गोकुल की वर्तमान वस्ती का निर्माण कराया। सर्व प्रथम वहाँ एक हवेली तथा एक मदिर बनाये गये थे। 'वार्ता' मे लिखा है, पादरेन्द्रदास ने फाल्गुन कृ ८ को डेढ प्रहर रात्रि गये मदिर की नींव खोदी थी। पादरेन्द्रदास महावन निवासी एक कुम्हार थे। उन्होंने वल्लभाचार्य जी से दीक्षा ली थी; किन्तु वे विट्ठलनाथ जी के समय तक विद्यमान रहे थे। उन्होंने आचार्य जी और विट्ठलनाथ जी की यात्राओ मे उन दोनो की बडी सेवा की थी। वे उनके

शक्तिशाली थे कि यात्रा मे अकेले ही इतना सामान लेकर चलते थे, जितना कई व्यक्तियो द्वारा भी ले चलना कठिन होता था। उन्होने शुभ मुहूर्त के निर्वाह के लिए एक रात्रि मे अकेले ही गोकुल के मदिर की पूरी नीव खोद डाली थी[1]।

स १६२८ मे गोकुल मे अनेक मकान और श्री नवनीतप्रिय जी आदि ठाकुरों के कई मदिर बन गये थे। तभी से श्री विट्ठलनाथ जी अपने कुटुब, सजातीय बधु तथा शिष्य-सेवको के साथ वहाँ रहने लगे थे। उनके वहां बस जाने से ब्रज की धार्मिक उन्नति बडी तीव्र गति से होने लगी थी। विट्ठलनाथ जी के सबसे छोटे पुत्र घनश्याम जी का जन्म गोकुल मे ही स १६२८ की मार्गशीर्ष कृ० १३ को हुआ था[2]। 'वार्ता' से ज्ञात होता है, गोकुल के मदिरो और वहाँ की साप्रदायिक हवेलियो की आवश्यक व्यवस्था चापाभाई अधिकारी और शकरभाई कोठारी करते थे[3]। उस समय वहाँ की प्रबध-व्यवस्था पर जो व्यय होता था, उसकी पूर्ति नही हो पाती थी, जिससे प्राय कर्जा बना रहता था। उसके लिए विट्ठलनाथ जी को बार-बार यात्राएँ करनी पडती थी। फिर भी किससे द्रव्य लेना चाहिए और किससे नही, इस सबध मे वे बडे सावधान रहते थे। 'वार्ता' मे लिखा है, सम्राट अकबर के प्रिय दरबारी राजा बीरबल ने कर्ज चुकाने के लिए श्री विट्ठलनाथ जी को पर्याप्त द्रव्य देना चाहा था, किंतु उसकी सूचना मिलते ही वे बीरबल से बिना कहे-सुने ही चले गये थे, ताकि उसका द्रव्य न लेना पडे[4]।

गोकुल मे श्री विट्ठलनाथ जी के निवास स्थान की चौकीदारी विष्णुदास छीपा करते थे। विष्णुदास श्री वल्लभाचार्य के शिष्य थे, किंतु वे दीर्घजीवी हुए थे। 'अष्टछाप' की स्थापना के समय वे कदाचित् गोवर्धन मे श्रीनाथ जी का कीर्तन करते थे, क्यो कि उनका नाम अष्टसखाओ मे आया है[5]। बाद मे नददास के आने पर उनको तो 'अष्टछाप' मे सम्मिलित किया गया और विष्णुदास छीपा को गोकुल भेज दिया गया था। तब तक वे अत्यत वृद्ध हो चुके थे, अत. उन्हें श्री विट्ठलनाथ जी का ड्योढीवान नियुक्त किया गया था[6]। 'वार्ता मे लिखा है, यदि कोई विवादी पडित विट्ठलनाथ जी से शास्त्रार्थ करने को आता था, तो उसे ड्योढी पर विष्णुदास ही निरुत्तर कर देते थे, ताकि विट्ठलनाथ जी को उससे शास्त्रार्थ करने मे व्यर्थ श्रम न करना पडे[7]।

ब्रज में मंदिरों का निर्माण—सुलतानो के शासन-काल मे हिंदुओ को अपने मदिर-देवालय बनाने की आज्ञा नही थी। सम्राट अकबर ने अपने शासन-काल मे उस पुरानी आज्ञा को रद्द कर दिया था। तभी ब्रज मे स्वतत्रता पूर्वक मदिर-देवालय बनाये जा सके थे। पुष्टि सप्रदाय

---

(१) चौ वै. की वार्ता मे 'जादवेन्द्रदास कुम्हार की वार्ता', प्रसग १ और २

(२) खटऋतु वार्ता के अतर्गत 'श्री वल्लभ कुल का प्रागट्य', पृष्ठ ४६

(३) दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता मे 'भाइला कोठारी की वार्ता' और चौ. वै. की वार्ता मे 'सतदास चोपडा की वार्ता'

(४) दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता मे वार्ता सं. १० पर 'भाइला कोठारी की वार्ता और वार्ता स २०८ पर 'चापाभाई क्षत्री की वार्ता'

(५) 'श्री गोबर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता', पृष्ठ २७ पर श्री द्वारकेश जी का छप्पय

(६) अष्टछाप-परिचय, पृष्ठ ३४

(७) चौ वै. की वार्ता मे 'विष्णुदास छीपा की वार्ता'

मुगल सम्राट अकबर

राजकीय वेश में गो० विट्ठलनाथ जी
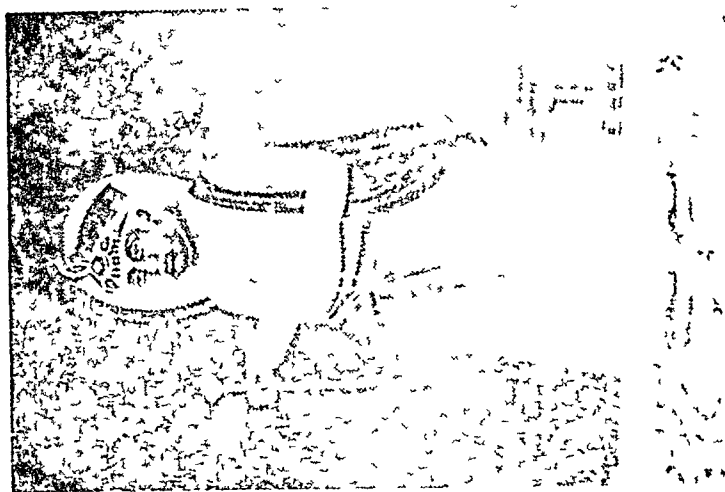
के मदिरो का निर्माण व्रज मे उससे पहिले ही आरभ हो गया था। गोवर्धन मे श्रीनाथ जी के मदिर का निर्माण तो सिकदर लोदी के शासन-काल स १५५६ मे ही हुआ था, किंतु उसकी पूर्ति सिकदर की मृत्यु के २ वर्ष पश्चात् स १५७६ मे हुई थी। गोकुल की बस्ती स १६२८ मे अकबर के शासन-काल मे वसी थी, तब तक व्रज की धार्मिक स्थिति बिलकुल बदल चुकी थी। फिर भी ऐसा नही मालूम होता है कि तब तक भी राजकीय आज्ञा के बिना मदिरो के निर्माण की पूरी छूट मिल गई हो।

फिर गोवर्धन और गोकुल मे पुष्टि सप्रदायी मदिर किस प्रकार बन सके थे, यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। इसका समाधान यह है, पुष्टि सप्रदाय के मदिर हिंदू देवालयो की वास्तु कला के अनुसार न होकर साधारण घरो के समान बनाये जाते थे। उनमे मदिर-देवालयो की भाँति शिखरादि नही होते थे और उनका बाहरी रूप भी प्राय घरो-हवेलियो जैसा होता था। उन्हे मदिर न कह कर 'हवेली' ही कहा जाता था। इसके कारण मुसलमान शासको को उनके मदिर होने का आभास नही हो पाता था।

अकबर के शासन-काल मे जब हिंदुओ के मदिर-निर्माण पर कोई खास पाबदी नही रही थी, तब भी पुष्टि सप्रदायी मदिर-देवालय पहिले की भाँति बिना शिखर के हवेलीनुमा बनाये जाते थे और उन्हे 'हवेली' ही कहा जाता था। आज-कल चाहे उनकी वास्तु कला मे कुछ परिवर्तन हो गया है, किंतु उन्हे अब भी प्राय हवेली ही कहा जाता है।

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, स. १६२८ मे जब विट्ठलनाथ जी ने गोकुल की नई वस्ती बसाई थी, तब वहाँ भी मदिर-हवेलियो का बनना आरभ हुआ था। स १६३० मे विट्ठलनाथ जी ने गोपालपुर (गोवर्धन) स्थित श्रीनाथ जी के मदिर मे 'शैया मदिर मणिकोठा' बनवाया था[1]। स १६३८ के लगभग गोकुल और गोपालपुर मे पुष्टि सप्रदाय के उपास्य सातो स्वरूपो के मदिर बन गये थे, क्यो कि उनके बाद ही श्री विट्ठलनाथ जी ने उनके सम्मिलित रूप मे अन्नकूट और डोल के उत्सव किये थे[2]। उसके पश्चात् विट्ठलनाथ जी के सातो पुत्र उन स्वरूपो की पृथक्-पृथक् सेवा करने लगे थे। स १६४० मे विट्ठलनाथ जी ने गोकुल मे छप्पनभोग का वृहत् उत्सव किया था, जिसमे गोकुल-गोपालपुर के समस्त सेव्य स्वरूप (नवनिधि)पधराये गये थे[3]।

राजकीय सन्मान—वार्ता साहित्य और पुष्टि सप्रदाय के ऐतिहासिक उल्लेखो से ज्ञात होता है कि मुगल सम्राट अकबर श्री विट्ठलनाथ जी का बडा आदर-सन्मान करता था। उसने विट्ठलनाथ जी को राजकीय सुविधाएँ देने के लिए कई पट्टे-परवाने और फरमान जारी किये थे। सम्राट के अतिरिक्त जिन अन्य उच्च पदस्थ व्यक्तियो ने उसी काल मे फरमानो द्वारा विट्ठलनाथ जी को सन्मानित किया था, उनमे अलीअकबर की पुत्री हमीदाबानु बेगम और सेनानायक मुरीदखाँ के नाम उल्लेखनीय है[4]। वे सभी पट्टे फरमानादि फारसी भाषा मे है। पुष्टि सप्रदायी विद्वानो ने उन्हे अगरेजी, गुजराती और हिंदी भाषाओ मे अनुवादित कर विविध पत्रो तथा ग्रथो मे प्रकाशित किया है।

---

(१) **वल्लभ कुल को प्राकट्य (खटऋतु वार्ता)**, पृष्ठ ५८
(२) **वार्ता साहित्यः एक वृहत् अध्ययन**, पृष्ठ ५३५
(३) वही ,, , पृष्ठ ३०३
(४) **मोगल बादशाही फरमानो (पुष्टिमार्गनां ५०० वर्ष)**, पृष्ठ ७४-७७

एक फरमान सं १६३४ (सन् ६८५ हिजरी) का है, जिसमें श्री विट्ठलनाथ जी को निर्भय होकर गोकुल मे निवास करने की सुविधा प्रदान की गई है। उसके द्वारा सम्राट अकबर ने अपने कर्मचारियो तथा अन्य सभी व्यक्तियो को आदेश दिया है कि वे विट्ठलनाथ जी व उनके सेवको के साथ न तो किसी तरह की छेड-छाड (मुजाहमत) करे और न कभी कुछ माँगे[1]। 'वार्ता' से ज्ञात होता है, एक बार विट्ठलनाथ जी ने आगरा मे सूरत के एक साहूकार की पुत्र-वधू का बडी कुशलता पूर्वक न्याय कराया था[2]। उससे सम्राट अकबर बडा प्रसन्न हुआ था। ऐसा समझा जाता है, उसी समय उसने वह फरमान जारी किया था। इस प्रकार उक्त घटना सं १६३४ मे हुई थी। पुष्टि संप्रदाय मे यह अनुश्रुति बहुत प्रसिद्ध है कि उस न्याय से प्रसन्न होकर ही अकबर ने विट्ठलनाथ जी को 'गोसाई जी' का पद और न्यायाधीश के अधिकार प्रदान किये थे। विट्ठलनाथ जी का एक चित्र न्यायाधीश की राजकीय वेष-भूषा का प्राप्त भी होता है[3]। सम्राट से मानद (ऑनरेरी) न्यायाधीश के अधिकार प्राप्त कर गोसाई विट्ठलनाथ जी ने उस काल मे मथुरामडल की जनता का बडा हित-साधन किया था।

दो फरमान सं १६३८ (६८६ हिजरी) के है, जिनमे से एक सम्राट अकबर का और दूसरा बेगम हमीदाबानु का है। सम्राट ने उक्त फरमान द्वारा गोसाई जी की गायो को बिना रोक-टोक कही भी चरने की सुविधा प्रदान की है। हमीदाबानु के फरमान मे महावन के 'करोडी' एव 'अमलदारो' को आदेश दिया गया है कि वे विट्ठलनाथ जी की गायो को खालसा अथवा जागीर की किसी भी जमीन मे चरने से न रोकें[4]। सम्राट अकबर की धार्मिक नीति मे गोरक्षा की व्यवस्था बडी महत्त्वपूर्ण थी। उसके पूर्ववर्ती मुसलमान सुलतानो ने गो-वध की खुली छूट देकर हिंदुओ के हृदयो पर मार्मिक चोट की थी। अकबर ने गाय के महत्व और उसके प्रति हिंदुओं की धार्मिक भावना को स्वीकार करते हुए गो-रक्षा को प्रोत्साहन दिया था। उसने शाही फरमान जारी कर अपने राज्य मे सर्वत्र गो-हत्या बद करादी थी। यहाँ तक कि गो-हत्या करने वाले को उसने मृत्यु दड देने की व्यवस्था की थी। वह एक ऐसा कार्य था, जिससे उसने अपनी समस्त हिंदू जनता के मन को मोह लिया था। उस प्रकार की व्यवस्था कराने मे अकबर की हिंदू रानियो और उसके हिंदू दरबारियो के साथ ही साथ श्री विट्ठलनाथ जी जैसे उन धर्माचार्यो का भी हाथ था, जिन्होने अपने उच्च धार्मिक जीवन से सम्राट को प्रभावित किया था।

सम्राट अकबर फतहपुर सीकरी के शाही इबादतखाना (उपासना गृह) मे विभिन्न धर्मो के विद्वानो से धार्मिक परिचर्चा किया करता था। सं. १६३६ से सं १६३९ तक के ३ वर्षों में वहाँ पर धार्मिक विचार-विमर्श और वाद-विवाद का बडा जोर रहा था। उसी काल मे सम्राट ने गोवर्धन, गोकुल और वृदावन के कतिपय सत-महात्माओ और धार्मिक विद्वानो को भी विचार-विमर्श के लिए आमत्रित किया था। अष्टछाप के वयोवृद्ध भक्त-कवि कुभनदास उसी काल मे, सभवत सं १६३८ मे अनिच्छा पूर्वक फतहपुर-सीकरी गये थे[5]।

(१) पुष्टिमार्गना ५०० वर्ष, पृष्ठ ७४; वार्ता साहित्य, पृष्ठ ५११
(२) दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता, (द्वितीय खड), पृष्ठ ३३९–३४८
(३) अष्टछाप–परिचय, पृष्ठ ३७
(४) कांकरोली का इतिहास, पृ १०५, पुष्टिमार्गना ५०० वर्ष, पृ ७४, वार्ता साहित्य, पृ ५११
(५) अष्टछाप–परिचय, पृष्ठ १०२

स. १६३८ मे सम्राट अकबर ने फतहपुर सीकरी मे एक बडी धर्म परिषद् का आयोजन किया था। उसमे सम्मिलित होने के लिए उसने अनेक धार्मिक विद्वानो को बुलाया था। गोसाई विट्ठलनाथ जी भी उक्त परिषद् मे सम्मिलित हुए थे। उस समय उन्होने परिषद् मे उपस्थित विद्वानो के समक्ष अपना अपूर्व पाडित्य प्रदर्शित किया था। ऐसा समझा जाता है, उससे प्रसन्न होकर ही सम्राट ने और हमीदाबानु ने पूर्वोक्त फरमान जारी किये थे।

एक फरमान सिपहसालार मुरीदखाँ का स १६४६ (१५८६ हिजरी) का है। उसमे गोसाई जी की गायो के चरने की भूमि को कर मुक्त किया गया है। दो फरमान सम्राट अकबर के और है, जो स. १६५१ (१००१ हिजरी) के है। उनके द्वारा गोसाई विट्ठलनाथ जी और उनके वशजो को जतीपुरा गाँव जहाँ श्रीनाथ जी का मदिर था, और गोकुल गाँव जहाँ विट्ठलनाथ जी अपने परिवार सहित निवास करते थे, माफी मे दिये गये थे[1]। वे तीनो फरमान जिस काल मे जारी किये गये थे, तब तक गोसाई विट्ठलनाथ जी का तिरोधान हो चुका था; किंतु उनमे नाम उन्ही का है। उनमे यह आदेश दिया गया है कि गोसाई जी को दी हुई सुविधाएँ उनके वशजो को 'नसलन बाद नसल' बराबर मिलती रहेगी।

सम्राट अकबर द्वारा स १६५१ (हिजरी १००१) मे जारी किया गया एक ऐसा फरमान भी मिलता है, जिसमे ब्रजमडल के मथुरा, सहार, मानगुतेह और ओढ परगनाओ के 'करोडियो' एव जागीरदारो को आदेश दिया गया है कि वे उक्त परगनो एव उनके निकटस्थ स्थानो मे मोर पक्षी का शिकार न होने दे तथा जनता की गायो के चरने मे रुकाबट न डाले। वह फरमान उस समय जारी किया गया था, जब सम्राट अकबर लाहौर मे था[2]।

उक्त फरमानो द्वारा दी गई राजकीय सुविधाओ और जागीरो के अतिरिक्त सम्राट अकबर ने गोसाई विट्ठलनाथ जी को खिलअत दी थी तथा घोडा की सवारी, दमामा, इत्र और पखा आदि सब के प्रयोग करने का अधिकार दिया था। इस प्रकार के अधिकार मुसलमानी शासन मे सर्वोच्च श्रेणी के हिंदुओ को भी बडी कठिनता से मिलते थे। इन सब बातो से सिद्ध होता है कि सम्राट उनका कितना अधिक सन्मान करता था। सम्राट अकबर के अतिरिक्त उसके प्रमुख दरबारी राजा मानसिंह, राजा टोडरमल, राजा बीरबल और सगीत-सम्राट तानसेनादि भी गो विट्ठलनाथ के प्रति बडी श्रद्धा रखते थे।

यात्राएँ—गोसाई विट्ठलनाथ जी ने अपने पिता की भाँति कितनी ही यात्राएँ की थी। वे यात्राएँ पूर्व मे जगन्नाथ जी तक और पश्चिम मे द्वारका जी तक की गई थी। उन्होने कदाचित धुर दक्षिण की यात्रा नही की थी। जगन्नाथ जी और द्वारका जी की तो उन्होने कई बार यात्राएँ की थी। ऐसे उल्लेख मिलते है कि द्वारका की उन्होने ६ बार यात्रा की थी। उस काल मे यात्रा करना कितना श्रमसाध्य और सकटपूर्ण था, इसका अनुमान आजकल की स्थिति मे लगाना सभव नही है। आजकल रेल, मोटर और वायुयान के युग मे जो यात्राएँ घटो अथवा दो-एक दिन मे निर्विघ्नता पूर्वक हो जाती है, उनके लिए उस काल मे महीनो और कभी-कभी वर्षो लग जाते थे। फिर उन यात्राओ मे चोर, डाकू और लुटेरो का सदैव सकट रहता था, इसलिए उनके निर्विघ्न समाप्त होने के अवसर बहुत कम आते थे।

---

(१) पुष्टिमार्गनां ५०० वर्ष, पृष्ठ ७५-७६ और वार्ता साहित्य, पृष्ठ ५११

(२) मोगल बादशाही फरमानो (पुष्टिमार्गनां ५०० वर्ष), फरमान ४ (अ) पृष्ठ ७६

यात्रा के साधन और घुडसवारी—तत्कालीन यात्राएँ अधिकतर पैदल, बैलगाडी, घोडो अथवा रथो द्वारा की जाती थी। साधारण जन और साधु-सत प्राय पैदल यात्रा करते थे, किंतु समृद्धिशाली व्यक्ति अन्य साधनो का उपयोग करते थे। उस काल मे कई तरह से घोडो का बडा महत्व था। सेना के लिए तो घोडे अनिवार्य थे, किंतु अन्य कार्यों के लिए भी उनकी बडी उपयोगिता थी। समृद्धिशाली व्यक्ति सुदर घोडो का रखना अपनी प्रतिष्ठा और शान-शौकत के लिए आवश्यक समझते थे। घोडो के गुण-दोष की परीक्षा और उनके विविध रोगो के निदान एव चिकित्सा का एक शास्त्र ही बन गया था, जो 'शालिहोत्र' कहलाता था। शालिहोत्रियो और सुयोग्य साईसो की उस समय बडी कद्र होती थी।

पुष्टिसप्रदायी वार्ता साहित्य मे जहाँ अनेक विषयो का विस्तृत वर्णन हुआ है, वहाँ घोडो के सबध मे अपेक्षाकृत कम उल्लेख मिलते हैं, घुडसाल और साईसो के तो और भी कम हैं। इनसे समझा जा सकता है कि पुष्टि सप्रदायी आचार्य और भक्त जन घोडो का बहुत कम उपयोग करते थे। श्री वल्लभाचार्य जी ने अपनी देशव्यापी लबी-लबी यात्राएँ पैदल चल कर ही की थी, किंतु श्री विट्ठलनाथ जी ने अपनी यात्राओ मे घोडो का उपयोग किया होगा। 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के कई प्रसगो मे विट्ठलनाथ जी का सुदर घोडो के प्रति आकर्षण होने का उल्लेख मिलता है। उससे यह भी ज्ञात होता है कि अपने उत्तर जीवन मे वे घोडो पर चढ कर ही गोकुल से गिरिराज जी जाया करते थे, जब कि आरभिक काल मे वे प्राय पैदल जाते थे। उससे समझा जा सकता है, उन्होने अपनी लबी यात्राओ मे घोडो का उपयोग किया होगा।

'हृषिकेश क्षत्री की वार्ता' से ज्ञात होता है कि वह आगरा नगर मे रहता था और घोडो की दलाली करता था। उसकी विट्ठलनाथ जी के प्रति बडी श्रद्धा थी, अत वह चाहता था कि एक सुदर घोडा गोसाईं जी की भेट करे। उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी नही थी, जिसके कारण वह अपनी इच्छा को पूर्ण नही कर सका था। एक बार घोडो का एक बडा सौदागर दो हजार घोडे लेकर आगरा आया था। उन घोडो को हृषिकेश ने बिकवाया और उनकी दलाली मे उसे दो घोडे और दोसौ रुपया प्राप्त हुए थे। उन घोडो मे से एक 'अबलख रग' का बहुत सुदर घोडा था। उस पर मखमली जीन कस कर उसे विट्ठलनाथ जी की भेंट करने के लिए वह गोकुल ले गया। गोसाईं जी की इच्छा थी कि एक सुदर घोडे पर चढ कर वे गोकुल से गिरिराज जी जाया करे। उस इच्छा की पूर्ति होने का समाचार विष्णुदास पौरिया से सुन कर हृषिकेश से मिलने के लिए "श्री गुसाईं जी द्वार पर पधारे और घोडा को देखिके बहुत प्रसन्न भए[1]।" इसी वार्ता मे लिखा गया है, वह घोडा गोकुल के सामने यमुना पार 'मोहनपुर' मे बँधता था। उस काल मे मोहनपुर गाँव वर्तमान औरगाबाद के आस-पास होगा। गोसाईं विट्ठलनाथ जी गोकुल से नाव द्वारा मोहनपुर आते थे और वहाँ से घोडा पर चढ कर वे गिरिराज जी जाया करते थे[2]।

'बीरबल की बेटी की वार्ता' मे लिखा है, जब सम्राट अकबर विट्ठलनाथ जी से मिलने गोकुल गया, तब उसने उन्हे भेट देनी चाही थी। विट्ठलनाथ जी उसे अस्वीकार करते रहे। जब अकबर ने बहुत आग्रह किया, "तब श्री गुसाईं जी ने कह्यौ, जो भले, ऐसी तुम बहौत हठ करत हो,

---

(१) दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता (द्वितीय खंड) हृषिकेश क्षत्री की वार्ता, पृष्ठ २७१
(२) वही ,, ,, ,, , पृष्ठ २७०-२७४

तो एक घोडा ऐसौ होइ, जो घरी मे पाँच कोस चले । और बहौत सूधौ होइ, चाल बहौत सुदर होइ, जो असवारी मे चैन पावै[1] ।" सम्राट अकबर से किसी अन्य वस्तु की आकाक्षा न रख कर उससे एक सुदर घोडे की माँग करने से गोसाई जी का घोडो के प्रति आकर्षण ज्ञात होता है । 'मधुसूदनदास क्षत्री की वार्ता' से भी विदित होता है कि उसने गोसाई जी की इच्छा जान कर उन्हे एक सुदर घोडा भेट किया था[2] । उक्त उल्लेखो से सिद्ध होता हे कि गोसाई जी को घोडे की सवारी वडी पसद थी । 'वार्ता' मे लिखा है कि सम्राट अकबर द्वारा दिया हुआ घोडा मोहनपुर मे बँधता था, और उसके लिए घास, दाना तथा साईस का प्रबध भी सम्राट की ओर से ही किया जाता था[3] ।

गोसाईं जी की यात्राओ का विवरण—'वार्ता' साहित्य से ज्ञात होता है कि गोसाई विट्ठलनाथ जी ने अनेक यात्राएँ की थी । उन यात्राओ मे उन्होने पुष्टि सप्रदाय का व्यापक प्रचार किया था और अनेक व्यक्तियो को पुष्टि मार्ग की दीक्षा दी थी । श्री गोपीनाथ जी के देहावसान के पश्चात् उन्होने अपनी प्रथम यात्रा स १६०० मे आरभ की थी । उस यात्रा मे वे गुजरात—सौराष्ट्र का पर्यटन करते हुए द्वारका तक गये थे । स १६१० मे उन्होने मगध प्रदेश की ओर स १६१४ मे गौड प्रदेश की यात्राएँ की थी । स १६१६ मे वे जगदीशपुरी की यात्रा को गये थे । वहाँ पर जगन्नाथ जी का रथोत्सव देख कर उन्होने पुष्टि सप्रदाय मे भी उसी प्रकार का उत्सव करना आरभ किया था । स १६३४ के लगभग उन्होने पुन गौड प्रदेश की यात्रा की थी । उन्होने अपने जीवन काल मे ६ वार द्वारका की ओर कम से कम ३ वार व्रजमडल की यात्राएँ की थी ।

गोसाई विट्ठलनाथ जी की यात्राओ मे गुजरात प्रदेश की यात्राएँ अधिक महत्वपूर्ण है । उन्ही यात्राओ के कारण भारत के उस पश्चिमी भाग मे पुष्टि सप्रदाय का व्यापक प्रचार हुआ था । वे यात्राएँ स १६०० से लेकर स० १६३८ तक के काल मे ६ वार की गई थी । उन यात्राओ का क्रमानुसार विवरण इस प्रकार है,—

१ प्रथम यात्रा स १६०० मे अडैल से आरभ हुई थी ।

२ द्वितीय यात्रा स १६१३ मे अडैल से ही आरभ की गई थी ।

३ तृतीय यात्रा स० १६१९ मे गोडवाना की राजधानी गढा से आरभ हुई थी ।

४. चतुर्थ यात्रा स. १६२३ मे मथुरा से आरभ हुई थी । उस अवसर पर जब विट्ठलनाथ जी गुजरात मे थे, तब उनकी अनुपस्थिति मे उनके ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी ने स १६२३ की फाल्गुन कृ ७ को श्रीनाथ जी का स्वरूप मथुरा के सतघरा मे पधराया था ।

५ पचम यात्रा स १६३१ मे गोकुल से आरभ हुई थी । उस यात्रा मे गोसाई जी ने कुभनदास को भी साथ मे चलने के लिए कहा था, किंतु वे श्रीनाथ जी को छोड कर नही जा सके थे[4]।

६. षष्ट यात्रा स १६३८ मे गोकुल से ही आरभ हुई थी । उस समय श्री गिरिधर जी भी गोसाईं जी के साथ गये थे[5] । वह गोसाईं जी की अतिम बड़ी यात्रा थी ।

---

(१) दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता (प्रथम खड) 'बीरवल की वेटी की वार्ता', पृष्ठ ५१६

(२) वही ,, (द्वितीय खंड) 'मधुसूदनदास क्षत्री की वार्ता', पृष्ठ २१८

(३) वही ,, (प्रथम खंड) 'बीरवल की वेटी की वार्ता' पृष्ठ ५१७

(४) अष्टछाप-परिचय, पृष्ठ १००

(५) वल्लभ कुल कौ प्राकट्य (षटऋतु की वार्ता), पृष्ठ ६०

उस काल मे गुजरात जाने का मार्ग आगरा होकर था। उन यात्राओं के प्रसंग मे तथा अन्य कार्यों से गोसाई जी अनेक बार आगरा गये थे। वहाँ पर वे अपने शिष्य-सेवको के घर पर ठहरते थे। उसी समय उन्हे राजा बीरबल आदि अनेक राजपुरुषो से मिलने का अवसर मिलता था। 'वार्ता' से ज्ञात होता है, बीरबल की पुत्री गोसाई जी की सेविका थी और राजा बीरबल स्वय गोसाई जी के प्रति बडी श्रद्धा रखता था।

गोकुल से गुजरात की यात्रा करने के लिए उस काल मे जिन स्थानो मे होकर जाना पडता था, उनके नाम इस प्रकार मिलते है—गोकुल, मथुरा, आगरा, फतेहपुर सीकरी, बयाना, बदर सीदरी, मेडता, बागडा, रोहा, अहमदाबाद, बडौदा, भडोच, सूरत आदि।

प्राचीन काल से लेकर बाद की अनेक शताब्दियों तक शूरसेन प्रदेश से गुजरात—सौराष्ट्र तक और वहाँ से घुर दक्षिण तक तथा शूरसेन से मध्य भारत तक की अटूट धार्मिक शृ खला बनी रही थी। यही कारण था कि जब विक्रम की १२ वी शताब्दी मे दक्षिण प्रदेशीय धर्माचार्यो ने वैष्णव धर्म का उत्तर मे भी प्रचार किया, तब उन्हे वहाँ कोई असुविधा नही हुई थी। उत्तर की जनता ने उसे जाना-पहिचाना हुआ धर्म ही समझा था। जब श्री वल्लभाचार्य जी और उनके पश्चात् श्री विट्ठलनाथ जी ने ब्रज से गुजरात तथा सौराष्ट्र मे जाकर पुष्टि सम्प्रदाय का प्रचार किया था, तब उस प्राचीन परपरा और धार्मिक शृ खला के कारण वे भी अपने मत का वहाँ सुविधा पूर्वक प्रचार कर सके थे। द्वारका मे रहने वाले गूगली जाति के ब्राह्मण अब भी अपनी परपरा ब्रज के ब्राह्मणो से बतलाने मे गर्व का अनुभव करते हैं। उनका कथन है, उनके पूर्वज श्री कृष्ण के साथ मथुरा से वहाँ आये थे। उन ब्राह्मणो के आचार-विचार ब्रजवासी ब्राह्मणो से बहुत कुछ मिलते हुए हैं।

गोसाई विट्ठलनाथ जी ने अनेक बार ब्रज-यात्राएँ की थी। वे यात्राएँ ब्रज चौरासी कोस की होती थी, जिन्हे 'यात्रा' की अपेक्षा 'परिक्रमा' कहना उचित होगा और वे पैदल ही की जाती थी। गोसाई जी की वे परिक्रमाएँ स १६०० से स १६२८ तक के काल मे कई बार की गई थी। कवि जगतनद ने स १६२४ की परिक्रमा का पद्यबद्ध वृत्तात लिखा है, जो 'श्री गुसाई जी की वन-यात्रा' के नाम से उपलब्ध है। स १६२८ की परिकमा का उल्लेख 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अंतर्गत 'पीताबरदास की वार्ता' मे मिलता है। ब्रज की परिक्रमा ब्रजमडल के पुराण-प्रसिद्ध १२ वनो और २४ उपवनो की होती थी, जो ७ अथवा ११ दिनो मे पूरी की जाती थी। कवि जगतनद के उल्लेखानुसार गो विट्ठलनाथ जी की उक्त परिक्रमाएँ ११ दिन मे पूरी हुई थी। इस प्रकार की यात्रा अथवा परिक्रमा आजकल भी होती हैं, किंतु यात्रियो की सुविधा के विचार से अब इनमे अधिक समय लगता है।

पुष्टिमार्गीय सेवा का विस्तार—जैसा पहिले लिखा गया है, श्री विट्ठलनाथ जी ने साप्रदायिक उत्तरदायित्व सँभालते ही सबसे पहिले पुष्टिमार्गीय सेवा के विस्तार करने का आयोजन किया था। उसके लिए उन्होने ठाकुर जी के नित्योत्सव और वर्षोत्सव की सेवा-विधियो को अत्यत भव्य, गभीर और कलात्मक रूप मे प्रचलित किया था। उन्होने इनके सबध मे जो क्रम निर्धारित किया था, वही अभी तक पुष्टि सप्रदायी मदिरो मे प्रचलित है। नित्योत्सव और वर्षोत्सव की सेवा-विधियो के तीन प्रमुख अग है,—१. शृ गार, २, भोग और ३ राग। यहाँ इन पर कुछ विस्तार से लिखा जा रहा है।

श्री गिरिराज जी का कुनवारा भोग
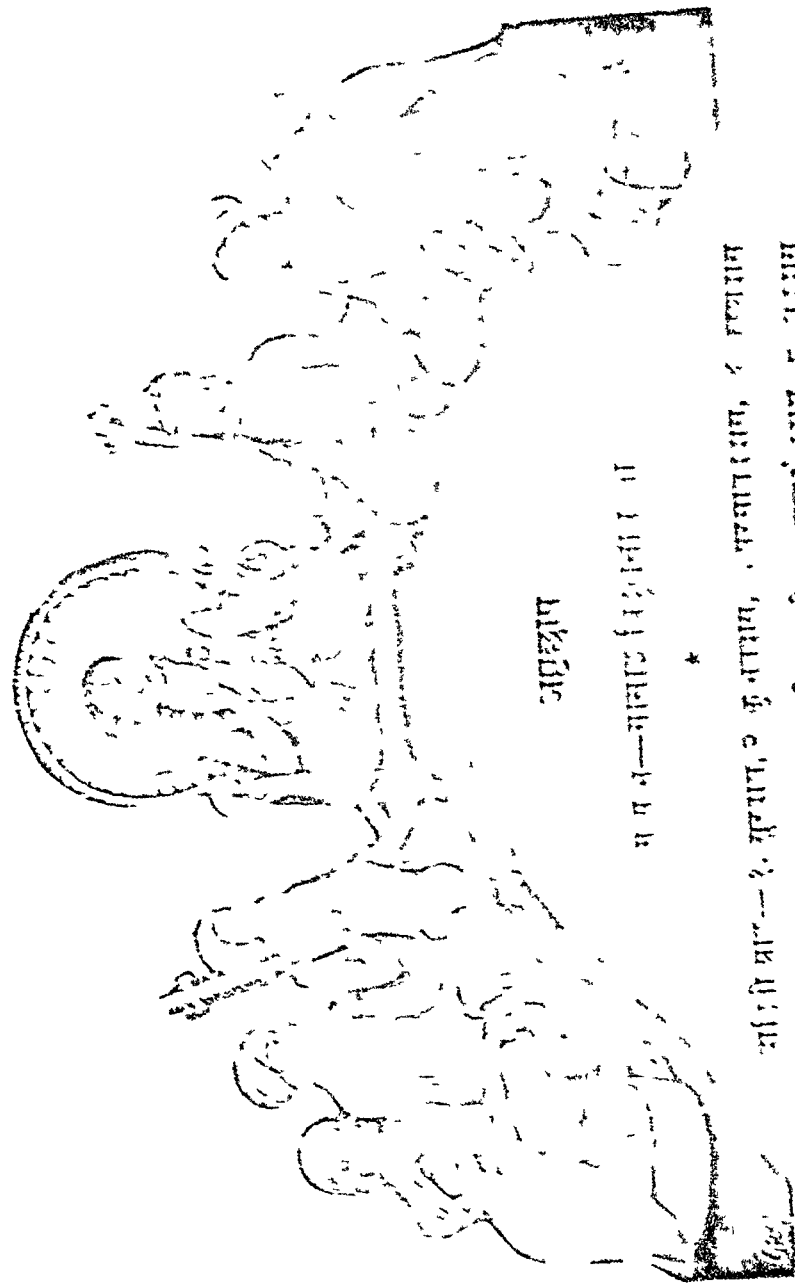
अष्टछाप

मध्य में—गोसाईं विट्ठलनाथ जी

*

दाहिनी ओर—१. सूरदास, २ कुम्भनदास, ३ परमानन्ददास, ४ कृष्णदास

बाईं ओर—५ गोविन्दस्वामी, ६ छीतस्वामी, ७ चतुर्भुजदास, ८ नन्ददास

१ **शृंगार**—ठाकुर जी के वस्त्राभूषण और उनकी साज-सज्जा को 'शृंगार' कहते है। वल्लभाचार्य जी के समय मे श्रीनाथ जी के शृंगार के केवल दो उपकरण 'पाग' और 'मुकुट' थे। विट्ठलनाथ जी ने उनका विस्तार कर दो के स्थान पर आठ उपकरण प्रचलित किये थे। वे आठो उपकरण १ मुकुट, २ सेहरा, ३ टिपारा, ४. कुल्हा, ५. पाग, ६ दुमाला, ७ फेटा और ८ पगा (ग्वाल पगा) है। ये आठो उपकरण ठाकुर जी के श्रीमस्तक के शृंगार है। इनके साथ ही ठाकुर जी और स्वामिनी जी के मस्तक, मुख, कठ, हस्त, कटि, चरणादि के अनेक शृंगार किये जाते है। इनमे बहुसख्यक आभूषणो का उपयोग किया जाता है।

श्री ठाकुर जी और स्वामिनी जी के आभूषणो के साथ उनके विविध भाँति के वस्त्रो की भी व्यवस्था की गई है, जो ऋतुओ के अनुसार बदलती रहती है। जैसे शीत काल मे भारी, मोटे वस्त्र तथा रुई के गद्दल आदि होते है और उष्ण काल मे हलके, पतले तथा झीने वस्त्रादि। इन वस्त्राभूषणो को किस प्रकार धारण कराया जाय, इसका एक सुनियोजित क्रम निर्धारित किया गया है। मुकुट की लटक किस ओर हो, इसका भी निश्चित विधान है।

ठाकुर जी के साथ ही मदिर की साज–सज्जा के लिए पर्दे, पिछवाही आदि का भी आवश्यक प्रवध किया गया है। इस साज-सज्जा मे भी ऋतुओ के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार सुदर वस्त्राभूषण और रग–विरगी साज–सज्जा से ठाकुर जी की झाँकियो का आनद प्राप्त कर भक्तगण इस सप्रदाय की ओर सदा ही आकर्षित होते रहे है। शृंगार के विस्तार से इस सप्रदाय ने कई महत्वपूर्ण कलाओ की उन्नति मे बडा योग दिया है।

२ **भोग**—खान–पानादि के विविध पदार्थो को सुदर और शुद्ध रूप मे प्रस्तुत कर उन्हे ठाकुर जी के समर्पण करने को 'भोग' कहते है। समर्पित पदार्थ 'प्रसाद' कहलाता है। श्री वल्लभाचार्य जी के समय मे सखड़ी, अनसखडी और दूध की कतिपय सामग्री तथा फल-मेवा का भोग ही श्रीनाथ जी को समर्पित किया जाता था। श्री विट्ठलनाथ जी ने भोग का भी बडा विस्तार किया था। उन्होने पचासो भोज्य पदार्थो का ठाकुर जी की सेवा मे विनियोग कर एक ऐसी समुन्नत पाक कला को जन्म दिया, जो इस सप्रदाय की उल्लेखनीय विशेषता रही है।

इस सप्रदाय की पाक कला का पूरा वैभव कुनवाडा, अन्नकूट और उनसे भी बढ कर छप्पनभोग की झाँकियो मे दिखलाई देता है। यदि विट्ठलनाथ जी उनकी व्यवस्था न करते, तो आज बीसो प्रकार की भोज्य सामग्रियो के बनाने की विधि ही लुप्त हो गई होती। अन्नकूट का प्रचलन तो वल्लभाचार्य जी के समय मे ही हो गया था, यद्यपि उसका बहुत छोटा रूप था, किंतु बडे अन्नकूट और छप्पनभोग बाद मे विट्ठलनाथ जी ने प्रचलित किये थे। छप्पनभोग मे षट् ऋतुओ के सभी मनोरथ करने आवश्यक होते हैं, इसलिए उसे वृहत् रूप मे सम्पन्न किया जाता है। साप्रदायिक उल्लेखो के अनुसार विट्ठलनाथ जी ने स. १६१५ मे श्रीनाथ जी का प्रथम छप्पनभोग कराया था। तभी से इस सप्रदाय मे छप्पनभोग करने की पृथा प्रचलित हुई है। सं. १६४० मे श्री विट्ठलनाथ जी ने गोकुल मे एक वृहत् छप्पनभोग किया था, जिसमे गोकुल और गोपालपुर के सभी सेव्य स्वरूप (नव निधि) पधराये गये थे[1]। 'शृंगार' और 'भोग' की साप्रदायिक भावना का विशद विवेचन श्री गोकुलनाथ जी कथित 'रहस्य भावना' की वार्ता मे हुआ है[2]।

---

(१) वार्ता साहित्यः एक वृहत् अध्ययन, पृष्ठ ३०३
(२) वल्लभीय सुधा, वर्ष ११ अक १-२ देखिये

३ राग—ठाकुर जी की सेवा मे राग का स्थान बडा महत्वपूर्ण है। राग मे गायन करने से मन शीघ्र ही एकाग्र होता है, इसलिए इसे निरोध का साधक माना गया है। श्री वल्लभाचार्य जी ने निरोधमयी पुष्टिमार्गीय सेवा मे राग सहित कीर्तन करने का आवश्यक विधान किया था। उनका कथन है,—अपने सुख के लिए आनद स्वरूप भगवान् का कीर्तन-गान करना चाहिए। इस प्रकार के गायन से जैसा सुख मिलता है, वैसा सुख शुकदेवादि मुनीश्वरो को आत्मानद मे भी नही मिला, फिर दूसरो का तो कहना ही क्या है! इसलिए सब कुछ छोड कर चित्त के निरोधार्थ सदैव प्रभु का गुण-गान करना उचित है। ऐसा करने से ही सच्चिदानदता सिद्ध होती है[1]।

श्री वल्लभाचार्य जी ने श्रीनाथ जी की सेवा के आरभिक दिन से ही उनके 'कीर्तन' गान की व्यवस्था की थी। उन्होने सर्व प्रथम कुभनदास को और फिर सूरदास तथा परमानददास को श्रीनाथ जी का कीर्तनिया नियुक्त किया था। इन कीर्तन को अनेक राग-रागिनियो मे ताल-स्वर और विविध वाद्यो के साथ अत्यत विकसित एव समुन्नत रूप प्रदान करने का श्रेय श्री विट्ठलनाथ जी को है। उन्होने श्रीनाथ जी की आठो झाँकियो मे समय और ऋतु के रागो द्वारा ही कीर्तन करने का जो क्रम निर्धारित किया था, वह पुष्टि सप्रदायी मदिरो मे अभी तक यथावत् प्रचलित है।

श्रीनाथ जी की कीर्तन-सेवा को विधि पूर्वक और भव्य रूप मे सम्पन्न करने के लिए श्री विट्ठलनाथ जी ने स १६०२ मे ही 'अष्टछाप' की स्थापना कर दी थी, यद्यपि तब तक उन्होने आचार्यत्व भी ग्रहण नही किया था। इससे सिद्ध होता है कि पुष्टिमार्गीय सेवा मे 'राग' को कितना महत्वपूर्ण माना गया है। अष्टछाप के कीर्तनकारो द्वारा जिस विशाल पद-साहित्य का निर्माण हुआ है, वह पुष्टि सप्रदाय की धार्मिक महत्ता, सास्कृतिक चेतना और साहित्यिक समृद्धि का सूचक है। अत यहाँ पर अष्टछाप के सबध मे कुछ विस्तार से लिखने की आवश्यकता है।

अष्टछाप—श्री विट्ठलनाथ जी ने श्रीनाथ जी की आठो झाँकियो मे उनकी लीला-भावना के अनुसार समय और ऋतु के रागो द्वारा कीर्तन करने की व्यवस्था की थी। उसके लिए उन्होने चार अपने पिता जी के और चार अपने भक्त-गायक शिष्यो की एक मडली सगठित की थी। उस मडली के आठो महानुभाव श्रीनाथ जी के परम भक्त होने के साथ ही साथ अपने समय मे पुष्टि सप्रदाय के सर्वश्रेष्ठ सगीतज्ञ, गायक और कवि भी थे। उनके निर्वाचन से श्री गो विट्ठलनाथ जी ने उन पर मानो अपने आशीर्वाद की मौखिक 'छाप' लगायी थी, जिससे वे 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध हुए। पुष्टि सप्रदाय की भावना के अनुसार वे श्रीनाथ जी के आठ अतरग सखा हैं, जो उनकी समस्त लीलाओ मे सदैव उनके साथ रहते है, अत उन्हे 'अष्टसखा' भी कहा गया है[2]। 'अष्टछाप' अथवा 'अष्टसखा' की शुभ नामावली इस प्रकार है,—

वल्लभाचार्य जी के शिष्य— १. कुभनदास, २. सूरदास, ३ कृष्णदास ४ परमानदास।

विट्ठलनाथ जी के शिष्य—५ गोविंदस्वामी, ६ छीतस्वामी, ७. चतुर्भुजदास ८. नददास।

वल्लभाचार्य जी के समय मे श्रीनाथ जी के प्रथम नियमित कीर्तनकार सूरदास थे। बाद मे परमानददास भी उन्हे नियमित रूप से सहयोग देने लगे थे। कुभनदास यद्यपि सूरदास से भी पहिले कीर्तन करते आ रहे थे, तथापि गृहस्थ होने के कारण उन्हे नियमित रूप से अधिक समय

(१) निरोध लक्षणम्, श्लोक ४,६,६

(२) अष्टछाप-परिचय, पृष्ठ १-२

देने की सुविधा नही थी। इस प्रकार वल्लभाचार्य जी के समय तक सूरदास और परमानददास नियमित रूप से श्रीनाथ जी की सभी झाँकियो मे कीर्तन करते थे, तथा कुभनदास अपने अवकाश के अनुसार उन्हे सहयोग देते थे। अधिकारी कृष्णदास भी अपनी सुविधा से उसमे भाग लिया करते थे। वल्लभाचार्य जी के पश्चात् गोपीनाथ जी के समय मे भी कीर्तन का वही क्रम चलता रहा था।

विट्ठलनाथ जी के समय मे श्रीनाथ जी की कीर्तन प्रणाली को सुव्यवस्थित और विस्तृत किया गया था, अत आठो समय की झाँकियो मे पृथक्-पृथक् कीर्तनकार नियुक्त किये जाने की आवश्यकता प्रतीत हुई थी। विट्ठलनाथ जी के शिष्यो मे भी कई उच्च कोटि के सगीतज्ञ और भक्त-कवि थे। इसलिए उन्होने अपने पिताजी के पूर्वोक्त चारो कीर्तनकारो के साथ अपने चार सगीतज्ञ शिष्यो को सम्मिलित कर 'अष्टछाप' की स्थापना की थी। उसकी व्यवस्था विट्ठलनाथ जी द्वारा स १६०० मे की गई गुजरात की प्रथम यात्रा से वापिस आने के उपरात हुई थी। उस समय गुजरात की यात्रा से प्राप्त धन को श्रीनाथ जी की नव निर्मित विस्तृत सेवा प्रणाली के हेतु अर्पित किया गया था। वह कार्य स. १६०२ मे सम्पन्न हुआ, अत वही अष्टछाप की स्थापना का भी काल है।

'अष्टछाप' का सांप्रदायिक महत्व—पुष्टि सप्रदाय की मान्यता है, जब गोबर्धन की गिरिराज पहाडी पर श्रीनाथ जी का प्राकट्य हुआ, तब उनकी नित्यलीलाओ मे सदैव साथ रहने वाले उनके आठ अतरग सखा भी उनकी सेवा के लिए इस भूतल पर प्रकट हुए थे। उक्त मान्यता के अनुसार ही अष्टछाप के आठो महानुभावो को पुष्टि सप्रदाय मे श्रीनाथ जी के 'अष्टसखा' कहा गया है। उन अष्टसखाओ ने अपने कीर्तन द्वारा श्रीनाथ जी की विविध लीलाओ का सरस गायन किया था। इसका उल्लेख 'वार्ता' मे इस प्रकार हुआ है,—"जब श्री गोबर्धननाथ जी प्रगट भये, तब अष्टसखा हू भूमि पै प्रकट भये, अष्टछाप रूप होय के सब लीला कौ गान करत भये[1]।" श्रीमद् भागवत मे श्रीकृष्ण के एकादश सखाओ का नामोल्लेख हुआ है[2]। उनमे से आरभिक आठ कृष्ण, तोप, भोज, श्रीदामा, सुबल, अर्जुन, विशाल और ऋपभ पुष्टि सप्रदाय की मान्यता के अनुसार अष्टछाप के आठो महानुभाव थे। उनमे से सूरदास 'कृष्ण', परमानददास 'तोष', कुभनदास 'अर्जुन', कृष्णदास 'ऋषभ', गोविंदस्वामी 'श्रीदामा', छीतस्वामी 'सुबल', चतुर्भुजदास 'विशाल' और नददास 'भोज' सखा माने जाते है।

'अष्टसखान की वार्ता' के श्री हरिराय जी कृत 'भाव प्रकाश' मे अष्टसखाओ के साप्रदायिक महत्व पर विशद प्रकाश डाला गया है। हरिराय जी का मत है, गिरिराज की तलहटी नित्यलीला भूमि है। यहाँ पर श्रीनाथ जी स्वामिनी जी सहित नित्यलीला करते है और ये आठो सखा उनकी लीलाओ मे अष्ट प्रहर उनके साथ रहते है। अष्टसखाओ के लीलात्मक स्वरूपो की दो प्रकार की स्थिति है। वे दिन मे ठाकुर जी के सखा रूप से उनकी वन-लीला का आनद प्राप्त करते है, और रात मे स्वामिनी जी की सखी रूप से निकुज-लीला का सुखानुभव करते है। इस प्रकार ये आठो महानुभाव ठाकुर जी के अग रूप है, जो उनकी अतरग लीलाओ मे अहर्निश सम्मिलित होकर

---

(१) श्री गोबर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ २७

(२) हे कृष्णस्तोष हे अंशो, श्रीदामन् सुबलार्जुन।
विशालार्षभ तेजस्विन्, देवप्रस्थ वरूथप ॥ (दशम स्कंध, पूर्वार्ध, अध्याय २२)

लीला-रस का दिव्यानद प्राप्त करते रहते हैं। स्वामिनी जी की सखी रूप मे अष्टछाप के जो सखी नाम हैं, उनमे सूरदास 'चम्पकलता', परमानददास 'चद्रभागा', कुभनदास 'विशाखा', कृष्णदास 'ललिता', गोविंदस्वामी 'भामा', छीतस्वामी 'पद्मा', चतुर्भुजदास 'विमला' या 'रगदेवी' और नददास 'चद्रलेखा' या 'सुदेवी' माने गये हैं।

'श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' (पृष्ठ ८७) मे श्री द्वारकेश जी कृत एक छप्पय है[1], जिसमे अष्टसखाओ के नाम दिये गये हैं। उन नामो मे नददास के स्थान पर विष्णुदास का नाम मिलता है। इससे नददास के सबध मे शका होती है। बात यह है, स. १६०२ तक नददास के अतिरिक्त अन्य सातो भक्तजन पुष्टि सप्रदाय मे सम्मिलित हो चुके थे। नददास स. १६०२ के लगभग विट्ठलनाथ जी के शिष्य हुए थे। जब विट्ठलनाथ जी ने स. १६०२ मे 'अष्टछाप' की स्थापना की, तब उसमे उक्त सातो भक्तजनो के साथ श्री वल्लभाचार्य जी के सेवक विष्णुदास छीपा को सम्मिलित किया गया था। बाद मे जब नददास आ गये, तब उनकी साप्रदायिक स्थिति एव काव्य–सगीत विषयक योग्यता के कारण उन्हे विष्णुदास के स्थान पर रखा गया। विष्णुदास छीपा तब तक अत्यत वृद्ध हो चुके थे, अत वे विट्ठलनाथ जी के द्वार–रक्षक नियुक्त किये गये[2]।

अष्टछाप के वे आठो महानुभाव गोवर्धन के विविध स्थलो पर निवास करते थे। वे प्रति दिन श्रीनाथ जी की सेवा मे उपस्थित होकर अपने–अपने ओसरे मे उनकी झाँकियो मे कीर्तन किया करते थे। उन आठो कीर्तनकारो के आठ सहकारी भी थे, जो कीर्तन मे उन्हें सहयोग देते थे, तथा अवकाश के समय मे उनके कीर्तनो को लिख लिया करते थे। अष्टछाप के उक्त कीर्तनकार आशुकवि, महान् सगीतज्ञ और रससिद्ध गायक थे। वे झाँकियो की लीला–भावना तथा समय और ऋतु के अनुसार अपने हार्दिक भावो को तत्काल पद रूप मे प्रस्तुत कर उनका सामयिक रागो मे गायन करते थे। लिपिको द्वारा तत्काल लिपिबद्ध किये जाने से ही उनका विशाल पद साहित्य अभी तक सुरक्षित रहा है।

स० १६३६ तक वे आठो महानुभाव विद्यमान थे। उनमे से कृष्णदास, सूरदास, कुभनदास, नददास और परमानददास का क्रमश देहावसान श्री विट्ठलनाथ जी के तिरोधान–काल स १६४२ से पहिले ही हो गया था। शेष तीनो गोविंदस्वामी, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास श्री विट्ठलनाथ जी के तिरोधान का समाचार सुनते ही अपने–अपने नश्वर शरीर को उसी दिन छोड गये थे। इस प्रकार विट्ठलनाथ जी के अतिम काल तक वे सभी महानुभाव अपने भौतिक शरीर को त्याग कर दिव्य देह द्वारा श्रीनाथ जी की नित्यलीला मे प्रविष्ट हो गये। उनका अधिकाश जीवन श्रीनाथ जी की कीर्तन–सेवा करते हुए गिरिराज की तलहटी (गोवर्धन) मे बीता था, और वही पर उन सब का निधन भी हुआ था। वहाँ पर उनके स्मृति–स्थल अब भी विद्यमान हैं।

---

(१) सूरदास सो 'कृष्ण', 'तोक' परमानंद जानो।
कृष्णदास सो 'ऋषभ', छीतस्वामी 'सुबल' बखानो॥
'अर्जुन कुभनदास, चत्रभुजदास 'विसाला'।
विष्णुदास सो 'भोज', स्वामिगोविंद 'श्रीदामाला'॥
अष्टछाप आठो सखा, श्री द्वारकेश परमान।
जिनके कृत गुन गान करि, निज जन होत सुयान॥

(२) सूर–निर्णय, पृष्ठ ९२ तथा चौ वै की वार्ता मे 'विष्णुदास छीपा की वार्ता', प्रसग १

अष्टछाप के स्मृति-स्थल—सूरदास का निवास परासोली–चद्रसरोवर के जिस स्थल पर था, और जहाँ उन्होने अपनी भक्ति-साधना की थी, वहाँ उनके स्मारक स्वरूप एक कुटिया बनी हुई है। सूरदास जी ने वहाँ स १५६७ से स. १६४० तक प्राय. ७३ वर्ष के सुदीर्घ काल तक निवास किया था। उस कुटी के निकटवर्ती एक चबूतरे पर वृक्ष के नीचे उनका देहावसान हुआ था। उत्तर प्रदेश सरकार ने उनके स्मारक मे उस चबूतरा पर उनके रेखा-चित्र और सक्षिप्त परिचय सहित एक शिलाखड स्थापित किया है।

कुभनदास का निवास जमुनावतौ गाँव मे था, जो चद्रसरोवर के निकट है। उसके समीपवर्ती परासोली गाँव मे उनके खेत थे। आन्यौर के पास वाले सकर्षण कुड पर उनका निधन हुआ था। उनका स्मारक जमुनावतौ गाँव मे बनाया गया है।

कृष्णदास का निवास स्थल जतीपुरा के निकटवर्ती बिलछू वन मे एक श्याम तमाल वृक्ष के नीचे था और पूँछरी के निकट एक सूखे कूए मे गिर कर उनकी मृत्यु हुई थी। उनके स्मारक स्वरूप बिलछू वन मे एक चबूतरा है। उनकी मृत्यु का कूआ अभी तक विद्यमान है।

परमानददास का साधना-स्थल जतीपुरा के निकटवर्ती सुरभीकुड पर एक तमाल वृक्ष के नीचे था और वहाँ पर ही उनका निधन हुआ था। उस प्राचीन तमाल वृक्ष के स्थान पर उनके स्मारक मे नया तमाल का वृक्ष लगाया गया है।

गोविदस्वामी का पुण्य स्थल सुरभीकुड से थोडा आगे एक वनखड मे है, जिसे गोविदस्वामी की कदमखडी कहते हैं। वहाँ एक टीले के नीचे की कदरा मे उनका साधना-स्थल था और वही पर उनका देहावसान भी हुआ था। पहिले यह कदमखडी अत्यत सघन और रमणीक थी, किंतु गाँव के समीप होने से उसका वह सुदर रूप अब नही रहा। उनके स्मारक मे वहाँ उनकी समाधि बनी है।

छीतस्वामी मथुरा के निवासी थे, जहाँ उनका मकान बताया जाता है। उनका साधना-स्थल पूँछरी गाँव के समीपवर्ती नवल अप्सरा कुड पर एक श्याम तमाल वृक्ष के नीचे था। वह स्थल 'रामदास की गुफा' के निकट है। वहाँ उनका स्मारक बनाने की योजना है।

चतुर्भुजदास पूर्वोक्त कुभनदास के पुत्र थे, अत. उनका निवास स्थान और खेत उनके पिता की भाँति क्रमश जमुनावतौ और परासोली गाँवो मे थे। उनका निधन रुद्रकुड पर एक इमली वृक्ष के नीचे हुआ था। उक्त कुड जतीपुरा के निकट गुलालकुड जाने वाले मार्ग पर है। वहाँ एक पुराना इमली का वृक्ष है, जिसे उनका स्मारक चिन्ह समझा जाता है। उस स्थल पर उनका नवीन स्मारक बनाया गया है।

नददास का साधना-स्थल गोवर्धन गाँव मे मनसा देवी मदिर के नीचे और मानसी गगा के तटवर्ती एक पीपल के वृक्ष की छाया मे था। वही पर उनका निधन भी हुआ था। इस समय भी उक्त स्थल पर एक पीपल का वृक्ष है, जो उनके स्मारक-चिन्ह का सूचक है। नददास जी के समय मे यह एकात स्थल था, किंतु अब वहाँ बस्ती बन गई है और मकानादि बन गये हैं।

आगे के पृष्ठो पर अष्टछाप के विवरण का एक नक्शा दिया गया है, जिसमे शरणागति-काल के क्रम से उनके नाम, जन्म–सवत् और जन्म–स्थान, शरण-सवत् और शरण-स्थान, सखा नाम और सखी नाम, कीर्तन का समय, मुख्य लीला–गायन, ब्रज मे निवास–स्थल, देहावसान–काल और देहावसान के स्थल तथा उनके स्मृति–स्थलों का उल्लेख किया गया है। इस विवरण से अष्टछाप के समग्र रूप का भली भाँति बोध हो सकेगा।

अष्टछाप (अष्टसखा) का विवरण

नाम	जन्म-संवत् जन्म-स्थान	शरण-काल शरण-स्थल	लीला संबंधी सखा नाम, सखी नाम	कीर्तन का समय	मुख्य लीला गायन	गोवर्धन में निवास-स्थल	देहावसान का काल और स्थल	स्मृति स्थल
१. कुंभनदास	सं १५२५ कार्तिक कृ. ११ जमुनावती (गोवर्धन)	सं १५५६ गोपालपुर (गोवर्धन)	अर्जुन सखा विशाखा सखी	राजभोग	निकुंज लीला	जमुनावती (गोवर्धन)	सं १६४० संकर्षण कुंड, आन्यौर	जमुनावती में घर-बार परासोली में खेत संकर्षण कुंड पर निधन-स्थल
२ सूरदास	सं १५३५ वैशाख शु ५ सीही (गुड़गांव)	सं १५६७ गोघाट (जि आगरा)	कृष्ण सखा चंपकलता सखी	उत्थापन	मान लीला	चंद्रसरोवर (परासोली)	सं. १६४० चंद्रसरोवर	गोघाट पर कुटी, चंद्रसरोवर पर कुटी व चबूतरा
३. कृष्णदास	सं. १५५३ चिलोतरा (गुजरात)	सं १५६८ गोवर्धन (व्रज)	ऋषभ सखा ललिता सखी	शयन	रास लीला	बिलछू वन, गिरिराज	सं १६३६ पूंछरी गिरिराज	बिलछू वन पूंछरी पर कूआ

४ परमानद दास	स १५५० अगहन शु ७ कन्नौज (उ. प्र)	स १५७७ ज्येष्ठ शु. १२ अडैल (प्रयाग)	तोष सखा चंद्रभागा सखी	मगला	बाल लीला	सुरभीकुड तमाल वृक्ष के नीचे	स १६४१ भाद्रपद कृ ६ सुरभी कुड	श्याम तमाल सुरभी कुड
५. गोविद स्वामी	स १५६२ आतरी (म प्र)	स १५६२ गोकुल (ब्रज)	श्रीदामा सखा भामा सखी	ग्वाल	आँख-मिचौनी लीला, हिंडोला लीला	कदमखडी गिरिराज	स १६४२ फाल्गुन कृ ७ गिरिराज	कदमखडी मे समाधि व मदिर
६ छीत स्वामी	स १५७१ पौष कृ १० मथुरा	स १५६२ गोकुल (ब्रज)	सुबल सखा पद्मा सखी	सध्या आरती	जन्म लीला	अप्सरा कुड पूँछरी	स १६४२ फाल्गुन कृ ७	श्याम तमाल अप्सरा कुड पूँछरी
७ चतुर्भुज दास	स १५६७ जमुनावती (गोबर्धन)	स १५६८ गोपालपुर (गोबर्धन)	विशाल सखा विमला सखी (रगदेवी)	सध्या भोग	गोबर्धन लीला	जमुनावती	स १६४२ फाल्गुन कृ ७ रुद्रकुड	इमली का वृक्ष रुद्रकुड
८. नददास	स १५६० रामपुर (सोरो) उ प्र.	स १६०७ गोकुल (ब्रज)	भोज सखा चद्रलेखा सखी (सुदेवी)	शृ गार	किशोर लीला	मानसीगगा गोबर्धन	स १६४० मानसीगगा	पीपल का वृक्ष मानसीगगा

पुष्टिमार्गीय भक्ति और माधुर्य भाव—श्री विट्ठलनाथ जी के समय मे 'पुष्टिमार्गीय सेवा' की भाँति 'पुष्टिमार्गीय भक्ति' का भी अत्यधिक विकास हुआ था। उस काल मे इस सप्रदाय मे भक्ति के अन्य भावो की अपेक्षा माधुर्य भाव का अधिक प्रभाव हो गया था। पुष्टिमार्गीय भक्त-कवियो की उस काल की रचनाओ मे राधा—कृष्ण की सरस लीलाओ के माधुर्य भावपूर्ण विस्तृत कथन मिलते हैं। स्वय विट्ठलनाथ जी ने 'शृंगार रस मंडन' और 'स्वामिनी स्तोत्र' आदि की रचना द्वारा माधुर्य भक्ति और राधा—भाव को प्रोत्साहन दिया था। इस सबध मे कुछ विद्वानो की धारणा है कि विट्ठलनाथ जी के समय मे इस सप्रदाय मे जो माधुर्य भक्ति और राधा—भाव का अत्यधिक विकास हुआ था, उस पर व्रज के अन्य भक्ति सप्रदायो का प्रभाव था, क्यो कि श्री वल्लभाचार्य जी ने अपने भक्ति सिद्धात मे इनका समावेश न कर केवल वात्सल्य भक्ति और कृष्णोपासना को ही मान्यता दी थी। इस प्रकार की धारणा श्री वल्लभाचार्य जी के भक्ति सिद्धात और पुष्टि सप्रदाय के इतिहास का अध्ययन करने से भ्रमात्मक सिद्ध होती है।

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, वल्लभाचार्य जी ने श्री कृष्ण के प्रति गोपियो के विविध प्रेम-भावो के आधार पर ही अपने भक्ति सिद्धात का प्रचलन किया था, जिसमे वात्सल्य के साथ ही साथ सख्यादि और स्वकीय—परकीय माधुर्य भावो का भी समावेश था। उन्होंने उन सभी भक्ति-भावो का उपदेश अपने शिष्य-सेवको को दिया था, जिन्होने अपनी-अपनी भावनाओ के अनुसार उन्हें ग्रहण किया था। पुष्टिमार्गीय सेवा मे वात्सल्य भाव की प्रधानता होने से आचार्य जी के अधिकांश शिष्य—सेवको की भावना वात्सल्य भक्ति के प्रति थी, किंतु उनके कतिपय शिष्य जैसे कुंभनदास, पद्मनाभदास और श्रीभट्ट आदि ने माधुर्य भक्ति को ग्रहण किया था। पुष्टि सप्रदाय के इतिहास से सिद्ध है कि कुभनदास, पद्मनाभदास और श्रीभट्ट श्री आचार्य जी के आरभिक शिष्यो मे से थे। उनकी जो रचनाएँ उपलब्ध है, वे सभी माधुर्य भाव से ओत—प्रोत है, यहाँ तक कि उनमे वात्सल्य भाव के पद ढूँढने पर भी कदाचित ही मिलेंगे। यदि पुष्टि सप्रदाय मे माधुर्य भक्ति का प्रचलन श्री विट्ठलनाथ जी के समय मे अन्य भक्ति सप्रदायो के प्रभाव से माना जावेगा, तो फिर उक्त कवियो की रचनाओ मे प्राप्त माधुर्य भाव को किससे प्रभावित कहा जावेगा? यह बतलाने की आवश्यकता नही कि कुभनदास अपनी माधुर्य भावपरक रचनाओ का गायन श्रीनाथ जी के कीर्तन मे स १५५६ से ही करने लगे थे। यह वह काल है, जब कि व्रज मे माधुर्य भक्तिप्रधान अन्य सप्रदायो का उदय भी नही हुआ था, इसलिए इस सप्रदाय पर उनके प्रभाव का प्रश्न ही नही है।

श्री वल्लभाचार्य जी ने 'रसोवैस', 'सर्वरस' आदि श्रुति वाक्यो के आधार पर अपने इष्टदेव परब्रह्म भगवान् श्री कृष्ण को रसात्मक बतलाते हुए उनके मधुर रूप का गायन किया है। उनके रचे हुए स्तोत्र 'मधुराष्टक' और 'परिवृढाष्टक' मे तथा उनकी 'सुबोधिनी' आदि रचनाओ मे भगवान् श्री कृष्ण के मधुर रूप और माधुर्य भक्ति का विशद वर्णन हुआ है। 'मधुराष्टक' के आठ श्लोको मे उन्होने अपने इष्टदेव को मधुराधिपति बतलाते हुए उनका समग्र स्वरूप, उनकी समस्त लीलाएँ—चेष्टाएँ तथा उनके परिकर आदि सभी को मधुर बतलाया है। 'परिवृढाष्टक' मे परब्रह्म की माधुर्यमंडित लीलाओ के प्रति आसक्ति व्यक्त की गई है। श्रीमद् भागवत के कतिपय स्कधो की सुबोधिनी टीका मे उन्होने माधुर्य भक्ति का जैसा प्रवाह बहाया है, वैसा माधुर्य भक्ति एव लीला रस की निकुंज भावना के प्रचारक संप्रदायो की रचनाओ मे भी कठिनता से मिलता है। श्री राधा जी के प्रति उनकी भावना 'पुरुषोत्तम सहस्रनाम' और 'त्रिविध नामावली' मे व्यक्त हुई है।

श्री बल्लभाचार्य जी द्वारा प्रचारित पुष्टि सप्रदाय की उस मूल भावना को ही श्री विट्ठलनाथ जी ने विकसित किया था। उस पर किसी अन्य सप्रदाय का प्रभाव बतलाना असगत है। वैसे एक ही काल और एक ही क्षेत्र मे प्रचलित धर्म–सप्रदाय एक–दूसरे से थोडे–बहुत प्रभावित होते ही है, किंतु उससे उनके मौलिक सिद्धातो मे अतर नही आता है। जब विट्ठलनाथ जी पुष्टिमार्गीय सेवा–भक्ति के विकास और विस्तार करने मे प्रयत्नशील हुए, तब उन्होने भगवत्–सेवा मे तो वात्सल्य भाव की ही प्रधानता रखी थी, किंतु भगवत–भक्ति मे उन्होने किशोर भाव की माधुर्य भक्ति को प्रमुखता दी थी। इसके लिए उनकी व्यवस्था है,—"सदा सर्वात्मना सेव्यो, भगवान् गोकुलेश्वर:। स्मर्तव्यो गोपिकावृन्दै, क्रीडन वृदावने स्थित.।। अर्थात्—गोकुलाधीश भगवान् श्री बालकृष्ण सदा सर्वात्म भाव से सेव्य है, और गोपिकावृद के साथ क्रीडा करने वाले श्री वृदाबन-विहारी सदा स्मरणीय है।" इस व्यवस्था मे वात्सल्य भाव को सेवनीय और किशोर भाव की माधुर्य भावना को स्मरणीय–भजनीय माना गया है। वैसे वात्सल्य भाव और माधुर्य भाव एक–दूसरे के विरुद्ध है, किंतु श्री विट्ठलनाथ जी ने पुष्टि सप्रदाय की सेवा–भक्ति मे दोनो का सामजस्यपूर्ण विकास कर बडा ही युगातरकारी कार्य किया था। ब्रज के धर्म–सप्रदायो के लिए यह उनकी बडी महत्वपूर्ण देन है।

गोसाईं जी के ग्रंथ—गो. विट्ठलनाथ जी बडे विद्वान धर्माचार्य थे। उन्होने वेद-शास्त्र-पुराणादि धार्मिक एव सैद्धातिक ग्रंथो का भली भाँति अनुशीलन किया था,—यह उनके रचे हुए ग्रथो से पूर्णतया स्पष्ट है। उक्त ग्रथो मे श्री बल्लभाचार्य जी के दार्शनिक सिद्धात तथा भक्ति तत्व पर प्रकाश डाला गया है, और पुष्टि सप्रदाय का सैद्धातिक एव व्यावहारिक रूप मे विवेचन किया गया है। श्री विट्ठलनाथ जी कृत प्राय ५० छोटे–बडे ग्रथ कहे जाते है, जिनमे से कुछ स्वतत्र ग्रथ है और कुछ श्री बल्लभाचार्य जी के ग्रथो की पूर्ति अथवा टीका–टिप्पणी के रूप मे लिखे गये हैं। इनमे जो ग्रथ अधिक प्रसिद्ध हैं, उनकी नामावली इस प्रकार है,—

१ विद्वन्मडन, २ भक्तिहस, ३. भक्तिहेतु, ४. शृगार रस मडन, ५ विज्ञप्ति, ६ सर्वोत्तम स्तोत्र, ७ स्वामिनी स्तोत्र, ८. चतुश्लोकी, ९ दानलीला, १० अणु भाष्य का अतिम १।। अध्याय, ११ निबध प्रकाश की पूर्ति और टीका, १२. सुबोधिनी टिप्पणी, १३ न्यासादेश विवृत्ति तथा १४ षोडश ग्रथ विवृत्ति आदि।

स्वतत्र ग्रथो मे 'विद्वन्मडन', 'भक्तिहस' और 'शृगार रस मडन' प्रमुख हैं, जिन्हे विट्ठलनाथ जी ने पुष्टि सप्रदाय के क्रमश दार्शनिक सिद्धात, भक्ति-तत्व और लीला-रस के स्पष्टीकरण के लिए रचा था। 'विद्वन्मडन' अत्यत पाडित्यपूर्ण ग्रथ है। इसमे शका समाधान की पद्धति पर शुद्धाद्वैत सिद्धात का प्रतिपादन किया गया है। इसके सबध मे प्रसिद्ध है कि विट्ठलनाथ जी के ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी युक्तिपूर्वक पूर्व पक्ष प्रस्तुत करते थे और श्री विट्ठलनाथ जी उसका खडन करते हुए शास्त्र प्रतिपादित सिद्धात की उत्तर पक्ष के रूप मे स्थापना करते थे। यह ग्रथ अणु भाष्य की पूर्ति करने से पहिले गोकुल मे रचा गया था। 'भक्तिहस' पुष्टिमार्गीय भक्ति का निरूपक एक सैद्धातिक ग्रथ है। 'शृगार रस मडन' श्री विट्ठलनाथ जी के आरभिक काल की रचना होते हुए भी अत्यत प्रौढ है। इसमे शृगार रस, व्रतचर्या, दान लीला, दशोल्लास आदि के वर्णन सहित पुष्टि सप्रदाय के रस पक्ष और लीला भाव का मार्मिक विवेचन किया गया है। इसका रचना–काल स १६१३ है। 'वार्ता' मे लिखा है, इसकी रचना मे श्री विट्ठलनाथ जी ने दामोदरदास

हरसानी से सहायता ली थी[1]। 'विज्ञप्ति' दैन्य, आत्म-निवेदन और भगवत्-विरह सूचक एक प्रार्थनात्मक ग्रंथ है। 'सर्वोत्तम स्तोत्र' एक स्तुति परक रचना है, जिसमे श्री वल्लभाचार्य जी के १०८ नामो का भावनात्मक कथन किया गया है। पुष्टि सप्रदायी वैष्णव गण अपनी कामना-पूर्ति के लिए इसका दैनिक पाठ करते हैं।

पूर्वोक्त स्वतंत्र ग्रंथो के अतिरिक्त श्री विट्ठलनाथ जी ने अपने पिता श्री वल्लभाचार्य जी कृत 'अणु भाष्य' की पूर्ति की थी, और 'सुबोधिनी' पर टिप्पणी, 'न्यासादेश' पर विवृत्ति तथा षोडश ग्रंथो मे से कई पर विवृत्ति आदि की रचना की थी। इन समस्त ग्रंथो में श्री आचार्य जी के सिद्धांतो का भली भाँति स्पष्टीकरण किया गया है।

गोसाईं जी के शिष्य-सेवक—गो विट्ठलनाथ जी के सैकड़ो शिष्य-सेवक थे, जिनमे से २५२ विशिष्ट व्यक्तियो के वृत्तात साप्रदायिक शैली मे लिखे हुए 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' मे मिलते है। उक्त 'वार्ता' ग्रंथ से ज्ञात होता है कि गोसाई जी के शिष्य-सेवको मे परम भक्त, धार्मिक विद्वान, कवि-कलाकार, राजा-महाराजा और सेठ-साहूकार से लेकर अत्यत साधारण स्त्री-पुरुष तक थे। उनमे उच्च वर्णो के कुलीन सद् गृहस्थो के साथ ही साथ विरक्त साधु-सन्यासी तथा शूद्र, अन्त्यज और मुसलमान भी थे। उन विभिन्न वर्ग, श्रेणी और स्तर के व्यक्तियो का पुष्टिमार्ग के प्रति इस प्रकार श्रद्धा-भावना से आकृष्ट होना गो विट्ठलनाथ जी के व्यापक प्रभाव का परिचायक है।

गोसाई जी के परम भक्त, धार्मिक विद्वान और कवि-कलाकार शिष्यो मे सर्वप्रथम नाम सर्वश्री गोविंदस्वामी, नददास, चतुर्भुजदास और छीतस्वामी का आता है, जिन्हे 'अष्टछाप' मे सम्मिलित किया गया था और जो अपनी विशिष्टताओ के कारण श्रीनाथ जी के अतरग सखा कहलाते थे। उनके उपरात 'सप्रदाय-प्रदीप' के रचयिता गदाधर मिश्र और 'वल्लभाख्यान' के कर्त्ता गोपालदास के नाम उल्लेखनीय है। वे गदाधर मिश्र श्री आचार्य जी के सेवक गदाधरदास से भिन्न थे। गोपालदास कृत 'वल्लभाख्यान' मे आचार्य जी और गोसाई जी के चरित्रो के साथ ही साथ पुष्टिमार्ग के सिद्धातो का भी सरल और सुबोध शैली मे सुदर कथन किया गया है। वार्ता साहित्य के आरभिक प्रचारको मे गोवर्धनदास, मन्नालाल और कृष्णभट्ट का विशेष स्थान है। गोसाई जी के दूसरे विद्वान शिष्यो मे चतुर्भुजदास मिश्र, दामोदर झा और मुरारीदास के नाम लिये जा सकते है। मदनगोपाल कायस्थ गोसाई जी के लिखिया और बडे रामदास श्रीनाथ जी के भीतरिया थे। गोकुल के मदिरो की समस्त व्यवस्था का दायित्व चापाभाई अधिकारी, भाइला कोठारी और चाचा हरिवश पर निर्भर था।

गोसाई जी के उन शिष्य-सेवको की सख्या बहुत अधिक है, जिन्होने साहित्य, सगीत और विविध कलाओ की उन्नति मे महत्वपूर्ण योग दिया था। ऐसे व्यक्तियो मे अष्टछापी महानुभावो के उपरात सगीत-सम्राट तानसेन, भक्त-कवि रसखान और भक्त-कवयित्री गगाबाई के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। गोविंदस्वामी पुष्टि सप्रदाय के सर्वश्रेष्ठ सगीताचार्य और नददास तथा रसखान सर्वश्रेष्ठ कवि थे। 'श्री विट्ठल गिरिधरन' की छाप से काव्य-रचना करने वाली गगाबाई क्षत्राणी इस संप्रदाय की सर्वोत्तम महिला-कवयित्री थी। गोविंददास खवास और कृष्णदास सुप्रसिद्ध

---

(१) चौ वै. की वार्ता मे 'दामोदरदास हरसानी की वार्ता', प्रसग ८ का 'भाव'

नर्त्तक, जसरथ और कृष्णदास मौली कीर्तनिया, ध्यानदास सारगीवादक थे और गोविंदी गायिका थी। गोसाई जी का एक सेवक गीया जाट बडा विनोदी और मसखरा था।

गोसाई जी के शिष्य–सेवको मे अनेक राजा–महाराजा, राजकीय पुरुष और धनी–मानी व्यक्ति थे तथा कतिपय रानियाँ और धनाढ्य महिलाएँ थी। सम्राट अकवर गो. विट्ठलनाथ जी का कितना सन्मान करता था, इसका उल्लेख किया जा चुका है। अकबर के सुप्रसिद्ध दरवारी राजा मानसिंह, राजा बीरबल, राजा टोडरमल, तानसेन और पृथ्वीसिंह (पृथ्वीराज) की उनके प्रति बडी श्रद्धा थी। अकवर की वेगम ताजवीवी, दासी रूपमजरी और बीरबल की बेटी तथा राय पुरुषोत्तम और उसके घर की महिलाओ का गोसाई जी के प्रति अनन्य भाव था। उनके अतिरिक्त गोडवाना की रानी दुर्गावती, बाधवगढ के राजा रामचद्र बघेला, नरवरगढ के राजा आसकरन, आमेर के राजा मानसिंह के अनुज माधवसिह और उसकी रानी रत्नावली, राजा जोधसिह, राजा पर्वतसेन, राजस्थान की सभ्रात महिला अजबकुँवरि और धारवाई–लाडबाई तथा आगरा के सेठ ज्ञानचद के नाम उल्लेखनीय हैं।

गो विट्ठलनाथ जी के मुसलमान शिष्य–सेवको मे तानसेन, रसखान और ताजवीवी के अनतर अलीखान पठान और उसकी भक्तहृदया पुत्री पीरजादी तथा भक्त–गायक धोधी के नाम प्रसिद्ध है। उनके शूद्र और अन्त्यज अनुयायियो मे माधुरीदास माली, मेहा धीमर, रूपमुरारी व्याधा, मोहन भगी तथा अनेक कुनवी, गूजर, मोची और चूहडो का उल्लेख वार्ता साहित्य मे मिलता है।

गोसाईं जी का परिवार—गोसाई विट्ठलनाथ जी के दो विवाह हुए थे, जिनसे उन्हे ११ सतान—७ पुत्र और ४ पुत्रियाँ हुई थी। प्रथम पत्नी रुक्मिणी जी से ६ पुत्र हुए और ४ पुत्रियाँ हुई तथा द्वितीय पत्नी पद्मावती से १ पुत्र घनश्याम जी हुए थे। सभी सतान सुयोग्य एव अपने यशस्वी पिता जी के अनुरूप थी, और उनकी देख–भाल एव शिक्षा–दीक्षा का यथोचित प्रवध किया गया था। सभी पुत्र प्रकाड विद्वान और साप्रदायिक तत्व के पूर्ण ज्ञाता थे। उनके भी अनेक सतान थी। इस प्रकार गोसाई जी का परिवार काफी वडा और भरा–पूरा था।

उसका सक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है,—

१. **श्री गिरिधर जी**—वे गोसाई विट्ठलना जी के मवसे वडे पुत्र थे। उनका जन्म स. १५६७ की कार्तिक शु १२ को अडैल मे हुआ था। वे वडे विद्वान और शात प्रकृति के धर्माचार्य थे। उनके ३ पुत्र और ३ पुत्रियाँ थी। गोसाई जी के पश्चात् गिरिधर जी पुष्टि सप्रदाय के आचार्य हुए थे। उनका निधन स १६७७ मे हुआ था।

२. **श्री गोविंदराय जी**—उनका जन्म स १५६६ की मार्गशीर्ष कृ. ८ को अडैल मे हुआ था। उनके ४ पुत्र थे। उनका निधन स. १६५० मे हुआ था।

३. **श्री वालकृष्ण जी**—उनका जन्म स १६०६ की आश्विन कृ. १३ को हुआ था। वे श्याम वर्ण और पुष्ट शरीर के थे। उनके १ पुत्री और ६ पुत्र थे। उनका निधन सं. १६५० मे हुआ था।

४. **श्री गोकुलनाथ जी**—उनका जन्म स १६०८ की मार्गशीर्ष शु ७ को अडैल मे हुआ था। उनका घरेलू नाम वल्लभ था। वे गोसाई जी के पुत्रो मे सर्वाधिक योग्य, यशस्वी और दीर्घजीवी हुए थे। उनका निधन स. १६६७ मे हुआ था।

५. श्री रघुनाथ जी—उनका जन्म स १६११ की कार्तिक शु १२ को अडैल में हुआ था। वे बड़े विद्वान थे। उनके ५ पुत्र थे और १ पुत्री थी। उनका निधन स. १६६० में हुआ था।

६. श्री यदुनाथ जी—उनका जन्म स. १६१५ की चैत्र शु ६ को अडैल मे हुआ था। वे प्रकाड विद्वान और साप्रदायिक तत्व के पूर्ण ज्ञाता थे। उनके ५ पुत्र थे और १ पुत्री थी। उनका निधन स० १६६० मे हुआ था।

७ श्री घनश्याम जी—वे विट्ठलनाथ जी की अतिम सतान थे। उनका जन्म गोसाई जी की द्वितीय पत्नी पद्मावती जी से स. १६२८ की मार्गशीर्ष कृ १३ को व्रज के गोकुल नामक स्थान मे हुआ था। उनके २ पुत्र थे और १ पुत्री थी। उनका निधन स १६६६ मे हुआ था।

पारिवारिक बटवारा और 'सप्त गृह'—जब गो विट्ठलनाथ जी को अपने अंतिम काल का आभास हुआ, तब उन्होंने अपनी समस्त चल और अचल सपत्ति सहित अपने सेव्य स्वरूपो (उपास्य मूर्तियो) का बटवारा अपने सातो पुत्रो मे कर दिया था। उनके पुत्रो ने उन स्वरूपो की पृथक्-पृथक् सेवा आरभ की थी, जिससे पुष्टि सप्रदाय के 'सप्त गृह' की परपरा प्रचलित हुई है। पुष्टि सप्रदाय के सर्व प्रधान उपास्य देव श्रीनाथ जी और सर्वश्री आचार्य जी एवं गोसाई जी के निज सेव्य स्वरूप श्री नवनीतप्रिय जी की सेवा का सबध सातो भाइयो से रखा गया, किंतु उन दोनो स्वरूपो की देख-भाल विशेष रूप से श्री गिरिधर जी के टीकैत घराने को सोपी गई। शेष सातो स्वरूपो का बटवारा सातो भाइयो मे कर दिया गया था। उक्त बटवारे का काल 'सप्रदाय कल्पद्रुम' मे स. १६४० लिखा गया है। अन्यत्र उसका समय सं. १६३५ भी मिलता है[१]।

वे सेव्य 'स्वरूप' गोसाई जी के किस पुत्र को प्राप्त हुए थे, और वे अब कहाँ विराजमान हैं, इसका विवरण इस प्रकार है,—

पुत्रो के नाम	गृह	स्वरूप	वर्तमान स्थिति
१ गिरिधर जी	प्रथम गृह	श्रीनाथ जी	नाथद्वारा (राजस्थान)
		श्री नवनीतप्रिय जी	,, ,,
		श्री मथुरेश जी	जतीपुरा (व्रज)
२ गोविंदराय जी	द्वितीय गृह	श्री विट्ठलनाथ जी	नाथद्वारा (राजस्थान)
३ बालकृष्ण जी	तृतीय गृह	श्री द्वारकानाथ जी	काकरोली ,,
४ गोकुलनाथ जी	चतुर्थ गृह	श्री गोकुलनाथ जी	गोकुल (व्रज)
५. रघुनाथ जी	पचम गृह	श्री गोकुलचद्रमा जी	कामबन (राजस्थान)
६ यदुनाथ जी	षष्ठ गृह	श्री बालकृष्ण जी	सूरत (गुजरात)
७. घनश्याम जी	सप्तम गृह	श्री मदनमोहन जी	कामबन (राजस्थान)
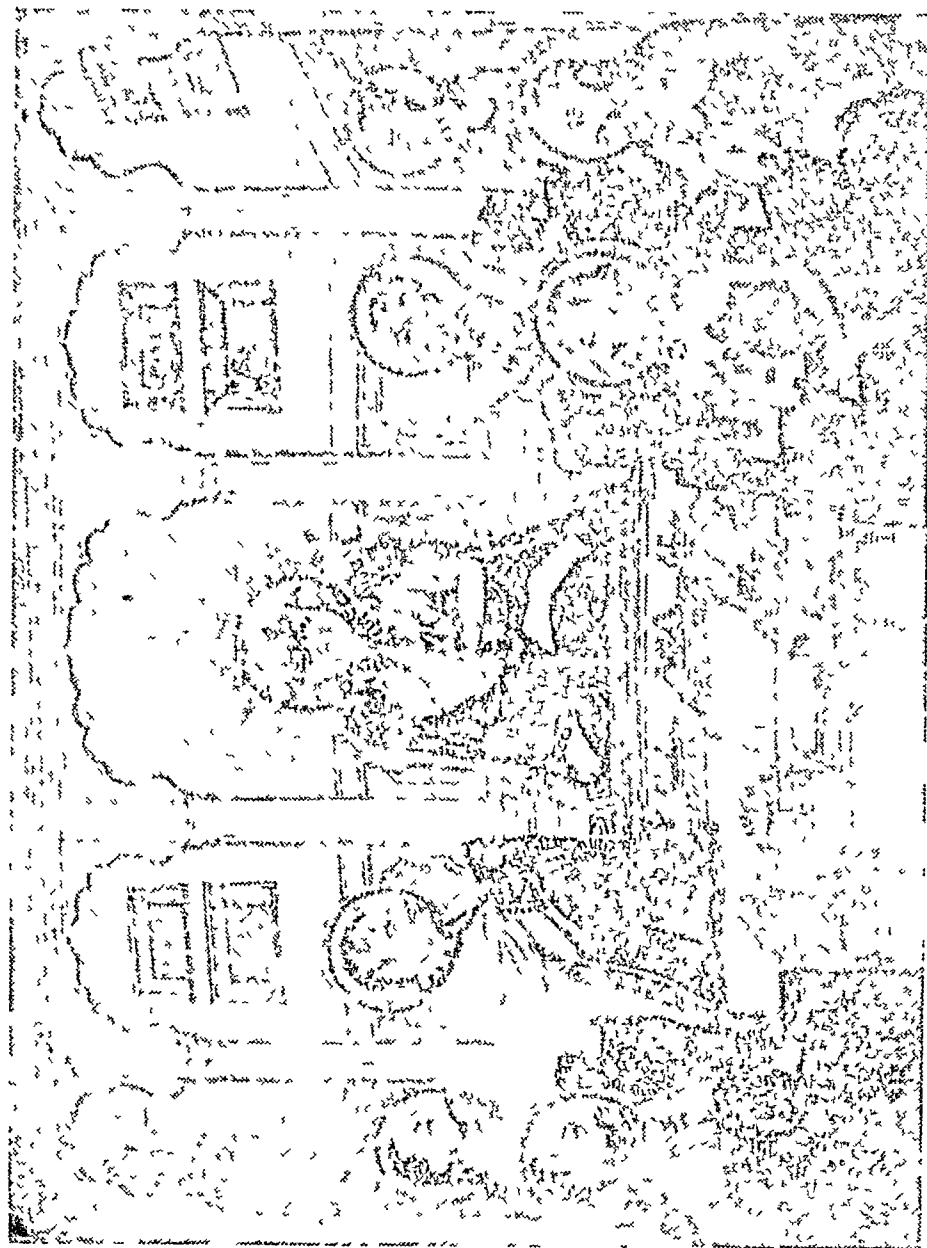
(१) कांकरोली का इतिहास, पृष्ठ १०८

गो० श्री विट्ठलनाथ जी और उनके सातो पुत्र

पुष्टि सप्रदाय की नवनिधि ये सभी देव स्वरूप गो विट्ठलनाथ जी के समय मे और उनके कुछ समय बाद तक ब्रज मे जतीपुरा–गोवर्धन तथा गोकुल स्थित अपने–अपने मदिरो मे ही विराजमान थे। स. १७२६ के लगभग जब औरगजेब ने ब्रज के मदिर–देवालयो और उनकी मूर्तियो को नष्ट कर हिंदुओ को बल पूर्वक मुसलमान बनाना आरभ किया, तब उन भगवद् स्वरूपो की सुरक्षा के लिए उन्हे गुप्त रूप से जतीपुरा और गोकुल के मदिरो से हटा कर हिंदू राजाओ के राज्यो मे ले जाया गया था। तत्कालीन हिंदू राजाओ ने उक्त स्वरूपो को सुरक्षा एव सरक्षण प्रदान कर उनके मदिर बनवाए और उनकी सेवा-पूजा की यथोचित व्यवस्था की थी।

उक्त नवनिधियो मे से श्री गोकुलनाथ जी का स्वरूप सबसे पहिले ब्रज मे वापिस लाया गया और उन्हे गोकुल के मदिर मे विराजमान किया गया। उनके पश्चात् श्री गोकुलचद्रमा जी को जयपुर–बीकानेर से ब्रज मे लाया गया और उन्हे कामबन के मदिर मे विराजमान किया गया। अब से कुछ समय पहिले श्री मथुरेश जी के स्वरूप को भी कोटा से गोबर्धन लाया गया और वे अब जतीपुरा के मदिर मे विराजमान है।

गो विट्ठलनाथ जी के सात पुत्रो द्वारा पुष्टि सप्रदाय के सुप्रसिद्ध 'सप्त गृह' की परपरा प्रचलित हुई है। इन सात घरो को इस सप्रदाय की 'सात गद्दियाँ' अथवा 'सप्त पीठ' भी कहा जाता है। इस समय गोसाई जी के सात पुत्रो मे से प्रथम पुत्र श्री गिरिधर जी और छठे पुत्र यदुनाथ जी के ही वश चल रहे है। शेष पाँचो पुत्रो के घरो की परपरा उक्त दोनो घरो से गोद लिये गये बालको से चल रही है।

गोसाईं जी का 'आठवाँ पुत्र'—गोसाई विट्ठलनाथ जी के पूर्वोक्त सात औरस पुत्रो के अतिरिक्त उनका एक पोष्य पुत्र भी था। उसका नाम तुलसीदास था, जिन्हे गोसाई जी के 'आठवे लाल जी' कहा गया है। उसका उल्लेख 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' स २३९ मे हुआ है। उक्त 'वार्ता' से ज्ञात होता है, तुलसीदास का जन्म दिल्ली से बीस कोस पर एक सारस्वत ब्राह्मण के यहाँ हुआ था। वह ब्राह्मण गोसाई विट्ठलनाथ जी का सेवक था और उनके साथ रह कर ठाकुर जी के जल–घर की सेवा करता था। जब तुलसीदास केवल ५ वर्ष के अबोध बालक थे, तभी उनके माता–पिता की मृत्यु हो गई, अत उनका पालन–पोषण गो. विट्ठलनाथ जी के बालको के साथ होने लगा। तुलसीदास यह समझते थे कि वे भी गोसाई जी के ही पुत्र है।

जब गोसाई जी के सातो पुत्र बडे हुए, तब पारिवारिक बटवारे मे उन्हे पृथक–पृथक् ठाकुर सेवाएँ दी गईं, ताकि वे उनकी स्वतत्र व्यवस्था कर सके। उस समय तुलसीदास को कोई सेवा न मिलने से वे उदास रहने लगे। गोसाई जी ने यह देखकर तुलसीदास को श्री गोपीनाथ जी की सेवा प्रदान की और उन्हे आदेश दिया कि वे सिंध प्रदेश मे जाकर पुष्टि मार्ग का प्रचार करे। तुलसीदास अपने ठाकुर गोपीनाथ जी को लेकर ब्रज से चल दिये। उन्होने गोसाई जी के आदेश के अनुसार सिंध प्रदेश के निवासियो मे पुष्टि मार्ग का प्रचार किया था। उनके वशज अब भी सिंध निवासियो को पुष्टि मार्ग की दीक्षा देते है[1]। इस घराने के साप्रदायिक साहित्य के अनुसार तुलसीदास उपनाम 'लाल जी' का समय स. १६०८ से स १६७५ तक ज्ञात होता है।

---

(१) **दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता**, सं २३९ (तृतीय खड) पृष्ठ २५२–२५४

गोसाईं जी का तिरोधान—गो विट्ठलनाथ का तिरोधान गोवर्धन के गोपालपुर (जतीपुरा) नामक स्थान मे हुआ था। वे श्रीनाथ जी के राजभोग के अनन्तर मध्याह्न काल मे उनकी नित्यलीला मे प्रविष्ट हुए थे। साम्प्रदायिक अनुश्रुति के अनुसार उन्होने गिरिराज की एक कदरा मे प्रवेश किया, और वहाँ वे श्री गोवर्धननाथ जी की नित्यलीला मे सदेह लीन हो गये थे। उक्त कदरा मे से उनका केवल उपरना (उत्तरीय वस्त्र) ही उनके ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी को मिला था, जिससे उन्होने गिरिराज की तलहटी मे गोसाईं जी की उत्तर क्रिया की थी। उसी दिन अष्टछापी सर्वश्री गोविदस्वामी, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास का भी निधन हुआ था।

तिरोधान-काल का निर्णय—गोसाईं जी का तिरोधान किस काल मे हुआ, उसके सबध मे विद्वानो मे मतभेद है। अष्टछाप के तीन महानुभावो का निधन-काल भी गोसाईं विट्ठलनाथ जी के तिरोधान-काल से सबधित है, अत उसकी प्रामाणिकता पर विशेष रूप से विचार करने की आवश्यकता है। 'सप्रदाय कल्पद्रुम' के अनुसार स. १६४४ की फाल्गुन शु ११ तथा अन्य प्रमाणों से स १६४२ के माघ (ब्रज के फाल्गुन) मास की कृ ७ उनके तिरोधान की तिथियाँ ज्ञात होती हैं[1]। उनके विरुद्ध सम्राट अकबर के वे दो फरमान हैं, जो स. १६५१ मे गो. विट्ठलनाथ जी के नाम जारी किये गये थे[2]। कतिपय विद्वानो का कथन है, यदि गोसाईं जी का तिरोधान स १६४४ तक हो गया था, तब स १६५१ के फरमानो मे उनके नाम का उल्लेख नही होता, अत वे उनके तिरोधान का काल स १६५१ के पश्चात् मानने के पक्ष मे हैं[3]।

सबसे पहिले उक्त फरमानो के सवत् पर विचार करना आवश्यक है। गोसाईं जी से संबधित विविध फरमानो का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि स १६३८ तक के फरमानो मे केवल विट्ठलनाथ जी का ही नाम आया है, किंतु स १६५१ के फरमानो मे उनके नाम के साथ उनके वशजो के लिए "नसलन दर नसल" शब्द भी लिखे गये हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पिछले फरमान गोस्वामी जी के काल मे तथा बाद के उनके वशजो के काल मे जारी किये गये थे। उस प्रकार के फरमान अकबर द्वारा स. १६५१ तक ही नही, बल्कि शाहजहाँ आदि द्वारा स १६९० के बाद तक भी जारी होते रहे थे। ऐसी स्थिति मे गोसाईं जी की विद्यमानता स १६९० के बाद तक भी माननी होगी, जो नितात असगत है। इस सबध मे डा. दीनदयालु गुप्त का तर्क विचारणीय है। उन्होने लिखा है,—'बहुधा देखा जाता है कि किसी व्यक्ति के मरने के बाद जब तक उसके उत्तराधिकारियो के नाम उसकी सम्पत्ति के कागजो का दाखिल खारिज नही होता, तब तक सरकारी कागज उसी के नाम जारी होते रहते हैं[4]।'

उपर्युक्त तर्क के अतिरिक्त साप्रदायिक इतिहास मे भी ऐसे कई प्रमाण मिलते हैं, जिनसे गोसाईं जी की विद्यमानता स १६५१ तो क्या स १६४६ तक भी नही मानी जा सकती। जब तक गोसाईं जी विद्यमान रहे, उन्होने अपने ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर जी के अतिरिक्त किसी अन्य पुत्र को प्रदेश-यात्रा के लिए नही जाने दिया था। उनके तिरोधान के बाद ही उनके सभी पुत्र स्वतत्र

(१) काकरोली का इतिहास, पृष्ठ १११
(२) मुगल बादशाहो के फरमान सं० ४–५ (पुष्टिमार्गना ५०० वर्ष, पृष्ठ ७५–७६)
(३) 'शुद्धाद्वैत', वर्ष ३ अक ५ तथा 'श्रीकृष्ण' का लेख–'गुसाईं जी का लीला-प्रवेश संवत्'
(४) अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृष्ठ ७८

रूप से प्रदेश जाने लगे थे। गोसाई जी के चतुर्थ पुत्र गोकुलनाथ जी के सं १६४६ मे गुजरात से उदयपुर जाने का और पचम पुत्र रघुनाथ जी के स १६४९ मे गुजरात जाने का उल्लेख सप्रदाय के प्राचीन ग्रथो से प्राप्त होता है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक गो विट्ठलनाथ जी विद्यमान नही थे।

'सप्रदाय कल्पद्रु म' मे उल्लिखित स १६४४ का समर्थन किसी भी अन्य प्रमाण से नही होता है। फिर स १६४२ के पश्चात् गोसाईं जी द्वारा कोई महत्वपूर्ण कार्य किये जाने का भी उल्लेख साप्रदायिक इतिहास मे नही मिलता है। इससे स १६४२ तक ही उनकी विद्यमानता मानना समीचीन होगा। पुष्टि सप्रदाय मे उनके तिरोधान की जो तिथि स १६४२ की फाल्गुन कृ ७ मानी जाती है, वह प्रामाणिक जान पडती है। वही तिथि अष्टछाप के तीन महानुभाव सर्वश्री गोविंदस्वामी, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास के निधन की भी है। अष्टछाप के शेष पाँच महानुभावो का निधन उससे पहिले ही हो चुका था। इस प्रकार गोसाईं जी के साथ श्रीनाथ जी के आठो सखा भी उनकी नित्यलीला मे प्रविष्ट हो गये थे।

गोसाईं जी की बैठकें—जिस प्रकार श्री बल्लभाचार्य जी की ८४ बैठके प्रसिद्ध है, उसी प्रकार श्री विट्ठलनाथ जी की २८ बैठको की भी ख्याति है। इनमे से १६ बैठके ब्रज मे है और १२ भारतवर्ष के अन्य स्थानो मे है, जो 'श्री गोसाईं जी की बैठकें' कहलाती हैं। जिन स्थानो मे ये बैठके बनी हुई है, वहाँ विट्ठलनाथ जी ने भागवत का प्रवचन किया, अथवा धर्मोपदेश दिया था।

जगतनद कृत 'श्री गुसाईं जी की बन-यात्रा' नामक ग्र थ मे श्री विट्ठलनाथ जी की ब्रज स्थित ७ बैठको का ही उल्लेख हुआ है[1]; किंतु पुष्टि सप्रदाय मे उनकी १६ बैठको की प्रसिद्धि है। ब्रजमडल की ये १६ बैठके इस प्रकार है,—

१ गोकुल मे—ठकुरानी घाट पर है।
२ ,, —श्री द्वारकानाथ जी के मदिर मे है।
३ वृ दाबन मे—वशीवट पर है।
४ राधाकुड मे—श्री राधा-कृष्ण कुड पर है।
५ गोबर्धन मे—चद्र सरोवर पर है, जहाँ श्री विट्ठलनाथ जी ने छै महीने तक विप्रयोग किया था।
६ ,, —चद्र सरोवर पर फूलघर की बैठक है।
७. ,, —जतीपुरा मे श्री मथुरेश जी के मदिर मे है।
८. कामबन मे—श्री कुड पर है।
९ बरसाना मे—प्रेम सरोवर पर है।
१०. ,, —सकेत बन मे कुड के ऊपर है।
११ रीठोरा मे—कुड के ऊपर है। रीठोरा चद्रावली जी का स्थान है। यहाँ पर विट्ठलनाथ जी ने अपने 'श्री दानलीला' ग्र थ की रचना की थी।
१२ करहला मे—कुड के ऊपर पीपल के वृक्ष के नीचे है। यहाँ पर विट्ठलनाथ जी ने 'रास पचाध्यायी' की सुबोधिनी टीका पर अपनी टिप्पणी लिखी थी।
१३ कोटबन मे—कुड के ऊपर है।

---

(१) श्री गोकुल, वृंदाबने, श्री गोवर्धन हेत। कामा सुरभीकुंड पर, परासोली, सकेत।।
मानसरोवर, रिठौरा, गोस्वामी विठलेश। ब्रज मे बैठक सात है 'जगतनंद' शुभ वेश।।

१४. चीरघाट मे—घाट पर है। यहाँ विट्ठलनाथ जी ने 'व्रतचर्या' ग्रंथ की रचना की थी।
१५ वच्छवन मे—छोकर के वृक्ष के नीचे है। यहाँ पर विट्ठलनाथ जी ने 'वेणु गीत' की सुबोधिनी टीका पर अपनी टिप्पणी लिखी थी।
१६ वेलवन मे—यमुना तट पर है। यहाँ पर विट्ठलनाथ जी ने 'श्री पुरुषोत्तम उल्लास' ग्रंथ की रचना की थी।

गोसाईं जी का महत्व और उनकी धार्मिक देन—यद्यपि शुद्धाद्वैत दार्शनिक सिद्धात के प्रतिष्ठापक और भक्ति-सेवा प्रधान पुष्टिमार्ग के मूल प्रवर्त्तक महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी थे, तथापि उनकी समुचित व्यवस्था और सागोपाग उन्नति करने का श्रेय गोसाईं विट्ठलनाथ जी को है। उन्होने अनेक ग्रंथो की रचना कर अपने धार्मिक सिद्धातो को प्रस्थान चतुष्टय के सुदृढ धरातल पर स्थापित किया, और कई बार लबी-लबी यात्राएँ कर उनका व्यापक प्रचार किया था। उनके काल मे प्राय समस्त उत्तरी भारत वैष्णव धर्मोक्त भक्तिमार्ग और कृष्णोपासना के रग मे रँग गया था, जिसका अधिकाश श्रेय आचार्य जी और गोसाईं जी द्वारा प्रचारित पुष्टि सप्रदाय को है।

पुष्टि सप्रदाय की स्थापना से पहिले उत्तर भारत मे अधिकतर शैव-शाक्तादि अवैष्णव और शाकर मतो का बोल-बाला था। वार्ता साहित्य मे 'बाबा वेनु की वार्ता' है, जिससे ज्ञात होता है कि श्री वल्लभाचार्य जी के समय मे काशी से प्रयाग तक के गाँवो मे सर्वत्र देवी की पूजा होती थी। वहाँ पर वैष्णव देवताओ का कोई नाम भी नही जानता था[1]। सर्वश्री वल्लभाचार्य जी और विट्ठलनाथ जी ने अपने धार्मिक उपदेश से अवैष्णवो को आत्मदान वैष्णव और भगवान् कृष्ण का उपासक बना दिया था। गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने तो अपनी अपूर्व भक्ति-भावना तथा आकर्षक सेवा-प्रणाली द्वारा कृष्ण-भक्ति और कृष्णोपासना का और भी व्यापक प्रचार किया था। 'भक्तमाल' मे उनके कार्यों की प्रशसा करते हुए उन्हे घोर कलि काल मे द्वापर युग की स्थापना करने वाला बतलाया गया है[2]।

गोसाईं विट्ठलनाथ जी सुप्रसिद्ध धर्माचार्य, प्रकाड विद्वान और कुशल राजनीतिज्ञ होने के साथ ही साथ साहित्य, सगीत और कलाओ के मर्मज्ञ एव प्रोत्साहनकर्ता थे। उन्होने अपने संप्रदाय के कवियो, सगीताचार्यो, गायको, वादको, चित्रकारो, पाकशास्त्रियो तथा अन्य कलाकारो को सगठित कर उनकी कलाओ को धार्मिक कार्यो मे लगा दिया था। इस प्रकार उन्होने मानव-जीवन की समस्त सत्य, शिव और सुदर भावनाओ को भगवान् के अर्पित करा कर उनके सदुपयोग करने का मार्ग दिखलाया था। ब्रज, ब्रज भाषा और ब्रज साहित्य के लिए तो उनकी देन इतनी महान् है कि उसका यथार्थ मूल्याकन करना सभव नही है। एक भक्ति सप्रदाय के धर्म-गुरु होते हुए भी उनके धार्मिक विचार अत्यत उदार थे, और उनका सामाजिक दृष्टिकोण प्रगतिशील एव समन्वयवादी था। यही कारण है कि उनके शिष्यो मे बडे-बडे राजा-महाराजाओ से लेकर भिक्षुक तक, धुरधर विद्वानो से लेकर मूर्ख तक और उच्च जातियो के कुलीनो से लेकर शूद्र, अन्त्यज एव म्लेच्छ तक थे। उन सबको उन्होने भगवत्सेवा का समान अधिकार दिया था। विभिन्न वर्णो और जातियो के हिंदुओ के साथ ही साथ उस काल के अनेक मुसलमानो ने भी उनसे दीक्षा ली थी। भारत के धर्माचार्यो मे गो विट्ठलनाथ जी का स्थान अनेक दृष्टियो से अनुपम और बे जोड है।

(१) चौ वै. की वार्ता मे 'बाबा वेनु की वार्ता' का 'भाव'
(२) भक्तमाल, छप्पय स ७९

बल्लभ संप्रदाय के 'सप्त गृह' की वंश-परंपरा

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, गो. विट्ठलनाथ जी के सातो पुत्रो से बल्लभ सप्रदाय के आचार्य बल्लभवशीय गोस्वामियो के 'सप्त गृह' की परपरा प्रचलित हुई है। इन सातो घरो को इस सप्रदाय की 'सात गद्दियाँ' कहते हैं। अन्य सप्रदायो की भाँति कभी-कभी इन्हे 'सात पीठ' भी कहा जाता है। यह भी लिखा जा चुका है कि इन सात घरो मे से केवल पहिले और छटे घरो की ही अविच्छिन्न वश–परपराएँ प्रचलित है। शेष पाँच घरो की मूल परपराएँ कुछ काल के उपरात समाप्त हो गई, किंतु उनके वश पूर्वोक्त दो घरो से गोद लिये हुए बालको की सतान से चले हैं। बल्लभ कुल के सभी गोस्वामीगण इन्ही सातो घरो की वश–परपराओ मे है। यहाँ पर इन घरो का सक्षिप्त परिचय लिखा जाता है। इसके लिखने मे हमें गो ब्रजभूषण जी शर्मा कृत 'श्री बल्लभ–वशवृक्ष' से बहुत सहायता मिली है।

१. प्रथम गृह

इस गृह की परपरा गो. विट्ठलनाथ जी के प्रथम पुत्र गो गिरिधर जी से चली है। श्री गिरिधर जी अपने भाइयो मे सबसे बडे थे और गोसाई जी ने घरेलू बटवारा करते समय उन्हे ठाकुर श्री मथुरेश जी का स्वरूप प्रदान करने के साथ ही साथ बल्लभ सप्रदाय के प्रमुख सेव्य स्वरूप श्रीनाथ जी एव श्री नवनीतप्रिय जी के मुख्य सेवाधिकारी भी नियुक्त किया था। इसलिए उनका घर बल्लभ सप्रदायी आचार्यों मे 'टीकैत' अथवा 'तिलकायत' घराना कहलाता है।

इस गृह की वश–परपरा का विस्तार अन्य सभी गृहो से अधिक हुआ है। इसके सबध मे पुष्टि सप्रदाय मे एक अनुश्रुति प्रचलित है। गोसाई विट्ठलनाथ जी की द्वितीय पत्नी पद्मावती जी का निधन उनके एक मात्र पुत्र घनश्याम जी की बाल्यावस्था मे ही हो गया था। श्री गिरिधर जी की पत्नी भामिनी वहू जी ने अपने बालको की भाँति ही अपने छोटे देवर घनश्याम जी का भी लालन–पालन किया था। उनके उस स्नेह–वात्सल्य से प्रसन्न होकर श्री विट्ठलनाथ जी ने आशीर्वाद दिया कि भामिनी बहू जी की कोख सदा हरी–भरी रहेगी। गोसाई जी के आशीर्वाद से श्री गिरिधर जी का प्रथम गृह सबसे अधिक फूला-फला है। इस प्रकार पद–प्रतिष्ठा और वश–विस्तार दोनो दृष्टियो से प्रथम गृह ही बल्लभवशीय गोस्वामियो के घरो मे सबसे बडा है।

श्री गिरिधर जी (सं. १५९७ – स. १६७७)—

जीवन–वृत्तांत—बल्लभ सप्रदाय के 'प्रथम गृह' के प्रतिष्ठापक श्री गिरिधर जी का जन्म स. १५९७ की कार्तिक शु १२ को अडैल मे हुआ था। वे गो. विट्ठलनाथ जी के पुत्रो मे सबसे बडे थे, अत गोसाई जी का तिरोधान होने के अनतर वही पुष्टि सप्रदाय के आचार्य हुए थे। आचार्य–गद्दी पर आसीन होने के समय उनकी आयु प्राय ४५ वर्ष की थी। इससे ज्ञात होता है कि उन्होने अपने यशस्वी पिता जी के ससर्ग और सत्सग का यथेष्ट लाभ उठाया था। फलत: वे प्रगाढ विद्वान और साप्रदायिक तत्व के अच्छे ज्ञाता हुए थे। उनकी विद्वत्ता उनके उन सारगर्भित प्रश्नो से प्रकट होती है, जिनके समाधान के लिए गो विट्ठलनाथ जी ने 'विद्वत्मडन' ग्रथ की रचना की थी। वे बडे ही शात स्वभाव और सौम्य प्रकृति के धर्माचार्य थे। उन्हे ठाकुर–सेवा और भगवद्–भजन मे लगे रहना अधिक प्रिय था। उनके रचे हुए दो ग्रथ मिलते है, जिनके नाम है,– 'गद्य मत्र टीका' और 'उत्सव निर्णय स्तोत्र'।

संतान—श्री गिरिधर जी के ३ पुत्र थे और ३ पुत्रियाँ थी । उनके ज्येष्ठ पुत्र मुरलीधर जी का जन्म सं. १६३० मे हुआ था । द्वितीय पुत्र दामोदर जी सं. १६३२ मे और तृतीय पुत्र गोपीनाथ जी सं. १६३४ मे उत्पन्न हुए थे । मुरलीधर जी बडे होनहार युवक थे, किंतु उनका देहावसान युवावस्था मे ही हो गया था । श्री गिरिधर जी के उपरांत दामोदर जी उनके उत्तराधिकारी हुए थे।

सांप्रदायिक उन्नति और राजकीय सम्मान—श्री गिरिधर जी के आचार्यत्व-काल मे पुष्टि संप्रदाय की यथेष्ट हुई थी । उनके संरक्षण मे सातो घरो के गोस्वामियो ने उस काल मे सांप्रदायिक उन्नति मे पर्याप्त योग दिया था । श्री गिरिधर जी प्राय ३५ वर्ष तक आचार्य-गद्दी पर विराजमान रहे थे । उनके आचार्यत्व के आरंभिक २० वर्ष सम्राट अकबर के शासन मे तथा अंतिम १५ वर्ष जहाँगीर के शासन मे बीते थे । सम्राट अकबर का गिरिधर जी के प्रति वैसे ही आदर-सम्मान का भाव रहा था, जैसा उसका गो विट्ठलनाथ जी के प्रति था । सं १६४६ मे शाही सिपहसालार मुरीदखाँ ने और सं १६५१ मे स्वयं सम्राट अकबर ने गो. विट्ठलनाथ जी के नाम से जो शाही फरमान जारी किये थे, वे वस्तुत गिरिधर जी के काल मे उन्ही के लिए थे । उन फरमानो मे श्रीनाथ जी के मंदिर की गोपालपुर (जतीपुरा) स्थित गायो को सुविधापूर्वक चरने की पुष्टि की गई थी और गोपालपुर तथा गोकुल के मौजो की जिमीदारी के अधिकार प्रदान किये गये थे[1] । इन फरमानो का उल्लेख गत पृष्ठो मे किया जा चुका है ।

उस काल मे सम्राट अकबर के कृपा-पात्र जितने राजा-महाराजा और विशिष्ट व्यक्ति थे, उन्हे स्वयं अथवा उनके प्रतिनिधियो को शाही दरबार मे उपस्थित रहना आवश्यक होता था । तभी वे शाही कृपाओ से लाभान्वित हो सकते थे । शाही दरबार मे उन सब के स्थान उनके पद और गौरव के अनुसार नियत रहते थे । ऐसा उल्लेख मिलता है, श्री गिरिधर जी के प्रतिनिधि स्वरूप उनके ज्येष्ठ पुत्र मुरलीधर जी अकबर के सम्मान्य दरबारी थे ।

मुरलीधर जी बडे होनहार युवक थे । उनकी योग्यता के कारण सम्राट अकबर उनसे बडा स्नेह करता था और उन पर पूरा विश्वास रखता था । उस काल मे सम्राट के खान-पान की व्यवस्था करने वाले सर्वाधिक विश्वसनीय पदाधिकारी होते थे, क्यो कि उन पर ही सम्राट का बहुमूल्य जीवन निर्भर था । ऐसा कहा जाता है, मुरलीधर जी सम्राट के उपयोग मे आने वाले गंगा जल के निरीक्षक थे । यह इतिहास प्रसिद्ध बात है कि सम्राट अकबर गंगा जल पिया करता था । उसके लिए सीलबंद चाँदी के घडो मे शुद्ध गंगा जल लाने की नियमित व्यवस्था थी । सम्राट चाहे राजधानी मे होता था और चाहे यात्राओ मे, सभी जगह उक्त व्यवस्थानुसार उसे शुद्ध गंगा जल प्राप्त होता रहता था ।

अंतिम काल और देहावसान—श्री गिरिधर जी दीर्घजीवी हुए थे । उनकी विद्यमानता मे ही उनके पाँच छोटे भाइयो का देहावसान हो गया था, केवल गोकुलनाथ जी ही उनके समय तक और कुछ बाद तक भी विद्यमान रहे थे । श्री गिरिधर जी का आचार्यत्व-काल प्राय निर्विघ्नता पूर्वक पूरा हुआ था । उनके अंतिम काल मे केवल एक घटना ऐसी हुई, जिसने ब्रज मे धार्मिक अशांति उत्पन्न कर दी थी और पुष्टि संप्रदाय सहित सभी वैष्णव धर्म-संप्रदायो को संकट मे डाल दिया था । उसका कारण सम्राट जहाँगीर का वह राजकीय आदेश था, जिससे ब्रजस्थ वैष्णवो

---

(१) **पुष्टिमार्गनां ५०० वर्ष**, पृष्ठ ७५-७६; **वार्ता साहित्य**, पृष्ठ ५११

के कठी-माला पहिनने पर पाबदी लगा दी गई थी। उससे बचने के लिए अनेक धर्माचार्य ब्रजमडल छोड कर अन्यत्र चले गये थे। पुष्टि सप्रदाय के गोस्वामियो को भी उस काल मे गोकुल-गोबर्धन छोडना पडा था। उक्त प्रसग मे श्री गोकुलनाथ जी प्राय सभी गोस्वामी बालको के साथ सोरो (जिला एटा) चले गये थे। केवल श्री गिरिधर जी ठाकुर-सेवा की व्यवस्था करने के लिए ब्रज मे रहे थे। जैसा पहिले लिखा गया है, सम्राट जहाँगीर ने उज्जैन निवासी तात्रिक सत जदरूप के वैष्णव विरोधी विचारो से प्रभावित होकर वैष्णवो की कठी-माला और उनके तिलक पर रोक लगा दी थी[1]। बाद मे श्री गोकुलनाथ जी के प्रयास से वह रोक हटाई गई थी। इसके सबध मे आगे श्री गोकुलनाथ जी के वृत्तात मे विस्तार से लिखा जावेगा।

श्री गिरिधर जी का देहावसान गोकुल मे हुआ था। उस समय श्री गोकुलनाथ ने उनका अतिम सस्कार करा कर सभी शोकाकुल जनो को सान्त्वना प्रदान की थी। 'सप्रदाय कल्पद्रुम' मे लिखा है, श्री गिरिधर जी का देहावसान स १६६० मे हुआ था, और वे अपने उपास्य ठाकुर श्री मथुरेश जी का शृगार करते समय उनके मुखारविंद मे लीन हो गये थे। तत्कालीन घटनाओ की सगति से श्री गिरिधर जी के देहावसान का उक्त सवत् ठीक नही है। साप्रदायिक इतिहास से उनके देहावसान का यथार्थ काल स १६७७ सिद्ध होता है।

बैठकें—श्री गिरिधर जी की ब्रज मे ५ बैठके है, जिनमे से गोकुल और कामर की बैठके अधिक प्रसिद्ध है। ये पाँच बैठके इस प्रकार है,—

१. गोकुल मे —श्री विट्ठलनाथ जी की बैठक के सन्मुख है। यहाँ बैठ कर श्री गिरिधर जी ने सिद्धात मथन के लिए पूर्व पक्ष उपस्थित किया था और श्री विट्ठलनाथ जी ने उत्तर पक्ष प्रस्तुत किया था, जिसके फल स्वरूप 'विद्वत्मडन' ग्रथ की रचना हुई थी।

२ गोबर्धन मे —जतीपुरा स्थित श्री मथुरेश जी के मदिर मे है। यहाँ श्री गिरिधर जी ने श्रीनाथ जी को सात स्वरूपो सहित विराजमान कर अन्नकूट किया था।

३ कामर मे —साधु के मदिर मे गुफा के अदर है। यहाँ अधकार होने से दीपक के प्रकाश मे दर्शन किये जाते है।

४. नरी-सेमरी मे—बलभद्र कुड पर है। यहाँ पर श्री गिरिधर जी ने छै मास तक निवास कर भागवत की कथा कही थी।

५ कामवन मे—सुरभी कुड पर श्री वल्लभाचार्य जी की बैठक के पास है।

प्रथम गृह की वंश-परंपरा—श्री गिरिधर जी के तीन पुत्रो मे से ज्येष्ठ पुत्र मुरलीधर जी का देहात युवावस्था मे ही हो गया था और उनका कोई उत्तराधिकारी भी नही था। शेष दो पुत्रो मे से मध्यम पुत्र दामोदर जी और कनिष्ट पुत्र गोपीनाथ जी की सतानो से प्रथम गृह की वश-परपरा चली है। श्री गिरिधर जी के पश्चात् दामोदर जी बल्लभ सप्रदाय के आचार्य हुए थे और वे अपने वयोवृद्ध काका श्री गोकुलनाथ जी के सरक्षण मे पुष्टि सप्रदाय की धार्मिक गति-विधियो

(१) जहाँगीर का आत्म-चरित्, पृष्ठ ४१७-४१९

का सचालन करते रहे थे। दामोदर जी के दो पुत्र थे,—१ बालकृष्ण जी (जन्म स. १६५४) और विट्ठलराय जी (जन्म स १६५७)। बालकृष्ण जी का निस्सतान देहावसान हो गया था, अत विट्ठलराय जी ही दामोदर जी के उपरात पुष्टि सम्प्रदाय के आचार्य हुए थे।

श्री विट्ठलराय जी बडे यशस्वी और प्रतापी धर्माचार्य थे। उनके आचार्यत्व-काल मे मुगल सम्राट शाहजहाँ का शासन था। यह इतिहास प्रसिद्ध घटना है कि मुगल सम्राटो मे सर्व प्रथम शाहजहाँ ने हिंदुओ के मदिर-निर्माण पर रोक लगाई थी। यद्यपि यह आदेश स १६८६ मे जारी कर दिया था, तथापि शाहजहाँ पर हिंदू सामतो के प्रभाव और उनके ज्येष्ठ पुत्र दारा शिकोह की धार्मिक उदारता के कारण उनका पालन कराने पर कभी जोर नही दिया गया। फिर भी शाहजहाँ हिंदू धर्म के प्रति उदार नही था। यह बडी विचित्र बात है कि जिस काल मे उसने मदिर-निर्माण को रोकने के लिए राजकीय आदेश निकाला था, उसके कुछ ही महीने पश्चात् स १६६० मे उसने दो फरमान जारी कर श्री विट्ठलराय जी को गोकुल गाँव की जिमींदारी की माफी वहाँ के मदिरो के व्यय के निमित्त प्रदान की थी[1]। शाहजहाँ के उदार पुत्र दारा शिकोह ने स १७००, स १७०४ और स. १७१४ मे तीन फरमान जारी किये थे, जिनमे गोकुल और गोपालपुर के देव स्थानो के लिए कई प्रकार की राजकीय सुविधाएँ दी गई थी[2]। शाहजहाँ के उच्च पदाधिकारी इस्हाक आजमखाँ ने भी स १७०३ मे एक फरमान जारी कर श्री विट्ठलराय जी को गोकुल मे हाट-बाजार पर कर लगाने और उसे वसूल करने का अधिकार दिया था[3]। उक्त फरमानो से ज्ञात होता है कि श्री विट्ठलराय जी कितने प्रभावशाली धर्माचार्य थे और उनके काल मे पुष्टि सप्रदाय किस प्रकार निरतर उन्नति करता रहा था।

प्रथम गृह के ११ 'उपगृह'—श्री विट्ठलराय जी के चार पुत्र थे,—१ गिरिधारी जी (जन्म स १६८६), २ गोविंद जी (जन्म स. १६६७), ३. बालकृष्ण जी (जन्म स १७००) और ४ वल्लभ जी (जन्म स १७०३)। उनमे गिरिधारी जी सबसे बडे होने के कारण पुष्टि सप्रदाय के आचार्य हुए थे। उनके समय मे प्रथम गृह का पारिवारिक बटवारा हो गया था, जिसके अनुसार नित्यलीला स्थित श्री दामोदर जी और गोपीनाथ जी के तत्कालीन वशजो ने विभाजित होकर पृथक्-पृथक् ठाकुर-सेवाएँ प्रचलित की थी। दामोदर जी के वश मे श्रीनाथ जी और श्री नवनीतप्रिय जी की सेवा रही थी, जिससे उनका घराना 'टीकैत' कहा गया। श्री गोपीनाथ जी (दीक्षित जी) के वशजो के पास श्री मथुरेश जी की सेवा रही थी। कालातर मे दामोदर जी के वशजो के ६ और गोपीनाथ जी के वशजो के ५ उपगृह हो गये थे। उनके कारण प्रथम गृह के अतर्गत ११ उपगृह हुए।

श्री दामोदर जी के ६ उपगृहो की गद्दियो के स्थान इस प्रकार हैं,—१ नाथद्वारा, २ बबई (श्री गोकुलाधीश जी), ३ बबई (श्री लाल जी) ४ अमरेली, ५. पोरबदर और गोकुल तथा ६ बबई (बडा मदिर)। श्री गोपीनाथ दीक्षित जी के ५ उपगृहो की गद्दियो के स्थान इस प्रकार है,—७ कोटा और कृष्णगढ, ८ अहमदाबाद, ६ चापासेनी और माडवी, १० जामनगर, जूनागढ और पोरबदर तथा ११ कोटा (बडे महाप्रभु जी)।

---

(१) मुगल बादशाहो के फरमान, स ७ और ८ (पुष्टिमार्गना ५०० वर्ष, पृष्ठ ७७-७८)
(२) वही ,, , स ८,११,१२,१३ (,, ,, , पृष्ठ ७७,७६,८०)
(३) वही ,, , स. ६ (,, ,, , पृष्ठ ७८)
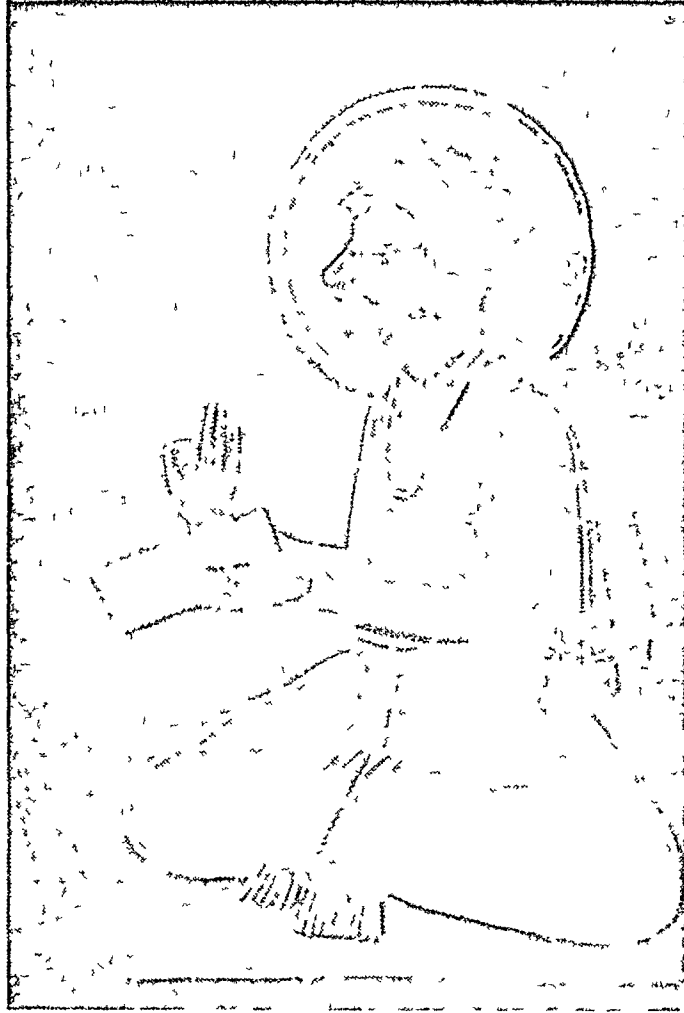
गोस्वामी श्री हरिराय जी

पूर्वोक्त ११ उपगृहो मे से प्रथम उपगृह नाथद्वारा की गद्दी श्रीनाथ जी का घर होने से बल्लभ सप्रदाय की 'टीकैत' अथवा 'तिलकायत' गद्दी है। इसका आरभ श्री दामोदर जी के पौत्र और श्री विट्ठलराय जी के ज्येष्ठ पुत्र गिरिधारी जी से हुआ है। सप्तम उपगृह श्री मथुरेश जी का घर है। इसका आरभ श्री गोपीनाथ दीक्षित जी के ज्येष्ठ पुत्र बल्लभ जी उपनाम प्रभु जी (जन्म स. १६६०) से हुआ है। शेष ९ उपगृहो के विभिन्न स्थानो मे बल्लभ सप्रदाय के अन्य सेव्य स्वरूप विराजमान है।

२ द्वितीय गृह

इस गृह की परपरा गो. विट्ठलनाथ जी के द्वितीय पुत्र श्री गोविंदराय जी से चली है। श्री गोविंदराय जी के अनतर उनके ज्येष्ठ पुत्र कल्याणराय जी (जन्म स १६२५) और उनके उपरात उनके ज्येष्ठ पुत्र हरिराय जी इस घर के तिलकायत हुए थे। श्री हरिराय जी इस घर के तो सर्वाधिक प्रसिद्ध धर्माचार्य थे ही, बल्लभवशीय समस्त गोस्वामियो मे भी उनका स्थान बहुत ऊँचा है। यहाँ पर उनका वृत्तात कुछ विस्तार से लिखा जाता है।

श्री हरिराय जी (स. १६४७ – स. १७७२) —

जीवन-वृत्तांत—श्री हरिराय जी का जन्म स. १६४७ की भाद्रपद कृ० ५ को ब्रज के गोकुल नामक स्थान मे हुआ था। उस काल मे गोबर्धन के पश्चात् गोकुल ही बल्लभ सप्रदाय का प्रमुख केन्द्र था और इस सप्रदाय के सातो स्वरूपो के मदिर तथा सभी गोस्वामी बालको के निवास-स्थल होने के कारण वह बल्लभ सप्रदायी भक्त जनो का प्रमुख तीर्थ स्थल हो गया था। ऐसी पुण्य भूमि के धार्मिक वातावरण मे जन्म लेकर श्री हरिराय जी ने अपनी जीवन–लीला आरभ की थी। जब वे ८ वर्ष के हुए, तब कुल–रीति के अनुसार गोकुल मे उनका यज्ञोपवीत किया गया था। उस समय गोसाई जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री गिरिधर जी विद्यमान थे। तिलकायत आचार्य तथा कुटुब मे सबसे बडे होने के कारण बटुक को ब्रह्म–सवध की दीक्षा देने का अधिकार उन्ही को था, किंतु उन्होने अपने अनुज श्री गोकुलनाथ जी को आदेश दिया कि वे बटुक हरिराय जी को दीक्षा दे। बाद मे हरिराय जी ने शिक्षा भी श्री गोकुलनाथ जी से ही प्राप्त की थी। इस प्रकार श्री गोकुलनाथ जी जैसे प्रकाड विद्वान और धर्मवेत्ता श्री हरिराय जी के दीक्षा–गुरु और शिक्षा–गुरु थे। उनके सतसग और सुशिक्षण से श्री हरिराय जी बल्लभ सप्रदायी सिद्धात, भक्ति तत्त्व और साहित्य के प्रमुख विद्वान हुए थे। वे आरभ से ही श्री गोकुलनाथ जी के सपर्क मे रहे थे, अत उनकी जीवन-चर्या, भक्ति–भावना और रचनाओ का हरिराय जी पर विशेष प्रभाव पडा था।

यात्राएँ और बैठकें—श्री हरिराय जी का अधिकाश जीवन यद्यपि गोकुल, गोवर्धन आदि ब्रज के बल्लभ सप्रदायी केन्द्रो मे निवास करते हुए बीता था, तथापि वे समय–समय पर देशव्यापी यात्राएँ भी किया करते थे। उन यात्राओ मे उन्होने बल्लभ सप्रदायी सिद्धात, भक्ति, उपासना और सेवा-विधि का व्यापक प्रचार करने के साथ ही साथ सर्वश्री बल्लभाचार्य जी और विट्ठलनाथ जी के शिष्य–सेवको की जीवन–गाथाओ के शोध का भी महत्वपूर्ण कार्य किया था। उनके अन्वेषण मे उपलब्ध तथ्यो का उल्लेख उनकी रची हुई वार्ताओ मे मिलता है। अपनी यात्राओ मे प्रवचन और प्रचार के निमित्त उन्होने जिन स्थानो मे निवास किया था, वहाँ उनकी 'बैठकें' बनी हुई हैं। ये बैठके ७ है, जिनमे से १ ब्रज मे और शेष ७ राजस्थान एव गुजरात मे है। ब्रज की एक मात्र बैठक गोकुल मे है।

संतान और शिष्य-सेवक—श्री हरिराय जी के चार पुत्र थे, जिनके नाम सर्वश्री गोविंदजी, विट्ठलराय जी, छोटा जी और गोरा जी थे। उन सब का असमय मे ही देहावसान हो गया था। उनके शिष्य-सेवको मे विट्ठलनाथ भट्ट, हरजीवनदास और प्रेम जी के नाम अधिक प्रसिद्ध है।

ग्रंथ-रचना—श्री हरिराय जी ने बहुसंख्यक ग्रंथो की रचना की थी। उनके ग्रंथो की संख्या जितनी अधिक है, उतनी वल्लभ संप्रदाय ही नही, वरन् किसी भी संप्रदाय के धर्माचार्य की भी नही है। उन्होने संस्कृत के अतिरिक्त ब्रजभाषा मे भी गद्य-पद्यात्मक विपुल ग्रंथ रचे थे। उनके रचे हुए छोटे-बडे ग्रंथ दोसौ से भी अधिक हैं, जिनमे १६६ ग्रंथ संस्कृत मे और ५२ ग्रंथ ब्रजभाषा मे है। उनकी रचनाओ मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण वार्ता साहित्य है, जिसने उन्हे वल्लभ संप्रदाय के साथ ही साथ हिंदी साहित्य मे भी अमर कर दिया है। उनके द्वारा रचित और संपादित ब्रजभाषा ग्रंथो मे चौरासी वैष्णवन की वार्ता और दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता के 'भाव प्रकाश' सहित संपादित संस्करण, महाप्रभु जी की प्राकट्य वार्ता और श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके अतिरिक्त इनके रचे हुए कई पद्यात्मक ग्रंथ और कीर्तन के बहुसंख्यक पद भी हैं।

अंतिम काल और तिरोधान—श्री हरिराय जी अपने जन्म-काल से सं. १७२६ तक ब्रज मे रहे थे। उसके बाद जब औरंगजेब के भीषण दमन के कारण वल्लभवंशीय गोस्वामियो को ब्रज से निष्क्रमण करना पडा, तब उनकी आयु ८० वर्ष के लगभग थी। अपनी उस वृद्धावस्था मे लंबी यात्रा के कष्ट उठा कर वे भी अपने सेव्य स्वरूप और परिकर के साथ मेवाड पहुँचे थे। वहाँ पर ही उनका अंतिम काल व्यतीत हुआ था। उनका तिरोधान १२५ वर्ष की पूर्णायु होने पर सं. १७७२ मे मेवाड के खिमनौर ग्राम मे हुआ था, जहाँ उनकी बैठक और छत्री बनी हुई है[1]। इस प्रकार उनके जीवन के अंतिम ४५ वर्ष मेवाड मे बीते थे। उनकी अनेक प्रसिद्ध रचनाएँ, जिनमे भावात्मक वार्ताएँ मुख्य है, उसी काल मे रची गई थी।

व्यक्तित्व और महत्व—पुष्टि संप्रदाय मे सर्वश्री वल्लभाचार्य जी, विट्ठलनाथ जी और गोकुलनाथ जी के पश्चात् श्री हरिराय जी ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण आचार्य हुए थे। वे चारो 'महाप्रभु' और 'प्रभुचरण' के नाम से इस संप्रदाय मे प्रसिद्ध है। श्री गोकुलनाथ जी की तरह श्री हरिराय जी का साहित्यिक महत्व भी उनके सांप्रदायिक महत्व से कम नही है।

श्री गोपेश्वर जी—वे श्री हरिराय जी के छोटे भाई थे। उनका जन्म सं. १६४९ मे हुआ था। वे भी बडे विद्वान और कई ग्रंथो के रचयिता थे। उनकी पत्नी का असामयिक देहावसान हो गया था। वल्लभ संप्रदाय मे यह अनुश्रुति प्रचलित है कि अपनी पत्नी के विरह मे गोपेश्वर जी बडे शोकाकुल और उद्विग्न रहा करते थे। उस समय श्री हरिराय जी ने उन्हे सान्त्वना देने के लिए अनेक पत्र लिखे थे। वे पत्र संस्कृत भाषा मे लिखे हुए ४१ की संख्या मे उपलब्ध है, और 'शिक्षा पत्र' के नाम से प्रसिद्ध है। उनमे सर्वश्री आचार्य जी और गोसाईं जी की शिक्षाओ के आधार पर उपदेशात्मक कथन किया गया है। उन्हे पढ कर श्री गोपेश्वर जी का उद्विग्न मन शांत हुआ था और वे पुनः अपने कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर हुए थे। उन्होने उक्त पत्रो पर ब्रजभाषा मे टीका भी की थी। पुष्टि संप्रदाय के धार्मिक साहित्य मे 'शिक्षा पत्र' अत्यंत लोकप्रिय रचना है।

---

(१) लेखक कृत 'गो. हरिराय जी का पद साहित्य', पृष्ठ ६

द्वितीय गृह की वंश-परंपरा—जैसा पहिले लिखा गया है, श्री हरिराय जी के चारो पुत्रो का निस्सतान देहावसान हुआ था। उनके छोटे भाई गोपेश्वर जी और उनके परिवार के अन्य व्यक्तियो के भी वश नही चले थे। इस प्रकार इस घर की मूल परपरा समाप्त हो गई थी। उसे चालू रखने के लिए गिरिधर जी नामक बालक को प्रथम गृह से गोद लिया गया था। श्री गिरिधर जी प्रथम गृह के तिलकायत श्री दामोदर जी (बडे दाऊजी) के द्वितीय पुत्र थे। उनका जन्म स १७४५ मे हुआ था। उनकी सतान से द्वितीय घर के अतर्गत दो उपगृहो की परपरा चली है।

इस घर का प्रथम उपगृह गिरिधर जी के प्रथम पुत्र रघुनाथ जी (जन्म सं १७६२) के वशजो का है। इसकी गद्दियाँ नाथद्वारा और इदौर मे हैं। नाथद्वारा मे इस घर की तिलकायत गद्दी है, जहाँ द्वितीय गृह के प्रधान सेव्य स्वरूप श्री विट्ठलनाथ जी विराजमान है। द्वितीय उपगृह गिरिधर जी के चतुर्थ पुत्र घनश्याम जी (जन्म स १७७४) के वशजो का है। इसकी गद्दियाँ बबई (लाल बाबा) और नडियाद मे है।

३. तृतीय गृह

श्री बालकृष्ण जी—तृतीय गृह की परपरा गो विट्ठलनाथ जी के तृतीय पुत्र बालकृष्ण जी से चली है। गो बालकृष्ण जी बडे विद्वान धर्माचार्य थे। उन्हे गो विट्ठलनाथ जी ने श्री द्वारकाधीश जी की सेवा प्रदान की थी। उनके छोटे भाई यदुनाथ जी ने उन्हे श्री बालकृष्ण जी का स्वरूप भी अर्पित कर दिया था। फलत. इस घर मे दोनो स्वरूपो की सेवा होती है। बालकृष्ण जी ने कई ग्र थो की रचना की थी, जिनमे १ स्वप्नदृष्ट स्वामिनी स्तोत्र, २ गुप्त स्वामिनी स्तोत्र विवृति, ३ भक्तिवर्द्धिनी स्तोत्र विवृति, ४ प्रसाद वागीश भाष्य विवरण और ५ सर्वोत्तम स्तोत्र विवृति उपलब्ध है। उनके १ पुत्री और ६ पुत्र हुए थे। स १६५० मे जब श्री बालकृष्ण जी का तिरोधान हुआ, तब उनके ज्येष्ठ पुत्र द्वारकेश जी (जन्म स १६३०) इस घर के तिलकायत हुए थे। उसी समय से इस घर के दो उपगृह हो गये थे।

तृतीय गृह की वंश-परंपरा—इस घर का प्रथम उपगृह द्वारकेश जी के वशजो का है, जिसकी दो गद्दियाँ काकरोली मे है। उनमे से प्रथम तिलकायत गद्दी के प्रधान मदिर मे श्री द्वारकाधीश जी विराजमान है। द्वितीय गद्दी मे श्री मथुराधीश जी की सेवा होती है। उनका मदिर 'छोटा मदिर' कहलाता है। द्वितीय उपगृह श्री द्वारकेश जी के भाई पीतावर जी (जन्म स १६३९) के वशजो का है। इसकी गद्दी सूरत मे है, जहाँ श्री बालकृष्ण जी विराजमान है। इस उपगृह मे श्री पुरुषोत्तम जी बडे प्रसिद्ध विद्वान हुए है, अत उनका कुछ विशेष वृत्तात लिखा जाता है।

श्री पुरुषोत्तम जी (सं. १७२४ से स १८०० के बाद तक)—

श्री पुरुषोत्तम जी का जन्म स १७२४ की भाद्रपद शु ११ को हुआ था। वे पीतावर जी के पुत्र थे, किंतु तृतीय गृह के द्वितीय उपगृह के तिलकायत श्री व्रजराय जी ने उन्हे गोद ले लिया था, जिससे वे सूरत की गद्दी के आचार्य हुए थे। उनका रहन-सहन अत्यत सादा एव सरल था, और उनका पाडित्य तथा शास्त्रीय ज्ञान अपार था। वे पुष्टि-सप्रदाय के उद्भट विद्वान और समर्थ व्याख्याता थे। उन्होने सर्वश्री आचार्य जी और गोसाई जी के अनेक ग्र थो पर विद्वत्तापूर्ण 'विवरण लिखे है, जिनमे उनके अभिप्राय को स्पष्ट किया गया है। उनके अतिरिक्त उन्होने कई सैद्धातिक ग्र थो की स्वतत्र रचना भी की है। उन्हे 'लक्षावधि ग्रथकर्त्ता' माना जाता है। अपने विद्वत्तापूर्ण बहुसख्यक ग्र थो के कारण वे 'ग्र थ वारे' अथवा 'लेख वारे' के उपनामो से प्रसिद्ध है।

पुरुषोत्तम जी सदैव ग्रथ-रचना और शास्त्र-चर्चा मे तल्लीन रहते थे । जब वे यात्रा मे होते, तब भी उनके साथ ग्र थो से भरे हुए अनेक गाडे चलते थे । उन्होने अपनी यात्राओ मे विविध धर्म-सप्रदायो के विद्वानो को शास्त्रार्थ मे पराजित कर पुष्टि सप्रदाय की ध्वजा फहरायी थी, जिससे वे 'दिग्विजयी' कहलाते थे । उनके पश्चात् उनके जैसा विद्वान धर्माचार्य इस सप्रदाय मे और नही हुआ है । उनके रचे हुए ग्र थो मे आचार्य जी कृत 'अणु भाष्य' पर 'प्रकाश' नामक विशद व्याख्या तथा 'सुबोधिनी' की गोसाई जी कृत टिप्पणी पर पाण्डित्यपूर्ण 'विवरण' विशेष रूप से उल्लेखनीय है । इनके अतिरिक्त षोडश ग्र थ टीका, अवतार वादावली, प्रस्थान रत्नाकर, अधिकरण न्यायमाला, पुरुषोत्तम सहस्रनाम विवृति, विविध वाद सग्रह आदि भी उनके प्रसिद्ध ग्र थ हैं ।

तृतीय गृह के गोस्वामियो की विशेषता विद्या-व्यसन और ग्र थाभिरुचि रही है । इनका एक प्रमाण काकरोली का सुप्रसिद्ध 'विद्या विभाग' है, जहाँ पुष्टि सप्रदाय के दुर्लभ ग्रंथो का बडा भडार एकत्र किया गया है ।

४. चतुर्थ गृह

इस गृह की परपरा गो विट्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र श्री गोकुलनाथ जी से चली है । जैसा पहिले लिखा जा चुका है, उन्हे पैतृक बटवारे मे ठाकुर श्री गोकुलनाथ जी की सेवा प्राप्त हुई थी, जो अब भी इस घर मे प्रधान रूप से प्रचलित है । गोसाई जी के सातो पुत्रो मे गोकुलनाथ जी सबसे अधिक विद्वान, सप्रदाय के मर्मज्ञ और लोकप्रिय थे । सर्वश्री वल्लभाचार्य जी और विट्ठलनाथ जी की तरह उन्होने भी पुष्टि सप्रदाय के प्रचार और उसकी गौरव-वृद्धि करने मे बडा योग दिया था, अत उनका कुछ विशेष वृत्तात लिखा जाता है ।

श्री गोकुलनाथ जी (स. १६०८ – १६९७)—

जीवन-वृत्तांत—श्री गोकुलनाथ जी का जन्म स. १६०८ की मार्गशीर्ष शु ७ शुक्रवार को अडैल मे हुआ था । उनका मूल नाम वल्लभ था, किंतु वे गोकुलनाथ जी के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं । उन्होने वेद-शास्त्र-पुराणादि का प्रचुर ज्ञानार्चन कर पुष्टि सप्रदाय के सिद्धात ग्रंथो का गभीर अध्ययन किया था । उन्हे अपने पिताजी द्वारा साप्रदायिक ग्रथो की शिक्षा प्राप्त हुई थी और सप्रदाय के वरिष्ट शिष्य-सेवक, विशेषतया अष्टछाप के सुप्रसिद्ध सगीताचार्य गोविदस्वामी से साहित्य और सगीत की प्रेरणा मिली थी । इस प्रकार वे प्रकाड विद्वान और विविध शास्त्रो के ज्ञाता धर्माचार्य थे । अपने पाडित्य और साप्रदायिक ज्ञान के कारण वे अपने पिताजी के जीवन-काल मे ही सप्रदाय के मर्मज्ञ माने जाने लगे थे । गो विट्ठलनाथ जी के तिरोधान के अनतर जब उनके सातो पुत्रो ने अपने-अपने सेव्य स्वरूपो और शिष्य-सेवको की पृथक्-पृथक् व्यवस्था करना आरभ किया, तब गोकुलनाथ जी का महत्त्व तथा प्रभाव और भी बढ गया था ।

श्री गिरिधर जी के आचार्यत्व काल मे गोकुलनाथ ही पुष्टि सप्रदाय के सर्वमान्य व्याख्याता के रूप से प्रसिद्ध थे । कुटुभ-परिवार और शिष्य-सेवको पर उनका बडा प्रभाव था । श्री विट्ठल-नाथ जी के वयोवृद्ध शिष्य भी उनका स्नेहपूर्ण आदर करते थे और सातो घरो के सभी शिष्य-सेवक उन पर समान रूप से श्रद्धा रखते थे । कुटुभ-परिवार के झगडे-झझटो को भी वही निबटाया करते थे । इतने प्रभावशाली होते हुए भी वे अपने बडे भाइयो के प्रति अत्यत आदर और छोटे भाइयो के प्रति अतीव वात्सल्य का भाव रखते थे । श्री गिरिधर जी की आज्ञा के बिना वे कभी
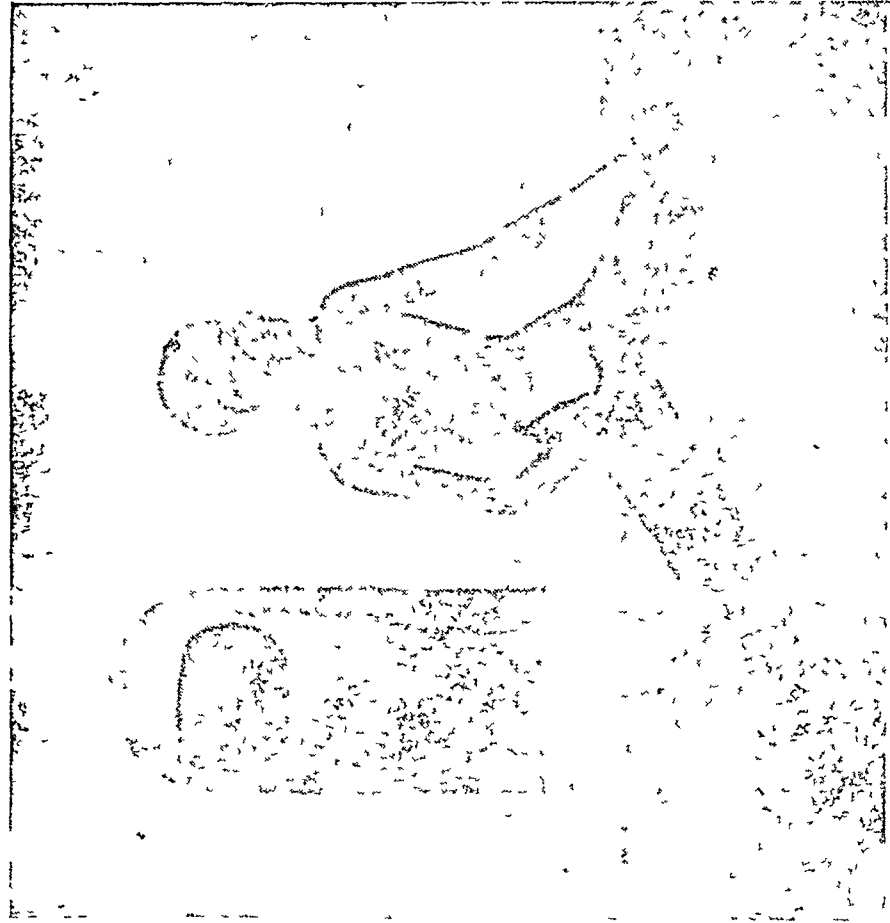
सत जदरूप

गो० गोकुलनाथ जी

कोई काम नही करते थे। वे जीवन पर्यंत पुष्टि सप्रदाय के प्रचार-प्रसार और उसकी गौरव-वृद्धि करने मे सचेष्ट रहे थे। उनके महत्वपूर्ण कार्यो मे एक घटना 'माला प्रसग' के नाम से पुष्टि सप्रदाय मे अधिक प्रसिद्ध है। उक्त घटना का वर्णन यहाँ किया जाता है।

'माला प्रसग'—पुष्टि सप्रदाय की धार्मिक अनुश्रुतियो से ज्ञात होता है कि मुगल सम्राट जहाँगीर के शासन काल मे एक बार ब्रज मे निवास करने वाले वैष्णवो के तिलक और कठी-माला पर रोक लगा दी गई थी। शाही हुक्म था कि जो व्यक्ति तिलक या कठी-माला धारण करेगा, उसे दड दिया जावेगा! वैष्णव सप्रदायो के सभी भक्त गण तिलक और कठी-माला धारण करना अपना धार्मिक कर्त्तव्य मानते हैं। उस काल मे तो तिलक और कठी-माला पर और भी जोर दिया जाता था; किंतु राजकीय आदेश के कारण इन धार्मिक चिह्नो का धारण करना उस समय असभव हो गया था। बहुत से लोगो ने अनिच्छा पूर्वक तिलक लगाना बद कर दिया और कठी-माला उतार कर रख दी। जिन्होने ऐसा करना पसद नही किया, वे ब्रज छोड कर अन्यत्र चले गये थे।

उस काल मे ब्रज के गोबर्धन और गोकुल नामक स्थानो मे पुष्टि सप्रदाय के वैभवशाली मदिर-देवालय थे, और सातो घरो के गोस्वामियो का बडा कुटुभ-परिवार तथा उनके शिष्य-सेवको का विशाल परिकर था। शाही आदेश के कारण उन सब पर सकट आ गया था। उधर ब्रज के मुसलमान हाकिमो ने कठी-माला और तिलक धारण करने वाले वैष्णवो के विरुद्ध कठोर अभियान आरभ कर रखा था। उस विषम परिस्थिति मे गोकुलनाथ जी ने वैष्णव धर्म के सभी भक्ति-सप्रदायो के सन्मान और गौरव की रक्षा के लिए राजकीय आदेश की सविनय अवज्ञा करते हुए शातिपूर्ण सघर्ष किया था। वह एक प्रकार का 'सत्याग्रह' था, जो उस काल मे सर्वथा अभूतपूर्व था।

राजकीय कर्मचारी ब्रज के वैष्णवो की कंठी-माला तोड देते थे और उनके तिलक बिगाड देते थे, किंतु गोकुलनाथ जी उन्हे धैर्यपूर्वक धार्मिक नियमो के पालन करने का उपदेश देते हुए नई कठी-माला पहिना देते थे। जब मुसलमान अधिकारियो ने गोकुलनाथ जी के समक्ष यह शर्त रखी कि या तो वे शाही आदेश के अनुसार कठी-माला और तिलक का परित्याग करें, अथवा ब्रज को छोड कर अन्यत्र चले जावे, तब गोकुलनाथ जी ने कठी-माला और तिलक को छोडने की अपेक्षा अपने परम प्रिय ब्रजमडल को भी छोडना स्वीकार कर लिया। फलत वे अपने पारिवारिक जनो और शिष्य-सेवको के साथ गोबर्धन-गोकुल का परित्याग कर गगा तटवर्ती सोरो (जि एटा) नामक धार्मिक स्थल मे निवास करने को चले गये थे। उनके इस प्रकार निष्क्रमण से ब्रज के वे उल्लासपूर्ण धार्मिक केन्द्र सूने और निर्जन हो गये थे। उस समय ब्रज मे पुष्टि सप्रदाय के उपास्य स्वरूपो की सेवा और मदिरो की देख-भाल के लिए केवल श्री गिरिधर जी ही रह गये थे।

पुष्टि सप्रदायी गोस्वामियो और उनके परिकर के ब्रज से हट जाने पर वहाँ के मुसलमान अधिकारियो का वैष्णव भक्तो के प्रति और भी कठोर व्यवहार होने लगा था। वहाँ के सभी वैष्णव सप्रदायो के धार्मिक जन उससे बडे परेशान थे, किंतु शाही आदेश के विरुद्ध कोई कार्यवाही करने का किसी को साहस नही होता था। अत मे गोकुलनाथ जी ने उसके सबध मे शाही दरबार मे फरियाद करने का निश्चय किया। उस समय सम्राट जहाँगीर कश्मीर मे था। पुष्टि सप्रदायी उल्लेखो से ज्ञात होता है कि गो. गोकुलनाथ जी ७० वर्ष की वृद्धावस्था मे लबी यात्रा करते हुए कश्मीर पहुँचे थे। उसी स्मृति मे वहाँ उनकी बैठक बनी हुई है। वे कश्मीर मे सम्राट जहाँगीर

के दरवार मे उपस्थित हुए और अपनी फरियाद की। उन्होंने कठी-माला और तिलक के पक्ष मे शास्त्रोक्त प्रमाण प्रस्तुत किये और सम्राट अकबर की धार्मिक सहिष्णुता का स्मरण दिलाया, जिसका वडा वाछनीय प्रभाव पडा था। उसके फलस्वरूप सम्राट जहाँगीर ने कश्मीर से वापिस आने पर अपनी वह आज्ञा वापिस ले ली थी। उसके उपरात गोकुलनाथ जी अपने परिकर के साथ सोरो से ब्रज मे वापिस आ गये थे।

इस प्रकार श्री गोकुलनाथ जी के प्रयत्न से ब्रज के समस्त वैष्णव सप्रदायो की धार्मिक प्रतिष्ठा और गौरव की रक्षा हुई थी। सभी वैष्णव भक्त प्रसन्नता पूर्वक अपने-अपने धार्मिक चिह्न कठी-माला तथा तिलक को धारण करने लगे और 'जय-जय श्री गोकुलेश' कहकर श्री गोकुलनाथजी का जय-जयकार करने लगे। यह जय-ध्वनि तभी से वल्लभ सप्रदाय मे प्रचलित हुई है। पुष्टि सप्रदायी उल्लेखो के अनुसार सम्राट जहाँगीर का वह आदेश स १६७४ मे जारी हुआ था और स १६७७ मे उसे वापिस लिया गया था[1]। गो गोकुलनाथ जी अपने परिकर के साथ स. १६७६ की मार्गशीर्ष शु ६ सोमवार को गोकुल से सोरो गये थे, और राजकीय आदेश के रद्द होने पर स १६७७ की चैत्र कृ १० बुधवार को वहाँ से वापिस आये थे[2]।

पुष्टि सप्रदायी अनुश्रुतियो और उल्लेखो से विदित होता है कि सम्राट जहाँगीर ने अपनी वह आज्ञा जदरूप (चिद्रूप) नामक एक तात्रिक सन्यासी के वैष्णव विरोधी विचारो से प्रभावित होकर प्रचलित की थी। किंतु इसका उल्लेख न तो उस काल के किसी फारसी ग्रंथ मे मिलता है, और न जहाँगीर की आत्म-कथा मे ही इसके सबध मे कुछ लिखा गया है। साम्प्रदायिक उल्लेख के अनुसार जदरूप एक गुजराती ब्राह्मण था, जो सन्यासी होकर उज्जैन आ गया था और क्षिप्रा नदी के तट पर भर्तृहरि की गुफा मे निवास करता था। वहाँ उसकी तपस्या और सिद्धि की बडी ख्याति हो गई थी। सम्राट जहाँगीर अपने राज्यारोहण के ग्यारहवे वर्ष स १६७३ मे अजमेर से दलवल सहित उज्जैन गया था। वहाँ पर वह पहिली वार सत जदरूप से मिला था। इसका उल्लेख करते हुए उसने लिखा है,—"२ री इस्फदारमुज (माघ शु. १५ स १६७३) को हम कालियदह (उज्जैन) से नाव मे सवार हुए और अगले पडाव पर गये। हमने अनेक वार सुना था कि एक तपस्वी सन्यासी जदरूप बहुत वर्ष हुए उज्जैन से निकल कर जगल के एक कोने मे रहता है, और सच्चे ईश्वर के अर्चन मे लगा रहता है। मुझे उसके सत्सग की वडी इच्छा थी[3]।"

गुजरात से लौटने पर जहाँगीर स १६८५ के अगहन मास मे फिर उससे दो वार मिला था। उसने उसकी विद्वत्ता और परमहस वृत्ति की प्रशसा करते हुए लिखा है,—"उसका सत्सग वेशक बहुत गनीमत है। वह वेदात का रहस्य बहुत साफ–साफ कहता है। उससे मिलने पर बहुत खुशी होती है। उसकी उम्र ६० साल से ऊपर है[4]।" उसके वाद सत जदरूप उज्जैन से मथुरा आ गया था। वह यहाँ पर एकात मे एक छोटी सी गुफा मे रहने लगा था। स १६७६ के आश्विन मास मे आगरा से कश्मीर जाते हुए जहाँगीर का मथुरा मे मुकाम हुआ था। उस समय वह कई वार जदरूप से मिला था और उससे मिल कर उसने वडी शाति का अनुभव किया था।

---

(१) अष्टछाप–परिचय, पृष्ठ ७६–७७

(२) वार्ता साहित्य, पृष्ठ ३८४

(३) 'जहाँगीर का आत्म चरित' पृष्ठ ४१७–४१६ तथा 'उज्जयिनी दर्शन' पृष्ठ १०१

(४) उज्जयिनी दर्शन, पृष्ठ १०१

सम्राट जहाँगीर ने जदरूप से अनेक वार मिल कर उसके सबध मे जो प्रशसात्मक बाते लिखी है, उनसे ज्ञात होता है कि वह सत की विद्वत्ता, त्यागवृत्ति और तपस्या से अत्यत प्रभावित हुआ था। उसका सत्सग करने मे सम्राट को इतना सुख और आनद मिलता था कि उसे जब कभी अवसर मिलता, वह उससे ज्ञान–चर्चा अवश्य किया करता था। उसके आत्म–चरित मे एक शब्द भी ऐसा नही है, जिससे यह ज्ञात हो सके कि सत जदरूप ने वैष्णवो के तिलक और कठी–माला पर पाबदी लगाने के लिए कभी बादशाह से कुछ कहा हो। सम्राट अकबर ने विविध धर्मो के प्रति सहिष्णुता और सहानुभूति की जो नीति अपनाई थी, उसका पालन बहुत हद तक जहाँगीर ने भी किया था। जहाँगीर की माता और उसकी कई रानियाँ वैष्णव धर्म के प्रति बडी आकृष्ट थी। उसकी एक रानी तो धार्मिक प्रवृत्ति के कारण 'जगत् गोसाइँन' कहलाती थी। जहाँगीर के शासन काल मे ब्रज के विविध स्थानो मे अनेक मदिर–देवालय बनाये गये थे, जिनमे मथुरा के श्री कृष्ण–जन्म-स्थान स्थित श्री केशवराय जी का सुप्रसिद्ध मदिर भी था। उसे जहाँगीर के अत्यत कृपापात्र राजा वीरसिंह देव ने बनवाया था। ऐसी दशा मे जहाँगीर की धार्मिक नीति से उक्त घटना की सगति नही बैठती है।

डा० हरिहरनाथ टडन ने पुष्टि सप्रदायी साहित्य के अनुसार उक्त घटना का उल्लेख करने के अनंतर उसकी आलोचना की है। उनके मतानुसार उस घटना का सबध जहाँगीर से जोडना अनुचित है। वह घटना जहाँगीर की अपेक्षा शाहजहाँ से सबधित हो सकती है, क्यो कि उसी ने जहाँगीर के शासन–काल मे एक बार विद्रोह कर सारे उत्तर भारत की शाँति भग कर दी थी और अपने शासन-काल मे पुराने मदिरो के जीर्णोद्धार को रोक दिया था[1]। किंतु बल्लभ सप्रदायी उल्लेखो मे अथवा अन्यत्र भी, जहाँ कही इस घटना का कथन किया गया है, वहाँ इसे जहाँगीर से ही सबधित बतलाया गया है। फिर उस घटना को जिस जदरूप सन्यासी की प्रेरणा से होना लिखा गया है, वह जहाँगीर के शासन काल मे ही विद्यमान था और उसी पर उक्त सत का बडा प्रभाव था।

बल्लभ सप्रदाय के साहित्यिक उल्लेखो तथा अन्य कवियो की तत्कालीन रचनाओ मे इस घटना का जैसा विशद वर्णन मिलता है, उसे देखते हुए इसकी प्रामाणिकता मे सदेह करने की गुजाइश नही रहती है। बल्लभ सप्रदायी कवियो मे गोसाई जी के आगरा निवासी शिष्य वृदावन-दास तथा गोकुलनाथ जी के शिष्य व्यारा वाला गोपालदास, कल्याण भट्ट और 'प्रसिद्ध' कवि तथा हिंदी के अन्य कवि प्राणनाथ, बिहारी, श्रीपति, शेख, गहरगोपाल और खेम आदि ने उक्त घटना का कथन किया है और उसमे सफलता प्राप्त करने के लिए श्री गोकुलनाथ जी का गुण-गान किया है[2]। व्यारा वाला गोपालदास कृत 'मालोद्धार' (रचना-काल स १७०० के लगभग) और कल्याण भट्ट कृत 'कल्लोल' (रचना-काल स १६६० के लगभग) के तत्सबधी कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके अतिरिक्त श्री गोकुलनाथ जी की जन्म-बधाई वाले एक प्रसिद्ध पद मे भी उक्त घटना का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। उस पद की आरभिक पक्तियाँ इस प्रकार है,—

(राग मारू) जयति विट्ठल-सुवन, प्रकट बल्लभ बली, प्रबल पन करी, तिलक–माल राखी।
खड पाखड, दडी विमुख दूर करि, हर्‌यौ कलि काल, तुम निगम साखी॥

---

(१) वार्ता साहित्य, पृष्ठ ३६३

(२) वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ २६६; वार्ता साहित्य, पृष्ठ ३८५–३८७

इस प्रकार विविध कवियो के तत्कालीन उल्लेखो से यही समझा जा सकता है कि 'माला-प्रसग' की घटना 'अवश्य हुई थी, और उसकी जड मे किसी न किसी रूप मे सत जदरूप था। जदरूप एक वेदाती सन्यासी था, जिसकी साम्प्रदायिक मान्यताएँ वैष्णव धर्मोक्त भक्ति-सम्प्रदायो के आचार-विचार और वेश-भूषा के प्रतिकूल थी। ऐसी दशा मे यह सर्वथा सभव है कि जदरूप की प्रेरणा से, अथवा उसके विचारो के समर्थन मे जहाँगीर ने स्वय अपने मन से ही, वैष्णवो के माला-तिलक पर रोक लगाई हो। उससे ब्रज के समस्त भक्ति सम्प्रदायो के वैष्णवो को जो भारी असुविधा हुई थी, उसका निवारण गो गोकुलनाथ जी के प्रयत्न से हुआ था।

ग्र थ-रचना—श्री गोकुलनाथ जी बड़े विद्वान धर्माचार्य थे। उनकी साम्प्रदायिक देन के समान उनकी ग्र थ-रचना भी अत्यत महत्वपूर्ण है। उन्होने सस्कृत और ब्रजभाषा दोनो मे ग्र थ रचे थे। 'सप्रदाय कल्पद्रु म' मे उनके १३ ग्र थो के नाम लिखे गये है, किंतु उन नामो के अतर्गत वस्तुत अनेक ग्र थ हैं। इस प्रकार उनके रचे हुए कुल ग्र थो की सख्या ३२ होती है। उनके सस्कृत ग्र थो मे सर्वश्री वल्लभाचार्य जी और विट्ठलनाथ जी कृत अनेक ग्र थो पर उनकी टीका-टिप्पणियाँ हैं। ब्रजभाषा ग्र थो मे चौरासी वैष्णवन की वार्ता, दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता, भाव प्रसग और वचनामृत उल्लेखनीय हैं। इनके साथ ही उनके रचे हुए कतिपय पद भी मिलते है। उन्होने ब्रज-भाषा मे उस वार्ता साहित्य का आरभ किया था, जो पुष्टि सप्रदाय की विशिष्ट साहित्यिक देन है, और जिसके कारण ब्रजभाषा गद्य की उस काल मे अभूतपूर्व उन्नति हुई थी।

शिष्य-सेवक—गोकुलनाथ जी के अनेक शिष्य-सेवक थे, जिनमे से ७८ अधिक प्रसिद्ध हैं। उनमे भडौच के मोहनभाई का नाम उल्लेखनीय है। मोहनभाई एक गुजराती वैश्य और विख्यात राज्याधिकारी था। वह आगरा के गोकुलपुरा मे रहता था। गोकुलनाथ जी के कई शिष्य-सेवक अच्छे कीर्तनकार और सुकवि भी थे।

अतिम काल और देहावसान—श्री गोकुलनाथ जी अपने भाइयो मे सर्वाधिक दीर्घजीवी हुए थे। साप्रदायिक उल्लेखो से ज्ञात होता है कि अतिम काल मे उनके नेत्रो की ज्योति नष्ट हो गई थी। उनका देहावसान स. १६९७ की फाल्गुन कृष्णा ९ को हुआ था। उस समय उनकी आयु ९० वर्ष के लगभग थी।

बैठकें—गो श्री गोकुलनाथ जी की १३ बैठके प्रसिद्ध हैं, जिनमे से ८ बैठकें ब्रज मे हैं। ब्रज की बैठके इस प्रकार हैं,—

१ गोकुल मे —श्री गोकुलनाथ जी के मदिर मे है।

२ वृ दावन मे —वशीवट पर है। वहाँ गोकुलनाथ जी ने 'श्री वल्लभाष्टक' की सस्कृत टीका की थी।

३ राधाकुड मे —कुड पर है।

४ गोवर्धन मे —चद्रसरोवर पर है। वहाँ पर गोकुलनाथ जी ने 'श्री सर्वोत्तम स्तोत्र' की सस्कृत टीका लिखी थी। इसी स्थान पर उन्होंने रासधारियो द्वारा रासलीला कराई थी। इसके बाद ही पुष्टि सप्रदाय मे रास का प्रचलन हुआ था।

५ ,, —जतीपुरा मे श्री गोकुलनाथ जी के मदिर मे है।

६. कामवन मे —श्री कुड पर है।

८ करहला मे —श्री विट्ठलनाथ जी की बैठक के पास है। वहाँ पर गोकुलनाथ जी ने वेणुगीत पर प्रवचन किया था।

८ रासोली मे —रासकुड पर छोकर के वृक्ष के नीचे है। वहाँ पर भ्रमरगीत की सुबोधिनी टीका की कथा कही थी।

चतुर्थ गृह की वंश-परंपरा और शिष्य-परंपरा—श्री गोकुलनाथ जी के तीन पुत्र थे,– १ गोपाल जी (जन्म स, १६४२), २ विट्ठलेश जी (जन्म स १६४५) और ३ ब्रजरत्न जी (जन्म स १६५०)। उनमे से ज्येष्ठ पुत्र गोपाल जी और कनिष्ट पुत्र ब्रजरतन जी निस्सतान गोलोकवासी हुए थे। मध्यम पुत्र विट्ठलेश जी से चतुर्थ गृह की वश-परपरा चली थी, किंतु वह भी विट्ठलेश जी के पौत्र ब्रजपति जी (जन्म स १६९३) पर समाप्त हो गई। इस प्रकार मूल परपरा की समाप्ति होने से उसको द्वितीय गृह से लक्ष्मण जी (जन्म स. १८६६) नामक बालक को गोद लेकर चलाना पडा था। दैवयोग से लक्ष्मण जी की वश-परपरा भी आगे नही चल सकी, अत उसे पुन अन्य गृहो से गोद लिये हुए बालको से चलाना पडा है। इस गृह की गद्दी गोकुल मे है, जहाँ इसके सेव्य स्वरूप श्री गोकुलनाथ जी विराजमान है।

इस घर के शिष्य-सेवक गो गोकुलनाथ जी को अपना सर्वस्व मानते है, और पुष्टि सप्रदाय के अन्य गोस्वामियो की अपेक्षा उन्हे विशेष महत्ता प्रदान करते हैं। उनकी साप्रदायिक मान्यताओ मे भी पुष्टि संप्रदाय के सर्वमान्य विधि-विधान से कुछ भिन्नता है। इस घर के शिष्यो मे कितने ही भक्त, कवि और कलाकार हुए है।

५. पंचम गृह

श्री रघुनाथ जी—इस गृह की परपरा श्री विट्ठलनाथ जी के पचम पुत्र श्री रघुनाथ जी से चली है; जिन्हे गोसाई जी ने ठाकुर श्री गोकुलचद्रमा जी का स्वरूप प्रदान किया था। श्री रघुनाथ जी बडे विद्वान धर्माचार्य थे। 'सप्रदाय कल्पद्रुम' के अनुसार उन्होने सस्कृत मे १४ ग्रथो की रचना की थी, जिनमे आचार्य जी के षोडश ग्रथो की टीका विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके ५ पुत्र थे और १ पुत्री थी। श्री रघुनाथ जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री देवकीनदन जी (जन्म स १६३४) थे। गो विट्ठलनाथ जी अपने इस पौत्र से बडा स्नेह करते थे। उनके आशीर्वाद से देवकीनदन जी बडे प्रभावशाली धर्माचार्य हुए थे।

श्री द्वारकेश जी—देवकीनदन जी के वश मे श्री द्वारकेश जी (जन्म स १७५१) बडे विख्यात वार्त्ताकार और भक्त-कवि हुए है। वे अपने भावात्मक वार्त्ता ग्रथो के कारण पुष्टि सप्रदाय मे 'भावना वारे' के उपनाम से प्रसिद्ध हैं। उनके ग्रथो मे अष्टसखान के दोहा (भाव सग्रह), श्रीनाथ जी आदि सात स्वरूपो की भावना, उत्सव भावना, नित्य लीला, मूल पुरुष और पद्योपदेश उल्लेखनीय हैं।

पंचम गृह की वंश-परंपरा—पचम गृह की जो मूल परपरा श्री रघुनाथ जी के ज्येष्ठ पुत्र देवकीनदन जी से चली थी, वह उनके वशज द्वारकानाथ जी (जन्म स. १८२५) पर समाप्त हो गई थी। उसे आगे चलाने के लिए द्वितीय गृह से वल्लभ जी (जन्म स १८६१) नामक बालक गोद लिये गये थे। उन्ही के वशजो से इस घर की परपरा चली है। इस घर के सेव्य स्वरूप श्री गोकुलचद्रमा जी है, जो इस समय कामवन (राजस्थान) मे विराजमान हैं। इस घर के शिष्य-सेवको मे कई परम भक्त और ब्रजभाषा के कवि हुए है।

६ षष्ठ गृह

श्री यदुनाथ जी—वल्लभ सप्रदाय के षष्ठ गृह की परपरा गो. विट्ठलनाथ जी के छठे पुत्र श्री यदुनाथ जी से चली है। श्री यदुनाथ जी का जन्म स १६१५ मे अडैल मे और विवाह स १६३० के लगभग गोकुल मे हुआ था। वैसे तो उनका अपने सभी भाइयो से सहज स्नेह था, किंतु तृतीय अग्रज श्री बालकृष्ण जी मे वे विशेष सौहार्द्र रखते थे। उनका रहन-सहन प्राय. बालकृष्ण जी के साथ होता था। जब गो विट्ठलनाथ जी ने अपने पुत्रो मे सेव्य स्वरूपो का बटवारा किया, तब बालकृष्ण जी को श्री द्वारकानाथ जी और यदुनाथ जी को श्री बालकृष्ण जी के स्वरूप प्रदान किये गये थे। ठाकुर श्री बालकृष्ण जी के स्वरूप की आकृति बहुत छोटी होने से यदुनाथ जी ने उन्हे स्वय स्वीकार न कर अपने बडे भाई बालकृष्ण जी को अर्पित कर दिया था। इससे श्री द्वारकानाथ जी और श्री बालकृष्ण जी दोनो स्वरूपो की सेवा तृतीय घर मे होने लगी, और अपनी इच्छा का स्वरूप न मिलने से यदुनाथ जी बडे असतुष्ट रहने लगे। जब गो विट्ठलनाथ जी ने श्रीनाथ जी के साथ सभी सेव्य स्वरूपो को पधरा कर जतीपुरा मे उनका सम्मिलित उत्सव किया था, तब सब गोस्वामी बालक तो उसमे सम्मिलित हुए, किंतु बटवारे से असतुष्ट होने के कारण यदुनाथ जी वहाँ नही गये और गोकुल मे रहे आये। 'सप्रदाय कल्पद्रुम' का उल्लेख है, उस समय श्री विट्ठलनाथ जी ने अपने शिष्य राजा आसकरन को गोकुल भेज कर उन्हे बुलाया था[1]। आसकरन जी के समझाने मे यदुनाथ जी चले तो गये, किंतु उनका असतोष दूर नही हुआ था। बाद में उन्हे श्री कल्याणराय जी का स्वरूप दिया गया था। यदुनाथ जी बडे विद्वान धर्माचार्य थे। उनका रचा हुआ 'श्री वल्लभ दिग्विजय' ग्रथ प्रसिद्ध है, जिसकी रचना स. १६५८ मे हुई थी। उनका देहावसान स. १६६० के लगभग हुआ था।

षष्ठ गृह की वंश-परंपरा—प्रथम गृह की तरह इस षष्ठ गृह की मूल वश-परपरा भी अविच्छिन्न रही है, यद्यपि उसके समान इसका विस्तार नही हुआ है। श्री यदुनाथ जी के ५ पुत्र हुए थे, जिनके नाम क्रमश १. मधुसूदन जी (जन्म स १६३४), २ रामचद्र जी (जन्म स.१६३८), ३ जगन्नाथ जी (जन्म स. १६४२), ४ बालकृष्ण जी (जन्म स १६४४) और ५ गोपीनाथ जी (जन्म स १६४७) थे। उनमे से आरभिक तीन पुत्र सर्वश्री मधुसूदन जी, रामचंद्र जी और जगन्नाथ जी के वशजो से इस गृह के अतर्गत तीन उपगृह चले हैं। अतिम दो पुत्र बालकृष्ण जी और गोपीनाथ जी के वश नही चले।

छठे घर का प्रथम उपगृह तिलकायत श्री मधुसूदन जी के वशजो का है। इसकी गद्दी शेरगढ (बडौदा) मे है, और इसके सेव्य स्वरूप श्री कल्याणराय जी है। द्वितीय उपगृह श्री रामचद्र जी के वशजो का है। इसकी गद्दी मथुरा मे है, और इसके सेव्य स्वरूप श्री मदनमोहन जी–दाऊजी हैं। तृतीय उपगृह श्री जगन्नाथ जी के वशजो का है। इसकी गद्दी काशी मे है, और इसके सेव्य स्वरूप श्री मुकुदराय जी–गोपाललाल जी है।

इस घर के द्वितीय उपगृह मे श्री पुरुषोत्तम जी एक सास्कृतिक रुचि सम्पन्न एव लोक प्रसिद्ध धर्माचार्य हुए है, अत उनका कुछ विशेष वृत्तात लिखा जाता है।

---

(१) सप्रदाय कल्पद्रुम, पृष्ठ ९१ दोहा स. ४२–५०

श्री पुरुषोत्तम जी (ख्याल वारे)—वे इस घर के द्वितीय उपगृह मे श्री रामचद्र जी की पाँचवी पीढी मे हुए थे, और उनका जन्म स १८०५ मे हुआ था। उनके रचे हुए ब्रजभाषा के लोकगीत विख्यात हैं, जिनके कारण वे वल्लभवशीय गोस्वामियो मे 'ख्याल वारे' के उपनाम से प्रसिद्ध रहे है। लोक-रचनाओ के अतिरिक्त उन्होने कीर्तन के पद भी रचे थे। उनका एक महत्व-पूर्ण कार्य यह था कि उन्होने औरगजेब के दमन–चक्र से उजडी हुई गोकुल नगरी को फिर से आवाद किया, तथा व्रज-यात्रा की उच्छिन्न परपरा को पुन प्रचलित किया था। उस समय उन्होने व्रज–यात्रा का जो नया क्रम निर्धारित किया था, प्राय वही अभी तक चल रहा है।

गो पुरुषोत्तम जी के ४ पुत्र हुए थे, जिनमे से तीन का निस्सतान देहावसान हुआ था। उनके द्वितीय पुत्र ब्रजपाल जी (जन्म स १८३९) के वशजो से इस घर की परपरा चलती रही है। व्रजपाल जी के बडे पुत्र विट्ठलनाथ जी (जन्म स १८७५) के वश मे मथुरा के श्री मदनमोहन–दाऊजी की गद्दी है और छोटे पुत्र पुरुषोत्तम जी (जन्म स. १८७९) के वश मे मथुरा के छोटे मदनमोहन जी की गद्दी है। इन दोनो गद्दियो के कई गोस्वामी और उनके कितने ही शिष्य-सेवक परम भक्त, विशिष्ट विद्वान, सुकवि और कला-कोविद हुए है।

७ सप्तम गृह

श्री घनश्याम जी—सप्तम गृह की मूल परपरा गो श्री विट्ठलनाथ जी के सातवे पुत्र श्री घनश्याम जी से चली है। घनश्याम जी का जन्म गोसाई जी की द्वितीय पत्नी पद्मावती जी के गर्भ से स १६२८ मे गोकुल मे हुआ था। वे गोसाई जी के सबसे छोटे पुत्र और उनकी अतिम सतान थे। वे अपने अन्य भाइयो से आयु मे बहुत छोटे थे, यहाँ तक कि उनकी माता जी का असामयिक देहावसान होने पर उनके ज्येष्ठ भ्राता श्री गिरिधर जी की पत्नी ने अपने बालको के साथ उनका भी लालन–पालन किया था। गोसाई परिवार के सब व्यक्तियो का घनश्याम जी से अत्यत स्नेह था, और सभी उनकी सुख-सुविधा का बडा ध्यान रखते थे। घर के बटवारे मे उन्हे ठाकुर श्री मदनमोहन जी का स्वरूप प्राप्त हुआ था, जो आजकल कामवन मे विराजमान हैं। श्री घनश्याम जी सस्कृत और व्रजभापा के विद्वान थे। उनकी सस्कृत रचना 'मधुराष्टक' और 'गुप्त रस' की टीकाए है, तथा व्रजभाषा मे रचे हुए कुछ स्फुट पद है। उनके २ पुत्र थे और १ पुत्री थी।

सप्तम गृह की वंश-परंपरा—श्री घनश्याम जी के ज्येष्ठ पुत्र व्रजपाल जी (जन्म स. १६५२) का निस्सतान देहावसान हो गया था, अत द्वितीय पुत्र गोपीश जी (जन्म स१. ६६३) उनके पश्चात् सप्तम गृह के तिलकायत हुए थे। श्री गोपीश जी के ४ पुत्र हुए थे, किंतु इस घर की वश-परपरा उनके सबसे छोटे पुत्र श्री रमण जी (जन्म स. १७०४) से चली थी। श्री रमण जी की तीसरी पीढी मे व्रजरमण जी (जन्म स १७५७) हुए थे। उनके बाद इस घर की मूल परपरा समाप्त हो गई। उसे चालू रखने के लिए पहिले तृतीय गृह से व्रजपाल जी और उनके पश्चात् पचम गृह से गोपाल जी नामक बालको को गोद लिया गया था। इस घर के शिष्य–सेवको मे कुछ परम भक्त और सुकवि भी हुए हैं।

उपर्युक्त 'सप्त गृहो' के अतिरिक्त पुष्टि सप्रदाय का एक घर और भी है, जिसे 'लाल जी' का घर कहा जाता है। आगे के पृष्ठो मे उसका सक्षिप्त वृत्तात लिखा गया है।

८. 'लाल जी' का घर

स्थापना और महत्व - जैसा पहिले लिखा जा चुका है, गो. विट्ठलनाथ जी के सुप्रसिद्ध सात औरस पुत्रों के अतिरिक्त उनका एक पालित पुत्र भी था। 'वार्ता' में उनका नाम तुलसीदास बतलाया गया है, और उन्हें गोसाई जी के 'आठवें लाल जी' कहा गया है। 'वार्ता' के अनुसार गो. विट्ठलनाथ जी ने उन्हें ठाकुर श्री गोपीनाथ जी का स्वरूप प्रदान कर यह आदेश दिया था कि वे सिंध प्रदेश में जा कर पुष्टि मार्ग का प्रचार करें और वहाँ के निवासियों को मंत्र-दीक्षा दें[1]। उक्त तुलसीदास 'लाल जी' के उपनाम से प्रसिद्ध हुए और उनका घराना 'लाल जी का घर' कहा गया, जिसे पुष्टि संप्रदाय का 'आठवां घर' भी कहा जा सकता है[2]। इस घर के सेव्य स्वरूप श्री गोपीनाथ जी हैं, और पाकिस्तान बनने से पहिले तक उसकी प्रधान गद्दी सिंध नदी के तटवर्ती डेरा-गाजीखाँ में थी तथा दूसरी गद्दी डेराइस्मायलखाँ में थी।

यद्यपि लाल जी के घर की गद्दी भी पुष्टि संप्रदाय के सुप्रसिद्ध सातों घरों की गद्दियों के साथ ही साथ स्थापित हुई थी, तथापि यह उतनी प्रसिद्ध नहीं हुई, जितनी इस संप्रदाय की वे सात गद्दियाँ हैं। इसके कई कारण हैं। एक कारण तो यह है कि 'लाल जी' गो. विट्ठलनाथ जी के औरस पुत्र नहीं थे, अतः उनकी गद्दी को स्वभावतः वह महत्व नहीं मिल सका, जो इस संप्रदाय की उक्त सातों गद्दियों को प्राप्त है। दूसरा कारण यह है कि लाल जी और उनके वंशजों के कार्य-क्षेत्र सिंध और पंजाब के वे भाग रहे हैं, जो विदेशियों द्वारा सदैव आक्रांत होने के कारण भारत के कृष्णोपासक धार्मिक क्षेत्र से प्रायः कटे-छटे से रहे हैं। फिर भी यह गद्दी इसलिए अधिक महत्वपूर्ण है कि इसके आचार्यों तथा शिष्य-सेवकों ने अनेक कठिनाइयों तथा विघ्न-बाधाओं के रहते हुए भी ब्रजमंडल से बहुत दूर भारत के उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी सीमावर्ती क्षेत्रों में कृष्णोपासना तथा पुष्टिमार्गीय सेवा-भक्ति का प्रचार किया और ब्रजभाषा-हिंदी की पताका फहराये रखी।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि सर्वश्री वल्लभाचार्य जी और गो. विट्ठलनाथ जी ने पुष्टि-मार्ग के प्रचारार्थ भारत के दक्षिणी, पूर्वी और पश्चिमी भागों के विविध-स्थानों की तो लंबी-लंबी यात्राएँ की थी, किंतु उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी भागों में वे थानेश्वर से आगे नहीं गये थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से ज्ञात होता है, जब श्री आचार्य जी थानेश्वर में थे, तब उन्होंने वहाँ बहने वाली सरस्वती नदी के उल्लंघन करने का निषेध किया था। यहाँ तक कि नदी के पार सिहनंद गाँव में, वहाँ के निवासियों की प्रार्थना करने पर भी, वे नहीं गये थे[3]। 'वार्ता' के उक्त उल्लेख से ऐसा आभास होता है कि पुष्टि संप्रदाय के आचार्य भारत के उत्तरी और उत्तर-पश्चिम भागों को, वहाँ के निवासियों के आचार-विचार, रहन-सहन और खान-पान के कारण धार्मिक दृष्टि से निषिद्ध क्षेत्र मानते थे। देश के उसी अछूते भाग में पुष्टि संप्रदाय के प्रचार करने का श्रेय 'लाल जी के घर' की गद्दी को है[4]।

---

(१) दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता सं. २३९ (तृतीय खंड), पृष्ठ २५२-२५४

(२) देखिये, श्री लल्लुभाई छगनलाल देसाई का लेख,—'श्री गुसाई जी ना आठमा लाल जी' (वैश्वानर, वर्ष १३, अंक ३-४)

(३) चौ. वै. की वार्ता में, वार्ता सं. ३८,—'वासुदेवदास छकड़ा की वार्ता' का 'भाव'

(४) देखिये, लेखक कृत 'वल्लभ संप्रदाय की आठवीं गद्दी और उसका साहित्य' शीर्षक का लेख (ब्रज भारती, वर्ष १९, अंक ३)

श्री तुलसीदास—इस घर के साप्रदायिक साहित्य के अनुसार तुलसीदास जी उपनाम 'लाल जी' का जन्म स १६०८ की माघ शु ७ बुधवार को मेष लग्न मे हुआ था। उनके पिता का नाम अजु जी और माता का नाम देवकी जी था। वे कोशल गोत्र और ललरी अल्ल के सारस्वत ब्राह्मण थे[1]। इस घर की मान्यता है कि तुलसीदास जी का जन्म-स्थान सिंध प्रदेश मे लाडकाना का निकटवर्ती सेवन ग्राम है।

पुष्टिमार्ग का प्रचार और ग्रंथ-रचना—गो विट्ठलनाथ जी के सपर्क मे रहने से तुलसीदास जी पुष्टि सप्रदाय की भक्ति और सेवा-विधि से भली भाँति परिचित हो गये थे। उन्होने सिंध नदी के तटवर्ती डेरागाजीखाँ को अपना मुख्य केन्द्र बनाया, और वहाँ से सिंध तथा पश्चिमोत्तर प्रदेशो मे कृष्णोपासना एव पुष्टिमार्ग का प्रचार किया था। उन्होने कई ग्र थो के साथ ही साथ ब्रजभाषा मे कीर्तन और उपदेश सबधी अनेक पदो एव दोहो की रचना की थी। वे पुष्टि सप्रदाय की सेवा-विधि के अनुसार ठाकुर गोपीनाथ जी के उत्सव किया करते थे, जिनमे उनके रचे हुए पदो का गायन होता था। उनके रचे हुए ग्र थो के नाम श्रीमद् भागवत, भक्ति रस सुधा, लघु पचीसी, शिक्षा पचीसी, घर की पद्धति, गीता माहात्म्य, धर्म सवाद, उत्सव मालिका आदि है। उनका काव्योपनाम 'लालदास' अथवा 'लालमति' था।

अतिम काल और देहावसान—वे प्राय ६७ वर्ष की आयु तक जीवित रहे थे। अपने अतिम काल मे वे ठाकुर-सेवा और साप्रदायिक प्रचार का उत्तरदायित्व अपने वशजो को सौप कर स्वय ब्रज मे आ गये थे। उनका देहावसान स १६७५ की भाद्रपद शु ६ को वृ दावन मे हुआ था। वहाँ ठाकुर मदनमोहन जी के पुराने मदिर के निकट उनकी समाधि बनी हुई है।

लाल जी के घर की वंश-परंपरा—तुलसीदास जी उपनाम 'लाल जी' के ४ पुत्र थे,—१ सर्वश्री मथुरानाथ जी, २ गिरिधारी जी, ३ भगवान जी और ४ ग्वाल जी। उनमे से अतिम दोनो पुत्रो के वश नही चले थे। लाल जी के ज्येष्ठ पुत्र मथुरानाथ जी का जन्म स. १६४५ मे डेरागाजीखाँ मे हुआ था। वे अपने पिता जी के पश्चात् इस घर के आचार्य हुए थे। उन्होंने सिंध और पजाब मे पुष्टि सप्रदाय का व्यापक प्रचार किया था। उनके बाद इस घर की दो गद्दियाँ हो गई थी। लाल जी के बडे पुत्र मथुरानाथ जी के वशजो की प्रधान गद्दी डेरागाजीखाँ मे थी, और छोटे पुत्र गिरिधारी जी (जन्म स. १६४६) के वशजो की दूसरी गद्दी डेराइस्मायलखाँ मे कायम हुई। इस घर के आचार्यो मे केवलराम जी अधिक प्रसिद्ध हुए हैं, अत. यहाँ उनका सक्षिप्त वृत्तात लिखा जाता है।

श्री केवलराम—वे लाल जी के पौत्र और मथुरानाथ जी के द्वितीय पुत्र थे। उनका जन्म स १६७४ मे हुआ था। वे अपने पिता के पश्चात् इस घर की प्रधान गद्दी के आचार्य हुए थे। उन्होंने पुष्टि सप्रदाय का व्यापक प्रचार किया और बहुसंख्यक काव्य रचनाएँ की थी। उनके रचे हुए ग्र थो मे स्नेह सागर, ज्ञान दीपक और रत्न सागर उल्लेखनीय हैं।

वशज—केवलराम जी के दो पुत्र हुए थे,—१. मदनमोहन जी और २. जगन्नाथ जी। उनमे से ज्येष्ठ पुत्र मदनमोहन जी (जन्म स १७०१) इस गद्दी के आचार्य हुए थे। उन्होंने ब्रजभाषा मे पर्याप्त रचनाएँ की थी। इस घर के भक्त-कवियो मे केवलराम जी का स्थान सर्वोच्च है। उनके

---

(१) परमानंद कृत 'लाल जी की स्तुति'; हेमदास और कल्याणदास कृत 'लाल जी की बधाई'

पश्चात् मदनमोहन जी का है। उन्होने भागवत दशम स्कध का ब्रजभाषा छदो मे अनुवाद किया था। मदनमोहन जी के छोटे भाई जगन्नाथ का देहावसान युवावस्था मे हो गया था, और उनके कोई भी सतान नही थी। उनकी विधवा पत्नी सुक्खनदेवी जी डेरागाजीखाँ मे वृ दावन आ गई थी। उनका समस्त जीवन वृ दावन मे ही भगवद्–भक्ति और सेवा-पूजा करते हुए बीता था। उनके नाम पर वृ दावन मे 'सुक्खन माता की कुज' है, जो ब्रज मे इस घर की गद्दी का प्रमुख केन्द्र है। इस कुज मे श्री गोरे दाऊजी की सेवा होती है।

मदनमोहन जी के तीन पुत्र हुए थे,—१ प्रद्यु म्न जी (स. १७२६ – स १७७८), २ ब्रजभूषण जी (स. १७३३ – स १८०१) और ३ धरणीधर जी। उनमे प्रद्यु म्न जी के पुत्र अनिरुद्ध जी का वश नही चला था। ब्रजभूषण जी के वशजो मे इस घर की परपरा चलती रही है। लाल जी के समय से लेकर इस देश पर अगरेजो का अधिकार होने तक इस गद्दी की साम्प्रदायिक उन्नति होती रही थी, और इसके साहित्य का भी विकास होता रहा था। अगरेजो के शासन काल मे इसमे शिथिलता आ गई थी। इस गद्दी के आचार्यो के साथ ही साथ उनके शिष्य-सेवको मे भी अनेक सुकवि हुए है।

बल्लभवशियो का ब्रज से निष्क्रमण और सेव्य स्वरूपो का स्थानातरण—

औरंगज़ेब का दमन—मुगल सम्राट औरगजेब का शासन काल (स १७०५–१७६४) ब्रज के हिंदुओ के लिए वडे सकट का युग था। उस धर्मान्ध वादशाह ने राज्याधिकार प्राप्त करते ही अपने मजहवी तास्सुव के कारण ब्रज के हिंदुओ को वलात् मुसलमान बनाने का भारी प्रयत्न किया, और उनके मदिर–देवालयो को नष्ट–भ्रष्ट करने का प्रवल अभियान चलाया था। उनमे ब्रज के धर्माचार्यो और भक्तजनो के लिए जीवन-मरण की समस्या पैदा हो गई थी। पुष्टि सप्रदाय के बल्लभ-वशीय गोस्वामियो को तो अपना सर्वनाश ही होता दिखलाई देने लगा। कारण यह था कि उनका मुगल वादशाहो से विशेष सवध रहा था और वे उनसे लाभान्वित भी हुए थे, तथा उनके मदिर–देवालयो मे वडे सरजाम और धूम-धाम से धार्मिक आयोजन हुआ करते थे, अत वे औरगजेब की आँखो मे सबसे अधिक खटक रहे थे।

ब्रज से निष्क्रमण—उस विपम परिस्थिति मे ब्रज के विविध धर्माचार्य गण अपनी प्राणाधिक देव-मूर्तियो और धार्मिक पोथियो की सुरक्षा के लिए ब्रज को छोड कर अन्यत्र जाने को विवश हुए थे। बल्लभवशीय गोस्वामियो ने अपने सेव्य स्वरूप, धार्मिक ग्र थ तथा अन्य आवश्यक सामग्री के साथ ब्रज से हट कर अन्यत्र चले जाने का निश्चय किया था। उस काल मे अनेक हिंदू राजा पुष्टि सप्रदाय के प्रति बडी श्रद्धा रखते थे। उन्होने अपने-अपने राज्यो मे गोस्वामियो के लिए जमीन–जायदाद भी दे रखी थी, किंतु औरगजेब के विरुद्ध उन्हे आश्रय देने का साहस सब को नही होता था। फिर भी बल्लभवशीय गोस्वामियो को तो ब्रज से हटना ही था। वे अपनी–अपनी सुविधा के अनुसार विभिन्न स्थानो मे जाने का आयोजन करने लगे।

ब्रज से हटने वाले बल्लभवशीय गोस्वामियो मे 'तृतीय गृह' के तत्कालीन आचार्य श्री ब्रज-भूषण जी (स. १७०० – स १७५८) कदाचित प्रथम व्यक्ति थे। उनका अपने कुटुबी ब्रजराय जी से पारिवारिक झगडा था, जिससे बचने के लिए भी उन्होने अन्यत्र जाना आवश्यक समझा था। स १७२० के अत मे वे अपने सेव्य स्वरूप श्री द्वारकाधीश जी, अपने परिवार-परिकर तथा आवश्यक

ग्रथ ग्रौर कुछ चल सपत्ति के साथ गुप्त रूप से गोकुल छोड कर गुजरात की ओर चले गये थे। उस समय वहाँ के कई धनी–मानी सेठ-साहूकार उनके शिष्य-सेवक थे। वे राजनगर (ग्रहमदाबाद) पहुँच कर वहाँ के एक सेठ के मकान मे ठहरे। उसी के गर्भ-गृह मे श्री द्वारकाधीश जी को विराज-मान कर वे गुप्त रीति से उनकी सेवा करते हुए वहाँ रहने लगे।

उसी प्रकार ग्रन्य गृहो के गोस्वामी गण भी शनै–शनै चुपचाप गोकुल छोड कर ग्रन्यत्र जाने लगे। स १७२६ मे औरगजेब ने मथुरा के सुप्रसिद्ध श्री केशवराय जी के मदिर को नष्ट करा दिया था। उसके बाद उसका ग्रगला लक्ष गोकुल और गोवर्धन के पुष्टि सप्रदायी मदिरो को नष्ट करना था। उससे वल्लभवशीय गोस्वामियो मे भगदड मच गई और वे ग्रपने-ग्रपने सेव्य स्वरूपो के साथ सामूहिक रूप मे व्रज से निष्क्रमण करने को विवश हो गये थे।

श्रीनाथ जी का गोवर्धन-परित्याग—पुष्टि सप्रदाय के सर्वप्रधान सेव्य स्वरूप श्रीनाथ जी का गोवर्धन के जतीपुरा–गोपालपुर से हटाया जाना वल्लभवशीय गोस्वामियो के व्रज से निष्क्रमण करने का सर्वाधिक शोचनीय प्रसग है। वह व्रज के धार्मिक इतिहास की एक ग्रत्यत दु.खद दुर्घटना है। उसके कारण गोवर्धन और गोकुल के हरे-भरे धार्मिक क्षेत्र सर्वथा उजड गये थे, और व्रज की सास्कृतिक प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो गया था।

श्रीनाथ जी तथा नवनीतप्रिय जी की सेवा–व्यवस्था का प्रमुख उत्तरदायित्व गिरिधर जी के प्रथम गृह की टीकैत गद्दी को रहा है। उस काल मे श्री दामोदर जी (दाऊ जी) इस घर के तिलकायत थे, किंतु वे १५ वर्ष के बालक थे। इसलिए उनकी तरफ से उनके बडे काका गोविंद जी श्रीनाथ जी की सेवा और प्रथम गृह की व्यवस्था सबधी कार्यों का सचालन करते थे।

श्री गोविंद जी ने उस संकट काल मे श्रीनाथ जी की सुरक्षा के लिए उन्हे गिरिराज जी के मदिर से हटा कर गुप्त रीति से ग्रन्यत्र ले जाने का निश्चय किया। फलत एक दिन सायकाल होते ही श्रीनाथ जी को चुपचाप रथ मे विराजमान किया गया। उनके साथ कुछ धार्मिक ग्र थ और ग्रावश्यक सामग्री को भी रखा गया। फिर रथ को ग्रत्यत गुप्त रीति से ग्रागरा की ग्रोर हाँक दिया गया। रथ के साथ गोविंद जी, उनके दोनो अनुज बालकृष्ण जी और वल्लभ जी, कुछ अन्य गोस्वामी गण, श्रीनाथ जी की कृपापात्र एक व्रजवासिन महिला गगाबाई तथा कतिपय व्रजवासी थे। वह कार्यवाही ऐसी गुप्त रीति से की गई थी कि किसी को कानो-कान खबर भी नही हुई।

'वार्ता' से ज्ञात होता है, जिस दिन श्रीनाथ जी ने गोवर्धन छोडा था, उस दिन स. १७२६ की आश्विन शुक्ला १५ शुक्रवार था[१]। यह तिथि ज्योतिष गणना से ठीक सिद्ध हुई है[२], ग्रत: इसकी प्रामाणिकता निर्विवाद है। 'वार्ता' मे लिखा है, श्रीनाथ जी के जाने के पश्चात् ग्रोरगजेब की सेना मदिर को नष्ट करने के लिए गिरिराज पर चढ दौडी थी। उस समय मदिर की रक्षा के लिए कुछ थोडे से व्रजवासी सेवक ही वहाँ तैनात थे। उन्होने वीरता पूर्वक ग्राक्रमणकारियो का सामना किया था, किंतु ग्रत मे वे सब मारे गये। उस ग्रवसर पर मदिर के दो जलघरियाग्रो ने जिन

(१) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ ४६

(२) वार्ता साहित्य : एक बृहत् ग्रध्ययन, पृष्ठ ५४५

वीरता का परिचय दिया था, उसका साम्प्रदायिक ढग से अलौकिक वर्णन 'वार्ता' मे हुआ है[1]। आक्रमणकारियो ने मदिर को नष्ट-भ्रष्ट कर वहाँ एक मसजिद बनवाई थी[2]।

श्रीनाथ जी की यात्रा और मेवाड़ का प्रवास—गोवर्धन मे चल कर श्रीनाथ जी का रथ रातो-रात ही आगरा पहुँच गया था। उस काल मे आगरा मे पुष्टि सप्रदाय के अनेक शिष्य-सेवक थे। उनके सहयोग से वहाँ श्रीनाथ जी को गुप्त रूप मे कुछ काल तक रखा गया था। वहाँ उनकी नियमित सेवा-पूजा होती रही, और यथा समय उनका अन्नकूट भी किया गया। उसी काल मे गोकुल का मुखिया विट्ठल दुबे श्री नवनीतप्रिय जी के स्वरूप, बाल तिलकायत दामोदर जी तथा प्रथम गृह की बहू-बेटियो को लेकर आगरा आ गया था[3]। इस प्रकार सबके एकत्र हो जाने के उपरात आगरा छोड कर अन्यत्र जाने की तैयारी होने लगी।

निष्कासित गोस्वामियो का वह दल आगरा से चल कर पर्याप्त समय तक विभिन्न हिंदू राज्यो का चक्कर काटता रहा था। अत मे उन सब ने मेवाड राज्य मे प्रवेश किया और वहाँ उन्हे स्थायी रूप से आश्रय प्रदान किया। जब तक वे यात्रा मे रहे थे, तब तक श्रीनाथ जी को बड़ा छिपा कर रखा जाता था, और किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँच कर ही अत्यत गुप्त रीति से उनकी सेवा-पूजा की जाती थी। जिन स्थानो मे श्रीनाथ जी कुछ अधिक काल तक विराजे थे, अथवा जहाँ उनका कोई विशेष उत्सव हुआ था, वहाँ उनकी 'चरण चौकियाँ' बनाई गई। ऐसी अनेक 'चरण चौकियाँ' अभी तक विद्यमान है। आगरा मे उनके प्रथम मुकाम और अन्नकूट करने की स्मृति मे जो 'चरण चौकी' बनाई गई है, वह वहाँ के फुलट्टी बाजार के एक मकान मे स्थित है।

'गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता' मे श्रीनाथ जी की निष्क्रमण-यात्रा और उनके ठहरने के मुकामो का विस्तृत वर्णन मिलता है। उससे ज्ञात होता है कि स १७२६ की आश्विन कृ १५ को वे आगरा पहुँचे थे और वहाँ अन्नकूट करने के अनतर कार्तिक के महीने मे उन्होने वहाँ से प्रस्थान किया था। आगरा से चल कर वे ग्वालियर राज्य मे गये थे, जहाँ चबल नदी के तटवर्ती दडौतीधार नामक स्थान मे उन्होने मुकाम किया था। वहाँ 'कृष्णपुरी' मे श्रीनाथ जी विराजे थे। उस स्थान से चल कर वे कोटा गये, जहाँ 'कृष्णविलास' की पद्मशिला पर श्रीनाथ जी ४ महीने तक विराजमान रहे थे। कोटा से पुष्कर होते हुए वे कृष्णगढ गये थे। वहाँ नगर से २ मील दूर पहाडी पर 'पीताबर जी की गाल' मे श्रीनाथ जी विराजे थे। कृष्णगढ से चल कर जोधपुर राज्य के बबाल और बीसलपुर स्थानो मे होते हुए वे चापासेनी पहुँचे थे, जहाँ श्रीनाथ जी ४-५ महीने तक विराजमान रहे थे। उसी स्थान पर स १७२७ के कार्तिक मास मे उनका अन्नकूट उत्सव किया गया था। अत मे मेवाड राज्य के सिहाड नामक स्थान मे पहुँच कर वे स्थायी रूप से विराजमान हुए थे। उस काल मे मेवाड का राणा राजसिंह (शासन स १६८६ – स १७३७) सर्वाधिक शक्तिशाली हिंदू नरेश था। उसने औरगजेब के विरोध की उपेक्षा कर पुष्टि सप्रदाय के गोस्वामियो को आश्रय और सरक्षण प्रदान किया था। स १७२८ के कार्तिक मे श्रीनाथ जी सिहाड पहुँचे थे, और वहाँ मदिर बन जाने पर फाल्गुन कृ ७ शनिवार को उनका पाटोत्सव किया गया था[4]।

---

(१) **श्री गोबर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता**, पृष्ठ ४७
(२) वही ,, ,, , पृष्ठ ४८
(३) वही ,, ,, , पृष्ठ ४९
(४) वही ,, ,, , पृष्ठ ६८

इस प्रकार श्रीनाथ जी को गिरिराज के मदिर से हटा कर सिंहाड के मदिर मे विराजमान करने तक २ वर्ष, ४ महीना, ७ दिन का समय लगा था[1] । उस काल मे गोस्वामियो को और उनके परिकर को नाना प्रकार के सकटो का सामना करना पडा, किंतु वे अपने आराध्य देव श्रीनाथ जी को सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने मे सफल हुए थे । श्रीनाथ जी के कारण मेवाड का वह अप्रसिद्ध सिहाड ग्राम 'श्रीनाथ द्वारा' के नाम से समस्त भारतवर्ष मे विख्यात हो गया ।

पुष्टि संप्रदाय के अन्य सेव्य स्वरूपो का स्थानांतरण—औरगजेब के शासन काल मे पुष्टि सप्रदाय के सभी प्रमुख सेव्य स्वरूपो को व्रज से हटा कर अन्य सुरक्षित स्थानो मे विराजमान किया गया था । उनमे से श्रीनाथ जी के स्थानातरण का जैसा विशद वर्णन मिलता है, वैसा अन्य स्वरूपो का उपलब्ध नही है, फिर भी तत्सबधी कुछ सूचनाएँ कतिपय ग्रथो मे मिलती हैं । उन्ही के आधार पर उनके स्थानातरण का सक्षिप्त वृत्तात लिखा जाता है ।

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, श्री द्वारकानाथ जी के स्वरूप को श्रीनाथ जी के व्रज छोडने से भी पहिले हटाया गया था । उन्हे आरभ मे गुजरात के राजनगर (अहमदाबाद) मे रखा गया, और फिर मेवाड के आसोटिया नामक स्थान मे ले जाया गया था । वहाँ के मदिर मे उन्हे स १७२७ की भाद्रपद शु ७ को पधाराया गया[2] । बाद मे उन्हे काकरोली नामक स्थान मे पहुँचाया गया, जहाँ के मदिर मे वे अभी तक विराजमान है । श्री नवनीतप्रिय जी के स्वरूप को तो श्रीनाथ जी के साथ ही ले जाया गया था, और वे अब भी नाथद्वारा के मदिर मे विराजमान हैं । द्वितीय गृह के तिलकायत श्री हरिराय जी अपने सेव्य स्वरूप श्री विट्ठलनाथ जी को लेकर श्रीनाथ जी के साथ ही व्रज से हटे थे या कुछ बाद मे, इसका उल्लेख नही मिलता है । किंतु इतना निश्चित है, वे भी प्राय उसी काल मे अपने परिकर के साथ व्रज से गये थे । उन्होने मेवाड के खिमनौर नामक स्थान मे आश्रय लिया था[3] ।

इस प्रकार स १७२८ मे पुष्टि संप्रदाय के प्रमुख सेव्य स्वरूप श्रीनाथ जी और श्री नवनीतप्रिय जी, तथा द्वितीय और तृतीय गृहो के उपास्य स्वरूप श्री विट्ठलनाथ जी और श्री द्वारकानाथ जी मेवाड मे विराजमान हो गये थे । उन्हे अपने राज्य मे रख कर मेवाड–नरेश राजसिंह ने उस काल मे बडे साहस का परिचय दिया था । स १७३६ मे औरगजेब ने मेवाड के विरुद्ध युद्ध छेड दिया; किंतु उसमे उसकी पराजय हुई थी । स १७३७ की कार्तिक शु. १० को महाराणा राजसिंह की मृत्यु हो गई । उसके उपरात स १७३८ मे औरगजेब ने पुन मेवाड पर आक्रमण किया, जिसमे उसकी जीत हुई थी । वे सब झगडे–झझट होते रहे, किंतु पुष्टि सप्रदाय के वे चारो सेव्य स्वरूप मेवाड मे ही विराजमान रहे, और अब भी वही पर है ।

प्रथम गृह के उपास्य श्री मथुरेश जी को उस काल मे जब व्रज से हटाया गया, तब कुछ समय तक इधर–उधर घूमने के अनतर उन्हे पहिले बूदी राज्य मे विराजमान किया गया था । जब जयपुर और बूंदी के राजाओ मे सघर्ष हुआ, तब उसमे कोटा के तत्कालीन महाराव ने बूंदी की

(१) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ ६७–६९

(२) काकरोली का इतिहास, पृष्ठ १४०

(३) वही ,, . पृष्ठ १४८ की टिप्पणी

सहायता की थी। उसके उपलक्ष मे महाराव ने बूंदी-नरेश से मथुरेश जी का स्वरूप माँग लिया और उन्हे बडी श्रद्धा पूर्वक अपनी राजधानी कोटा मे पधराया था। फलत स १७६५ मे श्री मथुरेश जी कोटा पधारे थे। कोटा के महाराव दुर्जनशाल और राज्यमत्री द्वारकादास बडे भक्त जन थे। उस समय इस घर के तिलकायत गोपीनाथ जी (जन्म स १७४५) श्री मथुरेश जी के स्वरूप को कोटा ले गये थे। राज्यमत्री द्वारकादास ने अपनी हवेली और महाराव दुर्जनशाल ने जागीर उन्हे भेंट की थी। तब से इस घर की गद्दी कोटा मे स्थापित हुई, और अब से कुछ समय पूर्व तक उसी स्थान पर थी। इस समय श्री मथुरेश जी ब्रज के जतीपुरा नामक स्थान मे विराजमान है।

चतुर्थ, पचम और सप्तम गृहो के उपास्य क्रमश श्री गोकुलनाथ जी, श्री गोकुलचद्रमा जी और श्री मदनमोहन जी के स्वरूपो को ब्रज से हटा कर अस्थायी रूप से इधर-उधर रखने के पश्चात् जयपुर राज्य मे विराजमान किया गया था। वहाँ के महाराज प्रतापसिंह के शासन-काल (स १८३३–स १८५८) तक जयपुर के मदिरो मे उन तीनो स्वरूपो की सेवा बडे वैभव के साथ होती थी। बाद मे राजकीय उपेक्षा से उत्पन्न असुविधा के कारण श्री गोकुलनाथ जी को जयपुर से हटाया गया, और कालातर मे उन्हे ब्रज मे वापिस लेजा कर गोकुल मे विराजमान किया गया। श्री गोकुल-चद्रमा जी एव श्री मदनमोहन जी के स्वरूपो को पहिले बीकानेर मे रखा गया, और फिर उन्हे कामवन (राजस्थान) मे विराजमान किया गया। ये तीनो स्वरूप अब भी क्रमश गोकुल और कामवन मे विराजमान है।

षष्ठ गृह के तिलकायत श्री यदुनाथ जी को प्रदत्त, किंतु उनके द्वारा अस्वीकृत किये जाने से तृतीय गृह के तिलकायत गो बालकृष्ण जी द्वारा सेवित, ठाकुर श्री बालकृष्ण जी के स्वरूप को तृतीय गृह के तत्कालीन गोस्वामी ब्रजराय जी (जन्म स १६८२) उस सकट–काल मे ब्रज से हटा कर सूरत (गुजरात) ले गये थे। यह स्वरूप अभी तक उसी स्थान मे विराजमान है। षष्ठ गृह के सेव्य स्वरूप श्री कल्याणराय जी को भी उसी काल मे ब्रज से हटाया गया था। कालातर मे उन्हे शेरगढ (बडोदा) मे विराजमान किया गया। यह स्वरूप अब भी उसी स्थान मे छठे घर की तिलकायत गद्दी के मदिर मे विराजमान है।

निष्क्रमण और स्थानांतरण का दुष्परिणाम—वल्लभवशीय गोस्वामियो के निष्क्रमण और उनके सेव्य स्वरूपो के स्थानातरण का बडा शोचनीय दुष्परिणाम ब्रजमडल को भोगना पडा था। उसकी धार्मिक और कलात्मक समृद्धि उस भीषण आघात से एक बार समाप्त सी हो गई थी। गोस्वामियो के आश्रित और उनके देवालयो से सबधित जो पडित, विद्वान, कवि, गायक, वादक, नर्त्तक, चित्रकार, मूर्तिकार, स्थपति, शिल्पी आदि बहुसख्यक गुणी जन थे, वे एक साथ ही निराश्रित और असहाय हो गये थे। औरगजेब के मजहबी तास्सुब और कला–विरोधी दृष्टिकोण के कारण उन्हे राजकीय प्रश्रय भी प्राप्त नही हो सका था, अत उनमे से अधिकाश उन्ही स्थानो मे जाने को विवश हुए, जहाँ गोस्वामियो ने आश्रय ग्रहण किया था। ऐसे गुणी जनो के सैकडो परिवार उस समय सदा के लिए ब्रज को छोड कर अन्यत्र जा कर बस गये थे। इस प्रकार उस काल मे ब्रज की जो अपरिमित क्षति हुई, उसका यथार्थ वर्णन करना सभव नही है।

बाद मे जब जाट-मरहठाओ का प्रभुत्व हुआ, तब उन्होने ब्रज की धार्मिक और सास्कृतिक क्षति को पूरा करने की कुछ चेष्टा की थी, किंतु उसका कोई खास परिणाम दिखलाई नही दिया। विगत युग की वह धार्मिक उन्नति ब्रज के लिए स्वप्न की सी सपत्ति हो कर रह गई।

२. चैतन्य संप्रदाय

नाम और परपरा—ब्रज के कृष्णोपासक वैष्णव सप्रदायो मे वल्लभ सप्रदाय के पश्चात् चैतन्य सप्रदाय अधिक महत्वपूर्ण है। इस भक्ति-सप्रदाय का प्रवर्त्तन श्री चैतन्य देव की प्रेरणा से गौड अर्थात् प्राचीन वगाल प्रदेश मे हुआ था। इसलिए जहाँ इसके प्रवर्त्तक-प्रेरक के नाम पर इसे 'चैतन्य सप्रदाय' अथवा 'चैतन्य मत' कहते है, वहाँ यह अपने जन्म-स्थान के कारण 'गौडीय सप्रदाय' भी कहा जाता है। वैष्णव धर्म के प्राचीन चतु संप्रदायो मे यह भक्ति सप्रदाय श्री मध्वाचार्य द्वारा प्रचारित 'ब्रह्म सप्रदाय' किंवा 'माध्व सप्रदाय' की परपरा मे विकसित हुआ है, अतः इसका एक नाम 'माध्व गौडेश्वर सप्रदाय' भी है।

यद्यपि इसका जन्म वगाल मे और प्रारभिक प्रचार वगाल तथा उडीसा प्रदेशो मे हुआ था, तथापि इसका शास्त्रीय और लोक-सम्मत स्वरूप ब्रजमडल मे निवास करने वाले चैतन्य-भक्त गौडीय गोस्वामियो ने निर्धारित किया था। इसके साथ ही इस सप्रदाय ने ब्रज की धार्मिक भावना पर भी प्रचुर प्रभाव डाला है। इससे ब्रज के भक्ति-सप्रदायो मे इसका विशिष्ट स्थान रहा है।

परपरा की दृष्टि से इस सप्रदाय का जन्म एव विकास माध्व सप्रदाय के अतर्गत हुआ, और इसकी मूल प्रेरणा भी माध्व सप्रदायी विख्यात धर्माचार्य श्री माधवेन्द्र पुरी तथा उनके शिष्य श्री ईश्वर पुरी से चैतन्य को मिली, फिर भी श्री चैतन्य देव, उनके प्रमुख महकारी सर्वश्री अद्वैताचार्य एव नित्यानद तथा चैतन्य जी के विद्वान पार्षद सर्वश्री सनातन-रूपादि गोस्वामियो के चितन-मनन एव विचार-मथन के फलस्वरूप इसने एक स्वतत्र भक्ति-सप्रदाय का रूप धारण कर लिया। इसका भक्ति-तत्व और दार्शनिक सिद्धात भी माध्व सप्रदाय के सर्वथा अनुकूल नही रहा। इन सव कारणो से इसे एक पृथक् भक्ति सप्रदाय ही माना गया है।

श्री चैतन्य महाप्रभु (सं १५४२ - सं. १५९०)—

जीवन-वृत्तांत—श्री चैतन्य देव वगाली ब्राह्मण थे। उनका जन्म वगाल के नवद्वीप (नदिया) नामक स्थान मे स. १५४२ की फाल्गुन शु १५ को हुआ था। उनके पिता का नाम जगन्नाथ मिश्र और माता का नाम शची देवी था। उनका आरभिक नाम विश्वभर अथवा निमाई था। वे गौर वर्ण के होने से गौराग भी कहलाते थे। सन्यासी होने पर उनका नाम कृष्ण चैतन्य हुआ था। वे इसी नाम से अथवा चैतन्य महाप्रभु के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं।

वे वडे मेधावी और प्रतिभाशाली थे। उन्होने १४-१५ वर्ष की आयु मे ही प्रचुर विद्या प्राप्त कर ली थी, और १६ वर्ष की आयु मे वे एक पाठशाला स्थापित कर छात्रो को विद्या प्रदान करने लगे थे। उनके पाडित्य और शास्त्रीय ज्ञान की इतनी ख्याति थी कि दूर-दूर के छात्र गण उनकी पाठशाला मे पढने आते थे। उनका विवाह हो गया था, और वे सुख पूर्वक गृहस्थ धर्म का पालन करने लगे थे।

स. १५६२ मे वे अपने स्वर्गीय पिता के श्राद्ध और पिंड-दान के लिए गया धाम गये थे। वहाँ पर उन्हे श्री माधवेन्द्र पुरी के शिष्य श्री ईश्वर पुरी से मिलने का सुयोग प्राप्त हुआ था। वे उक्त पुरी जी के शिष्य हो गये, और उनके उपदेश तथा सत्सग से उनके जीवन मे महान् परिवर्तन हो गया। वे गृहस्थ से प्राय. उदासीन होकर दिन-रात भगवद्-भक्ति मे लीन रहने लगे। उन्होंने नवद्वीप की शाक्त सप्रदायी जनता मे कृष्ण-भक्ति और हरिनाम-कीर्तन का प्रचार करना आरम्भ किया। उनके भक्ति-भाव और निर्मल चरित्र से आकर्षित होकर अनेक नर-नारी उनके भक्त वन गये थे।

उनकी धार्मिकता और भक्ति-भावना की ख्याति नवद्वीप से बाहर समस्त बगाल मे व्याप्त थी। दूर-दूर के अनेक श्रद्धालु जन उनकी शरण मे आकर श्रीकृष्ण की उपासना-भक्ति की उनसे प्रेरणा प्राप्त करने लगे। उनके सहकारियो और शिष्यो की एक बडी मडली बन गई थी, जिनमे सर्वश्री नित्यानद, अद्वैताचार्य, हरिदास आदि प्रमुख थे।

सन्यास और पर्यटन—चैतन्य देव ने स १५६६ के माघ मास मे सन्यास की दीक्षा ली थी। उनका सन्यास-आश्रम का नाम 'कृष्ण चैतन्य' था। सन्यासी होने पर वे सर्वप्रथम जगन्नाथ-पुरी गये थे। वहाँ उन्होने नीलाचल पर कुछ काल तक निवास किया। उस समय उन्होने वहाँ के विख्यात न्यायशास्त्री वासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्य को अपने प्रकाड पाडित्य से प्रभावित किया था। उसके बाद वे देशाटन को चले गये। उन्होने ८ वर्ष तक भारत के अनेक तीर्थों की यात्रा की थी।

वे सबसे पहिले दक्षिण-यात्रा को गये। वहाँ गोदावरी के तट पर उनकी राय रामानद नामक एक विद्वान राजपुरुष से भेट हुई थी। राय रामानद जी उडीसा के राजा की ओर से उस प्रदेश के राज्यपाल थे। उन्होने श्री चैतन्य देव के साथ साध्य-साधन तत्व पर आध्यात्मिक वार्ता की थी, जिससे प्रभावित होकर वे चैतन्य देव के अनुगत हो गये और बाद मे उनकी सेवा मे नीलाचल मे रहने लगे थे। वहाँ से चल कर श्री चैतन्य देव श्रीरग क्षेत्र पहुँचे। वहाँ पर वेंकट भट्ट के घर उन्होने चातुर्मास्य किया। उक्त भट्ट जी का पुत्र गोपाल उस समय १२ वर्ष का बालक था। उसे चैतन्य देव ने स १५६८ की कार्तिक शु ११ को अपना अनुगत किया था। बाद मे वही सुप्रसिद्ध गोपाल भट्ट गोस्वामी हुआ था।

दक्षिण-यात्रा से वापिस आने के पश्चात् श्री चैतन्य देव ने कुछ काल तक जगन्नाथ पुरी मे विश्राम किया। उसके उपरात वे ब्रज-वृ दावन की यात्रा करने का विचार करने लगे। उन दिनो वे कृष्ण-भक्ति के प्रेमावेश मे प्राय विह्वल हो जाया करते थे। इसलिए उनके अनुगामी भक्तो ने उनकी मनोदशा और मार्ग की सकटपूर्ण स्थिति के कारण उन्हे वृ दावन जाने से बार-बार रोका था, किंतु फिर भी वे चल ही दिये थे।

जगन्नाथ पुरी से चल कर वे गौड प्रदेश मे प्रविष्ट हुए और वहाँ के रामकेलि नामक ग्राम मे पहुँचे। वह ग्राम गौड के बादशाह हुसैनशाह के प्रमुख राज-कर्मचारी सर्वश्री सनातन और रूप का निवास-स्थल था। वे दोनो भाई बडे विद्वान और भक्त जन थे। उन्होने चैतन्य देव का उपदेश सुना और उनसे बडे प्रभावित हुए। वे राज-सेवा से मुक्त होकर विरक्ति-भाव से जीवन-यापन करने और चैतन्य देव के मार्ग का अनुसरण करने की चेष्टा करने लगे। उस यात्रा मे चैतन्य देव वृ दावन नही जा सके थे। उस समय उनके साथ अनुगामी भक्तो की एक बडी भीड हो गई थी, जिसे साथ लेकर ब्रज-वृ दावन की कठिन यात्रा करना उन्होने उचित नही समझा था। श्री चैतन्य देव की वह यात्रा स १५७१ के लगभग हुई थी।

ब्रज-यात्रा—उस काल मे भारत के पूर्वी भाग से ब्रजमडल तक की यात्रा करना बडा कठिन और सकटपूर्ण था। यात्रा के मार्ग मे मुसलमान आक्रमणकारियो द्वारा अधिकृत प्रदेश थे, चोर-डाकुओ द्वारा आक्रात निर्जन और अरक्षित भू-भाग थे, तथा हिंसक पशुओ के क्रीडा-स्थल अनेक बन खड थे, जिनमे से कुशलता पूर्वक बच निकलना सशस्त्र सैनिको के लिए भी कठिन होता था। निहत्थे तीर्थ-यात्रियो के लिए तो वह यात्रा उस काल मे प्राय असभव ही थी। फिर भी विरक्त साधु-सन्यासी और धर्म-प्राण व्यक्ति सब प्रकार की कठिनाइयो को सहन करते हुए वह यात्रा
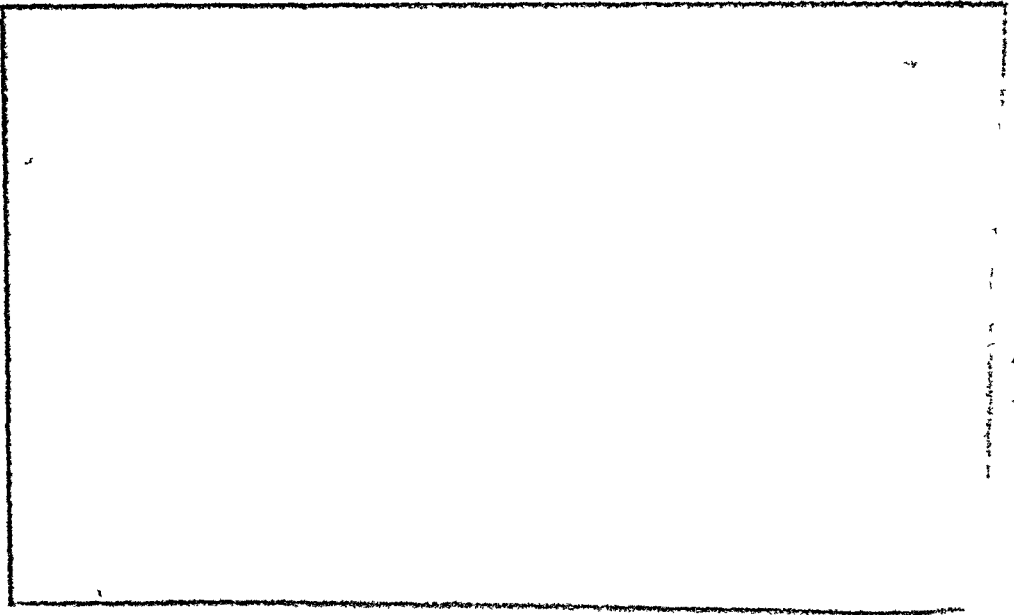
श्री नित्यानद जी और श्री चैतन्यदेव जी

किया करते थे। ऐसे यात्रियो मे रसिकराज जयदेव, यतिराज माधवेन्द्र पुरी और उनके सुयोग्य शिष्य ईश्वर पुरी भी थे, जिनके व्रज मे आने का वर्णन हम गत पृष्ठो मे कर चुके है।

जिस समय चैतन्य देव अपने जन्म-स्थान नवद्वीप मे थे, तभी वे और उनके साथ के सभी भक्त जन व्रज-वृ दावन की ओर आकर्षित हो गये थे। वे वहाँ जा कर श्री कृष्ण के लीला-स्थलो का दर्शन करना चाहते थे। किंतु जैसा पहिले लिखा गया है, उन दिनो व्रज की यात्रा का मार्ग वडा सकटपूर्ण था और वहाँ के अधिकाश लीला-स्थल भी सघन वनो मे आच्छादित होने के कारण प्राय· अज्ञात और लुप्त हो गये थे। सर्वश्री माधवेन्द्र पुरी और ईश्वर पुरी आदि जिन महानुभावो ने व्रज की यात्रा की थी, वे भी उक्त कारणो से वहाँ के समस्त लीला-स्थलो का दर्शन करने मे असमर्थ रहे थे।

श्री चैतन्य देव व्रज के दुर्गम और दुर्लभ लीला-स्थलो को भक्त-जनो के लिए सुगम और सुलभ करना चाहते थे, अत. उन्होने अपने दो अनुचर लोकनाथ और भूगर्भ को स १५६६ के लगभग व्रज भेजा था। उन्हे आदेश दिया गया कि वे व्रज-वृ दावन के मार्ग का सर्वेक्षण कर वहाँ के प्राचीन लीला-स्थलो का अन्वेषण करे, और उनके पर्यटन एव दर्शन की असुविधाओ को दूर करने का प्रयास करे। वे दोनो बगाली युवक सन्यासी कई महीने तक व्रज के बीहड वनो मे भटकते रहे; किंतु लीला-स्थलो को सर्वसाधारण के लिए सुलभ वनाने के कार्य मे उन्हे वहुत ही कम सफलता प्राप्त हुई थी। उसी काल मे उन्हे समाचार मिला कि चैतन्य देव सन्यासी होकर नवद्वीप से नीलाचल चले गये है। वे उनसे मिलने की उतावली मे अपने अधूरे काम को छोड कर व्रज से वापिस चले गये। उसके उपरात स्वय चैतन्य जी ने भी कई वार व्रज-वृ दावन की यात्रा करने का विचार किया, किंतु विविध कारणो से वे स १५७३ से पहिले वहाँ नही जा सके थे।

चैतन्य का व्रज-आगमन—श्री चैतन्य देव ने जगन्नाथ पुरी मे चातुर्मास्य करने के उपरात स. १५७३ की शरद ऋतु मे अपनी चिर इच्छित व्रज-यात्रा के लिए प्रस्थान किया था। उनके साथ केवल दो व्यक्ति थे,—एक ब्राह्मण सेवक और दूसरा वलभद्र भट्टाचार्य नामक एक नवयुवक भक्त जन। वे झाडखड के बीहड बन मे होकर काशी आये और वहाँ कुछ काल तक उन्होने निवास किया। फिर वहाँ से प्रयाग होते हुए व्रजमडल की ओर चल दिये। मार्ग के निर्जन वनो मे उन्हे प्राय व्याघ्रादि हिंसक पशु मिलते थे, किंतु चैतन्य जी के अलौकिक प्रभाव से उनकी यात्रा निर्विघ्न सम्पन्न हुई थी।

जिस समय श्री चैतन्य देव मथुरा आये, उस समय वहाँ पर दिल्ली के सुलतान सिकदर लोदी के मजहवी अत्याचारो के कारण अत्यत भय और आतक का वातावरण वना हुआ था। चैतन्य जी उससे किंचित भी भयभीत नही हुए। उन्होने मथुरा के विश्राम घाट पर यमुना-स्नान किया और निर्भयता पूर्वक अपने धार्मिक कृत्य किये। फिर वे श्री केशव भगवान् के दर्शनार्थ उनके मदिर मे गये। वहाँ उन्होने हरिनाम-कीर्तन करते हुए नृत्य किया था। उस समय वे प्रेमावेश मे विह्वल हो गये थे। उसका वर्णन कृष्णदास कविराज ने इस प्रकार किया है,—

मथुरा आसिया कैल विश्रान्त तीर्थे स्नान। जन्म-स्थाने केशव देखि, करिला प्रणाम॥
प्रेमानन्दे नाचे गाये, सघन हु कार। प्रभुर प्रेमावेशे देखि, लोके चमत्कार[1]॥

---

(१) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला, परिच्छेद १७, पयार १४७-१४८

चैतन्य महाप्रभु द्वारा श्रीकृष्ण–जन्म स्थान पर जाने और वहाँ पर श्री केशव भगवान् का दर्शन करने के पूर्वोक्त उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि उस काल तक केशव भगवान् का प्राचीन मदिर विद्यमान था, और उसके कुछ समय बाद ही उसे सिकदर लोदी ने नष्ट कराया था।

चैतन्य देव ने व्रज मे मथुरा और वृ दावन के मध्यवर्ती अक्रूर घाट पर निवास किया था। वहाँ से ही वे व्रज के विविध वनो की यात्रा करने गये थे। उन्होंने गोवर्धन, राधाकुड, नदगाँव, काम-वन आदि लीला स्थलो का दर्शन और पर्यटन किया था। जब वे गोवर्धन पहुँचे, तो उन्हे ज्ञात हुआ कि वहाँ के श्रीनाथ-गोपाल जी के स्वरूप को व्रजवासी गण गाठोली के वन मे ले गये है। श्री चैतन्य देव ने गाठोली जाकर ही गोपाल जी के दर्शन किये थे[1]। ऐसा मालूम होता है, इसी समय मथुरा मे सिकदर लोदी ने श्री केशव भगवान् के मदिर का ध्वंस कराया था। गोवर्धन के भक्त जनो को आशका हुई कि मथुरा के बाद सिकदर का आक्रमण गोवर्धन के मदिर पर ही होगा। उसी से बचने के लिए वे श्रीनाथ–गोपाल के देव-विग्रह को गाठोली के निर्जन वन मे ले गये थे।

वृ दावन–दर्शन—'चैतन्य चरितामृत' से ज्ञात होता है, श्री चैतन्य जी अपनी उस यात्रा मे वृ दावन भी गये थे। वहाँ उन्होने कालियदह, केशीघाट आदि तीर्थों मे स्नान कर यमुना तटवर्ती एक प्राचीन इमली वृक्ष के नीचे बैठ कर हरिनाम-कीर्तन किया था। वृ दावन मे सात्विक प्रेमावेश होने से और मुसलमान आक्रमणकारियो द्वारा तीर्थ स्थनो पर अत्याचार किये जाने से वे इतने विह्वल हुए कि वार–वार प्रलाप करते हुए मूर्छित हो जाते थे। उस मनोदशा मे वे व्रज-वृ दावन मे अधिक काल तक निवास नही कर सके, क्यो कि उनके अनुचर उन्हे शीघ्र ही वहाँ से प्रयाग ले गये। उस अल्पकालीन निवास मे उन्होने गोवर्धन के निकट राधाकुड–कृष्णकुड के प्राचीन तीर्थ-स्थनों का अन्वेपण किया, किंतु व्रज के लुप्तप्राय लीला-स्थलो के पुनरुद्धार करने का उन्हे अवकाश नही मिला था। व्रज से वापिस जाते हुए जब वे प्रयाग पहुँचे, तब वहाँ के निकटवर्ती अड़ैल नामक स्थान मे पुष्टिमार्ग के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य जी से उनकी भेंट हुई थी। उस समय दोनो महापुरुषो ने धार्मिक वार्तालाप करते हुए दिव्यानद का अनुभव किया था[2]।

व्रज के लीला-स्थलो के पुनरुद्धार की प्रेरणा—व्रज-यात्रा से वापिस जाने पर श्री चैतन्य देव ने अनेक गौडीय विद्वानो और भक्त जनो को व्रज मे निवास करने और वहाँ के लीला-स्थलो के उद्धार करने के लिए प्रेरित किया था। उनमे से व्रज मे सर्वप्रथम आने वाले रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी नामक महानुभाव थे। जैसा पहिले लिखा गया है, वे दोनो वधु गौड (वगाल) के मुसलमान शासक हुसेनशाह के सर्वोच्च पदाधिकारी थे। अपने पद-गौरव को छोड कर वे अकिंचन के रूप मे व्रजवास करने को आये थे। चैतन्य देव ने उन दोनो भक्त जनो को आवश्यक शिक्षा देकर भेजा था। वे क्रमश स १५७४ और स. १५७६ मे व्रज मे आकर स्थायी रूप से रहने लगे थे। चैतन्य सप्रदाय के इतिहास से ज्ञात होता है, वृ दावन मे निवास करने से पहिले रूप-सनातन गोस्वामी वधु मथुरा के ध्रुव घाट पर ठहरे थे। वहाँ पर ही उनकी सुवुद्धिराय से भेंट हुई थी[3]।

---

(१) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला, परिच्छेद १८, पयार ३०–३१

(२) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला, परिच्छेद १६, पयार ५७–५८

(३) वही ,, ,, , परिच्छेद २५, पयार १३६–१६३

व्रज मे आने पर सर्वश्री सनातन—रूप गोस्वामियो ने गोवर्धन, राधाकुड, नदगाँव, गोकुल आदि विविध लीला-स्थलो मे निवास किया था। जव वृदावन मे बस्ती बसने लगी, तब वे वहाँ पर स्थायी रूप से रहने लगे थे। उन्होने व्रज के अज्ञात लीला—स्थलो का अनुसधान और कृष्ण—भक्ति के अनुपम ग्रंथो की रचना कर व्रज सस्कृति के निर्माण मे महत्वपूर्ण योग दिया था।

चैतन्य देव का अंतिम काल और देहावसान—श्री चैतन्य देव अपने अतिम काल मे जगन्नाथपुरी के नीलाचल मे स्थायी रूप से रहे थे। व्रज—यात्रा के उपरात फिर उन्होने कोई यात्रा नही की थी, और श्री जगन्नाथ जी के सान्निध्य मे उन्होने १६ वर्ष तक निवास किया था। चैतन्य देव के कारण नीलाचल मे भक्त-मडली का सदैव जमाव रहता था। वहाँ पर अहर्निश भागवत-पाठ तथा कृष्ण-कर्णामत, गीत-गोविंद एव चडीदास—विद्यापति की रचनाओ का गायन और हरिनाम-सकीर्तन हुआ करता था, जिससे वहाँ का वातावरण सदैव कृष्ण—भक्ति से ओतप्रोत रहता था। चैतन्य जी के साथ वहाँ स्थायी रूप से रहने वाले भक्तो मे सर्वश्री हरिदास, गदाधर पडित, राय रामानद, स्वरूप दामोदर, अच्युतानद और रघुनाथदास प्रमुख थे।

नीलाचल मे स्थायी रूप से निवास करने वाले भक्तो के अतिरिक्त प्रति वर्ष रथ-यात्रा के अवसर पर और भी अनेक भक्त जन एकत्र हो जाते थे। वे जगन्नाथ जी के दर्शन और चैतन्य देव के सत्सग का लाभ उठाने के लिए दूर-दूर से आया करते थे। उस समय वहाँ पर धार्मिक भावना और भगवद्—भक्ति का मानो पारावार ही उमड पडता था। वहाँ के भक्त जनो को तब जो आनद प्राप्त होता था, वह अकथनीय है।

अपने अतिम काल के १२ वर्षो मे श्री चैतन्य देव प्राय सज्ञाहीन और वाह्यज्ञान शून्य से होकर सदैव कृष्ण-विरह मे विह्वल रहा करते थे। उनके नेत्रो से निरतर प्रेमाश्रुओ की अविरल धारा प्रवाहित होती रहती थी। उनके अनुचर भक्त जन जयदेव, विद्यापति और चडीदास कृत राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओ का गायन कर उनको सान्त्वना देते रहते थे। एक दिन दिव्योन्माद की दशा मे वे सागर-तट पर विचरण कर रहे थे। वहाँ समुद्र की उत्तान लहरो मे वे अकस्मात अतर्लीन हो गये। इस प्रकार स १५९० मे उनका देहावसान हुआ था। उस समय उनकी आयु केवल ४८ वर्ष की थी।

चैतन्य देव के असामयिक और आकस्मिक देहावसान से उनकी भक्त—मडली पर मानो वज्रपात ही हो गया था। सब लोग हा-हाकार करते हुए असीम दु ख का अनुभव करने लगे। नीलाचल ही नही, जहाँ भी चैतन्य के भक्त थे, वहाँ ही अपार शोक-सागर उमड़ पडा। सव लोग अपने को असहाय और अनाथ मानने लगे। गौड प्रदेश के भक्त जनो को तो नित्यानद जी ने किसी प्रकार सँभाल लिया था, किंतु नीलाचल मे निवास करने वाले चैतन्य जी के अतरग जनो को सान्त्वना देने वाला कोई नही था। वे सब अपने शास्ता के वियोग की वेदना मे जीवित ही मृतक समान हो गये थे। चैतन्य जी के प्रेम-पात्र स्वरूपदामोदर का देहात उसी साल हो गया। उनके अतरग पार्षद गदाधर पडित तथा राय रामानद भी उसी वर्ष इस ससार को छोड गये थे। चैतन्य और स्वरूपदामोदर दोनो के देहावसान से दुखित होकर रघुनाथदास गोस्वामी वृदावन चले गये। नीलाचल निवासी अन्य भक्तो का या तो देहात हो गया, अथवा वे नवद्वीप या वृदावन मे जाकर रहने लगे थे। इस प्रकार चैतन्य देव का देहावसान होने से नीलाचल के भक्तो की मानो दुनियाँ ही उजड गई थी।

चैतन्य देव का महत्व और उनकी अनुपम देन—चैतन्य देव के समय मे बगाल की राजनैतिक और सामाजिक दुर्वस्था के साथ ही साथ वहाँ की धार्मिक स्थिति भी अत्यत शोचनीय थी। राजनैतिक दृष्टि से वह प्रदेश मुसलमानी शासन के आधीन था, और वहाँ की सामाजिक दशा अत्यत ह्रासोन्मुखी एव अनाचारपूर्ण थी। धार्मिक दृष्टि से उक्त प्रदेश मे शाक्त धर्म के विविध सप्रदाय प्रचलित थे, जो अधिकतर वाममार्गीय तान्त्रिक आचारो के प्रति आस्था रखते थे। उनके अनुयायी गण अपनी तामसी साधना के अनुसार मद्य-मास का उपयोग करते हुए विभिन्न देवियो की उपासना-पूजा किया करते थे। जन-साधारण मे चडी, मनसा और वाशुली-विषहरी आदि लोक-देवियो की पूजा प्रचलित थी। वृ दावनदास कृत 'चैतन्य भागवत' से ज्ञात होता है, उस काल मे वगाली जनता रात्रि-जागरण पूर्वक मगल चडी के गायन को ही एक मात्र धर्म-कर्म मानती थी। वे लोग मनसा देवी की मूर्ति वना कर उसकी पूजा मे दभ पूर्वक प्रचुर धन-व्यय करते थे और विविध उपहारो द्वारा वाशुली देवी की तथा मद्य-मास द्वारा यक्ष-यक्षिणियो की पूजा को परम धर्म मानते थे[1]।

उस काल के वगालियो मे ज्ञान मार्ग का फिर भी कुछ प्रचार था, किंतु भक्ति मार्ग के अनुयायी उनमे वहुत कम सख्या मे थे। वैष्णव धर्म और कृष्ण-भक्ति का प्रचलन उनमें नाम मात्र को ही था। तत्कालीन वगालियो की उस स्थिति पर दुःख प्रकट करते हुए वृ दावनदास जी ने कहा है,—"सब लोग कृष्ण के नाम और उनकी भक्ति से शून्य है। कहने से भी कोई कृष्ण का नाम नहीं लेता है। सब ससार व्यवहार-रस मे मत्त हो रहा है। कृष्ण-पूजा और कृष्ण-भक्ति से कोई भी प्रेम नही करता है। निरतर होने वाले व्यर्थ के नृत्य, गीत और वाद्य के कोलाहल मे कोई भी परम मगलकारी कृष्ण के नाम को नही सुनता है[2]।"

उस काल के वामाचारी व्यक्तियो को उनकी हिंसात्मक और अनाचार पूर्ण तामसी साधना से हटा कर उन्हे वैष्णव धर्म की सात्वकी उपासना तथा कृष्ण-भक्ति की ओर आकर्षित करना चैतन्य देव जैसे युगातरकारी महापुरुष का ही काम था। उसमे उन्हे अपने प्रमुख सहकारी श्री नित्यानद जी से पूरा सहयोग प्राप्त हुआ था। नाभा जी ने उनके धार्मिक महत्व का कथन करते हुए कहा है,—

गौड देस पाखड मेटि, कियौ भजन-परायन। करुनासिंधु कृतज्ञ भये, अगतिन गति-दायन॥
दसधा रस आक्रात, महत जन चरन उपासे। नाम लेत निहपाप, दुरित तिहि नर के नासे॥
अवतार विदित पूरव मही, उभै महत देही धरी।
नित्यानद-कृष्णचैतन्य की, भक्ति दसो दिसि विस्तरी[3]॥

---

(१) धर्म-कर्म लोक सभे एइ मात्र जाने। मगल चडीर गीते करे जागरणे॥६६॥
दम्भ करि विषहरि पूजे कोन जने। पुत्तलि करये केहो दिया वहु धने॥६७॥
वाशुलि पूजये केहो नाना उपहारे। मद्य-मास दिया केहो यक्ष-पूजा करे॥८१॥
—चैतन्य भागवत, आदि खड, द्वितीय अध्याय

(२) कृष्ण नाम-भक्ति शून्य सकल ससार।६५। वलि लेओ केहो नाहि लय कृष्ण-नाम॥७७॥
सकल ससार मत्त व्यवहार रसे। कृष्ण-पूजा, कृष्ण-भक्ति कारो नाहि वासे॥८८॥
निरवधि नृत्य-गीत-वाद्य कोलाहले। ना शुने कृष्णेर नाम परम मगले॥९०॥
—चैतन्य भागवत, आदि खड, द्वितीय अध्याय

(३) भक्तमाल, छप्पय स ७२

चैतन्य देव का व्यक्तित्व इतना आकर्षक, उनके आचार इतने अलौकिक, विचार इतने अद्भुत और उपदेश इतने मोहक थे कि छोटा-बडा जो व्यक्ति भी उनके संपर्क मे आता था, वही उनका श्रद्धालु भक्त वन जाता था। उनके भक्तो मे जन-साधारण से लेकर विख्यात विद्वान, प्रसिद्ध धर्माचार्य और समृद्धिशाली महानुभाव तक थे, जिनमे कितने ही आयु, विद्वत्ता और पद-प्रतिष्ठा मे भी उनसे वढ़े हुए थे। फिर भी वे सब अपनी मर्यादा और अपने गौरव का विचार न कर चैतन्य देव के विनीत अनुचर और अनुयायी वन गये थे। उनके भक्तो का विश्वास था कि वे अवतारी महापुरुष हैं, यद्यपि स्वय उन्होने सदैव अपने को विनम्रता पूर्वक तुच्छातितुच्छ व्यक्ति वतलाया था।

सन्यासी होने से पूर्व ही उन्हे भगवान् कृष्ण का अवतार मान लिया गया था। इसकी सर्व प्रथम घोषणा अद्वैताचार्य जैसे वयोवृद्ध और प्रतिष्ठित धर्माचार्य ने तव की थी, जव चैतन्य देव गया धाम से वापिस आकर नवद्वीप मे कृष्ण-भक्ति का प्रचार करने लगे थे। अपने जीवन-काल मे ही उस प्रकार की सामूहिक श्रद्धा प्राप्त करना उनके महत्व की वहुत वडी वात है।

चैतन्य भक्तो की मान्यता थी कि उनमे भगवान् कृष्ण के 'रसराज' और भगवती राधिका के 'महाभाव' दोनो रूपो का समावेश हुआ है, अत उन्हे राधा-कृष्ण का सम्मिलित अवतार समझा जाता था। उनके उस अवतारी रूप का पूर्ण प्रकाश उनके अंतिम काल मे जगन्नाथ पुरी के नीलाचल धाम मे हुआ था। वाद मे उनके भक्तो मे उनकी इसी भाव से उपासना-पूजा भी प्रचलित हो गई थी। वगाल के अनेक मदिरो मे चैतन्य देव की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। वहाँ पर उनकी सेवा-पूजा वडी श्रद्धा-भक्ति पूर्वक होती है। चैतन्य जी की मूर्ति वनाने की प्रथा कव से चली, इसके सवध मे कोई निश्चित वात ज्ञात नही होती है। ऐसा माना जाता है, चैतन्य देव के सन्यासी हो जाने पर जव उनकी पत्नी विष्णुप्रिया जी को असह्य विरह-वेदना होने लगी, तव उसे शात करने के लिए उनके घर मे सर्व प्रथम चैतन्य-मूर्ति की प्रतिष्ठा की गई थी। उसके वाद अन्य स्थानो मे भी वैसी ही मूर्तियाँ स्थापित की गई, और उनकी उपासना-पूजा का व्यापक प्रचलन हुआ।

चैतन्य देव के अलौकिक व्यक्तित्व का प्रभाव वगाल—उडीसा से लेकर व्रजमडल तक के विस्तृत भू—भाग पर पडा है। यह प्रभाव वहाँ की धर्मोपासना पर तो है ही, उसके साथ ही इस विशाल क्षेत्र मे प्रचलित विविध भाषाओ का साहित्य भी उससे वडा प्रभावित हुआ है। संस्कृत, वगला, उडिया, मैथिली, असमिया और व्रजभाषा—हिंदी के मध्यकालीन भक्ति—साहित्य पर उक्त प्रभाव स्पष्टतया दिखलाई देता है। इस पर आश्चर्य की वात यह है कि चैतन्य देव और उनके प्रमुख सहकारियो मे से किसी ने भी कोई विशिष्ट धर्म—ग्रथ नही रचा था। चैतन्य सम्प्रदाय का जो विशाल साहित्य उपलब्ध है, वह सब चैतन्य जी के अनुयायी भक्तो द्वारा रचा हुआ है। चैतन्य जी के महत्व की एक वडी वात यह भी है कि उनके जीवन—काल मे ही उनकी प्रशस्ति के ग्रथो की रचना होने लगी थी। वे ग्रथ सस्कृत और वगला दोनो भाषाओं के हैं, जिनमे चैतन्य देव का जीवन—वृत्तांत अत्यत श्रद्धा—भक्ति पूर्वक लिखा गया है। ये ग्रथ इस वात के साक्षी हैं कि वे अपने जीवन—काल मे ही कितने लोकप्रिय हो गये थे। चैतन्य देव का महत्व निश्चय ही अनुपम और उनका [illegible] निस्सन्देह महान है।

है। ऐसे महापुरुषो मे सर्वश्री नित्यानद और अद्वैताचार्य प्रमुख थे। उन्होने गौड प्रदेशीय भक्त-मडली का सगठन कर उनमे कृष्ण-भक्ति के प्रचार का महत्वपूर्ण कार्य किया था। चैतन्य सप्रदाय मे उन्हे भी अवतार माना जाता है। इस सप्रदाय मे चैतन्य देव 'महाप्रभु' कहे जाते है, तो नित्यानद और अद्वैताचार्य को भी 'प्रभु' कहा जाता है। उनके अतिरिक्त श्रीवास पडित और हरिदास भी चैतन्य देव के प्रसिद्ध सहकारी थे। श्रीवास चैतन्य देव के भक्ति-प्रचार मे उनके प्रारभिक सहयोगी रहे थे। जब चैतन्य जी नवद्वीप मे थे, तब वे श्रीवास के निवास-स्थान पर ही हरि-कीर्तन किया करते थे। हरिदास नवद्वीप से लेकर नीलाचल तक सदैव चैतन्य देव के साथ रहे थे। वे मुसल्मान होते हुए भी हरिनाम–कीर्तन के प्रमुख प्रचारक थे। उनका देहावसान नीलाचल मे हुआ था और चैतन्य जी ने स्वय अपने हाथो से उनके भौतिक शरीर को अतिम समाधि दी थी।

चैतन्य–भक्तो की दूसरी श्रेणी उन श्रद्धालु महापुरुषो की है, जो चैतन्य देव के अलौकिक व्यक्तित्व तथा अद्भुत आचार-विचारो से आकर्षित होकर उनके अनुगत हुए थे। उनमे कतिपय महानुभाव अपनी विद्वत्ता और विशिष्टता को भुला कर अहर्निश उनकी सेवा करना ही अपना परम कर्तव्य मानते थे। उनको इस सप्रदाय मे 'पार्षद' कहा जाता है। चैतन्य देव के पार्षदो मे राय रामानद, गदाधर पडित और स्वरूप दामोदर प्रमुख थे। राय रामानद कृष्ण-तत्व के महान् ज्ञाता और व्याख्याता थे। उन्होने 'जगन्नाथ वल्लभ' नामक नाटक की भी रचना की थी, जिसका प्रदर्शन देख कर चैतन्य देव को अतीव आनद प्राप्त होता था। गदाधर पडित बडे विद्वान और भागवत के मार्मिक प्रवक्ता थे। वे चैतन्य देव को भागवत सुनाया करते थे। स्वरूप दामोदर चैतन्य जी के निकटतम साथी, अतरग सेवक, सचिव और सहायक सब-कुछ थे। वे नवद्वीप से नीलाचल तक चैतन्य जी के साथ निरतर रहे थे, और उन्होने अनुचर के रूप मे उनकी बडी सेवा की थी। वे विद्वान होने के साथ ही साथ सगीतज्ञ और गायक भी थे। उनका कठ बडा मधुर था। वे चैतन्य जी के समक्ष कीर्तन–गान किया करते थे, जिसे सुन कर वे आनद विभोर हो जाते थे। सुप्रसिद्ध गौडीय गोस्वामी रघुनाथदास को चैतन्य देव ने आरभ मे स्वरूप दामोदर के सरक्षण मे ही रखा था। वे सब श्रद्धालु भक्त जन चैतन्य जी के अतिम काल तक उनके साथ छाया की तरह रहे थे। जब चैतन्य देव का देहावसान हो गया, तब उन तीनो ने भी उनके वियोग मे एक वर्ष के अदर ही अपने शरीरो को छोड दिया था।

चैतन्य-भक्तो मे अनेक प्रकाड विद्वान और विख्यात भक्त-कवि भी थे, जिन्होने चैतन्य देव की उद्देश्य-पूर्ति मे अपनी विद्वत्ता और प्रतिभा को लगा दिया था। ऐसे महानुभावो मे वासुदेव भट्टाचार्य और प्रकाशानद सरस्वती क्रमश न्याय और वेदात शास्त्रो के अद्वितीय पडित थे। राय रामानद की अनुपम धर्म-तत्वज्ञता का उल्लेख पहिले किया जा चुका है। मुरारि गुप्त, वृंदावनदास, कृष्णदास कविराज और कर्णपूर सुप्रसिद्ध भक्त-कवि थे। उन सबने अपने-अपने ढग से चैतन्य सप्रदाय की बडी सेवा की थी।

चैतन्य देव के जिन अनुयायी भक्तो ने ब्रजमडल मे निवास कर यहाँ चैतन्य सप्रदाय के प्रचार-प्रसार के साथ ही साथ ब्रज की धार्मिक प्रगति और सास्कृतिक समृद्धि करने मे भी अपना महत्वपूर्ण योग दिया था, उनमे सर्वश्री सनातन, रूप, गोपाल भट्ट, रघुनाथदास, रघुनाथ भट्ट, जीव, कृष्णदास कविराज और नारायण भट्ट के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनमे से आरभिक छै महानुभाव वृदावन के 'षट् गोस्वामी' कहलाते हैं। उन सब का ब्रज से घनिष्टतम सबंध रहा है, अत उनका कुछ विशेष वृत्तात यहाँ दिया जाता है।

१–२. सर्वश्री सनातन गोस्वामी और रूप गोस्वामी—वृ दावन के चतन्य सप्रदायी गोस्वामियो मे सर्वश्री सनातन और रूप सवसे वरिष्ट और सर्वाधिक सम्मान्य महानुभाव थे। वे दोनो सगे भाई थे, और वगाल के जैसोर जिलार्गत फतेहावाद निवासी कुमार देव ब्राह्मण के पुत्र थे। उनका एक छोटा भाई अनुपम उपनाम वल्लभ भी था। अनुपम के एक मात्र पुत्र का नाम जीव था, जो बड़ा होने पर अपने पितृव्य सनातन-रूप के साथ वृ दावन मे रहा था। सनातन और रूप का जन्म विक्रम की १६वी शती के पूर्वार्ध मे हुआ था, किंतु उनके जन्म-सवत् अनिश्चित है[1]। उनके ये नाम भी चैतन्य देव ने रखे थे। उनके मूल नाम क्या थे, इसका उल्लेख किसी प्रामाणिक ग्रथ मे नही मिलता है। ऐसा कहा जाता है, सनातन का पूर्व नाम अमर और रूप का सतोष था[2]।

उन दोनो भाइयो की प्रकृति समान थी और उनकी जीवन-चर्या भी आरभ से अत तक प्राय एक सी ही चली थी। उन दोनो ने साथ–साथ राजकीय सेवा आरभ की थी, दोनो को साथ-साथ वैराग्य हुआ, दोनो साथ–साथ चैतन्य के भक्त हुए और दोनो ने साथ ही साथ व्रज-वास किया था। दोनो का देहावसान भी प्राय साथ ही साथ हुआ था। इस प्रकार उन दोनो के जीवन–वृत्तांत आपस मे इतने घुले-मिले और गुथे हुए है कि उन्हे अलग-अलग लिखने से व्यर्थ की पुनरावृत्ति हो सकती है। इसलिए उन दोनो की जीवनी साथ-साथ लिखी गई हैं।

सनातन और रूप दोनो ने सस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त कर विविध शास्त्रो और धर्म ग्रथो का गहन अध्ययन किया था। ऐसा कहा जाता है, वे अरवी-फारसी के भी विद्वान थे। उस समय गौड (प्राचीन वगाल) का स्वतत्र शासक हुसैनशाह था, जो गुणग्राही और विद्वानो का आश्रयदाता था। उसके शासन-काल मे गौड की तत्कालीन राजधानी रामकेलि (जि मालदह) विविध विद्याओ और कलाओ का केन्द्र वन गई थी। सनातन तथा रूप दोनो भाई हुसैनशाह के राज्य कर्मचारी नियत हुए और उन्नति करते हुए मत्रियो के सर्वोच्च पदो पर प्रतिष्ठित हो गये थे। हुसैनशाह ने उनकी विद्वता, प्रतिभा एव कार्य–कुशलता से प्रभावित होकर सनातन को अपना प्रधान मत्री और रूप को राजस्व मत्री वनाया था तथा उन्हे क्रमश 'साकर मल्लिक' और 'दवीर खास' की उपाधियो से सन्मानित किया गया था। वे उस काल मे अपने मूल नामो की अपेक्षा अपनी उपाधियो से ही अधिक प्रसिद्ध थे, इसीलिए कुछ विद्वानो ने उन्हे भ्रमवश मुसलमान समझने की भूल की है[3]।

हुसैनशाह के राज्य का सचालन सनातन और रूप की प्रवध-कुशलता, न्याय-प्रियता और प्रजा-वत्सलता से सफलता पूर्वक हो रहा था। उसके लिए वे दोनो भाई राज्य भर मे अत्यत लोक-प्रिय भी थे, किंतु उनका मन शासन–कार्य मे नही लगता था। पूर्व सस्कारो के कारण वे जन्म से ही हरि–भक्त और सत्सग-परायण थे, अत राज-काज से अवकाश मिलते ही वे भगवद्–भक्ति, शास्त्र-चर्चा और विद्वानो के सत्सग मे लग जाते थे।

---

(१) वंगला ग्रंथ 'वैष्णव दिग्दर्शिनी' मे उनके जन्म–संवत् क्रमशः १५३६ तथा १५४२ लिखे गये हैं, और हिंदी मासिक पत्र 'श्री गौरांग' (वर्ष २, अक २) मे वे क्रमशः १५२२ तथा १५२७ वतलाये गये हैं।

(२) 'श्रील रूप गोस्वामी' शीर्षक का लेख (गौडीय, वर्ष ६ अक ३)

(३) देखिये, डा० के एम मुंशी लिखित 'कुलपति का पत्र' (दैनिक हिंदुस्तान, १५-५-५५)

जिस काल मे सनातन—रूप रामकेलि मे राज्य मत्री थे, उस समय बगाल और उडीसा प्रदेशो मे चैतन्य द्वारा प्रचारित कृष्ण-भक्ति और हरिनाम-कीर्तन की धूम मची हुई थी। सनातन और रूप ने भी उनका नाम सुना था। वे उनके दर्शन करने और उनकी सेवा मे अपना जीवन लगा देने को उतावले हो उठे थे। उन्होने गुप्त रूप से एक पत्रिका चैतन्य देव के पास भेजी, जिसमे उनसे रामकेलि मे पधारने की बडी दीनता पूर्वक प्रार्थना की गई थी। वह सच्चे भक्त-हृदयो की आतुर पुकार थी, जिसकी चैतन्य जी उपेक्षा नही कर सके थे। उन दिनो वे सन्यासी होकर जगन्नाथ पुरी मे निवास करते थे, किंतु उनका मन वृदावन-यात्रा के लिए लालायित था। उन्होने जगन्नाथ पुरी से चल कर रामकेलि होते हुए वृदावन जाने की योजना बनाई।

चैतन्य देव रामकेलि पहुँच कर एक ब्राह्मण के घर पर ठहरे। सनातन—रूप ने जैसे ही उनके आगमन का समाचार सुना, वैसे ही वे राजकीय वेश त्याग कर अत्यत दीनता पूर्वक उनके चरणो मे आ गिरे, और उनके नेत्रो से अविरल अश्रु-धारा बहने लगी। चैतन्य जी ने प्रेमपूर्वक उन्हे उठा कर हृदय से लगा लिया। उन्होने दोनो भाइयो को सबोधन करते हुए कहा,—"मै जानता हूँ, तुम दोनो का जन्म इस राजकीय सेवा के लिए नही हुआ है। तुम्हे धर्म-प्रचार का महत्वपूर्ण पारमार्थिक कार्य करना है, किंतु इसमे उतावली मत करो। सुविधानुसार यहाँ के झझटो से मुक्त होकर मेरे पास आना।" ऐसा कह कर चैतन्य देव रामकेलि से चल दिये, किंतु वे उस समय वृदावन नही जा सके थे। उसके कुछ काल पश्चात् उन्होने वृदावन-यात्रा की थी।

चैतन्य देव के जाने के पश्चात् सनातन-रूप ने राजकीय सेवा से निवृत्त होने की चेष्टा की, किंतु हुसैनशाह उन जैसे विश्वसनीय और कार्य-कुशल मत्रियो को पद-मुक्त करने के लिए तैयार नही हुआ। फलत उन्होने गुप्त रूप से रामकेलि छोडने का निश्चय किया। एक दिन अवसर देख कर रूप तो अपने छोटे भाई अनुपम के साथ चुपचाप रामकेलि से चल दिये, किंतु सनातन कुछ बाधाओ के कारण उनके साथ नही जा सके थे। बाद मे वे भी किसी प्रकार राजकीय बधन से मुक्त हो कर वहाँ से निकल भागे थे।

वे दोनो भाई चैतन्य जी के दर्शनार्थ नीलाचल की ओर चल पडे, किंतु मार्ग मे उन्हे समाचार मिला कि वे ब्रज-वृदावन की यात्रा को गये है। फलत वे भी ब्रज की ओर चल दिये। जिस समय चैतन्य देव वृदावन से वापिस आ रहे थे, तब प्रयाग मे रूप से और काशी मे सनातन से उनकी भेट हुई थी। उन दोनो भाइयो ने कुछ काल तक चैतन्य जी की सेवा मे रह कर उनके उपदेश और सत्सग का लाभ उठाया था। श्री चैतन्य देव ने उन्हे धर्म शास्त्र, भक्ति शास्त्र, रस तत्व, धर्म तत्व, साध्य-साधन तत्व आदि की भली भाँति शिक्षा दी थी। उसके उपरात उन्होने आदेश दिया कि वे ब्रज-वृदावन मे जा कर निवास करे, और वहाँ लुप्त तीर्थों का उद्धार तथा भक्ति तत्व का प्रचार करे। कृष्णदास कविराज ने श्री चैतन्य देव की उक्त शिक्षा का विशद वर्णन किया है। उनके कथन से ज्ञात होता है, श्री चैतन्य देव ने पहिले रूप को प्रयाग के दशाश्वमेध पर दश दिनो तक और बाद मे सनातन को काशी के चद्रशेखर निवास-स्थल (वर्तमान जतनवर) पर दो माह तक शिक्षा दी थी। उसके उपरात वे जगन्नाथ पुरी चले गये थे[1]।

---

(१) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला का १६ वाँ परिच्छेद रूप की शिक्षा के लिए तथा २० से २५ तक के परिच्छेद सनातन की शिक्षा के लिए देखिये।

श्री चैतन्य जी के आदेशानुसार स. १५७३ मे रूप और स १५७४ मे सनातन व्रज मे आये थे। उन्होने कुछ काल तक व्रज में निवास किया, वाद मे वे एक वार फिर श्री चैतन्य देव के दर्शनार्थ जगन्नाथ पुरी चले गये। वहाँ से वापिस आने पर उन दोनो ने स्थायी रूप से व्रज मे निवास किया था। चैतन्य संप्रदाय के इतिहास से ज्ञात होता है कि स १५७४ मे रूप और स १५७६ मे सनातन स्थायी रूप से व्रज मे आ कर रहे थे। उन्होने अपने अंतिम काल तक यहाँ निवास कर व्रज के अनेक लीला–स्थलो के अन्वेषण–उद्धार, भक्तिमार्गीय सिद्धात ग्रंथो की रचना, और कृष्णोपासना के प्रचार का महान् कार्य किया था। व्रज के धार्मिक गौरव और सास्कृतिक समृद्धि मे सर्वाधिक योग देने वाले धर्माचार्यो मे सर्वश्री सनातन और रूप गोस्वामियो के स्थान अग्रिम पक्ति मे आते हैं।

उन्होने राजकीय पद-प्रतिष्ठा और विपुल धन–वैभव का परित्याग कर अत्यत विरक्त और दीन भाव से व्रज मे निवास किया था। नाभा जी ने उनकी अनुपम त्याग-वृत्ति और अपूर्व भक्ति-भावना की वडी प्रशसा की है[1]। कृष्णदास कविराज ने उनके सवध मे वतलाया है,—"वे व्रज के वनो मे वृक्षो के तले निवास करते थे और ब्राह्मणो के घरो मे माँगी हुई स्वल्प भिक्षा पर जीवन का निर्वाह करते थे। उन्होने सूखी रोटी और चनो के अतिरिक्त खान-पान और रहन-सहन के सभी भोगो को त्याग दिया था[2]।" वे साधारणतया व्रज के नदगाँव, गोकुल तथा महावन मे, और विशेषतया राधाकुड एवं वृदावन मे रहे थे। उक्त स्थानो मे उनकी भजन-कुटियो के अवशेष विद्यमान हैं।

सनातन गोस्वामी ने स १५९० मे ठाकुर श्री मदनमोहन जी की और रूप गोस्वामी ने स. १५९२ मे ठाकुर श्री गोविंददेव जी की सेवाएँ प्रचलित की थी। कालातर मे उनके मदिर वृदावन मे वनाये गये थे। मुलतान के एक धनी व्यापारी रामदास कपूर ने कालियदह के निकटवर्ती द्वादशादित्य टीला पर मदनमोहन जी का मदिर वनवाया था, तथा राजा मानसिह ने गोपीनाथ वाजार के निकट गोमा टीला पर श्री गोविंददेव जी के विशाल और कलापूर्ण मदिर का निर्माण कराया था। उन प्राचीन मदिरो को औरगजेव के शासन काल मे नष्ट–भ्रष्ट किया गया था। उनकी देव-मूर्तियो को भक्त जन गुप्त रूप से वृदावन से हटा कर हिंदू राजाओ के राज्यो मे ले गये थे, जो अभी तक वहाँ पर ही विराजमान हैं। कालातर मे वृदावन के प्राचीन मदिरो के निकट उनके नये मदिर वनवाये गये, जिनमें उन देव स्वरूपो की प्रतिमूर्तियाँ प्रतिष्ठित की गई।

वे दोनो गोस्वामी वधु धर्म-तत्व, भक्ति-तत्व और रस-तत्व के महान् ज्ञाता थे। उन्होने चैतन्य देव की शिक्षाओ को अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रंथो द्वारा वडे विशद रूप मे प्रस्तुत किया है, इसी-लिए वे चैतन्य सप्रदाय के सिद्धात ग्रंथ माने जाते है। सनातन-रूप की रचनाओ ने व्रज से लेकर वगाल तक की धार्मिक भावना और भक्ति-साहित्य को वडा प्रभावित किया है।

सनातन गोस्वामी के ग्रंथ—१. श्री हरि भक्ति विलास, २ वृहत् भागवतामृत, ३ भागवत दशमस्कध की वृहत् वैष्णव तोषिणी टीका और ४ दशम चरित्र आदि।

रूप गोस्वामी के ग्रंथ—१ विदग्ध माधव नाटक, २. ललित माधव नाटक, ३ हसदूत, ४. उद्धव सदेश, ५ भक्ति रसामृत सिंधु, ६ उज्ज्वल नीलमणि, ७ लघु भागवतामृत, ८. नाटक चद्रिका, ९ दान केलि कौमुदी और १०. मथुरा माहात्म्य आदि।

---

(१) भक्तमाल, छप्पय स ८९

(२) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला, १९ वाँ परिच्छेद, पयार सं. ११५–११६

वे दोनो गोस्वामी दीर्घजीवी हुए थे। उनके देहावसान का काल स. १६१० के कुछ बाद का माना जाता है। ब्रजभूषणदास जी के मतानुसार श्री सनातन गोस्वामी के देहावसान की तिथि स १६११ की आषाढ शु १५ है[1]। उसके कुछ काल पश्चात् श्री रूप गोस्वामी का भी देहावसान हो गया था। उनकी समाधियाँ वृ दावन मे बनी हुई है। सनातन गोस्वामी की समाधि श्री मदन-मोहन जी के नये मदिर के निकट है, तथा रूप गोस्वामी की समाधि श्री राधा—दामोदर जी के मदिर मे है।

श्री गोपाल भट्ट गोस्वामी—वे दाक्षिणात्य ब्राह्मण वेकट भट्ट जी के पुत्र थे। उनका जन्म दक्षिण मे कावेरी नदी के तटवर्ती श्रीरगम् के निकट वेलमडी ग्राम मे स १५५७ मे हुआ था। जब चैतन्य देव सन्यासी होने के अनतर स १५६८ मे दक्षिण-यात्रा के लिए गये थे, तब उन्होने श्रीरगम् मे चातुर्मास्य किया था। तभी वेकट भट्ट जी चैतन्य देव के सपर्क में आये थे। यद्यपि भट्ट जी का घराना श्री सप्रदाय का अनुयायी था, तथापि उन पर और उनके बालक पुत्र गोपाल पर चैतन्य जी के उपदेशो का बडा प्रभाव पडा था। उसके उपरात वे दोनो पिता—पुत्र उनके परम भक्त हो गये थे।

गोपाल भट्ट तभी से चैतन्य देव के सत्सग मे रहने की कामना करने लगे। किंतु जब तक उनके माता-पिता जीवित रहे, तब तक उनकी मनोभिलाषा पूरी नही हो सकी थी। स १५८८ तक उनके माता-पिता का देहात हो गया था। तभी वे विरक्तावस्था मे घर से चल दिये और तीर्थ-यात्रा करते हुए स १५९० के लगभग वृ दावन पहुँचे। वहाँ से वे श्री चैतन्य देव के दर्शनार्थ जगन्नाथ पुरी जाना चाहते थे। उसी समय वृ दावन मे श्री चैतन्य जी के देहावसान का समाचार आया। उसे सुन कर वहाँ के समस्त चैतन्य-भक्त बडे दु खी हुए। उनके साथ ही साथ गोपाल भट्ट जी को भी अपार दु ख हुआ, किंतु वे सब धैर्य धारण कर श्री चैतन्य जी की शिक्षाओ को कार्यान्वित करने के लिए अधिकाधिक सचेष्ट हो गये। गोपाल भट्ट जी गौडीय भक्तो के साथ वृ दावन मे रहने लगे। उन्होने सनातन-रूप गोस्वामियो के साथ ब्रज-वृ दावन मे चैतन्य सप्रदायी भक्ति-तत्व के प्रचार मे विशेष योग दिया था।

गोपाल भट्ट जी परम विरक्त और महान् भक्त होने के साथ ही साथ वैष्णव धर्म-ग्र थो के प्रकाड विद्वान तथा भक्ति-तत्व के बडे ज्ञाता थे। उन्होने सनातन गोस्वामी कृत 'हरि भक्ति विलास' का वृहत् सस्करण प्रस्तुत किया था। जीव गोस्वामी कृत 'षट् सदर्भ' की कारिका भी उनकी रची हुई कही जाती है। उन्होने स १५९९ की वैशाखी पूर्णिमा से वृ दावन मे श्री राधारमण जी की सेवा प्रचलित की थी। बाद मे वहाँ उनका मदिर बनवाया गया, जो वृ दावन मे गौडीय सप्रदाय का प्रसिद्ध देव-स्थान है। गोपाल भट्ट जी का देहावसान स १६४२ की श्रावण कृ ५ को वृ दाबन मे हुआ था। उनकी समाधि श्री राधारमण जी के मदिर के समीप बनी हुई है।

गोपाल भट्ट जी के शिष्यो मे दो बहुत प्रसिद्ध हुए है। उनमे से एक श्रीनिवास जी गृहस्थ थे। वे प्रसिद्ध विद्वान तथा भक्ति-तत्व के प्रवक्ता थे, और उन्होने बगाल मे चैतन्य सप्रदाय का बडा प्रचार किया था। दूसरे गोपीनाथ जी विरक्त थे। वे गोपाल भट्ट जी के सेव्य स्वरूप श्री राधारमण जी की सेवा करते थे। उन्होने ब्रज मे गौडीय भक्ति के प्रचार मे योग दिया था। गोपीनाथ जी के

---

(१) श्री गौराग (वर्ष ३, अक ३)

पश्चात् उनके छोटे भाई दामोदर जी को श्री राधारमण जी की सेवा का अधिकार प्राप्त हुआ था। दामोदर जी गृहस्थ थे। उनके वशज ही वृ दाबन के 'राधारमणी गोस्वामी' है। उनकी वश-परपरा और शिष्य-परपरा मे बहुसख्यक भक्त, धर्माचार्य, विद्वान, कवि और कलाकार हुए है, जिन्होने व्रज मे चैतन्य सप्रदाय के प्रचार का महत्वपूर्ण कार्य किया है।

४. श्री रघुनाथदास गोस्वामी—वे बगाल प्रदेशार्गत सप्तग्राम ताल्लुका के धनाढ्य कायस्थ जिमीदार गोवर्धनदास के एक मात्र पुत्र थे। उनका जन्म स १५६० के लगभग हुआ था। जब शातिपुर मे अद्वैताचार्य के निवास-स्थान पर श्री चैतन्य देव का आगमन हुआ था, तब बालक रघुनाथदास को उनके दर्शन का सुयोग प्राप्त हुआ। तभी से उनमे वैराग्य और भक्ति-भावना का उदय हो गया था। वे घर छोड कर विरक्त भाव से चैतन्य देव की सेवा मे रहना चाहते थे, किंतु उनके वृद्ध माता-पिता अपने एक मात्र पुत्र को इस प्रकार घर से जाने देने को तैयार नही थे। उन्होने रघुनाथदास की इच्छा के विरुद्ध एक अत्यत सुदरी कन्या के साथ उनका विवाह कर दिया, ताकि वे गृहस्थ मे आसक्त हो जावे। उसके विपरीत वे उस सकट से बचने के लिए एक दिन चुपचाप घर से चल दिये और श्री चैतन्य देव की सेवा मे जगन्नाथ पुरी जा पहुँचे। उस समय उनकी आयु केवल १९ वर्ष की थी।

उनके माता-पिता ने उन्हे घर वापिस ले जाने की बडी चेष्टा की, किंतु वे नही गये। चैतन्य देव ने उनकी देख-रेख और समुचित शिक्षा के लिए अपने अतरग पार्षद स्वरूप दामोदर को नियुक्त किया था। उन्ही के साथ वे कठोर सयम और अतिशय विरक्ति-भाव से रहा करते थे। उन्होने भगवद्—भक्ति और श्री जगन्नाथ जी की सेवा—उपासना मे अपने जीवन को लगा दिया था।

रघुनाथदास ने १६ वर्ष तक जगन्नाथपुरी मे निवास कर श्री चैतन्य देव की अनन्य भाव से सेवा की थी और उनके उपदेशो से लाभ उठाया था। जब श्री चैतन्य देव और स्वरूप दामोदर का देहावसान हो गया, तब वे हा-हाकार करते हुए नीलाचल से व्रज मे आ गये। उन्होने सर्वश्री सनातन-रूप गोस्वामियो के सत्सग मे रह कर बडी कठिन तपस्या की थी। वे वैराग्य, विरह और सयम के मूर्तिमान स्वरूप थे। गौडीय भक्तो मे वे 'दास गोस्वामी' के नाम से प्रसिद्ध है।

वे व्रज के गौडीय भक्तो को चैतन्य देव की नीलाचल—लीलाओ की वार्ता सुनाया करते थे। उनके प्रोत्साहन और सहयोग से ही कृष्णदास कविराज ने अपनी वृद्धावस्था मे भी 'श्री चैतन्य चरितामृत' जैसे महत्वपूर्ण ग्रथ की रचना की थी। वे अधिकतर राधाकुड के मानसपावन घाट पर एक छोटी सी कुटिया मे रहा करते थे। उनका देहावसान भी वहाँ पर ही हुआ था। उक्त स्थल पर उनकी समाधि बनी हुई है। वे स १५९१ मे नीलाचल से व्रज मे आये थे, और उन्होने प्राय ४८ वर्षो तक व्रज-वास किया था। उनका देहावसान स १६४० की आश्विन कृ. १२ को हुआ था। उनके रचे हुए ग्रथ १. स्तवावली, २. मुक्ता—चरित और ३. दान-केलि-चिंतामणि हैं।

५. रघुनाथ भट्ट गोस्वामी—वे चैतन्य देव के अनन्य भक्त तपन मिश्र के पुत्र थे। उनका जन्म स. १५६२ मे काशी मे हुआ था। जब चैतन्य जी नीलाचल से वृ दाबन की यात्रा को गये थे, तब वे काशी मे तपन मिश्र के घर पर ठहरे थे। उस समय रघुनाथ की आयु १०–११ वर्ष के लगभग थी। तभी उन्हे प्रथम बार चैतन्य जी के दर्शन और सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उसके उपरात वे चैतन्य देव के परम भक्त हो गये थे। उन्होने अपने घर पर ही शिक्षा प्राप्त की थी, फिर भी वे प्रचुर ज्ञानार्चन करने मे सफल हुए थे।

अपनी युवावस्था मे वे जगन्नाथपुरी गये थे, जहाँ नीलाचल मे उन्हें श्री चैतन्य जी के सत्संग का पुन सुअवसर प्राप्त हुआ था। उनका मन वहाँ पर इतना रम गया कि वे स्थायी रूप से नीलाचल मे रहना चाहते थे, किंतु चैतन्य देव ने उनको वृद्ध माता-पिता की सेवा के लिए काशी वापिस भेज दिया था। वे घर पर आकर माता-पिता की सेवा के साथ ही साथ भक्ति-ग्रंथो का गभीर अध्ययन-मनन भी करने लगे। उन्होंने अपना विवाह नहीं किया था।

जब उनके माता-पिता का काशी मे देहात हो गया, तब वे चैतन्य देव की सेवा के लिए, जगन्नाथ पुरी चले गये थे। वहाँ पहुँच कर उन्होंने चैतन्य जी के सान्निध्य मे भक्ति-तत्व और साध्य-साधन तत्व का भली भांति ज्ञान प्राप्त किया था। उस काल मे गदाधर पंडित श्री चैतन्य देव को भागवत की कथा सुनाया करते थे। गदाधर जी के सत्संग से रघुनाथ भट्ट भी भागवत के मार्मिक प्रवक्ता हो गये थे। उनका कंठ बड़ा मधुर था और वे संगीत कला के भी अच्छे ज्ञाता थे; अत उनके द्वारा भागवत की सस्वर कथा अत्यत सरस और प्रभावोत्पादक होती थी।

चैतन्य देव ने रघुनाथ भट्ट को आदेश दिया कि वे वृंदावन जाकर वहाँ के गौड़ीय भक्तो को भागवत की कथा सुनाया करे। उनके आदेशानुसार रघुनाथ भट्ट स. १५८७ मे वृंदावन आ गये और श्री सनातन-रूप गोस्वामियो के सत्संग मे रहने लगे। वे अपनी सरस कथा द्वारा वृंदावन के भक्त जनो को भगवान् श्रीकृष्ण की लीला-माधुरी का रसास्वादन कराते थे। वृंदावन मे श्री गोविंद-देव जी के समक्ष प्रति दिन सायकाल को उनकी कथा होती थी, जिसे गौड़ीय भक्त जनो के अतिरिक्त सैकडो धर्मप्राण ब्रजवासी भी बड़ी श्रद्धा पूर्वक सुनते थे।

रघुनाथ भट्ट के शिष्यो मे गौड प्रदेशीय भक्त जन अधिक थे। उनका देहावसान स. १६१९ के कुछ काल उपरात सर्वश्री सनातन-रूप गोस्वामियो के प्राय साथ ही साथ हुआ था। उनकी समाधि वृ दावन मे श्री रगजी के मदिर के निकटवर्ती उस स्थान पर बनी हुई है, जिसे 'चौंसठ महतो का समाधि-स्थल' कहा जाता है।

६ श्री जीव गोस्वामी—वे सर्वश्री सनातन-रूप के छोटे भाई अनुपम उपनाम वल्लभ के एक मात्र पुत्र और वृ दावन के षट् गोस्वामियो मे अन्यतम थे। उनका जन्म १६ वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे गौड प्रदेश की राजधानी रामकेलि मे हुआ था। श्री ब्रजभूषणदास के मतानुसार उनका जन्म-सवत् १५६८ है[1]। जब जीव अबोधावस्था के बालक थे, तभी उनके पिता का देहात हो गया था और उनके दोनो ताऊ सनातन-रूप जी रामकेलि से वृ दावन चले गये थे। इस प्रकार बचपन मे ही अनाथ हो जाने से उनकी देख-भाल और शिक्षा-दीक्षा की उचित व्यवस्था नहीं हो सकी थी। फिर भी पूर्व सस्कार एव जन्मजात प्रतिभा से उन्होने थोडे ही समय मे पर्याप्त शिक्षा और विविध शास्त्रो मे निपुणता प्राप्त कर ली थी।

जीव के सन्मुख आरभ से ही उनके सुविख्यात पितृव्य सर्वश्री सनातन-रूप गोस्वामियो के अपूर्व वैराग्य और भक्तिपूर्ण जीवन का आदर्श रहा था। उससे प्रेरित होकर वे भी युवावस्था मे ही विरक्त हो गये थे। स. १५९० के पश्चात् तो उनका घर मे रहना असभव हो गया; फलत वैराग्य और भक्ति का जीवन व्यतीत करने के लिए वे रामकेलि छोड कर चल दिये। उस समय तक

---

(१) श्री गौरांग, (वर्ष २, सख्या २)

श्री चैतन्य देव का देहावसान हो चुका था, किंतु जीव का हृदय उनकी भक्ति से ओत-प्रोत था। इसलिए चैतन्य जी को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए उन्होने सर्वप्रथम उनके जन्म-स्थान नवद्वीप की यात्रा की। वहाँ पर श्रीवास के घर पर उन्हे नित्यानद जी के दर्शन करने का सुयोग प्राप्त हुआ था। चैतन्य देव के देहावसान के अनतर वगीय भक्तो के नेतृत्व और मार्ग-प्रदर्शन का सपूर्ण दायित्व नित्यानद जी पर ही था। उन्होने जीव को परामर्श दिया कि वे अपने विद्वान पितृव्यो के साथ वृदावन मे रह कर उनके मार्ग का अनुसरण करे। नित्यानद जी के आदेशानुसार जीव व्रज की ओर चल दिये। वे मार्ग मे कुछ काल के लिए काशी मे ठहर गये थे। वहाँ पर उन्होने गौडीय विद्वानो से वेदातादि विविध शास्त्रो की पूर्ण शिक्षा प्राप्त की थी। उसके उपरात वे वृदावन चले गये।

स १५९२ के लगभग जीव वृदावन आ गये थे। उस समय उनकी आयु २५ वर्ष से भी कम थी। उन्होने अपने यशस्वी पितृव्य रूप गोस्वामी से दीक्षा ली थी, और उन्ही के सत्सग मे रह कर वे श्रीमद् भागवतादि वैष्णव भक्ति-ग्रथो का विशेष रूप से अध्ययन करने लगे। स १५९९ मे उन्होने श्री राधा-दामोदर जी की सेवा प्रचलित की। वे जीवन पर्यन्त अपने इष्ट देव के भजन-पूजन और वैष्णव सिद्धात ग्रथो की रचना मे प्रवृत्त रहे थे। उन्होने आजन्म ब्रह्मचारी रह कर निष्ठापूर्ण जीवन व्यतीत किया था। वे अपने विख्यात पितृव्यो के सुयोग्य उत्तराधिकारी थे। नाभा जी ने उनके विषय मे कहा है,—"रूप-सनातन का समस्त भक्ति-जल जीव गोस्वामी रूपी गहरे सरोवर मे एकत्र हुआ था[1]।" उनके महत्व की इससे अच्छी प्रशस्ति और नही हो सकती है।

रूप-सनातन गोस्वामियो के देहावसान के अनतर जीव गोस्वामी ही गौडीय विद्वानो मे अग्रणी थे। वे दीर्घ काल तक जीवित रह कर व्रज और वगाल के गौडीय भक्तो का नेतृत्व करते रहे थे। उस काल मे जो भक्त जन वगाल-उडीसा से व्रज मे आते थे, वे जीव गोस्वामी का सत्सग कर उनसे पूर्णतया लाभान्वित होते थे।

वृदावन के चैतन्य सप्रदायी षट् गोस्वामियो मे जीव गोस्वामी आयु मे सबसे छोटे थे, किंतु भक्ति, वैराग्य और विद्वत्ता मे वे किसी से कम नही थे। उन्होने अपनी महत्त्वपूर्ण विविध रचनाओ द्वारा चैतन्य सप्रदाय के भक्ति सिद्धात को दार्शनिक आधार पर स्थापित किया है। उनके ग्रथो मे स्वतत्र रचनाओ के अतिरिक्त सर्वश्री सनातन-रूप गोस्वामियो के ग्रथो की विद्वतापूर्ण टीकाएँ भी हैं। उनकी अनेक रचनाओ मे से १ षट् सदर्भ, २ क्रम सदर्भ, ३. सर्व सवादिनी, ४ दुर्गम सगमनी, ५ लोचन रोचनी, ६ लघु तोषिणी, और ७ गोपाल चम्पू आदि विशेष रूप मे उल्लेखनीय हैं। पहिले व्रज मे तालपत्र-भोजपत्र पर ग्रथ लिखे जाते थे। कहते हैं, जीव गोस्वामी ने ही प्रथम वार आगरा से कागज मँगा कर उन पर अपने ग्रथो को लिखवाया था। उनका देहावसान स. १६५३ की पौष शु. ३ को वृदावन मे हुआ था। उनकी समाधि वृदावन मे श्री राधा-दामोदर जी के मदिर के दक्षिण पार्श्व मे वनी हुई है।

व्रज मे उनके अतिशय वैराग्य और अपूर्व भक्ति-भाव की कई अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। उनमे से एक अनुश्रुति राजस्थान की सुप्रसिद्ध भक्त-कवयित्री मीरावाई से सबधित है। ऐसा कहा जाता है, जब मीरावाई जी वृंदावन आई थी, तब वे जीव गोस्वामी के दर्शनार्थ उनकी कुटिया पर

---

(१) संदेह-ग्रंथि छेदन समर्थ, रस-रास-उपासक परम धीर।
रूप-सनातन-भक्ति-जल, जीव गुसाईं सर गंभीर॥ (भक्तमाल, छप्पय स. ९३)

अपनी युवावस्था मे वे जगन्नाथपुरी गये थे, जहाँ नीलाचल मे उन्हे श्री चैतन्य जी के सत्सग का पुन. सुअवसर प्राप्त हुआ था। उनका मन वहाँ पर इतना रम गया कि वे स्थायी रूप मे नीलाचल मे रहना चाहते थे, किंतु चैतन्य देव ने उनको वृद्ध माता-पिता की सेवा के लिए काशी वापिस भेज दिया था। वे घर पर आकर माता-पिता की सेवा के साथ ही साथ भक्ति-ग्रंथो का गभीर अध्ययन-मनन भी करने लगे। उन्होने अपना विवाह नही किया था।

जब उनके माता-पिता का काशी मे देहात हो गया, तब वे चैतन्य देव की सेवा के लिए जगन्नाथ पुरी चले गये थे। वहाँ पहुँच कर उन्होने चैतन्य जी के सान्निध्य मे भक्ति-तत्व और साध्य-साधन तत्व का भली भाँति ज्ञान प्राप्त किया था। उस काल मे गदाधर पंडित श्री चैतन्य देव को भागवत की कथा सुनाया करते थे। गदाधर जी के सत्सग मे रहने से रघुनाथ भट्ट भी भागवत के मार्मिक प्रवक्ता हो गये थे। उनका कठ बडा मधुर था और वे सगीत कला के भी अच्छे ज्ञाता थे, अत उनके द्वारा भागवत की सस्वर कथा अत्यत सरस और प्रभावोत्पादक होती थी।

चैतन्य देव ने रघुनाथ भट्ट को आदेश दिया कि वे वृंदावन जाकर वहाँ के गौडीय भक्तो को भागवत की कथा सुनाया करें। उनके आदेशानुसार रघुनाथ भट्ट स १५८७ मे वृंदावन आ गये, और श्री सनातन-रूप गोस्वामियो के सत्सग मे रहने लगे। वे अपनी सरस कथा द्वारा वृंदावन के भक्त जनो को भगवान् श्रीकृष्ण की लीला-माधुरी का रसास्वादन कराते थे। वृंदावन मे श्री गोविंद-देव जी के समक्ष प्रति दिन सायकाल को उनकी कथा होती थी, जिसे गौडीय भक्त जनो के अतिरिक्त सैकडो धर्मप्राण ब्रजवासी भी बडी श्रद्धा पूर्वक सुनते थे।

रघुनाथ भट्ट के शिष्यो मे गौड प्रदेशीय भक्त जन अधिक थे। उनका देहावसान स. १६१० के कुछ काल उपरात सर्वश्री सनातन-रूप गोस्वामियो के प्राय साथ ही साथ हुआ था। उनकी समाधि वृंदावन मे श्री रगजी के मदिर के निकटवर्ती उस स्थान पर बनी हुई है, जिसे 'चौसठ महतो का समाधि-स्थल' कहा जाता है।

६ **श्री जीव गोस्वामी**—वे सर्वश्री सनातन-रूप के छोटे भाई अनुपम उपनाम वल्लभ के एक मात्र पुत्र और वृंदावन के षट् गोस्वामियो मे अन्यतम थे। उनका जन्म १६ वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे गौड प्रदेश की राजधानी रामकेलि मे हुआ था। श्री ब्रजभूषणदास के मतानुसार उनका जन्म-सवत् १५६८ है[1]। जब जीव अबोधावस्था के बालक थे, तभी उनके पिता का देहात हो गया था और उनके दोनो ताऊ सनातन-रूप जी रामकेलि से वृंदावन चले गये थे। इस प्रकार बचपन मे ही अनाथ हो जाने से उनकी देख-भाल और शिक्षा-दीक्षा की उचित व्यवस्था नही हो सकी थी। फिर भी पूर्व सस्कार एव जन्मजात प्रतिभा से उन्होने थोडे ही समय मे पर्याप्त शिक्षा और विविध शास्त्रो मे निपुणता प्राप्त कर ली थी।

जीव के सन्मुख आरभ से ही उनके सुविख्यात पितृव्य सर्वश्री सनातन-रूप गोस्वामियो के अपूर्व वैराग्य और भक्तिपूर्ण जीवन का आदर्श रहा था। उससे प्रेरित होकर वे भी युवावस्था मे ही विरक्त हो गये थे। स १५६० के पश्चात् तो उनका घर मे रहना असभव हो गया, फलत वैराग्य और भक्ति का जीवन व्यतीत करने के लिए वे रामकेलि छोड कर चल दिये। उस समय तक

---

(१) श्री गौराग, (वर्ष २, सख्या २)

श्री चैतन्य देव का देहावसान हो चुका था, किंतु जीव का हृदय उनकी भक्ति से ओत–प्रोत था। इसलिए चैतन्य जी को श्रद्धाजलि अर्पित करने के लिए उन्होंने सर्वप्रथम उनके जन्म-स्थान नवद्वीप की यात्रा की। वहाँ पर श्रीवास के घर पर उन्हे नित्यानद जी के दर्शन करने का सुयोग प्राप्त हुआ था। चैतन्य देव के देहावसान के अनतर वगीय भक्तो के नेतृत्व और मार्ग–प्रदर्शन का सपूर्ण दायित्व नित्यानद जी पर ही था। उन्होने जीव को परामर्श दिया कि वे अपने विद्वान पितृव्यो के साथ वृ दावन मे रह कर उनके मार्ग का अनुसरण करे। नित्यानद जी के आदेशानुसार जीव व्रज की ओर चल दिये। वे मार्ग मे कुछ काल के लिए काशी मे ठहर गये थे। वहाँ पर उन्होने गौडीय विद्वानो से वेदातादि विविध शास्त्रो की पूर्ण शिक्षा प्राप्त की थी। उसके उपरांत वे वृ दावन चले गये।

स १५९२ के लगभग जीव वृ दावन आ गये थे। उस समय उनकी आयु २५ वर्ष से भी कम थी। उन्होने अपने यशस्वी पितृव्य रूप गोस्वामी से दीक्षा ली थी, और उन्ही के सत्सग मे रह कर वे श्रीमद् भागवतादि वैष्णव भक्ति–ग्रथो का विशेष रूप से अध्ययन करने लगे। स १५९९ मे उन्होने श्री राधा–दामोदर जी की सेवा प्रचलित की। वे जीवन पर्यन्त अपने इष्ट देव के भजन–पूजन और वैष्णव सिद्धात ग्र थो की रचना मे प्रवृत्त रहे थे। उन्होने आजन्म ब्रह्मचारी रह कर निष्ठापूर्ण जीवन व्यतीत किया था। वे अपने विख्यात पितृव्यो के सुयोग्य उत्तराधिकारी थे। नाभा जी ने उनके विषय मे कहा है,—"रूप–सनातन का समस्त भक्ति-जल जीव गोस्वामी रूपी गहरे सरोवर मे एकत्र हुआ था[१]।" उनके महत्व की इससे अच्छी प्रशस्ति और नही हो सकती है।

रूप–सनातन गोस्वामियो के देहावसान के अनतर जीव गोस्वामी ही गौडीय विद्वानो मे अग्रणी थे। वे दीर्घ काल तक जीवित रह कर व्रज और वगाल के गौडीय भक्तो का नेतृत्व करते रहे थे। उस काल मे जो भक्त जन वगाल-उडीसा से व्रज मे आते थे, वे जीव गोस्वामी का सत्सग कर उनसे पूर्णतया लाभान्वित होते थे।

वृ दावन के चैतन्य सप्रदायी षट् गोस्वामियो मे जीव गोस्वामी आयु मे सबसे छोटे थे, किंतु भक्ति, वैराग्य और विद्वत्ता मे वे किसी से कम नही थे। उन्होने अपनी महत्त्वपूर्ण विविध रचनाओ द्वारा चैतन्य सप्रदाय के भक्ति सिद्धात को दार्शनिक आधार पर स्थापित किया है। उनके ग्र थो मे स्वतत्र रचनाओ के अतिरिक्त सर्वश्री सनातन–रूप गोस्वामियो के ग्र थो की विद्वतापूर्ण टीकाएँ भी है। उनकी अनेक रचनाओ मे से १ षट् सदर्भ, २ क्रम सदर्भ, ३ सर्व सवादिनी, ४ दुर्गम सगमनी, ५ लोचन रोचनी, ६ लघु तोषिणी, और ७ गोपाल चम्पू आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पहिले व्रज मे तालपत्र–भोजपत्र पर ग्र थ लिखे जाते थे। कहते हैं, जीव गोस्वामी ने ही प्रथम वार आगरा से कागज मँगा कर उन पर अपने ग्र थो को लिखवाया था। उनका देहावसान स. १६५३ की पौष शु. ३ को वृ दावन मे हुआ था। उनकी समाधि वृ दावन मे श्री राधा-दामोदर जी के मदिर के दक्षिण पार्श्व मे वनी हुई है।

व्रज मे उनके अतिशय वैराग्य और अपूर्व भक्ति-भाव की कई अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। उनमे से एक अनुश्रुति राजस्थान की सुप्रसिद्ध भक्त-कवयित्री मीरावाई से सबंधित है। ऐसा कहा जाता है, जब मीरावाई जी वृ दावन आई थी, तब वे जीव गोस्वामी के दर्शनार्थ उनकी कुटिया पर

---

(१) सदेह–ग्रथि छेदन समर्थ, रस–रास–उपासक परम धीर।
रूप–सनातन–भक्ति–जल, जीव गुसाईं सर गंभीर॥ (भक्तमाल, छप्पय स. ९३)

भी गई थी। जीव गोस्वामी का नियम था कि वे किसी स्त्री से नही मिलते थे, जिसका ज्ञान मीरा-बाई को नही था। अपने नियमानुसार जीव गोस्वामी ने मीराबाई से मिलने का निषेध कर दिया, किंतु वह महिमामती भक्त महिला कोई सामान्य स्त्री तो थी नही। उसने जीव गोस्वामी से कहला भेजा, मै तो अब तक यही समझती थी कि वृ दाबन मे पुरुष केवल श्रीकृष्ण है, किंतु आज मालूम हुआ कि यहाँ कोई दूसरा पुरुष भी है! उक्त मार्मिक व्यगोक्ति से विह्वल होकर गोस्वामी जी अपनी कुटी से बाहर निकल आये। उन्होने अपने दर्शन से मीराबाई को अनुगृहीत किया, और स्वय भी उनसे मिल कर कृतार्थ हो गये! मीराबाई के वृ दावन-आगमन की स्मृति मे वहाँ एक मदिर भी बनाया गया है। उक्त अनुश्रुति कहाँ तक सत्य है, यह नही कहा जा सकता, किंतु उससे जीव गोस्वामी की वैराग्य-वृत्ति और भक्ति-भावना का अच्छा परिचय मिलता है।

श्री कृष्णदास कविराज—उनकी गणना वृ दावन के पट् गोस्वामियो मे नही होती है, किंतु उनका महत्व उक्त गोस्वामियो से किसी प्रकार कम नही है। उनकी सुविख्यात रचना 'श्री चैतन्य चरितामृत' ने उन्हे धार्मिक जगत् मे अमर कर दिया है। उनका जन्म बगाल के वर्धमान जिलातर्गत झामटपुर गाँव के एक वैश्य कुल मे हुआ था। श्री व्रजभूषणदास जी ने 'श्री गौराग' (वर्ष २, अक २) मे उनका जन्म-सवत् १५७४ लिखा है, किंतु श्री श्यामदास ने 'चैतन्य चरितामृत' (आदि लीला) की प्रस्तावना में स १५८५ बतलाया है। उनके माता-पिता का देहात उनकी बाल्यावस्था मे ही हो गया था। उन्होने सस्कृत का अच्छा अध्ययन किया था, और अपने पूर्व सस्कारो के कारण वे भक्ति मार्ग की ओर प्रेरित होकर निष्ठावान कृष्ण-भक्त हो गये थे।

वे आरभ से ही विरक्त स्वभाव के थे, अत उन्होने अपना विवाह नही किया। जब वे युवा थे, तभी भिक्षुक के वेश मे तीर्थ-यात्रा करते हुए ब्रज की ओर चल दिये। वे स १५६० के पश्चात् वृ दावन आये थे। वहाँ पर उन्होने रूप गोस्वामी से वैष्णव भक्ति-ग्र थो की शिक्षा प्राप्त की थी। वे गौडीय भक्तो के साथ वृ दावन और राधाकुड मे निवास कर भगवद्-भजन और धर्म-चर्चा मे सदैव तल्लीन रहते थे।

ग्र थ-रचना—उनके रचे हुए ग्र थो मे दो अधिक प्रसिद्ध हैं,—१ श्री गोविंद लीलामृत और २ श्री चैतन्य चरितामृत। प्रथम ग्रथ सस्कृत भाषा मे है और दूसरा बगला भाषा मे। प्रथम ग्र थ मे रूप गोस्वामी कृत 'स्मरण मगल स्तोत्र' के आधार पर श्री राधा गोविंद की अष्टकालीन दैनदिनी लीलाओ का विस्तृत वर्णन किया गया है। दूसरे ग्रथ मे श्री चैतन्य देव का सर्वांगपूर्ण चरित्र है, जिसे कविराज जी ने बडी श्रद्धा-भक्ति पूर्वक लिखा है। यह केवल चरित्र मात्र नही है, बल्कि इसमे चैतन्य सप्रदाय के दार्शनिक सिद्धात और भक्ति तत्व का विशद विवेचन भी किया गया है। उससे ज्ञात होता है कि वे वैष्णव धर्म-ग्र थो के प्रकाड विद्वान और भक्ति-तत्व के मार्मिक ज्ञाता थे।

'श्री चैतन्य चरितामृत' से पहिले चैतन्य-चरित् के कई ग्रथो की रचना हो चुकी थी, जिनमे वृ दाबनदास कृत 'चैतन्य भागवत' ग्र थ की अधिक प्रसिद्धि थी। ब्रज मे निवास करने वाले गौडीय भक्त जन उक्त ग्र थ के पाठ द्वारा चैतन्य-चरित्र का रसास्वादन किया करते थे, किंतु उससे उनकी तृप्ति नही होती थी। इसलिए श्री गोविंददेव जी के मुख्य पुजारी हरिदास जी सहित अनेक गौडीय भक्तो ने कृष्णदास कविराज से प्रार्थना की थी कि वे चैतन्य-चरित्र के सर्वांगपूर्ण काव्य-ग्रथ की रचना करे।

कविराज जी तव तक वृद्ध हो चुके थे, और वे शरीर से अत्यत शिथिल थे। फिर भी गौडीय भक्तो के स्नेहपूर्ण आग्रह से वे ग्र थ-रचना मे प्रवृत्त हुए थे। उस काल मे वे रघुनाथदास गोस्वामी के साथ राधाकुड मे निवास करते थे। वहाँ पर ही 'श्री चैतन्य चरितामृत' ग्रथ की रचना की गई, और उसमे रघुनाथदास गोस्वामी से वडी सहायता प्राप्त हुई थी। रघुनाथदास जी ने नीलाचल धाम मे निवास करते समय चैतन्य देव जी की अनेक लीलाएँ स्वय अपनी आँखो से देखी थी; जिनका प्रामाणिक कथन इस ग्रथ मे किया गया है। कविराज जी ने कई वर्षो तक दिन-रात परिश्रम कर स १६३८ मे उक्त ग्रथ को पूरा किया था। उसके कुछ महीनो के पश्चात् स १६३९ मे उनका देहावसान हो गया[1]। उनकी समाधि वृ दावन मे श्री राधा-दामोदर जी के मदिर मे वनी हुई है।

श्री नारायण भट्ट—व्रज की धार्मिक भावना के साथ ही साथ उसकी विविध क्षेत्रो मे गौरव-वृद्धि करने का श्रेय जिन महात्माओ को है, उनमे नारायण भट्ट जी का महत्व किसी से कम नही है। उनका जन्म स १५८८ की वैशाख शु. १४ (नृसिह चौदस) को दक्षिण के मदुरा नगर मे हुआ था। वे भृगुवशी दक्षिणात्य ब्राह्मण थे। उनके पिता जी का नाम भास्कर भट्ट था और माता का नाम यशोमती था। उनका घराना माध्व सप्रदायानुयायी कृष्णोपासक वैष्णव था। उनकी आरभिक शिक्षा दक्षिण मे हुई थी। वे इतने प्रतिभाशाली थे कि उन्होने अल्पायु मे ही यथेष्ट ज्ञानोपार्जन कर लिया था। वे अपनी वाल्यावस्था मे ही कृष्ण-भक्त और व्रज-वृ दावन के अनुरागी हो गये थे। कहते है, उन्होने १२ वर्ष की अल्पायु मे ही अपने प्रथम ग्रथ 'व्रज प्रदीपिका' की रचना दक्षिण मे की थी। उसके उपरात वे व्रज मे निवास करने के लिए घर से चल दिये थे।

वे ढाई वर्ष तक अनेक तीर्थो की यात्रा करते हुए स १६०२ मे व्रज से आये थे। उस काल मे वृ दावन, राधाकुड आदि व्रज के धार्मिक स्थलो मे अनेक गौडीय भक्तो का निवास था। वे भक्त जन चैतन्य देव की प्रेरणा से भक्ति-ग्र थो की रचना, कृष्णोपासना और हरि-कीर्तन का प्रचार तथा व्रज के लुप्त तीर्थो के उद्धार का महत्वपूर्ण कार्य कर रहे थे। वे सभी कार्य कालातर मे नारायण भट्ट जी द्वारा पूर्णता को प्राप्त हुए थे।

श्री चैतन्य देव के प्रिय पार्षद गदाधर पडित गोस्वामी के शिष्य कृष्णदास ब्रह्मचारी थे। प्रियादास जी ने लिखा है कि कृष्णदास ब्रह्मचारी सनातन गोस्वामी के आदेशानुसार उनके उपास्य श्री मदनमोहन जी की सेवा करते थे। उन्होने नारायण भट्ट जी को दीक्षा देकर शिष्य किया था[2]। वे राधाकुड के गौडीय भक्तो के साथ निवास करने लगे। उनका व्रजागमन इस पुण्य भूमि के लिए वडा उपयोगी सिद्ध हुआ था। उन्होने जीवन पर्यन्त विविध भाँति से व्रज की गौरव-वृद्धि का यत्न किया और उसमे यथेष्ट सफलता प्राप्त की थी।

व्रज के लिए देन—नारायण भट्ट जी की व्रज सवधी देन का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है,—(१) श्रीमद् भागवत और वाराह पुराणादि मे श्रीकृष्ण-लीला के जिन स्थलो का उल्लेख मिलता है, उन्हे काल के प्रवाह से लोग भूल गये थे। भट्ट जी ने अनुसधान पूर्वक उन्हे पुन प्रकट किया था। उनके उस महत्वपूर्ण कार्य का उल्लेख नाभाजी ने 'भक्तमाल' मे इस प्रकार किया है,—'गोप्य स्थल मथुरामडल, जिते वाराह वखाने। ते किये नारायण प्रगट, प्रसिद्ध पृथ्वी मे जाने[3] ॥'

---

(१) श्री श्यामदास ने 'श्री चैतन्य चरितामृत' (आदि लीला) की प्रस्तावना में उक्त ग्रंथ का समापन-दिवस स. १६७२ की ज्येष्ठ कृ ५ रविवार बतलाया है।

(२) भक्तमाल-टीका, कवित्त स. ३८१ (३) भक्तमाल, छप्पय स. ८७

(२) ब्रज के वन, उपवन, तीर्थ और देवी-देवताओ की महिमा तथा भगवान् श्री कृष्ण की भक्ति के प्रचारार्थ उन्होने अनेक ग्रथो की रचना की थी।

(३) ब्रज के आध्यात्मिक और भौतिक रूप के प्रदर्शन के लिए तथा वहाँ के वन-वैभव का आनद प्रदान करने के लिए उन्होने 'ब्रज-यात्रा' और 'वन-यात्रा' का प्रचार किया था। उसके कारण प्रति वर्ष देश के सहस्रो नर-नारियो को ब्रज के समग्र रूप के दर्शन का सुयोग प्राप्त हुआ।

(४) भावुक भक्तो को राधा-कृष्ण की सरस लीलाओ का रसास्वादन कराने के लिए उन्होने 'लीलानुकरण' के रूप मे 'रास' का प्रचार किया और ब्रज के अनेक स्थानो मे रास-मडलो का निर्माण कराया था। उससे ब्रज के गायन, वादन, नृत्य और नाट्यादि प्राचीन कलाओ का पुनरुद्धार हुआ। इस सबध मे भक्तवर प्रियादास जी ने लिखा है,—

भट्ट श्री नारायण जू, भये ब्रज-परायन, जाँय जहाँ गाये, तहाँ ब्रज करि घ्याये हैं।
ठौर-ठौर रास के विलास लै प्रकाश किये, जिये यो रसिक जन, कोटि सुख पाये हैं[1]॥

रास लीला के प्रचार मे नारायण भट्ट जी को अपने एक स्नेही कलाकार ब्रजवल्लभ जी से बडी सहायता मिली थी। नाभा जी ने ब्रजवल्लभ जी की नृत्य-गान विषयक निपुणता की प्रशसा करते हुए बतलाया है कि उनकी कला से रास मे मानो रस की वर्षा होने लगती थी। उनका यश समस्त ब्रज मे व्याप्त था और उन्होने नारायण भट्ट जी को भी अपने प्रेम के वशीभूत कर लिया था[2]।

नारायण भट्ट जी ने ब्रज मे आने पर पहिले प्राय १२ वर्ष तक राधाकुड नामक तीर्थ स्थल मे निवास किया था। उसके उपरात वे ब्रज के ऊँचेगाँव नामक स्थान मे चले गये थे। वहाँ उन्होने गृहस्थ जीवन आरभ किया। उनके ज्येष्ठ पुत्र का नाम दामोदर भट्ट था, जिनका जन्म स १६१५ मे हुआ था। नारायण भट्ट जी ने ऊँचेगाँव मे बलदेव जी और बरसाने मे लाडिलीलाल जी की सेवा प्रचलित की थी, जो अभी तक उनके उत्तराधिकारियो और शिष्यो के अधिकार मे है। उनके शिष्यो मे नारायणदास श्रोत्रिय मुख्य थे। उनके वशज बरसाने के गोस्वामी हैं, जिनको लाडिली जी के मदिर की सेवा का अधिकार प्राप्त है।

ग्रथ-रचना—नारायण भट्ट जी के अनेक महत्वपूर्ण कार्यों मे उनकी ग्रथ-रचना का स्थान भी उल्लेखनीय है। उनका जीवन-वृत्तात 'श्री नारायण भट्ट चरितामृतम्' नामक काव्य ग्रथ मे मिलता है। उससे ज्ञात होता है कि उन्होने ६० ग्रथो की रचना की थी। उनके प्रमुख ग्रथो के नाम १ ब्रज भक्ति विलास, २. भक्ति रस तरगिणी, ३ रसिकाह्लादिनी, ४ ब्रजोत्सव चद्रिका, ५ ब्रजोत्सवाह्लादिनी, ६ भक्त भूषण सदर्भ, ७ वृहत् ब्रज गुणोत्सव, ८. भक्ति विवेक आदि हैं। ये समस्त ग्रथ ब्रज के गौरव और उनकी भक्ति-भावना से सबधित है। ब्रज के भक्ति-साहित्य मे सर्वश्री सनातन, रूप, जीव और कृष्णदास कविराज के ग्रथो के पश्चात् नारायण भट्ट के ग्रथो के का प्रमुख स्थान है।

नारायण भट्ट जी का उत्तर जीवन ब्रज के ऊँचेगाँव मे बीता था। उनका देहावसान १७ वी शताब्दी के अत मे भाद्रपद शुक्ला १२ (वामन द्वादशी) को ऊँचेगाँव मे ही हुआ था, जहाँ उनकी समाधि भी बनी हुई है। इस समाधि पर प्रति वर्ष चैत्र कृष्णा ५ को बरसाना के गोस्वामियो द्वारा 'समाज' का आयोजन किया जाता है। उस अवसर पर ब्रज के सगीतज्ञ अपने गायन द्वारा भट्ट जी को श्रद्धाजलि अर्पित करते है।

---

(१) **भक्तमाल टीका,** कवित्त स ३५६
(२) **भक्तमाल,** छप्पय स ८८

चैतन्य संप्रदाय का दार्शनिक सिद्धात और भक्ति-तत्त्व—

वैष्णव धर्म के प्राय: सभी भक्ति—सप्रदाय किसी न किसी दार्शनिक सिद्धात को लेकर चले हैं। इसीलिए उनके प्रवर्त्तको और प्रमुख प्रचारको ने अपने-अपने मतो के समर्थन मे सिद्धात ग्रथो की रचना की है और उन्हे ब्रह्मसूत्र—गीता आदि के भाष्यो द्वारा सपुष्ट किया हैं। किंतु चैतन्य सप्रदाय किसी विशिष्ट दार्शनिक सिद्धात की अपेक्षा भक्ति तत्त्व का आग्रह लेकर चला था। श्री चैतन्य देव कृष्णोपासक और परम भक्त महानुभाव थे। उनका उद्देश्य कृष्णोपासना और भक्ति तत्व का प्रचार करना था, जिसकी सपुष्टि के लिए उन्होने किसी विशिष्ट दार्शनिक सिद्धात के आश्रय की आवश्यकता नही समझी थी। यही कारण है कि उन्होने अथवा उनके प्रमुख सहकारी सर्वश्री नित्यानद और अद्वैताचार्य ने किसी सिद्धात ग्रथ की भी रचना नही की थी, और न ब्रह्मसूत्रादि पर कोई भाष्य ही रचा था, यद्यपि वे धर्म—तत्व के प्रकाड विद्वान होने से वैसी रचना करने मे समर्थ थे। दूसरी बात यह भी थी कि सर्वश्री चैतन्य देव, नित्यानद और अद्वैताचार्य ने माध्व सप्रदायी धर्माचार्यों से दीक्षा ली थी, और उनका भक्ति मार्ग माध्व सप्रदाय की परपरा मे ही विकसित हुआ था। इसलिए उन्होने माध्व सप्रदाय के दार्शनिक सिद्धात और श्री मध्वाचार्य कृत 'ब्रह्मसूत्र भाष्य' को अपने मत के लिए भी मान्य समझा था। फिर चैतन्य देव श्रीमद् भागवत को सर्वोपरि सिद्धात ग्रथ मानने के साथ ही साथ उसे ब्रह्मसूत्र का भी प्रकृत भाष्य समझते थे। ऐसी दशा मे उनको अथवा उनके प्रमुख सहकारियो मे से किसी को भी अन्य सिद्धात ग्रथ अथवा भाष्य ग्रथ की रचना करने की आवश्यकता ज्ञात नही हुई थी।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि श्री चैतन्य देव ने अपने काल के प्रमुख धार्मिक विद्वान सर्वश्री सार्वभौम भट्टाचार्य, राय रामानद और प्रकाशानद सरस्वती के साथ तत्त्व—मथन करते हुए अथवा सर्वश्री सनातन, रूपादि भक्त जनो को समय-समय पर शिक्षात्मक उपदेश देते हुए जो विचार व्यक्त किये थे, उनमे उनके दार्शनिक और भक्ति सिद्धात के तत्त्व भी सन्निहित थे। उनके उपदेश का जो रूप बना, वह माध्व सप्रदाय के पूर्णतया अनुकूल नही था। किंतु चैतन्य जी की वह विचार—धारा चैतन्य—भक्तो के लिए अमृत-धारा के समान निर्मल और समस्त तत्त्वो का सार ज्ञात हुई थी,—"श्री कृष्णचैतन्य—वाणी अमृतेर धार। तेहो ये कहेन वस्तु सेइ तत्त्व सार।" फलत वही उनके लिए उपादेय और अनुकरणीय थी।

कालातर मे इस बात की आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि चैतन्य जी की शिक्षाओ के आधार पर उनके द्वारा प्रचारित भक्ति—सप्रदाय के स्वतत्र ग्रथ निर्मित किये जावे। उस आवश्यकता की पूर्ति ब्रज मे निवास करने वाले गौडीय विद्वान भक्त सर्वश्री सनातन, रूप, जीव और कृष्णदास कविराज आदि के ग्रथो से हुई थी। वही चैतन्य सप्रदाय के स्वतत्र सिद्धात ग्रथ माने गये; क्यो कि उनमे चैतन्य जी के भक्ति-तत्त्व का विशद विवेचन होने के साथ ही साथ उनके दार्शनिक सिद्धात का भी स्पष्टीकरण किया गया था। किंतु वह दार्शनिक सिद्धात माध्व सप्रदाय के 'द्वैतवाद' से कुछ भिन्न था। उसे 'अचिन्त्य भेदाभेदवाद' कहा गया और उसी को चैतन्य सप्रदाय का स्वतत्र दार्शनिक सिद्धात माना जाने लगा। इस सिद्धात के प्रतिष्ठाता गौडीय गोस्वामियो ने अपने ग्रथो मे माध्व सप्रदाय का कोई विशेष आग्रह नही दिखलाया, वल्कि आवश्यकतानुसार उसके विरुद्ध भी अपना मत प्रकट किया। गौडीय सिद्धात मे माध्व सिद्धांत से किन वातो मे भिन्नता है और किन वातो मे अभिन्नता है, इसका उल्लेख आगे के पृष्ठो मे किया जावेगा।

गौड़ीय दार्शनिक सिद्धांत—जैसा पहिले कहा गया है, चैतन्य अर्थात् गौडीय सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धात 'अचिन्त्य भेदाभेद' के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धात का नामकरण और इसकी प्रतिष्ठा जीव गोस्वामी ने श्रीमद् भागवत पर अपने विवेचनात्मक ग्रथ 'षट् सदर्भ' एव 'सर्व सवादिनी' मे की है और उसका स्पष्टीकरण कृष्णदास कविराज ने 'श्री चैतन्य चरितामृत' मे किया है। उक्त विद्वानो ने ब्रह्मसूत्र भाष्य द्वारा उक्त सिद्धात को सपुष्ट करने की आवश्यकता नही समझी थी। किंतु वाद मे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई कि 'अचिन्त्य भेदाभेदवाद' की सपुष्टि ब्रह्मसूत्र भाष्य से भी करने की अनिवार्य आवश्यकता मानी जाने लगी। उसकी पूर्ति ब्रज मे निवास करने वाले गौडीय विद्वान श्री बलदेव विद्याभूषण ने 'गोविंद भाष्य' की रचना द्वारा १८वी शताब्दी के अत मे की थी। इस प्रकार 'गोविंद भाष्य' ब्रह्मसूत्र का गौडीय भाष्य है, और उसके द्वारा गौडीय दार्शनिक सिद्धात के रूप मे 'अचिन्त्य भेदाभेदवाद' की संपुष्टि एव उसकी विशद विवेचना हुई है।

जीव गोस्वामी ने गौडीय सिद्धात का सूत्र बतलाते हुए कहा है, परब्रह्म श्रीकृष्ण सर्व शक्तिमान् हैं और उनकी शक्ति के रूप मे जीव–जगत् आदि की स्थिति है। ब्रह्म के साथ जीव और जगत् का वैसा ही सबध है, जैसा शक्तिमान् का शक्ति के साथ होता है। शक्तिमान् से शक्ति का अस्तित्व तो पृथक् ज्ञात नही होता, किंतु उसका कार्य पृथक् जान पडता है। उसके लिए कस्तूरी और उसकी गध, अथवा अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति के उदाहरण दिये गये हैं। इस प्रकार जहाँ अस्तित्व की दृष्टि से ब्रह्म का जीव एव जगत् से 'अभेद' है, वहाँ कार्य की दृष्टि से 'भेद' भी है। यह भेदाभेद सबध नित्य और सत्य होते हुए भी 'अचिन्त्य' है, अर्थात् मानवीय चिंतन के बाहर है,—इसका निर्णय तर्क अथवा युक्ति आदि से नही किया जा सकता है। इसीलिए गौणीय गोस्वामियो ने इस सिद्धात को 'अचिन्त्य भेदाभेद' कहा है। इस सिद्धात के मुख्य तत्व इस प्रकार हैं,—

परब्रह्म श्रीकृष्ण—श्री चैतन्य देव ने सनातन गोस्वामी को धर्म-तत्व की शिक्षा देते हुए जो उपदेश दिया था, उसमे ब्रह्म और जीवादि के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला गया था। उसका उल्लेख करते हुए कृष्णदास कविराज ने कहा है,—श्रीकृष्ण ज्ञान, योग और भक्ति के साधनो द्वारा अपने को ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् के रूपो मे प्रकाशित करते हैं[1]। अर्थात्—श्रीकृष्ण ही परब्रह्म, परमात्मा और भगवान् आदि सब-कुछ हैं। उन्हे ज्ञानमार्गीय भक्त ब्रह्म के रूप मे, योगमार्गीय परमात्मा के रूप मे और भक्तिमार्गीय भगवान् के रूप मे प्राप्त करते है। परब्रह्म श्रीकृष्ण की तटस्था शक्ति के रूप मे अनत जीव हैं, और कृष्ण ही जगत् के कर्त्ता तथा निमित्त कारण हैं। अपनी अचिन्त्य शक्ति के बल से वे स्वय जगत् मे परिणत होने पर भी स्वरूप से अविकृत रहते हैं। वे सर्वतंत्र स्वतत्र, विभुचित्, सर्वकर्त्ता, सर्वज्ञ, मुक्तिदाता और सच्चिदानद एव ज्ञान–विज्ञान स्वरूप हैं।

जीव—स्वरूप से जीव श्रीकृष्ण का नित्य दास है। यह उनकी तटस्था शक्ति है, और उनका उसी प्रकार भेदाभेद प्रकाश है, जिस प्रकार सूर्य की किरण हैं और अग्नि का ताप है[2]। परब्रह्म कृष्ण विभुचित् है, तो जीव अणुचित् है। यद्यपि जीव परब्रह्म श्रीकृष्ण की भाँति अनादि है, तथापि अपने स्वरूप को भूलने पर वह मायामोहित और बद्ध होता है। उसके बधन का कारण श्रीकृष्ण से उसकी विमुखता है। जब कृष्ण–कृपा से जीव के बधन कट जाते हैं, तब वह मुक्ति प्राप्त

---

(१) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला, २० वाँ परिच्छेद, पयार स १३४

(२) वही ,, , ,, , ,, , पयार स. १०१–१०२

करता है। इस प्रकार मायावद्ध जीवो के अतिरिक्त मायामुक्त जीव भी है, जो ब्रह्म के ही समान आनद प्राप्त करते है, किंतु फिर भी उससे पृथक् रहते है। अणुचित् होने के कारण वे विभुचित् ब्रह्म से स्वरूप तथा सामर्थ्य मे सदैव भिन्न है। कृष्ण-भक्ति जीव का नित्य धर्म है। यही उसका परम पुरुपार्थ और उसके प्रयत्न का चरम फल है।

जगत्—परब्रह्म श्रीकृष्ण जगत् के कर्त्ता, धर्त्ता और विधाता है। सृष्टि की रचना के समय वे स्वय जगत् रूप मे परिणत होते हैं, अत जगत् भी उनके समान ही सत् है; किंतु वह उनकी भाँति नित्य नही है। परब्रह्म श्रीकृष्ण जगत् के निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी। कुछ लोग प्रकृति अर्थात् ब्रह्म की गुणमाया को जगत् का कारण मानते है, किंतु गौडीय सिद्धात इसके विरुद्ध है। उसके अनुसार प्रकृति या गुणमाया जड है, इसलिए वह जगत् का मुख्य निमित्त कारण नही हो सकती। कृष्ण-कृपा से जब उसमे शक्ति का सचार होता है, तव वह जगत् का गौण उपादान कारण उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार अग्नि की शक्ति से लोहे मे भी जलाने की शक्ति आ जाती है[1]।

प्रकृति—यह नित्य है, और परब्रह्म श्रीकृष्ण की गुणमाया है, तथा उनके आश्रित और वशवर्तिनी है। यह जड है, किंतु परब्रह्म से शक्ति प्राप्त कर सृष्टि का गौण उपादान कारण होती है।

काल—यह परिवर्तनशील जड तत्व है, और प्रलय-सृष्टि का निमित्त रूप है।

कर्म—यह अनादि, नश्वर एव जड तत्व है, और परब्रह्म श्रीकृष्ण का शक्ति रूप है।

उपर्युक्त प्रमुख तत्वो के अतिरिक्त गौडीय सिद्धात मे १. अधिकारी, २. सवध, ३. विषय और ४ प्रयोजन नामक चार अनुवधो का भी निर्णय किया गया है। 'गोविंद भाष्य'-रचयिता बलदेव विद्याभूषण ने श्री मध्वाचार्य द्वारा मान्य नौ प्रमेयो को भी स्वीकार किया है, जिनका विस्तृत वर्णन उन्होने अपनी पुस्तिका 'प्रमेय रत्नावली' मे किया है।

गौड़ीय भक्ति तत्व—चैतन्य सप्रदाय मुख्य रूप से भक्ति-प्रचारक सप्रदाय है। इसमे भक्ति तत्व को प्रमुख और दार्शनिक सिद्धात को गौण स्थान दिया गया है, इसलिए इस सप्रदाय के स्वरूप-ज्ञान के लिए इसकी भक्ति-पद्धति से भली भाँति परिचित होना आवश्यक है। चूकि इस सप्रदाय के प्रवर्त्तक श्री चैतन्य देव और उनके प्रमुख सहकारी वगीय महानुभाव थे, और इसका जन्म एव आरभिक प्रचार वग प्रदेश मे हुआ था, अत इसके भक्ति तत्व पर वगाल के शाक्त तत्र और महायानादि वौद्ध संप्रदायो की साधन-प्रणालियो का प्रभाव होना स्वाभाविक था। पर वगाल से भी अधिक इस पर दक्षिण की भक्ति-भावना का प्रभाव पडा है। कारण यह है कि दाक्षिणात्य धर्माचार्य श्री माधवेन्द्र पुरी और उनके शिष्य श्री ईश्वर पुरी की शिक्षाओ के आधार पर श्री चैतन्य देव ने अपनी भक्ति-पद्धति का निर्माण किया था, और उसका विकास भी दक्षिण मे उद्भूत माध्व सप्रदाय की परपरा मे ही हुआ था। फिर चैतन्य देव ने अपनी दक्षिण-यात्रा मे राय रामानद के साथ तत्व-मथन करने और वहाँ से प्राप्त ब्रह्म सहिता एव कृष्ण-कर्णामृत जैसे भक्तिमार्गीय ग्रथो का अनुशीलन करने के उपरात ही इसे वास्तविक रूप प्रदान किया था। इस प्रकार चैतन्य सप्रदाय का गौडीय भक्ति तत्व दाक्षिणात्य तथा वगीय साधन-प्रणालियो के समिश्रण से वना है, और इस पर पाचरात्रादि वैष्णव आगमो के साथ ही साथ शाक्त एव वौद्ध तंत्रो का भी प्रभाव पडा है।

---

(१) श्री चैतन्य चरितामृत, आदि लीला, ५र्वा परिच्छेद, पयार स ५०-५४

गौड़ीय भक्ति के मुख्य सूत्र और उपकरण—यद्यपि चैतन्य जी ने किसी सिद्धान्त ग्रंथ की रचना नहीं की थी, तथापि उनके रचे हुए कतिपय श्लोक और स्तोत्रादि उपलब्ध हैं। उनमें से आठ श्लोक 'शिक्षाष्टक' कहलाते हैं। वे वस्तुतः एक भक्त हृदय के मार्मिक उद्गार हैं; जो साधारण जनों के लिए सामान्य और अधिकारी भक्तों के लिए सारगर्भित ज्ञात होते हैं। चैतन्य देव कृत विविध श्लोकों और उनके द्वारा अनेक अवसरों पर अनुगामी जनों को दिये हुए उपदेशों में उनके भक्ति-तत्व के साथ ही साथ दार्शनिक सिद्धांत के सूत्र भी सन्निहित हैं। गौड़ीय विद्वानों ने इनके आधार पर ही चैतन्य सम्प्रदाय की रूप-रेखा निश्चित की है।

गौड़ीय भक्ति तत्व में भगवान् श्रीकृष्ण का सर्वोपरि महत्व माना गया है। श्रीकृष्ण की भक्ति, उपासना और आराधना करना ही गौड़ीय भक्तों का परम कर्त्तव्य होता है। चैतन्य सम्प्रदायी विद्वानों ने श्रीकृष्ण को केन्द्र-बिंदु मान कर ही अपने साम्प्रदायिक वृत्त का निर्माण किया है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ने श्री चैतन्य देव द्वारा प्रचारित गौड़ीय भक्ति के मुख्य उपकरण इस प्रकार बतलाये हैं,—"भगवान् श्रीकृष्ण एक मात्र आराध्य हैं और उनका धाम वृंदावन है। उनकी आराधना का आदर्श ब्रज-गोपियों की उपासना है। श्रीमद् भागवत प्रमाण ग्रंथ है, और प्रेम ही जीव का परम पुरुषार्थ है,—

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृंदावनं। रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता॥
भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्। श्री चैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्राग्रहो ना परः॥

साधन-भक्ति और उसके अंगोपांग—चैतन्य सम्प्रदाय के परमाराध्य और परमोपास्य श्रीकृष्ण का प्रेम जिस साधन से प्राप्त होता है, उसे 'साधन-भक्ति' कहते हैं। श्री रूप गोस्वामी ने कहा है'—"साधन-भक्ति उत्तमा भक्ति है और उसका साध्य अथवा लक्ष्य कृष्ण-प्रेम होता है। साधन-भक्ति द्वारा जब नित्यसिद्ध कृष्ण-प्रेम का हृदय में उदय हो जाय, तभी उसकी सफलता अथवा सिद्धि जाननी चाहिए[1]।" कृष्णदास कविराज का कथन है,—"नवधा भक्ति का आचरण इस साधन-भक्ति का 'स्वरूप लक्षण' है, और कृष्ण-प्रेम का प्राकट्य उसका 'तटस्थ लक्षण' है[2]।"

गौडीय विद्वानों ने साधन-भक्ति के अनेक अंगोपांगों का विस्तृत कथन किया है। श्री चैतन्य देव ने सनातन जी को शिक्षा देते हुए साधन-भक्ति के चौसठ अंग बतलाये हैं, और उनमें से भी पाँच अंगों को उन्होंने प्रमुखता प्रदान की है। सर्वश्री रूप गोस्वामी और कृष्णदास कविराज ने उन पाँच अंगों का नामोल्लेख इस प्रकार किया है,—१ सत्संग, २ हरिनाम-कीर्तन, ३. भागवत-श्रवण, ४ मथुरामंडल का वास, और ५ श्रद्धापूर्वक श्रीमूर्ति की सेवा[3]। उनके मतानुसार यह आवश्यक नहीं है कि साधन-भक्ति के इन सभी अंगों की सबके द्वारा साधना की जावे। साधक गण अपनी-अपनी निष्ठा के अनुसार एक अथवा अनेक अंगों की भी साधना कर सकते हैं। उन्होंने कहा है, अनेक साधक भक्तों ने एक-एक अंग की सिद्धि द्वारा ही कृष्ण-प्रेम प्राप्त किया है। ऐसे भक्तों का उदाहरण देते हुए रूप गोस्वामी ने बतलाया है,—'राजा परीक्षित ने केवल श्रवण से, श्री शुकदेव जी

---

(१) भक्ति रसामृत सिंधु, १-२-२
(२) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला, २२वाँ परिच्छेद, पयार सं ५६
(३) १ भक्ति रसामृत सिंधु, १-२-४३
 २. श्री चै च., मध्य लीला, २२वाँ परिच्छेद, पयार सं ७४-७५

ने कीर्तन से, प्रह्लाद जी ने स्मरण से, श्री लक्ष्मी जी ने पाद-सेवन से, राजा पृथु ने पूजन से, अक्रूर जी ने वदना से, श्री हनुमान जी ने दास्य से, अर्जुन जी ने सख्य से और राजा वलि ने आत्म-निवेदन से ही भगवान् को प्राप्त किया था[1]।'

हरि-संकीर्तन—यद्यपि भक्ति के सभी अग समान रूप से उपादेय हैं, तथापि गौडीय सप्रदाय मे हरि-सकीर्तन को विशेष महत्व दिया गया है। श्री जीव गोस्वामी ने 'क्रम सदर्भ' मे कीर्तन की परिभाषा करते हुए कहा है,—'नामकीर्त्तनचेदमुच्चैरेव प्रशस्तम्'—भगवान् के नाम-रूप का उच्च स्वर से गायन करना 'कीर्तन' कहलाता है। गौडीय भक्तो ने कीर्तन की वडी महिमा वतलाई है। कृष्णदास कविराज ने सव प्रकार के भजनो मे तो नवधा भक्ति को श्रेष्ठ वतलाया है, और उसमे भी कीर्तन को सर्वश्रेष्ठ माना है,—'भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति। तार मध्ये सर्व-श्रेष्ठ नाम-सकीर्तन॥' श्री चैतन्य देव को कीर्तन अत्यत प्रिय था। उन्होने अपने शिक्षाष्टक' मे सर्वप्रथम श्रीकृष्ण-सकीर्तन का ही गुण-गान किया है,—'सर्वात्मस्नपन पर विजयते श्रीकृष्ण-सकीर्तनम्'। वे जीवन पर्यंत हरि-कीर्तन मे सर्वाधिक रुचि लेते रहे और उसका व्यापक रूप मे प्रचार करते रहे थे। इसलिए उन्हे कीर्तन का प्रवर्त्तक या पिता कहा जाता है। लोक मे हरि-भक्ति के प्रचार का सवसे सुगम साधन कीर्तन ही माना गया है, और इसे लोकप्रिय वनाने मे चैतन्य सप्रदाय का सर्वाधिक योग रहा है।

अष्टकालीन लीलाओं का स्मरण और ध्यान—चैतन्य सप्रदाय मे कीर्तन के पश्चात् स्मरण और ध्यान को अधिक महत्व दिया गया है। इससे भक्तो के चित्त मे एकाग्रता और भक्ति-भाव मे दृढता होती है तथा उन्हे अलौकिक आनद का अनुभव होता है। श्री रूप गोस्वामी ने गौडीय भक्तो की सुविधा के लिए पद्मपुराणोक्त पाताल खड, वृदावन माहात्म्य के १४वें अध्याय के आधार पर अपने 'स्मरण मगल' स्तोत्र की रचना की है। इसमे श्रीकृष्ण की दैनिक लीलाओ की एक छोटी सी रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है, जो भक्त जनो मे वडी लोकप्रिय हुई है। चैतन्य संप्रदाय के कई प्रमुख कवियो ने 'स्मरण मगल' के भाष्य रूप मे विविध ग्रथो की रचना की है, जिनमे कवि कर्णपूर कृत 'श्रीकृष्णाह्निक कौमुदी', कृष्णदास कविराज कृत 'गोविद लीलामृत', विश्वनाथ चक्रवर्ती कृत 'श्रीकृष्ण भावनामृत' और सिद्ध वावा कृष्णदास द्वारा सपादित 'भावना सार सग्रह' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनमे अतिम ग्रथ तीन हजार श्लोको का एक वृहत् सकलन है। ये सभी ग्रथ गौडीय भक्तो को वडे प्रिय रहे हैं।

भक्ति के दो प्रकार—साधन-भक्ति दो प्रकार की मानी गई है,—१ वैधी भक्ति और २. राग भक्ति। श्रीकृष्ण के प्रति वलवती तृष्णा के उत्पन्न हुए विना केवल शास्त्रो की आज्ञा-पूर्ति के लिए ही उनका भजन करना 'वैधी भक्ति' कहलाती है, और श्रीकृष्ण मे वलवती तृष्णा द्वारा उनसे अहेतुक अर्थात् निष्काम प्रेम करने को 'राग भक्ति' कहते हैं। कृष्णदास कविराज ने कहा है, वैधी भक्ति करने वाले भक्त जन सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य एव सालोक्य मुक्ति प्राप्त कर वैकुठ का सुखोपभोग कर सकते हैं, किंतु उन्हे 'व्रज भाव' अर्थात् प्रेमा भक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती[2]। व्रज-भाव प्रदायिनी प्रेमा भक्ति 'राग भक्ति' है, जो वैधी भक्ति मे श्रेष्ठ है।

---

(१) भक्ति रसामृत सिंधु, १-२-१२६

(२) श्री चैतन्य चरितामृत, आदि लीला, तीसरा परिच्छेद, पयार स १३-१६

गौडीय भक्ति सिद्धांत के अनुसार 'राग भक्ति' भी दो प्रकार की होती है,–१ रागात्मिका और २ रागानुगा। भगवान् श्रीकृष्ण के नित्यसिद्ध ब्रजवासी परिकर नंद-यशोदा, गोप-गोपियो आदि के अतिशय कृष्ण–प्रेम को 'रागात्मिका भक्ति' कहते हैं। कलि काल में इस प्रकार की भक्ति करना सभव नही है, और उसे करने का कलियुगी जीवो को अधिकार भी नहीं है। इस समय तो भक्त जन श्रीकृष्ण के नित्यसिद्ध पूर्वोक्त ब्रजवासी परिकर के अनुगत होकर 'रागानुगा भक्ति' ही कर सकते है। राग भक्ति के चार भाव हैं,—१ दास्य, २ सख्य, ३. वात्सल्य और ४. माधुर्य। ब्रज मे इन चारो भावो के नित्यसिद्ध परिकर हुए हैं। उनमे से साधक को अपने भावानुकूल परिकर के अनुगत होकर श्रीकृष्ण की सेवा करनी चाहिए। इस प्रकार से जो रागानुगा भक्ति करता है, उसको श्रीकृष्ण के चरणारविंद मे प्रीति उत्पन्न होती है[1]।

गौडीय भक्तो के गुण—गौडीय भक्त जनो मे अतिशय दीनता, नम्रता, सहिष्णुता और समता आदि गुणो का होना आवश्यक है। उन्हे स्वय मान-प्राप्ति का इच्छुक न होकर दूसरो को आदर-सम्मान देना चाहिए। श्री चैतन्य देव ने स्वय कहा है,—भक्त को तृण से भी अधिक तुच्छ और वृक्ष से भी अधिक सहनशील होकर तथा स्वय मान की इच्छा न रख कर दूसरो को मान देना उचित है[2]।

गौडीय भक्तो मे ऊँच–नीच और जाति-पाँति का भेद-भाव नही होना है। सभी भक्त जन चाहे वे किसी भी वर्ण, जाति, कुल अथवा धर्म–सप्रदाय के हो, भगवान् श्रीकृष्ण के चरणाश्रित होने के अधिकारी है। कृष्णदास कविराज ने कहा है,—'नीच जाति के होने से कृष्ण-भजन के अयोग्य और उच्च कुल के ब्राह्मण होने से ही उसके योग्य नही हो जाते। जो कृष्ण-भजन करे, वही बडा है और जो भक्तिशून्य है, वही नीच है। कृष्ण-भजन मे जाति और कुल का विचार नही है। भगवान् जितनी दया दीनो पर करते है, उतनी कुलीन-पडित-धनी लोगो पर नही, क्यो कि उन्हे अपने कुल-पाडित्य-धन का बडा अभिमान होता है[3]।'

श्री चैतन्य देव और उनके प्रमुख सहकारी नित्यानद जी ने उच्च वर्ण के हिंदुओ के साथ ही साथ निम्न वर्ण के व्यक्तियो, अन्त्यजो और मुसलमानो को भी कृष्ण-भक्ति की शिक्षा दी थी। चैतन्य जी के प्रभाव से श्री जगन्नाथ पुरी मे अब तक ऊँच-नीच और जाति-पाँति का भेद-भाव नही है। वहाँ पर सभी जातियो के व्यक्ति एक पक्ति मे बैठ कर श्री जगन्नाथ जी का प्रसाद ग्रहण करते हैं।

सभोग और विप्रलभ—साहित्य जगत् मे जिसे शृ गार रस कहते हैं, वही आलवन के भेद से भक्ति जगत् मे मधुर रस कहा जाता है। फलत शृ गार रस की भाँति मधुर भक्ति रस के भी सभोग और विप्रलभ नामक दो भेद होते हैं। भक्त जनो को सभोग की अपेक्षा विप्रलभ की साधना अधिक आनददायी ज्ञात होती है। श्री चैतन्य देव और उनके प्रमुख अनुयायी भक्त जन इसीलिए विप्रलभ रस के साधक रहे हैं।

---

(१) **श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला,** बाईसवाँ परिच्छेद, पयार स ८४–९३

(२) **श्री चैतन्य कृत 'शिक्षाष्टक'**, श्लोक स ३

(३) **नीच जाति नहे कृष्ण-भजने अयोग्य। सत्कुल विप्र नहे भजनेर योग्य॥**
येई भजे सेइ बड, अभक्त हीन छार। कृष्ण-भजने नाहि जाति-कुलादि बिचार॥
दीनेर अधिक दया करे भगवान्। कुलीन–पडित–धनीर बड अभिमान॥

—श्री चैतन्य चरितामृत, अन्त्य लीला, परिच्छेद ४

भक्ति रस—गौडीय भक्ति सिद्धात का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष भक्ति तत्त्व को 'रस' के रूप मे मान्यता प्रदान करना है। इस चिन्मय रस सिद्धात के मूल तत्त्व श्री चैतन्य देव की शिक्षाओ मे मिलते हैं, किंतु उसे व्यवस्थित रूप मे प्रतिष्ठित करने का श्रेय श्री रूप गोस्वामी को है। उनके सुप्रसिद्ध ग्रथ 'भक्ति रसामृत सिंधु' मे भक्ति रस का सर्वप्रथम सर्वागपूर्ण विवेचन किया गया है। जीव गोस्वामी कृत 'षट् सदर्भ' मे और कृष्णदास कविराज कृत 'श्री चैतन्य चरितामृत' मे भी भक्ति रस का विशद रूप मे प्रतिपादन हुआ है। इस प्रकार सर्वश्री रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी एव कृष्णदास कविराज को चैतन्य सप्रदाय मे मान्य भक्ति रस के प्रतिष्ठाता और व्याख्याता होने का गौरव प्राप्त है।

अपनी प्रिय वस्तु के प्रति सहज आसक्ति को 'रति' कहते है। वैष्णव भक्तो के सर्वाधिक प्रिय भगवान् श्रीकृष्ण है, अत उनके प्रति भक्तो की आसक्ति 'कृष्ण-रति' कहलाती है, जिसकी परिपूर्णता ही 'भक्ति रस' है। कृष्णदास कविराज का कथन है, श्रवण—कीर्तनादि साधन—भक्ति से कृष्ण—रति का उदय होता है। उक्त रति के प्रगाढ होने पर इसे 'प्रेम' कहते है। प्रेम की वृद्धि होने पर उसे क्रमश स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव कहा जाता है। जिस प्रकार ईख से रस, रस से गुड, गुड से खाड, खाड से चीनी, चीनी से मिश्री तथा मिश्री से सितोपला की उत्पत्ति है, और जिनमे एक दूसरे से बढ कर मधुरिमा होती है, उसी प्रकार कृष्ण—रति दृढ हो कर क्रमश प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव मे परिणत होती हुई उत्तरोत्तर माधुर्य को प्राप्त होती है। कविराज जी कहते हैं,—'ये प्रेम, स्नेह, भाव, महाभावादि कृष्ण—भक्ति रस के स्थायी भाव है। जब उनमे समुचित विभाव, अनुभाव, सात्विक और सचारी भावो का योग होता है, तब वे कृष्ण-भक्ति रस रूप अमृत का आस्वादन कराते है[1]।

कृष्ण—भक्ति रस के प्रकार और उनका तारतम्य—भक्तो की रुचि और उनकी निष्ठा के अनुसार कृष्ण—रति के मुख्यत पाँच भेद हैं, जिनके कारण कृष्ण-भक्ति के भी पाँच प्रमुख प्रकार है,— १ शात रस, २ दास्य रस, ३ सख्य रस, ४ वात्सल्य रस और ५ मधुर रस। भक्ति मार्ग का यह रस-भेद साहित्य-ससार के रस-भेद से भिन्न है। साहित्य-ससार मे शृ गार रस निम्न कोटि का, और शात रस उच्च कोटि का माना गया है, किंतु इसके विपरीत भक्ति मार्ग मे शात रस निम्न श्रेणी का रस है, और शृ गार किंवा मधुर रस सर्वोच्च श्रेणी का है। मधुर रस की श्रेष्ठता के कारण इसे उज्ज्वल रस भी कहा जाता है।

कृष्णदास कविराज ने 'चैतन्य चरितामृत', मध्य लीला के १६वे परिच्छेद मे कृष्ण-भक्ति रस के पूर्वोक्त पाँचो भेदो का तारतम्य उनके गुणो के आधार पर बतलाते हुए कहा है,—शात भक्ति रस मे केवल एक गुण कृष्ण-निष्ठा का होता है, जब कि अन्य भक्ति रसो मे उत्तरोत्तर अधिक गुण होते है। दास्य मे शात भक्ति रस का गुण कृष्ण-निष्ठा तो है ही, उसमे कृष्ण-सेवा गुण की अधिकता है। सख्य रस मे कृष्ण-निष्ठा और कृष्ण-सेवा के अतिरिक्त कृष्ण मे असकोच बुद्धि गुण का आधिक्य है। वात्सल्य भक्ति रस मे कृष्ण-निष्ठा, कृष्ण-सेवा और कृष्ण मे असकोच बुद्धि गुणो के अतिरिक्त कृष्ण के प्रति ममताधिक्य गुण की विशेषता है। मधुर भक्ति रस मे पूर्वोक्त चारो भक्ति—रसो के समस्त गुणो के अतिरिक्त कृष्ण के सुखार्थ सर्वस्व समर्पण भावना का विशेष गुण होता है। इसलिये इसे सर्वश्रेष्ठ भक्ति रस माना गया है।

---

(१) श्री चैतन्य चरितामृत, मध्य लीला, १६वाँ परिच्छेद, पयार स. १५१–१५३

मधुर भक्ति रस का आस्वादन इंद्रियो का विषय तो है ही नही, वह मन और बुद्धि का विषय भी नही है। इसीलिए भक्ति ग्रंथो मे इसकी साधना करने वाले भक्तो के लिए अनेक कठिन नियमो के पालन करने का विधान किया गया है। मधुर भक्ति रस के साधक का इन्द्रिय, मन और बुद्धि पर पूर्ण रूपेण अधिकार और नियंत्रण होना आवश्यक है। उसे इस लोक के तो क्या परलोक के भी समस्त भोग, यहाँ तक कि मुक्ति के अलौकिक सुखो की कामना भी छोड़नी पड़ती है। तभी वह इस सर्वश्रेष्ठ भक्ति रस की आराधना करने का अधिकारी हो सकता है।

कृष्णदास कविराज द्वारा कथित और चैतन्य सम्प्रदाय मे मान्य कृष्ण-भक्ति के पूर्वोक्त रस-भेद संबंधी विवेचन का सार निम्न नक्शे से स्पष्ट किया गया है,—

१ शात भक्ति रस —१ कृष्ण-निष्ठा।

२ दास्य भक्ति रस —१. कृष्ण-निष्ठा, २ कृष्ण-सेवा।

३ सख्य भक्ति रस —१. कृष्ण-निष्ठा, २ कृष्ण-सेवा, ३ कृष्ण में असकोच बुद्धि।

४ वात्सल्य भक्ति रस—१ कृष्ण-निष्ठा, २ कृष्ण-सेवा, ३. कृष्ण मे असकोच बुद्धि, ४. कृष्ण के प्रति ममताधिक्य।

५ मधुर भक्ति रस —१ कृष्ण-निष्ठा, २ कृष्ण-सेवा, ३ कृष्ण में असकोच बुद्धि, ४ कृष्ण के प्रति ममताधिक्य, ५ कृष्ण सुखार्थ सर्वस्व-समर्पण[1]।

मधुर भक्ति रस का 'परकीया' भाव—मधुर रस का आस्वादन दो प्रकार के भावो से किया जाता है,—१ स्वकीया भाव से और परकीया भाव से। ब्रज के कृष्णोपासक धर्म-सप्रदायो मे माधुर्य भक्ति के अंतर्गत प्राय 'स्वकीया' भाव की मान्यता है, किन्तु चैतन्य सम्प्रदाय के भक्ति रस मे 'परकीया' भाव को प्रमुखता दी गई है। इस सम्प्रदाय का यह परकीया भक्ति-भाव राधा और गोपियो के कृष्ण-प्रेम पर आधारित है। पुराणो से ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण की ब्रज-लीलाओ मे उनकी सतत् संगिनी श्री राधा और गोपियाँ ब्रज के विविध गोपो की पत्नियाँ थी। वे अपने पतियो की उपेक्षा कर श्रीकृष्ण से प्रगाढ प्रेम करती थी। उनका वह आचरण श्रुति-स्मृति प्रतिपादित विधि मार्ग के विरुद्ध होने से अनुचित माना जा सकता है। उनसे प्रत्येक व्यक्ति को शका हो सकती है कि अधर्म के नाश और धर्म की स्थापना के लिए अवतरित भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वय उस प्रकार के अधर्माचरण को क्यो प्रोत्साहित किया था? श्रीमद् भागवत का उल्लेख है, जब शुकदेव जी ने रास लीला के प्रसग मे श्रीकृष्ण के साथ ब्रज-बालाओ के स्वच्छंद नृत्य-गान और आलिंगन-चुंबनादि रस-केलि का कथन किया था, तब उसे काम-क्रीडा समझ कर राजा परीक्षत ने भी उनसे उसी प्रकार की शका की थी। उसके समाधान मे शुकदेव मुनि ने सीधा सा यह उत्तर दिया था,—'तेजस्वी पुरुषो को अनुचित कार्य करने पर भी दोष नही होता है, जैसे अग्नि सब प्रकार के भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों को ग्रहण करने पर भी उनके दोषो से दूषित नही होती है। भगवान् श्रीकृष्ण तो परम तेजस्वी और सर्व सामर्थ्यवान् है, अत वे सब प्रकार के दोषो से सर्वथा मुक्त है[2]।'

---

(१) लेखक कृत 'चैतन्य मत और ब्रज साहित्य', पृष्ठ ९६–९७

(२) श्रीमद् भागवत, दशम स्कंध, अध्याय ३४

जिस समय भागवत की रचना हुई थी, उस समय मध्य काल की भाँति भक्ति-तत्त्व का समुचित विकास नही हो पाया था। फलत. उस काल मे परकीयावाद की मान्यता भी माधुर्य भक्ति-रस के प्रमुख भाव के रूप मे नही हुई थी। इसलिए शुकदेव मुनि का उपर्युक्त उत्तर उतना समाधान-कारक ज्ञात नही होता है, जितना कि परकीयावाद को धार्मिक धरातल पर स्थापित करने वाले गौड़ीय विद्वानो का तत्संबधी स्पष्टीकरण है। श्रीकृष्ण की रास लीला मे व्रज-बालाओ के जिस आचरण को राजा परीक्षित ने काम-क्रीडा समझा था, उसे गौडीय विद्वानों ने प्रेम-भक्ति बतलाया है। कृष्णदास कविराज ने 'काम' और 'प्रेम' मे लोहे और सोने का सा अंतर बतलाते हुए कहा है,—"अपनी इंद्रिय-तृप्ति के सुख की इच्छा को 'काम' कहते है, और श्रीकृष्ण-प्रीति के सुख की लालसा 'प्रेम' कहलाती है[1]।"

बंगाल का प्रभाव—चैतन्य संप्रदाय का परकीयावाद मूल रूप मे बंगाल की उपज है, अतः इस तत्त्व की पृष्ठभूमि को समझने के लिए वहाँ के तत्कालीन धार्मिक वातावरण को ध्यान मे रखना आवश्यक है। मध्य काल मे बंगाल प्रदेश बौद्ध-शाक्त तंत्रवाद का प्रमुख गढ था, और वहाँ की धर्मोपासना मे परकीया भक्ति का प्रचार था। बौद्ध धर्म के 'सहज यान' और शाक्त धर्म की तांत्रिक साधना की पृष्ठभूमि पर ही बंगाली वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास हुआ है। श्री चैतन्य जी ने एक ओर बौद्ध-शाक्त तांत्रिक उपासना से प्रभावित बंगाली लोक धर्म को वैष्णवता का कलेवर प्रदान कर उसे कृष्ण-भक्ति से अनुप्राणित किया, तो दूसरी ओर उन्होने सहजिया पंथ के अनुयायी कविवर चंडीदास के परकीया प्रेम-मूलक गीतो की स्वीकृति द्वारा उसे अनुरंजित भी किया था। इससे चैतन्य संप्रदाय के भक्ति-तत्त्व मे परकीयावाद का समावेश हो गया।

चैतन्य देव से भक्ति-तत्त्व की शिक्षा प्राप्त कर जब गौडीय गोस्वामी गण व्रज-वृंदावन मे आये, तब वहाँ के कृष्णोपासक वैष्णव संप्रदायो मे भक्ति के अन्य अंगो के साथ ही साथ माधुर्य भक्ति का भी प्रचार था। किंतु वह माधुर्य भक्ति बंगाल के परकीया भाव से भिन्न स्वकीया भाव-प्रधान थी। व्रज के वैष्णव संप्रदायो की भावना राधा जी को स्वकीया मानने की है, जब कि चैतन्य संप्रदाय मे उन्हे परकीया माना गया है। गौडीय गोस्वामी गण यद्यपि परकीयावाद के समर्थक थे, तथापि वे व्रज की स्वकीया भावना की भी उपेक्षा नही कर सके थे। फलत. उनके ग्रंथो मे परकीया भक्ति का स्पष्टतया समर्थन नही मिलता है।

चैतन्य संप्रदाय के 'राधा तत्त्व' मे 'परकीयावाद' का कथन करते हुए हमने गत पृष्ठो मे श्री जीव गोस्वामी की उस मनोदशा का उल्लेख किया है, जिसका आभास श्री रूप गोस्वामी कृत 'उज्ज्वल नीलमणि' ग्रंथ की उनके द्वारा रचित 'लोचन रोचनी' टीका मे मिलता है। वे 'स्वेच्छया-परेच्छया' की दुविधा के कारण निस्संकोच भाव से परकीयावाद का समर्थन नहीं कर सके हैं[2]। राधा जी के परकीयत्व पर आवरण डालने के लिए ही कदाचित रूप गोस्वामी कृत 'ललित माधव' नाटक मे और जीव गोस्वामी कृत 'गोपाल चम्पू' मे राधा-कृष्ण का विवाह भी कराया गया है। पुराणो मे उल्लिखित व्रज के विविध गोपो के साथ राधा और गोपियो के वैवाहिक संबंध के विषय मे

(१) श्री चैतन्य चरितामृत, आदि लीला, चतुर्थ परिच्छेद, पयार सं. १४०-१४२

(२) १. इस ग्रंथ का विगत पृष्ठ सं. १७६ देखिये।

२. लेखक कृत 'चैतन्य मत और ब्रज साहित्य', पृष्ठ १०१-१०३ देखिये।

मे गोस्वामियो का कथन है कि वे विवाह भगवान् श्रीकृष्ण की योग माया की लीला मात्र थे। श्रीराधा तथा गोपियाँ तो श्रीकृष्ण की व्रज-लीलाओं मे निरतर उनके साथ रही थी, और उनके माया-विग्रहो अर्थात् कल्पित प्रतिमूर्तियो के साथ व्रज के विविध गोपो के विवाह योग माया द्वारा कराये गये थे। इस प्रकार वे विवाह वास्तविक न होकर स्वप्नवत् थे। गोपो के घरो मे राधा और गोपियो की उन प्रतिमूर्तियो का ही सदैव निवास रहा था, जब कि वे स्वय श्रीकृष्ण के साथ निरतर लीलारत रही थी।

सर्वश्री रूप-जीव गोस्वामियो की अपेक्षा कृष्णदास कविराज ने अधिक स्पष्ट रूप मे परकीया भाव का समर्थन किया है। उनका कथन है,—'परकीया भाव मे रस का अधिक उल्लास होता है, किंतु वह व्रज से अन्यत्र सभव नही है। यह भाव व्रज की गोप-वधुओं मे निरतर विद्यमान है, और उनमे भी राधा जी मे इसकी परमावधि है[1]।' कृष्णदास कविराज कृत 'श्री चैतन्य चरितामृत' गौडीय दार्शनिक सिद्धात और भक्ति-तत्त्व का सर्वाधिक प्रतिनिधि ग्रथ है। इसमे जिस परकीया भाव का प्रतिपादन किया गया है, वही चैतन्य सप्रदाय की माधुर्य भक्ति का यथार्थ रूप है।

कृष्णदास कविराज और जीव गोस्वामी के उत्तर काल में बौद्ध-शाक्त सहजिया पथो के प्रभाव से वगाल के चैतन्य सप्रदायी भक्तो मे भी सहजिया विचार-धारा की प्रबलता हो गई थी। उस समय चैतन्य सप्रदाय के अतर्गत सहजिया वैष्णवो ने परकीया भक्ति का जोर-शोर से प्रचार किया था। उसकी गूज व्रज मे भी हुई थी, जिसके कारण यहाँ भी परकीया भक्ति का प्रचलन बढने लगा था। जीव गोस्वामी के पश्चात् व्रज के गौडीय वैष्णवो के नेता विश्वनाथ चक्रवर्ती थे। उन पर वगाली वातावरण का विशेष प्रभाव था। उन्होने अपने ग्रथो मे दृढता पूर्वक परकीया भक्ति का समर्थन किया है। जीव गोस्वामी के परकीया सबधी विचारो पर अपना मत प्रकट करते हुए उन्होने उज्ज्वल नीलमणि की स्वरचित टीका 'आनद चद्रिका' मे लिखा है,—'मैं श्री जीव गोस्वामी के उसी अभिमत को मानता हूँ, जिसे उन्होने स्वेच्छा पूर्वक व्यक्त किया है, अन्य प्रकार से लिखा हुआ उनका मत मुझे माननीय नही है,—अत्र श्री जीव गोस्वामि चरणास्तु यन्मतम्। स्वेच्छाभिमत मतेन्मे माननीय न चेतरत ॥'

विश्वनाथ चक्रवर्ती के समय मे रूप कविराज नामक एक गौडीय भक्त ने चैतन्य सप्रदाय के वाह्य धर्माचारो के विरुद्ध आवाज उठाई थी। उसने आतरिक भक्ति के नाम पर ऐसी कुत्सित साधना प्रचलित करने की चेष्टा की थी, जिससे चैतन्य सप्रदाय की मान कम होने की आशका हो गई थी। विश्वनाथ चक्रवर्ती ने रूप कविराज को शास्त्रार्थ मे परास्त कर उसका वहिष्कार कर दिया। चक्रवर्ती जी के पश्चात् वगाल के सहजिया वैष्णवो ने परकीया भक्ति को प्रचारित करने के जोश मे वृदावन के गोस्वामियो पर भी आक्षेप करना आरभ किया था। वे अपने को चैतन्य देव द्वारा प्रचारित राग-मार्ग का वास्तविक अनुयायी मानते थे, और वृदावन के गौडीय गोस्वामियो को विधि-मार्ग के प्रचारक बतलाते थे। सहजिया वैष्णवो का वह अनर्गल कथन तो चैतन्य सप्रदाय मे मान्य नही हुआ, किंतु परकीया भक्ति इस सप्रदाय की भक्ति-भावना का प्रमुख अग बन गई।

परकीया भाव की महत्ता—गौडीय विद्वानो ने माधुर्य भक्ति मे परकीया भाव को प्रमुखता देने के साथ ही साथ उसकी महत्ता का भी वडा गुण-गान किया है। उन्होने परकीया भाव की

---

(१) श्री चैतन्य चरितामृत, आदि लीला, चतुर्थ परिच्छेद, पयार स. ४२-४३

तुलना मे स्वकीया भाव को ग्रमान्य ठहराते हुए कहा है कि श्रीकृष्ण की व्रज-लीलाओ मे उनका निरतर साथ देने वाली सभी व्रजागनाएँ परकीया थी, अत उनके स्वकीया भाव की मान्यता असगत है । श्रीमद् भागवतादि कृष्ण–लीला के सर्वमान्य ग्रथो मे व्रजागनाओ का वर्णन परकीया भाव से ही हुआ है और उसका चरमोत्कर्ष रास लीला मे दिखलाया गया है । परकीया भक्ति की महत्ता का सबसे कारण यह है कि इसमे आत्मोत्सर्ग और आत्म निवेदन की जैसी सुदृढ भावना है, वैसी स्वकीया भाव मे सभव नही है । परकीया भाव मे प्रिय-मिलन की जैसी उत्कट अभिलाषा और नाना विघ्न-बाधाओ को सहन करने की जैसी अदम्य इच्छा होती है, वैसी स्वकीया भाव मे कदापि नही हो सकती ।

साहित्य ससार की लौकिक परकीया नायिका के दुर्लभ प्रिय-मिलन की तुलना भी स्वकीया नायिका के सहज सुलभ समागम से नही की जा सकती है । लौकिक परकीया नायिका पारिवारिक भय एव लोकापवाद की उपेक्षा करती हुई, तथा पग-पग पर विविध विघ्न-बाधाओ को सहती हुई जैसे आत्म निवेदन के भाव से उपपति की कामना करती है, वैसा भाव लौकिक स्वकीया नायिका मे भी नही होता है । फिर साहित्य ससार के प्राकृत एव लौकिक परकीया भाव तथा भक्ति मार्ग के अप्राकृत एव अलौकिक परकीया भाव मे धरती और आकाश का सा अतर है । कामी जनो का परकीया भाव अनुचित रीति से इद्रिय-तृप्ति और वासना-पूर्ति का एक साधन मात्र है, किंतु भक्तो का अलौकिक परकीया भाव परब्रह्म श्रीकृष्ण का अपनी आह्लादिनी शक्ति रूपी व्रजागनाओ के साथ दिव्य लीला-विलास है । लौकिक नायक-नायिकाओ के प्राकृत परकीया भाव का सर्वप्रथम कथन 'नाट्य शास्त्र' मे भरत मुनि ने किया है । उनके सबध मे श्री चैतन्य देव ने कहा है, हमारा व्रज रस अर्थात् अप्राकृत परकीया भक्ति रस उक्त भरत मुनि के लिए अगम्य है,—'आमार व्रजेर रस सेहो नाहि जाने ।'

गौडीय विद्वानो ने परकीया भाव के पक्ष मे यहाँ तक कहा है कि परब्रह्म श्रीकृष्ण के अवतार का प्रमुख कारण परकीया भाव से रसास्वादन करना ही था, अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना तो गौण कारण है । उनका कथन है, परब्रह्म श्रीकृष्ण अपने दिव्य गोलोक धाम मे अपनी स्वरूप शक्तियो के साथ जिस दिव्य केलि-क्रीडा मे सतत् रत रहते है, वह स्वकीया भाव की है, अत उसमे चरम सीमा के रसोत्कर्ष का अभाव होता है। उसकी पूर्ति के निमित्त ही परब्रह्म श्रीकृष्ण अपनी आह्लादिनी शक्ति राधा–गोपियो के साथ व्रज मे प्रकट होते है और परकीया भाव से रमण कर परमोत्कृष्ट लीला–रस का आस्वादन करते है । इसीलिए कृष्णदास कविराज ने कहा है, परकीया भाव मे रस का सर्वाधिक उत्कर्ष है, किंतु उसकी प्राप्ति व्रज के अतिरिक्त अन्यत्र सभव नही है,—'परकीया भावे अति रसेर उल्लास । व्रज विना इहार अन्यत्र नाहि वास ।।'

माध्व संप्रदाय से अभिन्नता और भिन्नता—चैतन्य सप्रदाय के दार्शनिक सिद्धात और भक्ति-तत्व के पूर्वोक्त विवेचन के उपरात यह देखना है कि इसका माध्व सप्रदाय से क्या सबध है । जैसा पहिले लिखा गया है, चैतन्य सप्रदाय का जन्म और विकास तो माध्व सप्रदाय के अतर्गत हुआ है, किंतु चैतन्य देव तथा उनके अनुगामी भक्तो के तत्त्व-मथन, चितन-मनन और प्रवचनादि के फलस्वरूप इसकी जो प्रगति हुई, उसके कारण इसका दार्शनिक और भक्ति सिद्धात पूर्णतया माध्व सप्रदाय के अनुकूल नही रह सका । इस सप्रदाय के विद्वान गोस्वामियो ने अपने सिद्धात ग्रथो की रचना मे माध्व सप्रदाय का कोई आग्रह नही दिखलाया है, वल्कि आवश्यकतानुसार उनके विरुद्ध भी अपना मत प्रकट किया है ।

१८ वी शती के उत्तर काल मे वैष्णव सप्रदायो के धार्मिक विवाद के कारण ऐसी जटिल परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी कि नये वैष्णव मतो को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए पुराने वैष्णव सप्रदायो मे से किसी एक के साथ अपना सबध जोडना आवश्यक हो गया था। उस समय बलदेव विद्याभूषण ने, चैतन्य सप्रदाय की स्वतत्र सत्ता मानते हुए भी, इसे माध्व सप्रदाय में अंतर्गत रखना स्वीकार किया। बलदेव के बाद जब उस सकटकालीन स्थिति का अंत हो गया, तब इस सप्रदाय के तत्कालीन विद्वानो को इसे पूर्णतया माध्व सप्रदाय के अतर्गत रखने मे कोई सार्थकता ज्ञात नहीं हुई। फलत इसका पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया गया, और माध्व सप्रदाय से इसकी अनुकूलता और प्रतिकूलता की स्पष्ट घोषणा की गई। माध्व सप्रदाय और चैतन्य सप्रदाय मे किन बातो मे अभिन्नता है और किन बातो मे भिन्नता, इनका यहाँ सक्षिप्त रूप मे उल्लेख किया जाता है।

अभिन्नता—माध्व सप्रदाय और चैतन्य सप्रदाय दोनो ही ब्रह्म और जीव की भिन्नता मे विश्वास रखते है। दोनो मे ब्रह्म को सगुण, सविशेष और विभु-चेतन, तथा जीव को अणु-चेतन और भगवान् का सेवक माना जाता है। दोनो मे समान रूप से जीव की मुक्ति भगवान् की कृपा से ही मानी जाती है। दोनो मे जगत् को सत्य और ब्रह्म का परिणाम माना जाता है। इस प्रकार दोनो मे सैद्धातिक अभिन्नता है।

भिन्नता—माध्व सप्रदाय जहाँ ब्रह्म और जीव की नित्य भिन्नता मानता है, वहाँ चैतन्य सप्रदाय मे गुण और गुणी भाव से जीव और ब्रह्म की भिन्नता के साथ अभिन्नता भी स्वीकृत है। इसीलिए माध्व सप्रदाय को पूर्ण 'द्वैतवादी' और चैतन्य सप्रदाय को 'अचिन्त्य भेदाभेदवादी' कहा जाता है। यह दोनो की भिन्नता का प्रमुख भेद हुआ। उसके अतिरिक्त उनकी जिन अन्य बातो मे भिन्नता है, वे इस प्रकार हैं—

माध्व सप्रदाय मे—	चैतन्य सप्रदाय मे—
१ विष्णु सर्वोच्च तत्त्व हैं।	१ कृष्ण सर्वोच्च तत्त्व हैं।
२ भगवान् के सभी पूर्णावतार है। उनमे से किसी की भी उपासना की जा सकती है।	२. कृष्ण ही पूर्णावतार हैं। वे स्वय भगवान् हैं, और दूसरे उनके अशावतार हैं। कृष्ण ही एक मात्र उपास्य हैं।
३ सकर्मा भक्ति श्रेयष्कर है।	३ शुद्धा भक्ति श्रेयष्कर है।
४ दास्य भक्ति से भगवान् की प्राप्ति होती है।	४. दास्य के अतिरिक्त शात, सख्य, वात्सल्य और मधुर भक्ति से भी भगवान् की प्राप्ति होती है।
५ ऐश्वर्य-प्रधान भक्ति की विशेषता है।	५ माधुर्य-प्रधान भक्ति की विशेषता है।
६ देवता गण श्रेष्ठ है।	६ ब्रज-गोपिका गण श्रेष्ठ हैं।
७. उच्च वर्णों के भक्त जन ही मोक्ष के अधिकारी है।	७ उच्च-नीच सभी वर्णों के भक्त जन समान रूप से मोक्ष के अधिकारी हैं।
महाभारत सर्वश्रेष्ठ शास्त्र है।	८ भागवत सर्वश्रेष्ठ शास्त्र है।

उपर्युक्त विवेचन से चैतन्य और माध्व सप्रदायो के पारस्परिक सबध पर प्रकाश पडता है। से स्पष्ट होता है कि जहाँ दोनो की मौलिक बातो मे अभिन्नता है, वहाँ कुछ बातो मे भिन्नता भी है।

चैतन्य संप्रदाय की स्थापना और उसका प्रचार-प्रसार—

स्थापना और आरंभिक प्रचार—श्री चैतन्य देव ने बगाल और उडीसा की बौद्ध-शाक्त धर्मावलबी जनता को कृष्णोपासना की ओर बडे आकर्षक ढग से प्रेरित अवश्य किया था, किंतु उन्होने किसी मत अथवा सप्रदाय विशेष की स्थापना करने तथा उसे व्यवस्थित रूप से प्रचारित करने का कोई प्रयास नही किया। यह कार्य उनके सहकारियो और अनुयायियो द्वारा बाद मे सम्पन्न हुआ था। चैतन्य देव ने कृष्णोपासना और भक्ति-तत्त्व के प्रचारार्थ सर्वश्री नित्यानद और अद्वैताचार्य को बगाल मे तथा सनातन-रूपादि गोस्वामियो को ब्रजमडल मे नियुक्त किया था। उन्होने पूर्ण आत्मीयता, उत्कट लगन और अपूर्व उत्साह के साथ चैतन्य जी के आदेश का पालन किया। उनके प्रयत्न से चैतन्य सप्रदाय का व्यवस्थित रूप बना, और उसके विधि-पूर्वक प्रचलन को गति मिली। इस सप्रदाय की स्थापना और इसका प्रचार-प्रसार अन्य धर्म-सप्रदायो की भांति शास्त्रार्थ, खडन-मडन और आदोलन द्वारा नही हुआ; बल्कि इसके अनुयायी भक्तो की सच्चरित्रता, भक्ति-भावना, विद्वत्ता, विनम्रता और त्याग-वृत्ति के कारण हुआ है।

ब्रज-वृंदावन की देन—यद्यपि चैतन्य सप्रदाय का जन्म बगाल मे और इसका आरभिक प्रचार बगाल और उडीसा मे हुआ, तथापि उसका शास्त्रीय रूप ब्रज-वृदावन मे निवास करने वाले गौडीय गोस्वामियो द्वारा निर्मित हुआ था। उन गोस्वामियो मे सर्वश्री सनातन, रूप, गोपाल भट्ट, जीव और कृष्णदास कविराज की देन अत्यत महत्वपूर्ण है। रूप गोस्वामी ने श्री चैतन्य देव द्वारा प्रचारित भक्ति-तत्त्व को अपने सारगर्भित ग्रथ 'श्री भक्ति रसामृत सिंधु' और 'उज्ज्वल नीलमणि' द्वारा सुदृढ आधार पर स्थापित किया था। सनातन गोस्वामी और गोपाल भट्ट श्री चैतन्य देव के धर्म-तत्त्व के व्यवस्थापक माने जाते है। उनकी प्रसिद्ध रचना 'श्री हरि-भक्ति विलास' इस सप्रदाय का स्मृति ग्रथ ही है। कृष्णदास कविराज कृत 'श्री चैतन्य चरितामृत' चैतन्य-चरित्र का सर्वांगपूर्ण ग्रथ होने के साथ ही साथ चैतन्य सप्रदाय की सर्वमान्य सैद्धान्तिक रचना भी है। इसमे चैतन्य जी के धर्म-तत्व, भक्ति-तत्त्व और रस-तत्व की विशद व्याख्या अनेक वैष्णव ग्रथो के आधार पर की गई है। जीव गोस्वामी कृत सदर्भ ग्रथो और भाष्य ग्रथो मे चैतन्य सप्रदाय के दार्शनिक और भक्ति सिद्धातो का अत्यत विद्वत्तापूर्ण विवेचन हुआ है। जीव गोस्वामी के अतिरिक्त श्री नारायण भट्ट और उनके पश्चात् सर्वश्री विश्वनाथ चक्रवर्ती एवं बलदेव विद्याभूषण ने अपने पाडित्यपूर्ण ग्रंथो द्वारा ब्रज-वृदावन की गौडीय परपरा को अक्षुण्ण बनाये रखा था। बलदेव कृत 'गोविंद भाष्य' चैतन्य सप्रदाय का सर्वाधिक प्रामाणिक दार्शनिक ग्रथ माना जाता है।

इस प्रकार ब्रज-वृदावन मे रचा हुआ ग्रथ-समुच्चय ही चैतन्य सप्रदाय का सर्वमान्य प्रामाणिक साहित्य है। उसका महत्व समस्त गौडीय भक्तो को सदा ही स्वीकृत रहा है। चैतन्य सप्रदाय के इतिहास मे ब्रज-वृदावन का यह गौरव इसलिए और भी अधिक उल्लेखनीय है कि अन्य स्थानो मे रचा हुआ चैतन्य सप्रदाय का साहित्य उन दिनो तब तक प्रामाणिक नही माना जाता था, जब तक उसे ब्रज के विद्वत्समाज से मान्यता प्राप्त नही हो जाती थी।

सर्वश्री सनातन-रूप गोस्वामियो ने ब्रजमडल मे श्री चैतन्य देव के भक्ति-तत्त्व का प्रचार और उसके सैद्धातिक ग्रथो की रचना द्वारा चैतन्य सप्रदाय को व्यवस्थित रूप प्रदान किया था। फलत. अपने जीवन काल मे वे ब्रजमडल एव बंगाल दोनो ही प्रदेशो के चैतन्य संप्रदायी भक्तो का

मार्ग प्रदर्शन और बौद्धिक नेतृत्व करते रहे थे । उस काल मे विविध स्थानो के अनेक भक्त जन उनके सत्सग और उपदेश से लाभान्वित होने तथा उनसे शिक्षा–दीक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से उनकी सेवा मे उपस्थित होते थे । वे बडी आत्मीयता के साथ उन्हे सब प्रकार की शिक्षा तो देते थे, किंतु दीक्षा देने मे उनको सकोच होता था । सब तरह से समर्थ तथा महान् होते हुए भी वे अपने को तुच्छ एव पतित मानते थे, और किसी भी भक्त जन को दीक्षा देने का अपने को अनधिकारी समझते थे । उन्होने श्री चैतन्य देव की उस शिक्षा को पूर्णतया हृदयगम किया था कि भक्त जन को अपने लिए तृण से भी अधिक तुच्छ समझना चाहिए, और स्वय मान की इच्छा न रख कर दूसरो को सन्मानित करना चाहिए । जब कोई भक्त जन उनसे दीक्षा देने को कहता, तो वे उसे अपने साथी अन्य विद्वान भक्तो के पास भेज दिया करते थे ।

उस काल मे ब्रज के वरिष्ठ चैतन्य सप्रदायी विद्वानो मे दो भट्ट गोस्वामी थे,—१ गोपाल भट्ट और २ रघुनाथ भट्ट । उनमे गोपाल भट्ट दाक्षिणात्य और रघुनाथ भट्ट गौडीय थे । सनातन-रूप गोस्वामियो के आग्रह से वे दोनो ही आगत भक्तो को चैतन्य सप्रदाय की दीक्षा दिया करते थे । उसके लिए यह व्यवस्था की गई थी कि पछाँह के भक्त जनो को गोपाल भट्ट और पूर्वियो को रघुनाथ भट्ट दीक्षा देगे[1] । उक्त व्यवस्था के अनुसार बगाल–उडीसा आदि पूर्वी प्रदेशो के भक्त जन प्राय रघुनाथ भट्ट से तथा ब्रजमडल सहित सभी पश्चिमी स्थानो के भक्त जन गोपाल भट्ट से चैतन्य सप्रदाय की दीक्षा लेते थे । इस सप्रदाय मे गोपाल भट्ट जी के परिकर मे ही ब्रज के अनेक विख्यात विद्वान और ब्रजभाषा के बहुसख्यक भक्त–कवि हुए हैं ।

सनातन–रूप गोस्वामियो के उपरात उनके सुयोग्य भतीजे जीव गोस्वामी ने चैतन्य सप्रदाय का नेतृत्त्व सँभाला था । वे प्रकाड विद्वान और परम भक्त होने के साथ ही साथ कुशल सगठनकर्त्ता भी थे । उन्होने बडी बुद्धिमत्ता और योग्यता पूर्वक इस सप्रदाय का सचालन किया था । उस समय विविध स्थानो के भक्त जन और भी अधिक सख्या मे ब्रज मे आने लगे थे । वे मार्ग की कठिनाइयो को प्रसन्नता पूर्वक सहन करते हुए वहाँ पहुँचते थे । जीव गोस्वामी तथा अन्य वरिष्ठ गौडीय विद्वानो से भक्ति–ग थो की शिक्षा प्राप्त कर और उनके उपदेशो से लाभान्वित होकर वे अपने-अपने स्थानो मे जा कर चैतन्य सप्रदाय का प्रचार किया करते थे । इस प्रकार इस सप्रदाय के निर्माण और इसके प्रचार–प्रसार मे आरभ से ही ब्रज–वृ दावन की अत्यत महत्त्वपूर्ण देन रही है ।

बंगाल–उड़ीसा के प्रचार मे ब्रज का योग—श्री चैतन्य देव ने बगाल मे कृष्णोपासना के प्रचार का उत्तरदायित्व श्री नित्यानद और अद्वैताचार्य को सोपा था । वे स्वय सन्यासी होने के काल से अपने देहावसान काल तक जगन्नाथ पुरी मे रहे थे, अत उनके कारण उडीसा मे कृष्ण–भक्ति के प्रचार का सूत्रपात हुआ था । अद्वैताचार्य ने प्राय कुलीन बगालियो को ही कृष्ण–भक्ति का उपदेश दिया, किंतु नित्यानद जी ने समाज के सभी वर्गो के लिए कृष्णोपासना का द्वार खोल दिया था । इस प्रकार बगाल और उडीसा मे कृष्णोपासना और कृष्ण–भक्ति के प्रचार की व्यापक पृष्ठभूमि निर्मित हो गई थी । नित्यानद जी के उपरात उनकी विदुषी पत्नी जाह्नवा देवी जी, पुत्र वीरचद्र जी, शिष्य द्वादश गोपाल और उनके परिकर ने, तथा अद्वैताचार्य जी के पश्चात् उनकी

---

(१) गोपाल भट्टेर सेवक पश्चिमा मात्र ।
गौड़िया आसिले रघुनाथ कृपा–पात्र ।। (अनुरागवल्ली)

परपरा के भक्तो ने बगाल–उडीसा आदि पूर्वी प्रदेशो मे चैतन्य सप्रदाय का प्रचार किया था। उनके उस महत्वपूर्ण कार्य मे उन गौडीय भक्तो का विशेष योग रहा था, जिन्होने बगाल–उडीसा से ब्रज मे जा कर वहाँ के चैतन्य सप्रदायी भक्तो से शिक्षा प्राप्त की थी और फिर अपने–अपने स्थानो मे चैतन्य सप्रदाय के प्रचार का आयोजन किया था।

उस काल मे बगाल–उडीसा आदि के भक्त जनो मे ब्रज के गौडीय गोस्वामियो की विद्वत्ता और भक्ति–भावना की बडी ख्याति थी। वहाँ के अनेक उत्साही भक्त जन चैतन्य सप्रदाय के सिद्धात और भक्ति ग्रथो की विशेष शिक्षा प्राप्त करने के लिए ब्रज मे आते थे, और यहाँ गौणीय विद्वानो के सत्सग से लाभान्वित होते थे।

१७वी शताब्दी के मध्य काल मे बगाल–उडीसा से जो उत्साही युवक भक्त चैतन्य सप्रदाय का विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए ब्रज मे आये थे, उनमे सर्वश्री श्रीनिवास, नरोत्तमदास और श्यामानद के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उस समय तक सर्वश्री सनातन, रूप और रघुनाथ भट्ट गोस्वामियो का देहावसान हो चुका था। ब्रज के गौडीय भक्तो के नेता गोपाल भट्ट जी और जीव गोस्वामी थे। वे तीनो युवक भक्त सर्वश्री लोकनाथ, गोपाल भट्ट, जीव गोस्वामी, रघुनाथदास, कृष्णदास कविराज प्रभृत्ति वरिष्ट गौडीय विद्वानो की सेवा मे रह कर भक्ति–तत्त्व और धर्म ग्र थो की शिक्षा प्राप्त करने लगे। उस काल मे जीव गोस्वामी जी श्री सनातन–रूप जी के ग्रथो की टीका लिख रहे थे। उन तीनो युवक विद्यार्थियो ने उक्त टीका-ग्र थो की अनेक प्रतिलिपियाँ तैयार की थी, जिनके कारण चैतन्य सप्रदाय के भक्ति सिद्धात का व्यापक प्रचार करने की सुविधा हो गई थी।

सर्वश्री श्रीनिवास, नरोत्तमदास और श्यामानद स १६२० के लगभग ब्रज मे आये थे, और स १६३९ तक यहाँ रहे थे। उस काल मे उन्होने गोबर्धन, राधाकुड, वृ दावन जैसे ब्रज के गौडीय केन्द्रो मे निवास करने वाले वरिष्ट विद्वानो से चैतन्य सप्रदाय के भक्ति सिद्धात की पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर ली थी। अपना अध्ययन समाप्त करने पर जब वे बगाल–उडीसा स्थित अपने घरो को वापिस जाने को प्रस्तुत हुए, तब जीव गोस्वामी ने उन्हे अपने-अपने स्थानो मे चैतन्य सप्रदाय के प्रचार करने का आदेश दिया। उसके लिए उन्हे वृ दावन मे निर्मित भक्ति ग्रथो की अनेक प्रतियाँ भी अपने साथ ले जाने को कहा गया। उन तीनो मे श्रीनिवास जी सबसे अधिक योग्य थे, अत उनको उक्त कार्य का विशेष उत्तरदायित्व सोपा गया था।

स १६३९ की अगहन शु ५ के मुहूर्त्त मे उन्हे वृ दावन से विदा होना था। उस दिन श्री गोविंददेव जी के मदिर मे उन्हे विदा करने के लिए एक उत्सव किया गया, जिसमे अनेक भक्त जन एकत्र हुए थे। श्रीनिवास, नरोत्तमदास और श्यामानद ने सर्वश्री लोकनाथ, गोपाल भट्ट, रघुनाथदास, जीव गोस्वामी, कृष्णदास कविराज प्रभृति गुरु जनो से आशीर्वाद प्राप्त किया तथा अपने सहपाठी और इष्ट मित्रो से गले मिल कर वे अपनी यात्रा को चल दिये। श्री जीव गोस्वामी ने उन्हे श्री गोविंददेव जी की प्रसादी मालाएँ अर्पित करते हुए उनकी सफलता के हेतु शुभ कामना की।

उनके साथ धर्म ग्रथो से भरे हुए कई संदूक थे, जिन्हे बडी सावधानी से बैल गाडी मे रखा गया था। उनकी सुरक्षा की समुचित व्यवस्था की गई थी और मार्ग मे कोई रोक–टोक न करे, उसके लिए मुगल सम्राट अकबर से अनुमति–पत्र प्राप्त कर लिया गया था। इस प्रकार यथोचित प्रवध कर लेने पर भी उनकी यात्रा निर्विघ्न पूरी नहीं हो सकी थी। जब वे बंगाल की पश्चिमी

सीमा के विष्णुपुर राज्य मे पहुँचे, तव वहाँ के वीहड वन स्थित डाकुओं ने उनके गट्ठरों को खजाना समझ कर लूट लिया था। दुर्लभ ग्रथो के लुट जाने से वे बड़े दुखी हुए। उन्होंने प्रण किया कि जब तक लुटे हुए ग्रथ प्राप्त नही होगे, तब तक वे वहाँ से नहीं हटेंगे। विष्णुपुर के राजकुमार को जब वह समाचार मिला, तो उसने जाँच-पड़ताल कराई। उसके प्रयत्न से सब ग्रंथ प्राप्त हो गये। वह श्रीनिवास जी की विद्वत्ता, विनम्रता और भक्ति-भावना से इतना प्रभावित हुआ कि अपने परिवार और अनुचरो सहित उनका शिष्य हो गया। उसके सहयोग से श्रीनिवास जी ने विष्णुपुर सहित पश्चिमी बगाल के अनेक स्थानो मे चैतन्य संप्रदाय का प्रचार किया था। नरोत्तमदास और श्यामानद ने भी अपने-अपने स्थानो मे उस प्रकार के प्रचार की सुदर व्यवस्था की थी। उन तीनों भक्त महानुभावो और उनके परिकर तथा शिष्यो द्वारा वगाल, उडीसा, असम आदि पूर्वी प्रदेशो मे चैतन्य सप्रदाय का व्यापक प्रचार हुआ था, और उसमे ब्रज के तत्कालीन गौडीय विद्वानो की प्रेरणा रही थी, अत. उन तीनो के कुछ विशेष वृत्तात यहाँ दिये जाते है।

श्री श्रीनिवासाचार्य—वे वगाल के वर्धमान जिलातर्गत एक ग्राम के ब्राह्मण कुल मे स. १५७६ के लगभग उत्पन्न हुए थे। उनके पिता गगाधर भट्टाचार्य उपनाम चैतन्यदास और नाना वलरामाचार्य थे। घर के धार्मिक वातावरण से प्रेरित होकर वे अपनी युवावस्था मे ही विरक्त हो गये थे। उनका आकर्पण चैतन्य जी के भक्तिमार्ग की ओर हो गया था, अत उन्होंने नवद्वीप, शातिपुर एव जगन्नाथ पुरी की यात्रा कर चैतन्य-भक्तो का दर्शन और उनका सत्सग किया था। वे विविध तीर्थ स्थानो मे होते हुए सं १६२० के लगभग ब्रज मे आये थे। उन्होंने गोपाल भट्ट गोस्वामी से चैतन्य सप्रदाय की दीक्षा ली और वे वृ दावन के गौडीय भक्तो के सत्सग मे रहने लगे। उन्होंने जीव गोस्वामी से वैष्णव सिद्धात ग्र थो का भली भाँति अध्ययन किया था, जिससे वे चैतन्य सप्रदाय के विशेपज्ञ विद्वान और मार्मिक प्रवक्ता हो गये थे। जव वे वृंदावन मे थे, तभी बगाल से नरोत्तम दास और उडीसा से श्यामानद भी वहाँ पर गोस्वामियों से वैष्णव धर्म-ग्र थो की शिक्षा प्राप्त करने को आये थे। उन तीनो को जीव गोस्वामी ने वगाल और उडीसा प्रदेशो मे चैतन्य संप्रदाय तथा वैष्णव धर्म ग्र थो के प्रचार का कार्य सोपा था; जिसे उन्होंने वडी सफलता पूर्वक पूरा किया था।

श्रीनिवास जी अपनी विद्वत्ता और भक्ति-भावना के कारण आचार्य पदवी से विभूपित किये गये। उनके उपदेश और प्रभाव से वगाल मे चैतन्य सप्रदाय का विशेप प्रचार हुआ था। उन्होने अपने शिष्यो के साथ उक्त प्रदेश मे कृष्ण-भक्ति की धारा प्रवाहित कर दी थी, जिससे वहाँ चैतन्य सप्रदाय के भक्ति-तत्त्व के साथ ही साथ हरि-सकीर्तन के प्रचार मे भी वडा योग मिला था। इसीलिए उन्हे श्री चैतन्य देव जी का अवतार माना जाता है। श्रीनिवास जी के कई सतान थी और अनेक शिष्य थे। उनकी पुत्री हेमलता एक विदुपी महिला थी तथा उनके शिष्यो मे गोविंददास कविराज सुप्रसिद्ध पद-रचयिता थे। उन सब ने श्रीनिवास जी के कार्य को प्रगति प्रदान की थी। श्रीनिवास जी का देहात स १६६४ मे हुआ था।

श्री नरोत्तमदास ठाकुर—वे वगाल के खेतुरी राज्य के राजकुमार थे। उनका जन्म स १५८० की माघ पूर्णिमा को हुआ था। वे आरभ से ही भक्ति-मार्ग की ओर आकर्पित थे, अत वे छोटी आयु मे ही विरक्त हो गये और अपने राज्याधिकार, घर-वार एव कुटुब-परिवार को छोड कर वृ दावन आ गये थे। वहाँ पर उन्होने लोकनाथ गोस्वामी से दीक्षा लेने की चेष्टा की। लोकनाथ जी वृंदावन

के चीरघाट पर एक छोटी सी कुटिया मे भजन-ध्यान किया करते थे। वे किसी को शिष्य नही वनाते थे। फिर नरोत्तमदास तो एक राजपुत्र थे, जिन्हे दीक्षा देने का उन्होने सर्वथा निषेध किया था। नरोत्तमदास उससे निराश नही हुए। वे गुप्त रूप से अपने मनोनीत गुरुदेव की सब प्रकार से सेवा करते रहे। उन्होने जीव गोस्वामी के सत्सग मे रह कर वैष्णव भक्ति-ग्रथो का अध्ययन किया और उन्ही की कृपा से वे लोकनाथ जी से मत्र-दीक्षा प्राप्त करने मे सफल हो सके थे।

स १६३९ मे जब जीव गोस्वामी के आदेशानुसार श्रीनिवास जी और श्यामानंद जी वगाल-उडीसा मे धर्म-प्रचारार्थ गये थे, तब नरोत्तमदास जी भी उनके साथ थे। उन्होने अपने निवास स्थान खेतुरी मे एक आश्रम बनवाया और एक विशाल धर्मोत्सव का आयोजन किया, जिसमे बहुसख्यक वैष्णव भक्तो को आग्रह पूर्वक निमत्रित किया गया था। उक्त उत्सव मे श्री चैतन्य जी के सभी प्रमुख अनुगामी भक्त और उनके शिष्य-प्रशिष्य उपस्थित हुए थे। श्रीनिवास जी को उत्सव का प्रधान बनाया गया और उन्हे आचार्य पदवी से विभूषित किया गया। उस अवसर पर खेतुरी मे चैतन्य सप्रदायी ६ देव-विग्रहो की स्थापना की गई तथा कथा-प्रवचन, उपदेश-कीर्तन आदि के आनददायी कार्यक्रम हुए थे। नरोत्तमदास जी ने स्वय वडा सुदर कीर्तन किया था। वह उत्सव स १६४० मे हुआ, और कई दिनो तक चलता रहा था। वगाल मे चैतन्य सप्रदायी भक्ति के प्रचार की दृष्टि से वह उत्सव वडा महत्वपूर्ण माना जाता है, और साप्रदायिक इतिहास मे वह 'खेतुरी महोत्सव' के नाम से प्रसिद्ध है।

नरोत्तमदास जी सुप्रसिद्ध भक्त होने के साथ ही साथ सरस कीर्तनकार और सुकवि भी थे। उन्होने देवीदास मृदगी के सहयोग से रस-कीर्तन की एक विशिष्ट गायन शैली प्रचलित की थी, जो 'गरानहाटी' के नाम से विख्यात है। उनके रचे हुए प्रार्थना के पद वेजोड हैं, जिनमे एक भक्त हृदय की आकुलता और उत्कट श्रद्धा-भावना व्यक्त हुई है। उनके रचे हुए ग्रथ 'प्रेम भक्ति चद्रिका' और 'प्रार्थना' गौडीय भक्तो मे वडे लोकप्रिय रहे हैं।

नरोत्तमदास जी दीर्घायु हुए थे। उनका देहावसान स. १६६८ की कार्तिक कृष्णा ५ को हुआ था। उनकी भस्मि वृदावन लाई गई, जहाँ उनकी समाधि वनाई गई थी। यह समाधि उनके गुरु लोकनाथ जी की समाधि के निकट वृदावन के श्री गोकुलानद जी के मदिर मे है। उनका चित्र राधाकुड मे जाह्नवा जी के मदिर मे लगा हुआ है।

श्री श्यामानंद—उनका मूल नाम दुखी कृष्णदास था। वे मेदिनीपुर जिला के निवासी सदगोप थे और उनका जन्म स. १५९० के लगभग हुआ था। वे श्री नित्यानद जी की शिष्य-परपरा मे हुए थे। उन्होने वृदावन मे श्री जीव गोस्वामी से भक्ति-तत्त्व और वैष्णव धर्म-ग्रंथो की शिक्षा प्राप्त की थी। वे श्रीनिवास जी और नरोत्तमदास जी के सहपाठी थे और उन्ही के साथ वृंदावन से स्वदेश जा कर चैतन्य संप्रदाय के प्रचार मे लग गये थे। उन्होने उडीसा प्रदेश को अपने प्रचार का क्षेत्र वनाया था। उनके शिष्यो मे रसिकमुरारी नामक एक धनाढ्य भक्त जन थे। वे श्यामानद जी के अनन्य भक्त थे और उनके प्रचार-कार्य मे प्रमुख सहायक थे। श्यामानंद जी अपने शिष्यो के साथ 'खेतुरी महोत्सव' मे सम्मिलित हुए थे। वे भक्त और धर्म-प्रचारक होने के साथ ही साथ पद-रचयिता भी थे। उनका तथा उनके शिष्य रसिकमुरारी का चमत्कारपूर्ण जीवन-वृत्तान्त और उनके भक्ति-प्रचार का विस्तृत विवरण माधुचरण कृत ब्रजभाषा काव्य 'रसिक विलास' मे लिखा मिलता है।

उन्नति, अवनति और पुनरुन्नति का काल-चक्र—ब्रज-वृंदावन के जिन गौडीय गोस्वामियो ने चैतन्य सप्रदाय के भवन की आधार-शिला रखने के साथ ही साथ उसके निर्माण और साज-शृंगार मे अपने यशस्वी जीवन का उत्सर्ग किया था, वे अपनी विद्यमानता मे ही इसकी भव्यता के आलोक मे ब्रज के धार्मिक जगत् को देदीप्यमान कर गये थे। उसके उपरात वे एक-एक कर भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्य गोलोक धाम को प्रस्थान करने लगे। सबसे पहिले स १६१० के कुछ पश्चात् सर्वश्री सनातन, रूप और रघुनाथ भट्ट का देहावसान हुआ। उनके बाद सर्वश्री कृष्णदास कविराज, रघुनाथदास, गोपाल भट्ट, और लोकनाथ का निधन क्रमश स १६३६, १६४०, १६४२ और १६४५ मे हो गया था। उससे सप्रदायिक क्षेत्र मे रिक्तता का होना स्वाभाविक था, किंतु जीव गोस्वामी की विद्यमानता मे उसकी बहुत-कुछ पूर्ति हो रही थी। उक्त गोस्वामी जी वृद्ध और शिथिल होते हुए भी अपनी प्रकाड विद्वत्ता से चैतन्य सप्रदाय का बड़ी कुशलता पूर्वक सचालन कर रहे थे। स १६५३ मे जीव गोस्वामी का भी देहावसान हो गया। उन जैसे उज्ज्वल नक्षत्र के अस्त होने से चैतन्य सप्रदाय की भक्ति और विद्वत्ता के वातावरण मे अधकार सा दिखलाई देने लगा था।

उस काल मे सर्वश्री श्रीनिवासाचार्य, नरोत्तमदास ठाकुर और श्यामानद जैसे विद्वान भक्त श्री जीव गोस्वामी की विद्वत्ता के प्रकाश मे लाभान्वित होकर बगाल-उडीसा के भक्ति-क्षेत्रो को आलोकित कर रहे थे। किंतु ब्रज के चैतन्य सप्रदायी केन्द्रो को प्रकाशित करने वाला जीव गोस्वामी का कोई समर्थ प्रतिनिधि नही रहा था। उसके उपरात भी इस सप्रदाय की विद्वत्ता और भक्ति का वातावरण दिन-प्रतिदिन अधकाराच्छादित ही होता गया। कालातर मे ब्रज मे औरगजेबी अत्याचार की ऐसी आधी उठी कि उससे धार्मिक जगत् मे भय, आतक, निराशा की काली छाया छा गई थी।

जब स १७२६ मे औरगजेब के आदेशानुसार ब्रज के प्रसिद्ध मदिर नष्ट-भ्रष्ट किये जाने लगे, तब भक्त जनो को अपने प्राणो से भी अधिक अपने उपास्य देव-विग्रहो की सुरक्षा की चिता होने लगी थी। वे महानुभाव अनेक सकटो को सहन करते हुए उक्त देव-विग्रहो को यथा सभव हिंदू राजाओ के सरक्षण मे पहुँचाने की चेष्टा करने लगे। उस सकट काल मे चैतन्य सप्रदाय के वृंदावनस्थ प्राचीन मदिर नष्टप्राय हो गये तथा उनके देव-विग्रह किसी प्रकार जयपुर आदि राज्यो मे पहुँचा दिये गये। ब्रज के अनेक गौडीय भक्त जन भी गोवर्धन-वृंदावन जैसे पुण्य स्थलो को छोड कर अन्यत्र जा बसने को विवश हो गये। उस सकटापन्न दुर्दशा का यह दुष्परिणाम हुआ कि ब्रज के गौडीय वैष्णवो के सगठन मे शिथिलता और पाडित्य मे न्यूनता आने लगी। उनका जो प्रभाव बगाल-उडीसा के गौडीय भक्तो पर था, वह भी समाप्त होने लगा था। ऐसी विषम परिस्थिति मे श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ने बगाल से आकर वृंदावन मे निवास किया था। उन्होने अपनी प्रकाड विद्वत्ता और प्रगाढ भक्ति-भावना से चैतन्य सप्रदाय के नष्टप्राय गौरव को फिर से प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया था।

श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती—उनका जन्म १७ वी शती के अत मे अथवा १८ वी शती के आरभ मे बगाल के मुर्शिदाबाद जिला के देवग्राम नामक स्थान मे हुआ था। उनकी आरभिक शिक्षा उनके जन्म-स्थान मे हुई थी। बाद मे उन्होने भक्ति शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान कृष्णचरण चक्रवर्ती से सैदाबाद मे वैष्णव भक्ति-ग्रंथो का गहन अध्ययन किया था। वे विवाहित होकर कुछ समय तक गृहस्थ भी रहे थे, किंतु सासारिक मोह-ममता मे उनका मन नही रमा। वे विरक्त होकर घर से चल दिये। वैष्णवी दीक्षा की प्राप्ति के उपरात उनका नाम 'हरि बल्लभ' हुआ। उन्होने अपनी काव्य-रचनाएँ इसी नाम से की हैं, किंतु वे गौडीय सप्रदाय मे विश्वनाथ चक्रवर्ती के नाम से प्रसिद्ध हैं।

चक्रवर्ती जी विरक्त होने के पश्चात् १८ वी शती के मध्य काल मे बगाल से ब्रज मे आ गये थे। उन्होने वृ दावन मे निवास कर गौडीय सप्रदाय की बडी सेवा की थी। वे परम भक्त, प्रकाड दार्शनिक विद्वान और रससिद्ध कवि थे। उनके समय मे रूप गोस्वामी आदि पूर्ववर्ती गौडीय विद्वानो के ग्रथ अनेक लोगो को दुर्बोध ज्ञात होने लगे थे, अत उन्होने उन ग्र थो की सरल टीकाएँ लिखी और उनके सुबोध सस्करण प्रस्तुत किये। उन्होने गीता, भागवत, गोपालतापिनी और ब्रह्मसहिता आदि प्राचीन धर्म ग्र थो की रसमयी व्याख्या की। इस प्रकार उन्होने प्राचीन शास्त्रो और वैष्णव आचार्यो के सिद्धात ग्रथो के पठन–पाठन और प्रचार का नया मार्ग दिखलाया था। उसके अतिरिक्त उन्होने अनेक मौलिक ग्र थो की रचना भी की थी। अपनी महान् धार्मिक कृतियो के कारण उनको श्री रूप गोस्वामी का अवतार माना जाता है।

जीव गोस्वामी के बाद गौडीय वैष्णवो के सगठन और पाडित्य मे शिथिलता आ गई थी। चैतन्य सप्रदाय की परकीया भक्ति आदि विशिष्ट मान्यताओ के सबध मे भी तत्कालीन विद्वानो ने अनेक विवाद उपस्थित कर दिये थे। ऐसी परिस्थिति मे विश्वनाथ चक्रवर्ती के नेतृत्व मे और उनके प्रगाढ पाडित्य एव महान् व्यक्तित्व के कारण, गौडीय वैष्णव परपरा को पुन' गौरव प्राप्त हुआ था। वे वृ दाबन मे निवास करते थे, किंतु अपनी वृद्धावस्था मे प्राय राधाकुड मे रहा करते थे। उन्होने वृ दाबन मे ठाकुर श्री गोकुलानद जी की सेवा प्रचलित की थी। उनका देहात स १८११ की माघ शुक्ला ५ को राधाकुड मे हुआ था। उनके अनेक शिष्य थे, जिनमे बलदेव विद्याभूषण प्रमुख थे।

श्री बलदेव विद्याभूषण—वे उत्कल प्रदेशातर्गत रेमुना के निकटवर्ती एक ग्राम के प्रतिष्ठित परिवार मे उत्पन्न हुए थे। उनका निश्चित जन्म-सवत् अज्ञात है। इतना निश्चय है कि वे विक्रम की १८वी शती के पूर्वार्ध मे विद्यमान थे। उनका घराना वैष्णव धर्मावलबी नही था, किंतु वे स्वय वैष्णव हो गये थे। उन्होने श्यामानद जी की शिष्य-परपरा मे राधादामोदर पडित से दीक्षा लेकर उन्ही से अपनी आरभिक शिक्षा भी प्राप्त की थी। अपने शिक्षण काल मे ही उन्होने विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया था। वे शीघ्र ही व्याकरण, अलकार, न्याय, वेदातादि के ज्ञाता हो गये थे।

वैष्णव भक्ति–ग्रथो की विधिवत् शिक्षा प्राप्त करने के उपरात वे विरक्त होकर ब्रज मे आ गये थे। उस समय गौडीय भक्तो के नेता श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती थे। उनके प्रकाड पाडित्य और अद्वितीय विद्वत्ता की बडी ख्याति थी। वे तब तक वृद्ध हो चुके थे और ब्रज के राधाकुड नामक तीर्थ–स्थान मे निवास करते थे। बलदेव जी ने चक्रवर्ती महोदय से वैष्णव भक्ति-तत्त्व और रस–तत्त्व का विशेष अध्ययन किया था। उन्होने चक्रवर्ती जी के विकमित परकीयावाद मे भी असाधारण योग्यता प्रदर्शित की और अनेक अवसरो पर विद्वत्-समाज मे उसकी स्थापना की थी। इससे वे ब्रज-वृ दाबन के गौडीय भक्तो मे सबसे अधिक विद्वान और विश्वनाथ चक्रवर्ती के योग्यतम उत्तराधिकारी समझे जाने लगे थे।

उन्होने अनेक ग्र थो की रचना और प्राचीन ग्र थो की टीकाएँ की थी। उनके ग्रथो मे ब्रह्मसूत्र–भाष्य अधिक प्रसिद्ध है, जो 'गोविंद भाष्य' कहलाता है। उसकी रचना स १८०० के लगभग हुई थी। विश्वनाथ चक्रवर्ती की भाँति उनकी रचनाएँ भी भक्ति, दर्शन और साहित्य के क्षेत्रों मे समान रूप से महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। उनका देहावसान १९वी शती के आरभिक दशक मे हुआ था। उनके पश्चात् फिर वैसा विद्वान चैतन्य सप्रदाय मे नही हुआ था।

राजा जयसिह का विरोध और 'गोविंद भाष्य' की रचना—१८ वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे वृदावन महित ममस्त ब्रजमडल जयपुर राज्य के प्रभाव क्षेत्र मे था। उम ममय के जयपुर-नरेश महाराज जयसिह यद्यपि हिंदू धर्म के पोपक एक धर्मप्राण राजा थे, तथापि कुछ वैष्णव विरोधी लोगो ने उन्हे वृदावन के वैष्णव सप्रदायो के विरुद्ध भडका दिया था। उन्हे ममझाया गया कि इन सप्रदायो की प्रेमा-भक्ति प्रचलित लोकाचारो के साथ ही माथ वैदिक विधि-निपेव की भी विरोधिनी है और ये प्रेमोपासक भक्ति–सप्रदाय अवैदिक हैं। वैष्णव भक्ति के प्रति उम प्रकार की धारणा बनाये जाने से उन्होने समस्त वैष्णव सप्रदायो का ही विरोध किया और शैव धर्म के प्रति अपनी आस्था प्रकट की। उसके कारण ब्रज-वृदावन के वैष्णव सप्रदायो को बडी कठिनाई का सामना करना पडा था। बहुत से वैष्णव भक्तो ने महाराज से फरियाद की, कि वे भक्ति सप्रदायो के प्रति उस प्रकार का अन्याय न करे। महाराज जयसिह ने उम विपय पर भली भांति विचार करने के लिए एक धर्म–समेलन करने का आयोजन किया। वह समेलन स १७७५ के लगभग जयपुर राज्य की तत्कालीन राजधानी आमेर मे हुआ था। उसमे समस्त वैष्णव सप्रदायो को अपने प्रति-निधियो द्वारा अपने–अपने सिद्धातो की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए आमत्रित किया गया था।

उम समय ब्रज मे निवास करने वाले गौडीय भक्तो के नेता श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती थे, जो अपनी विद्वत्ता और विशिष्ट भक्ति-भावना के कारण वैष्णव भक्तो मे विख्यात थे। उन्हे जयपुर समेलन मे चैतन्य सप्रदाय की प्रामाणिकता सिद्ध करने का निमत्रण मिला था। चक्रवर्ती जी अत्यत वृद्ध होने के कारण वृदावन छोड कर कही भी जाने मे असमर्थ थे। उन्होने अपने सुयोग्य शिष्य बलदेव विद्याभूपण को उक्त समेलन मे भाग लेने के लिए भेज दिया।

बलदेव जी ने जयपुर धर्म समेलन मे बडी विद्वत्ता पूर्वक गौडीय पक्ष को प्रस्तुत किया था। उसके फलस्वरूप चैतन्य सप्रदाय को इस शर्त पर मान्यता प्रदान की गई कि उसके भक्ति सिद्धात के समर्थन मे ब्रह्मसूत्र-भाष्य उपस्थित किया जावे। कहते हैं, बलदेव जी ने अल्प काल मे ही ब्रह्मसूत्र के 'गोविंद भाष्य' की रचना कर चैतन्य सप्रदाय के सन्मान की रक्षा की थी। इस प्रकार जयपुर-नरेश का विरोध भी अतत इस सप्रदाय के लिए वरदान ही सिद्ध हुआ, क्यो कि उसके कारण वैष्णव सप्रदायो मे उसकी धाक ही नही जमी, वरन् उसके प्रचार मे भी यथेष्ट सहायता प्राप्त हुई थी।

उत्थान–पतन का क्रम—सर्वश्री विश्वनाथ चक्रवर्ती और बलदेव विद्याभूपण के काल मे ब्रज का चैतन्य सप्रदाय पुन उन्नति के पथ पर आरूढ हो गया था। उस समय बगाल–उडीसा के चैतन्य मतानुयायी भक्तो पर वृदावन के गौडीय विद्वानो का किसी न किसी रूप मे धार्मिक अनुशासन भी पुन कायम हो गया था। उस काल के विद्वानो मे अधिकाश बगाली थे, जो वृदावन मे निवास करने के कारण बगाल और ब्रज दोनो प्रदेशो के वातावरण से परिचित होते थे। उनका यह प्रयास रहता था कि बगाल–उडीसा और ब्रज के चैतन्य मतानुयायी भक्तो की धार्मिक मान्यता मे समन्वय और सतुलन होकर एकसूत्रता बनी रहे।

श्री बलदेव विद्याभूषण के पश्चात् ब्रज पर नादिरशाह और अहमदशाह के जो आक्रमण हुए, उन्होने यहाँ के रहे-सहे महत्व को फिर बडी हानि पहुँचाई। फलत बगाल और उडीसा के चैतन्य मतानुयायी भक्तो पर वृदावन का अनुशासन समाप्त हो गया, और परपरागत एकसूत्रता भग हो गई। वस्तुत बलदेव के अनतर वृदावन मे चैतन्य सप्रदाय का कोई ऐसा विद्वान नही हुआ, जो बगाल और ब्रज की एकसूत्रता बनाये रखने मे समर्थ होता।

व्रज की उस शोचनीय स्थिति का कुप्रभाव बगाल—उडीसा मे निवास करने वाले गौडीय भक्तो पर स्पष्टतया दिखलाई दिया था। जैसा पहिले लिखा गया है, बौद्ध—शाक्त तत्रवाद के कारण बगाल का धार्मिक वातावरण श्री चैतन्य देव के समय से ही परकीया—प्रधान था, किंतु वह वृ दाबनस्थ गोस्वामियो के प्रभाव से व्रज के स्वकीया वातावरण से समन्वित होकर सतुलित रहता आया था। जब व्रज का अकुश बगाल पर से हट गया, तब वहाँ के परकीयावाद ने जोर पकड लिया। उसके फलस्वरूप चैतन्य सप्रदाय के अतर्गत सहजिया वैष्णवो की प्रबलता हो गई थी। उन्होने बगाली जनता मे वृ दाबन के गौडीय गोस्वामियो की मान्यता के विरुद्ध अपनी वासनामयी परकीया भक्ति का प्रचार किया। उसी परिस्थिति मे बगाल मे चैतन्य सप्रदाय के अंतर्गत 'वैरागी-वैरागिन' पथ का जन्म हुआ। सहजिया और वैरागी वैष्णवो की हीन साधना के कारण चैतन्य सप्रदाय का पतन होने लगा, और विचारवान व्यक्तियो की नजरो मे उसका महत्व कम हो गया।

पुनरुत्थान का प्रयत्न—चैतन्य सप्रदाय को उस अध पतन से बचा कर उसके पुनरुत्थान का प्रयत्न भी बगाल की अपेक्षा व्रज मे ही हुआ था। अब से प्राय. एक शताब्दी पूर्व व्रज के गोबर्धन नामक धार्मिक स्थल मे 'सिद्ध बाबा' नामक एक वैष्णव भक्त विद्यमान थे। उन्होने श्रीकृष्ण और चैतन्य देव की अष्टकालीन लीलाओ से सबधित रचनाओ को विशद रूप मे प्रचारित किया था, जिससे चैतन्य सप्रदाय की तत्कालीन विकृत भक्ति—भावना के परिष्कृत होने मे सहायता मिली थी। सिद्ध बाबा और उनके सुयोग्य शिष्य सिद्ध कृष्णदास बाबा के निर्मल आचरण और निष्काम सेवा—भावना से किये गये सद् प्रयत्नो के कारण चैतन्य सप्रदाय की उखडी हुई ख्याति की जड फिर से जमने लगी। उसके फलस्वरूप इस सप्रदाय का पुनरुत्थान होने लगा।

चैतन्य सप्रदाय के इस पुनरुत्थान मे बगाली विद्वानो ने प्रचार के नवीन साधको से भी सहायता ली थी। श्री चैतन्य जी के अस्तित्व—काल से ही इस सप्रदाय के विद्वान भक्त समय-समय पर अनेक ग्र थो की रचना विविध भाषाओ मे करते रहे हैं; किंतु उनका प्रचार सीमित रूप मे ही हो पाता था। इस समय मुद्रण यत्र का प्रचलन हो जाने से उन ग्र थो के प्रकाशन और प्रचार की अधिक सुविधा हो गई थी। फलत इस सप्रदाय के सिद्धातो का भी व्यापक प्रचार होने लगा। अगर-तला के महाराज वीरचंद्र माणिक्य बहादुर, कासिम बाजार के महाराज मणीन्द्रचद्र नदी और तरास जिला पावना के राय बनमाली बहादुर की आर्थिक सहायता से चैतन्य सप्रदाय के दुर्लभ ग्र थो को खोज—खोज कर प्रकाशित कराया गया और उनका निष्शुल्क वितरण किया गया। उस समय पत्र—पत्रिकाओ और सभा—समितियो द्वारा भी चैतन्य सप्रदाय के प्रचार का विशद आयोजन किया गया। उन प्रयत्नो के फलस्वरूप विगत एक शताब्दी मे ही यह सप्रदाय दृढता पूर्वक अपने पैरो पर खडा हो गया और अपने पूर्व गौरव को प्राप्त करने मे बहुत—कुछ सफल हो सका।

जहाँ तक व्रज का सबध है, यहाँ सिद्ध कृष्णदास बाबा के काल मे और उनके पश्चात् भी अनेक गौडीय महात्मा हुए, जिन्होने अपनी उपासना—भक्ति, त्याग—वृत्ति और सेवा—भावना से चैतन्य सप्रदाय के गौरव को बनाये रखा। किंतु प्रचार के नवीन साधनो के अभाव मे इस सप्रदाय की यथोचित प्रगति नही हो सकी है। औरगजेब के काल मे जिन प्राचीन गौडीय देवालयो का ध्वस हुआ था और जिनके देव-विग्रह यहाँ से स्थानातरित किये गये थे, उनका न तो अभी तक पुनरुद्धार हुआ है, और न वे देव-विग्रह ही पुन व्रज मे वापिस लाये जा सके हैं। ये तथ्य इस सप्रदाय की शिथिलता के सूचक हैं, जिसे दूर करने का प्रयत्न होना चाहिए।

गौड़ीय सेव्य स्वरूप और देवालय—जैसा पहिले लिखा जा गया है, औरगजेवी अत्याचार के काल मे इस सप्रदाय के प्राचीन सेव्य स्वरूप उनके देवालयो मे हटा कर हिंदू राजाओ के संरक्षण मे पहुँचा दिये गये थे। वहाँ पर उनके मदिर-देवालय वना कर उनकी सेवा-पूजा का यथोचित प्रवध किया गया था। उन देव-विग्रहो मे से अधिकाश अभी तक व्रज मे वाहर ही विराजमान है। उनके स्थान पर वृ दावन के नये देवालयो मे उनकी प्रतिमूर्तियाँ प्रतिष्ठित की गई हैं। यहाँ पर उक्त सेव्य स्वरूपो का कुछ विशेप विवरण लिखा जाता है।

१ **श्री मदनमोहन जी**—इनका प्राचीन स्वरूप श्री सनातन गोस्वामी को मथुरा मे प्राप्त हुआ था। सनातन जी के आदेश से कृष्णदास ब्रह्मचारी उनकी सेवा-पूजा किया करते थे। उनका पुराना मदिर वृ दावन मे कालियघाट के समीप है, जिसे मुलतान के रामदास कपूर ने वनवाया था।

२. **श्री गोविंददेव जी**—इनका प्राचीन स्वरूप श्री रूप गोस्वामी को वृ दावन मे गोमा टीला से प्राप्त हुआ था। उनकी सेवा पहिले श्री काशीश्वर पडित ने और फिर हरिदास पडित ने की थी। उनका पुराना मदिर आमेर के राजा मानसिंह ने वनवाया था, जो स. १६४७ मे पूरा हुआ था। वह व्रज का सर्वश्रेष्ठ देवालय था।

३ **श्री गोपीनाथ जी**—यह श्री मधु पडित के सेव्य स्वरूप हैं। इनका पुराना मदिर वृ दावन मे वशीवट पर है, जिसे रायसेन ने स १६४६ मे वनवाया था।

४ **श्री रावारमण जी**—यह श्री गोपाल भट्ट जी के सेव्य स्वरूप है। उनका पाटोत्सव स १५९९ की वैशाखी पूर्णिमा को वृ दावन मे हुआ था।

५ **श्री राधादामोदर जी**—यह श्री जीव गोस्वामी के सेव्य स्वरूप है। उनका पाटोत्सव स १५९९ की माघ शु १० को वृ दावन मे हुआ था।

६ ७. ८—**श्री राधाविनोद जी, श्री गोकुलानंद जी और श्री श्यामसुंदर जी**—ये सर्वश्री लोकनाथ जी, विश्वनाथ चक्रवर्ती जी और श्यामानद जी के सेव्य स्वरूप है।

ये सभी सेव्य स्वरूप औरगजेव का शासन आरभ होने तक वृ दावन स्थित अपने-अपने प्राचीन देवालयो मे विराजमान थे। जव औरगजेव की मज़हवी तानाशाही से उन देवालयो को नष्ट-भ्रष्ट किया जाने लगा, तव अधिकाश स्वरूपो को वृ दावन मे हटा कर जयपुर पहुँचा दिया गया था। केवल श्री राधारमण जी का स्वरूप यहाँ किसी प्रकार रहा आया था। उस काल मे व्रज मे उनकी सेवा लुप्तप्राय हो गई थी। जव यहाँ पर जाट-मरहठो का शासन आरभ हुआ, तव फिर से उनकी सेवा-पूजा की व्यवस्था की गई। उस समय वृ दावन मे उनके नये मदिर-देवालय बनाये गये, जिनमे प्राचीन स्वरूपो की प्रतिमूर्तियाँ प्रतिष्ठित की गई थी। नदकुमार वसु नामक एक धनाढ्य वगाली भक्त ने स १८७७ मे श्री मदनमोहन जी, श्री गोविंददेव जी एव श्री गोपीनाथ जी के नये मदिर वनवाये और लखनऊ के शाह कुदनलाल उपनाम ललितकिशोरी जी ने २०वी शती के आरभ मे श्री राधारमण जी का मदिर वनवाया था।

इस समय श्री सनातन गोस्वामी के सेव्य स्वरूप श्री मदनमोहन जी करौली नगर मे विराजमान हैं। वहाँ राजकीय प्रवध से उनकी सेवा-पूजा की जाती है। श्री रूप गोस्वामी के सेव्य स्वरूप श्री गोविंददेव जी, मधु पडित के श्री गोपीनाथ जी, जीव गोस्वामी के श्री राधा-दामोदर जी, लोकनाथ जी के श्री रावाविनोद जी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती जी के श्री गोकुलानद जी इस समय जयपुर के मदिरो मे विराजमान हैं, जहाँ वडी श्रद्धा-भक्ति पूर्वक उनकी सेवा-पूजा की जाती है।

३. निंबार्क संप्रदाय

परपरा और आरंभिक आचार्य—वैष्णव धर्म के सुविख्यात चतु. सप्रदायो मे यह एक प्राचीन भक्ति सप्रदाय है। इसकी परपरा सनकादि महर्षियो से मानी जाती है, अत' इसका मूल नाम 'सनकादि सप्रदाय' है। हमने इसी नाम से गत पृष्ठो मे इसका उल्लेख किया है। इस सप्रदाय के ऐतिहासिक प्रतिष्ठाता और आरभिक प्रचारक श्री निंबार्काचार्य जी हुए हैं, अत. इसका लोक-प्रसिद्ध नाम 'निंबार्क सप्रदाय' है। इसका दार्शनिक सिद्धात 'द्वैताद्वैत' कहलाता है, और भक्ति के क्षेत्र मे इसकी मान्यता 'राधा–कृष्णोपासना' की है। इससे पूर्व जिन वल्लभ सप्रदाय और चैतन्य सप्रदाय का विवरण लिखा गया है, वे दोनो कृष्णोपासक सप्रदाय हैं। उनमे प्रमुख रूप से भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना–भक्ति की जाती है, और श्रीकृष्ण का महत्त्व श्रीराधा जी से अधिक माना जाता है। किंतु इस सप्रदाय मे श्रीकृष्ण के समान ही श्रीराधा जी का भी महत्त्व है और दोनो की सम्मिलित रूप मे उपासना–भक्ति की जाती है। इस प्रकार दार्शनिक सिद्धात के साथ ही साथ उपासना–भक्ति के क्षेत्र मे भी पूर्वोक्त दोनो सप्रदायों से निंबार्क सप्रदाय की भिन्नता है।

अधिक श्रीराधा-कृष्ण की दिव्य मधुर लीलाओ का रसास्वादन करना और कराना था। उन्हे इस सप्रदाय का 'आदि वाणीकार' तो कहा ही जाता है, किंतु यदि उन्हें ब्रज का प्रथम निंबार्क सप्रदायी आचार्य भी कहा जाय, तो कोई असगति नही होगी। वस्तुत श्रीभट्ट जी से ही इस सप्रदाय का ब्रज से घनिष्ट सबध स्थापित होता है, और उनके यशस्वी शिष्य श्री हरिव्यास देव जी से निंबार्क सप्रदाय के वास्तविक साप्रदायिक एव भक्तिमार्गीय स्वरूप का निर्माण होता है। गत पृष्ठो मे श्रीभट्ट जी के सबध मे हम कुछ विस्तार से लिख चुके हैं। अब श्री हरिव्यास देव जी से इस सप्रदाय के इतिहास का आरभ किया जाता है। किंतु इससे पहिले इस संप्रदाय के भक्ति सिद्धात के उस रूप पर प्रकाश डाला जाता है, जो सर्वश्री श्रीभट्ट जी और हरिव्यास देव जी के काल मे बना था।

निबार्कीय भक्ति सिद्धात—

वैष्णव सप्रदायो के भक्ति सिद्धात उनके दार्शनिक सिद्धातो पर आधारित हैं अत उनका अन्योन्याश्रित सबध है। निंबार्क सप्रदाय के भक्ति सिद्धात का मूल तत्त्व श्रीराधा-कृष्ण के सम्मिलित रूप की उपासना है, जो इसके दार्शनिक सिद्धात द्वैताद्वैतवाद पर ही आधारित है। इसलिए इसके भक्ति सिद्धात पर प्रकाश डालने से पूर्व द्वैताद्वैत सिद्धात की पर्यालोचना करना उचित होगा।

द्वैताद्वैत सिद्धात—यह दार्शनिक सिद्धात ब्रह्म और जीव के स्वाभाविक भेदाभेद सबध की मान्यता को लेकर चला है। इस सिद्धात के प्रवर्त्तक श्री निंबार्काचार्य जी का मत है, ब्रह्म सर्वज्ञ और विभु है तथा जीव अल्पज्ञ और अणु है,—इस अर्थ मे ब्रह्म जीव से भिन्न है। किंतु जैसे पत्र-पुष्प, प्रभा और इद्रियो की पृथक् स्थिति होते हुए भी वे क्रमश वृक्ष, दीपक और प्राण से अभिन्न हैं, वैसे ही जीव भी ब्रह्म से अभिन्न है। इस प्रकार उनका स्वाभाविक भेदाभेद सबध है।

इस सिद्धात के मुख्य तत्त्व इस प्रकार हैं,—

परब्रह्म—यह अनत गुणो का भडार, सर्वव्यापक और समस्त शक्ति का आधार है, अत. यह सगुण, विभु और सर्वशक्तिमान है। इसकी परा शक्ति जीव है, और अपरा शक्ति प्रकृतिरूप जगत् है। यह स्वय जगत् मे व्याप्त है और यही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण है। ब्रह्म दृश्य-अदृश्य, अणु-विभु, सगुण-निर्गुण सब कुछ है, किंतु वह सदैव एकरस है। परब्रह्म श्रीकृष्ण से अभिन्न है। श्रीकृष्ण के वामाग मे श्रीराधा की नित्य स्थिति है। इस प्रकार परब्रह्म ही अद्वय श्रीराधा-कृष्ण का युगल स्वरूप है।

जीव—यह परब्रह्म की परा शक्ति होने से उसी का अश है और स्वरूप से अणु है। यह ब्रह्म के समान सत् है, किंतु माया से आवृत्त होने के कारण इसका धर्मभूत ज्ञान सकुचित हो जाता है। जीव अत्यत सूक्ष्म एव अनत हैं, और परब्रह्म के आश्रित तथा आधीन हैं। इनके दो भेद हैं,—१ बद्ध और २ मुक्त। बद्ध जीव भी दो प्रकार के है, जिन्हे बुभुक्षु और मुमुक्षु कहा गया है। इसी तरह मुक्त जीवो के भी दो प्रकार है, १ नित्य मुक्त और २ बद्ध मुक्त। मुक्त जीव भगवान के अतरग और पार्षद होते हैं।

जगत्—यह परब्रह्म की अपरा शक्तिरूप प्रकृति का परिणाम है, अत. ब्रह्म के समान ही सत् है। ब्रह्म स्वय जगत्रूप मे व्यक्त है। ब्रह्म के सिवाय जगत् का कोई अस्तित्व नही है। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का कारण ब्रह्म ही है। इस प्रकार ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण होने के साथ ही साथ इसका निमित्त कारण भी है।

पूर्वोक्त प्रमुख तत्त्वो के साथ ही माथ द्वैताद्वैत सिद्धात मे अन्य तत्त्वो की भी मान्यता है। प्राकृत, अप्राकृत और काल—ये इस सिद्धात के अनुसार अचेतन तत्त्व है। प्रकृति से उत्पन्न जगत् 'प्राकृत' है; किंतु भगवान् के गोलोकादि दिव्य धाम 'अप्राकृत' है, क्यो कि इनकी उत्पत्ति प्रकृत्ति से नही मानी गई है। 'काल' नामक अचेतन तत्त्व स्वरूप से नित्य और कार्य से अनित्य माना गया है। इसे जगत् का नियामक और परमात्मा का नियम्य वतलाया है[1]।

निंबार्कीय भक्ति—जैसा पहिले लिखा गया है, इस सप्रदाय की भक्ति का मूल तत्त्व श्रीराधा–कृष्ण के 'युगल स्वरूप की उपासना' है, जो इस सप्रदाय के दार्शनिक सिद्धात 'द्वैताद्वैत' पर आधारित है। इस उपासना–पद्धति के प्रवर्त्तक श्री निंवार्काचार्य जी माने जाते हैं, किंतु इसका स्पष्ट रूप सर्वश्री श्रीभट्ट जी और हरिव्यास देव जी के काल मे प्रकाश मे आया था। इस सप्रदाय की मान्यता है, श्रीराधा–कृष्ण अद्वय परमतत्त्व है, जो क्रीडा के निमित्त आनद और आह्लाद—इन दो रूपो मे प्रकट होते है। श्री हरिव्यास देव जी ने कहा है,—'एक स्वरुप सदा द्वै नाम। आनद के आह्लादिनि स्यामा, आह्लादिनि के आनद स्याम[2]॥' श्रीराधा–कृष्ण का यह युगल रूप ही इस सप्रदाय मे परमाराध्य और परमोपास्य है। इनके प्रतीक सर्वेश्वर शालिग्राम है, जिनकी इस सप्रदाय मे प्रमुख रूप से सेवा–पूजा की जाती है।

इस सप्रदाय की उपासना–भक्ति का आरभ श्रीराधा–कृष्ण के जिस युगल स्वरूप के ध्यान के साथ किया जाता है, वह श्री निंवार्काचार्य जी के शब्दो मे इस प्रकार है,—'जो स्वभावत समस्त दोषो से रहित है, जिनमे समग्र कल्याणकारी गुणो का भडार है, चतुर्व्यूह—१ वासुदेव, २ सकर्षण, ३. प्रद्युम्न और ४. अनिरुद्ध—जिनके अग है, उन वरेण्य कमललोचन परब्रह्म श्रीकृष्ण का ध्यान मै करता हूँ। उनके वामाग मे जो प्रसन्नवदना वृषभानुनदिनी जी विराजमान है, जो श्रीकृष्ण के अनुरूप ही सौन्दर्यादि गुणो से युक्त हैं, सहस्रो सखियाँ सदा जिनकी सेवा करती है और जो सकल अभीष्ट की देने वाली देवी है, उन श्रीराधा जी का मै ध्यान करता हूँ[3]।' श्री निंवार्काचार्य जी का कथन है, जो साधक दैन्यादि गुणो से युक्त होकर इस प्रकार श्रीराधा–कृष्ण का चिंतन करते हैं, उनमे उनकी कृपा से प्रेम रूप परा भक्ति उत्पन्न होती है।

श्री हरिव्यास देव जी ने इस परा भक्ति की प्राप्ति के कतिपय साधन बतलाते हैं। इनके मतानुसार जो साधक अन्य देवी–देवताओ का आश्रय छोड कर एक मात्र श्रीराधा–कृष्ण की शरण मे आता है, जो विधि–निपेध का परित्याग कर निष्काम भाव धारण करता है, जो [illegible] परनिदा छोड कर सब जीवो पर करुणा करता है और किमी से भी कठोर वचन नहीं बोलता है, जो एक पल भी नष्ट किये विना सदैव अपने मन को माधुर्य रस में निमग्न रखता है, जो सद्गुरु के वतलाये हुए मार्ग पर चलता है, और उनमे तथा भगवान् से कोई अंतर नहीं मानता है, इन द्वादश लक्षणो से युक्त भक्त जन ही परा भक्ति रूप परम पद को [illegible] हैं[4]।

---

(१) भक्तमाल (वृदावन), पृष्ठ २३८–२३६ [illegible] (२) श्री महावाणी, सिद्धांत सुख

(३) स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेष कल्याणगुणैक राशिम्।
व्यूहांगिनं ब्रह्मपरं वरेण्य ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥
अंगेतु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्॥ (वेदांत कामधेनु)

(४) श्री महावाणी, सिद्धान्त सुख

'सखी भाव' और 'नित्य विहार' की उपासना—भगवद्भक्ति के पूर्वोक्त साधन सभी वैष्णव सप्रदायो मे सामान्य रूप से स्वीकृत रहे है। उनसे इस सप्रदाय की कोई विशेषता ज्ञात नही होती है। जो विशेषता सर्वश्री श्रीभट्ट जी और हरिव्यास देव जी के काल मे इस सप्रदाय मे दिखनाई दी, वह थी निंबार्कीय भक्ति-तत्त्व मे 'सखी भाव' और 'नित्य विहार' की उपासना का समावेश। यद्यपि उक्त उपासना पद्धति की उद्भावना श्रीभट्ट जी के काल मे ही हो गई थी, जिसके सूत्र उनकी 'युगल शतक' नामक रचना मिलते है, तथापि उसका समुचित विकास हरिव्यास देव जी के काल मे हुआ था। हरिव्यास जी कृत 'महावाणी' मे इस प्रकार की उपासना का अत्यत विकसित एव समुन्नत रूप दिखलाई देता है। उसके अनुसार इस सप्रदाय मे 'सखी भाव' की आतरिक साधना प्रचलित हुई और इसके सभी आचार्यो को राधा जी की सखी-सहचरी समझा जाने लगा। उनके सखीवाचक नामकरण की परपरा चली, जैसे श्री निंबार्काचार्य जी को 'रगदेवी जी', श्रीभट्ट जी को 'हितू जी' और हरिव्यास देव जी को 'हरिप्रिया जी' माना गया है। सखी भाव की मान्यता का आधार यह है कि श्रीराधा-कृष्ण की निकुज लीला मे राधा जी की सखी-सहचरियो का ही प्रवेशाधिकार है, अत नित्य विहार की रसोपासना सखी भाव से ही की जा सकती है।

श्री हरिव्यास देव जी की मान्यता के अनुसार नित्य विहार की उपासना का जो महामृदुल, महामधुर और अत्यत रहस्यपूर्ण स्वरूप है, उसका उल्लेख करते डा० नारायणदत्त शर्मा ने बतलाया है,—"नित्य विहार श्रीराधा-माधव की अनन्य आनदमयी अलौकिक सुखपूर्ण सतत शाश्वत रति-क्रीडा है, जो नित्य वृदावन धाम की दिव्य कचनमय भूमि, विमल वृक्षो से आच्छादित, सुरग पत्र-पुष्प-फल परिवेष्टित, ककनाकार यमुना-कूलवर्तिनी सुरभित निकुजो मे अनवरत रूप से चलती रहती है। इसमे किसी प्रकार का वाह्य अथवा आतरिक विक्षेप नही होता। यह सभी वेद-तत्रो का मनोहर मत्र है, अत सहचरी वर्ग के आनद-कल्याण का साधन है। सहचरी रूप जीवात्माएँ निकुज रध्रो से इस नित्य विहार का दर्शन करती रहती हैं। उनके कल्याण के लिए ही नित्य विहार का आयोजन है। नित्य विहार श्रीश्यामा-श्याम के अप्राकृत प्रेम का परिणाम है, जो काम से कोसो दूर है। तात्विक दृष्टि से श्रीराधा-माधव उस आदि अनादि, एकरस परब्रह्म स्वरूप के युगल विग्रह रूप हैं। नित्य विहार के लिए ही वे युगल स्वरूप धारण करते हैं, अन्यथा वे एक ही हैं। सहचरी वृद भी उन्ही परब्रह्म की अशभूत है, परतु प्राकृत-विकृति के कारण उनसे भिन्न प्रतीत होती है। प्रिया-प्रियतम के समस्त आनद भोग सहचरी जन की प्रसन्नता के लिए हैं, अत नित्य विहार निजी सुख-साधना के लिए नही, वरन् परात्मतृप्ति के लिए है। लौकिक रति मे नायक अपना सुख चाहता है, और नायिका अपना, परतु नित्य विहार की स्थिति सर्वथा भिन्न है। यहाँ विहार करते हैं श्रीराधा-माधव, और तृप्ति होती है सहचरी वर्ग की। नित्य विहार के चार अग है,—१ परात्पर तत्त्व परब्रह्म स्वरूप श्रीकृष्ण, २ उनकी आह्लादिनी शक्ति श्रीराधा, ३ जीवात्मा रूप सहचरी वर्ग और ४ नित्य वृदावन धाम'। नित्य विहार मे श्रीश्यामा-श्याम का नित्य किशोर रूप ही ग्राह्य है। किशोरी जी का यह रूप उनकी अवस्था का परिचायक है, न कि उनके दाम्पत्य भाव का। यह नित्य विहार की उपासना निंबार्कीय भक्ति का प्रमुख तत्त्व है[1]।"

---

(१) निंबार्क सप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ १२८-१२६

निंबार्क सप्रदाय के उपास्य श्रीराधा-कृष्ण का युगल स्वरूप

निंबार्क सप्रदाय के पूजनीय श्री सर्वेश्वर शालग्राम
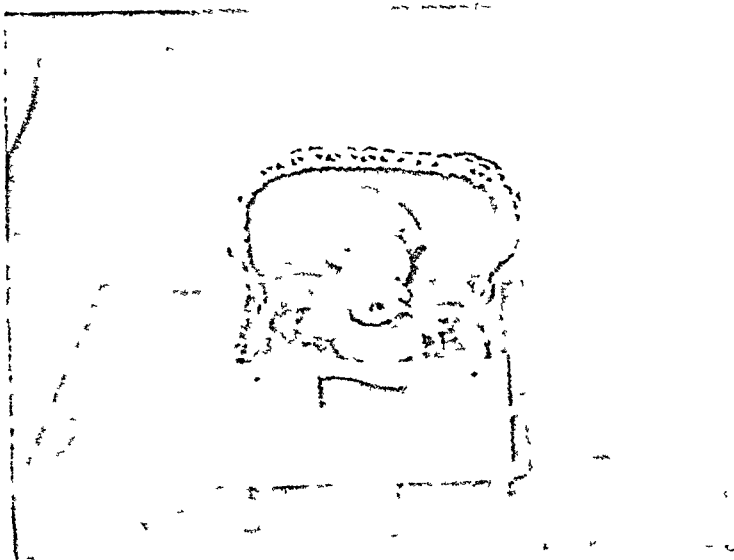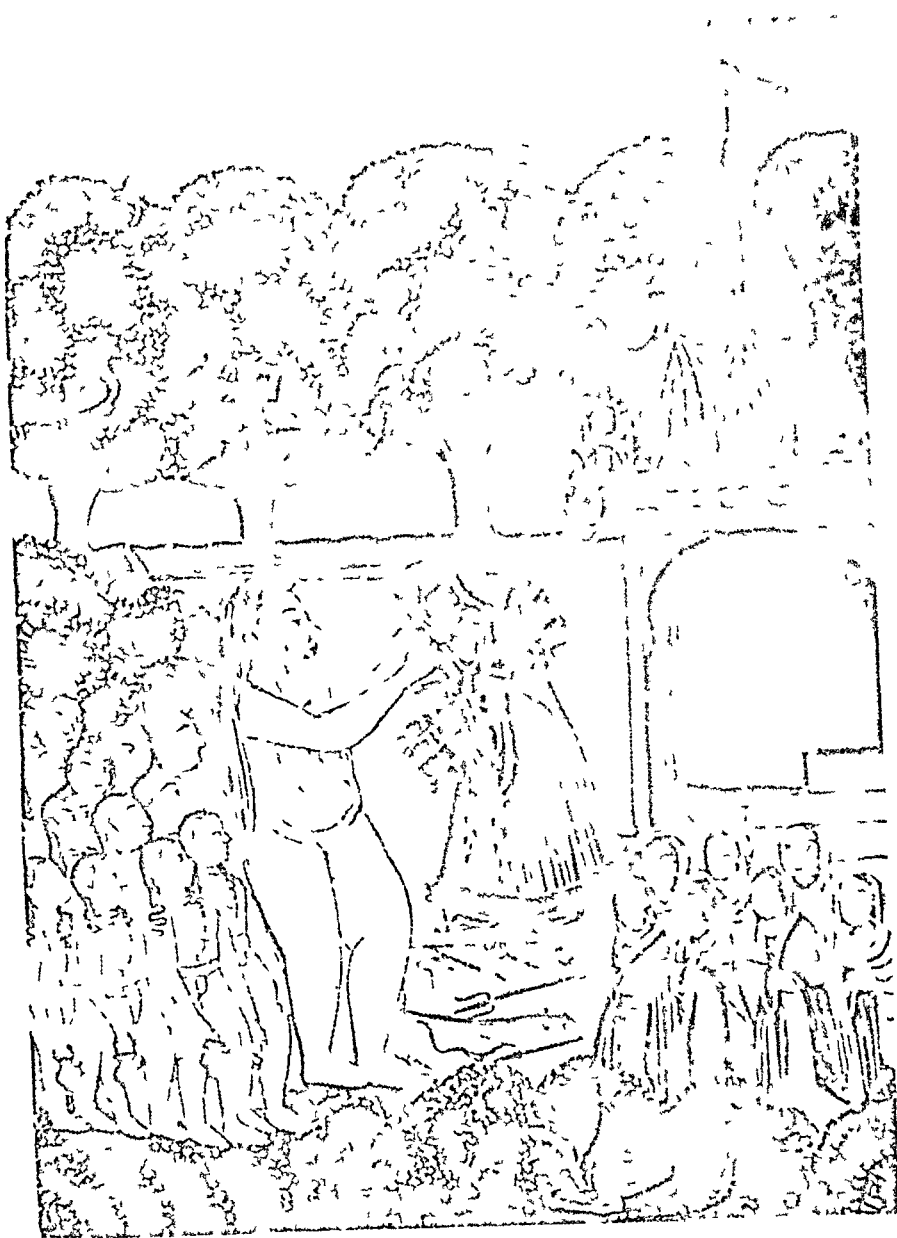
श्री हरिव्यास देव जी (शाक्तो की देवी को वैष्णव बनाते हुए)

उन्हे अपने सप्रदाय का विस्तार करने की सुविधा प्राप्त हुई थी। यदि उनकी विद्यमानता उस काल से पहिले की मानी जावेगी, तो फिर मथुरामडल के विषम धार्मिक वातावरण के कारण उनकी साप्रदायिक उन्नति का रहस्य बतलाना सभव नही होगा।

ग्रथ–रचना—श्री हरिव्यास देव जी ने सस्कृत और ब्रजभाषा दोनो मे ग्रथ–रचना की है। सस्कृत भाषा मे रचे हुए उनके कई छोटे ग्रथ उपलब्ध है, जिनमे 'सिद्धात रत्नाजलि' उल्लेखनीय है। यह श्री निंबार्काचार्य कृत 'दश श्लोकी' की सस्कृत टीका है। उनकी एक मात्र ब्रजभाषा रचना 'महावाणी' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमे उनकी नाम–छाप 'हरिप्रिया' मिलती है। यह एक बडा ग्रथ है, जिसमे १ सेवा सुख, २ उत्साह सुख, ३. सुरति सुख, ४ सहज सुख और ५ सिद्धात सुख नामक पाँच अध्याय है। इसकी रचना श्रीभट्ट जी कृत 'युगल शतक' की तरह दोहो सहित पदो मे हुई है। यह निंबार्क सप्रदाय की एक सैद्धातिक रचना है। उसमे उस सप्रदाय के भक्ति सिद्धात और उपासना तत्त्व का कथन अत्यत सरस शैली मे किया गया है। कुछ विद्वानो ने 'महावाणी' को हरिव्यास देव जी की रचना मानने मे सदेह किया है, और इसे रूपरसिक जी की कृति होने की सभावना व्यक्त की है[1]। इस सबध मे जो कई प्रवाद प्रचलित है, वे हमे निस्सार मालूम होते हैं। हमारे मतानुसार 'महावाणी' हरिव्यास देव जी की रचना है। यह वृदावन से प्रकाशित हुई है।

देहावसान और महत्व—श्री हरिव्यास देव जी का देहावसान मथुरा मे हुआ था, जहाँ नारद टीला पर उनकी समाधि सर्वश्री केशव काश्मीरी भट्ट जी और श्रीभट्ट जी की समाधियो के समीप है। वे निंबार्क सप्रदाय के बडे प्रतापी और प्रभावशाली धर्माचार्य थे। उन्होंने इस सप्रदाय की बडी उन्नति की थी। उनके अनेक शिष्य थे, जिनके कारण निंबार्क सप्रदाय का व्यापक प्रचार हुआ था। उनसे पहिले इस सप्रदाय के किसी आचार्य ने मदिर–मठादि नही बनवाये थे। उनके समय मे ही निंबार्कीय मदिर–मठो का बनना आरभ हुआ था और साप्रदायिक सगठन सुदृढ हुआ था। निंबार्क सप्रदाय मे 'नित्य विहार' की रसोपासना का सूत्रपात तो श्रीभट्ट जी ने किया था, किंतु उसे विकसित रूप मे रसिक भक्तो के लिए अनुभूतिमय बनाने का श्रेय हरिव्यास जी को है। उनके अनुपम महत्व के कारण ही उनके शिष्य-प्रशिष्यो को 'निंबार्कीय' के स्थान पर 'हरिव्यासी' कहा जाता है। निंबार्क सप्रदाय मे उनका जन्मोत्सव कार्तिक कृ १२ को मनाया जाता है।

हरिव्यास देव जी की शिष्य-परपरा—

निंबार्कीय आचार्य श्री हरिव्यास देव जी के अनेक शिष्य थे, जिनमे १२ प्रधान थे। उनसे निंबार्क सप्रदाय के १२ द्वारे (उप सप्रदाय) चले हैं। वे प्रधान शिष्य सर्वश्री १. स्वभू जी, २ वोहित जी, ३ मदनगोपाल जी, ४. उद्धव जी (घमडी जी), ५ वाहुबली जी, ६ परशुराम जी, ७ गोपाल जी, ८ हृषीकेश जी, ९ माधव जी, १० केशव जी, ११ (लापर) गोपाल जी, और १२ मुकुद जी थे। वे सब उत्तर भारतीय गौड ब्राह्मण थे। श्री हरिव्यास जी के अन्य शिष्यो मे एक श्री रूपरसिक जी थे, जो दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे।

श्री हरिव्यास देव जी के उपर्युक्त प्रधान शिष्यो मे से सर्वश्री स्वभूराम जी और परशुराम जी की परपरा का अधिक विस्तार हुआ है। उनकी शिष्य-परपरा मे विरक्त और गृहस्थ दोनो प्रकार के व्यक्ति मिलते है। यहाँ हरिव्यास देव जी के कतिपय शिष्य-प्रशिष्यो का सक्षिप्त वृत्तात लिखा गया है।

---

(१) कृष्ण–भक्ति काव्य मे सखी भाव, पृष्ठ ५७१–५७३

श्री स्वभूराम जी—वे श्री हरिव्यास देव जी के बारह प्रधान शिष्यो मे प्रथम थे । उनका जन्म हरियाना राज्य के बूडिया नामक ग्राम मे हुआ था । यह स्थान जगाधरी के पास यमुना तट पर स्थित है । वे ब्राह्मण थे । ऐसा कहा जाता है, उनका जन्म श्री हरिव्यास जी के आशीर्वाद से हुआ था, अत उनके माता-पिता ने उन्हे बाल्यावस्था मे ही श्री हरिव्यास जी से दीक्षा दिला दी थी । स्वभूराम जी ने अपने जन्म-स्थान मे सस्कृत की शिक्षा प्राप्त की थी । बाद मे उन्होने मथुरा के ध्रुव टीला पर श्री हरिव्यास जी के सत्सग मे रहते हुए द्वैताद्वैत दर्शन का ज्ञान प्राप्त किया और विविध धार्मिक ग्र थो का अध्ययन किया था ।

वे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपने गुरु देव की सेवा मे रहते थे । जब हरिव्यास जी वृद्ध हो गये, तब उन्होने अपने उपास्य श्री सर्वेश्वर जी की सेवा देते हुए उन्हे अपना पट्ट शिष्य घोषित किया था । उनके जन्म स्थान के निकटवर्ती भू-भाग मे उन दिनो नाथ पथी कनफटा जोगियो का बडा प्राबल्य था । वे वैष्णवो को विविध प्रकार के कष्ट देकर उन्हे आतकित किया करते थे । स्वयभूराम जी ने अपने भक्ति बल से नाथो को निस्तेज कर दिया था, जिससे प्रभावित होकर वे उनके अनुगामी हो गये थे । उन्होने अपना शेष जीवन उसी भू-भाग मे बिताया था और वहाँ पर निंबार्क सप्रदाय का व्यापक प्रचार किया था । उनका निवास स्थान 'श्री स्वभूराम जी की बनी' के नाम से प्रसिद्ध है । उनके शिष्यो मे कान्हर जी प्रमुख थे ।

"श्री हरिव्यास देव जी के बारह शिष्यो मे श्री स्वभूराम देव जी का बहुत ऊँचा स्थान है । परशुराम देव जी को छोड कर अन्य कोई शिष्य उनकी समता मे नही ठहर सकता । उनकी शिष्य-परपरा मे उच्चकोटि के साधु पुरुष, तपस्वी महात्मा, प्रचारक, साहित्यकार, आचार्य और समाज—सेवी हुए हैं । निंबार्क सप्रदाय की कई प्रमुख गद्दियो पर उनकी परपरा के ही विरक्त साधु अभी भी सुशोभित है । मथुरा जी के असिकुडा घाट पर हनुमान जी का मदिर और विश्राम घाट पर श्री राधाकात जी का मदिर, वृ दावन में ज्ञान-गूदडी, बिहारघाट, कैमारवन, पानीघाट मे, बगाल मे वर्द्धमान और ऊखडा मे, राजस्थान मे माधौपुर मे, दक्षिण मे एलिचपुर मे और काठियावाड मे अनेक महत्वपूर्ण गद्दियो पर उनकी शाखा का ही अधिकार है । इससे स्वभूराम देव जी की शिष्य-परपरा की व्यापकता और उनका प्रभाव लक्षित होता है[1] ।"

स्वभूराम जी की शाखा का प्रधान स्थल बूडिया ग्राम स्थित 'श्री स्वयभूराम जी की बनी' है । वहाँ पर उनकी समाधि भी है । निंबार्क सप्रदाय मे उनका जन्मोत्सव कार्तिक शु ८ (गोपाष्टमी) को मनाया जाता है । उनका उपस्थिति काल अनिश्चित है । ब्रह्मचारी बिहारीशरण जी ने उनका देहावसान काल स १५४५ लिखा है[2], जो ऐतिहासिक सगति से ठीक नही है । डा० नारायणदत्त जी ने उसे एक शताब्दी पश्चात् स १६४५ बतलाया है[3], जो हमे भी प्राय. ठीक मालूम होता है। उनकी वाणी 'श्री सोभू सागर' नामक ग्र थ मे सकलित कही जाती है, किन्तु वह ग्रंथ अभी तक प्रकाश मे नही आया है ।

---

(१) निंबार्क सप्रदाय और उसके कृष्ण—भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ ४१

(२) श्री निंबार्क माधुरी, पृष्ठ ४४४

(३) निंबार्क सप्रदाय और उसके कृष्ण—भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ ४२

श्री उद्धव (घमंडी) जी—वे श्री हरिव्यास जी के वारह प्रधान शिष्यो मे चतुर्थ थे। उनका जन्म राजस्थान मे टोडाभीम के निकट दूवरदू गाँव मे हुआ था। उन्होंने बाल्यावस्था मे ही श्री हरिव्यास जी से दीक्षा ली थी। उन्हे अपने आराध्य के अनुग्रह का वडा भरोसा था। वे कहा करते थे कि उन्हे उनके कृपा–बल का ही अभिमान (घमड) है, इसीलिए वे भक्तो मे 'घमडी जी' के नाम से प्रसिद्ध हो गये थे, यद्यपि उनका मूल नाम उद्धव जी था।

श्री नाभा जी ने उनका 'घमडी' नाम से उल्लेख करते हुए वृदावन-माधुरी के आस्वादक श्री भूगर्भ–जीवादि १३ भक्तो मे उनकी गणना की है; और उन्हे ठाकुर श्री जुगलकिशोर जी का सेवक वतलाते हुए कहा है,—'घमडी जुगलकिसोर–भृत्य, भूगर्भ–जीव दृढ व्रत लियो। वृदावन की माधुरी, इन मिलि आस्वादन कियो[1] ॥' श्री ध्रुवदास जी ने भी उन्हे वृदावन-रस मे निमग्न, श्री श्यामा-श्याम के गायक और वशीवट पर निवास करने वाले भक्त जन कहा है,—'घमडी रस मे घुमडि रह्यौ, वृदावन निज धाम। वसीवट तट वास किय, गाये स्यामा-स्याम[2] ॥'

ब्रज मे रास के प्रचार करने वाले जो महात्मा हुए हैं, उनमे एक करहला गाँव निवासी घमडी जी का नाम भी प्रसिद्ध है। निवार्क सप्रदाय की मान्यता है कि वे श्री हरिव्यास जी के शिष्य उद्धव घमडी जी ही थे, जो अपने गुरुदेव की आज्ञानुसार व्रज मे आकर करहला ग्राम मे अपनी भक्ति–साधना करने लगे थे[3]। जव नाभा जी और ध्रुवदास जी जैसे समकालीन महात्माओं ने उन्हे वृदावन का निवासी रस–सिद्ध महात्मा वतलाया है, तो समझा जा सकता है कि करहला निवासी रास-प्रचारक घमडी जी कोई दूसरे भक्त जन थे[4]।

उनकी शाखा-सप्रदाय के मठ-देवालय हरियाना, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, वगाल, गुजरात आदि राज्यो के अनेक स्थानो मे है। उनका सवसे पुराना स्थान हरियाना स्थित 'गोनी' मे कहा जाता है, तथा व्रज की कोर पर स्थित 'लीखी' नामक गाँव मे उनकी चरण-पादुकाओ की सेवा वतलाई जाती है। वृदावन स्थित उनके तीन मदिरो का उल्लेख मिलता है। वे श्री मदनमोहन जी, श्री मुरलीमनोहर जी और श्री रासविहारी जी के थे[5]। इस समय वृदावन मे 'श्री ज्ञानी जी की वगीची' उन्ही की शाखा-सप्रदाय के अतर्गत है[6]। उनका उपस्थिति-काल १७ वी शती का पूर्वार्ध है।

श्री परशुराम जी—वे हरिव्यास जी के वारह प्रधान शिष्यो मे से छठे थे। उनका जन्म नारनौल के निकटवर्ती स्थान के एक ब्राह्मण कुल मे हुआ था। अपने आरभिक जीवन मे उन्होंने अपने गुरु के साथ मथुरा के ध्रुवक्षेत्र मे निवास किया था। अपनी उपासना, भक्ति और गुरु-सेवा के कारण वे युवावस्था मे ही एक चमत्कारी महात्मा हो गये थे। उन दिनो राजस्थान मे अजमेर के निकट एक मुसलमान तान्त्रिक सलीमशाह फकीर का निवास था। उसे कुछ तामसी सिद्धि प्राप्त थी, जिससे वह पुष्करराज और द्वारकाधाम की यात्रा को जाने वाले वैष्णव भक्तो एव साधुओ पर मनमाने अत्याचार किया करता था। उसके कारण तीर्थ-यात्रियो को वडा कष्ट होता था। कुछ

---

(१) श्री नाभा जी कृत 'भक्तमाल', छप्पय स ९४
(२) श्री ध्रुवदास जी कृत 'भक्त नामावली'
(३) श्री आचार्य–परपरा–परिचय, पृष्ठ २७
(४) देखिये, इस ग्रंथ का प्रथम खड 'ब्रज संस्कृति की भूमिका', पृष्ठ १८१
(५) श्री भक्तमाल (वृंदावन), पृष्ठ ५९६
(६) श्री आचार्य–परपरा–परिचय, पृष्ठ २८
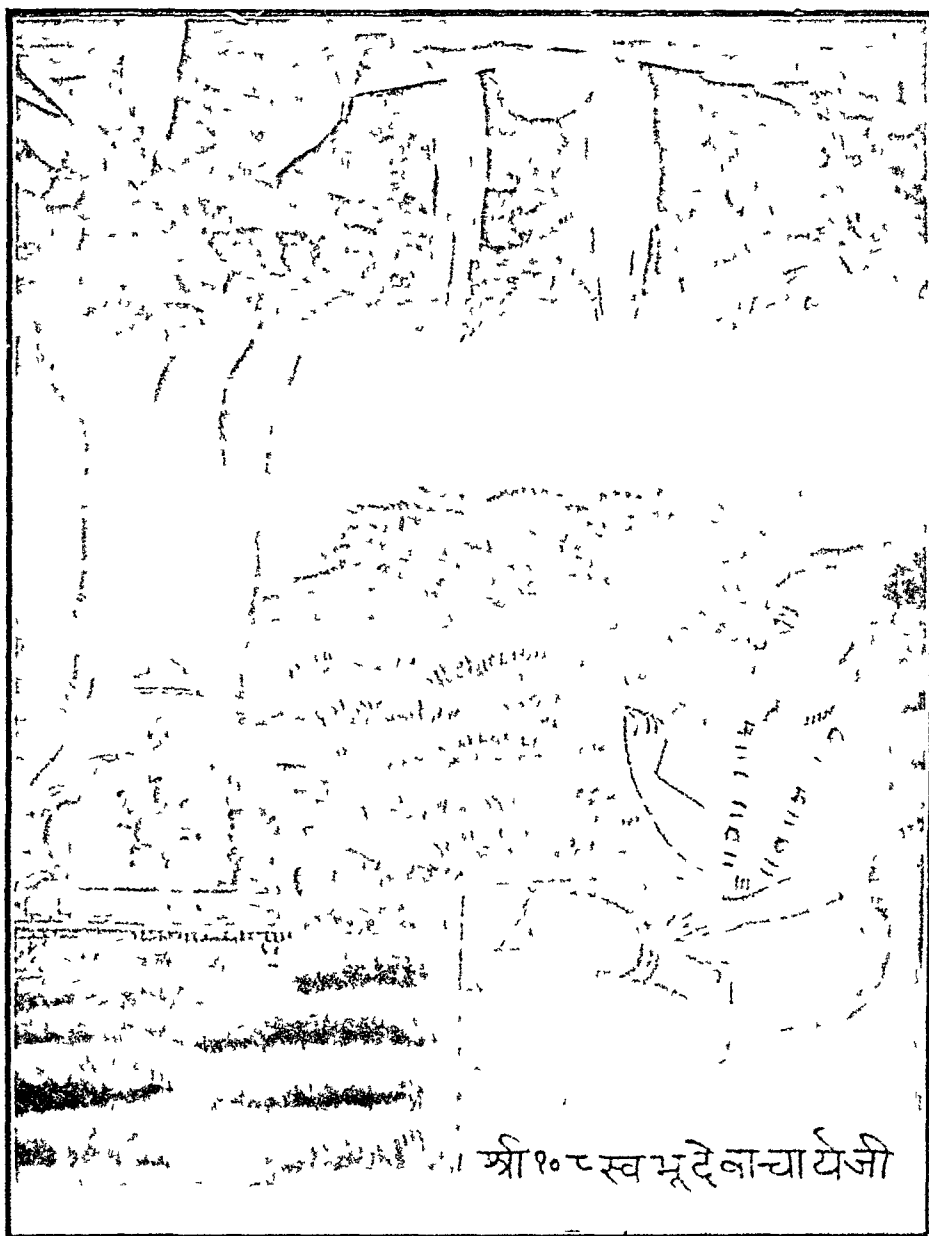
श्री स्वभूराम जी (श्री सर्वेश्वर जी की सेवा करते हुए)

श्री परशुराम देवाचार्यजी महाराज एवं उनका परिवार (शिष्य परिकर)

श्री परशुराम देव जी

यात्रियो ने मथुरा मे श्री हरिव्यास जी से उक्त कष्ट के निवारण करने की प्रार्थना की थी। श्री हरिव्यास जी ने अपने प्रिय शिष्य परशुराम जी को आदेश दिया कि वे वहाँ जाकर उक्त फकीर का मान-मर्दन करे।

परशुराम जी कुछ साधुओ के साथ वहाँ गये। उन्होने उक्त फकीर की तात्रिक सिद्धि को प्रभावहीन कर दिया था। फलत वह फकीर पराजित होकर वहाँ से चला गया। वह स्थान उक्त फकीर के नाम पर 'सलीमाबाद' कहलाता था। परशुराम जी ने वहाँ स्थायी रूप से निवास कर उस क्षेत्र के तथा उसके निकटवर्ती जागल प्रदेश के निवासियो को निंबार्क सप्रदाय मे दीक्षित कर उन्हे वैष्णव बना दिया। श्री नाभा जी ने परशुराम जी की प्रशसा करते हुए कहा है,—"जगली देस के लोग सब, परशुराम किये पारषद'[1]।" श्री हरिव्यास जी उनके उक्त कार्य से इतने प्रसन्न हुए कि उन्होने निंबार्क सप्रदाय के परपरागत उपास्य श्री सर्वेश्वर शालग्राम की सेवा उन्हे सोप दी थी। परशुराम जी का निवास स्थान होने के कारण सलीमाबाद को 'परशुरामपुरी' भी कहते है। वहाँ पर श्री राधा-माधव जी का प्रसिद्ध मदिर है, और इस स्थान को निंबार्क सप्रदाय की सबसे प्रमुख गद्दी माना जाता है। इस गद्दी के आचार्य 'श्री जी' कहलाते है।

श्री परशुराम जी ने वृहत् वाणी साहित्य की रचना की थी, जो 'श्री परशुराम सागर' के नाम से उपलब्ध है। यह एक बडा ग्रथ है, जिसमे २२०० के लगभग पद, दोहा, छप्पय आदि हैं। इसकी रचना राजस्थानी मिश्रित सरल व्रजभाषा मे हुई है। इसमे ब्रज लीला के साथ ही साथ ज्ञान, वैराग्य, उपदेशादि का कथन भी निर्गुणिया सतो की भाँति हुआ है। इसकी रचना मे 'परसुराम', 'परसा' आदि की नाम-छाप मिलती है। यह ग्रथ 'परशुराम द्वारा' से प्रकाशित हुआ है।

उनके एक पद मे मीराबाई का उल्लेख हुआ है[2]। इससे ज्ञात होता है कि वे मीराबाई के समकालीन अथवा उनके परवर्ती थे। उनकी विद्यमानता का काल १७ वी शती का पूर्वार्ध जान पडता है। पुष्कर क्षेत्र मे श्री परशुराम जी की जो समाधि है, उसके शिलालेख के आधार पर श्री बलदेव जी उपाध्याय ने उन्हे गो तुलसीदास जी का समकालीन बतलाया है[3]। डा० नारायण दत्त शर्मा ने उनका देहावसान–काल स १६८० के आस-पास का लिखा है[4]। यह निश्चित है कि वे दीर्घजीवी हुए थे।

श्री परशुराम जी की शाखा-गद्दियो और उनके शिष्यो की बहुत बडी सख्या है। राजस्थान, पजाब, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के अनेक स्थानो मे उनकी गद्दियाँ है, तथा उनके शिष्यो मे राजा-महाराजाओ से लेकर सामान्य जन तक हैं। वृदाबन मे ठाकुर श्री गिरिधारी जी महाराज का मदिर इसी शाखा का है।

श्री (लापर) गोपाल जी—वे श्री हरिव्यास जी के बारह प्रधान शिष्यो मे से ११वे थे। उनकी शाखा का प्रमुख स्थान हरियाना राज्य मे रोहतक जिले का घुलेडा गाँव है। उनकी १३वीं पीढ़ी मे ब्रह्मचारी श्री गिरिधारीशरण जी नामक एक चमत्कारी महात्मा हुए, जो ब्रज मे 'ब्रह्मचारी जी' के नाम से प्रसिद्ध है। उनका जीवन-वृत्तात आगे लिखा गया है।

---

(१) श्री नाभा जी कृत 'भक्तमाल', छप्पय स १३७
(२) चरणोदक करि पियौ हलाहल, जग जीवत न मरै।
ताकी साखि प्रगट मीरां, जन जाको अजर जरै॥ (भक्तमाल, वृंदावन, पृष्ठ ७८३)
(३) भागवत सप्रदाय, पृष्ठ ३३०
(४) निंबार्क सप्रदाय और उसके कृष्ण—भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ ९८

श्री मुकुंद जी—वे श्री हरिव्यास देव जी के बारह प्रधान शिष्यो में अंतिम थे। उनका जन्म ब्रज के किसी स्थान मे माघ शु १५ को हुआ था। वे बाल्यावस्था मे ही श्री हरिव्यास देव जी के शिष्य हो गये थे। उसके उपरात वे जीवन पर्यंत वैराग्य और नैष्ठिक व्रत का पालन करते हुए उपासना-भक्ति करते रहे थे। उनके प्रधान शिष्य व्रजभूषण जी थे, जो उनके उपरात उनकी शाखा-गद्दी के महत हुए थे। इस गद्दी के ७वें महत रामदास जी थे। उन्होने १६वीं शताब्दी मे वृदावन के विहार घाट पर 'टोपी वाली कुज' का निर्माण कराया था। वे टोपी लगाया करते थे, अत उनका स्थान इसी नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस शाखा के महतो की प्रसिद्धि साधु-सेवा, वैष्णव-भोज और कथा-कीर्तन आदि के लिए विशेष रूप से रही है। इस शाखा का प्रधान स्थान 'टोपी वाली कुज' ही है।

श्री रूपरसिक जी—वे दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे, किंतु उनके पूर्वज पर्याप्त समय से उत्तर भारत मे निवास करने लगे थे। रूपरसिक जी का जन्म उत्तर भारत मे हुआ और उनकी शिक्षा आदि की व्यवस्था भी इसी भू-भाग मे हुई थी। वे सस्कृत और व्रजभाषा-हिंदी के अच्छे विद्वान थे। उन्हे आरभ से ही गृहस्थ जीवन से विरक्ति थी और वे अपने जन्म-स्थान मे अपनी ३६ वर्ष की आयु तक उपासना, भक्ति, साधु-सेवा एव धर्म-चर्चा के कार्यो मे लगे रहे थे। उसके उपरात वे सद्गुरु की खोज मे भटकने लगे। उन्होने निंबार्क सप्रदाय के आचार्य श्री हरिव्यास जी की बडी महिमा सुनी थी, फलत वे उनका शिष्यत्व ग्रहण करने के लिए मथुरा की ओर चल पडे। जब वे वहाँ पहुँचे, उससे पहिले ही हरिव्यास जी का देहावसान हो चुका था। किंतु उन्होने उन दिवगत महात्मा को ही अपना गुरु स्वीकार किया। निंबार्क सप्रदाय मे वे हरिव्यास जी के ही शिष्य माने जाते है।

रूपरसिक जी ब्रजभाषा के बडे समर्थ भक्त-कवि थे। उनकी रचना उच्चकोटि की है। उसमे भावो की सरसता और भाषा का लालित्य दर्शनीय है। उनके तीन ग्रथ 'वृहद् उत्सव मणिमाल', 'श्री हरिव्यास यशामृत' और 'श्री लीला विंशति' प्रकाशित हो चुके हैं। उनके अतिरिक्त उनकी 'नित्य विहार पदावली' नामक रचना अप्रकाशित है। कुछ विद्वानो का मत है, 'महावाणी' उन्ही की रचना है, श्री हरिव्यास देव जी की नही[1], किंतु उक्त कथन प्रामाणिक ज्ञात नही होता है।

उनकी विद्यमानता का काल विवादास्पद है। उनकी एक रचना 'श्री लीला विंशति' मे उसकी पूर्ति का सवत् १५८७ दिया हुआ है, जिससे वे १६ वी शती मे विद्यमान माने जाते हैं। किंतु अन्य रचनाओ के अत साक्ष्य वे परवर्ती कवि सिद्ध होते है। मिश्रबधुओ ने उनका रचना-काल स. १७६० के लगभग माना है[2]।

'स्वभूराम द्वारा' की आचार्य-परपरा—

निंबार्क सप्रदाय के इस शाखा-सप्रदाय की परपरा श्री हरिव्यास जी के प्रथम प्रधान शिष्य श्री स्वभूराम जी से चली है। इस 'द्वारा' का कार्य-क्षेत्र विशेष कर हरियाना-पजाब रहा है। वहाँ इसकी प्रमुख गद्दियाँ तिरखूयज्ञ, बूडिया आदि स्थानो मे है। इस सप्रदाय के श्री चतुरचिंतामरिण जी (नागा जी) ने व्रज के विभिन्न स्थानो मे निंबार्कीय केन्द्रो की स्थापना की थी।

---

(१) **कृष्ण भक्ति काव्य मे सखी-भाव**, पृष्ठ ५७०-५७३

(२) **मिश्रबधु विनोद** (द्वितीय भाग), पृष्ठ ५२६

श्री कान्हर जी—वे श्री हरिव्यास देव जी के प्रशिष्य और श्री स्वभूराम जी के प्रधान शिष्य थे। नाभा जी ने उन्हे बूडिया ग्राम का निवासी ब्राह्मण बतलाया है[1]। उनके गुरु स्वभूराम जी भी इसी ग्राम के रहने वाले थे। कान्हर जी परम कृष्ण-भक्त और साधु-सेवी महात्मा थे। अपने गुरु के आदेश से उन्होने तिरखूयज्ञ मे निंबार्क मठ की स्थापना की थी। उनका अधिकाश जीवन उसी स्थान मे व्यतीत हुआ था। वे दीर्घजीवी हुए थे। उनके पाँच शिष्य थे,—१ परमानद जी, २ मथुर जी, ३. नारायण जी, ४ रामगोपाल जी और ५ धर्मदेव जी। कान्हर जी के उपरात उनके ज्येष्ठ शिष्य परमानद जी तिरखूयज्ञ की गद्दी के उत्तराधिकारी हुए थे।

श्री नारायण जी—वे कान्हर जी के तीसरे शिष्य थे। 'उनके शिष्य-प्रशिष्यो ने अनेक मठ-मदिरो की स्थापना की थी। उनके एक शाखा-शिष्य महात्मा गोपालदास जी (जन्म स १८७२ विक्रमी) ने वृ दाबन मे निवास करते हुए निंबार्क-जयती महोत्सव मनाना प्रारभ किया था। यह उत्सव अब भी बीस दिनो तक चलता है। उनके प्रशिष्य श्री बालगोविंददास जी ने आचार्य-पचायतन की स्थापना वृ दाबन मे एक भव्य मदिर बनवा कर की थी। वृ दाबन का प्रसिद्ध निंबार्क-कोट उनके ही द्वारा बनाया गया है। उनके एक शिष्य श्यामदामोदर दास जी के दूसरे शिष्य श्री आत्माराम जी ने पजाब मे मलेरकोटला मे एक निंबार्कीय स्थान का निर्माण कराया था[2]।'

श्री चतुर चितामणि (नागा जी)—वे श्री कान्हर जी के प्रशिष्य और श्री परमानद जी के प्रधान शिष्य थे। उनका जन्म ब्रज के पैंगाँव नामक स्थान के एक गौड ब्राह्मण कुल मे हुआ था। वे बाल्यावस्था मे ही विरक्त होकर अपने गाँव के समीप की 'कदमखडी' मे भगवान् श्रीकृष्ण का भजन–ध्यान किया करते थे। ब्रज–पर्यटन के वे बडे प्रेमी थे और नियमित रूप से ब्रज चौरासी कोस की परिक्रमा करते थे। वे अपने समय मे ब्रजमडल के एक विख्यात महात्मा माने जाते थे, और ब्रजवासी गण उनके प्रति बडी श्रद्धा रखते थे। अतिम काल मे वे वृ दाबन के विहार घाट पर 'कुज' बनवा कर वहाँ निवास करने लगे थे। उनका देहावसान उसी स्थान पर मिती आश्विन कृ ७ को हुआ था। वहाँ उनकी समाधि और चरण–चिह्न है। उनकी स्मृति मे उनके जन्म स्थान पैंगाँव मे आश्विन कृ. ७ को ब्रज–यात्रा के अवसर पर एक बडा उत्सव किया जाता है।

ब्रज के कई स्थानो मे नागा जी के स्मारक स्वरूप देव-स्थान बने हुए है। गोवर्धन की परिक्रमा मे गोविंदकुड के पास एक मदिर और समाधि है। वृ दाबन के विहारघाट पर, मथुरा के वैरागपुरा मे और बरसाने मे मदिर है। पैंगाँव के निकट 'नागा जी की कदमखडी' और बरसाने के समीप 'नागा जी की गुफा' है। भरतपुर के किले मे नागा जी के उपास्य ठाकुर श्री बिहारी जी का मदिर है, जिसे जाट राजा सूरजमल ने बनवाया था। उसी मदिर मे नागा जी की गूदडी और माला सुरक्षित है, जिनका प्रदर्शन आश्विन कृ ७ को उनके पुण्य दिवस के अवसर पर किया जाता है।

बल्लभ सप्रदायी वार्ता मे 'टोड का घना' मे तपस्या करने वाले एक चतुरा नागा नामक भक्त जन का उल्लेख हुआ है। वार्ता मे लिखा गया है, स. १५५२ की श्रावण शु. ३ बुधवार को श्रीनाथ जी ने टोड के घने मे पधार कर उन्हे दर्शन दिया था[3]। ज्योतिष गणना के अनुसार उक्त तिथि को

---

(१) भक्तमाल, छप्पय स १९१

(२) निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण–भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ ४५

(३) श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता, पृष्ठ १६–१७

बुधवार नही पडता है[1], अत वह अप्रामाणिक जान पडती है। वैसे वल्लभ सम्प्रदाय मे चतुरा नागा की अनुश्रुति बहुत प्रसिद्ध है तथा टोड के घने और गोविंदकुंड पर उनके स्मृति-स्थल भी विद्यमान हैं। वार्ता मे उल्लिखित चतुरा जी श्री वल्लभाचार्य जी के समकालीन थे। उसके अनुसार जब चतुरा जी ४० वर्ष की आयु के थे, तब उनकी श्री वल्लभाचार्य जी से भेंट हुई थी[2]। इस प्रकार वार्ता के चतुरा नागा निंबार्क सप्रदायाचार्य श्री चतुर चिंतामणि नागा जी के पूर्ववर्ती कोई दूसरे महात्मा ज्ञात होते हैं।

निंबार्क सप्रदाय मे नागा जी की प्रसिद्धि ब्रज-प्रेमी, परम भक्त और भजनानंदी महात्मा के रूप मे तो है, किंतु भक्त-कवि के रूप मे नही है। ब्रज साहित्य का अनुसधान करते हुए हमे अनेक भक्त-कवियो की रचनाओ के साथ ही साथ 'ब्रज-दूलह' की नाम-छाप के कुछ गेय पद भी मिले है। नागा जी की उपाधि भी 'ब्रज-दूलह' थी। यदि ये गेय पद उन्ही के है, तब उन्हे सगीतज्ञ भक्त-कवि भी मानना होगा।

स्वभूराम जी की परंपरा—श्री स्वभूराम जी की गद्दी के आचार्यों की परपरा उनके शिष्य कान्हर जी के द्वितीय शिष्य मथुर जी से चली है। मथुर जी के उपरात श्याम जी और तदुपरात क्रमश मेवा जी, नरहरि जी, शुकदेव जी, गोपाल जी, गोपीनाथ जी, बसतराम जी, पुरुषोत्तम जी, शुकदेव जी, उद्धव जी, गोपाल जी, गिरिधारी जी, नदकिशोर जी, मनोहर जी इस गद्दी के आचार्य हुए थे। वर्तमान आचार्य श्री सर्वेश्वरशरण हैं[3]।

'परशुराम द्वारा' की आचार्य-परंपरा—

निंबार्क संप्रदाय के इस शाखा-सप्रदाय की परपरा श्री हरिव्यास जी के छठे प्रधान शिष्य श्री परशुराम जी से चली है। इस 'द्वारा' का कार्यक्षेत्र मुख्य रूप से राजस्थान रहा है। इसकी प्रमुख गद्दी पुष्कर क्षेत्र के सलीमाबाद मे है, जिसे 'परशुराम पुरी' भी कहते है। इस गद्दी के मदिर मे ही श्री निंबार्काचार्य जी के सेव्य श्री सर्वेश्वर शालग्राम जी विराजमान हैं, जिन्हे श्री परशुराम देव ने वहाँ प्रतिष्ठित किया था। उनके कारण इस गद्दी का बडा महत्व है। औरगजेब के शासन-काल मे जब निंबार्क सप्रदाय का प्रधान केन्द्र मथुरा का ध्रुवक्षेत्र नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया, और वहाँ के निंबार्कीय आचार्य अपने परिकर सहित मथुरामडल को छोड कर अन्यत्र चले गये, तब 'परशुराम द्वारा' ही इस सप्रदाय का प्रमुख केन्द्र हो गया था। इस गद्दी के आचार्य बडे यशस्वी हुए हे, और उन्होने इस सप्रदाय की गौरव-वृद्धि मे बडा योग दिया है। यहाँ पर उनमे से कतिपय आचार्यो का सक्षिप्त वृत्तात लिखा जाता है।

श्री हरिवंश जी—वे श्री परशुराम जी के प्रधान शिष्य थे। अपने गुरुदेव के उपरात वे सलीमाबाद की गद्दी के आचार्य हुए थे। उन्होने उक्त गद्दी की सुव्यवस्था कर निंबार्क सप्रदाय का सुदृढ सगठन किया था। स १६८९ मे उन्होने परशुराम जी की समाधि के समीप 'परशुराम द्वारा'

---

(१) वार्ता साहित्य : एक बृहत् अध्ययन, पृष्ठ ५४२
(२) श्री आचार्य जी के बैठक-चरित्र, पृष्ठ १६३-१६५
(३) निंबार्क सप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ ३९

श्री चतुरचिंतामणि (नागा जी)

श्री तत्ववेत्ता जी

श्री नारायण देव जी—वे श्री हरिवंश जी के प्रधान शिष्य थे और अपने गुरु जी के पश्चात् 'परशुराम द्वारा' की गद्दी के आचार्य हुए थे। मदन कवि कृत 'जयसाह सुजस प्रकाश' ग्रंथ से ज्ञात होता है कि उन्होने हरिवंश जी की स्मृति मे ब्रज के गोवर्धन स्थित गोविंदकुंड पर एक धार्मिक समारोह किया था। उसमे बहुसंख्यक भक्त गण उपस्थित हुए थे, जिनके स्वागत–सत्कार में प्रचुर व्यय हुआ था। उन्होने राजस्थान के कई राजाओ से सम्मान प्राप्त किया था, जिनमे उदयपुर के महाराणा प्रमुख थे। वे उदयपुर मे कई वर्ष तक रहे थे, और वहाँ पर ही सं १७५४ मे उनका देहावसान हुआ था। उनके चरण–चिह्न वहाँ विद्यमान हैं। उन्होने निंबार्क संप्रदाय का बड़ा प्रचार किया था और कई मंदिर–मठो का निर्माण कराया था। उनका रचा हुआ संस्कृत काव्य 'आचार्य चरित्' उपलब्ध है।

उनके अनेक शिष्य थे, जिनमे वृंदावनदास जी और हरिदास जी प्रमुख थे। वृंदावनदास जी उनके उपरांत 'परशुराम द्वारा' की गद्दी के आचार्य हुए थे। हरिदास जी ने उदयपुर में निंबार्कीय स्थानो का निर्माण कराया था। उन्होने वहाँ ठाकुर नवनीतराय जी की प्रतिष्ठा की थी। उनके दो शिष्य थे,—ईश्वरीदास और प्रयागदास। वे उदयपुर के निंबार्कीय स्थान 'कुंड' और 'स्वरूप' की गद्दियो के महंत हुए थे। श्री नारायण देव जी के काल मे मुगल सम्राट औरंगजेब ने ब्रज मे भीषण दमन चक्र चलाया था, जिससे वहाँ के अन्य वैष्णव संप्रदायो की भाँति निंबार्क संप्रदाय की भी बड़ी क्षति हुई थी।

औरंगजेबी शासन का कुप्रभाव—मुगल सम्राट औरंगजेब ने अपने पूर्वजो की धार्मिक सहिष्णुता के विरुद्ध मजहबी कट्टरता की नीति अपनायी थी। उसके शासन काल मे साधारणतया सभी स्थानो मे और विशेषतया ब्रजमंडल मे हिंदू धर्म के विविध संप्रदायो को बड़े संकट का सामना करना पड़ा था। उस समय अन्य धर्म–संप्रदायो की भाँति निंबार्क संप्रदाय की प्रगति पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था। जब औरंगजेब के आदेश से ब्रज के प्राचीन देव–स्थानो को नष्ट–भ्रष्ट किया जाने लगा, तब मथुरा स्थित ध्रुव क्षेत्र के निंबार्कीय मंदिर भी नष्ट कर दिये गये थे। उस समय वहाँ के निंबार्कीय आचार्य मथुरा छोड़ने को विवश हुए थे। उनमे से कुछ तो वृंदावन–गोवर्धन जैसे एकांत धार्मिक स्थलो मे चले गये, किंतु अधिकतर हिंदू राजाओ के राज्यो मे जाकर बस गये थे। उससे ब्रज मे इस संप्रदाय की उन्नति रुक गई थी, किंतु राजस्थान तथा हरियाना–पंजाब मे यह संप्रदाय कुछ प्रगति करता रहा था। उस काल मे ब्रज मे निंबार्क संप्रदाय का केन्द्र वृंदावन हो गया, किंतु इसका प्रधान केन्द्र राजस्थान के पुष्कर क्षेत्र का 'परशुराम द्वारा' माना जाने लगा। श्री सर्वेश्वर शालग्राम जी के वहाँ प्रतिष्ठित होने से भी उक्त स्थान का महत्व बढ़ा था। उसके उपरांत 'परशुराम द्वारा' के आचार्यो ने ही निंबार्क संप्रदाय के प्रतिनिधि रूप में इसके प्रचार–प्रसार की उल्लेखनीय भूमिका प्रस्तुत की थी। इसमे वृंदावनदेव जी के आचार्यत्व-काल का बड़ा महत्त्व है।

श्री वृंदाबन देव जी (आचार्यत्व–काल सं. १७५४ – सं १७६७) —

जीवन–वृत्तांत—वे गौड ब्राह्मण थे, और राजस्थान के सराय सूरपुरा ग्राम मे उत्पन्न हुए थे। उन्होने श्री नारायण देव जी से निंबार्क संप्रदाय की दीक्षा ली थी। निंबार्क-माधुरी –कार ने उनका दीक्षा–काल सं १७०० के लगभग बतलाया है[1], किंतु यह उनका जन्म-काल मालूम होता है। वे अपने गुरुदेव के पश्चात् सं १७५४ मे 'परशुराम द्वारा' के आचार्य हुए थे।

---

(१) निंबार्क माधुरी, पृष्ठ १४३

राजा जयसिह का प्रोत्साहन—मुगल शासन के अतिम काल मे समस्त ब्रजमडल आमेर के सवाई राजा जयसिह के प्रभाव–क्षेत्र मे था। उस समय तक ब्रज के भक्ति सप्रदायो का प्रधान केन्द्र वृदावन हो गया था। वही स्थान ब्रज मे निवार्क सप्रदाय का भी प्रमुख केन्द्र था। यह लिखा जा चुका है कि राजा जयसिह वैष्णव धर्म के परपरागत चतु सप्रदायो के अतिरिक्त उस काल के नये भक्ति सप्रदायो को हिंदू समाज के सामूहिक हित के लिए अवाछनीय मानता था। उसके उक्त दृष्टिकोण के कारण ब्रज के कतिपय नये भक्ति सप्रदायो को पर्याप्त कठिनाई सहन करनी पड़ी थी, किंतु प्राचीन सप्रदाय होने के कारण वह निवार्क सप्रदाय के लिए बड़ा सहायक सिद्ध हुआ था। उसने इस सप्रदाय को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया था। श्री वृदावन देव जी की राजा जयसिह से बड़ी घनिष्ठता हो गई थी और उनके राज्य मे तथा वृदावन सहित समस्त ब्रजमडल मे निवार्क सप्रदाय का प्रभाव बढ गया था। जब राजा जयसिह के धार्मिक दृष्टिकोण के कारण ब्रज के नये भक्ति सप्रदायो ने कठिनाई का अनुभव किया, तब उनसे बचने के लिए वे प्राचीन सप्रदायो से सबद्ध होने लगे थे। उस समय स्वामी हरिदास जी के अनुयायी विरक्त सतो का समुदाय निवार्क सप्रदाय के अतर्गत आ गया था। उससे इस सप्रदाय के महत्त्व की और भी वृद्धि हुई थी। यह अधिकतर राजा जयसिह के प्रोत्साहन से ही सभव हुआ था।

निवार्कीय अखाड़ो का निर्माण—वैसे तो ब्रज के वैष्णव सप्रदायो को आरभ से ही विदेशी आक्रमणकारी एव विधर्मी यवन शासको से अपार कष्ट उठाना पड़ा है, किंतु १८वी शती के पूर्वार्ध मे औरगजेबी अत्याचार ने उन्हे और भी अधिक सकट मे डाल दिया था। उसके उपरात वे १८वी शती के उत्तरार्ध मे शैव, शाक्त, स्मार्तादि अवैष्णव धर्म-सप्रदायो की उच्छृंखलता से भी त्रस्त हुए थे। वह स्थिति इसलिए और भी अधिक दुर्भाग्यपूर्ण थी कि वे धर्म–सप्रदाय उसी विशाल हिंदू धर्म के अग थे, जिसके कि वैष्णव सप्रदाय थे। उस नये सकट से त्राण पाने के लिए समस्त वैष्णव सप्रदायो ने पारस्परिक मतभेद और साप्रदायिक सकीर्णता के विचारो की उपेक्षा कर 'अनी-अखाड़ो' के रूप मे जिस सामूहिक सैनिक सगठन का उपक्रम किया था, उसकी चर्चा हम गत पृष्ठो मे कर चुके हैं। हमने लिखा है, उसके सबध की आरभिक सभा स १७७० के लगभग वृदावन मे हुई थी[1]।

ऐसा जान पडता है, वृदावन की उक्त सभा का निर्णय शीघ्र कार्यान्वित नही किया जा सका था। उसका कारण वैष्णव धर्म के रामोपासक और कृष्णोपासक सप्रदायो का अनी-अखाडो के सगठन से सबधित कुछ बातो पर मतभेद था। उक्त मतभेद को दूर करने के लिए आमेर के सवाई राजा जयसिह के सरक्षण मे रामानदी गद्दी के तत्कालीन आचार्य स्वामी बालानद जी ने एक विशाल सम्मेलन का आयोजन किया था। वह सम्मेलन जयपुर के निकटवर्ती ब्रह्मपुरी नामक स्थान मे हुआ था। वह स्थान बाद मे गणेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उक्त सम्मेलन के आयोजन मे स्वामी बालानद जी के साथ 'परशुराम द्वारा' की निवार्कीय गद्दी के तत्कालीन आचार्य वृंदावन देव जी ने भी बडा सहयोग किया था। 'सर्वेश्वर' मासिक पत्र मे इस विषय की चर्चा करते हुए लिखा गया है कि वृदावन देव जी उक्त सभा के अध्यक्ष भी हुए थे[2]। किंतु जयपुर के राजकीय अभिलेखो के आधार पर डा० नारायणदत्त शर्मा का कथन है कि श्री वृदावन देव जी उक्त सम्मेलन

---

(१) इस ग्रथ के इस खंड का पृष्ठ २०९ देखिये।

(२) 'सर्वेश्वर' मासिक पत्र (वृंदावन), वर्ष ४ अक ८

श्री वृंदाबन देव जी के उत्तराधिकारी —

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, श्री वृ दावन देव जी का देहावमान म १७९७ मे हो गया था। उनके शिष्यो मे जयरामदास शेप नामक एक महाराष्ट्रीय विद्वान थे। सवाई राजा जयसिंह ने उन्हे अपनी राजधानी की निंबार्कीय गद्दी का अध्यक्ष नियुक्त किया और साथ ही उन्हे परशुराम द्वारा की प्रमुख गद्दी का आचार्य भी घोपित कर दिया था। किशनगढ और उदयपुर के राजाओ ने भी इसका समर्थन किया था। अभी तक इस गद्दी के आचार्य उत्तर भारतीय विरक्त गौड ब्राह्मण हुए थे, किंतु जयरामदास जी दाक्षिणात्य ब्राह्मण और कदाचित गृहस्थ थे, अत उन्हे निंबार्कीय भक्तो ने आचार्य के रूप मे स्वीकार नही किया। राजा जयसिंह की विद्यमानता मे जयरामदास जी के विरोध करने का साहस किसी को नही हुआ था। किंतु स १८०० मे जब राजा का देहावसान हो गया, तब निंबार्कीय भक्त समुदाय ने जयरामदास जी के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और उनके स्थान पर स्व० वृ दावन देव जी के दूसरे प्रमुख शिष्य गोविंददेव जी को आचार्य–गद्दी पर आसीन किया था। श्री जयरामदास शेप का स. १७९७ मे स १८०० तक का अधिकार–काल परशुराम द्वारा के इतिहास मे सम्मिलित नही किया गया है[1]।

श्री गोविंददेव जी—वे परम भक्त, श्रेष्ठ विद्वान और सुकवि थे। वे स. १८०० मे श्री वृ दावन देव जी की गद्दी पर आसीन हुए थे और उनका देहात म १८१४ मे हुआ था[2]। इस प्रकार वे प्राय १५ वर्ष तक निंबार्क सप्रदाय के आचार्य रहे थे। उस काल मे किशनगढ का राजा वहादुरसिंह था, जो गोविंददेव जी के प्रति वडी श्रद्धा रखता था। निंबार्क सप्रदाय के भक्ति साहित्य मे गोविंददेव, गोविंदशरण और रसिकगोविंद के नाम से अनेक काव्य–रचनाएँ मिलती हैं। इनमे रचयिताओ के नाम-साम्य के कारण प्राय. भ्रम हो जाता है। 'निंबार्क माधुरी' मे भी उनके सबध मे भ्रमात्मक कथन हुआ है। उन तीनो मे श्री गोविंददेव जी की काव्य–रचना 'जयति चतुर्दशी' के नाम से उपलब्ध है। श्री गोविंददेव जी के काल की एक ऐतिहासिक घटना अहमदशाह अब्दाली का ब्रज पर आक्रमण करना है, जिससे वहाँ निंबार्क सप्रदाय की वडी क्षति हुई थी।

अब्दाली के आक्रमण का दुष्परिणाम—स १८१३-१४ मे अफगानिस्तान के पठान शासक अहमदशाह अब्दाली ने ब्रजमडल पर भीषण आक्रमण किया था। उसमे मथुरा–वृंदावन की वडी भारी क्षति हुई थी। अब्दाली के सैनिको ने वहाँ के मदिर–देवालयो को बुरी तरह लूटा और वहाँ निवास करने वाले भजनानदी महात्माओ का कत्ले–आम किया था। ऐसा उल्लेख मिलता है, ब्रज के वैष्णव अखाडो के नागा साधुओ ने गोकुल के निकट अब्दाली के सैनिको का कडा प्रतिरोध किया था। उसमे अब्दाली के सैनिक और नागा साधु दोनो ही वडी सख्या मे हताहत हुए थे[3]। वृ दावन के कत्ले–आम मे निंबार्क सप्रदाय के जिन भक्त जनो का सहार हुआ, उनमे सुप्रसिद्ध भक्त–कवि घनानद जी भी थे। उससे ब्रज की निंबार्कीय भक्त–मडली मे हा–हाकार मच गया। इस प्रकार अब्दाली के आक्रमण के फलस्वरूप उस काल मे इस सप्रदाय को फिर दुर्दिन देखने पडे थे।

---

(१) निंबार्क सप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ ६२

(२) 'सर्वेश्वर' का वृ दावनांक, पृष्ठ २२४

(३) इस ग्रथ का 'ब्रज का इतिहास' नामक द्वितीय खड, पृष्ठ ५१५ देखिये।

श्री गोविंदशरण जी—वे श्री गोविंददेव जी के शिष्य थे और उनके पश्चात् 'परशुराम द्वारा' की गद्दी के आचार्य हुए थे। उनका आचार्यत्व-काल स. १८१४ से स १८४१ तक माना गया है[1]। आचार्य गद्दी पर बैठने से पहिले वे भरतपुर और जयपुर मे रहे थे और वहाँ के राजाओ को उन्होने भक्ति-भाव की ओर प्रेरित किया था। जयपुर मे उन्होने निंवार्कीय गद्दी की स्थापना की थी, और मदिर बनवाया था। वह देव-स्थान 'श्री जी की मोरी' के नाम से प्रसिद्ध है। सलीमाबाद के परशुराम द्वारा मे उन्होने स १८२३ मे ठाकुर श्री राधामाधव जी की प्रतिष्ठा की थी। इस प्रकार उन्होने निंवार्क सप्रदाय की पर्याप्त उन्नति की थी। वे एक प्रभावशाली धर्माचार्य और गभीर विद्वान होने के साथ ही साथ सुकवि भी थे। उनकी बहुसख्यक सरस वाणी का सकलन परशुराम द्वारा मे सुरक्षित है। अभी कुछ समय पहिले उनका एक ग्र थ 'श्री हरि गुरु सुयश भाष्कर' उपलब्ध हुआ है।

श्री सर्वेश्वरशरण जी—उनका जन्म जयपुर राज्य के सराय सूरपुरा नामक गाँव के ब्राह्मण कुल मे हुआ था। उनका पूर्व नाम शालिग्राम था। उन्होने श्री गोविंदशरण जी से निंवार्क सप्रदाय की दीक्षा ली थी, तभी उनका नाम सर्वेश्वरशरण प्रसिद्ध हुआ था। वे गोविंदशरण जी के उपरात परशुराम द्वारा की गद्दी के आचार्य हुए थे। उनका आचार्यत्व-काल स. १८४१ से स १८६६ तक का है। 'जयसाह सुजस प्रकास' के रचयिता मडन कवि उनके समकालीन थे, और सुप्रसिद्ध कवि रसिकगोविंद उनके शिष्य थे। उन दोनो ने श्री सर्वेश्वरशरण जी का बडा गुण-गान किया है। मडन कवि के उल्लेख से ज्ञात होता है कि वे श्रीमद् भागवत के मर्मज्ञ थे और उन्होने उसके गूढार्थ को स्पष्ट करने वाले किसी टिप्पणी-ग्र थ की रचना की थी[2]।

उनके आचार्यत्व-काल मे जयपुर के राज-सिंहासन पर महाराज प्रतापसिंह आसीन थे। उनकी सर्वेश्वरशरण जी के प्रति बडी श्रद्धा थी। राजा के आग्रह से वे प्राय जयपुर के निंवार्कीय स्थान मे ही रहा करते थे। उन्ही की प्रेरणा से उस काल मे वहाँ वैष्णव धर्म के चतु. सप्रदायो को राजकीय मान्यता प्राप्त हुई थी। उन्होने साधु-सतो के सन्मानार्थ अनेक धार्मिक समारोह किये थे। उनका निवास अधिकतर सलीमाबाद और जयपुर रहा था, किंतु उनका मन वृ दावन मे रमा करता था। अपने अतिम काल मे वे वृ दावन-वास करना चाहते थे। उसी निमित्त उन्होने सं १८६६ की ज्येष्ठ कृ ६ को जयपुर से वृ दावन की ओर प्रस्थान किया। जब वे वहाँ जा रहे थे, तब मार्ग मे उनका देहावसान हो गया। उनकी छत्री प्रतापगढ के समीप बनी हुई है, जहाँ उनके चरण-चिह्न भी है। उनका पाटोत्सव पौष कृ. ६ को मनाया जाता है।

श्री सर्वेश्वरशरण जी के बहुसख्यक शिष्यो मे रसिकगोविंद जी ब्रजभाषा साहित्य के एक प्रसिद्ध कवि हुए है। उनका सक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

रसिकगोविंद जी—वे जयपुर निवासी नाटाणी गोत्रीय खडेलवाल वैश्य शालिग्राम जी के पुत्र और श्री सर्वेश्वरशरण जी के शिष्य थे। वे ब्रजभाषा के विख्यात कवि थे। उनका काव्य-काल स. १८५० से १८६० तक माना गया है। आचार्य रामचद्र शुक्ल ने उनके ९ ग्रंथो का नामोल्लेख किया है, किंतु उनके और भी कई ग्र थ हैं, जो विविध ग्रथ-भंडारो मे सुरक्षित हैं। उनकी रचनाएँ

---

(१) 'सर्वेश्वर' का वृंदावनांक, पृष्ठ २२४

(२) 'मंडन' सर्वेश्वरशरण, विधि यों कियो समर्थ।
कठिन-कठिन थल खोलिकैं, लिख्यो भागवत अर्थ ॥ ('सर्वेश्वर' वृ दावनांक, पृष्ट २२५)

भक्ति-काव्य की अपेक्षा रीति-काव्य की अधिक है। शुक्ल जी ने उन्हे रीति काल का प्रसिद्ध कवि एव आचार्य माना है और उनके ग्र थ 'रसिक गोविंदानदघन' की बडी प्रशसा की है[1]। कृष्ण-काव्य से सबधित उनके दो छोटे ग्रथ उल्लेखनीय है, जिनके नाम 'समय प्रबध' और 'युगल रस माधुरी' हैं। इनमे 'युगल रस माधुरी' अत्यत सरस रचना है। यह रोला छद मे है, और उसमे वृ दावन के भव्य रूप तथा राधा-कृष्ण के दिव्य विहार का रसपूर्ण कथन किया गया है।

श्री निंबार्कशरण जी—उनका नाम नदकुमार था और वे श्री सर्वेश्वरशरण जी के शिष्य थे। अपने गुरुदेव के उपरात वे निंबार्कशरण देव के नाम से 'परशुराम द्वारा' की गद्दी के आचार्य हुए थे। उनका आचार्यत्व-काल स १८७० से स. १८९२ तक है। वे परम भक्त, विख्यात विद्वान और भागवत के प्रभावशाली वक्ता होने के साथ ही साथ स्वदेशाभिमानी वीर पुरुष भी थे। श्री गोविंदशरण जी के समय से ही भरतपुर के जाट राजाओ की निंबार्क सप्रदाय के प्रति श्रद्धा रही है। श्री निंबार्कशरण जी के काल मे जब अगरेजो ने भरतपुर पर आक्रमण किया, तब वे वैष्णव नागाओ की एक वडी जमात के साथ राजा की सहायता के लिए गये थे। उनके नेतृत्व मे वीर वैष्णवो ने अगरेजो से डट कर लोहा लिया था। बाद मे अगरेज शासको ने निंबार्कशरण जी से बदला लेने के हेतु उन्हे गिरफ्तार कर आगरा के किले मे बदी किया था, किंतु कुछ प्रभावशाली हिंदू राजाओ के हस्तक्षेप करने से उन्हे बधन मुक्त कर दिया गया[2]। किसी अन्य वैष्णव धर्माचार्य के जीवन-वृत्त मे उस प्रकार की वीरोचित घटना का उल्लेख नही मिलता है।

श्री निंबार्कशरण जी ने जयपुर के राजघराने को भी बडा प्रभावित किया था। तत्कालीन जयपुर-नरेश जगतसिंह की भाटियानी रानी की उनके प्रति बडी श्रद्धा थी। उक्त रानी ने आमेर के मार्ग मे एक विशाल मदिर बनवा कर उसे स. १८७८ में निंबार्कशरण जी की भेंट किया था। उसके अतिरिक्त उसने स १८८३ मे वृ दावन मे भी एक देवस्थान बनवाया था, जो 'श्री जी की बडी कुज' के नाम से प्रसिद्ध है। निंबार्कशरण जी का देहावसान स १८९२ की कार्तिक कृ. ५ को जयपुर मे हुआ था[3]।

श्री निंबार्कशरण जी के उपरात उनके शिष्य श्री ब्रजराजशरण जी 'परशुराम द्वारा' की गद्दी के आचार्य हुए थे, किंतु उनका कुछ ही समय पश्चात् देहावसान हो गया था। उस समय स्व० श्री निंबार्कशरण जी के कृपा-पात्र श्री शुकसुधी नामक एक विद्वान महानुभाव को आचार्य बनाने की चेष्टा की गई थी, किंतु उन्होने स्वीकार नही किया। उस काल मे आचार्य गद्दी के लिए निंबार्क सप्रदायी भक्तो मे मतभेद होकर गृह-कलह की सी स्थिति उत्पन्न हो गई थी। उस अशात वातावरण मे श्री गोपीश्वरशरण जी को स १९०१ मे आचार्य गद्दी पर आसीन किया गया। उसके कुछ समय पश्चात् वह गृह–कलह शात हुआ था।

---

(१) हिंदी साहित्य का इतिहास (११वाँ सस्करण), पृष्ठ २९४–२९५

(२) निंबार्क सप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ ६५, ११४

(३) वही ,, ,, ,, , पृष्ठ ६६–६७

४. राधावल्लभ संप्रदाय

नामकरण और विशेषता—ब्रज की समृद्ध धार्मिक परंपरा मे इस भक्तिमार्गीय विशिष्ट मत का प्रचलन सुविख्यात रसिकाचार्य श्री हित हरिवश जी ने किया था। ब्रज के लीला-धाम श्री वृ दाबन की नित्य निकुजो मे सतत प्रेम-क्रीडारत श्रीराधा-कृष्ण के युगल स्वरूप को हित हरिवश जी ने 'राधावल्लभ' नाम से अभिहित किया है। इसी नाम पर श्री हरिवश जी का यह भक्ति-मार्गीय 'मत' अथवा उपासना 'मार्ग' धार्मिक जगत् मे 'राधावल्लभ सप्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है।

'हित' शब्द की व्यंजना—इस 'मत', 'मार्ग' किंवा 'सप्रदाय' मे श्रीराधा-कृष्ण के 'नित्य विहार' की मान्यता है, जो दिव्य युगल की चिरतन प्रेम-लीला का प्रतीक है। इस प्रकार राधा-वल्लभ सप्रदाय के भक्ति-सिद्धात का मूलाधार प्रेम-तत्व है, जिसे श्री हरिवश जी ने 'हित' शब्द से अभिव्यजित किया है। इस सप्रदाय मे 'हित' एक ऐसा पारिभाषिक शब्द है, जो साधारणतया 'प्रेम' का समानार्थी है, किंतु विशेषतया यह अत्यत व्यापक अर्थ का द्योतक है। इसकी अनत परिधि मे श्रीराधा-कृष्ण का दिव्य प्रेम 'हित' है, इस प्रेम की रसमयी क्रीडा नित्य विहार 'हित' है, इसके आधार प्रिया-प्रियतम 'हित' है, प्रिया जी की सखी-सहचरी 'हित' है, और उनका लीला-धाम वृ दाबन भी 'हित' है। इस बहुविध प्रेम-तत्त्व के मूर्त्त रूप श्री हरिवश जी माने गये है, अत उनके नाम के साथ भी 'हित' शब्द लगाने की साप्रदायिक प्रथा प्रचलित हुई है। श्री हरिवश जी के पश्चात् उनके वशज गोस्वामियो के नामो के साथ भी 'हित' शब्द लगाया जाने लगा। इस प्रकार इस सप्रदाय मे 'हित' शब्द की बडी महिमा है, और साथ ही इसकी विपुल व्यजना भी है।

श्रीराधा जी की प्रधानता—राधावल्लभ सप्रदाय के उपास्य तत्व 'निकुज विहार' मे यद्यपि श्रीकृष्ण और श्रीराधा का समान योग माना गया है, तथापि उनके प्रेम रस की निष्पत्ति के लिए रसेश्वरी श्रीराधा जी को प्रमुखता दी गई है। श्री निंबार्काचार्य जी ने भक्ति के क्षेत्र मे जिस 'राधा-कृष्णोपासना' को प्रचलित किया था, उसी का यह अत्यत विकसित और माधुर्य मडित स्वरूप है। इसे हरिवश जी ने श्रीराधा जी की प्रधानता की मान्यता के साथ प्रचलित किया था। नाभा जी ने इसके लिए हित जी की प्रशसा करते हुए कहा है,—

'श्रीराधा-चरन प्रधान, हृदै अति सुदृढ उपासी। कुज-केलि दपती, तहाँ की करत खवासी ॥'

श्रीराधा जी की प्रधानता विषयक हित हरिवश जी का उक्त दृष्टिकोण उनके द्वारा प्रचलित राधावल्लभ सप्रदाय को सर्वश्री वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु और निंबार्काचार्य जी के सप्रदायो से, जिनमे भी श्रीराधा जी का थोडा या बहुत महत्व स्वीकृत है, विशिष्टता प्रदान करता है। हित जी ने उक्त तीनो सप्रदायो की भाँति दार्शनिक सिद्धात, साध्य-साधन तत्त्व और भक्तिमार्गीय विधि-निषेध की उपेक्षा कर निकुज-विहार की रसोपासना को ही अपनी साधना का मूलमत्र स्वीकार किया था। ब्रज की राधा-कृष्णोपासना को उनकी वह नई देन थी।

सांप्रदायिक अस्तित्व—हित हरिवश जी की उस नई देन के कारण उनके द्वारा प्रचलित भक्ति और उपासना के मार्ग को एक विशिष्ट सप्रदाय का महत्व दिया गया है। हित हरिवश जी के सखा और सहयोगी स्वामी हरिदास जी थे। उन्होने राधावल्लभ सप्रदाय के सदृश प्रेम-भक्ति का एक दूसरा मत प्रचलित किया था, जिसमे सखी भाव की उपासना को प्रमुखता दी गई थी। उनका मत भी विशिष्ट सप्रदाय माना गया। इस प्रकार उन दोनो सहयोगी महात्माओ द्वारा प्रचलित मतो

को उनकी विशिष्ट मान्यताओं के कारण किसी पूर्ववर्ती सप्रदाय के अतर्गत न रख कर उन्हें स्वतत्र संप्रदाय ही माना गया है। इन दोनो मे भी क्या अंतर है, इसे श्री हित हरिवश जी और स्वामी हरिदास जी के जीवन-वृत्त और उनकी उपासना-पद्धति के पर्यालोचन से भली भाँति समझा जा सकता है। हम पहिले हित हरिवश जी का जीवन-वृत्तात और राधावल्लभ सप्रदाय का विवरण प्रस्तुत करते हैं। उसके पश्चात् स्वामी हरिदास जी और उनके सप्रदाय के सबध मे लिखेंगे।

श्री हित हरिवश जी (स १५५९ – स. १६०९)—

जीवन–वृत्तात—ब्रज के कितने ही धर्माचार्य, सत–महात्मा और कवि–गायकों की भाँति श्री हित हरिवश जी का जीवन–वृत्तात अज्ञात अथवा अस्पष्ट नही है। उनके समकालीन श्री हरिराम व्यास से लेकर आधुनिक काल तक के अनेक भक्त-कवियो की रचनाओ मे उनका गुण-गान तथा उनकी जीवन–घटनाओ का उल्लेख मिलता है। जिन रचनाओ मे उनके जीवन-वृत्तात के अधिक सूत्र मिलते है, उनमे नाभा जी कृत 'भक्तमाल', भगवतमुदित जी कृत 'रसिक अनन्य माल', उत्तम-दास जी कृत 'श्री हरिवश चरित्र', जयकृष्ण जी कृत 'हित कुल शाखा' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन रचनाओ के अतिरिक्त ध्रुवदास जी कृत 'भक्त–नामावली', रूपलाल गोस्वामी कृत 'हित चरित्र' चाचा वृदावनदास कृत 'रसिक अनन्य परचावली', चद्रलाल गोस्वामी कृत 'वृदावन प्रकाश माला' और गोविंदअली कृत 'रसिक अनन्य गाथा' मे हित हरिवश जी के साथ ही साथ उनकी परपरा के अन्य भक्तो की जीवनी का भी कथन किया गया है।

प्रमुख आधार-ग्रथ—'रसिक अनन्यमाल' (स १७०५ के लगभग) के रचयिता भगवतमुदितजी चैतन्य सप्रदाय के अनुयायी थे, किंतु उन्होने राधावल्लभीय भक्तो का सर्वप्रथम जीवन–वृत्तात लिखा था। इस रचना मे श्री हरिवश जी का वृत्तात न होकर उनके शिष्यो का है, किंतु उनके साथ हरिवश जी की कतिपय जीवन–घटनाओ का भी उल्लेख हो गया है। उत्तमदास कृत 'श्री हरिवश चरित्र' (रचना–काल स १७४५ के लगभग) हित जी का सर्वप्रथम जीवन–वृत्तात है, जो उनके देहावसान के प्राय १३५ वर्ष पश्चात् लिखा गया था। उत्तमदास जी राधावल्लभ सप्रदाय के अनुयायी थे। उन्होने गो कुजलाल जी (जन्म स. १६९६) से मत्र–दीक्षा ली थी। उनके ग्रथ मे श्री हरिवश जी की जीवनी के साथ ही साथ उनके प्रमुख शिष्यो का भी कुछ वृत्तात लिखा गया है। इस प्रकार यह 'रसिक अनन्य माल' का पूरक ग्रथ माना गया, और इसे उक्त रचना के साथ ही लिखा जाने लगा। इससे हिंदी के कतिपय विद्वानो को यह भ्रम हो गया कि इस ग्र थ के रचयिता भी भगवतमुदित ही है। इस ग्र थ मे सर्वप्रथम हित जी के जन्म-काल स १५५९ और उनके द्वारा श्री राधावल्लभ जी की सेवा-स्थापना का काल स १५९१ का उल्लेख किया गया है। किंतु इसमे यह नही लिखा गया कि हरिवश जी कितने समय तक वृदावन मे रहे और उनका देहावसान किस सवत् मे हुआ था। जयकृष्ण जी कृत 'हित कुल शाखा' छोटा ग्रथ है, और यह उत्तमदास जी के ग्रथ का पूरक है। इसमे हित जी के चरित्र का वह अश भी है, जो उत्तमदास जी के ग्र थ मे नही है। इसी मे सर्वप्रथम हित जी के वृदावन-निवास का समय १८ वर्ष और उनका देहावसान-काल स. १६०९ लिखा गया है। हित जी के आरभिक तीनो पुत्रो के जन्म-सवत् और वशजो के वृत्तात भी सर्वप्रथम इसी मे लिखे गये हैं। इस ग्रथ की पूर्ति स १७६० की कार्तिक शु १३ को मथुरा मे हुई थी[1]।

---

(१) श्री हित हरिवश गोस्वामी : सप्रदाय और साहित्य के आधार पर।

इस प्रकार श्री हित हरिवश जी, उनके वशज और शिष्य समुदाय के जीवन-वृत्तात की जानकारी के लिए 'रसिक अनन्य माल', 'श्री हरिवश चरित्र' और 'हित कुल शाखा' ये तीनो क्रमशः एक दूसरे के पूरक ग्रथ हैं। इनके आधार पर ही श्री हित जी का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

कुल-परिवार और माता-पिता—श्री हरिवश जी का जन्म देववन (देववद, जिला सहारनपुर) के एक प्रतिष्ठित गौड ब्राह्मण कुल मे हुआ था। उनके ताऊजी केशवदास मिश्र एक चमत्कारी महात्मा थे। बाद मे वे सन्यासी होकर श्री नृसिंहाश्रम के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। ऐसा कहा जाता है, उनके आशीर्वाद से ही हरिवश जी का जन्म हुआ था। उनके पिता व्यास जी विख्यात राज-ज्योतिषी थे और उनकी माता तारा जी एक धार्मिक महिला थी। 'व्यास' उनके पिता का नाम था या उपनाम, यह निश्चय पूर्वक ज्ञात नही होता है। कई विद्वानो ने इसे उपनाम मान कर श्री हरिवश जी के पिता का नाम केशव मिश्र या राम मिश्र लिखा है, किंतु इन नामो का कोई प्रामाणिक आधार नही है। कुछ लेखको ने भ्रम से हरिराम जी व्यास को ही हित जी का पिता लिख दिया है, क्यो कि 'व्यास' नाम से उन्ही की सर्वाधिक प्रसिद्धि रही है। प्राचीन उल्लेखो मे हित जी के पिता को 'व्यास' और उन्हे 'व्यास-नदन' या 'व्यास-सुवन' ही लिखा मिलता है। इससे अनुमान होता है, श्री हरिवश जी के पिता का नाम ही व्यास जी था, वह उपनाम नही था। उनकी अल्ल मिश्र थी। श्री व्यास मिश्र कश्यप गोत्र के यजुर्वेदी गौड ब्राह्मण और देववन के निवासी थे। वे बडे प्रतिभाशाली विद्वान थे, राज-दरबारो मे उन्हे यथेष्ट सन्मान प्राप्त हुआ था।

हित हरिवश जी की विस्तृत जीवनी के प्रथम रचयिता उत्तमदास ने उनके पिता व्यास मिश्र को 'पृथ्वीपति' का ज्योतिषी और मनसबदार बतलाते हुए लिखा है कि वह सदैव उन्हे अपने साथ रखता था। व्यास जी के आश्रयदाता उक्त 'पृथ्वीपति' का नामोल्लेख नही मिलता है, किंतु समकालीन घटनाओ की सगति से वह सिकदर लोदी ज्ञात होता है। इतिहास मे सिकदर लोदी को बेहद तास्सुबी और हिंदू विरोधी सुलतान लिखा गया है। उसने अपने मजहबी उन्माद से ब्रज मे जो भीषण अत्याचार किये थे, उनका उल्लेख गत पृष्ठो मे किया जा चुका है। ऐसे धर्मांध शासक का व्यास मिश्र को सन्मानित कर उन्हे अपने साथ रखना आश्चर्यजनक कहा जावेगा। ऐसा जान पडता है, सिकदर लोदी उनके ज्योतिष सबधी ज्ञान से अत्यंत प्रभावित हुआ था और उनकी विद्या से लाभान्वित होने के लिए वह उन्हे आदर पूर्वक सदा अपने साथ रखता था।

जन्म-स्थान—एक बार सुलतान ब्रज के राजकीय दौरे पर गया था। उसके साथ सदा की भाँति व्यास मिश्र भी थे। उस बार ब्रज-यात्रा के उद्देश्य से मिश्र जी अपनी पत्नी तारा जी को भी अपने सग ले गये थे। उस समय तारा जी गर्भवती थी, फिर भी ब्रज-यात्रा का लाभ प्राप्त करने के लिए वे सहर्ष अपने पतिदेव के साथ गई थी। जिस समय शाही पडाव मथुरा से कुछ दूर आगरा मार्ग स्थित 'बाद' नामक गाँव मे पड़ा हुआ था, उस समय तारा जी को अकस्मात प्रसव-पीडा होने लगी। शाही पडाव तो आगे बढ गया, किंतु मिश्र जी को अपनी पत्नी की तत्कालीन स्थिति के कारण 'बाद' गाँव मे ही रुक जाना पडा। उसी स्थान पर श्री हरिवश जी का जन्म हुआ था। कुछ लेखको ने भ्रमवश उनका जन्म-स्थान देववन लिख दिया है, किंतु प्राचीन उल्लेखो में 'बाद' ही मिलता है। उसी स्थान पर प्रति वर्ष उनका जन्मोत्सव भी मनाया जाता है। राधावल्लभ सप्रदाय की सर्वमान्य 'सेवक-वाणी' मे श्री हरिवंश जी का जन्म-स्थान 'बाद' ही लिखा गया है,—

'मथुरामडल भूमि आपनी। जहाँ 'बाद' प्रगटे जग-धनी ॥'

जन्म-काल—श्री हरिवश जी का जन्म स. १५५९ की वैशाख शुक्ला ११ सोमवार को अरुणोदय काल मे हुआ था। इसका उल्लेख 'श्री हरिवश चरित्र' और 'हित कुल शाखा' के अतिरिक्त राधावल्लभ सप्रदाय की प्राचीन वाणियो मे भी मिलता है। इधर कुछ लोगो ने भ्रमवश अथवा किसी विशेष कारण से हित जी का जन्म-सवत् १५३० मानना आरभ किया था, जिससे इस सबध मे विवाद चल पडा था[1]। अनेक विद्वानो ने दोनो सवतो की प्रामाणिकता की जाँच कर स १५५९ के पक्ष मे ही अपना निर्णय दिया है। राधावल्लभ सप्रदाय पर अनुसधान करने वाले डा० विजयेन्द्र स्नातक और इस सप्रदाय के प्रतिष्ठित विद्वान श्री ललिताचरण गोस्वामी भी इसी तिथि–सवत् को मानते है[2]। इस प्रकार श्री हरिवश जी के जन्म-काल की निश्चित तिथि स १५५९ की वैशाख शु ११ सोमवार ही है।

आरभिक जीवन—श्री हरिवश जी का जन्म तो ब्रज के 'बाद' नामक ग्राम मे हुआ; किंतु उनका शैशव–बाल्य काल और आरभिक जीवन देववन मे बीता था। उसी स्थान पर उनका यज्ञोपवीत हुआ, और वही पर उनकी शिक्षा–दीक्षा हुई थी। राधावल्लभ सप्रदाय की मान्यता है, स्वय श्रीराधा जी ने स्वप्न मे हरिवश जी को मत्र-दीक्षा दी थी। इसीलिए इस सप्रदाय की गुरु-परपरा मे श्री हरिवश जी से पूर्व श्रीराधा जी को ही आदि गुरु माना गया है। उन्होंने ब्रजभाषा और सस्कृत का गहन अध्ययन किया था और इन दोनो भाषाओ मे काव्य–रचना करने मे वे सफल हुए थे। उनकी सस्कृत रचना 'श्रीराधा–सुधानिधि' का अधिकाश भाग देववन मे ही रचा गया था। उनका प्रथम विवाह भी देववन मे रुक्मिणी जी से हुआ था, जिनसे उन्हें तीन पुत्र वनचद्र जी (जन्म स १५८५), कृष्णचद्र जी (जन्म स १५८७), गोपीनाथ जी (जन्म स. १५८८) हुए, और एक पुत्री साहिबदे हुई थी।

श्री हरिवश जी का आकर्षण आरभ से ही भक्ति मार्ग की ओर हो गया था। उन्होने देववन मे ठाकुर श्री रगीलाल जी की मूर्ति प्रतिष्ठित कर उनकी सेवा प्रचलित की थी। वे गृहस्थ होते हुए भी पारिवारिक जीवन के प्रति उदासीन से थे। अपनी ३२ वर्ष की आयु तक वे अपने गार्हस्थित कर्त्तव्यो का पालन करते रहे। उसके उपरात उन्होने अपने उपास्य के लीला-धाम मे अपना शेष जीवन विताने का निश्चय किया। फलत वे घर–बार और कुटुब-परिवार सबको छोड कर ब्रज-वास करने के लिए देववन से चल दिये।

श्री राधावल्लभ जी की प्राप्ति और वृदावन-आगमन—जब हरिवश जी ब्रज की ओर जा रहे थे, तब मार्ग मे 'चिडथावल' नामक ग्राम मे उन्हे रुकना पडा था। वहाँ आतमदेव नामक एक ब्राह्मण से उनकी भेट हुई। उस ब्राह्मण की कृष्णदासी तथा मनोहरीदासी नामक दो नवयुवती कन्याएँ थी, और उसके पास श्री राधावल्लभ जी का सुदर देव-विग्रह था। ऐसा कहा जाता है, श्रीराधा जी ने स्वप्न मे उस ब्राह्मण को अपनी दोनो कन्याओ सहित श्री राधावल्लभ जी के देव-विग्रह को हरिवश जी के अर्पित करने, और हरिवश जी को उन्हे सहर्ष स्वीकार करने का आदेश दिया था। यद्यपि वे स्वेच्छापूर्वक अपने गृहस्थ जीवन से विरक्त हो कर आये थे, तथापि भगवत्-इच्छा वश उन्हे उन दोनो कन्याओ के साथ विवाह करना पडा।

---

(१) श्री गोपालप्रसाद शर्मा कृत 'भ्रमोच्छेदन' पुस्तिका, पृष्ठ ८–९

(२) १ राधावल्लभ सप्रदाय : सिद्धात और साहित्य, पृष्ठ ९२–९६
 २ श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ ३०

कुछ समय तक चिडथावल मे रुकने के उपरात वे वहाँ से चल कर ब्रज मे आ गये। उनके साथ श्री राधावल्लभ जी का देव-विग्रह था और नवविवाहिता पत्नियाँ थी। ब्रज मे पहुँच कर उन्होने श्रीराधा-कृष्ण के लीला-धाम वृदावन मे स्थायी रूप से निवास करने का निश्चय किया। फलत वहाँ के यमुना तटवर्ती 'मदनटेर' नामक एक ऊँचे स्थल पर उन्होने अपना डेरा डाला। उनके वृंदावन-आगमन की तिथि स. १५६० की फाल्गुनी एकादशी मानी जाती है।

वृंदाबन की तत्कालीन स्थिति और उसके गौरव का सूत्रपात—जिस काल मे श्री हरिवश जी वृदावन आये थे, उस समय ब्रज का यह पुरातन धार्मिक स्थल सघन वृक्षावली से आच्छादित था। वहाँ पर बस्ती प्राय नही थी। उसके अधिकाश भाग मे हिंसक जीवो और चोर-डाकुओ का भय था। वहाँ तस्करी वृत्ति के एक जिमीदार नरवाहन ने भी अपनी लूट-मार से बडा आतक पैदा कर दिया था। उस काल मे वृदावन सहित समस्त ब्रजमडल की जैसी अराजकतापूर्ण राजनैतिक, शोचनीय सामाजिक एव अस्थिरतायुक्त धार्मिक स्थिति थी, उसका उल्लेख गत पृष्ठो मे किया जा चुका है। फिर भी विभिन्न स्थानो के उत्साही भक्त जन ब्रज मे आ कर यहाँ के विविध लीला-स्थलो मे निवास करते थे, और सब प्रकार की असुविधाओ को सहन करते हुए भी वे अपनी भक्ति-भावना और साहित्य-सर्जना द्वारा ब्रज की गौरव-वृद्धि कर रहे थे। श्री हरिवश जी ने भी आगत भक्तो की उस चिरकालीन परपरा मे योग दिया था, किंतु उनकी यह विशेषता थी कि वे ब्रज के अन्य स्थानो की अपेक्षा वृदाबन मे जा कर रहे थे। डा० विजयेन्द्र स्नातक ने श्री हरिवश जी की जन्मकालीन परिस्थितियो का आकलन करते हुए लिखा है,—'राजनैतिक सघर्ष, सामाजिक अपकर्ष, धार्मिक विमर्श और साहित्यिक उत्कर्ष के सक्राति काल मे श्री हरिवश जी का जन्म हुआ था[1]।' उनका यह निष्कर्ष श्री हरिवश जी के वृदावन-आगमन काल की परिस्थिति के लिए भी न्यूनाधिक रूप मे ठीक कहा जा सकता है।

जैसा पहिले लिखा गया है, उस काल तक पुष्टिमार्गीय कई वरिष्ट भक्तो के अतिरिक्त गौड़ीय गोस्वामी सर्वश्री सनातन-रूप भी ब्रज मे आ गये थे। किंतु उनका निवास वृदावन की अपेक्षा मथुरा, गोवर्धन, गोकुल आदि अन्य लीला-स्थलो मे रहा था। गौड़ीय गोस्वामी गण सर्वस्व त्यागी विरक्त भक्त थे और उनके पास तब तक कोई देव-विग्रह भी नही था। हरिदासी संप्रदाय के एक वर्ग की मान्यता है कि उस समय तक स्वामी हरिदास जी भी वृदावन आ गये थे और उन्होंने निधुवन मे श्री विहारी जी की सेवा प्रचलित कर दी थी। हमारे मतानुसार यह मान्यता प्रामाणिक ज्ञात नही होती है, जैसा कि हम आगे लिखेंगे। किंतु यदि स्वामी हरिदास जी का तब तक वृंदावन-आगमन मान भी लिया जावे, तब भी यह निश्चित है कि वे निधुवन के निर्जन स्थल मे प्राय. अज्ञात रूप से अपनी एकाकी साधना मे लीन थे। इस प्रकार वृदावन के कतिपय एकात स्थलो मे चाहे कुछ सत-महात्मा विरक्तावस्था मे भजन-ध्यान करते रहे हो, किंतु घर-गृहस्थी और ठाकुर-सेवा के साथ वहाँ स्थायी रूप से निवास करने वाले श्री हरिवश जी ही पहिले महानुभाव थे। इससे समझा जा सकता है कि वृदावन के प्राचीन गौरव और उसके धार्मिक महत्व की पुनर्स्थापना का सूत्रपात श्री हरिवश जी के आगमन-काल से ही हुआ था।

---

(१) राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य (प्रथम संस्करण), पृष्ठ ८६

वृंदावन-निवास और भक्ति-प्रचार—श्री हरिवंश जी ने वृंदावन पहुँचते ही श्री राधावल्लभ जी की सेवा के साथ ही साथ अपनी भक्ति-भावना के प्रसारण का भी समारंभ कर दिया था। वे सरस पदो की रचना और उनके मधुर गायन द्वारा अपनी विशिष्ट भक्ति-पद्धति का प्रचार करते थे। उस काल मे भक्ति मार्ग मे पदार्पण करने वाले अपने गार्हस्थिक जीवन से प्राय विरक्त हो जाते थे। किंतु हरिवंश जी ने लोगो को बतलाया कि अपने इष्ट देव की उपासना-भक्ति के लिए गृहस्थी को छोडना आवश्यक नही है। वे स्वयं गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भक्ति-साधना करते थे और दूसरो को भी इसका उपदेश देते थे। उनके मोहक व्यक्तित्व, विशिष्ट भक्ति-सिद्धांत, सरस पद-गायन और श्री विहारी जी की आकर्षक सेवा से ब्रजवासी गण बडे प्रभावित हुए। अनेक व्यक्ति उनके सत्सग और उपदेश से लाभान्वित होकर उनसे भक्ति मार्ग की दीक्षा लेने लगे।

श्री हरिवंश जी के आरंभिक शिष्यो मे नरवाहन का नाम अधिक प्रसिद्ध है। वह वृंदावन के निकटवर्ती यमुना पार के भैंगांव नामक स्थान का एक प्रभावशाली जिमींदार था। वह उस भू-भाग मे आने वाले यात्रियो और व्यापारियो से कठोरता पूर्वक कर वसूल करता था। यदि कोई आपत्ति करता तो उनके साथ लूट-मार करने मे भी उसे संकोच नही होता था। भगवतमुदित जी ने उसकी 'परचई' मे बतलाया है कि उसकी दस्यु वृत्ति का इतना आतंक छाया हुआ था कि वहाँ के शासक भी उसका विरोध करने मे भय मानते थे। वह इतना निर्भीक हो गया था कि दूर-दूर तक धावा मारता था और उसके लिए वह शाही अनुशासन की भी अवज्ञा करता था[1]।

जब नरवाहन ने श्री हरिवंश जी के आगमन और उनकी अद्भुत महिमा एवं अपूर्व लोकप्रियता का समाचार सुना, तो उसे बडा कौतूहल हुआ। वह एक दिन बडी उत्सुकता पूर्वक उनसे मिलने को चल दिया। जिस समय वह उनके डेरा पर पहुँचा, उस समय वे कतिपय श्रद्धालुओ को अपने भक्ति-मार्ग का मर्म समझा रहे थे। नरवाहन उनके दर्शन और उपदेश से इतना प्रभावित हुआ कि अपनी कठोर प्रकृत्ति और दस्यु वृत्ति को छोड कर उनका शरणागत हो गया! वह उनके सत्सग और उपदेश से परम भक्त बन कर उनकी भक्ति और उपासना के प्रचार में बडा सहायक सिद्ध हुआ था। श्री हरिवंश जी भी उससे इतने प्रसन्न थे कि उन्होंने अपनी भक्त-मडली मे उसे अग्रिम स्थान दिया था और उसके नाम से दो अत्यत सरस पदो की रचना की थी। वे पद उनकी प्रसिद्ध रचना 'हित चौरासी' मे सकलित है[2]। नरवाहन के शरणागत होने से वृंदावन का एक बडा सकट दूर हो गया। उससे श्री हरिवंश जी के प्रभाव मे भी बडी वृद्धि हुई। अनेक व्यक्ति उनके सत्सग का लाभ उठाने के लिए वृंदावन मे निवास करने लगे और धीरे-धीरे वहाँ बस्ती बसने लगी।

नरवाहन के अतिरिक्त नवलदास और पूरनदास भी हित हरिवंश जी के आरंभिक शिष्यो मे से थे। उन दोनो भक्त जनो ने हित जी की भक्ति-भावना और रसोपासना के व्यापक प्रचार मे बडी महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की थी। वे हित जी के रसपूर्ण पदो का गायन करते हुए उनके भक्ति मार्ग का प्रसार करते थे। नवलदास ने बुंदेलखंड मे प्रचार किया था। उसी के कारण श्री हरिराम व्यास हित जी के प्रति आकर्षित होकर वृंदावन आये थे। नवलदास की मडली के कतिपय भक्तजन ही कदाचित गोंडवाना गये थे। उनसे प्रभावित होकर वहाँ के चतुर्भुजदास और दामोदरदास नामक श्रद्धालु भक्त जन राधावल्लभ सप्रदाय के अत्यत निष्ठावान सेवक बने थे। बाद मे दामोदरदास

(१) रसिक अनन्य माल मे 'श्री नरवाहन जी की परचई'

(२) हित चौरासी, पद सख्या ११ और १२
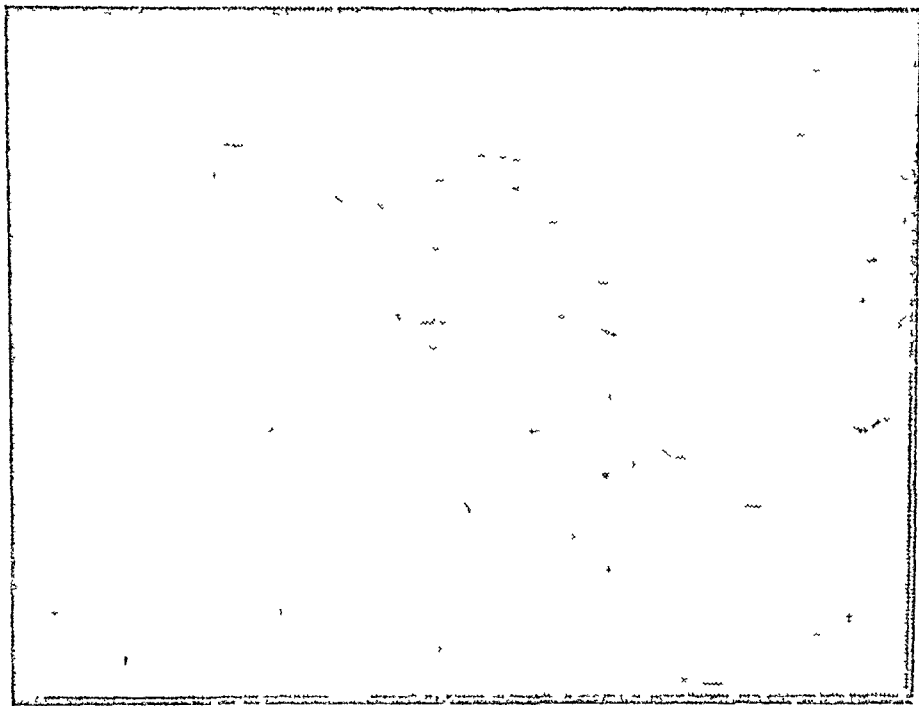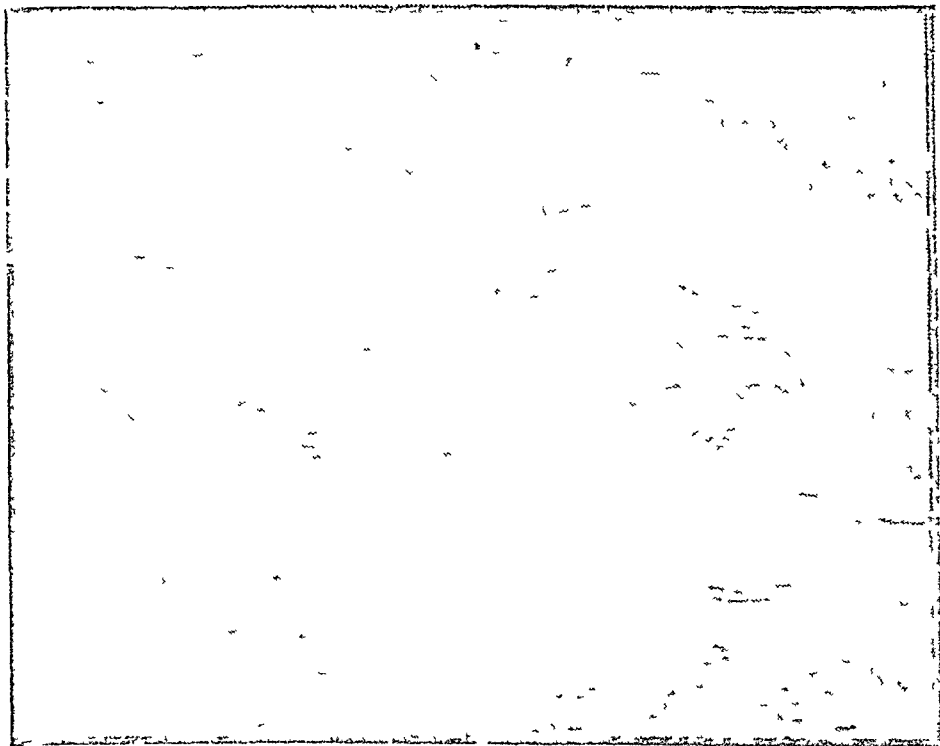
गो० हित हरिवंश जी

श्री सेवक जी

तो 'सेवक जी' के नाम से ही राधावल्लभ सप्रदाय मे प्रसिद्ध हुए थे। पूरनदास ने सुदूर सिंध प्रदेश के ठट्ठा नगर मे प्रचार कर वहाँ के शाही मनसबदार राजा परमानद को प्रभावित किया था। इस प्रकार नवलदास और पूरनदास जैसे उत्साही प्रचारको के प्रयास से राधावल्लभ सप्रदाय को सर्वश्री व्यास जी, सेवक जी और चतुर्भुजदास जी जैसे महात्मा प्राप्त हुए थे, जिन्होने हित जी के भक्ति-प्रचार को बडी महत्वपूर्ण देन दी थी।

साधना-स्थलो का आयोजन—ऐसी अनुश्रुति है, नरवाहन ने हित हरिवश जी को वृदावन मे पर्याप्त भूमि प्रदान कर वहाँ उनसे साधना-स्थल बनाने की प्रार्थना की थी। हित जी ने उसे स्वीकार कर ऐसे कई स्थलो का आयोजन किया था। उनकी जीवन-चर्या और उनके भक्ति-प्रचार तथा राधावल्लभ सप्रदाय के विकास से इन साधना-स्थलो का बडा घनिष्ठ सबध रहा है। यहाँ पर उनका सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

१ 'सेवाकुज'—श्री हित हरिवश जी ने 'मदन टेर' वाले अपने आरभिक डेरा से हट कर इस स्थल पर श्री राधावल्लभ जी को प्रतिष्ठित किया था, और यहाँ से ही उनकी सेवा का समारभ किया था। कदाचित इसीलिए यह 'सेवाकुज' के नाम से प्रसिद्ध है। वे स्वय भी इसी स्थान पर निवास करते थे। उन्होने यहाँ पर श्री राधावल्लभ जी का प्रथम पाटोत्सव स. १५९१ की कार्तिक शु १३ को किया था। इसी स्थल पर उन्होने पाँच आरती और सात भोग वाली सेवा-प्रणाली प्रचलित की थी। यहाँ पर श्री राधावल्लभ जी प्राय अर्ध शताब्दी तक विराजमान रहे थे। जब अब्दुर्रहीम खानखाना के दीवान सुदरदास भटनागर कायस्थ ने श्री वनचद्र जी से आज्ञा प्राप्त कर 'मदन टेर' पर विशाल मदिर बनवा दिया, तब श्री राधावल्लभ जी उसमे विराजे थे। उसके उपरात यहाँ उनकी 'नाम-सेवा' होने लगी, जो अब भी है। इस स्थल पर सघन लता-गुल्लो की विपुलता है, जो वृदावन की प्राचीन वनश्री का स्मरण दिलाती है। इसके मध्य मे श्री जी का सगमरमर का मदिर है। इसमे नाम-सेवापट्ट के अतिरिक्त एक प्राचीन चित्र भी है, जिसमे श्रीकृष्ण श्रीराधा जी के चरणो का सवाहन करते हुए दिखाये गये है। मदिर के निकट 'ललिता कुड' नामक एक छोटा जलाशय है। यह समस्त वनखड लाल पत्थर की पक्की चार-दीवारी से घिरा हुआ है। इसके सबध मे यह अनुश्रुति प्रचलित है कि यहाँ अब भी अर्ध रात्रि मे श्रीराधा-कृष्ण का दिव्य रास होता है। उसे चर्म-चक्षुओ से देखने का अधिकार किसी भी प्राणी को नही है। इसी-लिए यहाँ रात्रि मे नर-नारी तो क्या, पशु-पक्षी भी नही रह सकते है।

२ 'रासमडल'—यह पुण्य स्थल प्राचीन चीरघाट और वर्तमान गोविंदघाट के निकट है। श्री हरिवश जी ने इस स्थान पर स्वनिर्मित रासमडल बनवाया था, जहाँ वे अपने रसिक भक्तो के साथ रासलीला का सुखानुभव करते थे। श्री वनचद्र के कृपापात्र भगवानदास स्वर्णकार ने स. १६८१ मे इसे पक्का बनवा दिया था। यह वृदावन का सबसे पुराना रास-स्थल है। राधावल्लभ सप्रदाय के कई प्रसिद्ध भक्तो का इससे घनिष्ट सबध रहा है। श्री हरिवश जी की कृपा से छबीलदास जी को यहाँ दिव्य रास के दर्शन हुए थे और ध्रुवदास जी को वाणी प्राप्त हुई थी। इसके दाहिनी ओर के वट वृक्ष की छाया मे सेवक जी का और बाईं ओर की लता-कुज मे ध्रुवदास जी का देहावसान हुआ था। इसके समीप नरवाहन जी के चरण-चिह्न हैं। यहाँ के मदिर मे नाम-सेवा होती है। इस समय यह स्थान राधावल्लभ सप्रदाय के नादवशीय विरक्त साधुओं के अधिकार में है। यहाँ प्राय रास होता रहता है। रासमडल के पार्श्व मे 'राधावल्लभीय निर्मोही अखाडा' है, जहाँ श्री हितवल्लभ जी का मंदिर है और नादवंशीय अनेक दिवगत महात्माओ के चरण-चिह्न हैं।

३. 'मानसरोवर'—यह तीर्थस्थल वृ दावन से दो मील दूर यमुना नदी के उस पार है। ऐसा कहा जाता है, श्री हरिवश जी के समय मे यह यमुना नदी के इसी ओर था। श्री हरिवश जी यहाँ भजन-ध्यान किया करते थे। इस समय यहाँ श्री जी की नाम-सेवा और रासमडल है। हितजी के वृ दावन-आगमन की स्मृति मे यहाँ फाल्गुन कृ ११ को मेला होता है।

४ 'वशीवट'—श्रीकृष्ण के वशी-वादन की जगह होने से यह वृ दावन का अत्यत पवित्र स्थल माना जाता है। राधावल्लभ सप्रदाय की मान्यता के अनुसार इसका प्राकट्य श्री हित हरिवश जी ने किया है। इस समय यह स्थान निवार्क सप्रदायी भक्तो के अधिकार मे है।

साहित्य-रचना—श्री हित हरिवश जी के साहित्य मे दो सस्कृत रचना, दो ब्रजभाषा रचना और दो पत्र उपलब्ध है। सस्कृत रचनाओ मे पहली 'राधा सुधानिधि' है और दूसरी यमुनाष्टक। 'राधा सुधानिधि' २७० श्लोको का एक स्तोत्र काव्य है। यह हित जी की आरंभिक रचना होते हुए भी अत्यत भावपूर्ण है। इसमे श्रीराधा जी के प्रति अनन्यता प्रकट करते हुए उनकी वदनात्मक प्रशस्ति की गई है। इस ग्रथ की कई टीकाएँ हुई हैं, जो ब्रजभाषा और सस्कृत दोनो मे हैं। सस्कृत गद्य मे रची हुई इसकी एक टीका 'रसकुल्या' है, जो अठारह सहस्र श्लोक परिमाण की है। इतनी विशालकाय टीका शायद ही किसी संस्कृत ग्रथ की हुई हो। इसे श्री हरिलाल व्यास ने स १८६० मे रचा था। इसके रचयिता हरिलाल जी राधावल्लभीय आचार्य रूपलाल गोस्वामी के सुपुत्र किशोरीलाल गोस्वामी के शिष्य थे। हित जी की दूसरी सस्कृत रचना 'यमुनाष्टक' है, जो आठ श्लोको का एक छोटा सा प्रशस्ति काव्य है। इसमे श्री यमुना जी की वदना की गई है।

ब्रजभाषा रचनाओ मे पहली 'हित चौरासी' है और दूसरी 'स्फुट वाणी'। 'हित चौरासी' मे केवल ८४ पद है, किंतु सप्रदाय और साहित्य दोनो दृष्टियो से यह अत्यत महत्वपूर्ण कृति है। इसका साप्रदायिक महत्व इसी से सिद्ध है कि यह राधावल्लभ सप्रदाय की मूल सैद्धातिक रचना है। इसी के माध्यम से हरिवश जी ने अपने भक्ति-तत्त्व और उपासना-पद्धति के वे मूल बतलाये हैं, जो आरभ से ही भक्त जनो को राधावल्लभ सप्रदाय की ओर आकर्षित करते रहे है। व्यास जी, सेवक जी, चतुर्भुजदास जी जैसे महात्मा इसी के पदो को सुन कर हित जी के अनुगत हुए थे। राधावल्लभ सप्रदाय मे श्रीराधा-कृष्ण के अनन्य-प्रेम, उनके नित्य निकुज विहार, प्रेम मे मिलन, मान और विरह की स्थिति तथा श्रीराधा-कृष्ण, सहचरी गण और वृ दावन के यथार्थ रूप की जो मान्यताएँ है, वे सव इस रचना मे वीज रूप से सन्निहित हैं। इन्ही को पल्लवित, पुष्पित और फलित करने के लिए राधावल्लभ सप्रदाय के अनेक विद्वानो ने टीका, टिप्पणी, वृत्ति और भाष्य के रूप मे वहुसख्यक रचनाएँ की है। सर्वश्री सेवक जी और ध्रुवदास जी का महत्वपूर्ण कृतित्व वस्तुत' 'हित चौरासी' का ही व्याख्यान है। इस छोटे से ग्र थ की गद्य-पद्यात्मक २५-३० टीकाएँ कही जाती हैं। इनमे ४-५ तो वहुत प्रसिद्ध है। जिन थोडे से ब्रजभाषा ग्र थो की सस्कृत टीकाएँ हुई हैं, उनमे 'हित चौरासी' भी है। इन वातो से इसके अनुपम साप्रदायिक महत्त्व का स्पष्टीकरण होता है।

'हित चौरासी' का साहित्यिक महत्व भी इसके साप्रदायिक महत्व से कम नही है। यह शृ गार रस के मुक्तक पदो की गेय रचना है। इसमे भाषा, काव्य और सगीत की त्रिवेणी का अजस्र प्रवाह मिलता है। इसकी भाषा तत्सम-प्रधान है, जो सस्कृत की कोमल-कात पदावली से परिपूर्ण है। इसका काव्य माधुर्य रस से ओतप्रोत है, और इसमे कर्ण-सुखद लय एव नाद की सगीतात्मकता है। इन दुर्लभ गुणो के कारण इसके रचयिता श्री हित हरिवश जी को ब्रजभाषा का

जयदेव कहा जाता है। हित जी शृ गार रस के कवि है, और उसके अतर्गत भी उन्होने अधिकतर श्रीराधा–कृष्ण के नित्य विहार की लीलाओ का ही कथन किया है। इस प्रकार उनका काव्य-क्षेत्र अत्यत सीमित है, किंतु इसकी सकीर्ण परिधि मे ही उन्होने अपनी काव्य–प्रतिभा का अद्भुत रीति से विस्तार किया है। उनके कथन की सबसे बडी विशेषता यह है कि वे कुछ शब्दो के माध्यम से ही अपने आराध्य की मनोहर झाँकी प्रस्तुत कर देते है। इस प्रकार के सार्थक शब्द-चित्र उनकी स्वल्प रचना मे अनेक है। हित जी ने केवल सभोग शृ गार का ही कथन किया है, वियोग की भावना उनके मत मे अमान्य है। सभोग शृ गार के अतर्गत 'सुरत' और 'सुरतात' का भी कथन किया जाता है। इसके लिए सुरुचि और सयम की नितात आवश्यकता होती है। इसके अभाव मे रस-भग होकर काव्य विकृत हो जाता है। हित जी ने 'सुरत' का वर्णन तो स्पष्टतया नही किया, किंतु उन्होने 'सुरतात' का पर्याप्त कथन किया है। वे अपने आराध्य के सुरतात की छवि पर मुग्ध थे।

राधावल्लभ सप्रदाय मे हित हरिवश को श्रीकृष्ण की वशी का अवतार माना जाता है। इसकी सार्थकता उनकी माधुर्य भक्ति और मधुर काव्य के कारण स्पष्ट ही है। इसकी सगति मे डा० विजयेन्द्र स्नातक का यह कथन उल्लेखनीय है,—'वशी के अवतार श्री हित हरिवश जी की यह विशेषता है कि उनकी वाणी रूपी वशी का निस्वन राधा के गुणानुवाद के लिए इतना कोमल और स्निग्ध रूप लेकर सरस पदो के माध्यम से गूँजा कि उसमे वर्णित राधा नख से सिख तक सौन्दर्य और प्रेम की मजुल मूर्ति बन कर भक्त जन के लिए आराधना की विषय बन गई। हित हरिवश जी की वाणी के स्पर्श से कलाओ का शृ गार पवित्र हो गया। भावो की मनोमुग्धकारी छटा से शृ गार का उज्ज्वल रूप निखार पाकर कातिमय हो उठा और शृ गार का माधुर्य-मडित रूप समस्त ब्रज-मडल मे अनुकरण का विषय बन गया[१]।'

'हित चौरासी' मे भाव-वस्तु का कोई व्यक्त क्रम नही है। श्री रूपलाल गोस्वामी ने समय-प्रबध की दृष्टि से इसके पदो को वर्गीकृत करने की चेष्टा की है। उनके वर्गीकरण के अनुसार इसमे सुरतात समय अर्थात् मगला के १६, शैया समय के १६, रास के १७, वन-विहार के ३, स्नान–शृ गार के ४, राजभोग (शैया विहार) के २, बसत के २, होरी के २, फूलडोल फूलन का १, मलार के ४ और सभ्रम-मान के १३,—इस प्रकार ८४ पद हैं। किंतु डा० विजयेन्द्र स्नातक के मतानुसार यह वर्गीकरण त्रुटिपूर्ण है। उन्होने उदाहरण देकर बतलाया है कि इसके कतिपय पदो की भावना इतनी सश्लिष्ट है कि उन्हे किसी एक वर्ग मे निश्चित रूप से नही रखा जा सकता है[२]। ये पद वस्तुत भाव-वस्तु के क्रम से न होकर गायन–क्रम के अनुसार हैं। इन्हे प्रात काल से लेकर सायकाल तक के १४ राग–रागनियो मे सकलित किया गया है। इस राग-क्रम के अनुसार इसमे विभास के ६, विलावल के ७, टोडी के ४, आसावरी के २, धनाश्री के ७, बसत के २, देवगधार के ७, सारग के १६, मलार के ४, गौड का १, गौरी के ९, कल्याण के ६, कान्हरा के ९ और केदारा के ४,—इस प्रकार ८४ पद हैं। ऐसी अनुश्रुति है कि हित जी के देहावसान के पश्चात् उनकी रचनाओ का संकलन किया गया था। उनमे से लीला सबधी ८४ पदो को 'हित चौरासी' के नाम से सकलित कर दिया गया और शेष पदो एव छदो को 'स्फुट वाणी' का नाम दिया गया।

(१) राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ ३२३
(२) वही " " " , पृष्ठ ३०९–३१०

'हित चौरासी' मे ८४ पदो की सख्या कदाचित 'चौरासी' के सास्कृतिक महत्त्व के कारण ही निश्चित की गई थी, क्यो कि उसमे जैसे पद है, वैसे ही कुछ पद स्फुट वाणी मे भी मिलते है। राधावल्लभीय भक्त जन आरभ से ही हित जी के पदो के गायन द्वारा अपनी भक्ति-भावना करने लगे थे, अत इन्हे राग-क्रम के अनुसार सकलित करना उचित समझा गया। 'हित चौरासी' के अत मे उसकी फल-स्तुति भी लगी हुई मिलती है। इसके एक कवित्त मे पदो की सख्या उनके रागो के साथ बतलाई गई है। इस फल-स्तुति का रचयिता कौन है, इसका उल्लेख नही मिलता है। सभव है, हित जी के पदो का सकलयिता ही इस फल-स्तुति का रचयिता भी रहा हो।

हित हरिवश जी की दूसरी ब्रजभाषा रचना 'स्फुट वाणी' कहलाती है। इसके नाम की सार्थकता स्पष्ट है, क्यो कि इसमे हित जी की प्रकीर्णक रचनाओ का सकलन किया गया है। इसमें पदो के साथ कई तरह के छद भी है, और उनकी सम्मिलित सख्या २७ है। इस प्रकार इसमें १५ पद, ४ सवैया, २ छप्पय, २ कुडलिया और ४ दोहा है। यह 'हित चौरासी' से भी छोटी रचना है, किंतु इसका साप्रदायिक और साहित्यिक महत्त्व कम नही है। 'हित चौरासी' के पद हित जी की भक्ति-भावना के है, जिनका सिद्धात-प्रतिपादन से साक्षात् सबध नही है, वैसे कुछ पदो को परोक्ष रूप से सिद्धात से भी सबधित माना जाता है। किंतु 'स्फुट वाणी' मे प्रत्यक्ष रूप से सिद्धात-प्रतिपादन हुआ है। इसके दो कुडलिया छदो मे चकई और सारस के उदाहरण से राधावल्लभीय प्रेम-सिद्धात की मीमासा की गई है[1]। इसके ४ दोहो म से २ मे राधावल्लभीय भक्ति-सिद्धात के मूल तत्त्वो का उल्लेख है[2], और ३ दोहो मे श्रीराधा जी के प्रति अनन्य निष्ठा व्यक्त की गई है[3]। इस रचना की भाषा 'हित चौरासी' के सदृश ही परिष्कृत ब्रजभाषा है। इसका काव्य-महत्त्व, विशेषतया पदो का, 'हित चौरासी' के पदो के ही प्राय समान है।

हित हरिवश जी की रचनाओ मे जिन दो पत्रो का समावेश किया जाता है, वे 'श्रीमुख पत्री' के नाम से उपलब्ध हैं। उन्हे हित जी ने अपने प्रिय शिष्य बीठलदास को लिखा था। इनमे अपने शिष्यो के प्रति उनकी सहज आत्मीयता का परिचय मिलता है। यह इनका साप्रदायिक महत्त्व है। इसके साथ ही ब्रजभाषा गद्य के प्राचीन उदाहरण होने के कारण इनका साहित्यिक महत्त्व भी है।

हिंदी साहित्य के समीक्षको को यह देख कर बडा कौतूहल होता है कि कविवर बिहारीलाल ७०० दोहो की स्वल्प रचना के बल पर ही ब्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ कवियो मे माने जाते हैं। किंतु वे श्री हित हरिवश जी की रचना पर और भी अधिक चकित हो सकते हैं, क्यो कि उनका परिमाण बिहारीलाल की रचना का भी केवल पचमाश ही है! इस अल्पकाय साहित्य ने भी हित जी को ब्रजभाषा के भक्त-कवियो की प्रथम पक्ति मे गौरवपूर्ण स्थान पदान किया है।

---

(१) १ चकई प्राण जु घट रहै, पिय बिछुरत निकज्ज ॥५॥
   २ सारस सर बिछुरत कौ, जो फल सहै शरीर ॥६॥

(२) सब सौं हित निष्काम मति, वृदावन विश्राम।
   श्री राधावल्लभ लाल कौ, हृदय ध्यान मुख नाम॥
   तनहिं राखि सतसग मे, मनहिं प्रेम रस भेव।
   सुख चाहत हरिवश हित, कृष्ण कल्पतरु सेव॥

(३) रसना कटौ जु अन रटौं, निरखि अन फुटौ नैन।
   स्रवन फुटौ जो अन सुनौं, बिन राधा यश बैन॥

संतान—श्री हित हरिवश जी के चार पुत्र हुए थे। उनमे से सर्वश्री बनचद्र जी (जन्म स १५८५), कृष्णचद्र जी (जन्म स. १५८७) और गोपीनाथ जी (जन्म स १५८८) उनकी प्रथम पत्नी से थे, जिनका जन्म देवबन मे उस समय हुआ था, जब हित जी वृ दाबन नही आये थे। चौथे पुत्र मोहनचद्र जी हित जी की दूसरी पत्नी मनोहरी जी से स. १५९८ मे वृ दावन मे उत्पन्न हुए थे। उन चारो पुत्रो के अतिरिक्त उनकी पुत्री भी थी।

देहावसान और उत्तराधिकार—श्री हित हरिवश जी ने १८ वर्ष तक ब्रज-वास किया था। ब्रज मे भी उनका प्रमुख निवास–स्थल वृ दाबन रहा था। उनकी एक बैठक ब्रज के राधाकुड नामक तीर्थ-स्थल मे है। इससे अनुमान होता है कि वे कुछ काल तक वहाँ भी रहे थे। अत मे स १६०९ की आश्विन शुक्ला पूर्णिमा को वृ दाबन मे उनका देहावसान हुआ था। उस समय उनकी आयु ५० वर्ष की थी। उनकी मृत्यु के समय ज्येष्ठ पुत्र श्री बनचद्र जी तथा अनेक कुटुँभी जन देवबन मे थे। स्वामी हरिदास जी आदि वृंदाबन के वरिष्ट महानुभावो ने उन्हे सूचना भेज कर बुलाया था। श्री बनचद्र जी उस दु खदायी समाचार को सुनते ही तत्काल वृ दाबन को चल दिये, और वहाँ पहुँच कर उन्होने आवश्यक धार्मिक कृत्य किये। उसके उपरात उन्होने अपने कुटुभी जनो को भी देववन से वुला लिया था। फिर श्री बनचद्र जी अपने कुटुभ–परिवार के साथ वृंदाबन मे ही रहने लगे थे।

श्री हित हरिवश जी के देहावसान के पश्चात् उनके उत्तराधिकार का प्रश्न उपस्थित हुआ। उसके लिए वृ दाबन के वरिष्ट महानुभावो एव राधावल्लभीय भक्त जनो ने श्री हित जी के ज्येष्ठ पुत्र को ही सर्वथा योग्य और उपयुक्त समझा था। फलत. श्री बनचद्र जी राधावल्लभ सप्रदाय के आचार्य और श्री राधावल्लभ जी के प्रधान सेवाधिकारी नियुक्त हुए। जयकृष्ण जी ने लिखा है, श्री बनचद्र जी स. १६०९ की कार्तिक शु. १३ को आचार्य गद्दी पर आसीन हुए थे[1]।

सहयोगी महात्मा—श्री हित हरिवश जी को अपनी प्रेम-भक्ति और नित्य विहार की रसोपासना को प्रसारित करने के लिए अपने आरभिक शिष्यो के अतिरिक्त कतिपय समकालीन महात्माओ से भी बडा सहयोग मिला था। ऐसे महानुभावो मे सर्वश्री स्वामी हरिदास जी, हरिराम व्यास जी और प्रबोधानद जी के नाम अधिक प्रसिद्ध है। चाचा वृ दाबनदास ने वृंदावन निकुज-विहार की भक्ति–भावना के प्रचार का श्रेय हित हरिवश जी के साथ इन तीनो महात्माओ को भी सम्मिलित रूप मे दिया है, किंतु उन्होने हित जी को उन सबका मुकुटमणि बतलाया है[2]। चाचाजी राधावल्लभीय भक्त जन थे, अत हित जी के प्रति उनकी ऐसी श्रद्धा व्यक्त करना स्वाभाविक था। फिर भी नित्य विहार की रसोपासना के आदि प्रेरक होने के कारण श्री हरिवश जी का महत्व निश्चय ही बहुत अधिक है। यहाँ पर हित जी के सहयोगी उन तीनो महात्माओ की देन का उल्लेख उनके सक्षिप्त परिचय सहित किया जाता है।

---

(१) सवत् सोरह सै नव सही। कातिक सुदि तेरस दृढ़ गही।।
आसन पर बैठे गुरुराज। श्री बनचंद्र सुहृद सिरताज।। (हितकुल शाखा, १२)

(२) सब के जु मुकटमणि व्यास–नद। पुनि सुकुल सुमोखन कुल सु चंद।।
सुत आसुधीर मूरति आनद। धनि भक्ति–थभ परवोधानद।।
इन मिलि जु भक्ति कीनीं प्रचार। ब्रज-वृ दावन नित प्रति विहार।।
—श्री हित हरिवश गोस्वामी सप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ २१८

स्वामी हरिदास जी—वे ब्रज के महान् संत, रसिक भक्त, संगीतज्ञ-शिरोमणि और सुविख्यात धर्माचार्य थे। हित जी के वे समकालीन थे, और वृदावन मे उनके निकटतम सहयोगी एव प्रिय सखा रहे थे। वे दीर्घायु हुए थे, अत हित जी के देहावसान के पश्चात् भी पर्याप्त समय तक वृदावन मे विद्यमान थे। हित जी और स्वामी जी दोनो महात्माओ के पारस्परिक सहयोग और सम्मिलित प्रयत्न से ही ब्रज मे प्रेम–भक्ति एव रसोपासना का प्रचार-प्रसार हुआ था और उनके सर्वोत्तम साधन के रूप मे रास के पुनरुद्धार की महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पन्न हुई थी। हित जी गृहस्थ धर्माचार्य थे, तो स्वामी जी विरक्त महात्मा थे। हित जी रससिद्ध महाकवि थे, तो स्वामी जी महान् सगीताचार्य थे। उन दोनो महात्माओ की अपनी–अपनी विशेषताओ के कारण ब्रज की प्रेम-भक्ति को बडा प्रशस्त रूप प्राप्त हुआ था। हित जी के देहावसान के उपरात स्वामी हरिदास जी ही वृदावन के रसिक भक्तो के सर्वोपरि नेता रहे थे। उन्होने नित्य विहार की रसोपासना को सखी भाव से समन्वित कर प्रेम-भक्ति को बडा भव्य रूप प्रदान किया था। इसीलिए राधावल्लभियों से भिन्न उनके अनुगामियो का एक पृथक् सगठन बन गया था, जो हरिदासी अथवा सखी सप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके सबध मे हम आगे विस्तार से लिखेंगे।

श्री हरिराम व्यास जी—उनका जन्म स १५६७ की मार्गशीर्ष शु ५ को बुंदेलखंड की राजधानी ओरछा के एक प्रतिष्ठित सनाढ्य ब्राह्मण कुल मे हुआ था। उनके पिता समोखन शुक्ल ओरछा के राज–गुरु थे। हरिराम जी बडे विद्वान और समस्त शास्त्रो के ज्ञाता थे। उनका आस्पद शुक्ल था, किंतु पुराण–वक्ता होने के कारण उन्हे 'व्यास' उपाधि प्राप्त हुई थी। वे अपने मूल नाम की अपेक्षा अपनी उपाधि 'व्यास' के नाम से ही प्रसिद्ध हुए थे। वे गृहस्थ थे, उनके ३ पुत्र थे और १ पुत्री थी। वे प्रकाड विद्वान और प्रबल शास्त्रार्थी पडित थे, किंतु हित जी के उपदेश से वे विद्वत्ता और पाडित्य के अभिमान छोड कर विनय और विनम्रता की मूर्ति बन गये थे। उन्होंने विनीत भाव से भक्ति, उपासना और साधु–सेवा करना अपने जीवन का प्रधान लक्ष बना लिया था। उनके द्वारा राधावल्लभीय भक्ति–साधना की बडी प्रगति हुई थी।

राधावल्लभ सप्रदाय मे व्यास जी को हित हरिवंश जी का शिष्य माना जाता है; किंतु यह विषय विवादग्रस्त है। जहाँ तक नित्य विहार की रसोपासना का उपदेश प्राप्त करने की बात है, इस दृष्टि से व्यास जी निश्चय ही हित हरिवंश जी के शिष्य थे। इसके सबध मे कोई विवाद भी नही है। विवाद इस प्रश्न पर है कि व्यास जी श्री हित जी के दीक्षा–प्राप्त शिष्य थे या नही? भगवतमुदित जी ने लिखा है, जब व्यास जी वृदावन मे हित हरिवंश जी से मिले थे और उनसे एक उपदेशपूर्ण पद सुन कर अत्यत प्रभावित हुए थे, तब उनकी प्रार्थना पर हित जी ने उन्हे मत्र-दीक्षा दी थी[1]। इसके विरुद्ध श्री वासुदेव गोस्वामी का मत है, व्यास जी अपने पिता श्री समोखन शुक्ल से माध्व सप्रदाय की दीक्षा पहिले ही प्राप्त कर चुके थे, अत. वे हित जी के दीक्षा-प्राप्त शिष्य नही थे। वैसे उन्होने अपनी भक्ति–भावना और नित्य विहार की रसोपासना को हित जी के उपदेश से ही सुदृढ किया था। उनके पथ-प्रदर्शन के कारण ही व्यास जी ने अपनी रचनाओ मे उनके प्रति गुरु के समान ही श्रद्धा व्यक्त की है। इस प्रकार हित हरिवंश जी व्यास जी के दीक्षा-गुरु नही थे, बल्कि उनके सद्गुरु थे[2]।

(१) रसिक अनन्यमाल मे 'श्री व्यास जी की परचई'
(२) भक्त–कवि व्यास जी, पृष्ठ ५४–७४

श्री हरिराम जी व्यास

जब व्यास जी हित जी को अपना सद्गुरु मानते थे, तब उनसे दीक्षा लेने या न लेने की बात हमारी दृष्टि मे कोई अर्थ नही रखती है। किंतु वैष्णव सप्रदायो मे मत्र-दीक्षा का बड़ा महत्व माना जाता है, उनमे मत्र द्वारा दीक्षित शिष्य को ही वास्तविक शिष्य समझा जाता है; इसीलिए इस प्रश्न पर इतना विवाद है।

ऐसा जान पडता है, उक्त विवाद काफी पुराना है। भगवतमुदित जी ने भी इसका सकेत करते हुए कहा है कि व्यास जी के गुरु का निर्णय स्वय उनकी वाणी से ही हो सकता है, कारण यह है, गुरु का माना शिष्य नही, वरन् शिष्य का माना हुआ गुरु होता है[1]। यदि व्यास जी की वाणी ही उनके गुरु की निर्णायक मानी जाय, तब उसमे हित हरिवश जी से कही अधिक स्वामी हरिदास जी की प्रशसा मिलती है। उन्होने जहाँ हित जी को 'रसिको के सुख का आधार' बतलाया है, वहाँ स्वामी जी के विषय मे कहा है कि 'ऐसा रसिक भूमडल और आकाश मे न तो अभी तक हुआ है और न होगा ही[2]।' व्यास जी साधु-सतो के ऐसे भक्त थे कि वे उन सभी को अपना 'गुरुदेव' मानते थे[3]। ऐसी दशा मे व्यास जी की वाणी से उनके गुरु का निर्णय होना सभव नही है।

व्यास जी की हित जी से प्रथम भेट स. १५९१ के कार्तिक मास मे उस समय हुई थी, जब वे नवलदास वैरागी के साथ ओरछा से वृदावन गये थे[4]। उस समय उन्होने हित जी से उनकी विशिष्ट भक्ति-भावना का उपदेश ग्रहण किया और कुछ काल तक उनके सत्सग का लाभ भी प्राप्त किया था। फिर वे ओरछा वापिस चले गये थे। उसके उपरात जब वे स्थायी रूप से वृदावन-वास करने के लिए दोबारा आये थे, तब हित हरिवश जी का देहावसान हो चुका था[5]। इस प्रकार व्यास जी ने हित हरिवश जी के सत्सग का लाभ तो अल्प काल तक ही प्राप्त किया था; किंतु वे स्वामी हरिदास जी के सान्निध्य मे पर्याप्त समय तक रहे थे। हित जी की अनुपस्थिति मे स्वामी जी ही उनके सखा, सहयोगी और सद्गुरु सब-कुछ रहे थे। हित जी के उपरात उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री वनचद्र जी राधावल्लभ सप्रदाय के आचार्य हुए थे। जिस समय व्यास जी दोबारा वृदावन आये थे, उस समय वनचद्र जी आचार्य-गद्दी पर विराजमान थे। व्यास जी के सुदीर्घ वृदावन-निवास काल मे वनचद्र जी बडे गौरव के साथ राधावल्लभ सप्रदाय का सचालन करते रहे थे। यदि व्यास जी

---

(१) श्री राधावल्लभ इष्ट, गुरु श्री हरिवंश सहाइ।
व्यास पदनि तें जानियौ, हौं कहा कहौं बनाइ॥
गुरु कौ मान्यौ शिष्य नहि, शिष्य मानै गुरु सोइ।
पद-साखी करि व्यास नें, प्रगट करी रस भोइ॥ (रसिक अनन्य माल)

(२) १ हुतौ सुख रसिकन कौ आधार।
बिनु हरिवंशहि सरस रीति कौ, कापै चलि है भार॥ (भक्त-कवि व्यास जी, पृ. १९९)

२. अनन्य नृपति स्वामी हरिदास।
ऐसौ रसिक भयौ ना ह्वै है, भुवमंडल आकास॥ (भक्त-कवि व्यास जी, पृष्ठ १९३)

(३) आदि अंत अरु मध्य मे, गहि रसकनि की रीति।
संत सबै गुरुदेव हैं, व्यासहिं यह परतीति॥ (भक्त-कवि व्यास जी, पृष्ठ ४०८)

(४) रसिक अनन्य माल मे 'श्री व्यास जी की परचई'

(५) भक्त-कवि व्यास जी, पृष्ठ ७२-७३

जब व्यास जी हित जी को अपना सद्गुरु मानते थे, तब उनसे दीक्षा लेने या न लेने की बात हमारी दृष्टि मे कोई अर्थ नही रखती है। किंतु वैष्णव सप्रदायो मे मत्र-दीक्षा का बडा महत्व माना जाता है, उनमे मत्र द्वारा दीक्षित शिष्य को ही वास्तविक शिष्य समझा जाता है; इसीलिए इस प्रश्न पर इतना विवाद है।

ऐसा जान पडता है, उक्त विवाद काफी पुराना है। भगवतमुदित जी ने भी इसका सकेत करते हुए कहा है कि व्यास जी के गुरु का निर्णय स्वय उनकी वाणी से ही हो सकता है; कारण यह है, गुरु का माना शिष्य नही, वरन् शिष्य का माना हुआ गुरु होता है[1]। यदि व्यास जी की वाणी ही उनके गुरु की निर्णायक मानी जाय, तब उसमे हित हरिवश जी से कही अधिक स्वामी हरिदास जी की प्रशसा मिलती है। उन्होने जहाँ हित जी को 'रसिको के सुख का आधार' बतलाया है, वहाँ स्वामी जी के विषय मे कहा है कि 'ऐसा रसिक भूमडल और आकाश मे न तो अभी तक हुआ है और न होगा ही[2]।' व्यास जी साधु-सतो के ऐसे भक्त थे कि वे उन सभी को अपना 'गुरुदेव' मानते थे[3]। ऐसी दशा मे व्यास जी की वाणी से उनके गुरु का निर्णय होना सभव नही है।

व्यास जी की हित जी से प्रथम भेट स. १५९१ के कार्तिक मास मे उस समय हुई थी, जब वे नवलदास वैरागी के साथ ओरछा से वृ दावन गये थे[4]। उस समय उन्होने हित जी से उनकी विशिष्ट भक्ति-भावना का उपदेश ग्रहण किया और कुछ काल तक उनके सत्सग का लाभ भी प्राप्त किया था। फिर वे ओरछा वापिस चले गये थे। उसके उपरात जब वे स्थायी रूप से वृ दावन-वास करने के लिए दोबारा आये थे, तब हित हरिवश जी का देहावसान हो चुका था[5]। इस प्रकार व्यास जी ने हित हरिवश जी के सत्सग का लाभ तो अल्प काल तक ही प्राप्त किया था; किंतु वे स्वामी हरिदास जी के सान्निध्य मे पर्याप्त समय तक रहे थे। हित जी की अनुपस्थिति मे स्वामी जी ही उनके सखा, सहयोगी और सद्गुरु सब-कुछ रहे थे। हित जी के उपरात उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री बनचद्र जी राधावल्लभ सप्रदाय के आचार्य हुए थे। जिस समय व्यास जी दोबारा वृ दावन आये थे, उस समय बनचद्र जी आचार्य-गद्दी पर विराजमान थे। व्यास जी के सुदीर्घ वृ दावन-निवास काल मे बनचद्र जी बडे गौरव के साथ राधावल्लभ सप्रदाय का सचालन करते रहे थे। यदि व्यास जी

---

(१) श्री राधावल्लभ इष्ट, गुरु श्री हरिवंश सहाइ।
व्यास पदनि तें जानियौ, हौं कहा कहौं बनाइ॥
गुरु कौ मान्यौ शिष्य नहिं, शिष्य मानै गुरु सोइ।
पद-साखी करि व्यास नें, प्रगट करी रस भोइ॥ (रसिक अनन्य माल)

(२) १ हुतौ सुख रसिकन कौ आधार।
बिनु हरिवशहिं सरस रीति कौ, कापै चलि है भार॥ (भक्त-कवि व्यास जी, पृ १९६)

२ अनन्य नृपति स्वामी हरिदास।
ऐसौ रसिक भयौ ना ह्वै है, भुवमंडल आकास॥ (भक्त-कवि व्यास जी, पृष्ठ १९३)

(३) आदि अंत अरु मध्य मे, गहि रसकनि की रीति।
संत सबै गुरुदेव हैं, व्यासहिं यह परतीति॥ (भक्त-कवि व्यास जी, पृष्ठ ४०८)

(४) रसिक अनन्य माल मे 'श्री व्यास जी की परचई'

(५) भक्त-कवि व्यास जी, पृष्ठ ७२-७३

राधावल्लभ संप्रदाय के दीक्षा-प्राप्त शिष्य होते, तो वे स्वामी हरिदास जी से अधिक श्री वनचन्द्र जी के सान्निध्य मे रहते और उनकी महत्ता का बखान भी करते । किंतु वनचन्द्र जी के प्रति उनकी श्रद्धा-भावना का उल्लेख नही मिलता है, जब कि उन्होंने स्वामी हरिदास जी की ही नहीं, वरन् उनके प्रशिष्य श्री बिहारिनदास तक का गुण-गान किया है[1] । उन्होंने अपने पुत्र किशोरदास को श्री वनचन्द्र जी की अपेक्षा स्वामी हरिदास जी से दीक्षा दिलवाई थी । राधावल्लभीय भक्त हित जी के उपास्य श्री राधावल्लभ जी के प्रति अनन्य श्रद्धा रखते हैं, और किसी दूसरे स्वरूप को प्राय महत्व नही देते है । किन्तु व्यास जी ने श्री राधावल्लभ जी के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी सं १६२० मे ठाकुर श्री युगलकिशोर जी की प्रतिष्ठा की थी, और उनकी सेवा का प्रचलन किया था[2] । ये ऐसे तथ्य हैं, जो व्यास जी के राधावल्लभ संप्रदाय मे दीक्षा-प्राप्त शिष्य होने की मान्यता के विरुद्ध पड़ते हैं। इनकी ओर श्री वासुदेव गोस्वामी तथा उनके जैसे विचार वाले विद्वानों का ध्यान अभी नहीं गया है।

हमारे मतानुसार व्यास जी संप्रदाय-निरपेक्ष महात्मा थे । उन्होंने निर्गुण-सगुण सभी भक्तों के संत-महात्माओं के प्रति समान रूप से श्रद्धा व्यक्त की है, और अपने समकालीन अनेक छोटे-बड़े भक्तों का विनीत भाव से गुण-गान किया है । व्यास जी पर्याप्त दीर्घायु हुए थे । उनकी विद्यमानता मे सर्वश्री हरिवंश जी, हरिदास जी और सनातन-रूप जी जैसे श्रद्धास्पद महानुभावों का तथा उनके अनेक संगी-साथी भक्तों का देहावसान हुआ था । वे उनके वियोग मे बड़े दुखी रहा करते थे । इस प्रकार के विरह सूचक कई पद उनकी वाणी मे मिलते हैं, जिनमे उनकी मार्मिक मनोव्यथा व्यक्त हुई है[3] । व्यास जी का देहावसान सं १६५५ के लगभग वृंदावन मे हुआ था[4] । ओरछा-नरेश वीरसिंह देव ने सं १६७५ मे उनकी समाधि उस स्थल पर बनवाई थी, जिसे 'व्यास जी का घेरा' कहा जाता है । वहीं पर उनके उपास्य ठाकुर श्री युगलकिशोर जी का भव्य मंदिर भी बनवाया गया था । उसे कदाचित औरंगजेब के शासन-काल मे नष्ट कर दिया गया था । उसके उपरान्त भक्त गण श्री युगलकिशोर जी के विग्रह को बुंदेलखंड के पन्ना राज्य मे ले गये थे । वहाँ के एक मंदिर मे वे अभी तक विराजमान हैं[5] ।

प्रियादास ने भी उन्हे श्री चैतन्य जी का प्रिय पार्षद बतलाया है[1]। चैतन्य मतानुयायी महात्मा होते हुए भी वे हित हरिवश जी और उनके उपास्य श्री राधावल्लभ जी मे अत्यत श्रद्धा रखते थे। इसका उल्लेख उनके समकालीन और सहयोगी श्री व्यास जी ने भी किया है[2]। श्री भगवतमुदित जी ने उन्हे राधावल्लभीय भक्तो मे सम्मिलित करते हुए बतलाया है कि उन्होने रसिक अनन्य धर्म की परिपाटी को जान कर हित हरिवश जी के मार्ग को ग्रहण किया था[3]। वे श्री राधावल्लभ जी के प्रति सुदृढ आस्था रखते हुए वृ दावन–वास करते थे। उन्होने रसिक जनो के हृदयो को आनद प्रदान करने के लिए नित्य विहार रस का वर्णन किया है[4]।

उपर्युक्त उल्लेखो के कारण उन्हे चैतन्य मतानुयायी अपनी ओर और राधावल्लभीय अपनी ओर खीचते है। इस खीचातानी ने साप्रदायिक विवाद का रूप धारण कर आपस मे बडी कटुता उत्पन्न कर दी है। इसके समाधान के लिए समन्वयवादी विद्वानो ने कहा कि प्रबोधानद जी एक नही, दो महात्मा थे। एक प्रबोधानद जी चैतन्य-मतानुयायी थे, जो 'चैतन्य चद्रामृत' और 'सगीत माधव' जैसे काव्य ग्रथो के रचयिता थे। दूसरे प्रबोधानद जी राधावल्लभीय थे, जिन्होने 'हरिवशाष्टक स्तोत्र' और 'वृ दाबन महिमामृत शतक' की रचना की है[5]। किंतु इस बटवारे से भी उलझन मिटती नही है। कारण यह है कि 'सगीत माधव' मे हित हरिवश जी कृत 'राधा सुधानिधि' के दो श्लोक और कुछ पक्तियाँ थोडे परिवर्तन के साथ उपलब्ध है। इसी प्रकार 'वृ दावन महिमामृत' के कुछ शतको मे चैतन्य–वदना के श्लोक मिलते है।

आजकल के सकीर्ण सप्रदायवादी समझते है कि एक मत के अनुयायी को दूसरे मत के महात्माओ के प्रति श्रद्धा प्रकट नही करनी चाहिए। यदि वह करता है, तो उसे निज मत को छोड़ कर दूसरे मत को ग्रहण करने वाला मानना होगा। इस प्रकार की मान्यता वाले गौडीय लेखको ने 'राधा सुधानिधि' को भी प्रबोधानद जी की रचना बतलाना आरभ किया है, और राधावल्लभीय लेखको ने आवाज उठाई है कि 'वृ दाबन महिमामृत शतक' मे चैतन्य–वदना के श्लोक बाद मे बढाये गये है। वास्तव मे इस प्रकार के कथन साप्रदायिक खीचातानी के कुपरिणाम है, जो वास्तविक तथ्य पर आधारित नही है। वस्तु स्थिति यह है कि 'राधा सुधानिधि' की प्राचीनतम प्रतियो से यह रचना हित जी की सिद्ध होती है, और 'वृ दावन महिमामृत शतक' की सर्वाधिक प्राचीन प्रतियो मे भी चैतन्य–वदना के श्लोक मिलते है। इसलिए प्रबोधानद जी के ग्र थो मे प्राप्त कुछ राधावल्लभीय प्रभाव के कारण कोई कष्ट–कल्पना करने की आवश्यकता नही है। दो प्रबोधानद मानने की बात तो और भी अग्राह्य है। कारण यह है कि एक ही समय मे, एक ही स्थान मे, एक से नाम के दो भक्त–कवियो द्वारा एक सी भाषा मे, एक सा काव्य-कौशल प्रदर्शित करना कदापि सभव नही है।

---

(१) श्री प्रबोधानद बडे रसिक आनंदकद, श्री चैतन्य जू के पारषद प्यारे हैं।

(२) प्रबोधानद से कवि थोरे।
जिन राधावल्लभ की लीला रस मे सब रस घोरे॥ (भक्त-कवि व्यास जी, पृष्ठ १६५)

(३) रसिक अनन्य धर्म परिपाटी। जानि गही हित जी की बाटी॥

(४) श्री राधावल्लभ की करि आस। सुदृढ भयौ वृंदावन-वास॥
नित विहार रस वर्णन कियौ। रसिक जननि कौ सीच्यौ हियौ॥ (रसिक अनन्यमाल)

(५) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ ४४

हमारा मत है, चैतन्य चद्रामृत, सगीत माधव और वृंदावन महिमामृत शतक इन तीनों ग्रंथों के रचयिता एक ही प्रबोधानद थे। 'हरिवंशाष्टक' के संबंध में निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता है कि यह उनकी रचना है या नही। उनकी सांप्रदायिक मान्यता के संबंध मे हमारा मत है, वे चैतन्य संप्रदायी थे। वृंदावन मे निवास करने पर वे हित जी द्वारा प्रचारित रसोपासना के प्रति आकर्षित होकर उनके सहयोगी बन गये थे। हित जी के सत्संग का प्रभाव उनके संगीत माधव और वृंदावन महिमामृत शतको मे स्पष्टतया दिखलाई देता है। उनके लिए यह आवश्यक नहीं था कि वे चैतन्य सप्रदाय को छोड कर राधावल्लभीय सप्रदाय मे दीक्षित होते। उस समय के सभी भक्त महानुभाव उदार दृष्टिकोण के थे। वे अपने-अपने सप्रदायो के प्रति सुदृढ आस्था रखते हुए भी अन्य संप्रदायी महात्माओ के प्रति भी श्रद्धावान थे।

प्रबोधानंद जी के ग्रंथो मे भक्ति–भागीरथी के साथ काव्य–सरिता का अपूर्व संगम हुआ है। इसीलिए वे भक्त जनो और काव्य–प्रेमियो दोनो वर्गों के सहृदय व्यक्तियो को समान रूप से प्रिय रहे हैं। उनकी रचनाओ मे जैसा लालित्य और माधुर्य है, वैसा कम कवियो के कथन मे मिलता है। वे वृंदावन मे कालियदह नामक स्थल पर निवास करते थे। उनका देहावसान भी उसी स्थान पर हुआ था। वहाँ उनकी समाधि भी बनी हुई है।

शिष्य समुदाय—श्री हित हरिवंश जी के बहुसंख्यक शिष्य थे। उनमें से कुछ प्रमुख शिष्यो के वृत्तात भक्तमाल, रसिक अनन्य माल तथा राधावल्लभ सप्रदाय के विविध ग्रंथो मे मिलते हैं। हमने हित जी के आरभिक शिष्य नरवाहन जी, नवलदास जी और पूरनदास जी का उल्लेख गत पृष्ठो मे किया है। हमने लिखा है, नवलदास जी और पूरनदास जी ने हित जी के पदो को सुन कर व्यास जी तथा परमानद जी वृंदावन आये थे और उन्होंने हित जी के उपदेश से अपनी भक्ति-भावना को सुदृढ किया था। परमानद जी शाही मनसबदार और राजा की सम्मानित उपाधि प्राप्त थे। वे सिंध प्रदेश मे ठट्ठा के प्रशासनिक अधिकारी थे, किंतु प्रेम–भक्ति के प्रति आकर्षण होने से सब-कुछ छोड कर वृंदावन आ गये थे। उन्होने स. १५९२ के भाद्रपद मास मे हित जी से दीक्षा ली थी[1]। उसके उपरात वे माधुर्य भक्ति और साधु-सेवा करते हुए स्थायी रूप से वृंदावन मे रहे थे। भगवत-मुदित जी ने लिखा है, प्रबोधानद जी जैसे वेदांती सन्यासी परमानद जी की प्रेरणा से ही हित जी की प्रेम–भक्ति और रसोपासना को ग्रहण कर वृंदावन के अनन्य उपासी हुए थे[2]। बीठलदास श्री हित हरिवंश जी के अत्यत कृपा-पात्र शिष्य थे। उनके लिए हित जी ने दो पत्र लिखे थे, जिनमे शिष्यो के प्रति उनकी सहज आत्मीयता की अच्छी अभिव्यक्ति हुई है। हित जी के एक शिष्य मोहनदास कदाचित इन बीठलदास के छोटे भाई थे। वे दोनो भाई इतने गुरु–भक्त थे कि हित जी का देहावसान होने पर उन्होने भी उनके वियोग में अपने प्राण छोड दिये थे।

छबीलदास और नाहरमल देवबन के निवासी थे। वे हित जी के आरभिक जीवन मे ही उनके अनुगत हो गये थे। छबीलदास तमोली थे। वे हित जी द्वारा देवबन मे प्रतिष्ठित ठाकुर श्री रगीलाल जी की सेवा के लिए बडी श्रद्धापूर्वक पान की ढोली अर्पित किया करते थे। जब हित जी देवबन से वृंदावन चले गये, तब वे भी उनके वियोग मे व्याकुल होकर वृंदाबन आये थे।

---

(१) रसिक अनन्य माल मे 'परमानंददास जी की परचई'

(२) वही ,, 'प्रबोधानंद जी की परचई'

हित जी ने उन्हे श्रीराधा–कृष्ण के दिव्य रास का दर्शन कराया था। वे उसका सुखानुभव करते हुए इतने अभिभूत हुए कि अपना शरीर छोड कर नित्य लीला मे प्रवेश कर गये। नाहरमल कायस्थ जाति के सभ्रात व्यक्ति थे। वे भी हित जी के दर्शनार्थ वृंदावन आये थे। उन्होने देखा कि श्री राधावल्लभ जी की छोटी से छोटी सेवा भी हित जी स्वय करते है, यहाँ तक कि रसोई के लिए ईंधन भी वे स्वय ही बन से लाते है। नाहरमल जी ने उनका श्रम बचाने के लिए अपने व्यय से धीमर जाति के एक भृत्य की व्यवस्था करने का प्रस्ताव किया था। उसे सुन कर हित जी उनसे रुष्ट हो गये। उन्होने कहा,—'तुम रजोगुण के व्यक्ति हो, मुझ से मेरे प्रभु की सेवा छुडवाना चाहते हो। मै तुम्हारा मुख भी नही देखना चाहता।' इस प्रकार प्रताडित होने पर नाहरमल जी ने तब तक अन्न–जल ग्रहण न करने का प्रण किया, जब तक कि हित जी पुन उन पर प्रसन्न न हो जावे। उनकी उस कठोर प्रतिज्ञा से द्रवीभूत होकर हित जी उन पर पूर्ववत् कृपा करने लगे थे[१]। इन प्रमुख शिष्यो के अतिरिक्त हित जी के अतरग शिष्यो मे उनके चार पार्षद: गगा, गोविंदा, रगा और मेधा के नाम भी मिलते है।

हित जी की महिला शिष्याओ मे कर्मठीबाई और गगाबाई–यमुनाबाई के नाम उल्लेखनीय है। कर्मठीबाई बाल–विधवा थी। दैव योग से उसके पति के पश्चात् उसके पिता का भी देहात हो गया था। वह इस प्रकार अनाथ हो जाने से कठोर तपस्या द्वारा अपना शरीर सुखाने लगी। उसका वृद्ध ताऊ हरिदास श्री हित जी का भक्त था। उसने कर्मठीबाई को हित जी से मत्र–दीक्षा दिला कर उसे भक्ति मार्ग मे लगा दिया। उसके उपरात कर्मठीबाई कथा–कीर्तन और भगवत-सेवा मे अपना जीवन विताने लगी। मथुरा का मुसलमान शासक उसके रूप पर मोहित हो गया था। वह अपने कुचक्र द्वारा उसे हथियाने की चेष्टा करने लगा, किंतु हित जी के कारण उसके सतीत्व की रक्षा हुई थी[२]। गगाबाई और यमुनाबाई ब्रज के कामबन नामक स्थान की दो अनाथ बहिने थी। उन्हे मथुरा के एक गुणी गायक मनोहर ने पाल–पोष कर बडा किया था। उसने उन दोनो को गायन और नृत्य की भली भाँति शिक्षा दी थी। वह उनसे राज–दरबार मे नृत्य कराने लगा, जिससे उसने पर्याप्त धनोपार्जन किया था। कुछ समय पश्चात् उसकी मृत्यु हो गई और उसका समस्त धन गगा–यमुना को प्राप्त हुआ। उस समय उन्हे नृत्य-गान के धधे से विरक्ति हो गई, और वे अपना शेष जीवन भगवत्–भक्ति मे बिताने का विचार करने लगी। उसी समय हित जी के शिष्य परमानद जी से मिलने का उन्हे सुयोग प्राप्त हुआ था। वे उनकी प्रेरणा से वृदावन जा कर हित जी की शिष्या हो गई। उन्होने अपना समस्त धन भी हित जी को अर्पित करना चाहा, किंतु उन्होने उसे स्वीकार नही किया। फिर वे हित जी के आदेशानुसार अपने धन को श्रीहरि और हरिभक्तो की सेवा मे लगाने लगी। इसके साथ ही उन्होने अपनी नृत्य–गान की कलाओ को भी भगवत–सेवा के लिए ही समर्पित कर दिया था। उन सब बातो से उनकी बडी प्रसिद्धि हो गई थी। मथुरा का मुसलमान शासक उनकी ओर कुदृष्टि से देखने लगा, किंतु हित जी के कारण उसकी दाल नही गली[३]। इस प्रकार हित हरिवश जी की कृपा से वे दोनो बहिने अपने जीवन को सार्थक करने मे समर्थ हो सकी थी।

---

(१) रसिक अनय माल में 'नाहरमल जी की परचई'

(२) वही ,, 'कर्मठीबाई जी की परचई'

(३) वही ,, 'गंगा–यमुनावाई जी की परचई'

श्री सेवक जी—राधावल्लभ सप्रदाय मे श्री दामोदरदास उपनाम 'सेवक जी' को भी श्री हित हरिवश जी का शिष्य माना जाता है, यद्यपि वे हित जी के जीवन-काल मे उनसे दीक्षा प्राप्त नही कर सके थे। श्री भगवतमुदित जी द्वारा लिखे हुए उनके वृत्तात से ज्ञात होता है कि वे मध्यप्रदेश राज्यातर्गत गोडवाना के गढा नामक स्थान के निवासी थे। उनके एक पडोसी मित्र चतुर्भुजदास थे। सेवक जी और चतुर्भुजदास जी दोनो ही ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए थे और वे प्रगाढ विद्वान, हरिभक्ति–परायण एव साधु-सेवी थे। उन्हे एक सुयोग्य गुरु की तलाश थी। एक बार हित जी की शिष्य-मडली के कुछ रसिक भक्त गढा गये थे। उन्होने वहाँ पर हित जी के पदो द्वारा युगल-केलि का गायन किया था। उसे सुन कर सेवक जी और चतुर्भुजदास जी हित जी की ओर आकर्षित होकर उनसे मत्र-दीक्षा लेने के लिए वृदावन जाने का विचार करने लगे। किंतु इसी सोच-विचार मे काफी समय निकल गया और उधर वृदावन मे हित जी का देहावसान हो गया। जब उन दोनो को वह समाचार ज्ञात हुआ, तब वे हित जी के वियोग मे बडे दुखी हुए, यहाँ तक कि उनकी उन्मत्तो की सी दशा हो गई थी। उसके बाद उन्हे समाचार मिला कि हित जी के ज्येष्ठ पुत्र वनचद्र जी राधावल्लभ सप्रदाय के आचार्य हुए है, और वे अपने पिता के समान ही सुयोग्य है। चतुर्भुजदास जी ने सेवक जी से वृदावन चल कर श्री वनचद्र जी से दीक्षा लेने को कहा। इस पर उन्होने उत्तर दिया,—'मैं श्री हरिवश जी को अपना गुरु मान चुका हूँ, मैं तो उन्ही से दीक्षा लूँगा, अन्यथा अपने प्राण छोड दूँगा।' उनकी उस अद्भुत हठ के कारण चतुर्भुजदास जी तो उन्हे छोड कर वृदावन चले गये, और वहाँ श्री वनचद्र जी के शिष्य हो गये। उधर सेवक जी अपने हठपूर्ण प्रण द्वारा जीवन की बाज़ी लगा कर बैठ गये। राधावल्लभ सप्रदाय की मान्यता है, श्री हित हरिवश जी ने स्वप्न मे सेवक जी को मत्र-दीक्षा देने के साथ ही साथ उन्हे प्रेम-भक्ति और रसोपासना का मर्म भी भली भाँति समझाया था। उससे सेवक जी कृतार्थ हो गये, और उन्होने अपने निवास-स्थल गढा मे ही हित जी के पदो के भाष्य रूप मे अपनी सुप्रसिद्ध 'सेवक वाणी' की रचना की थी। ब्रज से सैकडो मील दूर ऐसी समृद्ध ब्रजभाषा मे रचना करना उनके प्रौढ कवित्व का परिचायक है।

जब श्री वनचद्र जी को सेवक जी की अलौकिक मत्र-दीक्षा और उनकी महान् वाणी–रचना के विषय मे ज्ञात हुआ, तो वे उनकी अनन्य श्रद्धा-भावना और अपूर्व महिमा से बडे चमत्कृत हुए। उन्होने अत्यत आग्रह पूर्वक उन्हे वृदावन आने का सदेश भेजा। इस पर सेवक जी अपने जीवन मे प्रथम वार वृदावन गये, और वहाँ श्री राधावल्लभ जी का दर्शन तथा वनचद्र जी का सत्सग प्राप्त कर कृतकृत्य हो गये। राधावल्लभ सप्रदाय की मान्यता है कि वृदावन आ कर श्री सेवक जी इतने रस-विभोर हो गये कि वहाँ केवल दस दिन तक ही जीवित रह सके थे। उसके उपरात वे रासमडल के एक वृक्ष के नीचे प्रिया–प्रियतम की रस–क्रीडाओ की अनुभूति मे अपना शरीर छोड कर निकुज लीला मे प्रवेश कर गये। श्री वनचद्र जी ने उनके सन्मान मे यह नियम वना दिया कि 'हित चौरासी' और 'सेवक-वाणी' दोनो रचनाएँ साथ-साथ लिखी और पढी जावे[1]। राधावल्लभ सप्रदाय मे इस नियम का अव भी पालन किया जाता है। श्री सेवक जी की विद्यमानता के काल का प्रामाणिक उल्लेख नही मिलता है। ऐसा अनुमान होता है, वे स. १५७७ के लगभग उत्पन्न हुए थे और उनका देहावसान स १६१० मे हुआ था।

---

(१) तब तै आज्ञा दई गुसाई। पोथी दोऊ मिली लिखाई।
'चौरासी' अरु 'सेवक-वानी'। इक सँग लिखत-पढत सुखदानी ॥
—रसिक अनन्य माल मे 'श्री सेवक जी की परचई'

हित जी का व्यक्तित्व और महत्त्व—श्री हित हरिवश जी का व्यक्तित्व अत्यत आकर्षक और प्रभावपूर्ण था। भजन-ध्यान तथा उपासना-भक्ति से दैदीप्यमान उनकी तेजोमयी मुख-मुद्रा और उनके शालीनतापूर्ण मृदुल व्यवहार मे कुछ ऐसा अद्भुत आकर्षण था कि बडे से बडा व्यक्ति भी उनके समक्ष आते ही श्रद्धावनत हो जाता था। नरवाहन जैसा दुर्दमनीय दस्युराज और हरिराम व्यास जैसे उद्भट शास्त्रार्थी विद्वान हित जी से भेट करते ही अत्यत विनीत भाव से उनके प्रति अनुरक्त हुए थे। उस काल के धर्माचार्य प्राय विरक्त और प्रकाड पडित होते थे। वे धर्म ग्र थो के आलोडन और शास्त्रार्थ द्वारा अन्य मतो का खडन कर अपने मत का मडन करते थे। किंतु हित हरिवश जी गृहस्थ थे और शास्त्रार्थी पडित भी नही थे, फिर भी प्रबोधानद जी जैसे परमोच्च कोटि के विद्वान सन्यासी उनके श्रद्धालु भक्त हुए थे। हित जी ने शास्त्रार्थ, खडन-मडन एव वाद-विवाद के बिना ही अपनी प्रेम–भक्ति का प्रचार किया था, और उसका बडा व्यापक प्रभाव पडा था।

वे अपने मधुर स्वभाव, अपनी माधुर्य भाव की उपासना और अपनी सरस काव्यमयी एव सगीतपूर्ण मधुर 'वाणी' के कारण माधुर्य के मूर्तिमान स्वरूप थे। इसीलिए राधावल्लभ सप्रदाय मे उन्हे श्रीकृष्ण की वशी का अवतार माना जाता है। उनकी अपने उपास्य के प्रति ऐसी अनुपम निष्ठा एव सुदृढ आस्था थी कि उन्होने किसी भी दूसरे अवतार अथवा देवी–देवता के आराधन करने की आवश्यकता नही समझी थी। जिस प्रकार मीराबाई 'मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरौ न कोई'—का गायन करती हुई किसी भी अन्य देवी–देवता की अपेक्षा एक मात्र श्री गिरिधर गोपाल के प्रति ही अनुरक्त हुई थी; उसी प्रकार हित जी ने भी 'मेरे प्राणनाथ श्रीश्यामा, शपथ करौ तृन छिये' की घोषणा द्वारा श्रीराधा जी के प्रति ही अपनी अनन्य निष्ठा व्यक्त की थी। यहाँ तक कि उन्होने श्रीराधा जी के अतिरिक्त किसी अन्य देवी–देवता का कथन, दर्शन और श्रवण करने पर अपनी जिह्वा, अपने नेत्र और कर्णों के भी नष्ट हो जाने की कामना की थी,—'रसना कटौ जु अन रटौ, निरखि अन फुटौ नैन। स्रवन फुटौ जो अन सुनौ, बिन राधा जस बैन ।।, यह हित जी के अनन्य भाव की पराकाष्ठा थी।

हित हरिवश जी के पूर्ववर्ती जितने भी धर्म–प्रवर्तक आचार्य हुए थे, उन सबने अपने-अपने मतो का समर्थन शास्त्रोक्त प्रमाणो से किया था और अपने सिद्धात ग्रथो की रचना सस्कृत भाषा मे की थी। हित जी पहिले धर्माचार्य थे, जिन्होने अपने मत के समर्थन मे किसी शास्त्रीय प्रमाण की आवश्यकता नही समझी थी, और अपने भक्ति–सिद्धात को सरस कवित्व के माध्यम से जन–भाषा मे प्रकट किया था। उस काल की लोक प्रचलित ब्रजभाषा मे कथित हित जी की 'वाणी' जहाँ राधावल्लभ सप्रदाय मे वेद–शास्त्रो के समान प्रामाणिक मानी जाती है, वहाँ ब्रजभाषा साहित्य मे भी उसका अनुपम काव्य-महत्व माना गया है।

हित जी के अद्भुत प्रभाव और अनुपम महत्व के कई कारण वतलाये जा सकते हैं। प्रथम कारण तो उनके द्वारा एक ऐसे भक्ति सप्रदाय का प्रचार करना था, जिसके लिए न तो घर-वार को छोड कर विरक्त होना अनिवार्य था और न कठोर व्रत-अनुष्ठान करने ही आवश्यक थे। दूसरा कारण उनके द्वारा नित्य विहार की माधुर्यमयी रसोपासना का प्रचलन करना था, जिसे उन्होने वाद-विवाद और शास्त्रीय उलझन से रहित केवल शुद्ध प्रेम-तत्त्व पर आधारित किया था। तीसरा कारण अनेक देवी-देवताओ के स्थान पर सर्वोपरि परम तत्त्व रूप श्री राधावल्लभ जी के प्रति ही अनन्य निष्ठा का प्रचार करना था। चौथा कारण उस काल की लोकप्रिय ब्रजभाषा मे कथित अत्यत सरस और समर्थ गेय काव्य के माध्यम से अपनी उपासना-भक्ति के मत को प्रस्तुत करना था।

राधावल्लभीय भक्ति-सिद्धात और उपासना-पद्धति —

भक्ति-सिद्धांत—साधारणतया 'सिद्धात' का अभिप्राय दार्शनिक विवेचन से होता है। इसमे ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, मोक्ष आदि के स्वरूप-निर्धारण द्वारा अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैतादि सिद्धातो की स्थापना की जाती है, और उनकी सपुष्टि ब्रह्मसूत्रादि के भाष्य द्वारा होती है। इसी परपरा का पालन करते हुए रामानुजाचार्य से वल्लभाचार्य तक प्राय सभी वैष्णव सप्रदायाचार्यो ने अपने-अपने भक्ति-सिद्धातो को किन्ही विशिष्ट दार्शनिक सिद्धातो पर आधारित किया है। किंतु राधावल्लभ सप्रदाय के आचार्य श्री हित हरिवश जी ने न तो दार्शनिक ऊहापोह द्वारा किसी विशिष्ट सिद्धात की स्थापना कर उसे ब्रह्मसूत्र भाष्य द्वारा सपुष्ट करने की चेष्टा की, और न अपने भक्ति-सिद्धात को किसी प्राचीन या नवीन दार्शनिक सिद्धात से सबद्ध करने का ही प्रयास किया था। गौडीय सप्रदाय के प्रवर्त्तक श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी दार्शनिक सिद्धान की स्थापना और ब्रह्मसूत्र-भाष्य की रचना नही की थी, किंतु उनके विद्वान पार्षद गौडीय गोस्वामियो ने इस सप्रदाय के समर्थन मे गहन विवेचनात्मक शास्त्रीय ग्रथो का प्रणयन किया था, जिनमे दार्शनिक मीमासा का भी अभाव नही था। किंतु श्री हित हरिवश जी ने अपने सप्रदाय को शास्त्रीय जटिलताओ से भी मुक्त रखा था।

श्री हित हरिवश जी ने अपने साप्रदायिक उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा है,—'सृष्टि का रचयिता कौन है, कौन इसे धारण करता है और कौन इसका सहार करता है,—इन निरर्थक बातो पर विचार करने के लिए हमे अवकाश नही है। हमारा प्रयोजन तो श्रीराधा-कृष्ण की केलि-क्रीडाओ वाली कुज-वीथियो की उपासना करना है[1]।' उक्त प्रयोजन की सिद्धि के निमित्त हित जी ने अपने सप्रदाय की उपासना-भक्ति के लिए 'प्रेम-तत्त्व' को स्वीकार किया था। यदि इसे दर्शन से समन्वित करना आवश्यक समझा जावे, तो इसे 'प्रेम दर्शन' कहा जा सकता है। राधावल्लभ सप्रदाय मे इसे 'हित' का पारिभाषिक नाम दिया गया है। इस प्रकार यह 'प्रेम तत्त्व' किंवा 'हित तत्त्व' ही राधावल्लभ सप्रदाय का भक्ति-सिद्धात है। इसकी रसपूर्ण विवेचना के लिए हित जी ने श्रीराधा-कृष्ण की निकुज-लीलाओ के गायन रूप मे अपनी सरस 'वाणी' का कथन किया है। यह 'वाणी' ही राधावल्लभ सप्रदाय की मूल सैद्धातिक रचना मानी जाती है।

श्री हित हरिवश जी ने अपने भक्ति-सिद्धात की रूप-रेखा इस प्रकार बतलाई है,—

सबसौ हित, निष्काम मति, वृदावन विश्राम। श्री राधावल्लभलाल कौ हृदय ध्यान मुख नाम ॥१॥
तनहिं राखि सत्सग मे, मनहिं प्रेमरस भेव। सुख चाहत 'हरिवश हित', कृष्ण-कल्पतरु सेव[2] ॥२॥

दार्शनिकता से सबद्ध करने का प्रयास—श्री हित हरिवश जी के साम्प्रदायिक मन्तव्य और उनके भक्ति-सिद्धात मे दार्शनिक जटिलता न होते हुए भी कतिपय राधावल्लभीय विद्वानो ने इसे दार्शनिकता से सबद्ध करने का प्रयास किया है, और उसके लिए ब्रह्मसूत्रो के 'राधावल्लभीय भाष्य' भी प्रस्तुत किये है। इस प्रकार के प्रयत्न निश्चय ही इस सप्रदाय के आद्याचार्य की मूल भावना के विरुद्ध है। राधावल्लभ सप्रदाय मे ब्रह्मसूत्रो के चार भाष्य होने की प्रसिद्धि है। उनमे से एक भाष्य श्री हित जी के पुत्र श्री कृष्णचद्र गोस्वामी कृत कहा जाता है। अभी तक उसके केवल दो सूत्र हिंदी

(१) राधा सुधानिधि, २३५
(२) हित हरिवंश कृत 'स्फुट वाणी'

भाष्य सहित प्रकाश मे आये है[1]। डा० विजयेन्द्र स्नातक ने इन भाष्य को पूर्ण रूप मे उपलब्ध होना संदिग्ध बतलाया है[2]। हमे भी कुछ ऐसा ही लगता है; कारण यह है कि यदि यह भाष्य होता, तो राजा जयसिंह की 'धर्म सभा' मे अवश्य उपस्थित किया जाता। गौडीय विद्वान श्री बलदेव विद्याभूषण के 'गोविंद भाष्य' द्वारा उस समय चैतन्य संप्रदायी भक्तो के गौरव की रक्षा हुई थी; किंतु राधावल्लभीय संप्रदाय के तत्कालीन आचार्य उसके अभाव मे बडी कठिनाई मे पड गये थे। श्री रूपलाल गोस्वामी को तो वृंदावन ही छोडना पडा था।

वास्तविकता यह है कि १८वी शती तक राधावल्लभ संप्रदाय मे कोई ब्रह्मसूत्र भाष्य नही था। उसके बाद ही इन तथाकथित भाष्यो की रचना हुई और इस संप्रदाय के भक्ति–सिद्धांत को दार्शनिकता का जामा पहिना कर उसे 'सिद्धाद्वैत' नाम से प्रचारित किया गया। इस प्रकार के प्रयत्नो मे किसी विशिष्ट दार्शनिक सिद्धांत की स्थापना का उद्देश्य नही था, वरन् वैष्णव धर्म के चतुः संप्रदायो की परंपरा मे राधावल्लभ संप्रदाय को स्थिर करने की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति थी।

डा० विजयेन्द्र स्नातक ने इस संबंध मे विस्तार से विचार किया है। उनका मत है, न तो 'सिद्धाद्वैत' शब्द के अर्थ की संगति राधावल्लभीय भक्ति–सिद्धांत से होती है, और न इस संप्रदाय को चतुः संप्रदाय की परंपरा मे ही स्थिर किया जा सकता है। उन्होने अपने विवेचन का निष्कर्ष बतलाते हुए कहा है,—'इस संप्रदाय मे न तो दार्शनिक जटिलता है, और न भक्ति–सिद्धांत का शास्त्रीय विवेचन ही। हृदय की रस–स्निग्ध भावनाओ की सहज स्वीकृति और सरस अभिव्यक्ति ही राधावल्लभीय भक्ति–सिद्धांत की नीव और रसोपासना का आधार है[3]।'

श्री ललिताचरण गोस्वामी ने भी प्रायः इसी प्रकार का मत प्रकट किया है। उनका कथन है,—'श्री चैतन्य एवं श्री हित हरिवंश ने प्रेम–भक्ति को संपूर्ण वेदो का सार बतला कर उसको सब वेदांतवादो से परे घोषित किया एवं उसकी प्रतिष्ठा के लिए किसी वेदांतवाद की सहायता को अनावश्यक बतलाया।...श्री हित हरिवंश का जीवन भी शुद्ध प्रेममय एवं सर्वथा विवादशून्य था। विवाद के द्वारा दार्शनिक मत की प्रतिष्ठा की जा सकती है, प्रेम–सिद्धांत की नही। इसके लिए तो केवल प्रेमपूर्ण मन, कर्म और वाणी की आवश्यकता है[4]।'

राधावल्लभीय भक्ति की कठिनता—राधावल्लभीय भक्ति की मूल रचना श्री हित हरिवंश जी की 'वाणी' है, जो 'हित चौरासी' और 'स्फुट वाणी' नामक दो छोटी पोथियो मे सन्निहित है। इस 'वाणी' के स्वल्पाकार से और उसमे भी केवल दो दोहो मे ही हित जी द्वारा अपने भक्ति-तत्व की रूप-रेखा बतलाये जाने से इसका परिज्ञान कठिन नही होना चाहिए। किंतु बात ऐसी नही है। राधावल्लभीय भक्ति-तत्त्व कहने-सुनने मे चाहे कितना ही सीधा-सादा और सुगम जान पड़े, किंतु वास्तव मे यह बडा गूढ है और इसे यथार्थ रूप मे समझना बडा कठिन है। इसीलिए नाभा जी ने कहा है, गो. हरिवंश जी के भजन की रीति कोई विरला भाग्यवान ही जानता है,—'हरिवंश गुसाईं भजन की रीति, सकृत कोउ जानि है।'

---

(१) श्री सुदर्शन मासिक पत्र (माघ, सं. १९९३) प्रकाश ३, किरण १

(२) श्री राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ १२८–१२९

(३) वही ,, ,, , पृष्ठ १२९

(४) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ ९९–९८

हित जी के भक्ति–तत्त्व और उनकी भजनोपासना को स्पष्ट करने के लिए राधावल्लभ सप्रदाय के कई विशिष्ट भक्तो ने अपनी 'वाणी' का प्रणयन किया है। ऐसे भक्त महानुभावों मे सर्वश्री दामोदरदास 'सेवक जी' और ध्रुवदास जी अग्रगण्य है। सेवक जी को हित जी की वाणी तथा उसमे सन्निहित राधावल्लभीय भक्ति–तत्त्व के प्रथम टिप्पणीकार और ध्रुवदास जी को उसका विशद भाष्यकार माना जाता है। वस्तुत इन दोनों महानुभावो की रचनाओं को ही इस सप्रदाय मे टीका, टिप्पणी और भाष्य का महत्त्व दिया गया है। जिन तथाकथित भाष्यों का पहिले उल्लेख किया गया है, वे व्यर्थ है।

राधावल्लभ सप्रदाय मे सर्वश्री सेवक जी और ध्रुवदास जी की वाणी का पर्याप्त प्रचार है, जिससे राधावल्लभीय भक्त जन तो अपने सप्रदाय की भक्ति–उपासना मे थोड़े-बहुत परिचित रहे है; किंतु वाहरी व्यक्तियो को इसकी बहुत कम जानकारी रही है। श्री ललिताचरण गोस्वामी का तो यहाँ तक कहना है कि राधावल्लभ सप्रदाय के साधन सम्पन्न अनुयायियो को छोड़ कर अन्य लोगों को, चाहे वह इस सप्रदाय के अदर है या वाहर, इसके सबध मे बहुत कम मालूम है[1]। इस गूढ़ता के दुर्ग मे प्रवेश करने का प्रथम प्रयास सप्रदाय के बाहर के एक विशिष्ट विद्वान डा० विजयेन्द्र स्नातक ने किया है। उनकी परिश्रमसाध्य और विद्वत्तापूर्ण रचना 'राधावल्लभ सप्रदाय सिद्धात और साहित्य' का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वे अपने अध्यवसाय मे सफल हुए है। दूसरा प्रयास इस सप्रदाय के अदर के ही एक अधिकारी विद्वान श्री ललिताचरण गोस्वामी का है, जिनकी अधिकृत रचना 'श्री हित हरिवश गोस्वामी . सप्रदाय और साहित्य' है। इन दो विशिष्ट ग्रथो के उपलब्ध हो जाने से अब राधावल्लभ सप्रदाय के भक्ति–सिद्धात और उसकी उपासना–पद्धति की गूढ़ता बहुत-कुछ कम हो गई है, और इनका समझना कुछ सरल हो गया है।

भक्ति और प्रेमोपासना—राधावल्लभ सप्रदाय की भक्ति का आधार 'प्रेम तत्त्व' है, जिसे 'हित' की सज्ञा दी गई है। साधारणतया ब्रज के सभी धर्म–सप्रदायो मे प्रेम का महत्त्व स्वीकृत है और इसे भक्ति–साधना का सर्वोत्तम साधन माना गया है, किंतु राधावल्लभ सप्रदाय मे प्रेम का जो स्वरूप मान्य है, वह अन्य सप्रदायो मे कही अधिक व्यापक और विलक्षण है। इस सप्रदाय के अनुसार 'प्रेम' किंवा 'हित' एक मात्र परात्पर तत्त्व है, और भगवान्, भक्ति एव भक्त इसी के विविध नाम–रूप है। इस प्रकार समस्त विश्व इस प्रेम देवता का ही लीला-विलास है। 'प्रेम ही परमाराध्य भगवत्-तत्त्व है, और यही परम ज्ञान का प्रयोजक एव ज्ञान-घन-स्वरूप है। प्रेम ही आत्मा है, क्यो कि श्रुति ने आत्मा को प्रियता का एक मात्र आस्पद बतलाया है। श्री हित हरिवश को प्रेमस्वरूप श्रीराधा से प्रेम-मत्र की दीक्षा मिली थी, अत उनको प्रेम का दर्शन गुरु रूप मे प्राप्त हुआ था। प्रेम-गुरु के लिए उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द 'हित' है, जो परम प्रेम के अदर सहज रूप से स्थित अन्य को सुखी करने की वृत्ति का द्योतक है[2]।'

प्रेमोपासना मे तत्सुख और एकत्व की भावना—'प्रेम प्रेमी की रागात्मिका वृत्ति का वह रूप है, जो उसे प्रेमास्पद के प्रति आकृष्ट करके उसके दर्शन, स्पर्शन, वार्तालाप आदि द्वारा प्रेमी को सतुष्ट और सुखी बनाता है। सासारिक प्रेम मे, प्रेम करने वाला प्रेमी अपनी वृत्तियो के परितोष

---

(१) श्री हित हरिवश गोस्वामी सप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ १३

(२) वही ,, ,, ,, , पृष्ठ ७७

के लिए ही प्रेम के ससार मे प्रविष्ट होता है। स्व-सुख-सिद्धि ही सामान्यत. प्रेम का लक्ष्य भी माना जाता है, किंतु राधावल्लभीय प्रेम की परिभाषा इससे सर्वथा भिन्न है। यहाँ प्रेमी और प्रेमपात्र (श्री राधा और माधव) अपने प्रेम की परितुष्टि के लिए प्रयत्नशील न होकर दूसरे के परितोष मे ही आत्म समर्पण करते है। राधा की समस्त चेष्टाएँ माधव को रिझाने, प्रसन्न करने मे हैं और माधव राधा के प्रमोद और आनद की चेष्टा करते हैं। आत्म-विसर्जन के बाद ही दूसरे की तुष्टि सभव है; यही इस मत का प्रेम-सबधी सिद्धात है। इस सिद्धात को श्री हित हरिवश जी ने 'हित चौरासी' के प्रथम पद मे ही स्पष्ट किया है[1]।'

हित जी के उक्त पद मे श्रीराधा जी की उक्ति है। इसमे बतलाया है, मेरा प्रियतम जो कुछ भी करता है, उस सबसे मुझे आनद प्राप्त होता है, और मेरे तन-मन-प्राण भी सदैव अपने प्रियतम की प्रसन्नता के हेतु ही अर्पित रहते हैं। अत मे हित जी ने श्रीराधा-कृष्ण को एक ही प्रेम-तत्व बतलाया है, जिसने रस-क्रीडा के हेतु दो रूप धारण किये हुए हैं। इसके लिए उन्होंने जल की तरगों का उदाहरण देते हुए दोनो को एक-दूसरे से ओत-प्रोत और कभी अलग न होने वाला कहा है[2]।

हित हरिवश जी के इस सिद्धात वाची पद की भावना का कथन करते हुए सेवक जी ने कहा है,—राधा के विना श्याम की स्थिति नही है, और श्याम के बिना राधा की नही है। इनमे क्षण भर के लिए भी अतर नही होता है, क्यो कि ये एक प्राण दो देह है[3]।' इसी प्रकार ध्रुवदास जी ने भी कहा है,—'राधा-कृष्ण की एक प्रकार की रुचि, एक सी वय और एक सी प्रीति है। इनका शील-स्वभाव भी एक सा मृदुल है। इन्होने रस-क्रीडा के हेतु दो देह धारण किये हुए हैं[4]।'

संयोग में भी वियोग की सी स्थिति—प्रेम की चरम परिणति या तो सयोग मे होती है, या वियोग मे। वैष्णव सप्रदायी प्रेमोपासक रसिक भक्तो ने प्रेम की पूर्णता किसी ने सयोग मे मानी है, और किसी ने वियोग मे। किंतु श्री हित हरिवश जी ने प्रेम की इन दोनो स्थितियो को अपूर्ण वतलाया है। उन्होने अपने कथन की पुष्टि मे सारस और चकई के दृष्टात दिये है[5]। जीव-जगत् मे सारस सयोग का प्रतीक है और चकई वियोग का। सारस युगल सदैव सयुक्त रहते है; यदि उनमे से किसी एक का वियोग होता है, तो दूसरा तत्काल प्राण त्याग देता है। उन्हे विरह-वेदना का

---

(१) राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ १४७

(२) जोई-जोई प्यारौ करै सोइ मोहि भावै, भावै मोहि जोई-जोई, सोई-सोई करै प्यारे।
मोकौं तो भावती ठौर प्यारे के नैननि में, प्यारौ भयौ चाहै मेरे नैननि के तारे॥
मेरे तन-मन-प्रान हूँ ते प्रीतम प्रिय, अपने कोटिक प्रान प्रीतम मो सौं हारे।
हित हरिवश हंस-हंसिनी साँवल गौर, कहौ कौन करै जल-तरगिनि न्यारे॥ (हि. चौ)

(३) राधा सग विना नहीं श्याम। श्याम विना नहीं राधा नाम॥
छिन इक कबहुँ न अतर होई। प्रान सु एक देह है दोई॥ (सेवक-वाणी)

(४) एक रंग-रुचि, एक वय, एकै भाँति सनेह।
एकै शील-सुभाव मृदु, रस के हित दो देह॥ (रति मजरी)

(५) 'स्फुट वाणी' के दो कुंडलिया छंद देखिये—
१ सारस सर विछुरत कौं, जो पल सहै शरीर।६।
२ चकई प्राण जु घट रहै, पिय विछुरंत निकज्ज।५।

अनुभव ही नहीं होता है, अतः उनका संयोग अपूर्ण है। चकई प्रति रात्रि अपने प्रिय का वियोग सह कर भी जीवित रहती है, अतः उसका वियोग भी अपूर्ण है। इसलिए हित हरिवंश जी ने प्रेम की वह स्थिति सर्वोत्तम मानी है, जिसमें संयोग की तृप्ति और उन्माद के साथ वियोग की सी अतृप्ति और विकलता की भी अनुभूति हो[1]।

इस प्रकार की स्थिति अत्यंत सूक्ष्म और गूढ़ प्रेम में ही संभव है, और यही राधावल्लभीय प्रेम–भक्ति का आदर्श है। 'मिलन में भी विरह की इस मानसिक भावना की कल्पना का प्रयोजन यह है कि श्री हरिवंश जी के मत में नित्य मिलन की स्थिति होने से कदाचित् कोई यह न समझ ले कि उनके प्रेमभाव में विरह–सहज उद्वेग, उत्कर्ष, उन्माद, उद्दीपन और उत्ताप कभी होता ही नहीं। प्रेम की नूतनता और आस्वाद्यता बनाये रखने के लिए इस विरह की अनोखी सृष्टि की गई है[1]।' प्रेम की ऐसी अद्भुत स्थिति की मान्यता किसी अन्य संप्रदाय में नहीं है, अतः यह राधावल्लभ संप्रदाय की विशेषता है।

उपासना और 'नित्य विहार' की मान्यता— ब्रज के सभी प्रेमोपासक भक्ति–संप्रदायों में श्रीराधा–कृष्ण के 'नित्य विहार' किंवा उनकी 'निकुंज लीला' की मान्यता है। भक्त जनों की प्रेमोपासना का चरम लक्ष्य इसी के दिव्यानंद की प्राप्ति करना होता है। उनकी परम अभिलाषा रहती है कि वे नित्य निरंतर अपने आराध्य के नित्य विहार की निकुंज लीलाओं का अवलोकन कर दिव्य सुख की अनुभूति करते रहें। 'नित्य विहार' की मान्यता ने ब्रज की प्रेमोपासना को अन्य उपासना-पद्धतियों से पृथक् कर दिया है; किंतु इसकी परिकल्पना ब्रज के भक्ति–संप्रदायों में भी समान रूप मे नहीं की गई है।

डा० विजयेन्द्र स्नातक ने इसका संक्षिप्त परिचय देते हुए अपना मत प्रकट किया है कि 'नित्य विहार' को वास्तविक रूप में सबसे पहिले राधावल्लभ संप्रदाय मे ही माना गया है। उनका कथन है,—

"साम्प्रदायिक दृष्टि से 'नित्य विहार' शब्द एक गूढ़ रसलीन तात्त्विक व्यंजना का द्योतन कराने वाला है। उसे अनिर्वचनीय रस-दशा कहा जाता है। लौकिक दृष्टि से समझने के लिए यह कह सकते हैं कि एक शीतल, सघन सुरम्य निभृत निकुंज मे प्रिया-प्रियतम (राधा-माधव) अविच्छिन्न भाव से—सतत शाश्वत रति-क्रीडा मे संलग्न रहते हैं। उनकी यह केलि-क्रीडा बिना किसी बाह्य या आंतरिक अंतराय के अनवरत चलती रहती है। अपनी इस केलि-क्रीडा मे वे दर्शक-सहचरी रूप जीवात्मा को—दर्शन मात्र से अमित आनंद प्रदान करते है। सहचरी इस केलि को निकुंज रंध्रों से देख कर ही अपनी कृतार्थता मानती है। इस निकुंज लीला मे न तो निकुंजातर गमन संभव है, और न किसी प्रकार का स्थूल मान या स्थूल विरह ही। चैतन्य, निंबार्क और वल्लभ संप्रदाय के वर्णनो मे मान, विरह, कोप तथा निकुंजातर गमन का वर्णन होने से उसे एकात, विशुद्ध नित्य विहार नहीं कहा जा सकता।···जिस तात्त्विक अर्थ मे आज नित्य विहार शब्द का प्रयोग होता है हमारी दृष्टि मे उसका मूलाधार श्री गोस्वामी हित हरिवंश जी के 'हित चौरासी' और 'राधा सुधानिधि' नामक दो ग्रंथ ही हैं। इन्होंने नित्य विहार को सबसे पहले सूक्ष्म भावना-परक धरातल पर अवस्थित करके उसका वर्णन किया[2]।" डा० स्नातक की स्थापना के संबंध मे मतभेद हो सकता है, किंतु इसमें दो मत नहीं हैं कि राधावल्लभ संप्रदाय की नित्य विहार संबंधी मान्यता बडी भव्य और विलक्षण है।

---

(१) राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ १३६
(२) वही ,, ,, , पृष्ठ २४० और २३६

श्री हित हरिवंश जी ने नित्य विहार की निकुज लीलाओ का अत्यंत मनोयोग पूर्वक गायन किया है । उनका यह गेय कथन 'हित चौरासी' के अनेक उत्कृष्ट पदो मे उपलब्ध है[1] । नित्य विहार की विविध लीलाओ मे 'रास' सर्वोत्तम लीला है । इसके भी अनेक सरस पद 'हित चौरासी' मे मिलते हैं[2] । श्री हित हरिवश जी से प्रेरणा प्राप्त कर राधावल्लभ सप्रदाय के अनेक भक्त-कवियो ने 'नित्य विहार' का बडा मोहक वर्णन किया है । इस सप्रदाय के रसिक भक्तो की चिर आकाक्षा भी नित्यविहार के अवलोकन द्वारा शाश्वत सुख और दिव्यानद प्राप्त करने की ही होती है, किंतु सेवक जी के कथनानुसार इसका सौभाग्य श्री हरिवश जी की कृपा से ही प्राप्त होता है[3] । श्री ध्रुवदास जी ने अपनी कई रचनाओ मे 'नित्य विहार' के स्वरूप पर प्रकाश डाला है, और उसमे तल्लीन श्रीराधा-कृष्ण की रस-विभोर दशा का बडा मार्मिक कथन किया है[4] । राधावल्लभ सप्रदाय की इस सरस परिकल्पना को स्वामी हरिदास जी के सप्रदाय मे और भी अधिक सूक्ष्म रूप प्रदान किया गया है । इसके सबध मे हम आगामी पृष्ठो मे विस्तार से लिखेगे ।

'नित्य विहार' के विधायक तत्त्व—राधावल्लभीय भक्ति का चरम लक्ष जिस नित्य विहार की रसोपासना करना है, उसके तीन विधायक तत्व है,—१ श्रीराधा-कृष्ण, २ राधा जी की सखी-सहचरी और ३ श्रीवृ दाबन । श्रीराधा-कृष्ण को तो सभी कृष्णोपासक भक्ति-सप्रदायो मे परम तत्त्व माना गया है, किंतु 'नित्य विहार' की उपासना मे सखी-सहचरी और वृ दाबन को भी प्रमुख तत्त्व के रूप मे मान्यता प्राप्त हुई है । वास्तव मे इन तीनो के समुच्चय से ही नित्य विहार के वास्तविक स्वरूप का निर्माण होता है । यहाँ पर इन तत्त्वो के सबध मे सक्षिप्त रूप मे लिखा गया है ।

१. श्रीराधा-कृष्ण—नित्य विहार का सर्वोपरि विधायक तत्त्व श्रीराधा-कृष्ण का युगल स्वरूप है । कृष्ण-भक्ति के सभी सप्रदायो मे प्रेमोपासना के लिए राधा-कृष्ण के युगल स्वरूप की मान्यता है, क्यो कि युगल के विना, केवल श्रीकृष्ण से अथवा श्रीराधा से प्रेम-रस की निष्पत्ति नही हो सकती । किंतु राधावल्लभ सप्रदाय मे युगल की मान्यता अन्य सप्रदायो से विलक्षण और भिन्न है । जहाँ अन्य सप्रदायो मे राधा जी को श्रीकृष्ण की 'ह्लादिनी शक्ति', 'आराधिका', अथवा 'अनुरूप सौभगा' कहा गया है, वहाँ राधावल्लभ सप्रदाय मे उन्हे 'कृष्णाराध्या' माना गया है । इस प्रकार जो श्रीराधा जी स्वय श्रीकृष्ण की भी आराध्य है, वही इस सप्रदाय की इष्ट और साध्य है । राधा जी की प्रधानता लिए हुए युगल स्वरूप की यह मान्यता राधावल्लभ सप्रदाय की विशेषता है ।

---

(१) हित चौरासी, पद स ७, १७, २७, ३१, ३२, ३३, ६६ आदि
(२) वही , पद स ११, १२, १९, २४, ३६, ६२, ६८ आदि
(३) निरखत नित्य विहार, पुलकित तन रोमावली । आनद नैन सुढार, यह जु कृपा हरिवश की ।।
तृपित न मानत नैन, कुंज-रंध्र अवलोकि तिन । यह सुख कहत बनै न, यह जु कृपा हरिवंश की ।।
(४) १ नित्य विहार अखंडित धारा । एक वैन रस मधुर बिहारा ।। (प्रेमलता, २०)
२ छिन-छिन माँहि अचेत ह्वै, पल-पल माँहि सचेत ।
नहिं जानत या रंग मे गये कलप-जुग केत ।। (रग विहार, छद स २०)
३. नवल रंगीले लाल, रस मे रसीले अति, छवि सो छवीले, दोऊ उर धुरि लागे हैं ।
नैननि सो नैन कोर, मुख मुख रहे जोर, रुचि कौ न ओर-छोर, ऐसे अनुरागे हैं ।।
परे रूप सिधु मांझ, जानत न भोर सांझ, अंग-अंग मैन रग, मोद-मद पागे हैं ।
'हित ध्रुव' विलसत तृपित न होत कहूँ, जद्यपि लड़ैती-लाल सब निशि जागे हैं ।। (स.म.)

इस सप्रदाय मे श्रीराधा जी की प्रधानता होने का एक बडा कारण यह है कि इसमे उन्हे इष्ट और गुरु दोनो का महत्त्व प्राप्त है। साप्रदायिक मान्यता के अनुसार स्वय श्रीराधा जी ने हित हरिवश जी को मत्र-दीक्षा दी थी। अतएव इस सप्रदाय के गुरु-स्थान पर भी श्रीराधा जी प्रतिष्ठित हैं, इष्ट तो वे हैं ही। श्री हित हरिवश जी ने राधा जी के इस द्विविध महत्त्व के कारण उनके प्रति अपनी अनुपम आस्था व्यक्त की है, और उसकी स्पष्ट घोषणा उन्होने शपथ पूर्वक एव डका बजा कर कर दी है। उनका कथन है,—'कोई चाहे किसी भी देवी-देवता की उपासना मे मन लगावे, किंतु मैं शपथ पूर्वक कहता हूँ कि मेरे प्राणो की सर्वस्व तो एक मात्र श्रीराधा जी हैं। श्रीराधा जी के निकुज-विहार की ऐसी अद्भुत महिमा है कि विविध अवतारो की आराधना का दृढ व्रत धारण करने वाले भक्त जन जब इस रस का आस्वादन करते है, तब वे भी उल्लसित होकर अपनी मर्यादा को छोड बैठते हैं[1]।'

किंतु श्रीराधा जी की इतनी प्रधानता होने का यह अभिप्राय नही है कि इस सप्रदाय मे श्रीकृष्ण को सर्वथा गौण माना गया है। इस सबध मे श्री ललिताचरण गोस्वामी का कथन है,— 'हित हरिवश सच्चे युगल उपासक हैं और युगल मे समान रस की स्थिति मानते हैं। उनकी दृष्टि मे श्रीराधा की प्रधानता का अर्थ श्रीकृष्ण की गौणता नही है। कारण यह है, 'युगल के मिले बिना, अकेले श्रीकृष्ण अथवा श्रीराधा से रस की निष्पत्ति सभव नही है[2]।' सेवक जी ने इसीलिए कहा है,—'श्री हरिवश जी की साप्रदायिक रीति के अनुसार श्यामा–श्याम की एक साथ स्थिति ही है। वे एक प्राण दो देह के समान हैं। राधा कभी श्याम के सग विना नही रहती, और श्याम कभी राधा के सग विना नही रहते[3]।' इस प्रकार इस सप्रदाय मे श्रीकृष्ण भी श्रीराधा जी के साथ–साथ उपास्य और सेव्य तो हैं, किंतु उनकी उपासना-सेवा श्रीराधा जी के अनुपग से ही की जाती है। राधावल्लभियो के लिए श्रीकृष्ण इसलिए उपास्य हैं कि वे उनकी परमोपास्या श्रीराधा जी के प्रियतम हैं। वैसे नित्य विहार की निकुज लीला मे श्रीकृष्ण सदैव श्रीराधा जी के कृपा-कटाक्ष की कामना करते रहते हैं।

२. सखी–सहचरी—नित्य विहार के द्वितीय विधायक तत्त्व के रूप मे सखी-सहचरियो की स्थिति है। ये भी निकुज लीला के लिए उतनी ही आवश्यक हैं, जितने श्रीराधा-कृष्ण हैं, क्यो कि ये उनकी रस-क्रीडाओ की प्रेरक और सहायक होती है। इनके आध्यात्मिक रूप का विवेचन करते हुए डा० विजयेन्द्र स्नातक ने कहा है,—'सहचरी या सखी शब्द राधावल्लभ सप्रदाय मे जीव के निज रूप की पारमार्थिक स्थिति का नाम है। प्रत्येक जीव शरीर धारण करके अपने को सासारिक प्राणी

---

(१) रहौ कोऊ काहू मनहिं दियैं।
मेरे प्राणनाथ श्रीश्यामा, शपथ करौ तृण छियैं॥
जो अवतार कदब भजत हैं, धरि दृढ व्रत जु हियैं।
तेऊ उमँगि तजत मर्यादा, बन-विहार रस पियैं॥ (स्फुट वाणी, पद स. २०)

(२) श्री हित हरिवश गोस्वामी : सप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ २१९

(३) श्री हरिवश सुरीति सुनाऊँ। श्यामा–श्याम एक संग गाऊँ॥
छिन इक कबहुँ न अतर होई। प्रान सु एक देह हैं दोई॥
राधा संग बिना नहीं श्याम। श्याम बिना नहिं राधा नाम॥ (सेवक वाणी, ४-७)

के रूप मे मानता है, किंतु वह अपने यथार्थ तात्विक रूप मे सहचरी ही है। जब तक वह जीव रूप मे अपने को मान कर इस लोक मे लीन रहता है, तब तक भ्रम के जाल मे भटकता रहता है। किंतु जब उसके ऊपर श्रीराधा की कृपा होती है, तब वह सहचरी रूप को प्राप्त हो कर लौकिक सुख-दु.ख की अनुभूतियो से ऊपर उठ कर उस आनद को प्राप्त करने का अधिकारी बनता है, जो नित्य-विहार के दर्शन से उपलब्ध माना गया है। सहचरी स्त्री-पुरुष-रूप लिंगभेद विवर्जित है। किसी भी जाति के साथ उसकी सीमित परिकल्पना नही की जा सकती। जिस प्रकार 'राधावल्लभ' परम अव्यक्त, अगोचर पुरुष अनिर्वचनीय है, वैसे ही सखी-सहचरी भी अनिर्वचनीय हैं[1]।'

राधावल्लभ सप्रदाय की सखी-सहचरी अन्य सप्रदायो की गोपियो से सर्वथा भिन्न हैं। गोपियो मे श्रीकृष्ण के प्रति काता भाव भी था, वे उनसे प्रेम-मिलन द्वारा स्वसुख की कामना भी करती थी। किंतु इस सप्रदाय की सखी-सहचरियो मे श्रीकृष्ण के प्रति काता भाव लेश मात्र भी नही है। वे स्वसुख की अपेक्षा राधा-कृष्ण के सुख की कामना करती है, और उनकी प्रत्येक चेष्टा उन्ही को सुखी करने के हेतु होती है। श्रीराधा-कृष्ण को 'नित्य विहार' मे सतत् क्रीडा-रत देखने की उनकी एक मात्रा आकाक्षा रहती है। इसी मे उन्हे परमानद की अनुभूति होती है। उनका यह 'तत्सुख भाव' उन्हे 'स्वसुख' की आकाक्षा करने वाली गोपियो से पृथक् कर देता है। इस सप्रदाय की मान्यता के अनुसार श्रीराधा-कृष्ण का नित्य विहार सखी-सहचरियो द्वारा ही सम्पन्न होता है, और यह उन्ही के सुख के लिए किया जाता है। ध्रुवदास जी ने कहा है,—

नित्य विहार नितहिं सिंगार। पल-पल पावत सुख कौ सार।
नित्य सखिन कै यही अहार। नित्य सुरति-रत करत विहार।। (पद्यावली)

ये सखी-सहचरी सख्या मे अनत है। ध्रुवदास जी ने कहा है, रज के कणो, आकाश के तारो और बादल की बूदो की चाहे गणना की जा सके, किंतु सखी-सहचरियो की सख्या बतलाना सभव नही है[2]। इनमे आठ सखियाँ प्रमुख हैं,— १ ललिता, २ विशाखा, ३ रगदेवी, ४. चित्रा, ५ तुगविद्या, ६ चपकलता, ७ इदुलेखा तथा ८ सुदेवी, और इनमे भी ललिता प्रधान है। आठो प्रमुख सखियो मे से प्रत्येक के साथ आठ-आठ यूथेश्वरी सखियाँ होती है, जिनके अपने-अपने यूथो मे अनत सखियाँ सम्मिलित हैं।

३ **श्रीवृदावन**—नित्य विहार का अन्यतम विधायक तत्त्व श्रीवृदावन है। यह श्रीराधा-कृष्ण का नित्य निकुज धाम है और उनके नित्य रास का दिव्य स्थल है, अतएव इसे नित्य विहार के प्रमुख तत्त्व होने का स्वाभाविक गौरव प्राप्त है। इसका यह महत्व कृष्णोपासना के सभी सप्रदायो को स्वीकृत रहा है। राधावल्लभ सप्रदाय मे वृदावन के प्रति बडी अनन्य भावना है; इसीलिए नित्य विहार रस को 'वृदावन रस' भी कहा गया है।

स्कद, पद्म, ब्रह्मवैवर्त, भागवतादि पुराणो मे तथा गर्ग सहिता, ब्रह्म सहिता, नारद पचरात्र, गोपालतापिनी उपनिषद् आदि वैष्णव ग्रथो मे वृदावन का विविध रूपो मे बडा विशद वर्णन मिलता है। श्री प्रबोधानद जी कृत 'वृदावन-महिमामृत' के विविध शतको मे वृदावन का अत्यत

---

(१) राधावल्लभ सप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ २१९
(२) रजकन, उडुगन, बूंदघन, आवत गिनती माँहि।
कहत जोइ थोरी सोई, सखियन संख्या नाँहि।। (सभा मडल)

मनोहर कथन हुआ है। वृ दावन–महिमा का जैसा विशद यशोगान इन शतकों मे मिलता है, वैसा शायद ही किसी अन्य ग्र थ मे हो। पद्म पुराण, पाताल खड के द्वितीय अध्याय मे वृ दावन का माहात्म्य बतलाया गया है। उसी के आधार पर प्राय सभी वैष्णव भक्ति सप्रदायो मे वृ दावन का स्वरूप निर्मित हुआ है। वह वृ दावन भावना-परक दिव्य वृ दावन है, जिसके अलौकिक वैभव का बडा विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है। उसे शाश्वत और नित्य धाम माना गया है।

कृष्णोपासक सप्रदायो मे वृ दावन के अनेक रूपो की भावना है, किंतु इनमे दो रूपो को प्रमुखता दी गई है। ये रूप है,—१ नित्य अर्थात् अव्यक्त वृ दावन और २ प्रकट अर्थात् व्यक्त वृंदावन। नित्य अर्थात् अव्यक्त वृ दावन उस गोलोक का सर्वोत्तम भाग है, जो वैकुठ से श्रेष्ठ और उससे करोडो योजन ऊपर स्थित है। प्रकट अर्थात् व्यक्त वृ दावन उसी गोलोक स्थित दिव्य वृ दावन का अवतरित रूप है। राधावल्लभ सप्रदाय मे इस प्रकार का भेद–भाव नही माना गया है। इनकी मान्यता है कि यह व्यक्त अर्थात् प्रकट वृ दावन ही नित्य वृ दावन है। इनके अतिरिक्त कोई दूसरा अव्यक्त वृ दावन नही है। किंतु इसके यथार्थ रमणीक रूप का दर्शन उसी को होता है, जिस पर श्रीराधा जी कृपा करती हैं। श्री हित हरिवंश जी ने राधा–कृपा साध्य इस प्रकट वृ दावन को ही सर्वप्रथम प्रणाम किया है,—

'प्रथम यथामति प्रणमऊँ, वृ दावन अति रम्य। श्रीराधिका-कृपा बिनु, सबके मननि अगम्य॥'

ध्रुवदास जी ने भी वृ दावन के इसी रूप को मान्यता देते हुए कहा है,—'यह अनुपम वृ दावन इस जगतीतल पर प्रकट रूप मे नित्य प्रकाशित है, किंतु माया के कारण वह आँख रहते हुए भी सबको दिखाई नही देता है। राधा जी का निज धाम वह दुर्लभ वृ दावन उनकी कृपा के बिना भला कौन पा सकता है,—

प्रगट जगत मे जगमगै, वृ दा विपिन अनूप। नैन अछत दीसत नही, यह माया को रूप॥
दुर्लभ दुर्घट सबनि तें, वृ दावन निज भौन। नवल राधिका कृपा बिनु, कहियौ पावै कौन॥

राधावल्लभीय भक्त कवियो ने अपनी वाणियो मे इसी प्रकट और व्यक्त वृ दावन का बडा मनोरम कथन किया है। भक्त–कवि व्यास जी ने इस व्यक्त वृ दावन की महिमा का विस्तृत वर्णन करते हुए इसके वृक्ष-बेल, लता-गुल्म, पशु-पक्षी सभी को अपने लिए उपास्य माना है। इस प्रकार राधावल्लभ सप्रदाय की मान्यता के कारण ही वर्तमान वृ दावन को यह अनुपम गौरव प्राप्त हुआ है।

सेवा–पद्धति—किसी भी धर्म–सप्रदाय की उपासना–भक्ति मे सेवा-पद्धति का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। राधावल्लभीय सेवा–पद्धति अन्य वैष्णव सप्रदायो की सेवा-विधि से कुछ भिन्न और प्राय स्वतत्र है। 'इस सप्रदाय की सेवा मे किसी अवसर पर भी वैदिक, तान्त्रिक और पौराणिक मत्रो का प्रयोग नही होता और शुद्ध तत्सुखमयी प्रीति के आधार पर ही सेवा के सपूर्ण कार्यो का निर्वाह होता है।' इसके साथ ही सेव्य स्वरूप के समक्ष न तो आँख बद करके ध्यान किया जाता है, और न प्राणायाम–अगन्यासादि कर्म ही किये जाते है। इस सप्रदाय की मान्यता है, 'प्रभु के समक्ष ध्यानादिक करने से उनमे सेव्य भाव तत्काल शिथिल हो जाता है और उनके प्रति ब्रह्म बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। शुद्ध प्रेम का प्रकाश केवल इष्ट देव की परिचर्या से होता है, अन्य किसी साधन से नही।' इस सप्रदाय की सेवा पद्धति मे शालिग्राम जी की सेवा का भी विधान नही है, क्यो कि शालिग्राम शिला को शृ गारादि धारण नही कराया जा सकता। इस संप्रदाय मे दो प्रकार की सेवा पद्धतियाँ प्रचलित है, जो 'प्रकट सेवा' और 'भाव सेवा' कहलाती है।

प्रकट सेवा—यह सेवा श्रीराधा–कृष्ण के प्रकट स्वरूप (देव-विग्रह) की परिचर्या द्वारा की जाती है। इस सप्रदाय के प्रधान सेव्य स्वरूप श्री राधावल्लभ जी हैं, जिनके वाम पार्श्व मे श्रीराधा जी का विग्रह न होकर उनकी 'गादी' है। गादी–सेवा इस संप्रदाय की विशेषता है। राधा जी के स्वरूप के स्थान पर 'श्रीराधा' नामाकित कनक-पत्र को वस्त्रालकार से सुसज्जित कर आसन पर विराजमान किया जाता है। इसे श्रीराधा जी की गादी कहते है। राधावल्लभीय सेवा के दो प्रकार है,—१ नित्य सेवा और २ नैमित्तिक सेवा। नित्य सेवा प्रात काल की मगला आरती से सायकाल की शयन आरती तक एक सुनिश्चित और सुनियोजित क्रम से की जाती है। नैमित्तिक सेवा कुछ विशेष अवसरो पर विशिष्ट उत्सवो द्वारा होती है, इसीलिए इसे 'उत्सव सेवा' भी कहते है। इस सप्रदाय मे ये दस प्रधान उत्सव मनाये जाते हैं,—१. फाग डोल, २ चदन वसन, ३ झूलन, ४ शरदोत्सव, ५ दीपमालिका, ६ कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा, ७ श्री राधावल्लभ जी का पाटोत्सव (कार्तिक शु १३), ८ वन विहार, ६ खिचरी उत्सव और १० वसतोत्सव।

भाव-सेवा—यह सेवा किसी वाह्य उपादान के विना केवल मन के भावो द्वारा ही की जाती है। इसमे सेव्य स्वरूप, सेवा की सामग्री तथा सेवा का क्रम सब-कुछ भावनात्मक होते है, और इसे केवल 'ध्यान' द्वारा निष्पन्न किया जाता है। प्रगट सेवा की अपेक्षा भाव–सेवा अत्यत कठिन है। इसे वही साधक भक्त कर सकते हैं, जिन्होने दीर्घकालीन भजन-ध्यान द्वारा अपनी मानसिक वृत्तियो को एकाग्र कर लिया है। जिस प्रकार प्रकट सेवा मगला आरती से शयन आरती तक की होती है, उसी प्रकार भाव–सेवा का भी क्रम है। 'दोनो सेवाओ मे भेद यह है कि प्रकट सेवा स्थूल देश-काल से आबद्ध है, जब कि भाव सेवा मे इस प्रकार का कोई वधन नही है। भाव–सेवा मे उन लीलाओ का भी समावेश हो जाता है, जिनका दर्शन प्रकट सेवा मे सभव नही है।' भाव-सेवा मे 'अष्टयाम' के भावनापूर्ण वाड्मय से विशेष सहायता मिलती है। राधावल्लभीय भक्त–कवियो ने श्रीराधा–कृष्ण की अष्टकालीन लीलाओ का वडा रसपूर्ण कथन किया है। राधावल्लभीय साहित्य मे अष्टयाम सबधी रचनाओ का महत्वपूर्ण स्थान है। इनमे से किसी 'अष्टयाम का प्रेमपूर्ण मनोयोग द्वारा गायन कर लेने से भाव-सेवा सरस रीति से सपन्न हो जाती है। राधावल्लभीय उपासना–भक्ति की नीव तो प्रकट सेवा है, किंतु इसका सवर्धन भाव–सेवा मे और इसका पूर्ण विकास नित्य विहार की उपासना मे होता है[1]।

राधावल्लभीय भक्ति–उपासना की विशेषताएँ—श्री नाभा जी ने हित हरिवश जी के चरित्र की सूक्ष्म मीमासा करते हुए उनकी कुछ विशेषताओ का कथन किया है[2]। हित जी के चरित्र की वे विशेषताएँ राधावल्लभ सप्रदाय की भक्ति और उपासना की भी विशेषताएँ कही जा सकती है। उनमे से दो वाते प्रमुख हैं,—१. उपासना मे श्रीराधा जी की प्रधानता तथा २ विधि-निषेध की स्वतत्रता और अनन्य व्रत का पालन। श्रीराधा जी की प्रधानता के सबध मे पहिले लिखा जा चुका है। अव दूसरी विशेषता पर कुछ प्रकाश डाला जाता है।

---

(१) श्री हित हरिवश गोस्वामी · सप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ २८३–२६४ के आधार पर।

(२) श्रीराधा–चरन प्रधान, हृदै अति सुदृढ उपासी। कुज-केलि दपत्ति, तहाँ की करत खवासी॥
सर्वसु महाप्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी। विधि-निषेध नहिं दास, अनन्य उतकट व्रतधारी॥
व्यास–सुवन पथ अनुसरै, सोई भलै पहिचानि है।
हरिवंश गुसाईं भजन की, रीति सकृत कोउ जानि है॥ (भक्तमाल, सं ६०)

विधि-निषेध की स्वतंत्रता और अनन्य व्रत का पालन—वैष्णव भक्ति के दो भेद हैं,—मर्यादा भक्ति और रस भक्ति। मर्यादा भक्ति मे शास्त्रोक्त विधि-विधान का मानना अनिवार्य होता है, किंतु रस भक्ति मे इनकी आवश्यकता नही समझी जाती। इसका कारण यह है कि शास्त्रोक्त विधि-निषेध की कठोर मर्यादा का पालन करने से शुद्ध प्रेम की हानि और रस की क्षति होती है। 'श्री हरिवंश जी ने जिस भक्ति का प्रतिपादन अपने संप्रदाय मे किया, वह रस-भक्ति है; अत शास्त्रोक्त विधि-निषेध की कठोर मर्यादा का उस पर आरोप करना उन्हे उचित नही लगा। वैष्णव संप्रदायो मे शास्त्र मर्यादा की अवहेलना किसी प्रकार भी संभव नही होती। छोटे-छोटे कर्मकांड के नियमो का पालन भी वहाँ अनिवार्य समझा जाता है, किंतु हरिवंश जी ने शास्त्रीय नियम न बना कर प्रेम-साधना के लिए राधा की वंदना को ही एक मात्र नियम ठहराया। विधि-निषेध को स्वीकार न करने मे हरिवंश जी का प्रयोजन यही था कि बाह्याचारो मे फँस कर शुद्ध प्रेम की क्षति होती है, और हृदय कर्मकांड की कठोरता के कारण सरस तथा स्निग्ध नही रहता। स्नेह का अभाव हो जाने से राधा-कृष्ण के नित्य विहार की स्थिति का आनंद-लाभ प्राप्त करने की उसमे क्षमता नही रहती। प्रेम की स्वच्छंद लीलाओ को यदि शास्त्र की शृंखला मे जकड़ दिया जाय, तो उनमे चित्त को द्रवित करके अपने मे रमाने की सहज-शक्ति का अभाव हो जाता है। जो प्रेम मार्ग को स्वीकार कर चुका, उसके लिए तप, जप, यज्ञ, पूजा, पाठ, व्रत आदि की आवश्यकता भी क्या है[1]।'

श्री हरिवंश जी के आदर्श का पूर्णतया पालन करने वाले राधावल्लभीय भक्त जन वैष्णव भक्ति-भावना के पोषक होते हुए भी शास्त्रोक्त विधि-विधानो के प्रति उदासीन और रूढ़िजन्य विधि-निषेधो के विरोधी रहे हैं। विविध देवी-देवताओ की सेवा-पूजा, एकादशी व्रत, तीर्थाटन, तिलक-त्रिपुंड और कंठी-जनेऊ की अनिवार्यता, भक्तो मे जाति-पाँत का भेद-भाव, ग्रह-कुग्रह का प्रभाव आदि बातें राधावल्लभ संप्रदाय मे नही मानी गई है। इनके संबंध मे जिन भक्तो ने अपने उद्गारो को बड़ी स्पष्टता और निर्भीकता से व्यक्त किया है, उनमे सर्वश्री व्यास जी, सेवक जी और ध्रुवदास जी के नाम उल्लेखनीय हैं।

हरिराम जी व्यास ने विधि-निषेधो पर जैसा प्रबल प्रहार किया है, वैसा वैष्णव भक्तो मे श्री विहारिनदास तथा संतो मे श्री कबीरदास के अतिरिक्त अन्य भक्तो और संतो की रचनाओ मे नही मिलता है। यहाँ पर व्यास जी के तत्संबंधी कुछ उद्धरण दिये जाते हैं,—

करैं व्रत एकादशी, हरि प्रताप तें दूरि। बाँधे जमपुर जाँयगे, मुख मे परि है धूरि॥
रसिक अनन्य कहाइ कैं, पूजैं गृह गन्नेस। 'व्यास' क्यो न तिनके सदन, यम गन करैं प्रवेस॥
स्वान प्रसादहिं छुइ गयो, कौवा गयो विटारि। दोऊ पावन 'व्यास' कैं, कह भागौत विचारि॥
'व्यास' जाति तजि भक्ति करि, कहत भागवत टेरि। जातहिं भक्तिहिं ना बनै, ज्यो केरा ढिग बेरि[2]॥

श्री हित हरिवंश जी की उपासना-भक्ति के प्रथम व्याख्याता श्री सेवक जी ने समस्त विधि-निषेधो की उपेक्षा करते हुए अपनी अनन्यता के संबंध मे कहा है,—

कर्म-धर्म कोउ करहु वेद विधि, कोउ बहुविधि देवतनि उपासी।
कोउ तीरथ-तप-ज्ञान-ध्यान-व्रत, अरु कोउ निर्गुण ब्रह्म उपासी॥
कोउ यम-नेम करत अपनी रुचि, कोउ अवतार कदंब उपासी।
तन-क्रम-वचन विशुद्ध सकल मत, हम श्री हित हरिवंश उपासी॥

---

(१) राधावल्लभ संप्रदाय सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ १६५
(२) व्यास-वाणी मे 'सिद्धांत की साखी'

जाति-पाँति कुल-कर्म धर्म-व्रत, मसृति हेतु अविद्या नासी।
सेवक रीति प्रतीत प्रीति हित, विधि-निषेध श्रृंखला विनासी।।
अब जोई कही करै हम सोई, आयुष लियै चलै निज दासी।
मन-क्रम-वचन त्रिशुद्ध सकल मत, हम श्री हित हरिवश उपासी[1] ।।

राधावल्लभीय उपासना—भक्ति के विशद भाष्यकार श्री ध्रुवदास जी ने प्रेमोपासको के लिए समस्त विधि-निषेधो को निरर्थक वतला कर अनन्यता पर जोर देते हुए कहा है,—

कह अचार-अपरस कहा, कह सयम-व्रत नेम। कहा भजन विधि सो विध्यौ, जो नहिं परस्यौ प्रेम।
अपरस ज्ञान समान यम, भजन धर्म आचार। पाहन कवहुँ न होत मृदु, पर्यौ रहै जल-धार।।
विधि-निषेध के वद है, और धर्म मृग भानि। केहरि पुनि निरवध है, भगवत धर्महि जानि।।

व्रत-तप, निगम-नेम, यम-सयम, करहु कलेस कोटि किन भारी।
इनमे पहुँच नाहि काहू की, परे रहत ज्यो द्वार भिखारी।।
जोग—जज्ञ फल भेट करत है, तीरथ सव कर लीने झारी।
धर्म मोक्ष कोउ पूछत नाही, इन मग सिद्धिहि कौन विचारी[2] ।।

श्री वनचद्र जी (स १५८५ – स १६६५)—

जीवन-वृत्तांत—श्री वनचद्र जी उपनाम वनमालीदास जी श्री हित हरिवश जी के ज्येष्ठ पुत्र थे। उनका जन्म स १५८५ की चैत्र कृ ६ को देववन मे हुआ था। उसी स्थान पर उनकी शिक्षा—दीक्षा हुई थी और वही पर उनका आरभिक जीवन भी वीता था। जिस समय हित जी का वृदावन मे देहावसान हुआ, उस समय वनचद्र जी देववन मे थे। वृदावन के रसिक भक्तो ने उन्हे वहाँ से बुला कर हित जी का उत्तराधिकारी घोषित किया और राधावल्लभ सप्रदाय का आचार्य नियुक्त किया था। इससे ज्ञात होता है कि तव तक वे अपनी विद्वत्ता और साप्रदायिक योग्यता के लिए धार्मिक जगत् मे प्रसिद्ध हो चुके थे। वे स. १६०९ की कार्तिक शु. १३ को वृदावन मे हितजी की गद्दी पर आसीन हुए थे, और अपने देहावसान-काल स. १६६५ तक प्राय. ५५ वर्ष के सुदीर्घ काल तक राधावल्लभ सप्रदाय के आचार्य रहे थे। वे परम भक्त, सहृदय विद्वान, सुकवि और रसिक महात्मा थे। उन्होने सस्कृत और व्रजभाषा दोनो का अच्छा अध्ययन किया था। उनकी सहृदयता और भक्त जनो के प्रति उनकी स्नेह—भावना का परिचय सेवक जी के वृत्तात मे मिलता है। जब उन्हे सेवक जी के अलौकिक रीति से हित जी के शिष्य होने और उनके द्वारा अनुपम वाणी—रचना किये जाने का समाचार मिला, तो वे उनसे मिलने को अधीर हो गये। उन्होने वडे आदरपूर्वक उनको वृदावन बुलाया और उनके आगमन पर प्रसन्नता पूर्वक अपना समस्त भडार निर्धन भक्तो को लुटा दिया। उन्होने राधावल्लभ सप्रदाय की वडी उन्नति की थी।

साहित्य-रचना—वनचद्र जी ने सस्कृत और व्रजभाषा दोनो मे काव्य—रचना की है। सस्कृत मे रचित उनकी तीन छोटी कृतियो का नामोल्लेख मिलता है। वे हैं,—१. राधाष्टोत्तरशत नाम, २ हरिवशाष्टक और ३. प्रियानामावली। व्रजभाषा मे रचे हुए उनके कतिपय पद उपलब्ध हैं, जिनका समृद्ध भाषा-शैली और सरस भक्ति-भावना प्रशसनीय है। उनकी नाम-छाप 'वनमालीदास' है।

---

(१) सेवक-वाणी, ८—१, २

(२) मन शिक्षा लीला और जीव दशा लीला

कुटुंभ-परिवार—श्री वनचद्र जी के तीन छोटे भाई थे, और उनके तथा उनके भाइयो के अनेक पुत्र-पौत्रादि थे। इस प्रकार उनका भरा-पूरा कुटुभ-परिवार था। यहाँ पर उनके परिवार के प्रमुख व्यक्तियो का सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

श्री कृष्णचद्र जी—वे गो वनचद्र जी के छोटे भाइयो मे सबसे बडे थे। उनका जन्म स १५८७ की माघ शु ९ मगलवार को देववन मे हुआ था। वे सस्कृत और ब्रजभाषा के प्रौढ विद्वान एव सुकवि थे। उनकी १४ सस्कृत रचनाओ का नामोल्लेख मिलता है, जिनमे कर्णानद, उप सुधानिधि, राधानुनय विनोद और आशाशत स्तव विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऐसी अनुश्रुति है, उन्होने ब्रह्मसूत्र के कुछ अश का भाष्य भी रचा था। कर्णानद उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है, जिसकी पूर्ति स १६३५ की कृष्णाष्टमी को हुई थी। यह एक सुदर मुक्तक काव्य है। इसमे काव्य-सौन्दर्य के साथ ही साथ छद-कौशल भी दर्शनीय है। उनकी सस्कृत टीका उन्होने स्वय की थी और ब्रजभाषा टीकाएँ बाद मे गो रसिकलाल और गो चद्रलाल द्वारा हुई थी। उप सुधानिधि और आशाशत स्तव स्तोत्र काव्य हैं तथा राधानुनय विनोद मुक्तक काव्य है। उप सुधानिधि पर भी गो चद्रलाल की ब्रजभाषा टीका उपलब्ध है। ब्रजभाषा मे कृष्णचद्र जी का कोई ग्र थ प्राप्त नहीं हुआ। उनके कुछ स्फुट पद उपलब्ध हैं, जो सुदर और भावपूर्ण है। उनमे उनकी नाम-छाप 'कृष्णदास' है।

श्री गोपीनाथ जी और श्री मोहनचद्र जी—श्री गोपीनाथ जी कृष्णचद्र जी से छोटे थे। उनका जन्म स १५८८ की फाल्गुन शु १५ को देववन मे हुआ था। वे दोनो श्री वनचद्र जी सहित हित हरिवश जी की प्रथम पत्नी रुक्मिणी जी से उत्पन्न हुए थे। मोहनचद्र जी सबसे छोटे थे। उनका जन्म स १५९८ की कार्तिक शु १० को हित जी की द्वितीय पत्नी मनोहरी जी से वृ दावन में हुआ था। श्री गोपीनाथ जी देववन मे रह कर हित जी द्वारा प्रतिष्ठित ठाकुर श्री रगीलाल जी की सेवा-पूजा करते थे। वे परम भक्त और प्रभावशाली धर्माचार्य थे। उन्होने ब्रजभाषा मे पद-रचना भी की थी। जब मोहनचद्र जी १०-११ वर्ष के बालक थे, तभी उनके पिता श्री हरिवश जी का देहावसान हो गया था। उनके तीनो बडे भाइयो का उन पर बडा स्नेह था। श्री कृष्णचद्र जी ने उनकी वि शेष देख-भाल करते हुए अपने निरीक्षण मे ही उन्हे पढाया-लिखाया था। इससे वे भी बडे विद्वान और भगवद्भक्त हुए थे। उनकी रचना मे सस्कृत का 'राधाष्टक' है और ब्रजभाषा के पद है।

पुत्र-पौत्रादि—श्री वनचद्र जी के चार पुत्र थे,—१. सुदरवर जी (जन्म स १६०९), राधावल्लभदास जी (जन्म स १६१०), ब्रजभूषण जी (जन्म स १६११ की आश्विन शु १५) और नागर वर जी। वे सभी बडे योग्य और विद्वान थे। श्री वनचद्र जी के पश्चात् सुदरवर जी राधा-वल्लभ सप्रदाय के आचार्य हुए थे। कृष्णचद्र जी के पुत्रो मे एक वृ दावनदास जी थे, जो अपने पिता के सदृश प्रौढ विद्वान थे। उनके रचे हुए कई सस्कृत ग्रथो का नामोल्लेख मिलता है, जिनमे से एक 'अध्वविनिर्णय नामक २१ श्लोको का छोटा ग्र थ प्रकाशित हो चुका है। श्री गोपीनाथ जी के पाँच पुत्र थे। श्री वनचद्र जी और उनके भाइयो के पुत्रो के भी पुत्र थे। श्री वनचद्र जी के उत्तराधिकारी सुदरवर जी के ज्येष्ठ पुत्र दामोदरवर जी थे, जो उनके पश्चात् आचार्य-गद्दी पर आसीन हुए थे। दामोदरवर जी के पुत्रो मे रासदास और विलासदास अधिक प्रसिद्ध हुए हैं, और उनके वशजो की वृहत् परपरा चली है। रासदास जी बडे होने के कारण इस सप्रदाय के आचार्य हुए थे। उनके तीन पुत्र थे,—कमलनयन जी, विहारीलाल जी और कुजलाल जी। रासदास जी के पश्चात् कमल-नयन जी आचार्य-गद्दी पर विराजमान हुए थे। वे सभी अपने घर की परपरा के अनुसार विद्वान और भक्त थे। इस प्रकार श्री वनचद्र जी का कुटुभ-परिवार सब प्रकार से सम्पन्न और यशस्वी हुआ है।

शिष्य समुदाय—श्री बनचद्र जी और उनके भाइयो का विशाल शिष्य समुदाय था। उन शिष्यो मे अनेक परम भक्त, प्रसिद्ध विद्वान और विख्यात भक्त-कवि हुए है। श्री बनचद्र जी के बहुसख्यक शिष्यो मे सर्वश्री चतुर्भुजदास, वैष्णवदास, नागरीदास, झूठा स्वामी और कल्याण पुजारी प्रधान थे। श्री कृष्णचद्र जी के शिष्यो मे कन्हर स्वामी प्रमुख थे। श्री गोपीनाथ जी के शिष्यो मे सर्वश्री सुदरदास, ध्रुवदास और लालस्वामी, तथा प्रशिष्य दामोदर स्वामी अधिक प्रसिद्ध थे। यहाँ पर उनमे से कतिपय प्रमुख शिष्यो का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

स्वामी चतुर्भुजदास—वे श्री बनचद्र जी के आचार्य-गद्दी पर आसीन होने के कुछ समय पश्चात् ही उनके शिष्य हुए थे। इस प्रकार उनका जन्म-काल स १५८५ के लगभग माना जाता है। उनकी प्रसिद्ध रचना 'द्वादश यश' के 'धर्म विचार यश' की पूर्ति स १६८६ मे हुई थी। इससे ज्ञात होता है कि वे अत्यत दीर्घजीवी हुए थे और उनका देहावसान स १६९० से पहिले नही हुआ होगा। वे वर्तमान मध्यप्रदेशातर्गत गोंड प्रदेश के गढा नामक स्थान मे एक ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए थे और श्री सेवक जी के पडोसी तथा मित्र थे। जैसा पहिले लिखा गया है, वे सेवक जी के सदृश प्रौढ विद्वान, परम भक्त और साधु-सेवी थे। हित जी की शिष्य मडली के कुछ रसिक भक्तो की प्रेरणा से वे और सेवक जी दोनो ही हित जी से दीक्षा लेने के हेतु वृदावन जाने के इच्छुक थे। उसी समय हित जी के देहावसान का समाचार सुन कर सेवक जी ने तो वृदावन जाने का विचार स्थगित कर दिया, किंतु चतुर्भुजदास जी ने वहाँ पहुँच कर श्री बनचद्र जी से दीक्षा ले ली थी। उनके दीक्षा-गुरु का नाम बनमालीदास लिखा मिलता है, जिन्हे कतिपय लेखको ने बनचद्र जी से भिन्न कोई अन्य धर्माचार्य समझा है। किंतु जैसा पहिले लिखा गया है, बनमालीदास श्री बनचद्र जी का ही उपनाम था।

राधावल्लभ सप्रदाय के प्रसिद्ध प्रचारको मे चतुर्भुजदास जी का प्रमुख स्थान है। उन्होने अपने गोंड प्रदेश मे राधावल्लभीय उपासना–भक्ति का व्यापक प्रचार कर वहाँ अनन्य भक्तो की सख्या-वृद्धि की थी। नाभा जी ने उनकी प्रशस्ति मे कहा है कि उन्होने श्री हरिवश जी के चरण-प्रताप से गोंड प्रदेश को तीर्थ–स्थान बना दिया था[1]। भगवतमुदित जी ने भी बतलाया है कि उन्होने गोंड प्रदेश का उद्धार किया था। इसके साथ ही उन्होने लिखा है कि चतुर्भुजदास जी ने वहाँ के एक गाँव मे निवास करने वाले शाक्तो की हिंसामयी तामसी साधना को बद करा कर उन्हे वैष्णव भक्ति की ओर प्रेरित किया था और उनकी आराध्या चडी को वैष्णवी देवी बना दिया था[2]।

चतुर्भुजदास जी की ब्रजभाषा रचना 'द्वादश यश' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमे १२ 'यश' (अध्याय) है, जिनके नाम १ शिक्षा सकल समाज यश, २ धर्म–विचार यश, ३ भक्ति–प्रताप यश, ४ सत-प्रताप यश, ५ शिक्षा–सार यश, ६ हितोपदेश यश, ७ पतित पावन यश, ८ मोहिनी यश, ९ अनन्य भजन यश, १० श्रीराधा प्रताप यश, ११ मगल सार यश और १२ विमुख मुख भजन यश। साधारणतया इस रचना मे प्रेम–भक्ति का प्रतिपादन किया गया है, किंतु कतिपय स्थलो पर जैन, बौद्ध, साख्य, चार्वाक, क्षपणक, अनीश्वरवादी, मायावादी, शैव, शाक्त

---

(१) 'राधावल्लभ-भजन अनन्यता-वर्ग बढायौ' और 'हरिवंश-चरन-बल चतुर्भुज गोंड देश तीरथ कियौ'। (भक्तमाल, छप्पय स १२३)

(२) रसिक अनन्य माल मे 'श्री चतुर्भुजदास जी की परचई'

और निर्गुणवादी साधको की निंदा भी की गई है। इस प्रकार का आलोचनात्मक दृष्टिकोण ब्रज के बहुत कम भक्त-कवियो का रहा है। उनकी रचना की भाषा सरल और भक्ति-भावना गभीर है। इसका प्रकाशन अहमदाबाद से हुआ है। चतुर्भुजदास जी की कविता मे उनकी नाम-छाप 'भुजनीवर' है।

वैष्णवदास—श्री ध्रुवदास जी ने चतुर्भुजदास जी के साथ वैष्णवदास जी का नामोल्लेख करते हुए बतलाया है कि वे दोनो परम भागवत तथा सुदृढ भजनानदी थे और उनकी 'वाणी' अत्यत गभीर थी। दोनो ने अपने-अपने प्रदेशो मे भक्ति-प्रचार का प्रशसनीय कार्य किया था[1]। इस प्रकार राधावल्लभ सप्रदाय के सवर्धन मे वैष्णवदास जी का भी योग रहा है। श्री ध्रुवदास कृत 'भक्त-नामावली' मे वैष्णवदास जी के इतिवृत्त के सबध मे कोई विशेष बात नही लिखी गई, किंतु 'वृहत् अनन्य रसिकावली' से ज्ञात होता है कि वे वर्तमान मध्यप्रदेश के भेलसा नामक स्थान के निवासी थे। चतुर्भुजदास जी की प्रेरणा से वे वृदावन जा कर श्री वनचद्र जी के शिष्य हुए थे। हित जी की वाणी तथा राधावल्लभीय भक्ति सिद्धात के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा थी और उनके प्रचार मे उन्होंने बडा योग दिया था। ब्रजभाषा मे रची हुई उनकी वाणी भी उपलब्ध है।

नागरीदास—इस नाम के कई भक्त-कवि हुए हैं, जिनमे नेही नागरीदास, बडे नागरीदास और राजा नागरीदास अधिक प्रसिद्ध हैं। नेही नागरीदास के नाम से इन नागरीदास जी की ख्याति है और काल-क्रम मे इनका प्रथम स्थान है। इनका जन्म अनुमानत स १५६० के लगभग हुआ था, और वे १७वी शती के मध्य काल तक विद्यमान थे। इनका विस्तृत चरित्र भगवतमुदित जी ने लिखा है। उससे ज्ञात होता है, वे बुदेलखड प्रदेशातर्गत बेरछा नामक स्थान के पँवार क्षत्रिय कुल मे उत्पन्न हुए थे। आरभ से ही वे भगवद्भक्त और साधु-सेवी थे। एक बार स्वामी चतुर्भुजदास राधावल्लभीय साधुओ की जमात सहित इनके गाँव मे गये थे। उनके साथ सत्सग और भक्ति-चर्चा करने पर नागरीदास जी प्रेमोपासना के प्रति आकृष्ट हो गये। वे घर-बार छोड कर विरक्त भाव से उनके साथ वृदावन चले आये। उनके साथ उनकी भाभी भी आई थी। दोनो ने एक साथ श्री वनचद्र जी से दीक्षा ली, और वे रसिक भक्तो के सत्सग मे वृदावन-वास करने लगे। वहाँ पर वे हित हरिवश जी के पदो की भावना मे इतने रस-विभोर रहा करते थे कि उन्हे भागवत की कथा भी अच्छी नही लगती थी। श्रीमद् भागवत के प्रति उनकी ऐसी अरुचि होने से वृदावन के भक्त-समुदाय मे उनके विरुद्ध प्रवाद होने लगा। उसके कारण वे वृदावन छोड कर ब्रज के एकात लीला-स्थल बरसाना चले गये। वहाँ के गहवर वन की पहाडी पर उन्होने अपनी कुटी बनाई, जो आजकल 'मोर कुटी' के नाम से प्रसिद्ध है। बरसाना मे उन्होने रानी भागमती की सहायता से श्रीराधा जी का मदिर भी बनवाया था। वे प्रति वर्ष राधाष्टमी पर श्रीराधा जी का जन्मोत्सव बडे समारोह पूर्वक किया करते थे[2]।

उन्होने ब्रजभाषा मे 'वाणी'-रचना की है, जिसके ६३७ दोहे और ३२१ पद उपलब्ध हैं। इनमे 'सिद्धात' और 'रस' दोनो विषयो का मार्मिक कथन हुआ है, जो भाव और कला दोनो दृष्टियो

---

(१) परम भागवत अति भए, भजन माँहि दृढ धीर। चतुर्भुज-वैष्णवदास की बानी अति गंभीर॥
सकल देश पावन कियौ, भगवत जर्साहि बटाइ। जहाँ-तहाँ निज एक रस, गाई भक्ति लड़ाइ॥
—भक्त-नामावली, दोहा स ४८-४६

(२) रसिक अनन्य माल मे 'श्री नागरीदास जी की परचई' के आधार पर।

से बडा उत्कृष्ट है। उनकी 'वाणी' का प्रधान उद्देश्य हित जी की रसोपासना को स्पष्ट करना है। उनसे पहिले श्री सेवक जी की वाणी मे हित जी की रस-रीति और उपासना-पद्धति का निर्धारण किया गया था। उनके उपरात इस सप्रदाय की रस-रीति को सुगठित बनाने का श्रेय जिस प्रकार ध्रुवदास जी को है, उसी प्रकार उपासना-पद्धति को सुव्यवस्थित बनाने का गौरव नागरीदास जी को प्राप्त है। नागरीदास जी राधावल्लभ सप्रदाय के उन प्रारभिक रसिक महानुभावो मे से है, जिन्होने अपने चरित्र और वाणी द्वारा इस सप्रदाय की नीव को सुदृढ बनाया है[1]।'

नाभा जी की भाँति नागरीदास जी ने भी श्री हरिवश जी के भक्ति-मार्ग को इतना कठिन बतलाया है कि उसका अनुसरण करना सबके लिए सुगम नही है। उन्होने कहा है,—

खरौई कठिन है भजन ढिग ढरिवौ।
तमकि सिंदूर मेलि माथे पै, साहस सिद्ध सती कौ सौ जरिवौ॥
रन के चाइ घाइल ज्यो घूमै, मुरै न गरूर सूर कौ सौ लरिवौ।
'नागरीदास' सुगम जिनि जानौ, श्री हरिवश-पथ पग धरिवौ॥

सुगम-सुगम सब कोउ कहै, अगम भजन की घात। जौ लगि ठौर न परसि है, कहि आवत है वात॥
विषै-वासना जारिकै, झारि उडावै खेह। मारग रसिक-नरेस के, तब ढिंग लागै देह[2]॥

कल्याण पुजारी—श्री बनचद्र जी के शिष्यो मे कल्याण पुजारी एक रसिक भक्त, साधु-सेवी, सुकवि और सेवा-परायण महात्मा हुए है। भगवतमुदित जी ने उनके वृत्तात मे बतलाया है कि वे श्री राधावल्लभ जी के पुजारी थे ओर अहर्निश मदिर मे रह कर बडी भक्ति-भावना से सेवा-पूजा किया करते थे। ठाकुर जी के भोग को वे साधुओ को खिलाते थे और स्वय उनकी जूठन से अपनी उदर-पूर्ति करते थे। उनका वह आचरण अनेक व्यक्तियो को मर्यादा-विरुद्ध ज्ञात हुआ और उसकी शिकायत श्री बनचद्र जी के पौत्र दामोदरवर जी से की गई। उन्होने अपने पितामह के कानो तक उस बात को पहुँचा दिया; किंतु बनचद्र जी ने बालक पौत्र की बात पर ध्यान नही दिया। जब उस प्रवाद के सबध मे पुजारी जी को ज्ञात हुआ तो वे स्वय श्री बनचद्र जी की सेवा मे उपस्थित हुए और अत्यत उदास भाव से मदिर की ताली उन्हे सोप दी। ऐसी अनुश्रुति है, किसी अन्य पुजारी की सेवा को श्री राधावल्लभ जी ने स्वीकार नही किया था, अत: कल्याण जी को ही पुन सेवा का कार्य सोपा गया और वे अपनी पूर्व पद्धति के अनुसार उसे करते रहे थे। उनके निंदको को फिर कुछ कहने का साहस नही हुआ था[3]। पुजारी जी का महत्त्व उनकी सेवा-भक्ति के साथ ही साथ उनकी 'वाणी' के कारण भी है। उनके रचे हुए प्राय २०० पद-छदादि मिलते है, जो अनन्य निष्ठा और काव्य-कौशल दोनो दृष्टियो से महत्वपूर्ण है। उनकी विद्यमानता का काल स १६०० से स १६९० तक का ज्ञात होता है। स १६२० मे उन्होने श्री बनचद्र जी से दीक्षा ली थी।

कन्हर स्वामी—श्री बनचद्र जी के दूसरे भाई श्री कृष्णचद्र जी के शिष्यो मे कन्हर स्वामी एक विशिष्ट भक्त हुए है। श्री नाभा जी ने कन्हरदास नामक कई भक्तो का उल्लेख किया है, जिनमे से छप्पय स १७१ के कन्हरदास यही कन्हर स्वामी ज्ञात होते है। उक्त छप्पय मे कन्हर

---

(१) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : सप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ ४२१
(२) सं १८७६ मे लिपिबद्ध श्री सर्वसुखदास की प्रति से उद्धृत
(३) रसिक अनन्य माल मे 'श्री कल्याण पुजारी जी की परचई'

स्वामी के इतिवृत्त से सबधित कोई कथन नही किया गया, बल्कि लौकिक बातो से उनकी विरक्ति, ससार से तटस्थता, सब प्राणियो के प्रति समदृष्टि और उनके प्रिय भाषण की प्रशसा की गई है[1] । श्री भगवतमुदित जी ने भी उनके द्वारा किसी को कठोर वचन न कहने और सबकी सब प्रकार की बाते सह लेने की प्रकृत्ति का उल्लेख किया है । इन साक्ष्यो से स्पष्ट होता है कि कन्हर स्वामी अत्यत मृदु स्वभाव के बडे सहनशील महात्मा थे । भगवतमुदित जी के कथन से यह भी ज्ञात होता है कि उन्होने हरिकृष्ण पुजारी के सहयोग से श्री राधावल्लभ जी के मदिर मे सेवा की थी । उसके एवज मे वे प्रभु की कोई वस्तु नही लेते थे; यहाँ तक अपनी निजी वस्तु का भोग लगा कर उस प्रसाद को भी साधुओ के साथ ग्रहण करते थे । कल्याण पुजारी की तरह उन्हे भी सतो का उच्छिष्ट भोजन स्वीकार करने मे कोई परहेज न था[2] । साप्रदायिक उल्लेखो से ज्ञात होता है कि वे गौड ब्राह्मण थे और कल्याण पुजारी के पश्चात् श्री राधावल्लभ जी के पुजारी हुए थे । उनके बाद से उनकी वश-परपरा के व्यक्ति ही श्री राधावल्लभ जी की सेवा-पूजा करते आ रहे हैं । उन्होने वाणी-रचना भी की थी, जिसके कतिपय पद उपलब्ध हैं ।

सुदरदास—श्री वनचद्र जी के तीसरे भाई गोपीनाथ जी के शिष्यो मे कई बडे प्रसिद्ध भक्त हुए हैं । उनमे भी सुदरदास, ध्रुवदास और नागरस्वामी ने राधावल्लभ सप्रदाय की प्रगति मे बडा योग दिया है । भगवतमुदित जी ने इन तीनो का विशद वृत्तात लिखा है । उनके लेखानुसार सुदरदास कायस्थ कुल मे उत्पन्न हुए थे, और मुगल सम्राट अकबर के यशस्वी मत्री अब्दुर्रहीम खानखाना के दीवान थे । रहीम और सम्राट अकबर दोनो उनका सम्मान करते थे । जब सुलतानी काल मे प्रचलित गैर मुसलमानो के मदिर-निर्माण सबधी निषेधाज्ञा को सम्राट अकबर ने हटा दिया, तब वृदावन के सेव्य स्वरूपो के सुदर मदिर बनवाने की चेष्टा उस काल के अनेक समृद्धिशाली भक्त जनो ने की थी। उस समय तक श्री राधावल्लभ जी सेवाकुज मे विराजमान थे, और श्री वनचद्र जी उनके मुख्य सेवाधिकारी एव राधावल्लभ सप्रदाय के आचार्य थे । जब कोई धनाढ्य व्यक्ति वनचद्र जी के समक्ष श्री राधावल्लभ जी के मदिर-निर्माण का प्रस्ताव लेकर आता था, तब वे यह कह कर उसे उदासीन कर देते थे कि मदिर मे ठाकुर जी की प्रतिष्ठा होने के उपरात एक वर्ष के अदर ही उसके निर्माता की मृत्यु हो जावेगी । यादव राजा गोपालसिह और आमेर के राजा मानसिह इसी-लिए इच्छा रहते हुए भी श्री राधावल्लभ जी का मदिर नही बनवा सके थे ।

सुदरदास राधावल्लभ सप्रदाय के सुदृढ अनुयायी थे और वे धार्मिक कार्यो मे बडी उदारता पूर्वक धन लगाया करते थे । उन्हे श्री राधावल्लभ जी के मदिर बनवाने की प्रबल आकाक्षा थी, और उनके स्वामी खानखाना ने भी उसके लिए उन्हे सब प्रकार की सहायता देने का आश्वासन दिया था । जब उन्होने श्री वनचद्र जी के समक्ष अपनी इच्छा प्रकट की, तब उन्हे भी वही उत्तर दिया गया । किंतु सुदरदास उससे तनिक भी विचलित नही हुए, बल्कि प्रभु—सेवा के निमित्त अपने नश्वर देह को छोडने के लिए उन्होने अपना अहोभाग्य माना । फलत वनचद्र जी ने उन्हे मदिर बनवाने की आज्ञा दे दी । सुदरदास ने पूरी तैयारी के साथ उस स्थल पर मदिर-निर्माण का

(१) भक्तमाल, छप्पय स १७१

(२) रसिक अनन्यमाल मे 'श्री कन्हर स्वामी जी की परचई'

कार्यारभ किया, जहाँ हित हरिवश जी ने वृदावन आने पर सर्वप्रथम श्री राधावल्लभ जी को विराजमान किया था। तीन वर्ष की भारी मेहनत के बाद लाल पत्थर का वह विशाल और कलापूर्ण मदिर 'मदनटेर' नामक स्थल पर बन कर तैयार हो गया।

मदिर-निर्माण के उपलक्ष मे बडा भारी उत्सव हुआ और शुभ मुहूर्त्त मे श्री राधावल्लभ जी को नये मदिर मे प्रतिष्ठित किया गया। सेवाकुज मे प्राय अर्ध शताब्दी तक विराजमान रहने के उपरात श्री राधावल्लभ जी उस समय विशाल मदिर मे विराजे थे। वहाँ पर पाँच आरती, सात भोग, नित्य और नैमित्तिक उत्सव तथा सामयिक कीर्तन द्वारा ठाकुर-सेवा होने लगी। कल्याण पुजारी सेवा के लिए नियुक्त किये गये। उनके पश्चात् कन्हर स्वामी और हरिकृष्ण जी श्री राधावल्लभ जी के पुजारी हुए थे। उस मदिर के निर्माण का काल विवादास्पद है। एक मत के अनुसार उसका निर्माण स १६४१ मे और दूसरे मतानुसार कुछ बाद मे हुआ था। उस मदिर मे सुदरदास की विद्यमानता मे पूरे एक वर्ष तक विविध भाँति के उत्सव-समारोह होते रहे थे, जिनसे उन्हे अभूतपूर्व आनद प्राप्त हुआ था। उसके उपरात दैव योग से उनका देहावसान हो गया। श्री वनचद्र जी ने उस श्रद्धालु भक्त की समाधि उक्त मदिर के निकट ही बनवाई थी।

सुदरदास द्वारा निर्मित वह मदिर वृदावन के प्राचीनतम मदिरो मे माना जाता है। उसके निर्माण-काल से लेकर औरगजेबी शासन के आरभिक काल तक उस मदिर मे श्री राधावल्लभ जी विराजमान रहे थे। स १७२६ मे जब औरगजेब के असहिष्णुतापूर्ण राज्यादेश के कारण ब्रज के मदिर-देवालयो को नष्ट-भ्रष्ट किया जाने लगा, तब उस मदिर को भी ध्वस्त किया गया था। उस समय श्री राधावल्लभ जी को वृदावन से हटा कर कामवन मे पहुँचा दिया गया, जहाँ वे स १८४२ तक विराजमान रहे थे। उसके उपरात वृदावन मे नया मदिर बना कर उन्हें पुन प्रतिष्ठित किया गया। वह पुराना मदिर जीर्णावस्था मे अब भी विद्यमान है और नये मदिर मे ठाकुर-सेवा होती है।

ध्रुवदास—राधावल्लभीय भक्तो की वृहत् परपरा मे साप्रदायिक महत्व की दृष्टि से सेवक जी के पश्चात् ध्रुवदास जी का ही सर्वोपरि स्थान माना गया है। राधावल्लभ सप्रदाय के अनेक भक्तो ने ध्रुवदास जी की महत्ता का कथन किया है, किंतु उनकी जीवनी का कुछ उल्लेख भगवतमुदित जी और गो जतनलाल की रचनाओ मे ही मिलता है। भगवतमुदित जी ने बतलाया है कि ध्रुवदास जी देवबन के कायस्थ कुल मे उत्पन्न हुए थे। उनका घराना परपरा से राधावल्लभ सप्रदाय का अनुयायी रहा था। ऐसा उल्लेख मिलता है, बीठलदास जी ध्रुवदास के पितामह थे, जो श्री हित हरिवश जी के प्रिय शिष्य थे। उनके पिता श्यामदास श्री गोपीनाथ जी के शिष्य थे। बीठलदास जी को जूनागढ राज्य का दीवान और श्यामदास को बिजनौर के राजा सोमदेव का प्रतिष्ठित राज कर्मचारी बतलाया गया है[1]। ध्रुवदास को बाल्यावस्था मे ही श्री गोपीनाथ जी से मत्र-दीक्षा दिलाई गई थी। घर के धार्मिक वातावरण और जन्मजात सस्कारो के कारण वे बचपन से ही भगवद्भक्त हो गये थे। यहाँ तक कि अपनी छोटी आयु मे ही वे घर-बार छोड कर विरक्त भाव से वृदावन आ गये, और फिर अत काल तक वहीं पर रहे थे।

ध्रुवदास जी के जन्म और देहावसान का यथार्थ काल अज्ञात है। उसका केवल अनुमान ही किया जा सकता है। उनकी कुछ कृतियो मे रचना-काल का उल्लेख मिलता है। ऐसी कृतियाँ स १६५० से स १६६८ तक की हैं। यद्यपि उन्ही का निश्चय पूर्वक उनकी प्रारंभिक और अतिम

(१) राधावल्लभ भक्तमाल

रचनाएँ नही माना जा सकता, तथापि वे उनके उपस्थिति-काल के निर्णय मे सहायक हो सकती हैं। उनके आधार पर उनका जन्म स. १६३० से कुछ पूर्व का और देहावसान स. १७०० से कुछ बाद का ज्ञात होता है। प्रियादास ने उनका जन्म-संवत् १६२२ लिखा है[1]। यद्यपि उन्होंने इसका कोई प्रमाण नही दिया, फिर भी वह प्राय ठीक ही मालूम होता है। इन कृतियो के आधार पर ध्रुवदास का वृदावन आने का काल स १६४० के लगभग और रचना-काल स १६८० से स १७०० तक का माना जा सकता है।

भगवतमुदित जी ने लिखा है, ध्रुवदास जी जैसे ही वृदावन आये, वे यमुना तटवर्ती रमणीक निकुजो को देख कर आनद–विभोर हो गये। वे उन कुजों की युगल-केलि का रसानुभव करने लगे। उनकी बडी इच्छा होती थी कि उस दिव्य रस का वर्णन अपनी वाणी द्वारा करे, किंतु हृदय की अनुभूति किसी भी प्रकार वचनो द्वारा व्यक्त ही नही हो पाती थी। उसके कारण वे दुखी होकर हित जी द्वारा निर्मित रासमडल पर आ पडे, और उन्होने खाना-पीना भी छोड दिया। साप्रदायिक मान्यता है कि श्रीराधा जी ने उनकी दीन दशा पर द्रवित होकर उन्हे वाणी का वरदान दिया था। उसके फल स्वरूप उनमे अद्भुत रचना-सामर्थ्य का उदय हुआ और वे सरलता पूर्वक अनुपम वाणी-रचना करने लगे। उन्होने श्रीराधा-कृष्ण की केलि-क्रीडाओ से सबधित विशद वाणी-साहित्य का सृजन किया है[2]। उनकी छोटी-बडी रचनाएँ ४२ हैं, जो 'बयालीस लीला' के नाम से सकलित मिलती हैं, और इसी नाम से प्रकाशित भी हुई है। वैसे उनकी सभी रचनाएँ 'लीला' की परिभाषा के अतर्गत नही आती है, किंतु वे आरभ से ही इसी नाम से प्रसिद्ध रही है।

ध्रुवदास जी की इन तथाकथित ४२ लीलाओ के अतिरिक्त उनके १०३ पद भी उपलब्ध है। सभी रचनाएँ ब्रजभाषा मे है, और काव्यात्मक है, केवल एक रचना 'सिद्धात विचार लीला' ब्रज-भाषा गद्य मे है। कुछ रचनाओं मे निर्माण काल का भी उल्लेख मिलता है। यहाँ पर उन सभी रचनाओ की नामावली प्रस्तुत है,—

१ जीव दशा लीला, २ वैद्यक ज्ञान लीला, ३ मन शिक्षा लीला, ४ रसानंद लीला (१६५०) ५. ख्याल हुलास लीला, ६ भक्त-नामावली लीला, ७. वृहद् वामन पुराण की भाषा लीला, ८ सिद्धात विचार लीला (गद्य वार्ता), ९ प्रीति चौवनी लीला, १० आनदाष्टक लीला, ११ भजनाष्टक लीला, १२ भजन कुडलिया लीला, १३ भजन सत लीला, १४ भजन शृ गार सत लीला, १५. मन शृ गार लीला, १६ हित शृ गार लीला, १७ प्रेमावली लीला (स १६७१),

---

(१) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ ३२८

(२) तब श्री वृदावन मे आये। जमुना–कुज निरखि सरसाये ॥
निसि-दिन जुगल-केलि उर साहे। बानी करि कछु वरन्यौ चाहै ॥
देख्यौ चाहै इक टक रढै। उर आवै सो मुख नहि कढै ॥
खान-पान तजि मडल पर्यौ। देख्यौ गुन बरन्यौं, हठ कर्यौ ॥
दिन द्वै गये तीसरो आयौ। तब राधे कौ हिय अकुलायौ ॥
बानी भई जु चाहत कियौ। उठि सो वर तोकौं सब दियौ ॥
केलि रहसि दपति की बरनी। कही जु रसिक अनन्यनि करनी ॥
नव-नव लीला हिय मे भासी। ते रसिकनि हित सबै प्रकासी ॥

—रसिक अनन्यमाल मे 'श्री ध्रुवदास जी की परचई'

१८ रस मुक्तावली लीला, १९ रस हीरावली लीला, २० रस रत्नावली लीला, २१. सभामडल लीला, (स. १६८१), २२ प्रिया जी की नामावली लीला, २३ श्री वृदाबन सत लीला (स. १६८६), २४ सुखमजरी लीला, २५. रतिमजरी लीला, २६. नेहमजरी लीला, २७ बन विहार लीला, २८. रग विहार लीला, २९ रस विहार लीला, ३० रग हुलास लीला, ३१ रग विनोद लीला, ३२. आनद दसा विनोद लीला, ३३. रहस्य लता लीला, ३४. आनद लता लीला, ३५ अनुराग लता लीला, ३६ प्रेम दसा लीला, ३७ रहस्य मजरी लीला, (स १६९८), ३८. व्रज लीला, ३९ जुगल ध्यान लीला, ४० नृत्य विलास लीला, ४१ मान लीला और ४२. दान लीला। इनके अतिरिक्त पदावली।

उक्त रचनाओ के अतिरिक्त मिश्रबधुओ ने छतरपुर के पुस्तकालय मे 'ध्रुवदास की वाणी' नामक एक अन्य कृति के होने का भी उल्लेख किया है। उन्होने लिखा है,—'वाणी मे ब्रजभाषा द्वारा शृगार रस के सवैया, कवित्त इत्यादि तथा अन्य छदो मे श्रीकृष्ण चद्र की लीलाओ के वर्णन ३०० पृष्ठ फुलस्केप साइज पर बडे ही सरस तथा मधुर किये गये है[1]।' ध्रुवदास जी की पूर्वोक्त सुप्रसिद्ध ४२ रचनाओ के साथ ही साथ इतने विशद आकार मे किसी स्वतत्र कृति के होने की बहुत कम सभावना है। ऐसा मालूम होता है, इसमे उनकी अन्य रचनाओ के विशिष्ट छदो का सकलन किया गया है। अब से प्राय १३ वर्ष पूर्व श्री महीपाल सिंह ने टीकमगढ से दिनाक १६–१०–५४ को हमे एक पत्र लिखा था, जिसमे उन्होने ध्रुवदास जी की एक अन्य रचना 'गुरु प्रणाली' की सूचना दी थी। उन्होने उक्त रचना को स १८१५ मे लिपिबद्ध एक प्रति मे ध्रुवदास जी की कतिपय कृतियो के साथ सकलित देखा था। उनके लिखे अनुसार इसके आरभ मे राधावल्लभ सप्रदाय की गुरु–परपरा का उल्लेख है। फिर श्री राधावल्लभ जी की प्रतिष्ठा और उनकी सेवा के महत्व तथा हित जी की वाणी पर कुछ प्रकाश डाला गया है। अत मे श्रीराधा–कृष्ण और गोपियो के नख–शिख, उनकी दिनचर्या और रास-विलास इत्यादि का वर्णन है। यह रचना २५ पन्नो मे पूर्ण हुई है। इसे सेवाराम नामक किसी भक्त जन ने लिपिबद्ध कर स. १८१५ की श्रावण शु २ को पूरी की थी। हमारे मतानुसार यह ध्रुवदास जी की प्रामाणिक रचना नही है। कारण यह है, उनकी रचनाएँ आरभ से ब्यालीस की सख्या मे ही राधावल्लभ सप्रदाय मे प्रसिद्ध रही है, अत उनके अतिरिक्त किसी अन्य रचना की प्रामाणिकता सदिग्ध है। वैसे सर्वश्री अतिवल्लभ, गुलावलाल, कृष्णदास भावुक आदि ने 'गुरु प्रणाली' सबधी रचनाएँ की थी। सभव है, उक्त प्रति मे उनमे से ही कोई हो।

ध्रुवदास जी की रचनाएँ सप्रदाय और साहित्य दोनो दृष्टियो से बडी महत्वपूर्ण है। इनका साप्रदायिक महत्त्व इसलिए है कि इनमे हित जी के भक्ति–सिद्धात और उनकी उपासना–पद्धति का सागोपाग विशद विवेचन हुआ है। राधावल्लभ सप्रदाय के 'सैद्धातिक दृष्टिकोण को हृदयगम करने के लिए उनकी वाणी से अधिक स्पष्ट और गभीर किसी अन्य महानुभाव की वाणी नही है। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि व्याख्यापरक दृष्टि से तत्त्वबोध का इतना व्यापक प्रयत्न अद्यावधि इस सप्रदाय मे उन्हे छोड कर किसी और ने नही किया। जटिल और दुर्बोध तत्वो को समझाने के लिए उन्होने वचनिका (गद्य वार्ता) का भी प्रयोग किया है और अनेक दुरूह प्रश्नो को उसमे बड़ी सरल तथा सुबोध शैली से सुलझाया है। ध्रुवदास जी की वाणी राधावल्लभ सप्रदाय के सिद्धातो का

(१) मिश्रबधु विनोद, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३९९

उद्घाटन करने वाली सबसे समर्थ और व्यापक वाणी है। परवर्ती महानुभावों ने उनकी वाणी के अनुशीलन द्वारा ही सैद्धातिक मर्म को हृदयगम किया है। हित हरिवंश जी के भाष्यकार और व्याख्याकार के रूप मे ध्रुवदास जी का स्थान मूर्धा पर है[1]।'

ध्रुवदास जी की रचनाओ का साहित्यिक महत्त्व भी अत्यधिक है। 'शब्द-शक्ति, अलंकार, काव्य-गुण और भाषा का प्रवाह यह बतलाता है कि उन्होंने साहित्य शास्त्र का विधिवत् पारायण किया था। काव्य-रूढियो का भी उनकी वाणी मे निर्वाह है। नायिका-भेद, नख-शिख, सवैया, अरिल्ल, कुडलिया और गेय पद-रचना पर उनका असाधारण अधिकार परिलक्षित होता है। माधुर्य भक्ति की तल्लीनता और रस-व्यजक पदावली की रोचकता तथा छद, भाषा और शैली-वैचित्र्य आदि गुणो के कारण उन्हे भक्तिकालीन और रीतिकालीन कवियो की शृखला जोड़ने वाला प्रसिद्ध कवि माना जावेगा[2]।'

उनकी रचनाओ मे इतिहास की दृष्टि से 'भक्त-नामावली' और शैली की दृष्टि से 'सिद्धात विचार' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'भक्त-नामावली' मे [illegible] ७८ भक्तो के नाम, धाम और उनकी विशिष्टता का उल्लेख किया गया है। इसमे राधावल्लभ सप्रदाय के विशिष्ट भक्तो के साथ ही साथ उस काल के अन्य प्रसिद्ध महानुभावो का भी सक्षिप्त विवरण है, जो अपना ऐतिहासिक महत्व रखता है। यह रचना नाभा जी कृत 'भक्तमाल' के बाद की और प्रियादास कृत 'भक्तमाल-टीका' से पूर्व की है, अत इसका रचना-काल स. १७२५ से कुछ पहिले का सिद्ध होता है। 'सिद्धात विचार' ब्रजभाषा गद्य की रचना है। इसमे अब से प्राय तीन शताब्दी पूर्व के गद्य का रूप दिखलाई देता है। इसकी भाषा के सहज प्रवाह से समझा जा सकता है कि उस काल मे ब्रजभाषा की समर्थ गद्य शैली प्रचलित थी।

ध्रुवदास जी वृदावन मे वनविहार के परिक्रमा-मार्ग स्थित रानघाट की एक कुटी मे निवास करते थे। उनका देहावसान 'रासमडल' की उसी लता-कुज मे हुआ था, जहाँ उन्हे श्रीराधा जी की कृपा से वाणी का वरदान मिला था।

लाल स्वामी—ध्रुवदास जी ने लाल स्वामी का उल्लेख करते हुए केवल इतना बतलाया है कि वे भजनानदी महात्मा और सुदर वाणीकार थे[3]। भगवतमुदित जी ने उनका कुछ अधिक वृत्तात लिखा है। उससे ज्ञात होता है कि लालदास ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए थे, किंतु उनका स्वभाव और रहन-सहन क्षत्रिय सदृश था। वे किसी मनसबदार सामत के नौकर थे। उन्हे शिकारादि हीन कर्म करने से कोई परहेज़ नही था। एक बार वे सयोगवश देववन गये थे। जिस समय वे वहाँ पहुँचे, उस समय श्री रगीलाल जी के मदिर मे शृगार की झाँकी हो रही थी, और वहाँ मृदग-झाँझादि वाजे वज रहे थे। नगर के नर-नारी ठाकुर जी के दर्शनार्थ मदिर की ओर दौड़े जा रहे थे। लालदास भी कौतूहल वश मदिर मे चले गये। जिस समय वे वहाँ पहुँचे, उस समय हित जी के तृतीय पुत्र श्री गोपीनाथ जी बडे भक्ति-भाव से ठाकुर जी की आरती कर रहे थे। भगवत्-कृपा से लालदास उससे बडे प्रभावित हुए और वे देह-गेह की सुधि-बुधि भूल कर एकाग्र भाव से ठाकुर जी को निहारते रहे। उनके सगी-साथियो ने उन्हे सचेत कर घर चलने को कहा, किंतु उन्होने उनके

---

(१) राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धात और साहित्य, पृष्ठ ४३१ और ४७४
(२) वही ,, ,, ,, , पृष्ठ ४७४
(३) भक्त-नामावली, दोहा सं. ५३-५४

कथन पर ध्यान नही दिया । जब गोपीनाथ जी ठाकुर–सेवा से निवृत्त हुए, तब लालदास ने उनके चरण पकड लिये और उनसे दीक्षा देने की प्रार्थना की । उनकी श्रद्धा और भक्ति–भावना को देख कर गोपीनाथ जी ने उन्हे मंत्र–दीक्षा दी और हित जी की उपासना-पद्धति का मर्म समझाया[1] ।

उसके उपरात लालदास सबसे ममता-मोह छोड कर सच्चे साधु बन गये । उनके स्वभाव मे अद्भुत परिवर्तन हो गया और वे बडे भक्ति–भाव से ठाकुर रगीलाल जी, गुरु गोपीनाथ जी तथा तथा सत-महात्माओ की सेवा करने लगे । इस प्रकार की रहन–सहन के कारण उनकी बडी प्रसिद्धि हो गई और अनेक श्रद्धालु जन उनके भक्त और शिष्य होने लगे । वे लालदास से 'लालस्वामी' कहलाने लगे । उनके शिष्यो मे कई प्रसिद्ध भक्त हुए है, जिनमे दामोदर स्वामी का नाम उल्लेखनीय है ।

लालस्वामी ने भक्ति–काव्य की सुदर रचना की है, जिसमे भाषा और भाव का लालित्य दर्शनीय है । इस दृष्टि से उनके कवित्त–सवैया रीति कालीन कवियो की प्रौढ रचनाओ के समकक्ष रखे जा सकते है । उन्होने अपने एक छप्पय मे श्री वनचद्र जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री सुदरवर के 'तिलक' होने का उल्लेख किया है । श्री सुदरवर जी स. १६६६ मे राधावल्लभ सप्रदाय की आचार्य-गद्दी पर आसीन हुए थे । उसके आधार पर गो ललिताचरण जी लालस्वामी का रचना-काल स. १६३० से स १६७५ तक का मानते है[2] ।

दामोदर स्वामी—वे कीरतपुर के निवासी थे और ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए थे । उनके घर मे पडिताई का काम होता था । वे स्वय भी बडे विद्वान और श्रीमद् भागवत के अच्छे वक्ता थे । लालस्वामी के सत्सग से वे प्रेम-भक्ति की ओर आकर्षित हो कर उनके शिष्य हो गये थे । बाद मे वे अपने घर-बार को छोड कर वृदावन आ गये और उन्होने अपना शेष जीवन श्री राधावल्लभ जी की सेवा-उपासना मे लगा दिया । वे सच्चे साधु, परम भक्त और उच्च कोटि के महात्मा थे । भगवतमुदित जी ने उनके वृत्तात मे बतलाया है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय की निकुजोपासना के प्रति सुदृढ आस्था रखते हुए भी वे श्री यमुना जी के बडे भक्त और श्रीमद् भागवत के बडे प्रेमी थे । वे प्रति दिन अत्यत श्रद्धा पूर्वक तुलसी-चदन-मालादि से यमुना जी की पूजा किया करते थे, और श्रीमद् भागवत की दस प्रतियाँ उन्होने अपने हाथ से लिख कर गुरु जनो एव विद्वानो को भेंट की थी[3] ।

उनके प्रदेश के प्रेमी जन उन्हे जो भेंट भेजते थे, उसे वे अपने सेव्य स्वरूप के उत्सव-समारोहो मे लगा देते थे । उनके घर मे उत्सवो का आयोजन इतने विशद रूप मे होता था कि ब्रजवासी गण उन्हे बडा धनाढ्य व्यक्ति मानने लगे थे । इसीलिए उनके यहाँ कई बार चोरी भी हुई थी । लोगो ने एक बार चोर को पकड लिया और उसे इतना पीटा कि वह मर गया । उससे वे बडे दुखी हुए । उन्होने उस झझट का कारण द्रव्य को समझ कर भेंटादि लेना और किसी भी प्रकार का सग्रह करना बिलकुल छोड दिया । अपने सेव्य स्वरूप को भी उन्होने अन्यत्र पधरा दिया और आप 'नाम-सेवा' करने लगे । यहाँ तक कि वे रहन-सहन की आवश्यक वस्तुओ का परित्याग कर दौना-पत्तल एव मिट्टी के बर्तनो को ही उपयोग मे लाते थे और वन मे निवास करते थे । भगवत-मुदित जी ने इसका उल्लेख करते हुए कहा है,—

---

(१) रसिक अनन्यमाल मे 'श्री लालस्वामी की परचई'

(२) श्री हित हरिवंश गोस्वामी : सप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ ४३१

(३) रसिक अनन्यमाल मे 'श्री दामोदर स्वामी की परचई'

सग्रह करी न यह प्रभु इच्छा । चोर मर्यो मैं पाई शिक्षा ।।
सग्रह लखि सब कोऊ गावै । अपराध लगै, प्रभुजन दुख पावै ।।
सेव्य स्वरूप अनत पधराई । रही नाम-सेवा जु सदाई ।।
दौना-पातर व्रज-रज भाजन । लखि धन सेवन लगे विराजन ।। (र. अ. मा.)

वे सर्वस्व त्यागी महात्मा और रसिक भक्त होने के साथ ही साथ अच्छे वाणीकार भी थे। उनकी वाणी की २५ रचनाओ का नामोल्लेख 'श्री हित राधावल्लभीय साहित्य रत्नावली' मे हुआ है। उनमे से श्री गुरु प्रताप, नेम वत्तीसी, भक्ति भेद सिद्धान्त, साखी, सिद्धान्त पदावली, वर्षोत्सव, रहस विलास, अष्टयाम पदावली, रास पचाध्यायी और सख्याक्षरी उल्लेखनीय हैं। इनमे 'रस' और 'सिद्धान्त' दोनो विषयो का परिमार्जित एव मुहावरेदार भाषा मे कथन किया गया है। 'भक्ति भेद सिद्धात' व्रजभाषा गद्य की एक छोटी सी रचना है, किंतु इसकी गद्य-शैली प्रशसनीय है। 'रास पचाध्यायी' मे श्रीमद् भागवत के रास सबधी पाँचो अध्यायो का दोहा-चौपाई छदो मे अविकल अनुवाद है। इसी का सक्षिप्त कथन उन्होने कवित्तो मे भी किया है। 'सख्याक्षरी' मे निज-राज्य है, जो राधा-वल्लभ सप्रदाय मे इस विषय की कदाचित एक मात्र रचना है। 'नेम वत्तीसी' मे उसका रचना-काल स १६८७ दिया गया है। उसके आधार पर श्री ललिताचरण जी ने दामोदर स्वामी का रचना-काल स १६७० से स १७०० तक का माना है[1]।

सांप्रदायिक संगठन—श्री हित हरिवश जी ने प्रेम-भक्ति और रसोपासना के लिए भक्ति-मार्गीय 'मत' का प्रचलन किया था, उसे उनके काल मे ही अनेक श्रद्धालु जनो और रसिक भक्तो ने अपनी साधना के लिए स्वीकार कर लिया था। उनमे से कतिपय महानुभावो का उल्लेख गत पृष्ठो मे किया जा चुका है। इस प्रकार हित जी के जीवन-काल मे ही उनके अनुगामी भक्तो का एक परिकर वन गया था, जो वाद मे 'राधावल्लभ सप्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। नाभा जी ने हित जी के भक्तिमार्गीय मत की विशिष्टता का उल्लेख करते हुए कहा है,—"व्यास-सुवन 'पथ' अनुसरै, सोई भलै पहिचानि है। हरिवश गुसाई भजन की 'रीति' सकृत कोइ जानि है।।" इस कथन मे जो 'पथ' और 'रीति' शब्द आये हैं, उनसे हित हरिवश जी के 'सप्रदाय' का ही सकेत मिलता है। इस प्रकार हित जी ने राधावल्लभ सप्रदाय का प्रवर्त्तन तो किया था, किंतु उसका सुदृढ साप्रदायिक सगठन वनचद्र जी के काल मे हुआ था।

श्री हित हरिवश जी के काल मे व्रज का धार्मिक वातावरण अधिक अनुकूल नही था, किंतु वे अपने अद्भुत प्रभाव से समकालीन परिस्थितियो को अपने अनुकूल वना कर एक नये धार्मिक सप्रदाय की स्थापना करने मे सफल हुए थे। यह उनके अलौकिक महत्त्व की बहुत वडी बात थी। श्री वनचद्र जी का सपूर्ण आचार्यत्व-काल मुगल सम्राट अकवर के सुदीर्घ शासन-काल मे बीता था। सम्राट की उदार धार्मिक नीति के कारण वनचद्र जी को वडा अनुकूल वातावरण मिला था। उससे लाभान्वित होकर उन्होने इस सप्रदाय का व्यापक प्रचार किया। हित हरिवश जी के कई सहयोगी भक्त और उनके वरिष्ट शिष्य श्री वनचंद्र जी के काल मे थे। श्री व्यास जी प्रचुर काल तक विद्यमान रहे थे। स्वय वनचद्र जी और उनके भाइयो के भी कई प्रसिद्ध शिष्य-सेवक उस काल मे उपस्थित थे। उन सवके कारण राधावल्लभ सप्रदाय की पर्याप्त प्रगति हुई थी। श्री हरिवश जी के मानस शिष्य

(१) श्री हित हरिवश गोस्वामी : सप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ ४६३

सेवक जी श्री वनचद्र जी के आरभिक काल मे थे, और हित जी के छोटे पुत्र श्री गोपीनाथ जी के वरिष्ठ शिष्य ध्रुवदास जी श्री वनचद्र जी के उत्तर काल मे थे। उन दोनो महात्माओ की रचनाओ मे हित जी के भक्ति-सिद्धात और उनकी उपासना-पद्धति का जो विशद व्याख्यान हुआ है, उससे उस काल मे राधावल्लभ सप्रदाय की उन्नति मे वडा योग मिला था। वनचद्र जी से आज्ञा प्राप्त कर सुदरदास जी ने श्री राधावल्लभ जी का प्राचीन मदिर वनवाया था, और भगवानदास स्वर्णकार ने 'रासमडल' का नव निर्माण कराया था। उन सव के कारण श्री वनचद्र जी के काल मे राधावल्लभ सप्रदाय व्रज का एक सुदृढ भक्ति-सप्रदाय वन गया था।

हित जी के वशज और उनके शिष्य समुदाय की परंपरा—

'विंदु परिवार' और 'नाद परिवार'—श्री हित हरिवंश जी के वंशजो और उनके वहुसख्यक शिष्यो द्वारा जिस राधावल्लभ सप्रदाय का सगठन हुआ, उसके दो विशिष्ट अग माने गये है। ये दोनो अग 'विंदु परिवार' और 'नाद परिवार' के पारिभाषिक नामो से प्रसिद्ध हैं। इनमे हित जी के समस्त वशज विंदु परिवार के कहलाते है, और उनकी शिष्य-परपरा को नाद परिवार का कहा जाता है। हित जी के वंशज प्राय. गृहस्थ हैं और वे 'गोस्वामी' कहे जाते हैं। इस सप्रदाय की शिष्य-परपरा मे जो विरक्त साधु होते हैं, उन्हे 'स्वामी' कहा जाता है। राधावल्लभ सप्रदाय के इन दोनो अगो किंवा परिवारो मे सदा से सुप्रसिद्ध धर्माचार्य, विशिष्ट विद्वान, रसिक भक्त, भजनानदी महात्मा, विख्यात वाणीकार, रससिद्ध कवि और कुशल कलाकार होते रहे हैं। उन्होने राधावल्लभ सप्रदाय को समृद्ध करने के साथ ही साथ व्रज सस्कृति के समस्त अगो को भी अपनी वहुमूल्य देन दी है। इस सप्रदाय के प्रचार मे नाद परिवार के स्वामियो का योग विशेप रूप से उल्लेखनीय है। श्री हित जी के शिष्य नवलदास जी, पूरनदास जी और उनके पुत्रो के शिष्य चतुर्भुजदास जी, वैष्णवदास जी, भूठा स्वामी आदि से साप्रदायिक प्रचारको की जो परंपरा चली, वह आगे और भी समृद्ध होती गई थी।

पुण्य स्थलो का विभाजन—राधावल्लभ सप्रदाय के इन दोनो वर्गों का साप्रदायिक दृष्टि से समान महत्व माना गया है। इसीलिए इस सप्रदाय के पुण्य स्थल भी दोनो मे समान रूप से विभाजित किये गये हैं। इस सप्रदाय के छह प्रमुख पुण्य स्थल हैं,—१ देववन मे ठाकुर श्री रगीलाल जी का मदिर, २. वृदावन मे श्री राधावल्लभ जी का मदिर, ३. वृदावनस्थ सेवा कुज, ४. रासमडल और ५ मानसरोवर तथा ६. वाद (ज़िला मथुरा) स्थित श्री हित हरिवंश जी का जन्म-स्थान। इनमे से आरभिक तीन स्थल विंदु परिवार के गोस्वामियो के आधिपत्य मे हैं और अतिम तीन स्थलो पर नाद परिवार के विरक्त स्वामियो का अधिकार है।

पारिवारिक परंपरा—श्री हित हरिवंश जी के चारो पुत्रो और उनके पुत्र, पौत्र तथा वशजो का एक वडा परिवार है, जिसके कई सुप्रसिद्ध घराने हैं। इन घरानो मे श्री वनचंद्र जी और उनके भाइयो के पश्चात् जो प्रसिद्ध गोस्वामी हुए हैं; उनमे सर्वश्री सुदरवर जी, राधावल्लभदास जी, व्रजभूषण जी, नागरवर जी, वृदावनदास जी, दामोदरवर जी, हरिप्रसाद जी, रामदास जी, विलासदास जी, किशोरीलाल जी, कमलनयन जी, विहारीलाल जी, कुजलाल जी, श्यामलाल जी, व्रजलाल जी, राधालाल जी, हरिलाल जी, सुखलाल जी, उदयलाल जी, सुदरलाल जी, अनूपलाल जी, गोविदलाल जी, रूपलाल जी, गुलावलाल जी, किशोरीलाल जी, रसिकानद जी, चतुरशिरोमणि लाल जी, दयासिधु जी, कृपासिधु जी, जतनलाल जी, जीवनलाल जी और वेटी वन के चद्रलाल जी के नाम विशेप रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस सप्रदाय का नाद परिवार और भी बड़ा है। श्री हित जी और उनके पुत्रों के शिष्य-समुदाय के पश्चात् इस परपरा मे जो प्रसिद्ध महानुभाव हुए है, उनमे से कुछ के नाम इस प्रकार है,— सर्वश्री हरिदास तूंवर, गोविददास जी, त्रिलोक स्वामी, रसिकदास जी, श्यामसखा कुंवर, प्राणनाथ जी, मोहनदास जी, माधुरीदास जी, मतदास जी, मोहनसखा, लोकनाथ जी, अलिवल्लभ जी, वासवी सखी, सहचरि सुख, अनन्य अली, प्रेमदास जी, बालकृष्ण जी, चन्द्रसखी, श्यामसखी, चाचा वृंदावनदास, प्रियादास जी, रतनदास जी, हरिलाल व्यास और भोलानाथ जी आदि।

दोनो परिवारो के वहुसख्यक महानुभावों मे से कुछ का सक्षिप्त वृत्तात यहाँ दिया जाता है।

श्री सुंदरवर जी—वे श्री वनचद्र जी के सबसे बड़े पुत्र थे। उनका जन्म स १६०६ की आश्विन शु १५ को हुआ था और वे स १६६६ मे राधावल्लभ सप्रदाय के आचार्य एव श्री राधावल्लभ जी के मदिर के अधिकारी हुए थे। अपने यशस्वी पितामह और पिता के पद-चिन्हों पर चलते हुए उन्होने सप्रदाय की उन्नति मे पर्याप्त योग दिया था। उनके छोटे भाई सर्वश्री राधावल्लभदास जी, व्रजभूषण जी तथा नागरवर जी अपने घर की परपरा के अनुसार बड़े विद्वान और सुयोग्य धर्माचार्य हुए थे। सुदरवर जी का देहावसान स १६६० मे हुआ था। उनकी कोई रचना प्रसिद्ध नही है।

कुटुम्ब-परिवार—श्री सुदरवर जी के छोटे भाई श्री राधावल्लभदास जी का जन्म स १६१० की कार्तिक शु १५ को हुआ था। वे प्राय मानसरोवर पर भजन-ध्यान किया करते थे। वहाँ पर ही उनकी बैठक है, जो श्री हित हरिवश जी की बैठक के पास है। उन्होने ग्रथ-रचना भी की थी। उनके ग्रथो के नाम रसतरगिणी, सप्रदाय प्रश्नोत्तर निरूपण और पद्मावली लता कहे जाते है[1]। श्री सुदरवर जी के सबसे छोटे भाई सर्वश्री व्रजभूषण जी और नागरवर जी थे। व्रजभूषण जी का जन्म स १६११ मे और नागरवर जी का स १६१२ मे हुआ था। श्री व्रजभूषण जी अधिकतर सेवाकुज मे निवास करते थे। वे वहाँ पर मानसी सेवा और भजन-ध्यान मे लीन रहते थे। उनके द्वारा 'हित चौरासी' की टीका किये जाने की प्रसिद्धि है। श्री नागरवर जी बड़े भजनानदी महात्मा थे। उन सब की विशद वश-परपराएँ हैं, और उनके कितने ही घराने हैं। वे सव श्री राधावल्लभ जी के गोस्वामी कहलाते हैं।

शिष्य समुदाय—श्री सुदरवर जी के शिष्यो मे सर्वश्री जयदेव ब्राह्मण, लक्ष्मीदास, ऊधोदास, वीरभाई और केशवराय का नामोल्लेख मिलता है। श्री राधावल्लभ जी के सात शिष्यो के नाम मिलते है, जिनमे से त्रिलोक स्वामी और हरिनाथ स्वामी अधिक प्रसिद्ध हुए है। त्रिलोक स्वामी मथुरा के निकटवर्ती लोहवन गाँव के निवासी थे। उन्होने साधुओ की जमात के साथ कई प्रदेशो मे राधावल्लभ सप्रदाय का प्रचार किया था। उनके रचे हुए कुछ पद भी मिलते है। उन्हे मानसरोवर का सुप्रसिद्ध लीला-स्थल प्राप्त हुआ था और रासमडल के राधावल्लभीय निर्मोही अखाडा पर उन्होने ठाकुर श्री हित वल्लभ जी की प्रतिष्ठा की थी। उनकी परपरा के साधुओ का मानसरोवर पर अधिकार रहा है। हरिनाथ स्वामी का घराना राधावल्लभ सप्रदाय का अनुयायी और रासमडली का सचालक था। उनके पिता किशोरीदास जी श्री हित हरिवश के छोटे पौत्र व्रजभूषण जी के शिष्य थे और उन्होने रासमडली का सगठन किया था। हरिनाथ जी बचपन से ही रास के प्रेमी थे। अपने पिता के पश्चात् उन्होने रासमडली का कुशलता पूर्वक सचालन किया था।

---

(१) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ १०६

नागरवर जी के शिष्यो मे हरिदास तूँवर और उनके भाई गोविंददास प्रसिद्ध थे। उनका उल्लेख ध्रुवदास जी और भगवतमुदित जी ने भी किया है। भगवतमुदित जी ने हरिदास तूँवर के विषय मे लिखा है कि उन्होने वृदावन मे युगलघाट का निर्माण करा कर वहाँ श्री युगलकिशोर जी का शिखरदार मदिर बनवाया था[1]। युगलघाट वृदावन का सबसे पुराना घाट कहा जाता है और श्री युगलकिशोर जी का मदिर इस समय गौडीय भक्तो के अधिकार मे है। गोविंददास की रुचि ठाकुर–सेवा मे अधिक थी। वे नाना प्रकार के उत्सव करते थे, और उनमे वशी, वीणा, मृदगादि वाद्यो का स्वय विधिपूर्वक वादन किया करते थे।

श्री दामोदरवर जी (सं १६३४ – स १७१४)—

जीवन–वृत्तांत—राधावल्लभ सप्रदाय के सुप्रसिद्ध आचार्यो मे श्री दामोदरवर जी की गणना की जाती है। वे श्री सुदरवर जी के ज्येष्ठ पुत्र थे और उनके पश्चात् राधावल्लभ सप्रदाय के आचार्य हुए थे। उनका जन्म स १६३४ की आषाढी पूर्णिमा को हुआ था, और वे स १६६० मे आचार्य–गद्दी पर आसीन हुए थे। वे प्रकाड विद्वान, परम भक्त और भगवत्–सेवा परायण महानुभाव थे। उनके एक शिष्य प्राणनाथ कृत 'प्रश्नोत्तरी' मे उनके जीवन-वृत्त और कुछ उपदेशो का सकलन है। इसका उल्लेख उक्त रचना के अतिम दोहा मे इस प्रकार हुआ है,—'श्री दामोदरवर चरित, जिहिं–जिहिं कौ उपदेस। प्राननाथ कछु सुनि लिख्यौ, निज मन के आदेस।' प्राणनाथ की दूसरी रचना 'हस्तामलक' भी दामोदरवर जी द्वारा बोल कर लिखाई गई थी; इसका उल्लेख भी उक्त रचना मे हुआ है। भगवतमुदित जी ने श्री दामोदरवर जी को श्री हित हरिवश जी की 'विजय–मूर्ति' और 'रसिक सभा के मुकुटमणि' बतलाते हुए उनके शिष्य–प्रशिष्यो की समृद्ध परपरा का उल्लेख किया है[2]। दामोदरवर जी की धार्मिक महत्ता के कारण उन्हे हित हरिवश जी का अवतार माना जाता है। वे रास के बडे प्रेमी और प्रोत्साहनकर्त्ता थे। उन्होने अपने शिष्य मोहनदास से एक रास–मडली का सगठन कराया था। वह मडली उनके रास–स्थल पर रासलीला किया करती थी। उन्होने स १७१४ की भाद्रपद शु १३ को उत्तराधिकार-पत्र लिखा था, जिसमे यह व्यवस्था भी की गई थी कि उनके उपरात वहाँ सदैव नियमित रूप से रास होता रहे[3]। उनके रचे हुए कुछ पद भी मिलते हैं। उनका देहावसान स. १७१४ मे हुआ था।

शिष्य–समुदाय—जैसा भगवतमुदित जी ने लिखा है, श्री दामोदरवर जी के अनेक शिष्य–प्रशिष्य थे। उनमे से प्राय बीस शिष्यो का नामोल्लेख 'राधावल्लभ भक्तमाल' मे किया गया है। उनमे सर्वश्री रसिकदास, द्वारकादास, पुष्करदास, श्यामशाह तूँवर, मोहनदास, माधुरीदास, प्राणनाथ और सतदास अधिक प्रसिद्ध हुए है। आरभ के पाँच शिष्यो का वृत्तात तो भगवतमुदित जी ने भी लिखा है। दामोदरवर जी द्वारा राधावल्लभ सप्रदाय की जो उन्नति हुई थी, उसमे उनके शिष्य–समुदाय का भी बडा योग-दान रहा था। यहाँ पर उनमे से कतिपय शिष्यो का सक्षिप्त वृत्तात लिखा जाता है।

---

(१) रसिक अनन्यमाल मे 'श्री हरिदास तूंवर की परचई'

(२) विजै-मूर्ति हरिवश की, हैं प्रपौत्र रसकंद। रसिक सभा के मुकुटमणि, श्री दामोदरचंद॥
तिनके शिष्य-प्रशिष्य बहु, रसिक अनन्य प्रसिद्ध। कछुक कहौं संक्षेप सौं, उनके गुन तौ वृद्ध॥

(३) ब्रजभारती, मार्गशीर्ष सं. २०१६, पृष्ठ ५७

रसिकदास जी—भगवतमुदित जी ने उनके वृत्तात मे बतलाया है, वे नैगट नामक स्थान के निवासी थे और कायस्थ कुल मे उत्पन्न हुए थे । गृहस्थी से उदासीन होकर वे वृ दावन आकर श्री दामोदरवर जी के शिष्य हो गये थे । वहाँ पर वे श्री हित हरिवश जी के पदो की मानसी भावना मे सदैव रसविभोर रहा करते थे[1] । उन्हे रास से भी बडा प्रेम था । उनका उपस्थिति-काल स १६५० से स १७०० तक माना जाता है ।

पुष्करदास—वे काठले मे निवास करने वाले एक सनाढ्य वैश्य थे । उन्होने दामोदरवर जी से दीक्षा लेकर अपने द्रव्य को भगवत्-सेवा मे लगाया था । वे श्री जी के वस्त्राभूषण और उत्सवादि मे वडी उदारता पूर्वक धन-व्यय किया करते थे । उन्होने नदगाँव-बरसाना स्थित देव-स्थलो के साज-शृ गारादि मे भी अपने धन का उपयोग किया था ।

श्यामशाह तूँवर—वे तूंवर क्षत्रिय थे और घर-गृहस्थी एव बाल-बच्चे वाले थे । भक्ति मार्ग की ओर आकर्षित होने पर वे अपनी स्त्री सहित वृ दावन आ गये थे, और वहाँ पर उन्होने दामोदरवर जी से दीक्षा ली थी । वे बडे गुरु-भक्त थे । उन्होने पद-रचना भी की थी । उनकी एक रचना 'भान ज्योनार' है, जिसमे वृषभानु जी के निवास-स्थान पर नदराय जी द्वारा बरात ले जाने पर उसकी ज्योनार का बडा रोचक कथन किया गया है ।

मोहनदास और माधुरीदास—वे दोनो पिता-पुत्र थे । भगवतमुदित जी ने उनकी रसज्ञता, इष्टाराधना और गुरु-भक्ति का सामान्य कथन करने के अतिरिक्त उनका कोई विशेष वृत्तात नही लिखा है । गोविंदअली कृत 'रसिक अनन्य गाथा' से ज्ञात होता है, मोहनदास कामवन के ब्राह्मण थे । श्री दामोदरवर जी की प्रेरणा से उन्होने एक रासमडली का सगठन किया था, जिसमे उनका रूपवान पुत्र माधुरीदास प्रिया जी का स्वरूप बनता था । मोहनदास की मडली वृ दावन मे श्री दामोदरवर जी के समक्ष रास किया करती थी । उसके द्वारा रास के आरभिक प्रचार मे बडा योग मिला था । मोहनदास के उपरात उसके पुत्र माधुरीदास ने उक्त मडली का सचालन किया था । चाचा वृ दावन-दास कृत 'रसिक अनन्य परचावली' मे भी उन दोनो की रास सबधी देन का उल्लेख किया गया है[2] ।

प्राणनाथ—वे जुझौतिया ब्राह्मण थे । उनका जन्म बुदेलखड के पन्ना राज्यातर्गत उनेहरा गाँव मे हुआ था । वे वहाँ के एक वैश्य परिवार की नौकरी करते थे, और मन ही मन अपने स्वामी की पुत्री पर आसक्त थे । एक बार वे उस वैश्य परिवार के साथ वृ दावन आये थे । वहाँ श्री दामोदरवर जी का उपदेश सुन कर उनकी वासनामयी लौकिक आसक्ति शुद्ध भगवत्-प्रेम मे परिवर्तित हो गई और वे युवावस्था मे ही विरक्त होकर वृ दावन मे रहने लगे । उन्होने दामोदर-वर जी से मत्र-दीक्षा लेकर हित मार्गीय उपासना-भक्ति का बडी निष्ठापूर्वक पालन किया था[3] । उनकी 'प्रश्नोत्तरी' और 'हस्तामलक' नामक रचनाएँ राधावल्लभ सप्रदाय मे प्रसिद्ध हैं । 'प्रश्नोत्तरी' मे उन्होने अपने गुरु श्री दामोदरवर जी का चरित्र स्वय उनके मुख से सुन कर प्रश्नोत्तर के रूप मे लिखा है । यह गद्य-पद्यात्मक ग्र थ है, और इस सप्रदाय के चरित्र-साहित्य की अनुपम रचना है । 'हस्तामलक' मे दामोदरवर जी से सुने हुए उनके उपदेशो का सकलन है । इसका उल्लेख ग्र थ के आरभ मे ही इस प्रकार किया गया है,—'श्री गुसाई दामोदर जी पूर्ण जुगल प्रेमानद प्रकाशक रूप

(१) रसिक अनन्यमाल मे 'रसिकदास जी की परचई'
(२) रासलीलानुकरण का उदय और उसकी परपरा (ब्रजभारती, मार्गशीर्ष स. २०१६)
(३) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ ३७१

प्रगट है। उनके मुख सुने ता मधि जु सुधि रहे मु लिखि राख्यौ है।' यह गद्यात्मक ग्रंथ है और इसमे राधावल्लभीय भक्ति–पद्धति तथा प्रेमोपासना के विवेचन के साथ ही साथ 'हित चौरासी' के कुछ कठिन पदो की भावना का भी स्पष्टीकरण किया गया है। इसके कारण जहाँ साप्रदायिक दृष्टि से इसकी उपादेयता है, वहाँ ब्रजभाषा गद्य की प्राचीन रचना होने के कारण इसका साहित्यिक महत्व भी है। इन दो रचनाओ के अतिरिक्त प्राणनाथ जी के रचे हुए कुछ पद भी मिलते है। उनका उपस्थिति काल स १६५० से स १७२० तक माना जा सकता है।

संतदास—वे भी श्री दामोदरवर जी के शिष्य थे। उन्हे मैनपुरी का निवासी और ब्राह्मण कुलोत्पन्न बतलाया गया है[1]। वे भगवद्भक्त और साधु–सेवी महात्मा थे। श्री राधा सुधानिधि की ब्रजभाषा टीका और वृहद् अष्टयाम नामक उनकी दो रचनाए कही जाती है[2]।

अधिकार का विभाजन—

दो आचार्यो की परंपरा—श्री दामोदरवर जी के काल तक हितवशीय गोस्वामियो के ज्येष्ठ घराने का बडा पुत्र ही राधावल्लभ सप्रदाय का आचार्य और श्री राधावल्लभ जी के मदिर का प्रधान सेवाधिकारी होता रहा था। उनके उपरात उनके दोनो पुत्र रासदास जी और विलासदास जी मे आचार्यत्व और अधिकार का विभाजन हो गया था। उसके कारण उन दोनो के वशजो का साप्रदायिक दृष्टि से समान महत्त्व माना जाने लगा। इसके सबध मे राधावल्लभ सप्रदाय मे एक अनुश्रुति प्रचलित है। ऐसा कहा जाता है, श्री दामोदरवर जी की पत्नी के पर्याप्त काल तक कोई सतान नही हुई थी। उससे चिंतित होकर श्री सुदरवर जी ने दामोदरवर जी का दूसरा विवाह करने का विचार किया। उन्होने जो कन्या पसद की थी, उसके पिता ने यह शर्त रखी कि उनकी पुत्री से उत्पन्न पुत्र ही सप्रदाय का आचार्य और सेवाधिकारी होगा। श्री सुदरवर जी ने वह शर्त मान ली, और श्री दामोदरवर जी का दूसरा विवाह हो गया। दैवयोग से उनकी दोनो पत्नियाँ एक साथ गर्भवती हुई और दोनो के प्राय साथ-साथ ही पुत्र उत्पन्न हुए। बडी पत्नी का पुत्र कुछ दिन पहिले उत्पन्न हुआ था और छोटी पत्नी का कुछ दिन बाद। बडी के पुत्र का नाम रासदास और छोटी के पुत्र का नाम विलासदास रखा गया। दोनो की साथ–साथ शिक्षा–दीक्षा हुई थी और दोनो ही बडे विद्वान एव प्रतिभाशाली धर्मवित्ता हुए थे।

जब श्री दामोदरवर जी को अपने अत काल का आभास हुआ, तब उन्हे अपने उत्तराधिकारी की चिंता होने लगी। घर की परपरा के अनुसार बडे पुत्र रासदास जी अधिकारी थे, किंतु पूर्व निश्चय के अनुसार विलासदास जी का अधिकार कायम होता था। उस उलझन को सुलझाने के लिए श्री दामोदरवर जी ने गद्दी के आचार्यत्व और सेवा के अधिकार का विभाजन अपने दोनो पुत्रो मे कर दिया। फलत. दोनो घरानो के बडे पुत्रो को समान रूप से आचार्य और सेवा–अधिकारी माना जाने लगा। इसके कारण राधावल्लभ सप्रदाय मे दो आचार्य और सेवा–अधिकारी होने लगे। दोनो के लिए ठाकुर–सेवा के दिन निश्चित कर दिये गये और वे अपने–अपने अवसर से सप्रदाय का सचालन तथा ठाकुर–सेवा की व्यवस्था करने लगे। ऐसी भी अनुश्रुति है कि वास्तविक विभाजन सर्वश्री रासदास जी और विलासदास जी के काल मे नही हुआ, बल्कि बाद मे हुआ था। कुछ भी हो, विभाजन की वह व्यवस्था राधावल्लभ संप्रदाय मे अब भी प्रचलित है।

(१) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ ३७४
(२) श्री हित राधावल्लभीय साहित्य रत्नावली, पृष्ठ १६

श्री रासदास जी—वे श्री दामोदरवर जी की बड़ी पत्नी के पुत्र थे। उनका जन्म स. १६६५ की भाद्रपद शु ८ को हुआ था और वे अपने पिता जी के उपरान्त स १७१४ में आचार्य-गद्दी पर आसीन हुए थे। वे रसिक भक्त और विद्वान धर्माचार्य थे। उनका निवास वृदावन की अपेक्षा बरसाना मे अधिक रहता था। ऐसा कहा जाता है, वहाँ का लीला-स्थल 'रासगढ़' उन्हीं के नाम पर ही प्रसिद्ध हुआ है। उनके तीन पुत्र थे,—कमलनयन जी, किशोरीलाल जी और कुजलाल जी। श्री रासदास जी का देहावसान स १७२२ के लगभग हुआ था। उनके उपरान्त उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री कमलनयन जी उनके उत्तराधिकारी हुए थे।

श्री विलासदास जी—वे श्री दामोदरवर जी की छोटी पत्नी के पुत्र थे। उनका जन्म स १६६५ मे श्री रासदास जी के जन्म से कुछ दिन पश्चात् हुआ था। वे श्री रासदास जी के समान ही इस सप्रदाय के आचार्य माने गये, और विभाजित सेवा के अधिकारी हुए। वे भी बड़े योग्य धर्माचार्य थे। उनकी रची हुई पदावली बतलाई जाती है। उनके ६ पुत्र हुए थे, जिनमे श्री श्याम-लाल जी ज्येष्ठ थे। श्यामलाल जी के छोटे भाइयो मे सर्वश्री रसिकलाल जी और गोविदलाल जी अधिक प्रसिद्ध हुए है। श्री विलासदास जी का देहावसान स १७२५ मे सभवत बरसाना मे हुआ था। वहाँ का लीला-स्थल 'विलासगढ़' उनके नाम पर प्रसिद्ध हुआ माना जाता है। वहीं पर उनकी समाधि भी बनी हुई है।

शिष्य-समुदाय—श्री रासदास जी के तीन शिष्यो के नाम मिलते हैं, जिनमे मोहन मस्त और शकर शर्मा प्रमुख थे। मोहन जी पजाब के निवासी थे। वे रासदास जी के शिष्य होकर वृदावन मे ही रहने लगे थे। श्री राधावल्लभ जी की सेवा-भावना मे वे सदैव मस्त रहा करते थे; जिसके कारण वे मोहन मस्त के नाम से प्रसिद्ध हो गये थे। उनकी एक रचना माझ छद मे है, जो 'मोहन मस्त जी की माझ' कहलाती है। इसकी भाषा पजाबी मिश्रित ब्रजभाषा है और रचना-शैली ओजपूर्ण है। उनकी दो अन्य रचनाएँ 'हुलास मोहनी' और 'केलि कल्लोल' कही जाती हैं। शकर शर्मा ब्रजभाषा के अच्छे कवि हुए हैं। उनकी रचनाओ के नाम अलकार शकर, नायिका भुख वर्णन, हरिवश वश-प्रशस्ति, हरिवश हस नाटक और सद्वृत्त मुक्तावली बतलाये जाते हैं।

श्री विलासदास जी के शिष्यो मे दो प्रमुख थे,—लोकनाथ जी और युगलदास जी। लोकनाथ जी पटना के रहने वाले एक विद्वान ब्राह्मण थे। वे वृदावन आकर विलासदास जी के शिष्य हुए थे और प्रिया-प्रियतम की भक्ति-भावना मे तल्लीन रहा करते थे। उन्होने हित चौरासी की टीका तथा 'राधा भक्ति मजूषा' एव 'उत्सव प्रकाश' नामक दो ग्रथो की रचना की है। युगलदास जी विरक्त महात्मा थे। उन्होने भी हित चौरासी की टीका की थी[1]।

श्री कमलनयन जी (सं १६९२ – स १७५४) —

जीवन-वृत्तांत—वे गो श्री रासदास जी के ज्येष्ठ पुत्र थे। उनके यथार्थ जन्म-काल का निश्चय नही होता है। साप्रदायिक अनुश्रुति के अनुसार उनका जन्म स १६९२ मे हुआ था और वे स १७२५ के लगभग आचार्य-गद्दी पर आसीन हुए थे। उनकी गणना राधावल्लभ सप्रदाय के अत्यत प्रसिद्ध आचार्यो मे की जाती है। उनके अनेक शिष्य हुए थे और उन्होने भावपूर्ण पद-रचना भी की थी। उनकी रचनाओ मे अष्टयाम और वर्षोत्सव की अधिक प्रसिद्धि है।

---

(१) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ स ३८८, ४१३, ४१४

श्री कमलनयन जी के काल की सर्वाधिक प्रसिद्ध घटना औरगजेब की मजहवी तानाशाही के फलस्वरूप श्री राधावल्लभ जी का स्थानातरण और उनके मदिर का ध्वश होना है। उनका देहावसान स १७५४ हुआ था। उनका कोई पुत्र नही था, अत उन्होने अपने भतीजे ब्रजलाल जी को गोद ले लिया था। श्री ब्रजलाल जी ही उनके पश्चात् उनकी गद्दी के आचार्य हुए थे।

श्री राधावल्लभ जी का स्थानांतरण और मंदिर का ध्वंश—श्री कमलनयन जी जिस समय राधावल्लभ सप्रदाय के आचार्य हुए थे, उस समय मुगल सम्राट औरगजेब की मजहवी तानाशाही का दमन-चक्र ब्रज मे बडी तीव्र गति से चल रहा था, और उसके सकट की काली छाया उनके सपूर्ण आचार्यत्व-काल पर छाई रही थी। वह वडा कठिन समय था; किंतु श्री कमलनयन जी ने बडे धैर्य और साहस के साथ उसका सामना किया था। स १७२६ मे औरगजेब के राजकीय आदेश द्वारा ब्रज के मदिर-देवालयो को नष्ट-भ्रष्ट किया जाने लगा था। उस समय यहाँ की प्राय सभी प्रसिद्ध देव-मूर्तियाँ गुप्त रूप से हटा दी गई थी और उन्हे सुरक्षित स्थानो मे पहुँचा दिया गया था। उसी सकट काल मे श्री राधावल्लभ जी के स्वरूप को भी मदिर से हटाया गया था। उसके उपरात राजकीय कर्मचारियो ने मदिर पर आक्रमण कर उसके कुछ भाग को नष्ट कर दिया था। ऐसी अनुश्रुति है, उस आक्रमण मे राधावल्लभ सप्रदाय के सात प्रमुख भक्त मारे गये थे। वह दुर्घटना स १७२६ मे अथवा उसके तत्काल पश्चात् हुई थी।

साप्रदायिक साहित्य से ज्ञात होता है कि श्री राधावल्लभ जी को वृ दावन के मदिर से हटा कर कामवन पहुँचाया गया था और वहाँ के मदिर मे उन्हे स १७३९ मे विराजमान किया गया था। उनके स्थानातरण से सबधित सपूर्ण तथ्यो का भली भाँति उल्लेख नही मिलता है। उसके कारण यह ज्ञात नही होता है कि स १७२६ से स १७३९ तक के काल मे श्री राधावल्लभ जी कहाँ रहे थे। उन्हे गुप्त रीति से वृ दावन मे ही रखा गया था, अथवा तत्काल कामवन पहुँचाया गया था और वहाँ स्थान की व्यवस्था एव अनुकूल परिस्थिति होने पर ही उन्हे स १७३९ मे मदिर मे प्रतिष्ठित किया गया था। उस काल के राधावल्लभीय गोस्वामियो मे से कौन-कौन श्री राधावल्लभ जी के साथ कामवन गये थे और वहाँ रहे थे। श्री कमलनयन जी और उनके समकालीन विलासवशीय आचार्य श्यामलाल जी और उनके भाई-भतीजो ने उस समय किस प्रकार अपने कर्त्तव्य का पालन किया था और उसके लिए उन्हे क्या-क्या कष्ट झेलने पडे थे। उन सब बातो का विशद विवरण उपलब्ध नही है। साप्रदायिक साहित्य से ज्ञात होता है कि श्री राधावल्लभ जी प्राय १०३ वर्ष तक कामबन मे विराजे थे। उसके उपरात उन्हे वहाँ से वृ दावन ला कर स १८४२ मे नये मदिर मे प्रतिष्ठित किया गया था।

कुटुंभ-परिवार—श्री कमलनयन जी के दो छोटे भाई थे,—श्री विहारीलाल जी और श्री कुजलाल जी। उनका जन्म क्रमश स १६९४ और स १६९६ के लगभग हुआ था। कमलनयन जी के कोई पुत्र नही था, किंतु विहारीलाल जी के तीन और कुजलाल जी के सात पुत्र थे। विहारीलाल जी के पुत्रो के नाम क्रमश मोहनलाल जी, ब्रजलाल जी और चतुरलाल जी थे। श्री कमलनयन जी ने अपने भतीजे ब्रजलाल जी को गोद लिया था, जो उनके पश्चात् आचार्य-गद्दी पर आसीन हुए थे। कमलनयन जी के चाचा श्री विलासदास जी के पुत्रो मे श्यामलाल जी सवसे वडे थे। उनसे छोटे सर्वश्री रसिकलाल जी और गोविंदलाल जी थे। श्री वनचंद्र जी के कनिष्ट पुत्र श्री नागरवर जी के प्रपौत्र श्री धीरधर जी भी उस समय विद्यमान थे। वे सब कमलनयन जी के समकालीन थे और सभी विद्वान धर्माचार्य थे। कुजलाल जी के पुत्र हरिलाल जी ने पद-रचना

की थी। रसिकलाल जी की हित चौरासी की टीका प्रसिद्ध है, जिसकी रचना सं. १७२४ में हुई थी। उसके अतिरिक्त उन्होंने करुणानिद और गीत गोविंद की टीका तथा पदावली की रचना भी की थी। गोविंदलाल जी कृत भावना शत, समय विचार और पदावली आदि रचनाओं का उल्लेख मिलता है।

शिष्य समुदाय—'राधावल्लभ भक्तमाल' में श्री कमलनयन जी के अनेक शिष्यों का नामोल्लेख हुआ है। उनमें सर्वश्री कृष्ण अलि, अतिवल्लभ, वल्लभदास, बावरी सखी, सहचरि सुख और हित अनूप के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। श्री कमलनयन जी के छोटे भाई गो कुंजलाल जी के शिष्यों में युगलदास जी, हरजीमल सखी और उत्तमदास जी तथा गोविंदलाल जी के शिष्यों में अनन्य अली जी के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री नागरवर जी के पपौत्र और कमलनयन जी के समकालीन गो धीरधर जी थे। उनके शिष्य रसिकदास जी इस संप्रदाय के एक विशिष्ट भक्त-कवि हुए हैं। इन राधावल्लभीय भक्तों के अतिरिक्त गौडीय भक्त-कवि भगवतमुदित जी कृत 'रसिक अनन्यमाल' की रचना भी श्री कमलनयन जी के काल में ही हुई थी। यहाँ पर इन भक्त जनों का कुछ परिचय दिया जाता है।

कृष्ण अलि जी—वे सारस्वत ब्राह्मण थे और गान, वाद्य एवं नृत्य कलाओं में बड़े प्रवीण थे। कमलनयन जी से मंत्र-दीक्षा लेने के उपरात वे श्री राधावल्लभ जी के मंदिर की 'समाज' में गायन-वादन किया करते थे। वे सखी भाव में रहते थे और उनका देहात रासमंडल पर रास में नृत्य करते समय हुआ था।

अतिवल्लभ जी—वे दाक्षिणात्य थे और पहिले शैव धर्मावलंबी थे। बाद में वे वृंदावन आकर कमलनयन जी के शिष्य हो गये थे। उनकी ७ रचनाओं का नामोल्लेख मिलता है, जिनमें समय प्रबंध, हित पद्धति, हित वंशावली और गुरु प्रणाली उल्लेखनीय हैं।

वल्लभदास जी—वे ब्रजवासी थे। उन्होंने साधुओं के साथ भ्रमण करते हुए राधावल्लभ संप्रदाय का बड़ा प्रचार किया था। उनके द्वारा रचित और संगृहीत ८२ रचनाओं का नामोल्लेख मिलता है[१]। उनसे ज्ञात होता है कि वे बड़े विद्वान और रससिद्ध वाणीकार थे।

बावरी सखी जी—वे सारस्वत ब्राह्मण थे। नागरीदास जी कृत 'पद प्रसंग माला' में उनका मूल नाम तुलाराम लिखा गया है। वे सखी भाव में प्रेमोन्मत्त रहते थे, इसीलिए 'बावरी सखी' के नाम से प्रसिद्ध हो गये थे। सेवाकुंज में बुहारी देने और ब्रजवासियों के घरों में से मधुकरी माँग कर खाने का उनका नियम था। वे प्राय बरसाना जा कर वहाँ के गहवर वन में रसविभोर होकर घूमा करते थे। उन्होंने पद-रचना भी की है, जो अत्यत सरस है।

सहचरि सुख जी—वे पंजाबी ब्राह्मण थे और वृंदावन आकर श्री कमलनयन जी के शिष्य हो गये थे। वे काव्य-रचना तो पहिले से ही करते थे, किंतु वृंदावन में निवास करने पर वे राधावल्लभीय रस-पद्धति के भी अच्छे ज्ञाता हो गये थे। उससे उनकी रचना अत्यत सरस और भावपूर्ण हुई है। गो ललिताचरण जी ने उनके भक्ति-काव्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है,—'उन्होंने मूर्त्त उपास्य भाव का अमूर्त्त रूपों द्वारा वर्णन किया है। उनके पद अनेक सुंदर लाक्षणिक प्रयोगों से मंडित हैं। ब्रजभाषा साहित्य में वे लक्षणा का विशद प्रयोग करने वाले घनानद जी से कुछ पहिले के कवि हैं। उनका सौन्दर्य-बोध अत्यत सूक्ष्म और तीव्र है। उनकी वाणी सौन्दर्य के भार से मानो इठलाती हुई चलती है। उनकी भाषा समृद्ध और वेगशालिनी है[२]। उनका कोई ग्रंथ प्राप्त नहीं हुआ, किंतु उनके अनेक सुंदर पद कीर्तन-संग्रहों में मिलते हैं।

---

(१) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ ३६४
(२) श्री हित हरिवंश गोस्वामी संप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ ४६७

हित अनूप जी—वे बदायूं जिला के सहसबान नामक स्थान के निवासी थे, किंतु किशोरावस्था मे ही अपने घर वालो के साथ वृ दावन आकर बस गये थे। उन्होने आचार्य कमलनयन जी से मत्र–दीक्षा ली थी। वे रससिद्ध कवि थे। उनकी एक रचना 'माधुर्य विलास' उपलब्ध है, जिसे गो ललिताचरण जी ने देखा है। उनके मतानुसार यह राधावल्लभीय साहित्य की एक अनूठी रचना है। इसमे माधुर्य-विलास का नये प्रकार से विवेचन किया गया है। अनूप जी इसके पूर्वार्ध की रचना ही कर सके थे कि उनका देहात हो गया। बाद मे उनके मित्र बशीधर जी ने उसके उत्तरार्ध की रचना कर स १७७४ मे ग्रथ की पूर्ति की थी। किंतु इसका उत्तरार्ध पूर्वार्ध की भाँति महत्त्वपूर्ण नही बन पाया है[1]। इसकी रचना दोहा–चौपाई छदो मे हुई है। इस ग्रथ के आधार पर हित अनूप जी का जन्म–काल स १७१० के लगभग और देहावसान–काल स. १७७० के लगभग माना जा सकता है।

युगलदास जी—उनका पिता नरवरगढ का निवासी एक सनाढ्य ब्राह्मण था। वह बाद मे वृ दावन आ गया था, और श्री जी के मदिर की जल–सेवा का कार्य करता था। युगलदास बाल्यावस्था से ही वृ दावन मे रहे थे, और उन्होने गो कुजलाल जी से मत्र–दीक्षा ली थी। वे बचपन मे किसी रासमडली मे सखी का स्वरूप बना करते थे, जिससे उन्हे सखी–भाव के प्रति आसक्ति हो गई थी। उन्होने विवाह नही किया, और वे जीवन पर्यन्त सखी–भाव से ही उपासना–भक्ति करते रहे थे। उनका देहावसान सेवा–कुज मे हुआ था[2]।

हरजीमल खत्री—वे दिल्ली निवासी अरोडा खत्री थे। बाद मे वे मथुरा मे रहने लगे थे। उन्होने गो कुजलाल जी से राधावल्लभ सप्रदाय की दीक्षा ली थी। अपने द्रव्य से उन्होने श्रीजी का शृ गार एव चाँदी का हिंडोला बनवाया था, और अठखभा की मरम्मत कराई थी। अत मे वे बरसाना चले गये थे, और वहाँ के विलासगढ की एक कुटी मे रह कर भक्ति-साधना किया करते थे। उन्होने वहाँ श्री विलासदास जी की समाधि भी बनवाई थी।

रसिकदास जी—राधावल्लभ सप्रदाय मे रसिकदास नामक कई भक्त जन हुए हैं, जिनमे श्री दामोदरवर जी के शिष्य एक रसिकदास का उल्लेख पहिले किया जा चुका है। यह रसिकदास श्री नागरवर जी के प्रपौत्र गो धीरधर जी के शिष्य थे। श्री धीरधर जी का समय स १६७० से स १७६० तक का है। प्राय वही काल रसिकदास जी का ज्ञात होता है, जिसकी पुष्टि उनकी रचनाओ से भी होती है। उनकी जिन कृतियो मे रचना–काल का उल्लेख हुआ है, वे स १७४३ से स १७५३ तक की है। चाचा वृ दावनदास जी ने उनका परिचय देते हुए बतलाया है कि वे भेलसा के निवासी थे। बाद मे वे वृ दावन आकर गो धीरधर जी के शिष्य हुए थे।

रसिकदास जी ने प्रचुर साहित्य–रचना की थी, जिसके कारण उनकी गणना राधावल्लभ सप्रदाय के सुप्रसिद्ध भक्त–कवियो मे की जाती है। श्री किशोरीशरण 'अलि' ने उनकी ३१ रचनाओ का नामोल्लेख किया है[3]। डा० विजयेन्द्र स्नातक ने उनकी २२ रचनाओ के नाम लिखे हैं और

---

(१) **श्री हित हरिवश गोस्वामी : सप्रदाय और साहित्य**, पृष्ठ ४७७

(२) **राधावल्लभ भक्तमाल**, पृष्ठ ४१६

(३) **श्री हित राधावल्लभीय साहित्य रत्नावली**, पृष्ठ २३

छद-सख्या सहित उनके विषय का सक्षिप्त परिचय दिया है[1]। इससे ज्ञात होता है कि नरहरिदास जी सस्कृत के प्रगाढ विद्वान और ब्रजभाषा के सुप्रसिद्ध कवि थे। उन्होंने श्रीराधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का बडा विशद वर्णन किया है, जो रीतिकालीन काव्य से प्रभावित होते हुए भी भक्ति-भावना से ओत-प्रोत है। उन्होंने शब्दो की तोड-मरोड अधिक की है, फिर भी इससे उनके काव्य-सौष्ठव मे कमी नही आई है।

अनन्य अली जी—वे राधावल्लभ सप्रदाय के एक समर्थ भक्त-कवि थे। उन्होंने अपनी गद्य रचना 'स्वप्न विलास' मे १५ स्वप्न-प्रसगो के माध्यम से अपना जीवन-वृत्तात व्यक्त किया है। उससे ज्ञात होता है कि वे ब्रजमडल से दूर किसी स्थान के निवासी थे। 'राधावल्लभ भक्तमाल' मे उनका जन्म-स्थान चदौसी और जन्म-काल स १७०८ बतलाते हुए उन्हे सनाढ्य ब्राह्मण लिखा गया है[2]। किंतु 'स्वप्न विलास' के अतसाक्ष्य से उनका जन्म-काल स १७३६ सिद्ध होता है। उनके घर मे वणिक-वृत्ति थी, जिससे वे ब्राह्मण की अपेक्षा वैश्य ज्ञात होते है।

'स्वप्न विलास' के अनुसार उनका पूर्व नाम भगवानदास था। उनका घराना राधावल्लभ सप्रदाय का अनुयायी था, और उनके ज्येष्ठ भ्राता भी विरक्त और रसिक भक्त थे। उन्हे बाल्यावस्था मे ही गो गोविदलाल जी से मत्र-दीक्षा दिलाई गई थी। जिस समय उनकी आयु २० वर्ष की थी तभी उनके भाई का देहावसान हो गया था। उस समय उन्हे वृ दावन जाने की प्रेरणा हुई, और वे अपने गुरु श्री गोविदलाल जी के साथ स १७५६ की ज्येष्ठ शु २ को वृ दावन आ गये। जिस समय वे वृ दावन आये थे, उस समय श्री राधावल्लभ जी का स्वरूप वृ दावन मे न होकर कामबन के जलाल-गढ मे था। वहाँ जाकर ही उन्होंने उनके दर्शन किये थे। उसके उपरात वे मृत्यु पर्यंत ब्रज मे ही रहे थे। उन्होंने अविवाहित रह कर विरक्त जीवन व्यतीत किया था। वे जीवन पर्यंत भक्ति-भावना और वाणी-रचना करते रहे थे। उनका निवास वृ दावन मे ध्रुवदास जी की कुटी के समीप था।

उन्होंने विपुल वाणी-साहित्य की रचना की है। 'राधावल्लभ भक्तमाल' मे उनकी ६५ और 'राधावल्लभीय साहित्य रत्नावली' मे उनकी ९६ रचनाओ का नामोल्लेख हुआ है। डा० विजयेन्द्र स्नातक ने उनकी ७६ रचनाओ के नाम और पद-सख्या का उल्लेख करते हुए उनके समस्त पदो की सख्या ६००० के लगभग अनुमानित की है[3]। इससे उनके साहित्य की विशालता का बोध हो सकता है। उनकी रचना का उद्देश्य श्री राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओ का विविध भाँति से कथन करना है, जिसे उन्होंने 'रस' और 'सिद्धात' दोनो के दृष्टिकोण से बडे विशद रूप मे सम्पन्न किया है। उनकी समस्त रचनाएँ पद्यात्मक है, केवल एक 'स्वप्न विलास' गद्यात्मक है। ब्रजभाषा गद्य की प्राय ढाई सौ वर्ष पुरानी रचना होने के कारण इसका साहित्यिक महत्व भी है। साप्रदायिक दृष्टि से तो उनकी सभी रचनाएँ महत्वपूर्ण हैं।

अनन्य अली जी की जिन कृतियो मे रचना-काल का उल्लेख मिलता है, वे स १७५९ से स १७९० तक की हैं। इससे उनका अत-काल स १८०० के लगभग माना जा सकता है। उनका देहावसान वृ दावन मे हुआ था।

---

(१) राधावल्लभ सप्रदाय : सिद्धात और साहित्य, पृष्ठ ५०१
(२) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ ४६०
(३) राधावल्लभ सप्रदाय : सिद्धात और साहित्य, पृष्ठ ४९७

भगवतमुदित जी—वे चैतन्य सप्रदाय के अनुयायी थे, किंतु श्री हित हरिवश जी मे उनकी बडी श्रद्धा थी, और राधावल्लभ सप्रदाय की रसोपासना के प्रति वे अत्यत आस्थावान थे। उन्होने श्री प्रबोधानद जी कृत 'वृदावन शतक' की ब्रजभाषा टीका की है। उसके अत मे अपना परिचय देते हुए उन्होने बतलाया है, वे आगरा निवासी भक्तवर माधवमुदित जी के पुत्र और वृदावनस्थ ठाकुर श्री गोविंददेव जी के सेवाधिकारी हरिदास जी के शिष्य थे। प्रियादास कृत भक्तमाल-टीका मे उन्हे आगरा के सूबेदार शुजाउलमुल्क का दीवान बतलाया गया है। इस प्रकार अपने आरभिक जीवन मे वे उच्च पदस्थ राजकीय कर्मचारी थे, किंतु तभी से वे साधु-सतो और ब्रजवासी भक्तो की धनादि से उदारता पूर्वक सेवा किया करते थे। वे उच्च कोटि के महात्मा, रसिक भक्त और सुकवि थे। उनकी रचनाओ के आधार पर उनका जन्म-काल स १६५० के लगभग अनुमानित होता है, और वे प्राय स. १७२० तक विद्यमान जान पडते है[1]।

वे 'रसिक अनन्यमाल' नामक सुप्रसिद्ध चरित–ग्रथ के रचयिता थे। उक्त रचना से पहिले नाभा जी कृत 'भक्तमाल' और ध्रुवदास जी कृत 'भक्त-नामावली' मे अन्य भक्त जनो के साथ ही साथ कुछ राधावल्लभीय भक्तो का भी सक्षिप्त वृत्तात लिखा गया था। किंतु भगवतमुदित जी कृत 'रसिक अनन्यमाल' मे केवल राधावल्लभीय भक्तो का ही उल्लेख किया गया है। इस प्रकार यह इस सप्रदाय के भक्तो का सर्वप्रथम चरित्र-ग्रथ है। इसमे राधावल्लभ सप्रदाय के ३६ विशिष्ट भक्तो का विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है, जो पर्याप्त खोजपूर्ण भी है। इसकी रचना स १७१४ के कुछ समय पश्चात् और स १७२० से पहिले होने का अनुमान है[2]। भगवतमुदित जी से प्रेरणा प्राप्त कर राधावल्लभीय भक्तो ने जी अपने सप्रदाय मे सविस्तृत चरित-ग्रथो की रचना आरभ की थी। ऐसे भक्तो मे उत्तमदास जी का नाम सबसे पहिले आता है।

उत्तमदास जी—वे श्री कमलनयन जी के कनिष्ट भ्राता श्री कुजलाल जी के शिष्य थे। उनका महत्त्व उनकी विशिष्ट रचना 'अनन्यमाल' के कारण है। ऐसा जान पडता है, इसकी प्रेरणा उन्हे भगवतमुदित जी कृत 'रसिक अनन्यमाल' से हुई थी। भगवतमुदित जी की कृति मे राधावल्लभ सप्रदाय के प्रसिद्ध भक्तो का चरित्र तो है, किंतु इसमे इस सप्रदाय के प्रवर्त्तक श्री हित हरिवश जी का जीवन-वृत्त नही है। उस अभाव की पूर्ति का प्रारभिक प्रयास उत्तमदास जी ने किया था। उन्होने 'अनन्यमाल' की रचना कर उसमे सर्व प्रथम श्री हित हरिवश जी के जीवन-वृत्तात को लिखा है, फिर उनके प्रधान शिष्यो का सक्षिप्त वर्णन कर भगवतमुदित जी द्वारा उल्लिखित भक्तों की नामावली दी है। इस प्रकार इसका आरभिक भाग तो भगवतमुदित जी के ग्रथ का पूरक है, किंतु इसका शेषाश उसकी अनुक्रमणिका मात्र है।

इस ग्रथ की रचना होने पर उस काल के लिपिक इसे भगवतमुदित जी रचित 'रसिक अनन्यमाल' के आरभ मे लिखने लगे थे। उससे उसकी हस्त प्रतियाँ राधावल्लभीय भक्त जनो के पठन-पाठन के लिए बडी उपयोगी हो गई थी, किंतु उनसे यह भ्रांति भी होने लगी कि श्री हरिवश-चरित्र की रचना भी भगवतमुदित जी ने ही की है। उत्तमदास जी की रचना के स्वरूप और उसके 'अनन्यमाल' नाम से इस प्रकार की भ्राति होना स्वाभाविक था। उसका यह परिणाम हुआ

(१) लेखक कृत 'चैतन्य मत और ब्रज साहित्य', पृष्ठ २०७–२०८

(२) रसिक अनन्यमाल की प्रस्तावना, पृष्ठ २२

कि हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रथो मे उत्तमदास जी का नाम नहीं मिलता है, और उनकी उस महत्त्वपूर्ण रचना का श्रेय भगवतमुदित जी को दिया गया है। कुछ शोधक विद्वानों द्वारा अब कहीं उस भ्रम का निवारण हो सका है, किंतु उसके अनुसार इतिहास का सशोधन नही हुआ है।

उत्तमदास जी ने श्री हित हरिवश जी के जीवन-वृत्त की उन घटनाओं का कथन किया है, जो तत्कालीन भक्त जनो मे परपरा से प्रचलित थी। इसका उल्लेख उन्होने 'अनन्यमाल' के आरभ मे ही कर दिया है। इस प्रकार इसे हित हरिवश जी के जीवन-वृत्त का सर्व प्रथम प्रामाणिक सकलन माना जा सकता है। इसमे हित जी के जन्म, देवबन-निवास, सेवा-स्थापन और वृदावन-वास का उल्लेख हुआ है। यद्यपि यह वर्णन सक्षिप्त ही है, तथापि इसका बड़ा महत्त्व है। गोस्वामी ललिताचरण जी के अनुमान के अनुसार 'अनन्यमाल' की रचना स. १७४०-४५ के लगभग हुई थी[1]।

कमलनयन जी के परवर्ती 'विंदु' और 'नाद' परिवारों के कुछ महानुभाव—

श्री व्रजलाल जी—ये श्री कमलनयन जी के पश्चात् राम वश की गद्दी के आचार्य हुए थे। उनका जन्म स. १७१५ के लगभग हुआ और वे स. १७५८ के लगभग आचार्य-गद्दी पर विराजे थे। वे बडे भक्त और विद्वान धर्माचार्य थे। प्रेमोपासना और मानसी सेवा मे वे सदैव लीन रहा करते थे। उन्होने सस्कृत और व्रजभाषा दोनो मे ग्रथ-रचना की है। उनके सस्कृत ग्रथ मन प्रबोध, सेवा विचार, हृदराम काव्य, प्रबोध चद्रोदय नाटक और प्रेमचद्रोदय नाटक बतलाये जाते है। उनकी व्रजभाषा रचनाएँ अष्टयाम और वर्षोत्सव पदावली है। उनके दो पुत्र और अनेक शिष्य थे। पुत्रो के नाम सर्वश्री अनूपलाल जी और सुदरलाल जी थे।

श्री सुखलाल जी—वे श्री विलासदास जी के पौत्र तथा श्री श्यामलाल जी के ज्येष्ठ पुत्र थे और अपने पिता के पश्चात् विलास वश की गद्दी के आचार्य हुए थे। वे श्री व्रजलाल जी के समकालीन और उन्ही के समान प्रसिद्ध धर्माचार्य थे। उन्होने सस्कृत और व्रजभाषा दोनो का अच्छा अध्ययन किया था और दोनो मे रचना की थी। 'हरिवशाष्टक' की उन्होने सस्कृत मे और 'हित चौरासी' की व्रजभाषा मे टीका की थी। उनके अतिरिक्त उनकी भावामृत, रास पचाध्यायी और पदावली आदि रचनाएँ भी हैं। उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री नवनीतलाल जी थे, जो उनके पश्चात् उनकी गद्दी के आचार्य हुए थे। उनके अनेक शिष्य थे।

श्री उदयलाल जी—वे सर्वश्री व्रजलाल जी और सुखलाल जी के कुटुबी और उनके समकालीन गोस्वामी थे। उनका जन्म श्री हित हरिवश जी के कनिष्ट पुत्र श्री व्रजभूषण जी के वश मे हुआ था। उनका जन्म-काल स. १७०० के लगभग है। वे भी उस काल के एक विद्वान धर्माचार्य थे।

श्री हरिलाल जी—वे गो श्री कुजलाल जी के छोटे पुत्र और आचार्य व्रजलाल जी के चचेरे भाई थे। उनके ज्येष्ठ भ्राता राधालाल जी थे। श्री हरिलाल जी का उपस्थिति-काल अनुमानत स. १७१७ से स १७८० तक है। वे परम भक्त, सुदर वाणीकार और बडे योग्य धर्माचार्य थे। यद्यपि उनका सबध रामवश और विलासवश के अधिकार प्राप्त एव गद्दीस्थ ज्येष्ठ घरो से नही था, तथापि उनकी प्रसिद्धि उक्त घरानो के अधिकारी आचार्यों से किसी प्रकार कम नही थी। उनके पुत्र सुप्रसिद्ध गो रूपलाल जी थे। उनके समय से तो उनका घराना ही राधा-वल्लभीय गोस्वामियो के सभी घरो मे प्रमुख हो गया था।

---

(१) श्री हित हरिवश गोस्वामी संप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ २४

शिष्य समुदाय—पूर्वोक्त आचार्यों और गोस्वामियो के बहुसख्यक शिष्य थे, जिनमे से अनेक बडे प्रसिद्ध हुए है। आचार्य व्रजलाल जी के शिष्यो मे भोरी अली जी, नवल सखी जी और चतुर सखी जी के नाम उल्लेखनीय है। आचार्य सुखलाल जी के शिष्यो मे रसिक गोपाल जी और साहिबलाल जी की प्रसिद्धि है। श्री हरिलाल जी के शिष्यो मे स्वामी बालकृष्ण जी, बालकृष्ण-तुलाराम जी, दया सखी जी, जगन्नाथ जी बरसानिया और प्रशिष्यो मे चदसखी जी बडे प्रसिद्ध हुए है। राधावल्लभीय साहित्य मे उन सब का उल्लेख मिलता है। उन प्रसिद्ध भक्तो के अतिरिक्त 'हित कुल शाखा' के रचयिता जयकृष्ण जी भी उसी काल मे हुए थे। यहाँ पर उन सब का सक्षिप्त परिचय लिखा जाता है।

भोरी अलि जी—उनका मूल नाम भगवतीप्रसाद था। वे अमृतसर के निवासी थे और आरभ से ही अच्छे वादक एव ख्याल के गायक रहे थे। वे अपने मामा से मिलने व्रज मे आये थे, और यहाँ पर श्री व्रजलाल जी के शिष्य हो गये थे। उन्होने इनका नाम भोरी सखी रखा था। वे वृ दावन और बरसाना मे रहने के उपरात श्री हित जी के जन्म-स्थान वाद गाँव मे रहने लगे थे। वहाँ पर ही उनका देहावसान हुआ था। उनके रचे हुए पद 'भोरी अलि' के नाम से उपलब्ध हैं।

नवल सखी जी—वे व्रज के करहला गाँव के निवासी एक सनाढ्य ब्राह्मण थे। उनका मूल नाम नवलकिशोर था। श्री व्रजलाल जी से मत्र-दीक्षा लेकर वे नवल सखी कहलाने लगे थे। उन्हे रास से बडा प्रेम था, और वे स्वय भी श्री जी के मदिर मे नृत्य किया करते थे। उनका निवास सेवाकुज के समीप था। अतिम दिनो मे वे बरसाना चले गये थे। वहाँ उनका निवास श्री नागरीदास जी की मोरकुटी और गहवर वन की लता-कुजो मे रहा था। उनके रचे हुए कुछ पद मिलते है।

चतुर सखी जी—वे हरियाना मे जगाधरी के निकट धर्मपुरा के एक सारस्वत ब्राह्मण थे। उनका पूर्व नाम चतुरलाल था। एक बार जगन्नाथ जी जाते हुए वे वृ दावन मे ठहरे हुए थे। वहाँ रात्रि मे उन्हे रासलीला देखने का सुयोग प्राप्त हुआ था। वे उसके रस मे ऐसे विभोर हुए कि तीर्थ-यात्रा का विचार छोड कर व्रज-वास करने लगे। उन्होने श्री व्रजलाल जी से मत्र-दीक्षा ली थी। उन्होने चतुर सखी के नाम से अनेक पदो की रचना की है। उनकी कुज होडल मे है, जो 'चतुर सखी की कुज' कहलाती है[1]।

रसिकगोपाल जी—वे व्रज के किसी गाँव मे रहने वाले एक क्षत्रिय थे। पूर्व सस्कार वश उनके हृदय मे भक्ति-भावना का उदय हुआ और वे वृ दावन आ कर आचार्य सुखलाल जी के शिष्य हो गये थे। उनके उपरात वे वृ दावन, नदगाँव, बरसाना आदि लीला-स्थलो मे प्रेमोन्मत्त होकर घूमा करते थे और व्रजवासियो के घरो से माँगी हुई मधूकरी से अपना जीवन-यापन करते थे। उन्होने पद-रचना भी की है।

साहिबलाल जी—वे दिल्ली निवासी अग्रवाल वैश्य थे और आरभ से ही बडे धार्मिक एव भगवद्भक्त रहे थे। वहाँ के मुसलमान उनकी भक्ति-भावना मे प्राय विघ्न उपस्थित कर देते थे। उसके कारण वे दिल्ली छोड कर वृ दावन आ गये और गो. सुखलाल जी के शिष्य हो गये। उन्होने अपना शेष जीवन भक्ति-भावना पूर्वक व्रज मे ही बिताया था। वे बडे चमत्कारी महात्मा थे[2]।

---

(१) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ ४२५, ४२६, ४२८
(२) वही ,, , पृष्ठ ४६२-४६४

स्वामी वालकृष्ण जी—उत्तरी भारत के विख्यात लोक-कवि चदसखी जी की रचनाओं मे उल्लिखित 'चदसखी भज बालकृष्ण छवि' के कारण 'बालकृष्ण' नाम की जितनी प्रसिद्धि हुई है, उनके परिचय के सबध मे उतनी ही भ्राति भी है। साधारणतया मीराबाई जी के इष्ट देव 'गिरिधर गोपाल' की भाँति 'बालकृष्ण' को भी चदसखी जी का आराध्य ठाकुर माना जाता है। लोक मे व्याप्त इस भ्रम का अशत निवारण 'राधावल्लभ भक्तमाल' मे किया गया है। उसमे लिखा है,—चदसखी जी के पदो मे उनकी नाम-छाप के साथ जिन 'बालकृष्ण' का उल्लेख हुआ है, वे हित कुल के 'गोस्वामी बालकृष्ण लाल जी' थे। उन्होने गृहस्थाश्रम का अधिक पालन नहीं किया और गृह का परित्याग कर वे रासमडल स्थित राधावल्लभीय निर्मोही अखाडा पर निवास करने लगे थे। वे स्वय नागा हुए थे और उन्होने नागाओ की जमात के साथ देशाटन करते हुए हित-धर्म का बडा प्रचार किया था। चदसखी जी उनके ही शिष्य थे[1]।

हमने चदसखी जी के सबध मे व्यापक अनुसधान कर 'राधावल्लभ भक्तमाल' के उक्त कथन का सशोधन किया और बालकृष्ण जी एव चदसखी जी के यथार्थ जीवन-वृत्त पर सर्व प्रथम प्रकाश डाला था। हमने सिद्ध किया कि वालकृष्ण जी हित-कुलोत्पन्न 'गोस्वामी बालकृष्ण लाल जी' नहीं थे, वल्कि नाद कुल के एक विरक्त महात्मा 'स्वामी वालकृष्ण जी' थे[2]। चाचा वृदावनदास जी ने उनका परिचय देते हुए वतलाया है, वालकृष्ण स्वामी एक रसिक भक्त और विरक्त साधु थे। उन्होने गो हरिलाल जी से मत्र-दीक्षा ली थी। वे रासमडल पर निवास करते थे, और उन्होने रासमडली के साथ देशाटन करते हुए राधावल्लभ सप्रदाय का बडा प्रचार किया था[3]। वे आचार्य व्रजलाल जी, आचार्य सुखलाल जी और गो उदयलाल जी के समकालीन थे।

वालकृष्ण—तुलाराम जी—'राधावल्लभ भक्तमाल' मे जहाँ स्वामी बालकृष्ण जी का भ्रमात्मक कथन हुआ है, वहाँ वालकृष्ण—तुलाराम जी का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। उसमे एक तुलाराम पडित का सक्षिप्त परिचय मिलता है। उनके अनुसार वे तुलाराम जी गौड ब्राह्मण थे, और उन्होने आचार्य सुखलाल जी से मत्र-दीक्षा ली थी[4]। चाचा वृदावनदास जी ने वालकृष्ण—तुलाराम जी को शमशेर नगर के निवासी और गो हरिलाल जी के शिष्य बतलाया है। उन्होने कहा है, वे जीवन पर्यंत युगल-केलि का सुखानुभव करने वाले भजनानदी महात्मा थे। वे रास के बडे प्रेमी एव प्रचारक थे और उन्होने श्री हरिवश जी के यश का गायन किया है[5]।

चाचा जी के पूर्वोक्त कथन से यह स्पष्ट नही होता है कि वालकृष्ण—तुलाराम जी एक ही महात्मा थे, अथवा दो। उन्होने वसत सबधी 'प्रबध' मे स्वामी तुलाराम का पृथक् कथन किया है[6]। उससे ऐसा अनुमान होता है, कदाचित वालकृष्ण जी और तुलाराम जी दो महात्मा थे। श्री किशोरी शरण 'अलि' ने उन दोनो के सगे भाई होने की सभावना व्यक्त की है। उनका अनुमान है, उनमे से

---

(१) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ १६०—१६१

(२) देखिये हमारे ग्रथ, १ चदसखी के भजन और लोक गीत, २ चदसखी की जीवनी और पदावली तथा ३. चदसखी का जीवन और साहित्य।

(३) बसत सबधी 'चतुर्थ प्रबध', पद सं. ५१ और 'रसिक अनन्य परिचावली' छप्पय स १८१

(४) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ ४६८

(५) रसिक अनन्य परिचावली, छप्पय स १९८

(६) चतुर्थ प्रबध, स ५२४

एक 'बालकृष्ण' पूर्वोक्त स्वामी बालकृष्ण जी थे और 'तुलाराम' बावरी सखी उपनाम के भक्त जन थे[1]। यह सभव है, वे एक के बजाय दो महात्मा हो और कदाचित सगे भाई भी हो, किंतु उनमे से बालकृष्ण को पूर्वोक्त स्वामी बालकृष्ण से और तुलाराम को बावरी सखी से मिलाना ठीक नही मालूम होता है। कारण यह है, यदि बालकृष्ण और स्वामी बालकृष्ण एक ही होते, तो चाचा वृ दावनदास जी उनका दो छदो मे पृथक्–पृथक् कथन न करते। बावरी सखी जी का नाम आचार्य कमलनयन जी के शिष्यो मे मिलता है, जब कि यह तुलाराम हरिलाल जी के शिष्य बतलाये गये हैं।

दयासखी जी—'राधावल्लभ भक्तमाल' के अनुसार वे पटियाला के निकटवर्ती किसी गाँव के निवासी एक जाट थे। उनका नाम दयाराम था। भगवत्–कृपा से उन्हे एक बार वृ दावन आने का सुयोग मिला था। यहाँ आने पर वे श्री हरिलाल जी का उपदेश सुन कर उनके शिष्य हो गये थे। उसके उपरात वे वृ दाबन मे ही रहने लगे और उन्होने अपना शेष जीवन भगवद्भक्ति एव गुरु-सेवा मे लगा दिया था। वे सखी भाव और मानसी सेवा मे अहर्निश मग्न रहते थे। श्री हरिलाल जी के सत्सग से वे पद–रचना भी करने लगे थे। उनकी पदावली उपलब्ध है, जिसमे उनकी नाम–छाप 'दयासखी' मिलती है।

जगन्नाथ बरसानिया—वे ब्रज के लीला–स्थल बरसाना के निवासी लावणिया बोहरे थे। गो. हरिलाल जी बरसाना मे चातुर्मास्य किया करते थे। वही पर जगन्नाथ जी ने उनसे मत्र-दीक्षा ली थी। वे बडे भजनानदी भक्त थे। उन्होने बरसाना मे राधावल्लभीय मदिर भी बनवाया था[2]।

चंदसखी जी—उनके सबध मे बडा अज्ञान और भ्रम रहा है। उनका निश्चित जीवन–वृत्त प्राय अज्ञात था और उनके व्यक्तित्व के सबध मे यह सामान्य धारणा थी कि वे मीराबाई की भाँति कोई भक्त–कवयित्री थी। हमने तत्सबधी अनुसधान कर जो प्रचुर सामग्री उपलब्ध की, उसकी समीक्षा करने के अनतर उनके जीवन–वृत्तात की रूप-रेखा भी प्रस्तुत की थी। यद्यपि उसे अभी पूरी तरह प्रामाणिक नही कहा जा सकता, तथापि उससे चदसखी जी के जीवन का कुछ स्पष्ट सा चित्र बन गया है। उससे ज्ञात होता है कि चदसखी कोई महिला कवयित्री न होकर पुरुष कवि थे। वे भक्ति–मार्ग को ग्रहण करने के उपरात सखी–भाव की उपासना करने लगे थे, जिसके कारण उनकी प्रसिद्धि सखी वाची उपनाम से हो गई थी[3]।

वे सुप्रसिद्ध भक्त–कवि श्री हरिराम जी व्यास के वशज श्री गोपीकात के तीसरे पुत्र थे। उनका नाम चद्र था और उनके सबसे बडे भाई का नाम विजय था। बाद मे वे चदसखी के नाम से और उनके भाई विजयसखी के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। वे सनाढ्य ब्राह्मण थे और उनका जन्म स १७०० के लगभग ओरछा मे हुआ था। अपने आरभिक जीवन मे वे ओरछा के निकटवर्ती मोठ थाना के थानेदार थे। पूर्व सस्कार और घर की परपरा के कारण आरभ से ही उनके हृदय मे भक्ति–भावना का अकुर विद्यमान था, जो समय आने पर पल्लवित और पुष्पित होने लगा। फलत. वे अपने जन्म–स्थान, कुटुभ–परिवार और राजकीय पद को छोड कर विरक्त भाव मे वृ दावन चले गये। वहाँ पर राधावल्लभ सप्रदाय के विरक्त महात्मा बालकृष्ण स्वामी से दीक्षा लेकर वृ दावन-वास

(१) रासलीलानुकरण का उदय और उसकी परंपरा (ब्रजभारती, मार्गशीर्ष स. २०१६)

(२) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ ४४१ और ४२१

(३) देखिये, हमारे चंदसखी संबंधी विविध लेख और ग्रंथ

करने लगे। वे भक्ति सबधी पदो की रचना मे प्रवृत्त हुए, और उनमे उन्होने अपने नाम की छाप के साथ अपने गुरु बालकृष्ण का नाम भी दिया। राधावल्लभीय गोस्वामियो मे उनकी श्रद्धा उदयलाल जी और अपने परम गुरु श्री हरिलाल के प्रति अधिक थी, अतः कतिपय पदो मे उन्होने उन दोनो का नाम भी दिया है। उन दिनो राधावल्लभ सप्रदाय के प्रचारार्थ अनेक उत्साही भक्त जन देशाटन किया करते थे। बालकृष्ण स्वामी स्वय रास मडली के साथ भ्रमण करते हुए प्रचार करते थे। उन्होने चदसखी को भी धर्म-प्रचार करने का आदेश दिया था। निदान वे राधावल्लभ सप्रदाय की भक्त-मडली के साथ देशाटन करने को चल दिये। उन्होने राजस्थान, बुदेलखड, मालवा आदि के अनेक राज्यो मे भ्रमण कर भक्ति-भावना का व्यापक प्रचार किया था। उन यात्राओ मे उन्होने रास का प्रचार किया और उसमे गायन करने के लिए भक्तिपूर्ण पदो के अतिरिक्त अनेक भजनो एव लोक-गीतो की भी रचना की। उनके साथ की भक्त-मडली उन भजनो और लोक-गीतो के गायन द्वारा जनता मे भक्ति का सचार करती थी। उनके रचे हुए भजन और गीत इतने लोकप्रिय हुए कि वे जन-साधारण मे बडी रुचि पूर्वक गाये जाने लगे। उनकी भक्ति-भावना और सरस रचनाओ की ओर जन साधारण के साथ ही साथ अनेक राजा गण भी आकर्षित हुए थे। उन्होने वृदावन के केशीघाट पर एक विशाल कुज बनवाई थी, जो उनके नाम से 'चदसखी की कुज' कहलाती है। उनका एक मदिर ओरछा मे भी है।

जिस समय आमेर-नरेश जयसिंह के कारण राधावल्लभीय भक्त जनो को वृदावन छोडने के लिए विवश होना पडा था, उस समय चदसखी जी भी अपनी अत्यत वृद्धावस्था मे वृदावन से ओरछा चले गये थे। वहाँ का तत्कालीन राजा उदोतसिंह उनका परम भक्त था। उसने आग्रह पूर्वक उन्हे अपने यहाँ रखा था और उनके आदर-सत्कार तथा सेवा-सुश्रुषा की समुचित व्यवस्था की थी। ऐसा अनुमान होता है, चदसखी जी स. १७८२ के लगभग ओरछा जा कर रहे थे। उन्होने वहाँ ७-८ वर्ष तक निवास किया था। अत मे स १७९० के लगभग अपनी ९० वर्ष की आयु मे, आषाढ शु ११ को उनका देहावसान सभवत उसी स्थान मे हुआ था।

चदसखी जी के अनेक शिष्य थे। उनमे रसिकदास उपनाम रसिकसखी प्रमुख थे, जो बाद मे उनके उत्तराधिकारी हुए थे। उनके शिष्यो के भी अनेक शिष्य थे। उनमे रसिकसखी के शिष्य वल्लभसखी का नाम उल्लेखनीय है। उन शिष्य-प्रशिष्यो के कारण चदसखी का पूरा थोक ही बन गया था, जो राधावल्लभीय विरक्त भक्तो मे अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। चदसखी के शिष्य-प्रशिष्यो ने भक्ति सबधी अनेक पदो की भी रचना है, जिनसे राधावल्लभीय साहित्य की समृद्धि मे समुचित योग मिला है। जब वैष्णव-अवैष्णव सघर्ष के फलस्वरूप वैष्णवो के अनी-अखाडो का निर्माण हुआ, तब राधावल्लभीय निर्मोही अखाडे मे चदसखी के थोक का महत्वपूर्ण स्थान निश्चित किया गया था। इस अखाडे की एक बैठक वृदावन मे और दूसरी जयपुर राज्यातर्गत 'नीम के थाना' मे है। चदसखी के थोक के नागाओ ने वैष्णव धर्म की रक्षा करने मे प्रशसनीय कार्य किया है[1]।

जयकृष्ण जी—उनके नाम की प्रसिद्धि उनकी रचना 'हित कुल शाखा' के कारण है। यद्यपि यह बडा ग्रथ नही है; तथापि इसमे श्री हरिवश जी के चरित्र और उनके कुल का क्रमबद्ध कथन होने से इसका साप्रदायिक एव ऐतिहासिक महत्त्व बहुत बडा है। इसमे हित जी के पुत्रो की निश्चित जन्म-तिथियाँ, हित जी के वृदावन-वास की निश्चित अवधि और उनके देहावसान का

(१) लेखक कृत 'चंदसखी का जीवन और साहित्य', पृष्ठ ३३-३६

निश्चित काल आदि बातें सर्व प्रथम स्पष्ट रूप से लिखी गई हैं। इस ग्रथ की पूर्ति स. १७६० की कार्तिक शु १३ को मथुरा मे हुई थी। इसके अतिरिक्त उनकी अन्य रचनाएँ समय प्रवध, वृंदावन वर्णन और पदावली भी हैं। इनसे ज्ञात होता है, इनके रचयिता जयकृष्ण जी सर्वश्री गो. व्रजलालजी, सुखलाल जी और हरिलाल जी आदि के समकालीन थे।

श्री रूपलाल जी (स. १७३८ – स. १८०१)—

जीवन-वृत्तांत—श्री रूपलाल जी गो हरिलाल जी के छोटे पुत्र थे। उनका जन्म स. १७३८ की वैशाख कृ ७ को वृदावन मे हुआ था। राधावल्लभीय सर्वाधिक प्रसिद्ध गोस्वामियो मे वे अन्यतम थे। उनके सुविख्यात शिष्य चाचा वृदावनदास ने उनका विस्तृत जीवन-वृत्तात अपनी रचना 'हित रूप चरित्र वेली' मे लिखा है। उससे ज्ञात होता है कि वे जन्मजात कवि, रसिक भक्त, प्रगाढ विद्वान और राधावल्लभ सप्रदाय की मान्यताओ पर अविचल रहने वाले दृढ निश्चयी धर्माचार्य थे। अपनी सुदृढ मान्यताओ के परिपालन और राधावल्लभ सप्रदाय के गौरव की रक्षा के लिए उन्हे अपने काल के सर्वाधिक शक्तिशाली राज्याधिकारी सवाई राजा जयसिंह से वडा सघर्ष करना पडा था। उसके कारण उन्हे वृदावन से निष्कासित होकर प्राय २० वर्ष तक विभिन्न स्थानो मे भटकना पडा था, किंतु वे अपनी टेक से लेश मात्र भी नही डिगे थे। उनका देहावसान स १८०१ मे हुआ था। उनके अनेक शिष्य थे और उन्होने वहुसख्यक ग्रथो की रचना की थी।

ग्रथ-रचना—'श्री हित राधावल्लभीय साहित्य रत्नावली' मे श्री रूपलाल जी की ८३ रचनाओ का नामोल्लेख हुआ है। उनमे सर्वस्व सिद्धात भाषा सार, आचार्य गुरु सिद्धात, सिद्धात के पद, समय प्रवध, विजय चौरासी नामक दो पद-सग्रह, श्री हित प्राकट्य, वर्षोत्सव, रस रत्नाकर, साखी, सर्व तत्व सिद्धात, श्री राधावल्लभीय सप्रदाय निर्णय, प्रेम वैचित्री लीला, वन लीला, निकुज केलि लीला और पचाध्यायी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उक्त रचनाओ से ज्ञात होता है कि श्री रूपलाल जी के काल मे राधावल्लभ सप्रदाय मे मान्य निकुज-लीला की अनन्य निष्ठा के साथ ही साथ व्रजलीला की भावना भी प्रचलित हो गई थी। इसका एक अच्छा उदाहरण उनकी 'साखी' नामक रचना है। उनके सुयोग्य शिष्य चाचा वृदावनदास की रचनाओ मे उक्त भावना का अधिक विकास दिखलाई देता है। रूपलाल जी की भाषा सरल और शब्दावली सुदर है। उनकी रचनाओ द्वारा 'रस' और 'सिद्धात' दोनो का समुचित सवर्धन हुआ है।

कुटुंभ-परिवार—श्री रूपलाल जी के वडे भाई श्री मुकुदलाल जी थे। वे रूपलाल जी के वाद तक जीवित रहे थे और उनका निधन उस कत्ले-आम मे हुआ था, जो अहमदशाह अब्दाली के वृदावन-आक्रमण काल मे उसके क्रूर सैनिको द्वारा किया गया था। उनमे वृदावन के अनेक सुप्रसिद्ध भक्त जन मारे गये थे। रूपलाल जी के पुत्र किशोरीलाल जी थे। वे अपने पिता की भाँति ही यशस्वी हुए थे। उनके कुटुंभियो मे रामवश के ज्येष्ठ घराने मे अनूपलाल जी और सुदरलाल जी तथा विलासवश मे नवनीतलाल जी थे। श्री व्रजभूषण जी के सुयोग्य वशज गो उदयलाल जी के चचेरे भाई जतनलाल जी और गुलाबलाल जी थे। जतनलाल जी की प्रसिद्ध रचना 'रसिक अनन्य सार' है, जो जयकृष्ण जी कृत 'हित कुल साखा' के वाद की चरित्रात्मक कृति है। वे सब गोस्वामी गण श्री रूपलाल जी के समकालीन थे। उनमे गुलाबलाल जी ने सवाई राजा जयसिंह से सघर्ष करने मे श्री रूपलाल जी को सहयोग दिया था, और अपनी विद्वत्ता तथा साम्प्रदायिक निष्ठा के लिए उस काल मे अच्छी ख्याति प्राप्त की थी। यहाँ पर उनकी देन का कुछ उल्लेख किया जाता है।

श्री गुलाबलाल जी—वे श्री हित हरिवंश जी के पौत्र श्री व्रजभूषण जी की चौथी पीढ़ी मे हुए थे। श्री गिरिधर लाल जी के वे पुत्र थे, और रूपलाल जी के छोटे भाई थे। राधावल्लभ सप्रदाय के तत्कालीन गोस्वामियो मे साप्रदायिक निष्ठा और साहित्य-रचना की दृष्टि से श्री रूपलाल के पश्चात् उनका स्थान है। महाराज जयसिंह से सघर्ष करने के कारण उन्हे भी वृदावन छोड़ कर इटावा आदि स्थानो मे भटकना पडा था। उनके दो पुत्र थे,—भक्तिलाल जी और नित्यलाल जी। उनके महत्त्व का कारण उनकी रचनाएँ भी हैं।

ग्रंथ-रचना—'श्री हित राधावल्लभीय साहित्य रत्नावली' मे श्री गुलाबलाल जी की ३७ रचनाओ का नामोल्लेख हुआ है। उनमे से अनन्य सभा मडल, गुरु प्रताप, यमुना प्रताप, वृंदावन पताप, गुरु प्रणाली लाडिली वर्णन, श्याम वर्णन, जुगल वर्णन, दर्शोत्सव, चौबीस पत्री, पत्री सेवकन कूं, सनेह सिद्धात, सिद्धात सुख, पचाध्यायी, हिंडोला, इतिहास सारद को, इतिहास वेदन को विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये रचनाएँ जहाँ 'रस' और 'सिद्धात' से सबधित है, वहाँ पत्र-साहित्य और इतिहास विषयक भी है। इनमे 'चौबीस पत्री' और 'पत्री सेवकन कूं' नामक रचनाएँ राधा-वल्लभीय पत्र-साहित्य की उल्लेखनीय कृतियाँ है। गुरु प्रणाली, इतिहास सारद को और इतिहास वेदन को नामक रचनाएँ इतिहासपरक है।

सवाई राजा जयसिह से संघर्ष—श्री रूपलाल जी के समय की सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना उनका आमेर के सवाई राजा जयसिंह से सघर्ष करना है। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, स. १७७७ से प्राय स १८०० तक वृदावन सहित समस्त ब्रज प्रदेश, राजा जयसिंह के प्रशासन और प्रभाव-क्षेत्र मे रहा था। उक्त राजा स्मार्त हिंदू धर्म का सुदृढ समर्थक, वेद-शास्त्र के विधि-विधानो का परम पोषक और प्राचीन परपराओ का प्रबल पक्षपाती था। वह वैष्णव धर्म के परपरागत चतु सप्रदायो के अतिरिक्त उस काल के नये भक्ति-सप्रदायो के स्वतत्र अस्तित्व को, और विशेषतया प्राचीन मान्यताओ के प्रति उनकी क्रातिकारी भावना को, हिंदू-हित के लिए हानि-कर समझता था। राधावल्लभ सप्रदाय मे वैष्णव धर्म के चतु सप्रदायो की मर्यादाओ का कोई बधन नही है, और सध्या, तर्पण, तीर्थ, व्रत, श्राद्धादि के साथ ही साथ शास्त्रोक्त विधि-निषेधो की भी इनमे अवज्ञा की गई है। राजा जयसिंह के लिए ये सब बातें सहन करना सभव नही था। फलत उसने राधावल्लभियो को आदेश दिया कि वे या तो चतु सप्रदायो मे से किसी एक के साथ बधने को सन्नद्ध करें, या परपरा-विरोधी अपनी मान्यताओ की प्रामाणिकता सिद्ध करे। इसके निमित्त स १७८० मे आयोजित एक धर्म-समेलन मे उपस्थित होने के लिए उन्हे अपने प्रतिनिधि भेजने को भी कहा गया।

उस काल मे गो. रूपलाल जी राधावल्लभ सपदाय मे सर्वाधिक वरिष्ट विद्वान और सर्वमान्य प्रवक्ता माने जाते थे, अत उनसे ही उस सबध मे आवश्यक कार्यवाही करने को कहा गया था। उन्होने निर्भय होकर राजा से कहला भेजा कि वे अपनी साप्रदायिक मान्यताओ मे से किसी को किसी भी दशा मे छोडने को तैयार नही हैं। वे न तो चतु. सप्रदायो मे से किसी के साथ सबद्ध होना चाहते हैं, और न अपनी मान्यताओ की प्रामाणिकता सिद्ध करने को धर्म-समेलन मे उपस्थित होना ही आवश्यक समझते हैं। रूपलाल जी के उक्त उत्तर से राजा का रुष्ट होना स्वाभाविक था। उसने उनके और उनके जैसे विचार रखने वाले अन्य राधावल्लभियो के विरुद्ध कठोर अनुशासनात्मक कार्यवाही करने के लिए अपने कर्मचारियो को भेज दिया। उस सकट से बचने के लिए कुछ भक्त जनो ने राजा से समझौता कर लिया था, किंतु गो रूपलाल जी और 'बिंदु' तथा 'नाद' परिवारो के

कुछ विशिष्ट महानुभाव अपनी टेक पर अडिग बने रहे। फलत वे अपने कुटुभ और परिकर के साथ वृ दाबन छोडने को बाध्य हुए थे। श्री रूपलाल जी के अतिरिक्त जिन अन्य महानुभावो ने उस काल मे वृ दाबन से निष्कासन किया था, उनमे 'विंदु' परिवार के गोस्वामी गुलाबलाल जी और 'नाद' परिवार के श्री चदसखी जी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। श्री गुलाबलाल जी तब इटावा चले गये थे, और चदसखी जी ओरछा के राजा उदोतसिह के सरक्षण मे रहे थे।

श्री रूपलाल जी को अपने निष्कासन-काल मे जो कठिनाइयाँ सहन करनी पडी थी, उनका कुछ उल्लेख चाचा वृ दाबनदास कृत 'हित रूप चरित्र बेली' (रचना-काल स १८२०) मे किया गया है। उसमे लिखा है, स १७८० के लगते ही राजा जयसिह ने जो सकट उपस्थित किया, उसके कारण श्री रूपलाल जी अपने कुटुभ सहित वृ दाबन छोडने को विवश हुए थे। वे गुप्त रूप से कई स्थानो मे घूमते हुए इद्रप्रस्थ (दिल्ली) पहुँचे, और वहाँ अपने कुटुभ के साथ रहने लगे। किंतु राजा ने अपनी हठ के कारण वहाँ भी उन्हे चैन से नही बैठने दिया। उसके दूत बराबर उनका पीछा करते रहे। उन्होने साम-दाम-भेद द्वारा उन्हे राजा के मतानुकूल बनाने की बडी चेष्टा की थी, किंतु उन्हे सफलता नही मिली। तब राजा ने उन्हे दड देने के लिए अपने सैनिक भेजे, किंतु प्रभु की कृपा से उनका बाल भी बाका नही हुआ[१]।

स. १७९४ मे उनकी वृद्धा माता कृष्णकुँवरि जी इद्रप्रस्थ मे बडी बीमार हो गई थी। जब उनकी दशा बहुत बिगड गई, तब कुटुभ-परिवार के सभी व्यक्ति उनके निकट बैठ गये थे। उस समय रूपलाल जी के ज्येष्ठ भ्राता श्री मुकुदलाल जी ने उनसे क्षुब्ध होकर कहा,—'तुमने राजा से बिगाड कर सबका वृ दावन-निवास भी छुडवा दिया। अब माता जी को अत समय मे भी वृ दाबन प्राप्त नही होगा!' उस पर रूपलाल जी बडे दुखी हुए और उन्होने माता जी को उसी समय वृ दाबन ले जाने का निश्चय किया, चाहे उसके लिए उन्हे कितना ही सकट उठाना पडे! निदान सब लोग मरणासन्न माता जी को लेकर वृ दाबन की ओर चल पडे। मार्ग मे जब-जब उन्हे कुछ होश होता था, तब-तब वे पूछ लेती थी कि वृ दाबन अभी कितनी दूर है। वे वृ दाबन प्राप्त करने की अभिलाषा से ही अपने प्राणो को धारण किये रही थी। जैसे ही उन्हे वृ दावन की सीमा के आने की सूचना मिली, वैसे ही उन्होने अपने प्राण छोड दिये! उनकी दाह-क्रिया 'धीर समीर' के निकट यमुना तट पर हुई थी।

श्री रूपलाल जी के वृ दावन-आगमन का समाचार बडी तीव्र गति से सर्वत्र फैल गया था। उससे उन्हे राजकीय सकट का आभास हुआ। उसके कारण वे पुन वृ दावन से चले गये और विभिन्न स्थानो मे निवास करते रहे थे। स. १७९६ मे दिल्ली पर नादिरशाह का भीषण आक्रमण हुआ था। उस समय श्री रूपलाल जी कदाचित वही पर थे। चाचा वृ दावनदास ने लिखा है, उस आक्रमण के कारण दिल्ली मे भारी भगदड मच गई थी, और समस्त प्रदेश भय से कपायमान हो

---

(१) लैकै जू कुटुभ संग इंद्रप्रस्थ वास कियौ, तहाँ हूँ न चैन लैन देहि, नृप लगी जकी।
कबहू सिखावैं मैना, कबहू ढुकावै सैना, कबहू लगावै दूत द्वारा ह्वै तकातकी॥
कबहू दिखावै लोभ, कबहू बढावै छोभ, उपजावै आपुस में भेद जु धकाधकी।
'वृंदाबन' हित रूप प्रभु ही नें राख्यौ धर्म, छल-बल करि-करि वाकी बुद्धि ना थकी॥
—हित रूप चरित्र वेली, छद २९०

गया था[1] । उस काल मे रूपलाल जी बरसाना आ गये थे । वे ३-४ वर्ष तक फिर भटकते रहे थे। स १८०० मे राजा जयसिंह की मृत्यु हो गई थी । उनके उत्तराधिकारी राजा ईश्वरीसिंह ने रूपलाल जी से अपना विरोध ही समाप्त नही किया, वरन् उनका बड़ा आदर-सत्कार भी किया था। उस समय वे सन्मान पूर्वक वृंदावन वापिस आ गये थे । उन्होने राधावल्लभ सप्रदाय के गौरव की रक्षा के लिए जो बलिदान किया, उससे उनकी प्रतिष्ठा चौगुनी बढ़ गई थी । वे कुछ महीनो तक ही वृंदावन मे रह सके थे कि स. १८०१ मे उनका देहान्त हो गया । उनके उत्तर जीवन के प्राय २० वर्ष उस संघर्ष के कारण निष्कासन मे बीते थे । उस दीर्घ काल मे उन्हे बडे कष्ट सहन करने पडे थे, किंतु उनकी किसी रचना मे उनके लिए किसी प्रकार का आक्रोश अथवा दुर्भाव व्यक्त नही किया गया है । यह उनकी सहज क्षमा-वृत्ति और सहनशीलता का सूचक है ।

शिष्य-समुदाय—श्री रूपलाल जी के अनेक शिष्य थे, जिनमे चाचा वृंदावनदास जी प्रमुख थे । उनके अतिरिक्त केलिदास, सेवासखी और प्रेमदास के नामो की भी अच्छी प्रसिद्धि है । यहाँ पर उनका कुछ वृत्तात लिखा जाता है ।

चाचा वृंदावनदास जी—उनके जन्म का निश्चित सवत् अज्ञात है, किंतु उनकी रचनाओं के आधार पर उसका अनुमान किया जा सकता है, और उसके प्राय ठीक भी होने की संभावना है। उनकी जिन कृतियो मे रचना-काल का उल्लेख मिलता है, वे स १७९५ से स १८४४ तक की है। स १८३५-३६ मे रचित 'आर्त्तपत्रिका' आदि रचनाओ के अत साक्ष्य से उनकी वृद्धावस्था का सकेत मिलता है, जिनसे वे उस समय ७० वर्ष से कम की आयु के ज्ञात नही होते है । उसी आधार पर यह अनुमान होता है कि उनका जन्म स १७६५ के लगभग हुआ होगा ।

उनका निश्चित जन्म-स्थान कौन सा है, उसका भी उल्लेख नही मिलता है, किंतु 'आर्त्त-पत्रिका' के अत साक्ष्य से वह ब्रजमडल का कोई स्थान ज्ञात होता है । उन्होने ब्रज के वियोग मे व्यथित होकर कहा था,—''जन्म से सेई जु ब्रज-रज, अब हियो अकुलाइ' । इस प्रकार वे पूरे ब्रजवासी थे । वे ब्रजमडल के किसी स्थान मे जन्मे थे, उनका अधिकाश जीवन ब्रज के विविध स्थानो मे बीता था और ब्रज मे ही उनका देहावसान हुआ था । 'मिश्रबधु विनोद' और 'ब्रज माधुरी सार' मे उनका निवास-स्थान पुष्कर क्षेत्र लिखा गया है, किंतु वह उनका स्थायी निवास-स्थान नही था । जब ब्रज मे मुसलमानो का अधिक उपद्रव होने लगा था, तब वे कुछ समय के लिए राजा नागरीदास के अनुज बहादुरसिंह के पास चले गये थे । उनके आश्रय मे रहते हुए ही उन्होने कृष्णगढ और पुष्कर मे निवास किया था । वहाँ रहने पर वे सदैव ब्रज-वृंदावन को जाने के लिए उत्सुक रहा करते थे । जैसे ही परिस्थिति अनुकूल हुई, वे पुन ब्रज मे वापिस आ गये, और अतिम काल तक वहाँ ही रहे थे ।

वे किस जाति के थे, इसका भी स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नही है, किंतु उनकी रचनाओ से उनके ब्राह्मण होने का सकेत मिलता है । 'ब्रज-माधुरी-सार' मे उन्हे गौड ब्राह्मण बतलाया गया है, किंतु इसका कोई प्रमाण नही दिया गया । ऐसा जान पडता है, वे अपनी बाल्यावस्था से ही अपने माता-पिता के साथ वृंदावन मे निवास करते थे । उनकी शिक्षा वृंदावन मे हुई थी, और वही पर उन्होने श्री रूपलाल जी से राधावल्लभ सप्रदाय की दीक्षा ली थी ।

---

(१) सत्रहसै छ्यानवे (१७९६), यवन पच्छिम तें आयौ ।
दिल्ली भाजरि पडी, अधिक भय देश कँपायौ ।। (हित रूप चरित्र वेली)

वे आरभ से ही विरक्त थे अथवा बाद मे हो गये थे, इसका निश्चय नही होता है। उनकी प्रवृत्ति प्रारभ से ही भक्ति मार्ग की ओर थी। श्री हित हरिवश जी मे उनकी अपार श्रद्धा थी, वे अपने गुरु श्री रूपलाल जी का बडा आदर करते थे। उनकी रचनाओ मे उन दोनो की स्तुति के अनेक छद और पद मिलते है। वे इतने गुरु-भक्त थे कि उन्होने अपनी रचनाओ मे अपने नाम की छाप मे अपने गुरु का भी नाम दिया है। राधावल्लभ सप्रदाय के गोस्वामी बालक उन्हे आदर पूर्वक 'चाचा जी' कहा करते थे। उसके कारण और लोग भी उन्हे 'चाचा जी' कहने लगे थे। वे चाचा वृ दावनदास के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध है।

चाचा जी के जीवन का एक मात्र उद्देश्य श्रीराधा–कृष्ण की लीलाओ का भक्तिपूर्ण कथन करना था, जिसे उन्होने नाना प्रकार से विविध रूपो मे अपनी बहुसख्यक रचनाओ द्वारा किया है। उन्होने इतने विशाल साहित्य की रचना की है कि यदि वह उपलब्ध न होता, तो सहसा उस पर विश्वास भी नही किया जा सकता था। उनके रचे हुए छोटे-बडे ग्र थो की सख्या २०० के लगभग बतलाई जाती है। उनमे से अधिकाश वृ दावन के ग्र थ भडारो मे सुरक्षित है। इनमे 'अष्टक-पचीसी' जैसी छोटी रचनाओ के साथ ही साथ 'सागर' जैसे बडे ग्रथ भी है। हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रथो मे उनकी थोडी ही रचनाओ का उल्लेख मिलता है, और उनमे से भी बहुत थोडी अभी प्रकाशित हुई है।

ऐसी अनुश्रुति है कि वे लिख कर काव्य-रचना नही करते थे। साधारण बोलचाल की भाँति उनके मुख से काव्य-धारा का अजस्र स्रोत प्रवाहित होता रहता था। उनके साथी भक्त गण उनकी वाणी को निरतर लिखा करते थे। उनके लिपिको मे केलिदास नामक एक भक्त जन अधिक प्रसिद्ध है। वृ दावनदास जी की जितनी रचनाएँ इस समय प्राप्त है, उनमे से अधिकाश केलिदास की लिखी हुई ही है। धारावाहिक रूप मे निरतर काव्य-निर्माण करने के कारण उनकी कतिपय रचनाएँ साधारण कोटि की भी हुई है, किंतु अनेक रचनाओ मे प्रौढता प्रचुर परिमाण मे दिखलाई देती है। उनका काव्य भक्ति–भाव से ओत-प्रोत है, जिसके वर्णन मे उनकी सहज प्रतिभा निखर उठी है। उनकी अनेक रचनाओ मे श्रीराधा-कृष्ण के दिव्य दाम्पत्य रूप की मनोहर झाकी मिलती है, जिसे उन्होने श्री हरिवश जी की कृपा का प्रसाद बतलाया है,—

श्री हरिवश प्रसाद ते, उपज्यौ हिये विचार। अक्षर–रतन सु राग-गुन गुह्यौ अलौकिक हार ॥
श्री हरिवश–कृपा सुहृत, रच्यौ प्रबध अनूप। पद-पद प्रति, अक्षरनि प्रति, झलकति दपति-रूप ॥

उनकी रचनाओ मे सबसे बडे ग्र थ 'सागर' है, जिनकी सख्या ७ बतलाई जाती है। उनमे से दो 'लाड सागर' और 'ब्रज प्रेमानद सागर' वृंदावन मे उपलब्ध है। 'लाड सागर' मे श्रीराधा–कृष्ण की बाल-लीलाएँ, विशेष कर उनके विवाह का अत्यत विशद कथन हुआ है। जिस प्रकार सूरदास जी ने श्री कृष्ण के बाल-चरित्र का विस्तृत वर्णन किया है, उसी प्रकार वृ दावनदास जी के इस ग्रथ मे राधाजी की बाल-लीलाओ का विस्तारपूर्वक कथन किया गया है। राधाजी के बाल-विनोद का वर्णन कर उन्होने श्री कृष्ण के साथ उनकी सगाई, विवाह और गौना का ऐसा सागोपाग कथन किया है कि लोक मे प्रचलित तत्सबधी विधि-विधान और नेग-टेलो मे से कोई भी बात नही छूटने पाई है। इस विशद ग्रथ के कई प्रसग पृथक्-पृथक् रचनाओ के नाम से भी प्रसिद्ध है। 'सागर' के पश्चात् ५ 'पदावली', १४ 'अष्टयाम', २ 'झाँझ', १६ 'पच्चीसी-बत्तीसी', २४ और १८ छन्द', २० 'अष्टक, ६० 'वेलि, १० 'इतिहास' एव 'चरित्र' की रचनाएँ तथा बहुसख्यक अन्य ग्रथ है। इन पद्यात्मक ग्रथो के अतिरिक्त उनका एक गद्य ग्रथ 'स्वप्न विलास' भी है।

उन्होने जितने साहित्य का निर्माण किया है, उतना शायद ही किसी भाषा के किसी कवि ने रचा हो! ब्रजभाषा साहित्य के मुकुटमणि सूरदास जी के समस्त पदों की संख्या सवा-लाख बतलाई जाती है, यद्यपि उनमे से १० हजार पद भी अभी तक प्राप्त नही हुए हैं। किंतु चाचा वृ दावनदास जी का समस्त साहित्य चार लाख पद-परिमाण का कहा जाता है, जिसका बहुत बड़ा भाग तो वृ दावन मे उपलब्ध ही है! वस्तुत. चार लाख पद-परिमाण की बात तो अनुश्रुति मात्र है; किंतु उन्होंने लाख—सवालाख पद—परिमाण की रचना अवश्य की थी, और उसे उनके लिपिक केलिदास ने लिखा था। उसका उल्लेख 'श्री नाम सेवा' मे इस प्रकार हुआ है,—

श्री राधावल्लभ श्री हरिवंश। गुरु हित रूप सकल परसंस॥
हित वृ दावन तिनको भृत्य। बानी सवा लक्ष तिन कृत्य॥
केलिदास पुस्तक लिख हाथ। सोपी पद सेवै रहि साथ[1]॥

चाचा जी का समस्त साहित्य एक विस्तृत वन के समान है। उसमें राधा-कृष्ण की दिव्य केलि-क्रीडाओ के अनेक सुवासित पुष्प युक्त उपवन हैं, और लोक-जीवन से संबंधित स्वाभाविक रचनाओं के सघन तरु-लता युक्त कुंज भी हैं। उनमे ऐतिहासिक उल्लेखों से संबंधित सुंदर हरे-भरे सुरम्य मैदान हैं, और विनय, वैराग्य एवं सिद्धांत विषयक मार्मिक कथनों के छोटे-बड़े नद-नाले भी हैं। इस प्रकार उनका साहित्य विविध विषयों से विभूषित और नाना रस-रगो से सुशोभित है, जिसमे सर्वत्र उनकी प्रतिभा का प्रकाशन हुआ है।

उन्होने जहाँ 'सिद्धांत' की चर्चा की है, वहाँ राधावल्लभीय गूढ भक्ति-तत्त्व के मर्म का उद्घाटन कर दिया है, जहाँ 'रस' का कथन किया है, वहाँ नित्यलीला-रस को मूर्तिमान कर दिया है, जहाँ इतिहास और चरित्र का प्रसग आया है, वहाँ उसे भी प्रामाणिक रूप मे प्रस्तुत किया है। जब पांडित्य-प्रदर्शन करने की इच्छा हुई, तो इतनी जटिल रचना कर डाली, जिसने पंडितों की बुद्धि को भी चकरा दिया! जब लोक-साहित्य निर्माण की उमग उठी, तो ख्याल, रसिया और गालियों का समां बांध दिया। लोकोक्तियो और कहावतो के वर्णन की धुन उठी, तो उनके भी कई ग्रंथ रच डाले। हास्य-विनोद की लहर आई, तो तदनुसार कई रोचक रचनाएँ कर डाली! इस प्रकार भक्ति-साहित्य की सीमाओं का उन्होंने अपने ढग से बहुत विस्तार किया है। उनके काव्य की यह विशेषता है कि विविध विषयो की रचनाएँ होते हुए भी उन्हे सदैव भक्ति से ही संबंधित रखा गया है। इस प्रकार वे धारावाहिक रूप मे अहर्निश काव्य-रचना करते हुए भी अपने मूल उद्देश्य से कभी विचलित नही हुए है। उनका भक्ति-काव्य ब्रजभाषा साहित्य का शृ गार है।

ऐसी प्रसिद्धि है, चाचा वृ दावनदास जी दीर्घजीवी हुए थे। उनके द्वारा रचित प्रचुर साहित्य को देखते हुए उनका अधिक आयु तक जीवित रहना सर्वथा संभव ज्ञात होता है। उनकी जिन कृतियो मे रचना-काल का उल्लेख मिलता है, उनमे अंतिम 'सेवक जन विरदावली' सं. १८४४ की है। उसके आधार पर उनके देहावसान का काल सं. १८५० के लगभग अनुमानित होता है। उस समय उनकी आयु ८०-८५ वर्ष के लगभग थी।

---

(१) राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ ५१६

केलिदास जी—इनके जीवन-वृत्तांत का कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है। प्रियादास जी ने उन्हें बुंदेलखंड स्थित चंदेरी ग्राम का कुलीन ब्राह्मण बतलाया है। इसके अतिरिक्त उनके माता-पिता, घर-बार आदि के विषय में उल्लेख कुछ नहीं मिलता। साम्प्रदायिक साहित्य में उनके संबंध में जो कुछ उल्लेख मिलता है, उससे ज्ञात होता है कि वे किशोरावस्था से ही विरक्त होकर वृंदावन आ गये थे। वहाँ आ कर वे राधावल्लभीय रसोपासना और चाचा वृंदावनदास जी की रचनाओं को निरंतर लिपिबद्ध करने में प्रवृत्त हुए थे,—

'लघु वय में ही मोह त्याग, वृंदावन परसे। श्रीवृंदावन-दास पास, रस-सागर सरसे ॥
गुरु-पद-भक्ति गरिष्ठ, द्रवत हिय सिष्य सु बोलै। बानी लिखित प्रगट किलदास, गोप न खोलै ॥

केलिदास जी की प्रसिद्धि का एक मात्र कारण उनका चाचा वृंदावनदास जी का लिपिक होना है। वे एक विरक्त भक्त थे, किंतु उन्होंने अपनी भक्ति-साधना का प्रमुख अंग चाचा जी के विपुल भक्ति-साहित्य के लेखन-कार्य को ही बना लिया था। जैसा पहिले लिखा गया है, चाचा जी के मुख से 'वाणी' का अजस्र प्रवाह निसृत होता रहता था। उसे लिखने के लिए एक ऐसे श्रद्धालु भक्त की आवश्यकता थी, जो छाया की तरह निरंतर उनके साथ बना रहे। यह कार्य केलिदास जी ने बड़े मनोयोग पूर्वक किया था। वे वृंदावन आने पर चाचा जी के सत्संग में रहे थे और उन्हीं से मंत्र-दीक्षा भी लेना चाहते थे। किंतु चाचा जी ने अपने गुरु श्री रूपलाल जी से उन्हें दीक्षा दिलाई थी। फिर भी वे चाचा जी में ही गुरु सदृश श्रद्धा रखते थे।

सेवासखी जी—'राधावल्लभ भक्तमाल' के अनुसार वे गोरखपुर के निवासी थे और वृ दावन आ कर श्री रूपलाल जी के शिष्य हुए थे। उन्होंने साधुओ की जमात के साथ राधावल्लभ सप्रदाय का वडा प्रचार किया था। उन्हे अपने शिष्य-सेवको से जो धन प्राप्त हुआ, उससे उन्होंने वरसाना मे मदिर वनवाया था। वे वहाँ पर राधाष्टमी को बडा उत्सव किया करते थे। उनकी कुज वृ दावन मे सेवाकुज की परिक्रमा मे वतलाई जाती है। उन्होंने वाणी-रचना भी की थी।

प्रेमदास जी—उनके जीवन-वृत्तात के सबध मे कुछ ज्ञात नही होता है। उनकी प्रसिद्ध रचना 'हित चौरासी' की टीका है, जिसके मगलाचरण के एक दोहा मे उनके गुरु श्री रूपलाल जी जान पडते हैं। इस टीका की पूर्ति स १७९१ मे हुई थी। उसमे लिखा मिलता है कि किन्ही सुदरदास की प्रेरणा से उन्होंने उक्त टीका की रचना की थी। उससे पहिले हित चौरासी की अनेक टीकाएँ हो चुकी थी, किंतु प्रेमदास जी की यह टीका अधिक महत्वपूर्ण है। पूर्ववर्ती टीकाएँ प्राय पद्यात्मक हैं, किंतु यह टीका 'वचनिका' अर्थात् ब्रजभाषा गद्य मे की गई है। इसका कारण वतलाते हुए उन्होंने कहा है,—कवितावद्ध टीका रचने से उसे समझने मे विलंब होता है, अत शीघ्रता से समझाने के विचार से उसे गद्य मे लिखा गया है,—'कोऊ निरख कवित्त बंध, समुझत होइ अवार। ताते वचननि मे कही, कीजै मध्य विचार।' किंतु गद्यात्मक टीका होने पर भी इसे सुगमता से समझना सभव नही है। उसमे 'हित चौरासी' के पदो की एक-एक पंक्ति के भाव का इतना विद्वत्तापूर्ण और विशद विवेचन किया गया है कि यह रचना कुछ दुर्बोध हो गई है। 'हित चौरासी' की यह सर्वाधिक प्रसिद्ध टीकाओ मे से है।

उक्त टीका के अतिरिक्त प्रेमदास जी की अन्य रचनाएँ भी है, जो सस्कृत और ब्रजभाषा दोनो मे हैं। उनकी सस्कृत रचनाएँ 'श्री हित नाम रत्नमणि माला' और 'नामस्नेहोपनिषद्' कही जाती हैं तथा ब्रजभाषा रचनाएँ पदावली, व्याहुलो, हित जन्म बधाई और रस सार सग्रह हैं[1]। उनका निधन स १८१३ मे अहमदशाह अब्दाली द्वारा ब्रज मे कराये गये कत्ल-आम मे हुआ था।

कृष्णदास जी भावुक—'हित चौरासी' की प्रेमदास कृत टीका मे कृष्णदास जी का उल्लेख करते हुए कहा गया है,—'जै-जै श्री कृष्णदास जू, हैं मम प्राण धन। श्री वैयासिक चरण कमल पर अलि मगन ॥' जव प्रेमदास जी जैसे प्रगाढ विद्वान और हित-वाणी के मर्मज्ञ मनीषी ने उनका इस प्रकार आदरपूर्ण शब्दो मे स्मरण किया है, तव वे निश्चय ही उस काल के वडे सम्मान्य महानुभाव होगे। वे प्रेमदास जी के समकालीन, किंतु प्रतिष्ठा मे उनसे वढे हुए और आयु मे अधिक ज्ञात होते है।

गो ललिताचरण जी ने कृष्णदास जी भावुक को गो विनोदवल्लभ जी का शिष्य और उच्च कोटि का रसिक सत एव सुकवि वतलाया है[2]। गो. विनोदवल्लभ जी श्री हित हरिवश जी के द्वितीय पुत्र श्री राधावल्लभ जी की वश-परपरा मे गो वुद्धिवल्लभ जी के पुत्र थे। कृष्णदास जी की रचनाओ के नाम हित जी की जन्म-वधाई और उत्सवो के पद, वृ दावनाष्टक तथा श्री हरिवशाष्टक लिखे गये हैं और उनका रचना-काल १८वी शती के मध्य मे लेकर उसके अत तक का माना गया है। उक्त रचनाओ के अतिरिक्त उनके एक ग्र थ 'गुरु प्रणाली' का भी नामोल्लेख मिलता है।

---

(१) श्री हित राधावल्लभीय साहित्य रत्नावली, पृष्ठ ४५

(२) श्री हित हरिवश गोस्वामी संप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ ४८०

श्री किशोरीलाल जी (सं. १७७७ से सं १८४५ के लगभग)—

जीवन-वृत्तांत—श्री किशोरीलाल जी सुविख्यात गोस्वामी श्री रूपलाल जी के पुत्र थे। उनका जन्म स. १७७७ की आश्विन कृ ८ को वृदावन मे हुआ था। वे अपने यशस्वी पिता के समान विद्वान, प्रतापी और प्रसिद्ध हुए थे। सवाई राजा जयसिंह जैसे शक्तिशाली राज्याधिकारी से दीर्घ काल तक सघर्ष करने के कारण गो रूपलाल जी ने जो प्रतिष्ठा अर्जित की थी, उसका पूरा लाभ श्री किशोरीलाल जी को प्राप्त हुआ था। फलत दिल्ली का मुगल सम्राट और जयपुर-ग्वालियर के राजा गण उनका बडा आदर-सम्मान करने लगे थे। मुगल सम्राट शाह आलम ने उन्हे फरमान प्रदान किया था और जयपुर के तत्कालीन सवाई राजा प्रतापसिंह एव ग्वालियर के सिंधिया सरदार ने उन्हे जागीर मे कई गाँव दिये थे। उन सबके कारण श्री किशोरीलाल जी अपने जीवन-काल मे प्रभूत सपत्ति, प्रचुर प्रतिष्ठा और अतुलनीय यश के अधिकारी हो गये थे।

वृदावन की जनता मे वे वडे लोकप्रिय हुए थे, और वहाँ के जन-समाज पर उनका बडा प्रभाव था। स्थानीय लोगो के झगडे-टटो को वे निष्पक्ष भाव से निवटा देते थे और उनके निर्णय को आदर पूर्वक मान लिया जाता था। अपनी समृद्धि, प्रतिष्ठा और राजकीय सम्मान के कारण वे 'सरकार' कहे जाने लगे थे। उनकी वह उपाधि उनके वशजो मे अभी तक प्रचलित है। उनके द्वारा राधावल्लभ सप्रदाय का वडा प्रचार हुआ था। फलत गुजरात आदि कई प्रदेशो के विभिन्न स्थानों मे उनके अनेक शिष्य हुए थे। उनके गुजराती शिष्य सेठ लल्लूभाई भगवानदास आदि ने उनके निजी सेव्य स्वरूप श्री राधाकात जी का मदिर और हवेली-वाटिका आदि का वृदावन मे निर्माण कराया था, जिन पर उनके वशजो का अधिकार है। उन्ही शिष्यो ने वृदावन मे श्री राधावल्लभजी का नया मदिर वनवाया था। गो किशोरीलाल जी प्रतिष्ठित विद्वान और प्रभावशाली धर्माचार्य होने के साथ ही साथ वाणीकार भी थे। उनकी वाणी मे अष्टयाम और पदावली आदि रचनाएँ उपलब्ध हैं। उनका देहावसान स १८४५ के लगभग हुआ था।

कुटुंभ-परिवार—श्री किशोरीलाल जी के दो पुत्र थे,—सर्वश्री हितलाल जी और रसिकानदलाल जी। उनके कुटुभियो मे उनके ताऊ श्री मुकुदलाल जी और उनके पुत्र श्री घनश्याम लाल जी थे। जैसा पहिले लिखा गया है, श्री मुकुदलाल जी का निधन गो. रूपलाल जी के पश्चात् स १८१३ मे अहमदशाह अब्दाली द्वारा वृदावन मे किये गये कत्ले-आम मे हुआ था। उसमे उनके साथ और भी अनेक भक्त जन मारे गये थे। रासवशीय ज्येष्ठ घराने के गो चद्रलाल जी, विलास-वशीय अधिकारी घराने के गो. रमणलाल जी और श्री गोपीनाथ जी के वशज गो. जोरीलाल जी श्री किशोरीलाल जी के अन्य कुटुभी थे। गो. जोरीलाल की ब्रजभाषा रचनाएँ समय प्रबध (रचना-काल स १८३५) और पदावली है। उनके समकालीन गोस्वामियो मे बेटी वश के श्री चद्रलाल जी एक प्रख्यात विद्वान और वाणीकार हुए हैं। उनका सक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

गो. चद्रलाल जी—ये श्री वनचद्र जी की बेटी किशोरी जी के वशज और श्री गोवर्धन-नाथ जी के पुत्र थे। उनके जन्म और देहावसान का निश्चित काल अज्ञात है। उनकी दो कृतियो मे रचना-काल का उल्लेख मिलता है, और वे स १८२८ और स. १८३३ की है। उनके आधार पर वे प्राय स १७६० से स १८६० तक के काल मे विद्यमान ज्ञात होते हैं। वे संस्कृत के प्रौढ विद्वान और ब्रजभाषा के उच्च कोटि के रचनाकार थे। उन्होंने राधावल्लभ सम्प्रदाय के कई सुप्रसिद्ध सस्कृत ग्रथो का ब्रजभाषा काव्य मे भावानुवाद किया था। उनकी प्राय सभी रचनाएँ [illegible]—

सवैया छदो मे हैं। 'श्री हित राधावल्लभीय साहित्य रत्नावली' मे उनकी २८ रचनाओं का नामोल्लेख हुआ है। इनमे करुणानिद, उप सुधानिधि, यमुनाष्टक, वृदावन शतक आदि सस्कृत ग्रथो की टीकाएँ और अभिलाष बत्तीसी, समय पच्चीसी, भावना पच्चीसी, हृदय सर्वस्व, अष्टयाम, वृदावन प्रकाश माला, भागवत सार पच्चीसी आदि रचनाएँ उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त उन्होने 'हित चौरासी' की टीका भी की थी। उनकी तीन कृतियाँ वृदावन प्रकाश माला, उप सुधानिधि की टीका और भागवत सार पच्चीसी क्रमश स १८२४, स १८३५ और स १८४८ मे पूर्ण हुई थी। 'भागवत सार पच्चीसी' की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि इसकी रचना जयपुर के सवाई राजा प्रतापसिंह के कहने से हुई थी।

शिष्य-समुदाय—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, गो. किशोरीलाल जी के बहुसख्यक शिष्य थे, जिनमे से अनेक समृद्धिशाली, उदार दानी और विद्वान थे। उनके विद्वान शिष्यो मे हरिलाल जी व्यास और समकालीन गो घनश्यामलाल जी के शिष्यो मे लाडिलीदास जी तथा गो चद्रलाल जी के शिष्यो मे प्रियादास जी एव गो दयानिधि जी के नाम अधिक प्रसिद्ध है, अत उनका कुछ सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

हरिलाल जी व्यास—वे बूँदी के निकटवर्ती [illegible] नामक गाँव के एक विद्वान ब्राह्मण थे। उनका जन्म स १७९० मे हुआ था। उन्हे 'राधा-सुधानिधि' के पठन का सुयोग प्राप्त हुआ, और वे निकुजोपासना के अनुरागी होकर वृदावन आ गये थे। वहाँ पर वे युगलदास जी के सत्सग मे रहे थे। उन्ही के परामर्श से उन्होने गो किशोरीलाल जी से दीक्षा ली थी। उसके उपरान्त वे स्थायी रूप से वृदावन मे निवास कर प्रेमोपासना और ग्रथ-रचना करने लगे थे। सस्कृत के वे प्रगाढ विद्वान और व्रजभाषा के अच्छे जानकार थे। उन्होने 'राधा-सुधानिधि' का गहन अध्ययन कर उस पर कई टीकाएँ लिखी थी। उनकी सुप्रसिद्ध टीका 'रसकुल्या' है, जो स. १८३५ मे पूर्ण हुई थी। यह अत्यत वृहत्काय टीका है और इसके आरभ मे एक विशद प्रस्तावना भी है, जिसमे कुछ शकाओ का समाधान किया गया है। इसी ग्रथ पर उनकी एक सक्षिप्त टीका 'लघु व्याख्या' के नाम से भी उपलब्ध है। 'राधा-सुधानिधि' पर इतना विस्तृत विवेचन और किसी विद्वान ने नही किया है। इन टीकाओ के अतिरिक्त श्री कृष्णचद्र गोस्वामी कृत अष्टपदियो पर उन्होने सस्कृत मे विवृत्ति भी लिखी थी। व्रजभाषा मे उन्होने 'सेवक-वाणी' पर सर्व प्रथम टीका की थी। यह गद्यात्मक टीका है, जिसकी रचना स १८३० के लगभग हुई थी। इन प्रसिद्ध टीका-ग्रथो के अतिरिक्त उनकी कुछ अन्य रचनाएँ भी बतलाई जाती है।

लाडिलीदास जी—वे गो घनश्यामलाल जी के शिष्य थे और १९वी शती के पूर्वार्ध मे विद्यमान थे। वे बडे विद्वान और वाणीकार थे। उनकी रचनाओ मे सुधर्मबोधिनी, प्रश्नोत्तरी, पदावली और कामवन विलास उल्लेखनीय है। 'सुधर्मबोधिनी' राधावल्लभ सप्रदाय की एक सैद्धातिक रचना है, जिसका आधार सेवक वाणी है। उसकी पूर्ति स १८४२ मे हुई थी। 'कामवन विलास' मे व्रज के प्राचीन लीला-स्थल कामवन की धार्मिक महत्ता का उल्लेख है। श्री राधावल्लभ जी के कामवन मे विराजमान होने के काल की कतिपय घटनाएँ भी उसमे लिखी गई है। उस काल मे श्री राधावल्लभ जी की सेवा का क्या प्रबध था और उसमे किन-किन गोस्वामियो ने योग दिया था, उक्त ऐतिहासिक बातो का भी इसमे कुछ सकेत मिलता है।

---

(१) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ ४४६

प्रियादास जी (रीवाँ वाले)—वे सस्कृत के प्रकाड विद्वान और भक्ति शास्त्रो के मर्मज्ञ थे। उन्होने श्री मद्भागवत के आधार पर कई प्रौढ भक्ति ग्र थो की रचना सस्कृत भाषा मे की थी। उनके ग्र थ वेदात सार (स १८६४), श्रुति तात्पर्यामृत (स १८७०), भक्ति प्रभा (स १८७१), सुसिद्धातोत्तम् और वैष्णव सिद्धात है। इनमे से आरभिक चार ग्रथो पर उन्होने विद्वत्तापूर्ण टीका भी लिखी है। ब्रह्मसूत्र का राधावल्लभीय भाष्य भी उनके द्वारा रचा हुआ कहा जाता है। ब्रजभाषा मे उनकी एक रचना 'पद-रत्नावली' का उल्लेख मिलता है। वे बेटी वश के गो चद्रलाल जी के शिष्य थे और उनकी विद्यमानता का काल १९ वी शती का उत्तरार्ध है।

गो दयानिधि—वे गो चद्रलाल जी के शिष्य और सभवत उनके कुटुभी भी थे। उनकी कई रचनाओ की हस्त प्रतियाँ वृ दावन मे श्री राधाचरण जी के पुस्तकालय मे है। उनमे से एक उनके कवित्तो का सकलन और दूसरी अन्योक्ति पच्चीसी उल्लेखनीय है। वे धर्म–गुरु होने के साथ ही साथ अपने समय के विख्यात काव्य–गुरु भी थे। उनके काव्य–शिष्यो से ग्वाल जी, हरिदेव जी आदि कई प्रसिद्ध कवि हुए है।

श्री राधावल्लभ जी का वृ दाबन-पुनरागमन—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, औरगजेब के दमन-चक्र के कारण श्री राधावल्लभ जी को उनके वृ दावन वाले प्राचीन मदिर से हटा कर कामवन पहुँचा दिया गया था। स १७३९ से स १८४१ तक उनकी सेवा-पूजा कामबन मे ही होती रही थी। राधावल्लभीय भक्त जनो का सदा से आग्रह रहा था कि उन्हे पुन वृ दावन मे ला कर प्रतिष्ठित किया जावे। *श्री किशोरीलाल जी के गुजराती शिष्य सेठ लल्लूभाई ने उनका नया* मदिर भी बनवाना आरभ कर दिया था। स १८४१ की ज्येष्ठ शु ८ को कामबन मे मुसलमान आक्रमणकारियो ने बडा उपद्रव किया, जिसके कारण श्री राधावल्लभ जी को वृ दावन वापिस ले जाने की शीघ्रता की गई थी। फलत. आश्विन शु २ को उन्हे वृ दावन लाया गया, किंतु तब तक नया मदिर पूरा बन कर तैयार नही हुआ था। ऐसी अनुश्रुति है, उस समय उन्हे श्री गदाधर भट्ट जी के सेव्य स्वरूप के साथ रखा गया था। स १८४२ मे नया मदिर बन गया था, तब उक्त मदिर मे उन्हे प्रतिष्ठित किया गया था। आजकल भी वे इसी नये मदिर मे विराजमान हैं।

श्री किशोरीलाल जी के उत्तराधिकारी—

सर्वश्री हितलाल जी और रसिकानंदलाल जी—वे गोस्वामी श्री किशोरीलाल जी के पुत्र थे। उनमे से हितलाल जी बडे थे और रसिकानदलाल जी छोटे थे। हितलाल जी के कोई पुत्र नही था, और रसिकानदलाल जी के दयासिंधु जी एव कृपासिंधु जी नामक दो पुत्र थे। हितलाल जी ने कृपासिंधु जी को गोद ले लिया था। उसके उपरात दोनो भाइयो ने स. १८४९ मे पैतृक सपत्ति, मदिर, हवेली, वाटिका आदि का बटवारा कर लिया था। उससे उन दोनो के घरानो की दो पृथक् परपराएँ प्रचलित हुईं, जिन्हे 'बडी सरकार' और 'छोटी सरकार' कहा जाता है। राधावल्लभीय गोस्वामियो मे ये दोनो घराने अधिक प्रसिद्ध है। उनके वशजो और शिष्यो मे भी अनेक प्रसिद्ध महानुभाव हुए है। श्री रसिकानदलाल जी के एक शिष्य प्रियादास जी थे और उनकी शिष्या आनदीबाई जी थी। उन दोनो का कुछ सक्षिप्त वृत्तात यहाँ दिया जाता है।

प्रियादास जी (दनकौर वाले)—वे राधावल्लभ सप्रदाय के अन्य प्रियादासो से भिन्न भक्त जन और दनकौर के निवासी थे। उनकी रचनाओ मे 'सेवक चरित्र' की बडी प्रसिद्धि है। यह

गद्य-पद्यात्मक ग्र थ है और इसकी रचना स १८४१ मे हुई थी । इसी मे सेवक जी की जन्म-तिथि श्रावण शु ३ का सर्व प्रथम उल्लेख मिलता है । इसके गद्य मे १६ वी शती की सुव्यवस्थित भाषा-शैली का उदाहरण मिलता है ।

आनदीबाई जी—वे एक धार्मिक महिला थी । उन्होने ठाकुर-सेवा और साधु-सेवा मे अपना समस्त जीवन लगाया था । उनकी वाणी-रचना भी उपलब्ध है, जिसमे 'निज भाव विचार' नामक समय-प्रबध की पूर्ति स १८४० हुई थी । गोस्वामी ललितचरण जी ने उनकी रचना का मूल्याकन करते हुए लिखा है,—'साहित्यिक दृष्टि से उनकी वाणी का अधिक महत्व नही है, किंतु उसमे प्रत्यक्ष अनुभव का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है । आनदीबाई जी से पूर्व हित प्रभु की शिष्या गगाबाई और यमुनाबाई ने भी वाणी-रचना की थी किंतु वे अब प्राप्त नही है । इस दृष्टि से उनकी वाणी का महत्व बढ जाता है[1] ।'

सर्वश्री दयासिधु जी और कृपासिधु जी—वे गो श्री रसिकानददास जी के पुत्र थे । उनमे से कृपासिधु जी को गो श्री हितलाल जी ने गोद ले लिया था, अत वे 'बडी सरकार' की गद्दी के अधिकारी हुए थे । उन्हे सर्वश्री रूपलाल जी और किशोरीदास जी से निजी सेव्य स्वरूप ठाकुर श्री राधाकात जी की सेवा और पैतृक बडाबाग मे हिस्सा एक वाटिका प्राप्त हुई थी । दयासिधु जी 'छोटी सरकार' की गद्दी के अधिकारी रहे थे । उन्हे बडाबाग मे पैतृक मदिर प्राप्त प्राप्त हुआ था, जिसमे उन्होने ठाकुर श्री राधाविहारी जी को प्रतिष्ठित किया था ।

सर्वश्री दयासिधु जी और कृपासिधु जी अपने पूर्वजो की परपरा के अनुसार बडे यशस्वी एव प्रतापी हुए थे । उन्होने राधावल्लभ सप्रदाय की धार्मिक और साहित्यिक प्रगति मे बडा योग दिया था । उन दोनो के रचे हुए उत्सव सबधी पद कीर्तन-सग्रहो मे मिलते है । उन्होने 'छोटी सरकार' और 'बडी सरकार' की साप्रदायिक गद्दियो का सचालन बडी योग्यता पूर्वक किया था । उनकी वश-परपरा और शिष्य-परपरा मे अनेक धार्मिक एव साहित्यिक महानुभाव हुए है ।

राधावल्लभ सप्रदाय द्वारा ब्रज की सास्कृतिक प्रगति—

'बिदु'-परिवार और 'नाद-परिवार का योग-दान—श्री हित हरिवश जी के 'बिदु'-परिवार के रास वश, उसकी दोनो शाखाएँ 'बडी सरकार'-'छोटी सरकार' और विलास वश से सबधित गोस्वामी गण के साथ ही साथ 'नाद'-परिवार के विरक्त स्वामी समुदाय का राधावल्लभ सप्रदाय की उन्नति मे समान महत्व रहा है । उन सब के सम्मिलित प्रयत्न से ही यह ब्रज का एक सुव्यवस्थित सप्रदाय बन सका है । इसके द्वारा ब्रज की धार्मिक प्रगति से भी अधिक इसकी सास्कृतिक समृद्धि मे योग मिला है । राधावल्लभ सप्रदाय का वाणी साहित्य ब्रज की साहित्यिक निधि का एक बहुत बडा भडार है ।

राधावल्लभ सप्रदाय मे वाणी-रचना को भी भक्ति-साधना का ही अग माना गया है । इसलिए प्राय सभी भक्त जनो ने यथासाध्य कुछ न कुछ रचना करने का प्रयास किया है । उनकी रचनाओ मे से कुछ काव्य की दृष्टि से साधारण कोटि की है, किंतु भक्ति-भावना की दृष्टि से वे भी महत्वपूर्ण है । समय की गति से बहुत सी रचनाएँ लुप्त हो गई है, और होती जा रही है, फिर भी वे प्रचुर परिणाम मे अब भी उपलब्ध है ।

---

(१) श्री हित हरिवश गोस्वामी : सप्रदाय और साहित्य, पृष्ठ ५२५

५. हरिदास संप्रदाय

नामकरण और इसकी सार्थकता—ब्रजमडल के महान् सत, रसिक भक्त और सगीताचार्य स्वामी हरिदास जी ने ब्रज के लीला-धाम वृदावन मे श्रीराधा-कृष्ण की प्रेम भक्ति और रसोपासना के जिस विशिष्ट 'मत' अथवा 'मार्ग' का प्रचलन किया था, वह उनके नाम पर 'हरिदास सप्रदाय' कहा जाता है। इस भक्ति-मत किवा उपासना-मार्ग मे परात्पर प्रेम तत्त्व रूप श्रीश्यामा-कुजविहारी के 'नित्य विहार' की मान्यता है। उसके अनुसार नित्य निकुज मे प्रवेश करने एव नित्य विहार के सुखानुभव करने का अधिकार केवल श्रीराधा जी की सखियो को है, अत उपासक भक्त जन भी सखी भाव से ही उस दिव्य प्रेम लीला रस की अनुभूति द्वारा अपने जीवन को सार्थक कर सकते है। उक्त मान्यता के कारण यह प्रेमा भक्ति और रसोपासना का मार्ग 'सखी सप्रदाय' भी कहलाता है।

किसी भी धार्मिक सप्रदाय की विशिष्टता अधिकतर उसके दार्शनिक सिद्धान्त पर आधारित होती है, और उसकी उपासना-भक्ति भी प्राय उक्त सिद्धान्त के अनुकूल ही होती है। किन्तु स्वामी हरिदास जी के इस 'सखी सप्रदाय' मे दार्शनिक सिद्धात की उपेक्षा की गई है, और इसे शुद्ध प्रेमा भक्ति एव रसोपासना पर आधारित किया गया है। वैसे स्वामी जी के रचे हुए १८ ध्रुपद 'अष्टादश सिद्धात के पद' कहे जाते है, किंतु उनमे किसी विशिष्ट दार्शनिक सिद्धात के प्रतिपादन का प्रयास दृष्टिगोचर नही होता है। उनमे भगवान् की महत्ता और जीव की विवशता सूचक भक्ति, ज्ञान, वैराग्यादि की सामान्य बातो का ही कथन किया गया है। हित हरिवश जी की उपासना प्रणाली की भाँति स्वामी हरिदास जी द्वारा प्रचलित उपासना-पद्धति को भी एक 'सप्रदाय' की अपेक्षा 'मत' या 'मार्ग' कहना अधिक सार्थक है। किंतु जिस प्रकार हित जी की उपासना-प्रणाली को स्पष्ट करने के लिए उसे एक विशिष्ट सप्रदाय के नाम से अभिहित किया गया है, उसी प्रकार स्वामी जी की उपासना-पद्धति और उसके सखी भाव की विशिष्टता का बोध कराने के लिए इसे 'हरिदास सप्रदाय' अथवा 'सखी सप्रदाय' कहा जाता है।

साप्रदायिक विशेषता—यह सप्रदाय सखी भाव की विशुद्ध प्रेमोपासना को लेकर चला है। इसमे प्रेम रस को सर्वोपरि तत्त्व मान कर उसे 'श्रीश्यामा-कुजविहारी' के नाम से विज्ञापित किया गया है। इस सप्रदाय की मान्यता है कि यह परात्पर प्रेम तत्त्व 'एक' होते हुए भी 'युगल स्वरूप' धारण कर अपनी दिव्य निकुजो मे 'नित्य विहार' रत रहता है। उसकी अतरग्वर्ती सखियाँ उस चिरतन क्रीडा मे योग देती हुई दिव्य लीला-रस का सुखानुभव करती रहती है। भक्ति मार्ग मे अग्रसर होने वाला साधक अपने उद्देश्य मे तभी सफल हो सकता है जब वह ससार के समस्त विषयो से विरक्त होकर उन सखियो के भाव से ही प्रेमोपासना करे। भक्ति के क्षेत्र मे यह स्वामी हरिदास जी की महान् देन थी। अपनी विशेषता के कारण ही स्वामी जी के इस उपासना-भक्ति के मार्ग को एक विशिष्ट सप्रदाय कहा गया है।

श्री हित हरिवश जी द्वारा प्रचलित 'राधावल्लभ सप्रदाय' भी रसोपासक संप्रदाय है। श्री निंबार्काचार्य जी ने भक्ति के क्षेत्र मे जिस 'राधा-कृष्णोपासना' को प्रचलित किया था, उसी का अत्यत विकसित और सूक्ष्म स्वरूप वृंदावन के इन दोनों रसिक संप्रदायों मे दृष्टिगत हुआ है। श्री हित हरिवंश जी की भाँति स्वामी हरिदास का उपासना मार्ग भी किसी पूर्ववर्ती भक्ति सप्रदाय

के अतर्गत न होकर स्वतत्र रूप मे विकसित हुआ है। इसीलिए श्री बिहारिनदास जी ने स्वामी जी की वदना करते हुए उन्हे गुरुओ का भी गुरु बतलाया है,—'गुरुन को गुरु श्री हरिदास आसुधीर को।' स्वामी हरिदास जी के पश्चात् उनके सप्रदाय मे जितने आचार्य हुए, उन्होंने स्वामी जी से ही अपनी गुरु-परपरा का आरभ किया है।

स्वामी हरिदास जी (प्राय १६वीं शती के मध्य से १७वी शती के मध्य तक)—

जीवन-वृत्तात की उलझन—स्वामी हरिदास जी का प्रामाणिक जीवन-वृत्तात उपलब्ध नही है। इसका कारण यह है कि न तो उनकी रचनाओ मे उनके जीवन-वृत्त से सबधित कोई उल्लेख मिलता है, और न उनके समकालीन भक्तो, शिष्यो एव इतिहासकारो ने ही उन पर कुछ प्रकाश डाला है। स्वामी जी मुगल सम्राट अकबर के काल मे विद्यमान थे। उनकी सम्राट से भेट होने की किवदती बडी प्रसिद्ध है। उनके अतिरिक्त अकबरी दरबार के विख्यात गायक तानसेन को भी स्वामी जी का शिष्य बतलाया जाता है। अकबर कालीन अनेक महत्वपूर्ण व्यक्तियो के विस्तृत विवरण 'आईन-अकबरी' और 'अकबरनामा' जैसे तत्कालीन फारसी ग्रथो मे मिलते है, किंतु स्वामी हरिदास जी के सबध मे उनमे भी कोई उल्लेख नही है।

स्वामी जी की प्रामाणिक जीवनी के अभाव मे उनसे सबधित अनेक किंवदतियाँ और अनुश्रुतियाँ प्रचलित हो गई है। उनसे उनके चमत्कारपूर्ण व्यक्तित्व और अलौकिक प्रभाव का परिचय तो मिलता है, किंतु उनके जीवन-वृत्त की विश्वसनीय बातो का बोध नही होता है। वैसे तो प्राय सभी प्राचीन और मध्यकालीन महापुरुषो के जीवन-वृत्त अस्पष्ट होने से विवादग्रस्त हैं, तथापि स्वामी हरिदास जी की जीवनी विषयक जैसी उलझन है, वैसी बहुत कम महात्माओ के सबध मे मिलती है। इसका कारण उपलब्ध सामग्री विषयक कुछ साहित्यिक तथा ऐतिहासिक मतभेद ही नही, वरन् साप्रदायिक विवाद भी है, जिसने पारस्परिक विद्वेष का रूप धारण कर लिया है। इसका यह दुष्परिणाम हुआ है कि उस जगत्वद्य महात्मा का महान् व्यक्तित्व व्यर्थ के वाक्-जजाल मे उलझ गया है।

इस समय स्वामी हरिदास जी के जन्म-काल, जन्म-स्थान, कुल, जाति, गुरु और सप्रदाय के सबध मे स्पष्टतया दो मत है, जो उनके अनुगामियो के दो वर्गों की मान्यताओ पर आधारित हैं। उन दोनो के समर्थन मे जो परस्पर विरोधी तर्क उपस्थित किये गये है, उनके कारण तत्वान्वेषी निष्पक्ष विचारको के लिए भी किसी निर्भ्रात मत पर पहुँचना कठिन हो गया है। यही कारण है, 'मिश्रबधु विनोद' से लेकर अब तक लिखे हुए हिंदी साहित्य के प्राय सभी इतिहास ग्रथो मे स्वामी हरिदास जी का अत्यत अपूर्ण और त्रुटिपूर्ण जीवन-वृत्त मिलता है। उनके भक्ति तत्व और उपासना मार्ग तथा उनकी रचनाओ के सबध मे भी उनमे यथार्थ कथन नही किया गया है।

सर्वश्री मिश्रबधु और शुक्ल जी दोनो के इतिहास ग्रथो मे यह हास्यास्पद कथन मिलता है कि स्वामी जी पहिले वृ दावन मे रहे थे, किंतु बाद मे वे निधुवन मे चले गये थे[1]। गोया निधुवन भी मधुवन-कामवन की तरह वृंदावन से पृथक् कोई स्थान है, जब कि यह वृ दावन का ही एक विशिष्ट स्थल है। डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है, हरिदासी सप्रदाय के सिद्धात चैतन्य सप्रदाय से

---

(१) १ सर्वश्री मिश्रबधु कृत 'मिश्रबधु विनोद' (प्रथम सस्करण), प्रथम भाग, पृष्ठ ३०२
२. श्री रामचद्र शुक्ल कृत 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (सशोधित सस्करण), पृष्ठ १६१

बहुत मिलते हैं[1] । यह कथन भी ठीक नही है । स्वामी जी की प्रेमा भक्ति और उनकी सखी भाव की रसोपासना मे इतनी विलक्षणता है कि उन्हे किसी अन्य सप्रदाय के भक्ति तत्व अथवा दार्शनिक सिद्धात से सबद्ध करना वस्तु स्थिति के अनुकूल नही है । उनकी रचनाओ को भी 'ऊबड़-खाबड़' कहा गया है और उनमे मधुरता, कोमलता एव शब्द-चातुर्य की कमी बतलाई गई है[2] । सगीत और साहित्य के कतिपय विद्वानो ने स्वामी हरिदास तथा हरिदास डागुर को एक ही व्यक्ति माना है और उन्होने स्वामी जी रचनाओ के साथ डागुर की रचनाओ को मिला दिया है[3] । वास्तविकता यह है, न तो स्वामी जी की रचनाओ मे मधुरता, कोमलता तथा शब्द–चातुर्य की कमी है, और न स्वामी हरिदास एव हरिदास डागुर एक ही थे । हम आगामी पृष्ठो मे इन सब भ्रमात्मक बातो का समाधान करने की चेष्टा करेंगे ।

स्वामी जी संबंधी दो मान्यताएँ—स्वामी हरिदास जी के सबध मे जो अनिश्चय और भ्रम का वातावरण बना हुआ है, उसका एक बडा कारण यह है कि उनके अनुयायियो मे भी आपस मे मतैक्य नही है । उनमे जो मान्यताएँ प्रचलित है, उनसे स्वामी जी के निश्चित जीवन-वृत्त के उद्घाटन की अपेक्षा भ्रम का ही अधिक प्रसार हुआ है । इस समय स्वामी हरिदास जी के समस्त अनुयायी प्राय दो विशिष्ट वर्गो मे विभाजित है । एक वर्ग वृदावन के टट्टी सस्थान से सबधित विरक्त सत और उनकी शिष्य–परपरा का है । दूसरा वर्ग श्री बिहारी जी के मदिर के पुजारी गृहस्थ गोस्वामी गण और उनके अनुगामियो का है । गोस्वामी गण अपने को स्वामी हरिदास जी का वशज बतलाते है । उनका यह दावा विरक्त सतो की शिष्य–परपरा को स्वीकार नही है । यही दोनो वर्गो के मतभेद और उससे उत्पन्न विवाद का मूल कारण है । इस पारस्परिक मतभेद जन्य विवाद के फलस्वरूप स्वामी जी के जीवन–वृत्तात से सबधित स्पष्टतया दो मान्यताएँ चल पडी है, जिनका सामजस्य करना एक बडी समस्या बनी हुई है ।

विरक्त शिष्यो के मत का आधार अब से प्राय दो शताब्दी पूर्व निर्मित 'निज मत सिद्धात' नामक ग्र थ है, जिसके रचयिता श्री किशोरदास नामक एक विरक्त सत थे । इसी ग्र थ के आधार पर श्री सहचरिशरण कृत 'गुरु प्रणालिका', 'आचार्योत्सव सूचना' और 'ललित प्रकाश' मे भी विरक्त शिष्यो की मान्यता के अनुकूल कथन किये गये है । गोस्वामी गण की मान्यता का प्रमुख आधार 'मिराते सिकदरी व मिराते अकबरी' नामक एक प्राचीन फारसी ग्रथ कहा जाता है । उनके अतिरिक्त विविध भक्तमालादि अन्य आधार ग्र थ भी हैं, किंतु वे परवर्ती काल के हैं ।

दोनो मतो मे मान्य स्वामी जी के जीवन–वृत्तात का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है,—

	विरक्त शिष्य-परपरा मे मान्य	गृहस्थ गोस्वामी-परपरा मे मान्य
१ जन्म-काल	स. १५३७ भाद्रपद शु ८, बुधवार	स. १५६६ पौष शु १३, भृगुवार
२. जन्म-स्थान	राजपुर (वृंदावन)	हरिदासपुर (अलीगढ)
३. जाति	सनाढ्य ब्राह्मण	सारस्वत ब्राह्मण

---

(१) डा० रामकुमार वर्मा कृत 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (तृ स), पृष्ठ ६८७

(२) १. श्री रामचद्र शुक्ल कृत 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (सशोधित सस्करण), पृष्ट १६१
 २. डा रामकुमार वर्मा कृत 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (तृ.स. पृष्ठ) ६८७

(३) संगीतज्ञ कवियो की हिंदी रचनाएँ, पृष्ठ ५१–५६

४. माता	चित्रादेवी	गंगादेवी
५ पिता	गंगाधर जी (सनाढ्य ब्राह्मण)	आशुधीर जी (सारस्वत ब्राह्मण)
६ भाई	..	जगन्नाथ जी, गोविंद जी
७ गुरु	आशुधीर जी (सारस्वत ब्राह्मण)	आशुधीर जी (सारस्वत ब्राह्मण)
८ संप्रदाय	निंबार्क	विष्णुस्वामी
९ दीक्षा-तिथि	...	भाद्रपद शु ८
१०. वृंदावन-आगमन	सं १५६२ (२५ वर्ष की आयु मे)	सं १५९४ (२५ वर्ष की आयु में)
११ श्री विहारी जी के प्राकट्य की तिथि	मार्गशीर्ष शु ५ (सं १५६७)	मार्गशीर्ष शु ५ (सं १६०० से पश्चात्)
१२ देहावसान-काल	सं. १६३२ आश्विन शु १५ (९५ वर्ष की आयु मे)	सं १६६४ आश्विन शु १५ (९५ वर्ष की आयु मे)

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि स्वामी जी के अनुयायी दोनों वर्गों की मान्यताओं मे अंतर होते हुए भी कुछ बातो मे समानता है, और कुछ बातो मे थोडा ही भेद है। जैसे स्वामी जी का २५ वर्ष की आयु मे वृंदावन-आगमन और ९५ वर्ष की आयु मे उनका देहावसान दोनों मे समान रूप से माना जाता है। श्री विहारी जी के प्राकट्य की तिथि मार्गशीर्ष शु. ५ (विहार पंचमी) और स्वामी के देहावसान की तिथि आश्विन शु १५ (शरद पूर्णिमा) भी दोनों मे समान रूप से मान्य है। इनके अतिरिक्त श्री आशुधीर जी का सारस्वत ब्राह्मण होना और उनसे स्वामी हरिदास जी का घनिष्ट संबंध होना दोनो ही मतो मे स्वीकृत है। इनमे थोडा भेद यह है कि विरक्त शिष्य-परंपरा के अनुसार जहाँ श्री आशुधीर जी स्वामी जी के गुरु थे, वहाँ गोस्वामियो के मतानुसार वे स्वामी जी के पिता और गुरु दोनों ही थे। वैसे विरक्त मतो मे भी गुरु को पिता सदृश ही समझा जाता है। भाद्रपद शु ८ (राधाष्टमी) जहाँ विरक्त शिष्यों के मतानुसार स्वामी जी की जन्म–तिथि है, वहाँ गोस्वामियो के मतानुसार दीक्षा–प्राप्ति की तिथि। वैष्णव संप्रदायों मे दीक्षा–प्राप्ति की तिथि ही एक प्रकार से जन्म-तिथि भी मानी जाती है, क्यो कि उसी दिन संप्रदाय मे शिष्य का आविर्भाव होता है। यही कारण है, दोनों ही परंपराओ मे स्वामी जी का जन्मोत्सव भाद्रपद शु ८ को ही मनाया जाता है। दोनो मान्यताओ मे सामान्य मतभेद स्वामी जी के जन्म–काल एवं जन्म-स्थान के विषय मे है, और विशेष मतभेद उनकी जाति एवं संप्रदाय के संबध मे है।

दोनो मान्यताओ के आधार और उनकी समीक्षा—विरक्त शिष्यो की मान्यता का प्रमुख स्रोत 'निज मत सिद्धांत' ग्रंथ है। उसी के आधार पर श्री सहचरिशरण कृत 'गुरु प्रणालिका', 'आचार्योत्सव सूचना' और 'ललित प्रकाश' मे तथा बाद मे ब्रह्मचारी बिहारीशरण द्वारा संपादित 'निंबार्क माधुरी' मे तद्विषयक कथन किये गये हैं। सर्वश्री किशोरदास जी तथा सहचरिशरण जी १९वी शती के भक्त–कवि थे और बिहारीशरण जी आधुनिक काल के लेखक है। इससे सिद्ध होता है कि विरक्त शिष्यो की मान्यता का आधार अधिक पुराना नही है। इन ग्रंथो मे तिथि–संवत् की भी भूले है, जिनके कारण वे इतिहास की कोटि मे नही आते है। फिर भी इनमे स्वामी हरिदास जी और उनकी विरक्त शिष्य–परंपरा के संतो से संबधित जैसी प्रचुर सामग्री मिलती है, वैसी किसी अन्य स्रोत से उपलब्ध नही होती है। हमे श्री किशोरदास जी का निश्चय ही बडा कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होने सर्व प्रथम स्वामी जी और उनकी शिष्य–परंपरा का इतना विस्तृत विवरण

लिखा है। यदि वह उपलब्ध न होता, तो आज स्वामी जी के सबध मे कुछ भी जानना सभव नही था। चूँकि वह विवरण स्वामी जी के प्राय ढाई सौ वर्ष बाद का है, अत. उसमे कुछ भूलें रह जाना सर्वथा स्वाभाविक है।

गोस्वामियो की मान्यता के समर्थन मे 'मिराते सिकदीर व मिराते अकबरी' नामक एक प्राचीन फारसी ग्र थ का नामोल्लेख किया गया है। श्री सुदर्शनसिंह 'चक्र' ने इस सबध मे लिखा है,—'मिराते सिकदरी व मिराते अकबरी' इस ग्रथ का कुछ भाग वि स १५२६ मे लिखा गया था और शेष भाग सम्राट अकबर के समय मे पूरा हुआ था। इसमे विस्तार से तत्कालीन इतिहास का वर्णन हुआ है। यह कई जिल्दो मे है। इसमे श्री हरिदास जी तथा उनके जन्म-सवत, जन्म-स्थान, जाति, पिता आदि का वर्णन ग्र थ की छटवी जिल्द मे पाया जाता है। कोई कारण नही कि इस ग थ को प्रामाणिक न माना जाय। इस ग्रथ के अनुसार स्वामी जी का जन्म पौष शु. १३ भृगुवार स १५६६ मे हुआ था। ऐतिहासिक घटनाओ का विवेचन करने से भी यह काल ठीक जान पड़ता है[1]।'

निश्चय ही यह बहुत बडा प्रमाण है, जो गोस्वामी वर्ग की मान्यता को अकाट्य सिद्ध करता है। किंतु इसमे कठिनाई यह है कि उक्त 'मिराते सिकदरी व मिराते अकबरी' ग्रथ इस समय कदाचित मिलता नही है। श्री 'चक्र' जी ने अपना कथन उक्त ग्र थ को स्वय देख कर लिखा है; अथवा किसी से सुन कर, यह भी निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता है। गोस्वामियो की मान्यता का समर्थन करने वाले जितने सज्जन हमे मिले है, उनमे से किसी ने उक्त ग्र थ को नही देखा है। फजलुल्ला फरीदी कृत 'मिराते सिकदरी' का अगरेजी अनुवाद उपलब्ध है, जो एक ही जिल्द मे प्रकाशित हुआ है। इसमे स्वामी हरिदास जी के विषय मे कुछ भी नही लिखा गया है। ऐसी स्थिति मे उस तथाकथित 'मिराते सिकदरी व मिराते अकबरी' ग्र थ के नाम से प्रचारित स्वामी जी के वृत्तात को सर्वथा प्रामाणिक मानना सभव नही है। स्वामी जी २५ वर्ष की आयु मे वृ दावन आये, और वहाँ पर ७० वर्ष तक निवास करने के उपरात ९५ वर्ष की आयु मे उनका देहात हुआ था,—यह मान्यता 'निज मत सिद्धात' ग्र थ के अनुसार विरक्त शिष्यो की है[2]। यदि गोस्वामियो की तद्विषयक मान्यता का आधार भी उक्त ग्रथ ही है, तब उनके द्वारा उसकी अन्य बातें स्वीकार न करने का औचित्य नही माना जायगा।

स्वामी हरिदास जी से सबधित दोनो प्रचलित मान्यताओ और उनके आधारो की भिन्नता का कारण यह भी हो सकता है कि उनमे न्यूनाधिक रूप मे कई हरिदासो की जीवन-घटनाओ का समिश्रण हो गया है। मध्य कालीन भक्तो मे हरिदास नाम के अनेक महात्मा हुए है। नाभा जी कृत 'भक्तमाल' मे ७, ध्रुवदास कृत 'भक्त नामावली' मे ४ और 'दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता' मे ३ हरिदासो के उल्लेख मिलते हैं। उनमे से कई स्वामी हरिदास जी के समय में विद्यमान भी थे, और कई बाद मे हुए थे। स्वामी जी की शिष्य-परपरा मे भी कई हरिदास हुए हैं। उनमे से [illegible] विषय मे नवनीत जी ने लिखा है,—'श्री स्वामी हरिदास के शिष्य भये हरिदास। सुमिरन कर हरिदास को, होय गये हरिदास[3]॥'

(१) श्री केलिमाल में प्रकाशित 'स्वामी जी का जीवन चरित्र', पृष्ठ २०

(२) गृह मे वर्ष पचीस विताये। फिर वैराग-त्याग उपजाये॥
सत्तर वर्ष कीन्ह बन-वासा। गुप्त भाव कीन्हो परकासा॥ (निज मत सिद्धांत, मध्य खंड)

(३) हरिदास वंशानुचरित, पृष्ठ १८

पूर्वोक्त सभी हरिदासो की जीवन-घटनाएँ कालातर मे आपस मे इतनी घुल-मिल गई थी कि उन्हे प्रत्येक हरिदास से सबधित रखना कठिन हो गया। स्वामी हरिदास जी उन सभी हरिदासो मे सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए, अत. उनके जीवन-वृत्तात मे अन्य हरिदासो की कतिपय बातें भी स्वत समिश्रित हो जाने की सभवाना हो सकती है। ऐसा और भी अनेक प्राचीन तथा मध्य कालीन महापुरुषो के जीवन-वृत्तातो के साथ हुआ है। हरिदास, कृष्णदास, रामदास, सूरदास आदि नाम भक्त जनो को अधिक प्रिय रहे है, अत उक्त नामो के अनेक भक्त जन समय-समय पर होते रहे है, और उनके जीवन-वृत्तात भी आपस मे मिलते रहे है।

स्वामी हरिदास जी सबधी दोनो प्रचलित मान्यताओ की पुष्टि और उनके आधारभूत ग्रथो की अनुपलब्धि के साथ ही साथ कई हरिदासो के जीवन-वृत्तातो के मेल-जोल ने उनकी प्रामाणिक जीवनी के प्रश्न को बड़ा जटिल बना दिया है। ऐसी दशा मे किसी एक मान्यता को सर्वथा प्रामाणिक मान कर स्वीकार करना, और दूसरी को एकदम अप्रामाणिक कह कर अस्वीकार कर देना किसी भी तटस्थ विचारक के लिए कदापि उचित नही है। अच्छा यह होगा कि जो विवाद-रहित बाते है, उन्हे स्वीकार किया जावे और विवादग्रस्त बातो के सबध मे अनुसधान पूर्वक निर्णय किया जावे।

स्वामी हरिदास जी से सबधित दो शोध-प्रबध प्रस्तुत हुए है। एक है, 'स्वामी हरिदास जी का सप्रदाय और उसका वाणी साहित्य', तथा दूसरा है, 'कृष्ण-भक्ति काव्य मे सखी भाव।' इनके कर्त्ता क्रमश डा० गोपालदत्त शर्मा और डा० शरणबिहारी गोस्वामी है। इन प्रबधो मे स्वामी जी के सप्रदाय, साहित्य और उनकी उपासना-पद्धति पर बड़े सुलझे ढग से प्रकाश डाला गया है। जहाँ तक स्वामी जी के जीवन-वृत्तात का सबध है, दोनो शोधक विद्वानो ने पूर्वोक्त प्रचलित मान्यताओ मे से प्राय एक-एक के प्रति ही अपना आग्रह प्रकट किया है। इससे कई समस्याएँ उलझी रह गई है। फिर भी उनके अनुसधान से कुछ ऐसे तथ्य प्रकाश मे आये है, जो उक्त जटिल समस्याओ के समाधान के मार्ग को प्रशस्त करते है। हम उन पर विचार करते हुए स्वामी जी के जीवन-वृत्तात की कुछ समस्याओ का उल्लेख करेंगे।

उपस्थिति-काल—स्वामी हरिदास जी के उपस्थिति-काल के सबध मे विभिन्न मत मिलते है[1]। इनमे से विरक्त शिष्य-परपरा के श्री किशोरदास जी का मत सर्वाधिक प्रसिद्ध है, और उपलब्ध उल्लेखो मे यही सबसे पुराना है, यद्यपि यह स्वामी जी के प्राय ढाईसौ वर्ष बाद का है। इसी परपरा के श्री सहचरिशरण जी ने भी बाद मे किशोरदास जी के मत का समर्थन किया है। उन दोनो विरक्त सतो ने स्वामी जी का उपस्थिति-काल स १५३७ से स १६३२ तक का माना है। उनके मतानुसार स्वामी जी का जन्म स १५३७ की भाद्रपद शु ८ बुधवार को हुआ था। वे २५ वर्ष की आयु तक अपने घर पर रहे थे और उसके उपरात वे विरक्त होकर स १५६२ मे वृदावन आ गये थे। उन्होने वहाँ के निधुवन मे स. १५६७ की मार्गशीर्ष शु ५ को श्री बिहारी जी का प्राकट्य किया था। वे ७० वर्ष तक वृदावन मे रहे थे और उनका देहावसान वहाँ ९५ वर्ष की आयु मे स १६३२ की आश्विन शु १५ को हुआ था[2]। इस प्रकार का तिथि-सवत् सहित विशद

(१) कृष्ण-भक्ति काव्य मे सखी भाव, पृष्ठ ४३६

(२) 'निज मत सिद्धात' का मध्य खड तथा 'गुरु-प्रणालिका' और आचार्योत्सव-सूचना'

वर्णन सर्वश्री किशोरदास और सहचरिशरण ने किस आधार पर किया, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है। ऐसा अनुमान होता है, उनके मत का आधार परंपरा से प्रचलित अनुश्रुतियाँ होंगी। वे अनुश्रुतियाँ वस्तु-स्थिति के कहाँ तक अनुकूल थीं, और स्वामी जी के ढाईसौ वर्ष पश्चात् उनके आधार पर लिखा हुआ मत कहाँ तक प्रामाणिक है, इसके संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता है।

उक्त मत के विरुद्ध गोस्वामी-परंपरा में स्वामी जी से संबंधित जो मान्यता है, उसका समर्थन करते हुए श्री सुदर्शनसिंह 'चक्र' ने लिखा है कि 'मिराते सिकंदरी व मिराते अकबरी' नामक फारसी ग्रंथ के अनुसार स्वामी जी का जन्म सं. १५६९ की पौष शु. १३ भृगुवार को हुआ था। उनके लेखानुसार उक्त ग्रंथ का कुछ भाग सं. १५२६ में लिखा गया और शेष भाग सम्राट अकबर के समय में पूरा हुआ था[1]। इस प्रकार स्वामी जी के जन्म-काल का यह अत्यंत प्राचीन और समकालीन प्रमाण माना जा सकता है। किंतु आज तक किसी ने यह नहीं बतलाया कि उन्होंने उक्त ग्रंथ स्वयं देखा है, और उसमें उन्हें स्वामी जी के जन्म-काल का वह उल्लेख मिला है। ऐसा मालूम होता है, चक्र जी ने किसी से सुन कर ही उसे लिखा है। ऐसी दशा में उसे प्रामाणिक मानने के लिए उसका समर्थन अन्य सूत्रों से होना आवश्यक है।

मदिर–देवालय और सर्व साधारण के आवास–गृह तो बहुत बाद मे बनाये गये थे। श्री हित हरिवश जी से पहिले पुष्टिमार्गीय भक्त जन सर्वश्री कुम्भनदास, कृष्णदास, परमानन्ददास ब्रज मे आये थे, किंतु उन्होने गोवर्धन मे निवास किया था। कुम्भनदास तो वहाँ पैदा ही हुए थे। वृंदावन के बसने से पहिले गोवर्धन ही भक्त जनो के आकर्षण का केन्द्र था। पुष्टिमार्गीय भक्त महानुभावों के बाद मे, किंतु हित हरिवश जी से पहिले गौडीय गोस्वामी सर्वश्री सनातन, रूपादि वृंदावन मे निवास करने के लिए आये थे। किंतु वे भी पहिले मथुरा, गोकुल, राधाकुंड आदि स्थानो मे रहे थे; बाद मे उन्होने वृंदावन मे निवास किया था। ऐसी स्थिति मे स्वामी हरिदास का इन सभी भक्त जनो के पहिले स १५६२ मे ही वृंदावन मे स्थायी रूप से निवास करने की बात असगत सी मालूम होती है।

स्वामी जी सर्वस्व त्यागी विरक्त सत थे। सभव है, वे उस काल मे भी बीहड वृंदावन के किसी निर्जन स्थल मे एकाकी उपासना और सगीत–साधना करते रहे हो। किंतु श्री बिहारी जी की सेवा के लिए तो परिकर की आवश्यकता थी, जिसके लिए समुचित सुविधा तत्कालीन वृंदावन मे नही थी। फिर वह काल सिकदर लोदी की मजहबी तानाशाही का था, जिसके कारण ब्रज मे मूर्ति–पूजा करना असभव सा हो गया था। गोवर्धन मे उस काल मे श्रीनाथ जी की सेवा अवश्य प्रचलित हुई थी, किंतु राजकीय उत्पीडन के कारण उस देव स्वरूप को प्राय 'टोड का घना' और गाठोली जैसे निर्जन वनो मे छिपाना पडता था। सिकदर लोदी की मृत्यु के पश्चात् स १५७६ मे ही श्रीनाथ जी को निरापद रूप से गिरिराज के मदिर मे विराजमान किया जा सका था। वृंदावन मे सबसे पहिले श्री हित हरिवश जी ने स १५९१ मे श्री राधावल्लभ जी की सेवा प्रचलित की थी। उसके पश्चात् सर्वश्री सनातन–रूप गोस्वामियो द्वारा स १५९१–९२ मे श्री मदनमोहन जी और श्री गोविंददेव जी की सेवा प्रचलित हुई थी। श्री गोपाल भट्ट गोस्वामी और श्री जीव गोस्वामी ने स १५९९ मे क्रमश श्री राधारमण जी और श्री राधादामोदर जी की सेवा का प्रचलन किया था। यह सब ठाकुर–सेवा वृंदावन मे स १५९० के पश्चात् ही सभव हुई थी। ऐसी स्थिति मे स्वामी हरिदास जी द्वारा स १५६७ मे ही श्री बिहारी जी के प्राकट्य होने की बात सदेहास्पद है।

इस सदेह का निवारण तब हो सकता है, जब स्वामी जी का वृंदावन–आगमन काल स १५९० के पश्चात् का माना जावे। यह तब सभव है, जब या तो २५ की बजाय ५५ वर्ष की आयु मे स्वामी जी का वृंदावन आगमन माना जावे, या गोस्वामी–परपरा के अनुसार उनका जन्म-सवत् १५६९ माना जावे। ऐतिहासिक घटनाओ की सगति से स्वामी जी के जन्म और वृंदावन–आगमन के स १५६९ और स १५९४ ठीक बैठते हैं, किंतु ९५ वर्ष की आयु मे उनका देहावसान मानना तब सभव नही होगा, क्यो कि स १६६४ तक उनके जीवित रहने का प्रमाण किसी भी सूत्र से प्राप्त नही होता है। वे निश्चय ही उससे बहुत पहिले ही इस धरा–धाम को छोड चुके थे।

हम गोस्वामी–परपरा मे मान्य मत के पूर्णतया समर्थक नही हैं, फिर भी हमें स्वामी जी के जन्म, वृंदावन–आगमन और श्री बिहारी जी के प्राकट्य काल के क्रमश सवत् १५६९, १५९४ और १६०० ही उचित ज्ञात होते है। यदि 'मिराते सिकदरी व मिराते अकबरी' ग्रंथ का तत्सबधी उल्लेख उपलब्ध हो जाता है, तब तो उक्त सवतो की पुष्टि हो ही जावेगी, किंतु यदि वह ग्रंथ अथवा उसके समर्थन मे कोई अन्य प्राचीन प्रमाण प्राप्त नही होता, तब भी ऐतिहासिक घटनाओ की सगति से वे सवत् ही ठीक माने जावेगे। जहाँ तक स्वामी जी के देहावसान–काल का सबध है, वह श्री किशोरदास जी द्वारा उल्लिखित स. १६३७ ही ठीक बैठता है।

स्वामी हरिदास जी

वंश-परंपरा और जाति—स्वामी जी ने न तो स्वय अपनी वश-परपरा एव जाति के सबध मे कुछ बतलाया है, और न उनके समकालीन किसी व्यक्ति ने ही इस सबध मे स्पष्ट रूप से कुछ लिखा है। उनके समकालीन श्री हरिराम जी व्यास ने 'आसू कौ', सर्वश्री बिहारिनदास जी ने 'आसधीर कौ' तथा नाभा जी ने 'आसुधीर–उद्योतकर' शब्दो द्वारा श्री आशुधीर जी से स्वामी हरिदास का घनिष्ट सबध बतलाया है[1]। यह सबध किस प्रकार का था,—पिता–पुत्र का, गुरु-शिष्य का, अथवा दोनो तरह का,—यह स्पष्टतया ज्ञात नही होता है। जिन उल्लेखो मे इस सबध का स्पष्ट कथन है, वे सब प्राय १९ वी शती अथवा उसके बाद के है,—अर्थात् स्वामी जी से कम से कम दो शताब्दी बाद के। फलत उन्हे निर्भ्रांत नही माना जा सकता। ऐसी स्थिति मे आशुधीर जी स्वामी जी के पिता थे या गुरु, अथवा दोनो थे, इसे सप्रमाण बतलाना सभव नही है।

डा० गोपालदत्त शर्मा ने मथुरा के तन्नू चौबे के पुत्र चीते चौबे की एक सनद के लेख को उद्धृत करते हुए लिखा है,—"चौबे जादो तिनके बेटा चिंतामन लालमन तिन पै हमारे बडेन को लिख्यो निकस्यो स. १६०५ (१६०८) कौ स्वामी आसधीर जी के पुत्र स्वामी हरिदास जी, स्वामी जगन्नाथ जी, स्वामी गोविंददास जी इनके हाथ कौ देखि कै अब हमन यह नयो कागद लिषि दीनो। वह कागद पुरानौ जीरन होइ गयौ हो याते अब नयो लिषि दीनो कि हमारे प्रोहित मौजी · हणी य इनकूं जो हमारौ होय सो माने जाइ। स १८६३ मिति भादौ सुदी रोज दपपत गुलाब के सुवन के कहै लिष्यौ सुभमस्तु[2]।"

इस पर डा० शरणबिहारी गोस्वामी का कथन है,—"इस सनद पर जिन गोस्वामियो के हस्ताक्षर है, उनमे से कई के हस्ताक्षर अन्य प्राचीन सनदो मे भी मिलते है, और वे समान है। यह एक प्रामाणिक साक्ष्य है, जो स. १६०५ या १६०८ मे स्वामी आसधीर जी, स्वामी हरिदास जी आदि के हाथ का कागज था, उसी को देख कर अगली पीढी ने उसे नवीन किया। इसी प्रकार का एक लेख स १६२४ का उज्जैन के पडे के यहाँ है।" डा० गोस्वामी ने उक्त लेख का फोटो भी अपने शोध–प्रबध मे छपवाया है[3]।

यदि उक्त सनद और लेख को प्रामाणिक माना जावे, तब श्री आशुधीर जी स्वामी जी के पिता सिद्ध होते है। श्री गगाधर जी को स्वामी जी का पिता बतलाने वाला कोई भी उल्लेख श्री किशोरदास से पहिले का उपलब्ध नही हुआ है। स्वामी जी की जन्म–बधाई का गायन गोस्वामी-परपरा और विरक्त शिष्य–परपरा दोनो के देवस्थानो मे होता है। इनमे से पहली परपरा की बधाइयो मे श्री आशुधीर जी का नामोल्लेख मिलता है; किंतु दूसरी परपरा की बधाइयो मे कदाचित श्री गगाधर जी के नाम का उल्लेख नही होता है।

आशुधीर जी से पहिले की परपरा बतलाने वाली जो नामावलियाँ दोनो मान्यताओ मे प्रचलित है, उनका कोई विश्वसनीय आधार नही है। इस प्रकार स्वामी जी के पूर्वजो के प्रामाणिक

---

(१) १. आसू कौ हरिदास रसिक, हरिवश न मोहि बिसारौ। (व्यास–वाणी)
२. गुरुनि कौ गुरु, श्री हरिदास आसधीर कौ। (श्री बिहारिनदास के सिद्धांत के पद, स १)
३. आसुधीर–उद्योतकर, रसिक छाप हरिदास की। (भक्तमाल, छप्पय स ९१)

(२) स्वामी हरिदास जी का संप्रदाय और उसका वाणी साहित्य, पृष्ठ ७३

(३) कृष्ण–भक्ति काव्य मे सखी भाव, पृष्ठ ४१८ और पृष्ठ ४३७

नाम वतलाना सभव नही है । जहाँ तक वशजो का सवध है, स्वामी जी का कोई निजी वश नही चला, क्यो कि वे विरक्त और निस्सतान थे । यदि विरक्त होने से पहिले उनकी कोई सतान हुई हो, तो उसकी वश-परपरा समाप्त हुई जान पडती है। इस समय श्री विहारीजी के मंदिर के जो गोस्वामी गण स्वामी जी के वशज होने का दावा करते है, वे जगन्नाथ जी की वश-परपरा मे है । स्वामी जी के विरक्त शिष्यो की परपरा मे जगन्नाथ जी को श्री विहारी जी का पुजारी माना गया है, जब कि गोस्वामी परपरा मे उन्हे पुजारी के साथ ही साथ स्वामी जी का छोटा भाई भी माना जाता है । मथुरा के तन्नू-चीते चौवे की जिस सनद का पहिले उल्लेख किया गया है, उसमे स्वामी जी के दो भाई जगन्नाथ जी और गोविददास जी का नामोल्लेख है । यदि उस सनद को प्रामाणिक माना जा सके, तव जगन्नाथ जी को स्वामी जी का छोटा भाई और उस नाते श्री विहारी जी के गोस्वामियो को स्वामी जी का वशज भी माना जा सकता है ।

यदि सर्वश्री आशुधीर जी और जगन्नाथ जी स्वामी जी के क्रमश पिता और छोटे भाई सिद्ध हो जाते है, तव स्वामी जी की जाति भी सारस्वत मानी जायेगी, क्यो कि इन दोनो का सारस्वत ब्राह्मण होना निर्विवाद है । विरक्त शिष्य-परपरा मे स्वामी जी को सनाढ्य ब्राह्मण माना जाता है । यह मत इसलिए भी अमान्य हो सकता है कि स्वामी जी जैसे विख्यात महापुरुष को अपना पूर्वज वतला कर गौरवान्वित होने वाला कोई सनाढ्य परिवार अभी तक प्रकाश में नहीं आया है; जव कि श्री विहारी जी के गोस्वामी सारस्वत ब्राह्मणो के अनेक परिवार प्रचुर काल से अपने को उनका वशज वतलाते रहे है ।

जन्म-स्थान—स्वामी जी के जन्म-स्थान के रूप मे विरक्त शिष्य-परपरा के अनुसार राजपुर, और गृहस्थ गोस्वामी-परपरा के अनुसार हरिदासपुर का नाम लिया जाता है । राजपुर वृ दावन के समीप का एक छोटा सा गाँव है, जहाँ न तो स्वामी जी के जन्म-स्थान होने की कोई अनुश्रुति प्रचलित है, और न उनका कोई स्मृति-चिह्न ही है । हरिदासपुर अलीगढ़ के निकट का एक गांव है, जिसे पहिले कोल कहा जाता था । श्री आशुधीर जी को वहाँ का निवासी वतलाया गया है । वहाँ स्वामी जी के जन्म लेने और उनके नाम पर उक्त गाँव को हरिदासपुर कहे जाने की अनुश्रुति प्रचलित है । ऐसी स्थिति मे राजपुर की अपेक्षा हरिदासपुर को ही स्वामी जी का जन्म-स्थान मानना उचित है ।

पैतृक संप्रदाय—स्वामी जी के पैतृक सप्रदाय के सवध मे दो मत प्रचलित है, और इन्ही पर उनके अनुयायियो के दोनो वर्गों की मान्यताओ मे विशेष वल दिया गया है । इसी प्रश्न को लेकर उक्त दोनो वर्गो मे सर्वाधिक मतभेद और विवाद है । इस जटिल विवाद का निर्णय श्री आशुधीर जी के सप्रदाय के आधार पर करने की चेष्टा की गई है । इस सवध मे विरक्त शिष्यो की मान्यता है कि आशुधीर जी परपरा से निंवार्क सप्रदाय के अनुयायी थे । उन्ही से स्वामी जी ने निंवार्क सप्रदाय की दीक्षा प्राप्त की थी और वे सदैव इसी सप्रदाय के अनुयायी रहे थे । गोस्वामी वर्ग की मान्यता है कि आशुधीर जी और स्वामी जी विष्णुस्वामी सप्रदाय से सवधित रहे थे ।

विरक्त शिष्यो की मान्यता के समर्थन मे श्री निंवार्काचार्य जी से लेकर श्री आशुधीर जी तक की क्रमवद्ध गुरु-परपरा प्रस्तुत की गई है । इसमे श्री निंवार्काचार्य जी की शिष्य-परपरा की १३ वीं पीढी मे श्री देवाचार्य जी का नामोल्लेख हुआ है । उक्त देवाचार्य जी के दो शिष्य वतलाये गये है,—१ श्री सुदर भट्ट जी और २ श्री व्रजभूषण जी । सुदर भट्ट जी की शिष्य-परपरा की

१६वी पीढ़ी मे श्री हरिव्यास देव जी हुए, जिनका शिष्य-समुदाय निंबार्क सप्रदाय के अतर्गत 'हरिव्यासी' कहलाया। ब्रजभूषण जी की शिष्य-परपरा की ४६वी पीढी मे श्री आशुधीर जी हुए, जिनके शिष्य स्वामी हरिदास जी थे[१]। श्री निंबार्काचार्य जी से लेकर आशुधीर जी तक की लबी शिष्य-परपरा हमारे मतानुसार सदिग्ध है। फिर भी श्री आशुधीर जी के निंबार्कीय होने मे सदेह की कम गुजायश है।

गोस्वामियो की मान्यता के समर्थन मे अभी तक कोई भी ऐसा प्रमाण प्रस्तुत नही किया गया है, जो प्राचीन और विश्वसनीय हो। स्वामी हरिदास जी के तथाकथित भ्राता श्री जगन्नाथ के प्रपौत्र श्री कृष्णराय जी के समय की एक गुरु-परपरा श्री रामदेव जी द्वारा स १६८० मे निर्मित बतलाई जाती है। कहते है, उसमे श्री विष्णुस्वामी से लेकर श्री कृष्णराय तक के आचार्यो का नामोल्लेख हुआ है[२]। वह 'गुरु-परपरा' अभी तक प्रकाश मे नही आई है, और न उसकी प्रामाणिकता के सबध मे ही कुछ बतलाया गया है। ब्रज के वैष्णव सप्रदायो मे कई गुरु-परपराएँ ऐसी प्रचलित है, जिनका कोई प्राचीन आधार नही है और जो बाद मे साप्रदायिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए कल्पित कर ली गई हैं। सभवत वह तथाकथित 'गुरु-परपरा' भी उसी कोटि की है। डा० शरणबिहारी गोस्वामी ने अपने शोध-प्रबध के परिशिष्ट मे विविध सप्रदायो की गुरु-परपराएँ दी है। उन्होने हरिदास सप्रदाय की गुरु-परपरा विष्णुस्वामी से आरभ न कर आशुधीर जी से की है[3]। वे पूर्वोक्त गुरु-परपरा की प्रामाणिकता के पक्ष मे नही मालूम होते, क्यो कि उन्होने स्पष्टतया स्वीकार किया है,—'आशुधीर जी या स्वामी जी के पूर्ववर्ती सप्रदाय के संबध मे जानने के लिए कोई बहुत स्पष्ट सामग्री हमारे पास नही है[४]।' नाभा जी के एक छप्पय मे विष्णुस्वामी सप्रदाय के भक्त जन सर्वश्री ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन और वल्लभ के नामो के साथ 'आचारज हरिदास' का उल्लेख हुआ है[५]। उसे डा० गोस्वामी ने 'स्वामी हरिदास जी के लिए भी सकेत' मानते हुए लिखा है,—'सभव है कि उनका सबध विष्णुस्वामी की किसी उच्छिन्न परपरा से रहा हो।' उन्होने श्री बिहारिनदास जी की एक साखी को देकर उसमे आये हुए 'शिव' शब्द से विष्णुस्वामी के रुद्र सप्रदाय का साक्ष्य समझ कर अपना मत व्यक्त किया है,—'सभव है, आशुधीर जी या स्वामी जी पहिले विष्णुस्वामी सप्रदाय से सबधित हो[६]।

डा० गोस्वामी के उक्त कथन से ज्ञात होता है कि आशुधीर जी और स्वामी जी को विष्णु स्वामी सप्रदाय का सिद्ध करने के लिए कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नही है। किसी 'सकेत' या 'सभावना' से इस विवादग्रस्त समस्या का समाधान नही किया जा सकता है।

---

(१) १ निंबार्क सप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ ३६-४०
२. कृष्ण-भक्ति काव्य मे सखी भाव, पृष्ठ ७५७-७६२
(२) श्री स्वामी हरिदास अभिनंदन ग्रथ, पृष्ठ ११५
(३) कृष्ण भक्ति काव्य मे सखी भाव, पृष्ठ ७५६
(४) वही ,, ,, , पृष्ठ ४३५
(५) भक्तमाल, छप्पय स. ४८
(६) कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव, पृष्ठ ४३६

लिखते रहे हैं, जो माधुर्योपासक निम्बार्कीय थे; और स्वामी हरिदास जी को भी उनकी बाल्यावस्था में सभवत इसी सम्प्रदाय की दीक्षा दी गई थी। किंतु बाद में [illegible] वृन्दावन आ गये; तब सम्प्रदायवाद से ऊपर उठ गये थे। उन्होंने 'नित्य [illegible]' और '[illegible]' की जो रसोपासना प्रचलित की थी, वह किसी भी पूर्ववर्ती सम्प्रदाय से सम्बद्ध न होकर स्वतंत्र थी। उसे सम्प्रदाय निरपेक्ष भी कहा जा सकता है। डा० शरणबिहारी [illegible] यद्यपि गोस्वामी-मान्यता के समर्थक हैं, तथापि उन्होंने स्वामी जी के सम्प्रदाय को निम्बार्कीय से सम्बद्ध न मान कर अपने ग्रंथ में 'पृथक् स्थान' बतलाया है[1]।

स्वामी जी के रहन-सहन, आचार-विचार, वाणी-साहित्य और उनके प्रामाणिक चित्रों से निश्चित उनकी आकृति एव वेष-भूषा से भी उनका किसी सम्प्रदाय विशेष से सबद्ध होना सिद्ध नहीं होता है। उनके किसी चित्र में निम्बार्कीय और किसी में विष्णुस्वामी सम्प्रदाय का तिलक मिलता है; जिनसे उक्त सप्रदायो के कतिपय अनुयायियो ने स्वामी जी को अपने-अपने सम्प्रदायों से सबधित बतलाया है। स्वामी जी के चित्रो में ये तिलक उस काल में निर्मित किये हुए ज्ञात पडते हैं, जब उनके अनुयायियो मे साप्रदायिक मतभेद ने उग्र रूप धारण कर लिया था। हमारा अनुमान है, स्वामी जी के मूल चित्रो मे किसी प्रकार का तिलक नहीं होगा।

तानसेन का शिष्यत्व—स्वामी जी के जीवन-वृत्तान्त की अनेक अनुश्रुतियों में तानसेन के शिष्यत्व की बात बहुत प्रसिद्ध है; किंतु उसकी प्रामाणिकता सदिग्ध है। तानसेन के कई पदो मे उनके आश्रयदाता राजा रामचद्र और सम्राट अकबर का नामोल्लेख हुआ है, किंतु स्वामी जी को उसका सगीत-गुरु सिद्ध करने वाला कोई प्रामाणिक ध्रुपद उपलब्ध नहीं है[2]। इस बात का ऐसा कोई लिखित प्रमाण प्राप्त नही है, जिससे इस अनुश्रुति की सत्यता सिद्ध की जा सके। स्वामी जी सर्वस्व त्यागी विरक्त भक्त थे। उनके लिए सगीत साध्य नहीं, वरन् उपासना का साधन मात्र था, जब कि तानसेन एक सगीतजीवी दरबारी गायक था। ऐसी दशा में स्वामी जी ने उसे शिष्य किया हो, यह सभव ज्ञात नहीं होता है। हरिदासी सम्प्रदाय मे गुरु-शिष्य का जो अर्थ होता है, उसके कारण भी तानसेन को स्वामी जी का शिष्य मानना सभव नही है। स्वामी जी के सम्प्रदाय में एक मात्र श्री विहारी जी ही उपास्य माने जाते है, जब कि तानसेन की रचनाओ मे विविध देवी-देवताओ और पीर-पैगबरो की स्तुतियाँ मिलती हैं। उनमे न तो स्वामी जी की वाणी का प्रभाव दिखाई देता है और न उनकी उपासना-भक्ति की झलक ही मिलती है। इस स्थिति में तानसेन को स्वामी जी का शिष्य बतलाना अप्रामाणिक माना जा सकता है। फिर भी यह किंवदती वैष्णव सप्रदायो और सगीत मडलियो मे इतनी अधिक प्रसिद्ध है कि इसे एक दम कपोल कल्पित भी नही कहा जा सकता है।

---

(१) कृष्ण भक्ति काव्य मे सखी भाव, पृष्ठ ४३६

(२) गायको की मडली मे ऐसे दो-एक ध्रुपद प्रचलित हैं, जिनमे तानसेन द्वारा किसी हरिदास को अपना गुरु स्वीकार किया गया है, किंतु उनकी अटपटी शब्द-योजना के कारण उन्हे प्रामाणिक नही माना जा सकता है।

—देखिये, लेखक कृत 'स्वामी हरिदास जी', पृष्ठ २७

अकबर–हरिदास भेंट

नही है। ब्रज के लोक-जीवन मे और स्वामी हरिदास जी के सप्रदाय मे इस घटना की बहुत पुराने समय से प्रसिद्धि चली आ रही है, अत समकालीन ऐतिहासिक प्रमाण न मिलने पर भी इसकी प्रामाणिकता मे सदेह करना ठीक नही है।

इस महत्वपूर्ण घटना के यथार्थ काल का निश्चय नही होता है, किंतु सामयिक घटनाओं की सगति से उसका अनुमान किया जा सकता है। तानसेन स. १६१६–२० मे अकबरी दरबार मे गया था। सम्राट अकबर स. १६३२ तक सत-महात्माओ से अधिक मिला करते थे। इस प्रकार इस घटना का काल स. १६२० से १६३२ के बीच का ही हो सकता है।

वार्ता साहित्य से ज्ञात होता है, तानसेन से सूरदास का एक पद सुन कर सम्राट अकबर महात्मा सूरदास से मिले थे, और उनके गायन से बहुत प्रभावित हुए थे[1]। अकबर-सूरदास भेंट का भी निश्चित काल ज्ञात नही होता, किंतु हमने सिद्ध किया है कि इस भेंट स. १६२३ मे मथुरा मे हुई थी[2]। स. १६२३ मे सम्राट अकबर का मथुरा-वृदावन आना भी प्रमाणित है, अत यह सर्वथा सभव है कि इसी समय वे स्वामी हरिदास जी से भी वृदावन मे मिले हो। श्री ग्राउस ने इस घटना का काल स. १६३० अनुमानित किया है[3], और 'मथुरा गजेटियर' मे इसे स. १६२७ लिखा गया है[4]।

पद–रचना—स्वामी जी रससिद्ध भक्त-कवि थे। उन्होंने शृगार-भक्ति के सरस पदो की रचना की है, जो सगीत की ध्रुपद शैली मे गायन करने योग्य है। उनके प्रामाणिक पद १२८ माने जाते है। इनमे से १८ 'सिद्धात के पद' और १०८ या ११० 'केलिमाल' के नाम से प्रसिद्ध है। सिद्धात के पदो मे किसी विशिष्ट दार्शनिक मत के निरूपण का प्रयास नही किया गया है, वरन् उनमे ज्ञान, वैराग्य और भक्ति की सामान्य बातो का कथन हुआ है। 'केलिमाल' मे स्वामी जी के उपास्य श्री श्यामा-कुजविहारी के 'नित्य विहार' का शृगार-भक्तिपूर्ण सरस वर्णन है। इन रचनाओ के अतिरिक्त उनके नाम से कुछ पद और भी मिलते है, किंतु उनकी प्रामाणिकता सदिग्ध है।

स्वामी जी रचनाओ मे 'केलिमाल' का प्रचार बहुत कम रहा है, क्यो कि इसे अनधिकारी व्यक्तियो से बचाने के लिए सदैव अप्रकाशित रखने का प्रयत्न किया गया है। उनके 'सिद्धात के पद' अपेक्षा कृत अधिक प्रचलित रहे है, और वही हिंदी के साहित्यकारो को प्राय उपलब्ध हुए है। इनकी भाषा विषय के अनुरूप कुछ 'माथुरकटी' है, जिसके कारण ये पद कतिपय साहित्यकारो को 'ऊबड-खाबड' ज्ञात होते है। किंतु 'केलिमाल' के सबध मे यह बात नही है। स्वामी जी की समस्त रचना के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसे 'ऊबड-खाबड' बतला कर वास्तव मे उनके साथ न्याय नही किया गया है। स्वामी जी की प्रामाणिक रचनाएँ विशेषतया 'केलिमाल' के पद, न तो 'ऊबड-खाबड' है, और न उनमे मधुरता एव कोमलता की कमी है। फिर भी उनकी समस्त वचनावली मे एक प्रकार का बाकापन है, जो अन्य भक्त कवियो से उन्हे विशिष्टता प्रदान करता है। यह विशिष्टता उनके व्यक्तित्व मे भी है, उनके सगीत मे भी है, और सबसे अधिक उनकी भक्ति तथा उपासना मे है।

---

(१) अष्टसखान की वार्ता, पृष्ठ ११५

(२) लेखक कृत 'अष्टछाप परिचय', पृष्ठ १२८, १३६, और 'सूर निर्णय', पृष्ठ ६१

(३) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर (तृतीय सस्करण)

(४) गजेटियर आफ मथुरा, पृष्ठ १२१

'केलिमाल' मे स्वामी जी कृत अनेक उत्कृष्ट ध्रुपद पद मिलते है। इनमे भाव-सौंदर्य के साथ ही साथ भाषा की कोमलता और मधुरता भी है। दिव्य शृ गार रस से तो ये ओतप्रोत है। इनमे सर्वत्र स्वाभाविकता है,—कृत्रिमता और बनावट तो ढूँढने पर भी इनमे नही मिलती है। इन्हे पढने पर ऐसा जान पडता है कि उनकी रचना स्वामी जी ने स्वानुभूति से की है। अपने उपास्य स्वरूप का दिन-रात चिंतन और ध्यान करते हुए वे रसमग्न हो जाते थे, तब उन्हे श्री श्यामा-कुजविहारी की लीलाओ का जो अनुभव होता था, उसी का गायन उन्होने 'केलिमाल' के ध्रुपदो द्वारा किया है।

'केलिमाल' मे श्यामा-श्याम की नाना प्रकार की केलि-क्रीडाओ का कथन होने से इसके नाम की सार्थकता स्वय सिद्ध है। इसमे स्वामी जी ने अपने उपास्य युगल स्वरूप के दिव्य शृ गार का ऐसा रसपूर्ण वर्णन किया हे कि वह सहृदय रसिक जनो को दिव्यानद प्रदान करने मे अनुपम है। इसके पदो की महत्ता और दिव्य मादकता का कथन करते हुए किसी कवि ने कहा है,—

महा मही रस के फल, फलित भए कलपद्रुम, ऐसे श्री स्वामी हरिदास जू के पद हैं।
जिनमे न बकुल-बीज लीला औ महातम के, वर विहार माधुरी के सार को जो सद हे ।।
दपति आसक्तताई प्रगट करत छिन-छिन, नव रस सिंगार आदि कीने सब रद है।
पीवै जो रसिक तिन्हे और न सुहात कछु, दपति बस करिवे को मादक बिहद है ।।

स्वामी जी की पद-रचना का क्षेत्र अत्यत सीमित है। श्री श्यामा-कुजबिहारी के 'नित्य विहार' के उपासक होने के कारण उन्होने शृ गार रस का, और उसके भी केवल सयोग पक्ष का ही कथन किया है,—वियोग को उन्होने छूआ तक नही। सयोग या सभोग के भी उन्होने कुछ विशिष्ट अग ही लिये है। श्रीश्यामा-कुजबिहारी के युगल स्वरूप, उनकी आसक्ति, सुरति-निवेदन, मान-मनावन, केलि-क्रीडा, झूलन और नृत्य के रसपूर्ण कथन की ओर ही उनकी रुचि रही है। ऋतुओ मे उन्होने बसत और पावस को अधिक पसद किया है। डोल-झूलन और नृत्य के साथ गायन-वादन का वर्णन उनकी सगीत विषयक अभिरुचि का परिचायक है।

स्वामी जी के सप्रदाय मे उनकी समस्त रचना—सिद्धात के पद और केलिमाल को वडा महत्त्व दिया गया है। यह हरिदास सप्रदाय की सैद्धातिक 'वाणी' है, और इसके अनुयायियो मे इसे वेद-शास्त्र से भी अधिक प्रामाणिक माना जाता है।

रचनाओ की टीका—स्वामी जी की रचनाओ की कई टीकाएँ उपलब्ध है। 'सिद्धात के पद' की दो विशद टीकाएँ हैं, जिनके रचयिता सर्वश्री अमोलकराम जी और ललिताप्रसाद जी थे। दोनो टीकाएँ आधुनिक काल की है, किंतु शैली प्राचीन पद्धति के अनुसार व्याख्यात्मक है। ये दोनो टीकाएँ छप चुकी है। 'केलिमाल' की सबसे प्राचीन टीका श्री नागरीदास कृत है, जो विक्रम की १७ वी शती मे रची गई थी। इसे टीका तो क्या, भाष्य कहना उचित होगा। इसमे पदाभास और फल सहित समस्त पदो की शृ गार रस पूर्ण विवेचनात्मक व्याख्या की गई है। वीच-वीच मे अन्य महात्माओ के उद्धरणो से विवेचन को पुष्ट किया है। दूसरी टीका श्री पीतावरदास कृत १८वी शती की है। तीसरी टीका श्री ललितमोहिनीदास के कृपापात्र महत राधाशरण कृत 'वस्तुदर्शिनी' है, जो १९ वी शती मे निर्मित हुई थी। इन टीकाओ मे पदो के गूढ भावो की व्याख्या करने का जितना प्रयास किया गया है, उतना उनके सरल और सुबोध अर्थ करने का नही। इसमे साधारण पाठको के लिए ये कुछ दुर्बोध होने के कारण अधिक उपयोगी नही है। ये सभी टीकाएँ अभी तक अप्रकाशित है। इनके आधार पर सरल गद्य मे एक सुबोध टीका का प्रकाशित होना अत्यत आवश्यक है।

सगीत-साधना—स्वामी हरिदास जी महान् सगीत-शास्त्री और विद्वान गायनाचार्य थे। उनकी गणना ब्रज के सगीत की सुप्रसिद्ध ध्रुपद-धमार शैली के निर्माताओं और उन्नायकों में की जाती है। ध्रुपद की गायकी के आविष्कार और उसके सर्वाधिक प्रचार का श्रेय ग्वालियर के कलाप्रिय राजा मानसिंह तोमर को दिया जाता है। अबुलफजल कृत 'आईने अकबरी' और फकीरुल्ला कृत 'राग दर्पण' से ज्ञात होता है कि राजा मानसिंह ने अपने विद्वान गायकों की सहायता से ध्रुपद शैली का व्यापक प्रचार किया था। मानसिंह और उनके सहकारियों ने ध्रुपद का कलेवर तो खडा कर दिया था, किंतु वे भारतीय मान्यता के अनुसार उसमें प्राण-प्रतिष्ठा नहीं कर सके थे। शुद्ध भारतीय सगीत की आत्मा आस्तिकता पूर्ण धार्मिक भावना है, जिसके बिना वह निर्जीव और निष्प्राण है। स्वामी हरिदास जी ने अपनी भक्ति-साधना और रसोपासना से ध्रुपद की गायन शैली को नव जीवन प्रदान कर उसे प्राणवान बना दिया था।

भारतीय मान्यता के अनुसार सगीत कला का मूल उद्देश्य लौकिक लाभ अथवा मनोविनोद न होकर पारलौकिक उन्नति और ईश्वरोपासना है। मानसिंह तोमर के काल में ही ध्रुपद की गायकी राज-दरबारों के मनोरजन की वस्तु हो गई थी। सम्राट अकबर के काल में तो उसका वही रूप प्रधान बन गया था। उस समय अकबर के दरबार में जितने विख्यात सगीतज्ञ थे, और तानसेन उनका मुखिया था। उन सब ने ध्रुपद की गायकी के सामन्ती स्वरूप को पुष्ट करने के लिए, उसमें कुछ ऐसे विदेशी तत्वों का भी समावेश कर दिया था, जो भारतीय मान्यता के विरुद्ध थे। स्वामी हरिदास जी को सगीत का वह रूप पसद नहीं था। उन्होंने अपनी दीर्घकालीन साधना से उस काल के सगीत को सामती मनोविनोद के निम्न धरातल से उठा कर उसे उपासना के उच्च मच पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया था। उनकी चेष्टा उसे विदेशी तत्वों से परिष्कृत कर शुद्ध भारतीय स्वरूप प्रदान करने की थी। उसमें ब्रज के अन्य प्रसिद्ध सगीताचार्य एव विख्यात गायक—सर्वश्री गोविंदस्वामी, कुभनदास, सूरदास, परमानददास आदि भी सहायक हुए थे।

ब्रज के वे भक्त-गायक अपनी सगीतज्ञता और गायन-कुशलता में अकबरी दरबार के सगीतज्ञों से किसी प्रकार कम नहीं थे। सम्राट अकबर ने उन्हें अपने दरबार में लाने की अनेक चेष्टाएँ की, नाना प्रकार के प्रलोभन दिये, किंतु वे त्यागी महात्मा राज-दरबार की छाया से भी दूर भागते थे। यदि वे चाहते तो सम्राट अकबर उनके लिए अपार सपत्ति और सासारिक सुख-सुविधा के समस्त साधन सुलभ कर सकते थे, किंतु वे तो किसी राजा-महाराजा का मुख तक नहीं देखना चाहते थे। वे रूखी-सूखी खाकर अपने इष्टदेव की भक्ति में ही तल्लीन रहना अपना कर्त्तव्य समझते थे। उनके सगीत का रसास्वादन कोई लौकिक पुरुष, चाहे वह सम्राट ही क्यों न हो, नहीं कर सकता था। वे निर्गुणिया सतों की भाँति जन-हित के लिए और कतिपय त्यागी भक्तों की भाँति स्वान्त सुख के लिए भी नहीं गाते थे। उनका गायन तो अपने इष्टदेव को रिझाने के लिए होता था, ताकि वे किसी प्रकार उसकी महती कृपा की तनिक सी कोर ही प्राप्त कर सके,—'नैक कृपा की कोर लहौं, तो उमँगि-उमँगि जस गाऊँ। नेह भरी नव नागरि के, रस-भावन को दुलराऊँ॥'

किंवदती के अनुसार अकबरी दरबार का सर्वश्रेष्ठ सगीतज्ञ तानसेन स्वामी हरिदास जी का शिष्य था, और उसी के द्वारा सम्राट अकबर स्वामी जी की ओर आकर्षित हुए थे। कहते हैं, जब शाहशाह अकबर अनेक चेष्टाएँ करने पर भी स्वामी हरिदास को अपने दरबार में गायन करने के लिए नहीं बुला सके, तब वे छद्म वेश में तानसेन के साथ स्वयं स्वामी जी के समक्ष उपस्थित हुए थे।

जीवन-घटनाओ की समीक्षा का निष्कर्ष और जीवनी की रूप-रेखा—स्वामी हरिदास जी का जन्म १६ वी शती के प्राय मध्य काल, सभवत स० १५६६ मे, हरिदासपुर नामक स्थान मे हुआ था। वे कदाचित् सारस्वत ब्राह्मण थे। उनके गुरु और सभवत पिता भी श्री आसु-धीर जी थे, जो निबार्क सप्रदाय के अनुयायी थे। उन्होने स्वामी जी को उनकी किशोरावस्था मे जिस सप्रदाय की दीक्षा दी थी, वह सभवत निबार्क सप्रदाय था। स्वामी जी आरभ से ही भक्ति मार्ग की ओर प्रवृत्त थे और वे घर-बार से प्राय उदासीन रहते थे। श्री आसुधीर जी की कृपा से उन्होने भक्ति-साधना का अच्छा अभ्यास कर लिया था, और वे विविध विद्याओ एव कलाओ मे, विशेषतया सगीत मे पारगत हो गये थे। अपनी धार्मिक प्रवृत्ति एव वैराग्य वृत्ति के कारण उन्हे घर मे रहना अरुचिकर ज्ञात होने लगा, और वे युवावस्था मे ही सब कुछ परित्याग कर विरक्त भाव से वृदावन आ गये थे। उन्होने वहाँ के निधुवन नामक स्थान एव समीपवर्ती स्थल मे प्रचुर काल तक निवास किया था। वहाँ रहते हुए उन्होने सगीत-साधना, प्रेमा भक्ति और रसोपासना मे अपना समस्त जीवन लगा दिया था। उनके सहयोगी भक्त महानुभावो मे सर्वश्री हित हरिवश जी, हरिराम व्यास जी और प्रबोधानद जी प्रमुख थे।

स्वामी जी रसोपासक और रसिकाचार्य होते हुए भी परम विरक्त थे। सेवा, कीर्तन और कथा के अतिरिक्त वे सासारिक सुख-सुविधा की किसी वस्तु का स्पर्श तक नही करते थे। वे अपने उपास्य श्रीश्यामा-कुजबिहारी के भोग के लिए नाना प्रकार के उत्तम व्यजनो की व्यवस्था करते, और फिर उन्हे वृदावन के मोर-बदर तथा मछली-मगरो आदि को खिला देते थे। आप स्वय कुछ चनो के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ को ग्रहण नही करते थे। उनके दर्शन के लिए अनेक धनी-मानी व्यक्ति आया करते थे, जो उनकी आज्ञानुसार सब प्रकार से सेवा करने को उत्सुक रहते थे, किंतु वे किसी से किसी प्रकार की याचना नही करते थे। वे निरतर प्रेम-मग्न हो कर श्रीश्यामा-कुज-बिहारी के 'नित्य विहार' की रसोपासना मे तल्लीन रहते थे। उनकी भक्ति वैराग्यमूलक थी। वे मानसी साधना मे सखी भाव की रसानुभूति करते हुए अपने आराध्य की नित्य निकुज-लीलाओ का दिव्य दर्शन किया करते थे।

वे रससिद्ध कवि, महान् सगीत-शास्त्री और विख्यात गायनाचार्य थे। उन्होने शृगार-भक्ति के गेय पदो की रचना की है, जिन्हे वे ध्रुपद की शैली मे बडे सुदर ढग से गाते थे। उनके वे ध्रुपद 'सिद्धात के पद' और 'केलिमाल' के नाम से सकलित मिलते है। स्वामी जी ब्रज के सगीत की सुप्रसिद्ध ध्रुपद-धमार शैली के प्रतिष्ठाताओ मे से थे। कहते है, उस काल के विख्यात सगीतज्ञ और अकबरी दरबार के सर्वश्रेष्ठ गायक तानसेन ने उनसे सगीत की शिक्षा प्राप्त की थी। तत्कालीन मुगल सम्राट अकबर उनके सगीत की ख्याति सुन कर स्वय निधुवन मे जा कर उनसे मिले थे और उनके अलौकिक गायन से बडे प्रभावित हुए थे। कुछ लोग ध्रुपद के एक अन्य गायक हरिदास डागुर को स्वामी जी से अभिन्न मानते है, किंतु वे दोनो भिन्न-भिन्न सगीताचार्य थे।

स्वामी हरिदास जी की प्रसिद्धि एक महान् संगीताचार्य और भक्त-कवि के रूप मे है। उन्होने ब्रज के सगीत और साहित्य को निश्चय ही अपनी विशिष्ट देन दी है। फिर भी उनका प्रमुख लक्ष्य सगीत और साहित्य नही था। उनके यशस्वी जीवन का परम उद्देश्य श्रीश्यामा-कुजबिहारी के 'नित्य विहार' की रसोपासना का प्रचार करना था, जिसे उन्होने सगीत और साहित्य के माध्यम से किया था। इस प्रकार अपनी उपासना और भक्ति को रसिकतापूर्ण कलात्मकता का कलेवर प्रदान

कर उन्होने रसिक भक्तो के लिए एक विशिष्ट भक्ति मार्ग का प्रकटीकरण किया था। स्वामी जी के भक्ति मार्ग मे उन्हे ललिता सखी का अवतार माना जाता है। स्वामी जी की उपासना सखी भाव की थी, और उनकी भक्ति वैराग्यमूलक माधुर्य भाव की। इस प्रकार उनकी उपासना और भक्ति मे चरम सीमा की रसिकता होते हुए भी वैराग्य की प्रधानता है। राग और विराग का यह अद्भुत समन्वय स्वामी जी के भक्ति मार्ग की विलक्षणता है। उनका 'नित्य विहार' तत्व इसीलिए अन्य वैष्णव सप्रदायो के 'भक्ति' तत्व से विलक्षण कहा गया है। स्वामी हरिदास जी के भक्ति मार्ग को 'हरिदास सप्रदाय' अथवा 'सखी सप्रदाय' कहा जाता है।

स्वामी जी मानसी साधना द्वारा अपने उपास्य श्री श्यामा-कुजविहारी जी की नित्यनिकुज-लीला का दिव्य दर्शन करते थे, अत उन्हे अपने लिए किसी देव-विग्रह की आवश्यकता नही थी। फिर भी उन्होने अपने अनुयायी रसिक भक्तो की सुविधा के लिए निधुवन के एक विशिष्ट स्थल से श्री विहारी जी के स्वरूप का प्राकट्य किया था। वे अपने अंतिम समय—१७ वी शती के प्राय मध्य काल तक निधुवन मे ही भक्ति-साधना करते रहे थे। उनका देहावसान भी उसी स्थल पर हुआ था, जहाँ उनकी समाधि बनी हुई है। वर्तमान काल मे निधुवन पहले जैसा रमणीक तो नही रहा, किंतु स्वामी जी का स्मृति-स्थल होने के कारण इसे वृदावन का एक विख्यात दर्शनीय स्थान माना जाता है।

स्वामी जी का व्यक्तित्व और महत्त्व—स्वामी हरिदास जी का व्यक्तित्व व्रज के अन्य धर्माचार्यो से विलक्षण और निराला था। वे परम रसिक भक्त होते हुए भी सर्वोच्च श्रेणी के विरक्त सत थे। इस प्रकार उनके व्यक्तित्व मे राग और विराग का अद्भुत समन्वय हुआ था। वे सर्वश्री निंबार्क, वल्लभ, चैतन्य एव गौडीय गोस्वामियो के सदृश विद्वान और हित हरिवश के समान परमोच्च कोटि के भक्त-कवि नही थे, किंतु उनकी उपासना-भक्ति, उनका तप-त्याग और प्रभाव किसी से कम नही था। उनकी एक विशेषता यह भी कि वे महान् सगीतशास्त्री और अपने काल के सर्वाधिक प्रसिद्ध रससिद्ध गायक थे। उनके चरित्र की उस रसिकता, विरक्ति और कलात्मकता के सगम से उनके व्यक्तित्व के साथ उनका उपासना मार्ग इतना आकर्षक हो गया था कि उस काल के अनेक राजा-महाराजा, सत-भक्त, कवि-कलाकार सभी उनकी ओर आकर्षित हुए थे। उनमे से बहुत से उनके अनुगत होकर अनन्य उपासक भी बन गये थे।

स्वामी जी के महान् व्यक्तित्व और उनके विशिष्ट उपासना मार्ग की छाप उनके समकालीन तथा परवर्ती भक्त महानुभावो पर इतनी गहरी लगी थी कि उन्होने मुक्त कठ से उनके महत्व का गुण-गान किया है। स्वामी जी के समकालीन और सहयोगी महात्मा हरिराम जी व्यास ने तो यहाँ तक कहा है कि उनसे समान रसिक पृथ्वी पर और आकाश मे न अब तक हुआ है, और न आगे ही होगा,—'ऐसौ रसिक भयो ना ह्वै है, भुवमडल आकास।'

व्यास जी के कथन का समर्थन करते हुए स्वामी जी की परपरा के विरक्त सतो ने भी उनके महत्व का गायन करते हुए कहा है,—

रसिकन के रस दैन को, प्रगटे रसिकानंद।
आगे भये न होंगे, अद्भुत आनँदकद ॥ (पीतावरदास)
व्यास रसिक रसिकन कहै, एक रसिक हरिदास।
दूजो रसिक न देखियै, भुवमंडल-आकास ॥ (ललितकिशोरी दास)

स्वामी जी का भक्ति-तत्व और उनकी उपासना-पद्धति—

भक्ति-तत्व मे 'सिद्धात' की निरर्थकता—स्वामी हरिदास जी के भक्ति-तत्त्व का बोध उनकी रचनाओ से होता है । उक्त रचनाओं मे से १८ ध्रुपद 'सिद्धान्त के पद' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमे स्वामी जी ने किसी विशिष्ट दार्शनिक सिद्धांत का निरूपण नही किया है; जन्य श्रद्धालु जनों को भक्ति मार्ग की ओर प्रेरित करने के लिए अपने अनुभव की सीधी-सादी उपदेशप्रद बाते ही बतलाई है। स्वामी जी रसोपासक रसिक भक्त थे। उन्होंने अपनी उपासना-भक्ति को किसी दार्शनिक सिद्धात की जटिलता तथा मतवाद के विवाद मे नही उलझाया है। वे दार्शनिक सिद्धान तो क्या, उपासना-भक्ति मे गृहीत सेवा सबधी विधि-निषेध तक को अनावश्यक मानते थे। इसीलिए ध्रुवदास जी ने उनकी विशिष्टता का उल्लेख करते हुए कहा है,—'नेगा न मे दूर किए, विधि-निषेध जजार।' भला, जिस महात्मा ने अपनी भक्ति-उपासना को सामान्य विधि-निषेध के बधनो तक से मुक्त कर उसे रसिकता के राजमार्ग पर निर्बाध गति से विचरण करने के लिए छोड दिया हो, वह किसी जटिल दार्शनिक सिद्धान के चक्कर मे क्यो पड़ेगा ?

यहाँ पर हम स्वामी जी कृत तथाकथित 'सिद्धान' के अष्टादश पदो मे से उनके उपदेशो को उद्धृत करते है,—

१. भगवान् की इच्छा से ही सब कुछ होता है। वह जिस प्रकार रखता है, जीव को रखता है। जीव अपनी इच्छा से कुछ भी नहीं कर सकता, क्यो कि वह पिजडा के पक्षी की तरह माया-जाल मे फँसा हुआ है।

२ जीव पर-वश है। उसे अपनी विवशता और सासारिक प्रपचो की नश्वरता समझ कर भगवान् की भक्ति करनी चाहिए।

३ भगवान् की भक्ति से अधिक और कोई सुख नही है। अनेक बार मन उनकी ओर न लग कर इधर-उधर भटकता है, किंतु उसे वश मे रखना आवश्यक है। श्री बिहारी जी ही समस्त सुखो के दाता हैं।

४ मनुष्य-जीवन का परम कर्त्तव्य हरि-भक्ति है। मानव को सदैव हरि-भजन करना चाहिए, और धन की इच्छा कभी नही करनी चाहिए। धन तो मृत्यु के समान है।

५ भक्त बिगाडने वाला है, अपराधी है, और भगवान् सुधारने वाले है, कृपालु है। भगवान् अपने भक्तो को होड लगा कर सुधारते है।

६ जीव को इधर-उधर न भटक कर एकाग्रता पूर्वक भगवान् का चितन-मनन करना चाहिए। भगवान् की इच्छा से अनहोनी बात भी सभव हो जाती है।

७ भगवान् से प्रेम करना चाहिए, और साधुओ की सगति करनी चाहिए। इनसे अत करण के सब पाप दूर हो जाते है। भगवत् प्रेम सच्चा है, और सासारिक प्रेम झूठा।

८ भगवान् की इच्छा से ही समस्त ब्रह्माड का सचालन होता है।

९ ससार-सागर मे पडे हुए जीव लोभ और मोह के जाल मे फँसे हुए हैं। भगवान् की कृपा से ही वे इससे मुक्ति पा सकते है।

१० आलस्य छोड कर हरि-भजन करना चाहिए। मृत्यु किसी भी समय आ सकती है। उसके आते ही समस्त सासारिक वैभव पडा रह जावेगा।

११ ससार के प्रति आसक्त होकर मानव-जन्म को व्यर्थ गँवाना उचित नही है। हरि-भक्ति मे ही जीवन का अमरत्त्व है।

१२ अकिचन और एकाग्र भाव से हरि-भक्ति करनी चाहिए। गाय की वत्स के प्रति, मृगी की शावक के प्रति और गूजरी की दुग्ध-पात्र के प्रति जैसी आसक्ति होती है, वैसी ही अनन्यता पूर्वक श्रीश्यामा-कुजबिहारी से प्रीति करनी चाहिए।

१३ समस्त प्रपच प्रभु का खेल है, और यह तीर्थ के समेलन जैसा अस्थायी है।

१४ भगवान् की माया से निर्मित यह ससार स्वप्न के समान झूठा है।

१५. सासारिक प्रीति मिथ्या है, हरि-भक्ति ही सत्य है।

१६ सासारिक जीवो की भाँति आस्तिक वैष्णवो को अपना कर्तव्य नही भूलना चाहिए। उन्हे अनन्यतापूर्वक हरि-भजन करते रहना उचित है।

१७. क्षण-भगुर जीवन को व्यर्थ न खो कर उसे हरि-भजन मे लगाना चाहिए।

१८ भगवत्-प्रेम अथाह समुद्र के समान है। वह पाखड पूर्वक पार नही किया जा सकता है।

'इच्छाद्वैत' नाम की विफलता—उपर्युक्त उपदेशो मे से कतिपय खोजियो ने स्वामी जी के दार्शनिक सिद्धात के सूत्र भी खोज निकाले है, और उन्होने उक्त सिद्धात को 'इच्छाद्वैत' नाम से प्रचारित करने की चेष्टा की है। स्वामी जी के विरक्त शिष्यो की परपरा मे सर्वश्री बिहारिनदास जी और भगवतरसिक जी हरिदास सप्रदाय के भक्ति-तत्व और उपासना-पद्धति के विशद व्याख्याकार हुए है। उनमे से श्री बिहारिनदास की वाणी मे सकेत से और श्री भगवतरसिक जी की वाणी मे स्पष्ट रूप से 'इच्छाद्वैत' शब्द का उल्लेख हुआ है। उसे स्वामी जी के दार्शनिक सिद्धात के खोजियो ने अपने मत का आधार बना लिया है। किंतु सर्वश्री बिहारिनदास जी और भगवतरसिक जी ने इस सबध मे 'ईश्वर की इच्छा ही प्रधान है' का सिद्धात स्थापित कर द्वैताद्वैत—विशिष्टाद्वैतादि दार्शनिक सिद्धातो की स्पष्टतया अवमानता की है। उनका कथन है,—

'इच्छा' एक, अनेक पुनि, पुनि अनेक मे एक।
बिहारिनदास सशय नही, याकौ नाम विवेक॥ (श्री बिहारिनदास)
नाँही द्वैताद्वैत हम, नही विशिष्टाद्वैत।
बँध्यौ नही मतवाद मे, ईश्वर 'इच्छाद्वैत'॥ (श्री भगवतरसिक)

इस प्रकार स्वामी जी के भक्ति-तत्त्व को 'इच्छाद्वैत' अथवा किसी अन्य दार्शनिक सिद्धात से सबद्ध बतलाना उचित नही है। हमने गत पृष्ठो मे श्री हित हरिवश जी द्वारा प्रवर्तित 'राधावल्लभ सप्रदाय' के भक्ति-सिद्धात और उपासना-पद्धति का विवेचन करते हुए बतलाया है कि उन्हे भी किसी विशिष्ट दार्शनिक सिद्धात से सबद्ध नही किया जा सकता। राधावल्लभ सप्रदाय की भाँति हरिदास सप्रदाय भी प्रेमा भक्ति और रसोपासना को लेकर चला है, अत यह भी हित जी के सप्रदाय की भाँति वेदात के किसी विशिष्ट सिद्धात का आश्रित नही है। जिन कतिपय हरिदासियो ने इसके भक्ति-तत्त्व को 'इच्छाद्वैत' के नाम से प्रचारित करने की चेष्टा की है, वे कुछ राधावल्लभियो की भाँति अपने सप्रदाय को भी चतु सप्रदाय की परपरा मे स्थिर करने की अनुकरणात्मक प्रवृत्ति के वशीभूत थे। इतिहास से सिद्ध है, उनका प्रयत्न सफल नही हो सका। यदि स्वामी हरिदास के भक्ति-तत्त्व को किसी दर्शन से सबद्ध किया जा सकता है, तो वह रस दर्शन है। उसे वेदात के किसी तथाकथित 'सिद्धात' से सबद्ध करना निरर्थक है।

रसोपासना मे 'नित्य विहार' की मान्यता—वैसे तो ब्रज के सभी भक्ति सप्रदायो की उपासना–पद्धतियो मे 'रस' को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, तथापि राधावल्लभ सप्रदाय की भाँति हरिदास सप्रदाय की उपासना-भक्ति तो रस तत्त्व पर ही आधारित है। धार्मिक क्षेत्र मे 'रस' की जो इतनी महत्ता है, उसका मूलाधार उपनिषद् है। 'तैत्तिरीयोपनिषद् (२-७) मे परब्रह्म को 'रस' की सज्ञा देते हुए कहा गया है, वह रस रूप है और रस को उपलब्ध कर आनंदित होता है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' का उल्लेख है, रस रूप परब्रह्म रस की उपलब्धि के लिए अपने को दो रूपो मे विभाजित कर लेता है, और तब वह अपने आप मे क्रीडा रत होकर आनंद-लाभ करता है। कृष्णोपासक वैष्णव सप्रदायाचार्यो ने परात्पर तत्त्व के उस उभय रूप को 'श्रीराधा–कृष्ण' के नाम से अपनी उपासना–भक्ति का आधार बनाया है, और उनकी रस-क्रीडा को 'नित्यनिकुंज लीला' अथवा 'नित्य विहार' की सज्ञा दी है। इस प्रकार सामान्य रूप से 'नित्य विहार' की मान्यता ब्रज के सभी कृष्णोपासक सप्रदायो मे है, किंतु विशेष रूप से इसे राधावल्लभ सप्रदाय और हरिदास सप्रदाय मे स्वीकार किया गया है।

राधावल्लभीय और हरिदासी मान्यताओ का अंतर—यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है, जब राधावल्लभ सप्रदाय और हरिदास सप्रदाय दोनो ही रसोपासक है, और उन दोनो की ही उपासना मे 'नित्य विहार' को प्रमुख स्थान प्राप्त है, तब उनकी मान्यताओ मे कुछ अंतर है, या नही? इसका सीधा सा उत्तर यह दिया जा सकता है कि अंतर तो अवश्य होगा, तभी तो दोनो सप्रदायो का पृथक् अस्तित्व रहा है। कतिपय व्यक्तियो ने उस अंतर को जान कर भी साप्रदायिक दुराग्रह से, और कुछ ने न जान कर भ्रम से हरिदास सप्रदाय को राधावल्लभ सप्रदाय के अंतर्गत लिख दिया है।

साप्रदायिक दुराग्रह का एक पुराना उदाहरण श्री अनन्यअली जी कृत 'चरण प्रताप लीला' का वह उल्लेख है, जिसमे स्वामी हरिदास जी द्वारा हित हरिवंश जी की शरण मे जाने और उनसे मत्र-दीक्षा प्राप्त कर श्री बिहारी जी की सेवा और रसोपासना को प्रचलित करने का कथन किया गया है[1]। इस प्रकार के निराधार उल्लेख कदाचित् ही मिलते है, और वे साप्रदायिक खींचातानी के कुपरिणाम है। अनन्यअली जी राधावल्लभीय आचार्य श्री कमलनयन जी के शिष्य और एक समर्थ भक्त–कवि थे। वे प्राय स० १८०० तक विद्यमान थे। यह वह काल है, जब वृ दावन के कई भक्ति सप्रदायो मे पारस्परिक विद्वेष इतना बढ गया था कि जिसके कारण उनके ग्रथो मे प्रक्षिप्त अश बढाये जाने लगे थे, और भक्तो के चित्रो मे तिलको का परिवर्तन किया जाने लगा था।

भ्रमात्मक कथन के अनेक उदाहरण आधुनिक काल के उन लेखको की रचनाओ मे मिलते है, जिन्होने ब्रज के भक्ति सप्रदायो का गहन अध्ययन किये बिना ही उनके विवरण लिखे हैं। बेजानकार लेखको की बात जाने दीजिये, भक्ति सप्रदायो के विशेषज्ञ विद्वान डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने

---

(१) श्री स्वामी हरिदास रसीले। वृ दावन मे आहि बसीले ॥
श्री हितजू के सरनै आये। श्रवनहि मे वर मत्र सुनाये ॥
कुजविहारी सिर पधराये। विधि–निषेध जजाल छुडाये ॥
भये सु अति दृढ रसिक उपासी। श्री जू नाम धर्यो हरिदासी ॥
—चरण प्रताप लीला, पद स ५०(राधावल्लभ सप्रदाय, पृष्ठ ४६३)

कुछ पहिले 'हिंदी साहित्य की भूमिका' (पृष्ठ ५४) मे स्वामी हरिदास के सखी सप्रदाय को राधावल्लभ सप्रदाय का एक उपसप्रदाय लिख दिया था; किंतु बाद मे उनके ग्रथ 'हिंदी साहित्य' (पृष्ठ १६६) मे उस भूल को सुधार दिया गया[1]।

व्रज के भक्ति सप्रदायो के विशेषज्ञ आधुनिक विद्वानो मे डा० विजयेन्द्र स्नातक का उच्च स्थान है। 'राधावल्लभ सप्रदाय' का तो उन्होने गहन अध्ययन कर उस पर शोध-प्रबध भी प्रस्तुत किया है, जो उनके तलस्पर्शी गभीर ज्ञान का परिचायक है। उन्होने राधावल्लभ सप्रदाय की 'नित्य विहार' सबधी मान्यता पर अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है,—'जिस तात्त्विक अर्थ मे आज नित्य विहार शब्द का प्रयोग होता है, हमारी दृष्टि मे उसका मूलाधार श्री हित हरिवश जी के 'हित चौरासी' और 'राधा सुधानिधि' नामक दो ग्र थ ही है। उन्होने नित्य विहार को सबसे पहिले सूक्ष्म भावनापरक धरातल पर अवस्थित करके उसका वर्णन किया।' इसके साथ ही डा० स्नातक ने स्वामी हरिदास जी की 'नित्य विहार' सबधी मान्यता पर अपना मत प्रकट करते हुए कहा है,—'हमे यह स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही कि स्वामी हरिदास जी ने विशुद्ध कोटि का नित्य विहार गाया है[2]। इस प्रकार डा० स्नातक ने सर्वश्री हित हरिवश जी और स्वामी हरिदास जी दोनो को नित्य विहार के सर्वश्रेष्ठ गायक कहा है, किंतु उसके मूलाधार हित जी के ग्र थ माने हैं। इस तरह प्रकारातर से उनके मतानुसार स्वामी जी के नित्य विहार की मान्यता पर हित जी की प्रेरणा और उनका प्रभाव बतलाया गया है। हित जी तथा स्वामी जी दोनो सहयोगी महात्मा थे, और वे पर्याप्त समय तक साथ-साथ भक्ति-साधना करते रहे थे, जिससे उनकी साप्रदायिक मान्यताओ पर एक-दूसरे का प्रभाव पडना स्वाभाविक था। हित जी को नित्य विहार के मूल गायक होने का श्रेय दिया जा सकता है, और साथ ही यह भी माना जा सकता है कि हित जी की रचनाओ से प्रेरणा प्राप्त कर स्वामी जी ने नित्य विहार का गायन किया हो। पर उन दोनो महात्माओं की तत्सबधी मान्यताओ मे एक दम समानता है, या कुछ अतर भी है, इसका समाधान डा० स्नातक ने नहीं किया है। शायद वे उनमे अतर मानते भी नही है। किंतु यह स्वीकार करना पडेगा, यदि उनमें अतर न होता, तो राधावल्लभ सप्रदाय से हरिदास सप्रदाय का पृथक् अस्तित्व भी न हुआ होता, और उसकी दीर्घकालीन समृद्ध परपरा भी स्थिर नहीं रह पाती। हमारे मतानुसार उन दोनो महात्माओ की नित्य विहार सबधी मान्यता मे अवश्य अतर है, जिस पर हमे यहाँ प्रकाश डालना है।

जैसा पहिले लिखा गया है, व्रज के सभी भक्ति सप्रदायों की उपासना मे रस-तत्त्व, निकुज-लीला और नित्य विहार का महत्त्व स्वीकृत है, किंतु उनके स्वरूप के सबध मे उनकी अपनी-अपनी मान्यताएँ है। राधावल्लभ सप्रदाय मे श्री वृ दावन धाम की 'नित्यनिकुज लीला' की उपासना है, और उसी को उक्त सप्रदाय मे नित्य विहार कहा गया है। हित हरिवश जी की विद्यमानता मे स्वामी हरिदास जी भी सभवत नित्य विहार के उसी रूप के उपासक रहे हो, किंतु बाद मे उन्होंने उसे अधिक समुन्नत और सूक्ष्म रूप प्रदान कर उसी को अपनी उपासना का प्रमुख अग बनाया था। यह इतिहास प्रसिद्ध बात है, हित हरिवश जी के देहावसान के उपरात स्वामी हरिदास जी पर्याप्त काल

(१) कृष्ण-भक्ति काव्य मे सखी भाव, पृष्ठ ४६

(२) राधावल्लभ सप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ २३६

तक विद्यमान रहे थे । उस समय वृ दावन के रसिक भक्त जनो का उन्होंने नेतृत्व किया था, और श्री बिहारी जी के स्वरूप का प्राकट्य कर अपनी रसोपासना के विकसित रूप मे 'नित्य विहार' की मान्यता प्रचलित की थी ।

ब्रज के विख्यात भक्त-कवि सदा से स्वामी जी की 'नित्य विहार' सबधी मान्यता के प्रशसक रहे है, और उसे हित हरिवश जी की तत्सबधी मान्यता से विशिष्टता प्रदान करते रहे है । भक्तवर हरिराम जी व्यास हित जी और स्वामी जी दोनो के प्रचुर काल तक सहयोगी थे, और इनके देहावसान के बाद तक जीवित रहे थे । वे उनके वियोग मे बडे दुखी रहा करते थे । उन्होंने उनकी विशेषताओं का बखान करते हुए कहा है,—"हित हरिवश जी के बिना अब 'रस-रीति' के प्रचार का भार कौन सँभालेगा, तथा 'वृ दावन की सहज माधुरी' का विशद वर्णन कौन कर सकेगा ? और स्वामी हरिदास जी के बिना अब 'नित्य विहार' का गायन कौन करेगा ?[1]" राधावल्लभ सप्रदाय के विख्यात महात्मा ध्रुवदास जी ने 'भक्त-नामावली' के आरभ मे श्री हित हरिवश जी की वदना की है, और उनके द्वारा रसोपासना के प्राकट्य का उल्लेख किया है, किंतु 'नित्य विहार' के गायन का श्रेय उन्होने अनन्य रसिक स्वामी हरिदास को ही दिया है[2] । भगवत मुदित ने इस सबध में और भी स्पष्ट कथन किया है । उन्होने वृ दावन के रसोपासक सुप्रसिद्ध महानुभावों की मान्यताओ का अतर बतलाते हुए कहा है,—गौडीय महात्मा रूप-सनातन जी ने ब्रज-लीलाओ का वर्णन किया है, और हित हरिवश जी ने वृ दावन की नित्यनिकुज-लीलाओ का, किंतु स्वामी हरिदास जी की प्रशसा 'नित्य विहार' की उपासना के कारण की जाती है,—

'रूप-सनातन ब्रज कह्यो, वृ दावन हरिवश । नित्य विहार उपास मे, श्री हरिदास प्रसस ।'

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, 'नित्य विहार' के विधायक तत्व श्रीराधा-कृष्ण, सखी-सहचरी और श्रीवृ दावन है । इनमे उपासना की दृष्टि से सखी या सहचरी का अधिक महत्व है, क्यो कि उसी भाव से 'नित्य विहार' की रसोपासना मे सफलता मिलती है । डा० विजयेन्द्र स्नातक ने तो यहाँ तक कहा है,—'सखी भाव की कल्पना के बिना नित्य विहार का स्वरूप खडा करना कठिन है ।' और 'सखी भाव की उपासना को अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने का श्रेय भक्तप्रवर स्वामी हरिदास जी को है[3] ।' इस प्रकार 'सखी भाव' की चरमोत्कर्षता के कारण हरिदास सप्रदाय मे 'नित्य विहार' का जैसा भव्य रूप निर्मित हुआ, वैसा राधावल्लभ सप्रदाय मे नही हो पाया है । यही दोनो की मान्यताओ का अतर है । इसमे मुख्य कारण 'सखी भाव' की उपासना का तारतम्य है । अब इस पर यहाँ कुछ विशेष प्रकाश डाला जाता है ।

---

(१) बिन हरिवशहि सरस रीति को, कापै चलि है भार ?
श्री वृ दावन की सहज माधुरी, कहि है कौन उदार ? × ×
बिहारहि स्वामी बिन को गावै ? (साधु-विरह के पद स. २४–२६)

(२) निगम ब्रह्म परसत नही, सो 'रस' सबते दूरि ।
कियौ प्रगट हरिवश जी, रसिकनि जीवन–मूरि ॥ २ ॥
रसिक अनन्य हरिदास जू, गायौ 'नित्य विहार ।
सेवा हू मे दूर किय, विधि–निषेध जजार ॥१२॥ (भक्त नामावली)

(३) कृष्ण भक्ति काव्य मे सखी भाव की 'भूमिका', पृष्ठ १५–१८

भक्ति-उपासना मे 'सखी भाव'—व्रज के कृष्णोपासक भक्ति सप्रदायो मे श्रीकृष्ण-लीला के सहायक तत्त्व के रूप मे गोपी और सखी-सहचरी की मान्यता है। कृष्ण-लीला की नित्य और नैमित्तिक अथवा अप्रकट और प्रकट दो प्रकार की भाव-भूमियाँ मानी गई है। इन्ही को अगोचर और गोचर भी कहा जाता है। नित्य, अप्रकट अथवा अगोचर लीला गोलोक किंवा दिव्य वृदाबन की नित्यनिकुजो मे सतत् होती रहती है। यह श्रीकृष्ण की चिरतन लीला है। नैमित्तिक, प्रकट अथवा गोचर लीला व्रज मे होती है। यह श्रीकृष्ण के अवतार काल की लीला है। सामान्यत गोपी, सखी, सहचरी आदि को समानार्थक समझा जाता है, किंतु जब व्रज के भक्ति सप्रदायो मे कृष्ण-लीला से सबधित विभिन्न मान्यताएँ प्रचलित हो गई और भक्ति-उपासना के क्षेत्र मे उनकी विविध व्याख्याएँ की जाने लगी, तब गोपी और सखी-सहचरी के भी पृथक्-पृथक् अर्थ किये गये। उस समय श्रीकृष्ण की व्रज-लीला का सबध गोपियो से माना जाने लगा, और गोलोक किंवा दिव्य वृदावन की नित्यनिकुज लीला को सखी-सहचरियो से सबधित समझा जाने लगा।

वल्लभ सप्रदाय, चैतन्य सप्रदाय और निंबार्क सप्रदाय मे सामान्यत व्रज-लीला और उससे सबधित गोपियो की मान्यता है। चैतन्य सप्रदाय मे अतरगा विशिष्ट गोपियो को सहचरी कहा जाता है, किंतु मूलत दोनो मे कोई खास अतर नही है। राधावल्लभ सप्रदाय और हरिदास सप्रदाय, जो रसोपासक सप्रदाय है, श्रीकृष्ण की 'नित्यनिकुज' लीला' अथवा 'नित्य विहार' की उपासना करते है, और उसकी सिद्धि के लिए उनकी मान्यता सखियो की है। उनके मतानुसार भक्त गण सखी भाव से उपासना करने पर ही 'नित्यनिकुज लीला' अथवा 'नित्य विहार' के शाश्वत सुख की रसानुभूति कर सकते है। इस प्रकार राधावल्लभ सप्रदाय और हरिदास सप्रदाय के 'सखी भाव' मे मूलत समानता है। किंतु हित हरिवश जी के देहावसान के पश्चात् स्वामी हरिदास जी ने सखी भाव का अधिक विकास किया था। उन्होने उक्त भावना को और भी सूक्ष्म धरातल पर अवस्थित कर उसे चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया, जिसके कारण उनका सखी भाव राधावल्लभ सप्रदाय के सखी भाव से अधिक सूक्ष्म और उत्कृष्ट हो गया है। स्वामी हरिदास जी को उनके सप्रदाय मे श्रीराधा जी की प्रधान सखी ललिता जी का अवतार माना जाता है। इस दृष्टि से भी उनके सप्रदाय को ही 'सखी भाव' का वास्तविक प्रतिनिधि होने का अधिकारी माना जाने लगा।

'सखी भाव' और 'गोपी भाव' का अतर—तात्त्विक दृष्टि से सखी भाव और गोपी भाव मे बडा अतर है। सखियो के गोपियो की भाँति न तो अनेक नाम-रूप है, और न उनकी विविध कोटियाँ हैं। अधिकाश सखियाँ राधा-कृष्ण की व्रज-लीलाओ मे उनकी सहायिका मात्र होती है, और वे तटस्थ भाव से उक्त लीलाओ का सुखानुभव करती रहती हैं। किंतु गोपियो मे से कुछ की श्रीकृष्ण से अग-सग करने की भी अभिलाषा होती है। इस प्रकार उनमे स्वकीया और परकीया की स्थिति होने राधा जी के प्रति सपत्नी भाव भी होता है। चद्रावलि नामक गोप-कन्या की वैसी ही स्थिति मानी गई है। फिर गोपी भाव मे सयोग और वियोग दोनो है, जिनके कारण गोपियो के साथ राधा जी को भी समिलन-सुख के अतिरिक्त विरह-वेदना की भी अनुभूति होती है। सखी भाव मे यह सब नही होता है। सखियो मे स्वकीया-परकीया, सपत्नी आदि का भेद-भाव नही है, और न उनमे सयोग-वियोग की उभयावस्था है। सखियाँ श्रीकृष्ण से किसी प्रकार का अग-सग नही चाहती। वे तटस्थ और निस्सग भाव से श्रीराधा-कृष्ण की क्रीडाओ के केवल अवलोकन द्वारा ही आनद प्राप्त करती हैं। उनमे किसी प्रकार की वासना नही है, ईर्ष्या-द्वेष नही है, और न लेश मात्र स्पर्धा-

प्रतिद्व दिता ही है । वे 'स्वसुख' की किंचित् भी कामना न कर सदैव 'तत्सुख' की भावना में ही अपने को समर्पित किये रहती है । इस प्रकार सखी भाव आत्मोत्सर्ग, समर्पण और वासना रहित शुद्ध प्रेम की उपासना का मार्ग है । डा० शरणबिहारी गोस्वामी गोपी तत्व और सखी तत्व के अंतर की समस्त बातो का निष्कर्ष निकालते हुए कहते हैं,—'गोपी तत्व जहाँ श्रीकृष्ण की अवतार-लीला की पृष्ठ-भूमि मे दर्शन, अध्यात्म और विधि-विधान से समन्वित, जन्म-कर्म से युक्त तत्व का साकार रूप है, वहाँ सखी भाव की दृष्टि से सखियाँ इन सब क्षेत्रों से पृथक् केवल मात्र प्रिया-प्रियतम की रासलीला की अंगभूत, लीला-सहकारिणी, लीला-विस्तारिणी, लीला-आस्वादिनी, लीला-स्वरूपा हैं। इसलिये सखी तत्व की संपूर्ण व्याख्या नित्य विहार के एक अंग के रूप मे ही की जा सकती है[1] ।'

जैसा पहिले लिखा जा चुका है, राधावल्लभ संप्रदाय की नित्य विहार संबंधी मान्यता के आधार श्री हित हरिवंश जी के ग्रंथ 'राधा–सुधानिधि' एव 'हित चौरासी' है, और डा० विजयेन्द्र स्नातक के मतानुसार वही उक्त मान्यता के मूलाधार हैं । किंतु डा० शरणबिहारी गोस्वामी ने उन ग्रंथो के उदाहरण देकर बतलाया है कि इनकी पृष्ठभूमि निकुंज धाम की न होकर स्पष्ट रूप से ब्रज की है, और हित जी के राधा–कृष्ण ब्रज के राधा-कृष्ण से किसी रूप मे भिन्न नहीं हैं। फलत हित हरिवंश जी द्वारा प्रचारित सखी भाव एक प्रकार का गोपी भाव ही है। गोपियों के संबंध मे हित जी का विवरण स्वकीयात्व की अपेक्षा उनके परकीयात्व का ही समर्थन करता ज्ञात होता है। 'हित चौरासी' के पद स ६३ मे वर्णित शरद रास मे गोपियों द्वारा अपने पति-पुत्र आदि को छोड़ कर आने की बात कही गई है । यह विषय भागवत के अनुसार है और परकीयात्व का समर्थक है ।' अंत मे उन्होंने लिखा है,—'राधावल्लभ संप्रदाय की संपूर्ण विचार-धारा को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि उसमे एक विशेष क्रम-विकास हुआ है । क्रमश गोपी-तत्त्व से उन्मुख होते हुए इस संप्रदाय के रसिक सखी-तत्त्व पर पहुँचे हैं, और अंत मे पुन संप्रदाय के साहित्य मे गोपी-तत्त्व और सखी-तत्व का समन्वय दिखलाई पडता है[2] ।'

भक्ति–उपासना का स्वरूप और उसकी विशिष्टता—हरिदास संप्रदाय की भक्ति एव उपासना का स्वरूप स्वामी हरिदास जी की रचनाओ मे बिखरे उनके तत्वबधी सूत्रों के आधार पर निर्मित हुआ है, और उनकी रूप-रेखा इस संप्रदाय के विख्यात महात्मा सर्वश्री बिहारिनदास जी तथा भगवतरसिक जी ने प्रस्तुत की है । इस संप्रदाय मे प्रेमा भक्ति और रसोपासना का अत्यंत समुन्नत रूप दिखलाई देता है । इसमे प्रेम की तुलना मे समस्त नियम, जप-तप, व्रत-संयम और विधि-निषेध की उपेक्षा की गई है । श्री बिहारिनदास जी ने कहा है,—'अरे भैया ! जब मन मे प्रेम का उदय हो जाता है, तब किसी प्रकार का नियम नही टिक पाता । समस्त जप, संयम, नियम, विधि, निषेध, व्रतादि की आवश्यकता तो तभी तक है, जब तक हृदय को प्रेम का स्पर्श प्राप्त नही होता है । प्रेम के सुख का तनिक भी आस्वाद मिलने पर देह के समस्त सुख बिसर जाते हैं । उस स्थिति मे संयम-नियमादि का पालन करो तो जैसा, न करो तो जैसा,—कोई अंतर नही पडता[3] ।'

---

(१) कृष्ण–भक्ति काव्य मे सखी भाव, पृष्ठ १६३
(२) वही ,, ,, , पृष्ठ १८०–१८६
(३) मन प्रेम, तो नेम रहै न भैया ।
जप-संजम-नेम निषेध–विधिहि–व्रत तौ लगि, सो परस्यौ न हिया ॥
पुनि पावत ही सुख-स्वाद कछू, बिसरे सुख देह, किया न किया ॥ (ह.र मा पृ १०६)

उन्होने 'विधि-निषेध' की निस्सारता वतलाते हुए रसिक भक्तो से कहा है,—'तुम विधि-निषेध के परिपालनार्थ क्यो पचि मर रहे हो ! जानते नही, इससे प्रेम-भक्ति मे अंतर पडता है। जब मन, वचन और कर्म मे प्रेम भाव का उदय हो जाता है, तब लोक और वेद के समस्त विधि-निषेध विसर जाते हैं। जो प्रेम-रस के रसिक है, वे न तो स्वर्ग की आशा करते है, और न नर्क के त्रास से ही डरते है[1]।' उन्होने प्रेम भक्ति मे जनेऊ, जाति, गायत्री, सध्या, तर्पण को भी व्यर्थ कहते हुए केवल माला, मत्र और भजन की आवश्यकता वतलाई है[2]। इनके साथ ही उन्होने तीर्थ-यात्रा और श्राद्ध-कर्म को भी अनावश्यक वतलाया है[3]। उक्त क्रातिकारी मान्यताओ के कारण हरिदास सप्रदाय को वेद-विरोधी नही समझना चाहिए। श्री विहारिनदास जी के मतानुसार इस सप्रदाय की सभी मान्यताएँ वेद-विरोधी न होकर वेदानुरोधी ही हैं। उन्होने आक्षेप करने वालो को डाटते हुए कहा है,—'हमने तो वही किया है, जो वेदो मे कहा गया है, उसमे से केवल लोक की वातो को हमने अनन्य रस की तुलना मे छोड दिया है[4]।'

श्री बिहारिनदास ने वतलाया है,—'स्वामी हरिदास जी के मतानुसार श्री कुजविहारी जी ही सर्वोपरि परम तत्त्व हैं। वे सब अवतारो के अवतारी हैं, और सवके स्वामी है, जब कि अन्य अवतार उनके अश–कला मात्र हैं। उनका विरद बडा विलक्षण है, और वे इच्छानुसार स्वरूप धारण कर लीलाएँ करते हैं। वे लक्ष्मीपति श्रीविष्णु और व्रजपति श्रीकृष्ण को भी दुर्लभ हैं। उनसे वडा अधिकारी कोई भी नही है[5]।' भगवतरसिक जी ने इस विषय का तात्त्विक विवेचन करते हुए समस्त विश्व के ७ आवरण वतलाये हैं, और अतिम आवरण को श्री राधारमण जी की केलि–क्रीडा से मडित कहा है। उन्होने उक्त आवरणो का क्रमवद्ध कथन करते हुए वतलाया है,—'प्रथम आवरण महत्तम प्रकृति का है, जहाँ ज्ञान रूपी सूर्य का प्रकाश है। उसके ऊपर द्वितीय आवरण उस परब्रह्म का है, जो करोड़ो सूर्य के समान प्रकाशवान है। तृतीय आवरण वैकुठवासी लक्ष्मी–नारायण का है, और चतुर्थ आवरण गोपुर-निवासी राम का है। पाँचवा आवरण व्रज के

---

(१) विधि-निषेध को क्यो पचि मरैं। प्रेम भक्ति मे अंतर परैं॥
मन-वच-क्रम जो उपजै भाव। तौ लोक-वेद सब विसरि जाव॥
स्वर्ग-नर्क की आस न त्रास। जे रस रसिक 'विहारिनदास'॥ (ह.र.सा पृष्ठ १३५)

(२) भक्ति में कहा जनेऊ–जाति।
गायत्री, सध्या, तर्पन तजि, भजि माला–मत्र सजाति॥ (ह र सा. पृष्ठ १६८)

(३) स्वामी हरिदास-रस-सागर, पृष्ठ ११३

(४) वेदनि कह्यौ सो हम कियौ, लोगन कौ मत छांटि।
श्री विहारीदास अनन्य रस जस, कहत सभा मे डाटि॥ (ह र स पृष्ठ ७१)

(५) श्री कुंजविहारी सर्वसु–सार।××
अंस–कला सब अवतारनि कौ, अवतारी भरतार॥१४६॥
वांके विरदनि विदित विहारी।
इच्छा विग्रह धरि लीला-वपु, सब अवतारनि पर अवतारी॥
लछमीपति व्रजपति कौं दुरलभ, इनतें कौन वड़ो अधिकारी॥२८॥
—हरिदास रस सागर, पृष्ठ १८०–१८५

गोप–गोपी और नदादिक का है, और छटवां आवरण दोनों रग मे ओतप्रोत सखी समाज का है। सबके ऊपर अतिम और सातवां आवरण उन केलि–क्रीडारत रसिकराज श्री राधारमण जी का है, जो सबके स्वामी है और सबके गुरु है[1] ।'

हरिदास सप्रदाय की भक्ति–उपासना का प्रमुख आधार 'नित्य विहार' मे सतत क्रीडारत श्रीश्यामा–कुजविहारी की युगल जोडी है । स्वामी जी ने इसका स्वरूप बतलाते हुए कहा है,— 'यह घन–दामिनि के समान एक दूसरे से अभिन्न, सहज, स्वाभाविक और चिरतन है । यह जोडी पहिले भी थी, अब भी है, और आगे भी रहेगी[2] । उनके नित्य विहार मे पल भर का भी व्यवधान नही होता है। व्यवधान की कल्पना भी असगत है ! जहां नित्य विहार है, वहां निरतर रस का अखड साम्राज्य है । यह नित्य विहार निपट एकाकी है, केवल अतरगा सखियो का इसमे प्रवेश माना गया है । किंतु रस की चरमावस्था होने पर कभी–कभी इसमे सखियो की भी आवश्यकता नही रह जाती । तब श्रीश्यामा–कुजविहारी स्वय ही एक-दूसरे के सखा और सखी होते है । वे दोनो सब से पृथक् होकर स्वय खेलते है, स्वय ही रुठते है, और स्वय ही एक दूसरे को मना भी लेते है[3] !

श्री श्यामा–कुजविहारी का यह नित्य विहार किसी देव-पितर की तो क्या, लक्ष्मीपति विष्णु के लिए भी दुर्लभ है ! इसमे राम और कृष्ण का प्रवेश भी नही हो सकता है ! वैकुठवासी लक्ष्मी-नारायण और ब्रजवासी राधा-कृष्ण इसमे प्रवेश पाने के लिए ललचाते है । बिहारिनदास जी का कथन है,—

'बिहारिनदास' बिहार को, लच्छिमीपति ललचाहि । देव-पितर सीरै फिरैं, हां राम-कृष्न न समाहि ।।
याही ते दुर्लभता सबको, लच्छिमीपति ललचात । जद्यपि राधा-कृष्ण बसन ब्रज, बिनु बिहार बिललात ।।

नित्य विहार के लिए लक्ष्मी-नारायण ललचावें और इसमे राम का प्रवेश न हो, यह बात तो सब की समझ मे आ सकती है, किंतु इसमे कृष्ण का भी प्रवेश न हो और राधा-कृष्ण भी इसके लिए ललचावे, बिलबिलावे–इसका रहस्य इस सप्रदाय के परम रसिक भक्त जन ही समझ सकते हैं। औरो के लिए तो यह बडी विलक्षण बात मालूम होगी । यही विलक्षणता स्वामी हरिदास जी की भक्ति-उपासना की विशिष्टता है !

हरिदासी भक्ति की कठिनता—अपनी इस विलक्षणता किंवा विशिष्टता के ही कारण स्वामी हरिदास जी की प्रेमा भक्ति और रसोपासना इतनी कठिन है कि इन्हे ग्रहण करना सब के वश की बात नही है । श्री बिहारिनदास ने सामान्य भक्तो को चेतावनी देते हुए कहा है,—'यह 'प्रेम'

---

(१) प्रथम महातम प्रकृति, ज्ञान-रवि तहां प्रकासै । दूजै ब्रह्म प्रकास, कोटि सूरज सम भासै ।।
तीजै पकजनाभि–रमा वैकुठ निवासी । चौथे दसरथ-सुवन राम, गोपुर के वासी ।।
पॉचै ब्रज के गोप, नद आदिक सब गोपी । छटयै सखी-समाज, करै लीला-रस ओपी ।।
'भगवत' सतयै आवरन, करहिं केलि राधारवन । सर्वोपरि सर्वेस-गुरु, रसिकराय मगल-भवन ।।

(२) १ (माई री) सहज जोरी प्रगट भई जु, रग की गौर–स्याम घन–दामिनि जैसें ।
प्रथमहु हुती, अब हू, आगै हू रहि हे, न टरि है तैसें ।। (केलिमाल पद स १)
२. जोरी विचित्र बनाई री माई, काहू के मन हरन को ।
ज्यो घन-दामिनि सग रहत नित, बिछुरत नाहिन और बरन को ।। (केलिमाल, पद ४)

(३) १. अबकै बसत न्यारेई खेलें, काहू सो न मिलि खेलें, तेरी सौं । (केलिमाल, पद स ६५)
२ प्यारीजू ! हम तुम दोऊ एक कुज के सखा, रूठै क्यो बनै ? (केलिमाल, पद स ८९)

और 'रस' की पद्धति बडी कठिन है। इसे भली भाँति समझ-बूझ कर ही ग्रहण करनी चाहिए। जिस प्रकार अग्नि चकोर का तो भक्षण है, किंतु औरो के लिए वह अभक्ष्य है, उसी प्रकार स्वामी जी की भक्ति-उपासना परम साधक रसिक भक्त ही ग्रहण कर सकते हैं[1]। इसी बात को श्री भगवत-रसिक ने और भी स्पष्टता से कहा है। उनका कथन है,—'अन्य सप्रदायो की नवधा भक्ति और वेदोक्त ज्ञान तो गगा जल के समान है, जिसे कोई भी भक्त जन सरलता पूर्वक ग्रहण कर सकता है। किंतु ललिता सखी रूप स्वामी हरिदास जी का उपासना तत्त्व सिंहनी के दूध के समान है, जो या तो सस्कार प्राप्त सिंह-शावक के उदर मे पच सकता है, या स्वर्ण पात्र के समान परम रसिक महानुभावो द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त औरो के लिए यह अहितकर सिद्ध हो सकता है[2]।' स्वामी जी के उपासना-तत्त्व की मूलाधार उनकी रस-रीति विविध प्रकार के व्यक्तियो को किस तरह विभिन्न फल प्रदान कर सकती है, इसे श्री भगवतरसिक जी ने स्वाति नक्षत्र के जल का उदाहरण देकर समझाया है। उन्होने कहा है,—'यह रस-रीति स्वाति के दिव्य जल के समान है। जिस प्रकार वह जल रूप-गुण मे एक समान होते हुए भी केला, कमल, पपीहा और सीपी को अल-अलग ढग से फल देता है, उसी प्रकार इस रस-रीति का प्रभाव भी विषयी, ज्ञानी, भक्त और उपासक के लिए अलग-अलग समझना चाहिए। एक ही तरह का वीज विविध प्रकार की भूमि मे पडने पर अलग-अलग तरह से उपजता है[3]।

सप्त सोपानो की व्यवस्था—स्वामी जी की भक्ति-उपासना की कठिनता को कुछ सुगम करने के लिए श्री भगवतरसिक जी ने सप्त सोपानो का कथन किया है। उनके मतानुसार इन पर क्रमश. अग्रसर होने से श्रद्धालु रसिक भक्तो को आवश्यक सफलता प्राप्त हो सकती है। उन्होने कहा है,—'प्रथम सोपान भक्तो के मुख से श्रीमद् भागवत का श्रवण करना है। दूसरा व्यासोक्त नवधा भक्ति की आराधना करना है। तीसरा दक्ष और सर्वज्ञ किसी रसिक महानुभाव को समझ-बूझ कर गुरु बनाना है। चौथा विरक्त भाव से वृ दावन-वास करना है। पाँचवाँ अपनी देह के सुख-दु खो को सर्वथा भुला देना है। छटवाँ रास की भावना को अगीकार करना है। इन छै सोपानो को जो रसिक भक्त पार कर लेता है, वही स्वामी हरिदास जी की रस-रीति के अनुसार उपासना-भक्ति कर सकता है[4]।'

---

(१) कठिन प्रीति रस रीति है, समुझि गहो मन माँहि।
इक चकोर पावक चुगै, सबहिंन कौ भख नाँहि॥ (ह. र मा पृष्ठ ६८)

(२) संप्रदाय नवधा भगति–वेद, सुरसरी नीर। ललिता सखी उपासना, ज्यो सिंहिन कौ छीर॥
ज्यो सिंहिन कौ छीर, रहे कुंदन के बासन। कै बच्चा के पेट, और घट करै विनासन॥

(३) यह रस-रीति प्रिया-प्रीतम की, दिव्य स्वाति-जल जैसे।
विषयी, ज्ञानी, भक्त, उपासक, प्रापत सबको कैसे॥
कदली, कमल, पपीहा, सीपी, पात्र-भेद गुन तैसे।
'भगवत' बीज-विषमता नाँही, भूमि भाग्य-फल ऐसे॥

(४) प्रथम सुनै भागौत, भक्त मुख भगवत वानी। द्वुतिय अरावै भक्ति, व्यास नव भाँति वखानी॥
तृतीय करै गुरु समुझि, दक्ष सर्वज्ञ रसीलौ। चौथे होय विरक्त, बसै बनराज जसीलौ॥
पाँचै भूलै देह निज, छटै भावना रास की। सातै पावै रीति रस, श्री स्वामी हरिदास की॥
—भगवतरसिक जी की वाणी

स्वामी जी की साप्रदायिक परपरा—

हरिदास संप्रदाय का संगठन—स्वामी हरिदास जी के जीवन-काल मे ही उनके प्रति श्रद्धा रखने वाले रसिक भक्तो और सगीतज्ञो का एक बृहद् समुदाय बन गया था। किंतु स्वामी जी की विद्यमानता मे ही वह समुदाय एक सप्रदाय के रूप मे भी सगठित हो गया हो, इसमे बड़ा सदेह है। उनकी विरक्ति-प्रधान एकाकी जीवन-चर्या और विशिष्ट भक्ति-उपासना को देखते हुए यह सभव नही मालूम होता कि उन्होने हित हरिवश जी की भाँति अपने भक्ति-मार्ग को प्रचलित करने का स्वय कोई प्रयास किया हो। गत पृष्ठो मे लिखा जा चुका है, हित जी की विद्यमानता मे ही उनके आरभिक शिष्य उनकी उपासना-भक्ति का सदेश विविध प्रदेशो मे ले गये थे, जिससे प्रभावित होकर वहाँ के अनेक भक्त जन वृदावन आ कर उनके शिष्य हुए थे। किंतु स्वामी जी के आरभिक शिष्यो ने भी इस प्रकार का प्रयास किया हो, इसका उल्लेख नही मिलता है।

ऐसा ज्ञात होता है, स्वामी जी के देहावसान के पश्चात् ही उनकी उपासना-भक्ति का समुचित प्रचार हुआ था, और तभी उनके अनुगामियो ने गुरु-शिष्य की परपरा प्रचलित कर अपने को एक सप्रदाय के रूप मे सगठित किया था। हमारे अनुमान से स्वामी जी के साप्रदायिक सगठन का आरभ तो श्री विहारिनदास जी के काल मे ही हो गया था, किंतु उसका सुव्यवस्थित रूप बहुत बाद मे श्री भगवतरसिक जी के काल मे बना था। सच्चे अर्थ में श्री भगवतरसिक जी को ही 'हरिदास सप्रदाय' का नियामक और व्यवस्थापक मानना चाहिए। उनकी रचनाओं से ही इस के वास्तविक सप्रदायिक रूप का निर्माण हुआ था। उन्होने स्वामी जी के उपासना मार्ग को किसी प्राचीन सप्रदाय के अतर्गत न मान कर स्वतत्र स्वीकार किया, और इसे 'सखी सप्रदाय' के नाम से प्रचारित किया था। इसके भक्ति-तत्त्व को भी उन्होने किसी प्राचीन दार्शनिक सिद्धात से सबद्ध न मान कर इसमे ईश्वर-इच्छा को ही प्रधान माना, और इसके लिए 'इच्छाद्वैत' नाम का सुझाव दिया था[1]। इस सप्रदाय के भक्ति-सिद्धात के रूप मे 'इच्छाद्वैत' नाम का प्रचलन तो नहीं हो सका, किंतु इसका 'सखी सप्रदाय' नाम प्रचलित हो गया था। 'हरिदास सप्रदाय' को 'सखी सप्रदाय' भी कहा जाने लगा।

संप्रदाय की रूप-रेखा—भगवतरसिक जी ने इस सप्रदाय की रूप-रेखा भी निर्मित की थी। उसके अनुसार इसका साप्रदायिक स्वरूप इस प्रकार निश्चित किया गया,—आचार्य– ललिता सखी (स्वामी हरिदास), छाप– रसिक, उपासना– नित्य किशोर, मत्र– युगल मत्र, प्रमाण ग्रथ– रसिको की वाणी, धाम– श्रीवृदावन, और इष्ट– श्रीराधा जी[2]।

'टट्टी सप्रदाय' का भ्रमात्मक नाम—हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रथो मे यह भ्रमात्मक उल्लेख मिलता है कि स्वामी हरिदास जी 'टट्टी सप्रदाय' के सस्थापक थे[3]। वस्तुत इस नाम का कोई सप्रदाय न होकर एक भक्ति सस्थान है। इसकी स्थापना स्वामी हरिदास जी ने नही की थी,

---

(१) 'भगवत' नित्य विहार, परौ सबही को परदा। रहै निरतर पास, रसिकवर 'सखी संप्रदा'॥
नाँही द्वैताद्वैत हम, नही विशिष्टाद्वैत। बँध्यौ नही मत-वाद मे, ईश्वर 'इच्छाद्वैत'॥

(२) आचरज 'ललितासखी', 'रसिक' हमारी छाप। 'नित्यकिसोर' उपासना, 'जुगलमंत्र' कौ जाप॥
जुगल मंत्र कौ जाप, वेद 'रसिकन की वानी'। 'श्रीवृदावन' धाम, इष्ट 'स्यामा' महारानी॥

(३) मिश्रबधु विनोद, प्र भा, पृ ३०२, श्री शुक्ल जी कृत हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. १६१

वरन् उनके प्राय दो शताब्दी पश्चात् उनकी शिष्य-परपरा के एक विरक्त सत ललितकिशोरीदास जी ने की थी। वह महात्मा अपनी वैराग्य–वृत्ति के कारण यमुना पुलिन के एक खुले हुए निर्जन स्थल पर अपनी साधना करते थे। भक्त जनो ने उक्त स्थल को वास की टट्टियो से घेर दिया था, जिनके कारण वह 'टट्टी सस्थान' कहा जाने लगा। उस सस्थान की प्रसिद्धि ललितकिशोरीदास जी के शिष्य ललितमोहिनीदास जी के समय मे हुई थी, अत. इसे 'मोहिनीदास जी की टट्टी' भी कहते है।

शिष्य–समुदाय—ऐसा कहा जाता है, स्वामी हरिदास जी के अनेक शिष्य हुए थे, जिनमे से बहुतो के नाम इस सप्रदाय के ग्रथो मे मिलते हैं। किंतु जिस प्रकार स्वामी जी द्वारा अपने उपासना मार्ग को स्वय प्रसारित करने की बात सदिग्ध है, उसी प्रकार उनके द्वारा शिष्य-सेवक किये जाने की बात भी सदेह उत्पन्न करती है। श्री हरिराम जी व्यास स्वामी जी के समकालीन और सहयोगी महात्मा थे। उन्होंने स्वामी जी की प्रशस्ति मे कहा है, वे सब के साथ समान रूप से प्रेम-व्यवहार करते थे, उन्होने किसी को अपना खास अनुचर नही बनाया था,—'प्रीति-रीति कीन्ही सब ही सो, किये न खास खवास।' इस समकालीन उल्लेख के कारण स्वामी जी द्वारा शिष्य-सेवक बनाये जाने की बात प्रामाणिक ज्ञात नही होती। फिर भी उनके द्वारा शिष्य किये जाने की परपरागत अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं, जिनके अनुसार इस सप्रदाय के परवर्ती ग्र थो मे उल्लेख भी किये गये हैं।

श्री किशोरदास कृत 'निज मत सिद्धात' ग्रथ मे स्वामी जी के अनेक शिष्यो का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। उक्त शिष्यो मे श्री विट्ठलविपुल जी प्रथम बतलाये गये हैं। उनके अतिरिक्त स्वामी जी के शिष्यो मे आठ और प्रमुख थे। उनके नाम सर्वश्री १ दयालदास, २ मनोहरदास, ३ मधुकरदास, ४ गोविंददास, ५ केशवदास, ६ श्री अनन्य, ७. मोहनदास, और ८ बलदाऊदास लिखे गये हैं। उनके साथ ही श्री हरिराम जी व्यास के पुत्र किशोरदास जी और विख्यात सगीतज्ञ तानसेन को भी स्वामी जी के शिष्य कहा जाता है। 'निज मत सिद्धात' मे उल्लिखित इन तथाकथित शिष्यो के विवरण कहाँ तक प्रामाणिक हैं, यह बतलाना सभव नही है।

स्वामी हरिदास जी के एक शिष्य किशोरदास जी श्री हरिराम जी व्यास के छोटे पुत्र थे। राजा नागरीदास कृत 'पद प्रसग माला' मे उनका सक्षिप्त वृत्तात और उनके द्वारा रचा हुआ राम का एक पद दिया हुआ है। तानसेन के सबध मे गत पृष्ठो मे विस्तार से लिखा जा चुका है। श्री विट्ठलविपुल जी को स्वामी जी का वरिष्ट शिष्य और उनका उत्तराधिकारी माना गया है। उनसे इस सप्रदाय के सुप्रसिद्ध अष्टाचार्यो की परंपरा प्रचलित हुई थी।

हरिदास संप्रदाय के दो वर्ग—स्वामी हरिदास जी के सप्रदाय के समस्त अनुयायी दो वर्गों मे विभाजित हैं, जिनकी पृथक्-पृथक् गद्दियां है। एक वर्ग स्वामी जी के प्रधान शिष्य विट्ठलविपुल जी की शिष्य-परपरा के अनुगामियो का है, और दूसरा वर्ग स्वामी जी द्वारा प्रगटित श्री बिहारी जी के पुजारी जगन्नाथ जी के वशजो के परिकर का है। श्री विट्ठलविपुल जी की परपरा के सत गण अखड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विरक्त जीवन व्यतीत करते हैं, और श्री जगन्नाथ जी के वशज गृहस्थ होते हैं। श्री विट्ठलविपुल जी की गद्दी के अधिकारी इस सप्रदाय के 'आचार्य' कहलाते हैं, और उनके विरक्त शिष्यो को 'स्वामी' कहा जाता है। श्री जगन्नाथ जी के वशज 'श्री बिहारी जी के गोस्वामी' कहलाते हैं, और इन्हे 'गोस्वामी' कहा जाता है। वे परपरा से श्री बिहारी जी की सेवा-पूजा करते आ रहे है।

इस सप्रदाय का यह वर्ग-भेद आरभ मे नही था, वरन् बाद मे हो गया था । आरभ मे तो स्वामी जी के शिष्य गण और श्री बिहारी जी पुजारी गण 'निधुवन' मे एक साथ रहते हुए अपनी भक्ति-उपासना और सेवा-पूजा किया करते थे । श्री बिहारी जी का देव-विग्रह भी उनके साथ निधुवन मे ही विराजमान था । कालातर मे श्री बिहारी जी की सेवा, निधुवन के अधिकार और अन्य कई बातो पर दोनो मे मतभेद हो गया था । उस मतभेद के उग्र हो जाने पर दोनो मे इतना मनोमालिन्य बढ गया कि यह सप्रदाय दो परस्पर विरोधी वर्गो मे विभाजित हो गया था ।

वर्ग–भेद का कारण और उसका परिणाम—हरिदास सप्रदाय के दोनो वर्गो के मनोमालिन्य के कई कारण थे । श्री बिहारी जी की सेवा और निधुवन के अधिकार के साथ ही साथ एक बड़ा कारण श्री बिहारी जी के पुजारियो की वश-परपरा का तर्कातीत विवाद भी था । उक्त पुजारी गण अपने पूर्वज श्री जगन्नाथ जी को स्वामी हरिदास जी का अनुज मानते थे । इस प्रकार वे स्वामी जी के वशज होने का दावा करते थे । उनका यह दावा श्री विट्ठलविपुल जी की शिष्य-परपरा के विरक्त साधुओ को मान्य नही था । उक्त मतभेद ने दोनो वर्गो मे इतना मनोमालिन्य पैदा कर दिया था कि उसके फलस्वरूप उनमे झगड़े भी होने लगे थे ।

पारस्परिक झगड़ो से तग आने के कारण विट्ठलविपुल जी की परपरा के तत्कालीन आचार्य ललितकिशोरीदास जी निधुवन से हट कर यमुना किनारे के खुले मैदान मे घास की टट्टियो मे रहने लगे थे । तभी से श्री स्वामी जी की विरक्त गद्दी के रूप मे 'टट्टी सस्थान' की ख्याति हुई । जगन्नाथ जी के गृहस्थ वशजो के अधिकार मे निधुवन रहा आया और श्री बिहारी जी की सेवा-पूजा पर तो उनका पहिले से ही अधिकार था । यह वह समय था, जब दिल्ली का मुगल सम्राट मुहम्मदशाह (स १७७६ – स १८०५) शक्तिहीन होकर आमेर के सवाई राजा जयसिंह के बाहु-बल पर निर्भर हो गया था । जयसिंह मुगल दरबार की ओर से आगरा का सूबेदार नियुक्त हुआ और उसके प्रशासन मे वृ दावन सहित समस्त ब्रज प्रदेश आ गया । उसने वैष्णव धर्म के परपरागत चतु सप्रदाय की मर्यादा को स्थिर रखने के लिए वृ दावन के स्वतत्र भक्तिमार्गीय मतो को राजकीय मान्यता नही दी थी । उस काल के हरिदासी और राधावल्लभीय आचार्यो को उसने आदेश दिया कि वे चतु सप्रदायो मे से किसी एक के साथ अपना सबध स्थापित करे । उसी समय से 'टट्टी सस्थान' के विरक्त सतो की शिष्य-परपरा निंबार्क सप्रदाय से सबद्ध हो गई, और गृहस्थ गोस्वामियो के परिकर विष्णुस्वामी सप्रदाय के अतगत हो गये । इसके परिणाम स्वरूप हरिदास सप्रदाय दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रखने वाले वर्गो मे स्थायी रूप से विभाजित हो गया ।

श्री जगन्नाथ जी और उनके वशज—स्वामी हरिदास जी ने श्री बिहारी जी के स्वरूप का प्राकट्य किया था, जिनकी सेवा श्री जगन्नाथ जी को प्राप्त हुई थी । जगन्नाथ जी सारस्वत ब्राह्मण थे, और गृहस्थ थे । उनकी वश-परपरा के गोस्वामियो की मान्यता है कि वे श्री आशुधीर जी द्वियीय पुत्र और स्वामी हरिदास जी के छोटे भाई थे । स्वामी जी के वृ दावन-आगमन के कुछ समय पश्चात् ही वे उनके पास आ गये थे, और उनके साथ निधुवन मे निवास करते थे । स्वामी जी ने अपने उपास्य श्री बिहारी जी की सेवा का दायित्त्व उन्हे सौप दिया था । विरक्त शिष्यो की मान्यता है कि जगन्नाथ जी स्वामी जी के अनुज नही थे, और श्री बिहारी जी की सेवा भी उन्हे स्वामी जी के उपरात बिहारिनदास जी के काल मे दी गई थी । जगन्नाथ जी का देहावसान वृ दावन मे हुआ था । उनकी समाधि निधुवन मे स्वामी जी की समाधि के पास बनी हुई है ।

श्री स्वामी हरिदास जी के उपास्य—

श्री बिहारी जी
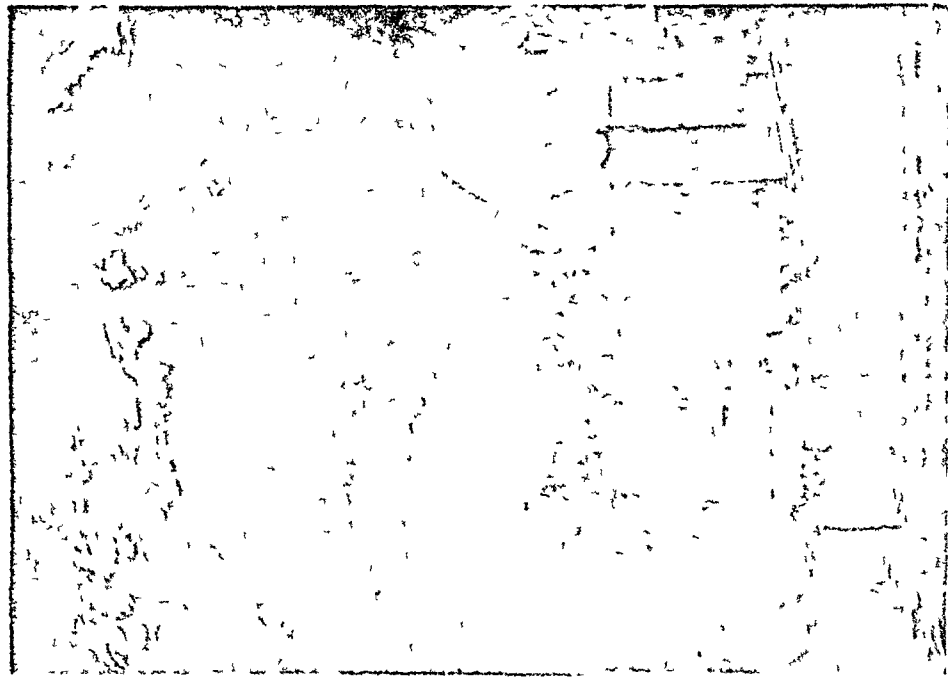
श्री बिहारी जी का रासमंडल (निधिवन)

श्री जगन्नाथ जी के तीन पुत्र हुए थे,—'सर्वश्री गोपीनाथ जी, मेघश्याम जी और मुरारीदास जी । उनमे सर्वश्री मेघश्याम जी और मुरारीदास जी के वशजो के अनेक परिवार प्रचुर काल से वृ दाबन मे निवास करते रहे है । उनके अधिकार मे परपरा से श्री बिहारी जी की सेवा है, और वे 'श्री बिहारी जी के गोस्वामी' कहलाते है । उनके आधिपत्य मे श्री स्वामी जी का निवास-स्थल 'निधुबन' और श्री बिहारी जी का मंदिर है। गोस्वामियो मे अनेक ठाकुर-सेवा परायण भक्त जन, विद्वान और व्रजभाषा के वाणीकार हुए है । उनकी प्रसिद्धि इतनी नही हुई, जितनी विट्ठलविपुल जी की विरक्त परपरा के अष्टाचार्यो और उनके शिष्य-प्रशिष्यो की है ।

हरिदास संप्रदाय के अष्टाचार्य—स्वामी हरिदास जी के पश्चात् उनकी शिष्य-परपरा मे जो विरक्त सत हुए है, उनमे से आरभ के प्रमुख आठ इस सप्रदाय के 'अष्टाचार्य' कहलाते है । उन्होने अपनी भक्ति-साधना, रसोपासना, वैराग्य-वृत्ति और विद्वत्ता से स्वामी जी के भक्ति-मार्ग की पर्याप्त प्रगति की थी । वे सब रसिक भक्त और परम विरक्त होने के साथ ही साथ विख्यात वाणीकार भी थे । उनका रचा हुआ प्रचुर वाणी साहित्य उपलब्ध है, जो व्रजभाषा भक्ति काव्य की अमूल्य निधि है ।

उन आचार्यो के जीवन-वृत्तात का प्रधान आकर ग्र थ श्री किशोरदास कृत 'निज मत सिद्धात' है । इसी ग्रथ के आधार पर श्री सहचरिशरण जी कृत 'ललित प्रकाश' मे और श्री बिहारी-शरण द्वारा सपादित 'श्री निबार्क माधुरी' मे अष्टाचार्यो का विवरण लिखा गया है। हम इन्ही ग्रथो के आधार पर उक्त आचार्यो का सक्षिप्त वृत्तात लिखते है ।

१ श्री विट्ठलविपुल जी (प्रायः १६वीं शती के मध्य से १७वी शती के मध्य तक)—

जीवन-वृत्तांत—स्वामी हरिदास जी के पश्चात् उनके सप्रदाय मे जो 'अष्टाचार्य' हुए है, उनमे श्री विट्ठलविपुल जी प्रथम आचार्य माने जाते है । उनके जन्म और देहावसान काल के सबध मे कोई निश्चित बात नही कही जा सकती है । इतना निश्चय है, वे स्वामी जी के समकालीन थे और उनके पश्चात् केवल कुछ दिनो तक ही जीवित रहे थे । 'निज मत सिद्धात' के अनुसार वे स्वामी जी के ममेरे भाई और आयु मे उनसे पाँच वर्ष बडे थे । स्वामी जी के वृ दावन-आगमन के पश्चात् वे भी उनके पास आ गये थे । उन्होने स्वामी जी से अगहन शु ५ को मत्र-दीक्षा प्राप्त की थी, और वे उनके प्रथम शिष्य थे[१] । गोस्वामियो की मान्यता के अनुसार वे स्वामी जी के भतीजे और उनके कनिष्ठ भ्राता श्री गोविंद जी के पुत्र थे ।

श्री विपुल जी स्वामी जी के शिष्यो मे सबसे प्रमुख और सर्वाधिक योग्य थे । वे परम विरक्त और रससिद्ध महात्मा थे । अपनी रसोपासना और सरस 'वाणी' के कारण वे 'रस सागर' कहे जाते थे । स्वामी जी के पश्चात् उन्हे उनका उत्तराधिकारी बनाया गया था, और वे उनके सप्रदाय के प्रथम आचार्य माने गये । उनके विषय मे यह किवदती प्रसिद्ध है कि स्वामी जी के देहात के अनतर उन्होने अपने नेत्रो से इसलिए पट्टी बाँध ली थी, कि जिन आँखो से स्वामी जी का दिव्य स्वरूप देखा है, उनसे अब और किसी को नही देखना है । एक बार रास मे उन्हे नेत्र खोलने को विवश होना पडा, किंतु उन्होने तत्काल अपना शरीर त्याग दिया था ! इसका उल्लेख प्रियादास जी ने भी किया है[२] ।

---

(१) निज मत सिद्धात, मध्य खड, पृष्ठ ५६
(२) भक्तमाल की 'भक्ति रस बोधिनी' टीका, कवित्त स ३७७

विपुल जी की रसोपासना की संपुष्टि स्वामी जी के सत्संग में हुई थी, अतः वे श्रीश्यामा-कुंजविहारी जी के दिव्य केलि-रस के वास्तविक अधिकारी थे। उनकी वाणी के रूप में केवल ४० पद प्राप्त है। यह स्वल्प रचना भी ब्रजभाषा भक्ति साहित्य की निधि है। इसमें सखी भाव से प्रिया-प्रियतम के 'नित्य विहार' का सुंदर कथन किया गया है। 'निज मत सिद्धांत' के अनुसार वे शतायु हुए थे। उन्होने तीस वर्ष तक घर मे और सत्तर वर्ष तक वृंदावन मे निवास किया था। वे अगहन शु ५ को श्री स्वामी जी के चरणाश्रित, और कार्तिक कृ ७ को निकुंज-वासी हुए थे[1]। 'निज मत सिद्धांत' मे उनके जन्म, वृंदावन-आगमन और देहावसान के जो संवत् दिये गये हैं, वे ठीक नही है। उनकी समाधि 'निधुवन' मे बनी हुई है। उनके उपरांत श्री बिहारिनदास जी को उनका उत्तराधिकारी बनाया गया था।

२ श्री बिहारिनदास जी (उपस्थिति काल १७वीं शती)—

जीवन-वृत्तात—वे श्री विट्ठलविपुल जी के पश्चात् हरिदास सप्रदाय के आचार्य हुए थे। विपुल जी तो केवल कुछ दिनो तक ही आचार्य रहे थे, अतः श्री बिहारिनदास जी ही वस्तुतः इस सप्रदाय के प्रथम आचाय थे। स्वामी हरिदास जी और श्री विट्ठलविपुल जी का काल अनिश्चित होने से श्री विहारिनदास जी के यथार्थ काल का निश्चय करने मे भी बाधा उपस्थित होती है। 'निज मत सिद्धात' के अनुसार उनके जन्म और देहावसान के संवत् क्रमशः १५९१ और १६५६ हैं, किंतु वे ठीक नही हैं। उनका जन्म १६वीं शती के अंत मे श्रावण शु ३ को दिल्ली मे हुआ था, और वे सं १६७० के लगभग निकुंज-वासी हुए थे।

'निज मत सिद्धात' के अनुसार श्री विहारिनदास का पिता मित्रसेन दिल्ली का निवासी था, और सूरजध्वज ब्राह्मण था। वह सम्राट अकबर का उच्च पदाधिकारी था। उसके कोई पुत्र नही होता था। स्वामी हरिदास जी के आशीर्वाद से उसे पुत्र हुआ, और स्वामी जी ने ही उसका नाम विहारिनदास रखा था। मित्रसेन का देहावसान होने पर सम्राट ने विहारिनदास को उसके स्थान पर नियुक्त कर दिया था, किंतु वे वैराग्य-प्रिय होने के कारण अपने पद पर न रह सके, और राजकीय सेवा छोड कर वृंदावन चले आये। यहाँ आकर उन्होने श्री विट्ठलविपुल जी से मंत्र-दीक्षा ली थी। वे ३३ वर्ष की आयु तक घर मे और उसके उपरांत ६५ वर्ष तक वृंदावन मे रहे थे[2]। उनका देहावसान भी वृंदावन मे ही हुआ था। उनकी समाधि निधुवन मे बनी हुई है।

व्यक्तित्व और महत्त्व—श्री विहारिनदास जी परम विरक्त, रसिक भक्त और अत्यंत तेजस्वी महात्मा थे। उनकी प्रकृत्ति मे फक्कडपन के साथ निर्भयता और एक प्रकार की 'ऐंड' थी; जो उन्हे ब्रज के अन्य भक्त जनो से विशिष्टता प्रदान करती है। वे स्वामी जी द्वारा प्रचलित सखी भाव की भक्ति एवं नित्य विहार संबधी रसोपासना के महान् ज्ञाता और प्रथम व्याख्याता थे। उनका विशाल वाणी साहित्य स्वामी जी की वाणी का विशद व्याख्यान माना जाता है।

वे दीर्घ काल तक हरिदास सप्रदाय के आचार्य रह कर रसिक भक्तो का मार्ग-प्रदर्शन करते रहे थे। उन्होने अपनी अनुपम भक्ति-भावना, उच्च कोटि की रसोपासना, अपूर्व वैराग्य-वृत्ति और विशाल वाणी-रचना द्वारा इस सप्रदाय की बडी उन्नति की थी। वे अपने सप्रदाय मे 'गुरुदेव'

---

(१) निज मत सिद्धात, अवसान खड, पृष्ठ ३
(२) वही ,, ,, , पृष्ठ १०३

की आदरणीय उपाधि से प्रसिद्ध है। उनकी महत्ता की प्रशसा जिन अनेक भक्तो ने की है, उनमे हरिदास सप्रदाय के अतिरिक्त अन्य सप्रदायो के विशिष्ट महानुभाव भी है। उनके समकालीन भक्तो मे सर्वश्री हरिराम जी व्यास और ध्रुवदास जी उनके बडे प्रशसक थे[1]।

वाणी-रचना—उन्होने 'रस' और 'सिद्धात' के साथ ही साथ नीति, उपदेश और शिक्षा सबधी प्रचुर रचना की है। उनके रचे हुए प्राय ७०० साखी के दोहे, ३०० सिद्धात के पद और १२५ चौबोला है, तथा २५० के लगभग शृ गार रस के पद है। इस प्रकार हरिदासी आचार्यो मे उनकी रचना का परिमाण सबसे अधिक है। उन्होने शृ गार रस की रचनाओ मे वहाँ नित्य विहार की दिव्य केलि-क्रीडाओ का सरस गायन किया है, वहाँ साखी के दोहो और सिद्धात के पदो आदि मे ज्ञान, वैराग्य, नीति और उपदेश के मार्मिक एव सारगर्भित कथन किये है।

उनकी साखी और सिद्धात की रचनाओ की एक बडी विशेषता यह है कि उनमे सत-साहित्य की सी तेजस्विता के दर्शन होते है। उनकी कुछ रचनाओ मे कबीरदास का सा फक्कडपन और फटकार भी है। उन्होने शाक्तो की बडे कटु शब्दो मे निंदा की है[2]। इसके साथ ही उन्होने अनन्य भक्ति मे बाधक श्राद्ध कर्म और तीर्थ यात्रा की तथा लोभी कथावाचको एव ढोगी पडितो की भी तीव्र आलोचना की है[3]। अपनी इन विशेषताओ मे श्री विहारिनदास जी और हरिराम जी व्यास ब्रजभाषा के सैकडो भक्त-कवियो मे बिलकुल बेजोड है। विहारिनदास जी की रचनाओ का महत्व साप्रदायिक होने के साथ ही साथ साहित्यिक भी है।

३ श्री नागरीदास जी (उपस्थिति काल १७वीं शती)—

जीवन-वृत्तांत—ब्रज के विख्यात भक्तो मे नागरीदास नाम के कई महात्मा हुए है। उनमे नेही नागरीदास, बडे नागरीदास और राजा नागरीदास अधिक प्रसिद्ध है। नेही नागरीदास जी राधा-वल्लभ सप्रदाय के रसिक भक्त थे, जिनका वृत्तात गत पृष्ठो मे लिखा जा चुका है। बडे नागरीदास जी हरिदास सप्रदाय के यही महानुभाव थे। वे अपने सप्रदाय के अन्य महात्मा सरसदास जी के बडे भाई थे, अत 'बडे नागरीदास' के नाम से अपने समय मे ही प्रसिद्ध हो गये थे। वे और नेही नागरीदास जी समकालीन थे। राजा नागरीदास उन दोनो के परवर्ती भक्त-कवि थे।

'निज मत सिद्धात' के अनुसार यह नागरीदास तथा इनके छोटे भाई सरसदास राज्यमत्री कमलापति के पुत्र थे और जाति के गौड ब्राह्मण थे। नागरीदास जी का जन्म स. १६०० की माघ शु ५ को हुआ था। वे २२ वर्ष की आयु मे अपने जन्म-स्थान से वृ दावन आये थे, और ४८ वर्ष

---

(१) १. साँची प्रीति विहारिनदासै।
कै करुआ, कै कुज-कामरी, कै धरु श्री स्वामी हरिदासै॥
महा माधुरी मत्त मुदित ह्वै, गावत रस जस जगत उदासै॥ (व्यास जी)
२. मत्त भयौ रस-माधुरी, करी न दूजी बात।
बिनु विहार निजु एक रस, और न कछू सुहात॥ (ध्रुवदास जी)

(२) साकत सग न जाइयै, जो सोने कौ होय। साकत सूद्र-मच्लेछ सौं, बुरौ न कहियै कोय॥

(३) १. है गयौ सब ससार सराधी। ये गये कूर कुरुक्षेत्र नहान। गया जु गया, सु गयाई गया।
२ भीख को और कथा बहुतेरी। पाडे पढि-पढ़ाय, बकि-बहके। (सिद्धात के पद)

तक यहाँ रहे थे। इस प्रकार ७० वर्ष की आयु मे स १६५० की वैशाख सु ६ को उनका देहात हुआ था[1]। अनुसधान से सिद्ध हुआ है कि नागरीदास जी से सबधित ये तिथि-सवत् पूरी तरह ठीक नही हैं, इनमे कुछ वर्षो का अतर है।

नागरीदास जी के पिता एक श्रद्धालु भक्त थे। वे हरिदासी महात्माओ के प्रति बडी श्रद्धा रखते थे। उनके दोनो पुत्र भी आरभ से ही भक्ति मार्ग की ओर आकर्षित हो गये थे। वे घर-गृहस्थी के झझट से मुक्त हो कर विरक्त भाव से ब्रज-वास करना चाहते थे। उनके माता-पिता ने भी उनकी उस इच्छा मे कोई बाधा नही डाली थी। फलत नागरीदास जी और बाद मे उनके छोटे भाई सरसदास जी वृ दावन आ गये थे। वे हरिदासी महात्माओ के सत्सग मे रहने लगे थे।

नागरीदास जी की रचना के अत साक्ष्य से ज्ञात होता है कि वे सर्वश्री विट्ठलविपुल जी और विहारिनदास जी के साथ बहुत दिनो तक रहे थे[2]। इससे सिद्ध होता है कि वे स्वामी हरिदास जी की विद्यमानता मे ही वृ दावन आ गये थे, क्यो कि श्री विट्ठलविपुल जी का देहावसान श्री स्वामी जी के निकुज-गमन के कुछ ही दिन पश्चात् हो गया था। इस प्रकार वे स्वामी जी, विपुल जी और विहारिनदास जी तीनो के सत्सग मे रहे थे, किंतु उन्होने मत्र-दीक्षा विहारिनदास जी से ली थी। वे श्री विहारिनदास जी के उत्तराधिकारी थे, किंतु उनके कुछ समय पश्चात् ही वे निकुज-वासी हो गये थे। फलत उनके छोटे भाई सरसदास जी इस सप्रदाय के आचार्य हुए थे।

वाणी-रचना और शिष्य गण—नागरीदास जी ने दोहा, सवैया आदि छदो मे रचना की है, जो परिमाण मे अधिक नही है। उनके २० साखी के दोहे और ७० शृगार के पद मिलते हैं, जो सिद्धात और सरसता की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। उनकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है, और इसमे बडा प्रवाह है। 'वाणी' के अतिरिक्त उन्होने स्वामी हरिदास जी कृत 'केलिमाल' की विस्तृत टीका भी की है। नागरीदास जी के शिष्यो मे कृष्णदास जी और नवलदास जी के नाम उल्लेखनीय हैं।

कृष्णदास जी—वे एक रसिक भक्त जन थे। उनकी एक रचना 'गुरु मगल' है, जिसमे सर्वश्री स्वामी हरिदास जी, विहारिनदास जी और नागरीदास जी का गुण-गान किया गया है। इसे 'स्वामी हरिदास-रस-सागर' ग्र थ मे प्रकाशित किया गया है।

नवलदास जी—ऐसा कहा जाता है, वे श्री नागरीदास जी के भतीजे थे। वे भी सर्वश्री नागरीदास जी और सरसदास जी की तरह घर-बार छोड कर विरक्तावस्था मे वृ दावन आ गये थे। वे अनन्य भाव से प्रिया-प्रियतम की उपासना करते हुए उनके 'नित्य विहार' रस मे सदैव मग्न रहा करते थे। उन्होने नागरीदास जी से मत्र-दीक्षा ली थी। उनके निवास और भजन की रमणीक स्थली बरसाने की मोरकुटी कही जाती है। 'निज मत सिद्धात' मे उनकी जन्म-तिथि स १६१६ की अगहन शु ५ लिखी गई है[3], जो ठीक नही है। उनकी सक्षिप्त 'वाणी' 'स्वामी हरिदास-रस-सागर' मे प्रकाशित की गई है। इसमे उनकी नाम-छाप 'नवल सखी' मिलती है।

---

(१) निज मत सिद्धात, अवसान खड, पृष्ठ ६४-६५

(२) विपुल-बिहारिनदास कौ, मै पूरौ पायौ सग।
'नागरीदास' फूलत सदा, देखि दुहुनि कौ रंग ॥

—कृष्ण भक्ति काव्य मे सखी भाव, पृष्ठ ४८६

(३) निज मत सिद्धात, अवसान खड, पृष्ठ ६५

४. श्री सरसदास जी (उपस्थिति-काल १७वी शती के प्राय अत तक)—

जीवन-वृत्तांत—वे पूर्वोक्त महात्मा नागरीदास जी के छोटे भाई और राज्य मत्री कमलापति के छोटे पुत्र थे। वे नागरीदास जी की भाँति ही श्री बिहारिनदास जी के शिष्य हुए थे, और उनके पश्चात् हरिदास सप्रदाय के आचार्य बनाये गये थे। श्री किशोरदास कृत 'निज मत सिद्धात' और सहचरिशरण कृत 'आचार्योत्सव सूचना' के अनुसार उनका जन्म स १६११ की आश्विन पूर्णिमा को हुआ था। वे ३० वर्ष तक घर पर रह कर ४२ वर्ष तक वृदावन मे रहे थे। इस प्रकार ७२ वर्ष की आयु मे स. १६८३ की श्रावण शु १५ को उनका देहावसान हो गया था। ये तिथि-सवत् कहाँ तक प्रामाणिक है, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता है। सरसदास जी श्री बिहारिनदास जी के पश्चात् कई वर्ष तक विद्यमान रहे थे। हरिदास सप्रदाय के आचार्यो मे उनका नाम अपने विनम्र स्वभाव और सत्सग-परायण होने के कारण प्रसिद्ध है। वे परम भक्त, श्रीश्यामा-कुजबिहारी जी के अनन्य उपासक तथा सतो एव रसिक जनो के सर्वस्व थे।

वे सिद्ध कोटि के महात्मा थे। उनके विषय मे कहा जाता है कि उन्होने अपने उत्तराधिकारी नरहरिदास का नाम बिना पूर्व परिचय के ही घोषित कर दिया था। उनका भविष्य कथन अत मे सत्य सिद्ध हुआ था। उनकी वाणी मे कवित्त, सवैया और पद मिलते है, जो परिमाण मे नागरीदास जी से भी कम है, किंतु उनमे सरसता की कमी नही है। उनकी भाषा मे ब्रज के साथ ही साथ अन्य क्षेत्रो की बोलियो तथा फारसी के भी कुछ शब्द मिलते हैं, जिनसे उनकी बहुभाषाभिज्ञता तथा विद्वता प्रकट होती है। उनके देहावसान के उपरात नरहरिदास जी इस सप्रदाय के आचार्य हुए थे।

५ श्री नरहरिदास जी (स. १६४० – स. १७४१)—

जीवन-वृत्तांत—उनका चमत्कारपूर्ण जीवन-वृत्त 'निज मत सिद्धात' मे लिखा गया है। उससे ज्ञात होता है, नरहरिदास जी बुदेलखड के गूढो नामक ग्राम मे रहने वाले एक हरिभक्त ब्राह्मण विष्णुदास के पुत्र थे। उनमे बचपन से ही दैवी गुणो का प्रकाश होने लगा था। उनके द्वारा अनेक चमत्कारिक कार्य किये जाने की किंवदतियाँ प्रचलित है। वे अपने दैवी गुण और साधु-सेवा के कारण बुदेलखड मे दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गये थे। ३५ वर्ष की आयु होने पर वे घर-बार छोड कर विरक्तावस्था मे ब्रज-वास करने को चल दिये। यहाँ पर उन्होने हरिदास सप्रदाय के आचार्य सरसदास जी से दीक्षा ली थी। फिर वे स्थायी रूप से वृदावन मे रहने लगे। सरसदास जी का देहावसान होने पर उन्हे इस सप्रदाय का आचार्य बनाया गया था। 'निज मत सिद्धात' के अनुसार उनका जन्म स. १६४० की ज्येष्ठ कृ २ को हुआ था। वे ३५ वर्ष तक घर पर और ६६ वर्ष तक वृदावन मे रहे थे। इस प्रकार १०१ वर्ष की दीर्घायु होने पर उनका देहावसान स १७४१ की पौष शु ७ को वृदावन मे हुआ था[१]।

औरंगजेबी दमन—नरहरिदास जी के अतिम काल मे औरगजेब की दमन नीति का ब्रज पर क्रूर प्रहार हुआ था। उसके फलस्वरूप मथुरा-वृदावन-गोवर्धन आदि विविध स्थानो के मंदिर-देवालय नष्ट किये गये थे, और हिंदुओ को सताया गया था। उस समय यहाँ के अनेक भक्त जन अपने उपास्य देव के विग्रहो के साथ ब्रज से हट कर अन्यत्र चले गये थे। हरिदास सप्रदाय के

---

(१) निज मत सिद्धांत, अवसान खंड, पृष्ठ १२०

आचार्य वृदावन की सीमा को छोड कर कही नही जाते थे; किंतु उस सकट काल मे नरहरिदास जी ने विभिन्न स्थानो का भ्रमण किया था। उस समय श्री बिहारी जी के स्वरूप की किस प्रकार रक्षा की गई, इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख नही मिलता है।

वाणी-रचना—नरहरिदास जी की कुछ वाणी उपलब्ध है, जो अन्य हरिदासी आचार्यो के रचना-परिमाण की तुलना मे सबसे कम है। उनके रचित कुछ पद और दोहा ही मिलते है। उनके नाम से सस्कृत मे रचित एक 'गुरु-परपरा' कही जाती है; जिसकी प्रामाणिकता सदिग्ध है।

६ श्री रसिकदास जी (सं १६६२ – स १७५८)

जीवन-वृत्तात—वे आचार्य नरहरिदास जी के शिष्य थे, और उनके निकुज-वास के अनतर हरिदास सप्रदाय के आचाय हुए थे। उनके आरभिक जीवन का प्रामाणिक विवरण नही मिलता है। हिंदी साहित्य के कतिपय इतिहास ग्रथो मे उनके जीवन-वृत्तात को राधावल्लभीय रसिकदास जी के जीवन-वृत्त से मिला दिया गया है, जिसके कारण और भी भ्रम उत्पन्न हो गया है। हरिदासी विद्वानो के मतानुसार उनका जन्म स १६६२ मे हुआ था। वे स १७४१ मे आचार्य हुए थे, और स १७५८ मे उन्होने निकुज-वास किया था[1]। वे अत्यत क्रियाशील एव युगदर्शी महात्मा थे, और समयानुसार प्राचीन परपराओ मे परिवर्तन करने के पक्षपाती थे। उनकी यह प्रवृत्ति उनके आचार्य होने के बहुत पहिले से ही प्रकट होने लगी थी, जिसे उनके गुरु जी ने पसद नही किया था। सभवत उनकी क्रातिकारी मनोवृत्ति के कारण ही आचार्य नरहरिदास जी ने उन्हे अपनी शिष्य-मडली से पृथक् कर दिया था, और वे अपमानित होकर वृदावन छोडने को भी विवश हुए थे। किंतु उनकी गुरु-भक्ति यथावत् बनी रही थी। वे जहाँ भी गये, वहाँ से ही विविध उपायो द्वारा अनन्य भाव से गुरु-सेवा करते रहे थे। उनकी अपूर्व निष्ठा के कारण गुरु जी को उन्हे अपनाना पडा, और वे पुन वृदावन आकर उनके सत्सग मे रहने लगे थे। नरहरिदास जी के उपरात उन्हे हरिदास सप्रदाय का आचार्य बनाया गया था।

साप्रदायिक विवाद—जिस समय वे आचार्य हुए थे, उस समय ब्रज के सभी भक्ति-सप्रदायो की बडी शोचनीय अवस्था थी। एक ओर औरगजेब की दमन-नीति के कारण उनकी धार्मिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी, तो दूसरी ओर उनमे आतरिक कलह और पारस्परिक मनोमालिन्य भी बढ गया था। उसी काल मे हरिदासी विरक्त सतो और श्री बिहारी जी के पुजारी गोस्वामियो के आतरिक विवाद का सूत्रपात हुआ था। उसके कारण विरक्त सत निधुवन को छोडने लगे थे। रसिकदास जी भी उस समय निधुवन से हट गये थे। वे कुछ काल तक कालियदह पर रहे, बाद मे उन्होने श्री रसिकविहारी जी की प्रतिष्ठा कर पृथक् गद्दी की स्थापना की थी।

उसी काल मे हरिदासी सतो और राधावल्लभीय गोस्वामियो मे भी मनोमालिन्य हो गया था। उसके कारण दोनो के साप्रदायिक साहित्य मे ऐसे उल्लेख किये जाने लगे और साप्रदायिक चित्रो का इस प्रकार से चित्रण किया जाने लगा कि उससे एक सप्रदाय की दूसरे सप्रदाय से महत्ता जान पडती थी। उस प्रकार की साप्रदायिक विकृति उस समय के दूषित वातावरण के कारण उत्पन्न हुई थी, और बाद मे वह और भी बढ गई थी।

---

(१) निंबार्क माधुरी, पृष्ठ ३१३

श्री रसिकबिहारी जी के मंदिर का निर्माण और गद्दी की स्थापना—आचार्य रसिकदास जी ने वृंदाबन मे एक मदिर का निर्माण कराया था, और उसमे अपने उपास्य श्री रसिक-बिहारी जी को प्रतिष्ठित किया था। वह हरिदास सप्रदाय का प्रथम मदिर था, क्यो कि स्वामी जी के उपास्य श्री बिहारी जी का तब तक कोई खास मदिर—देवालय नही बनाया गया था। रसिकदास जी ने मदिर—निर्माण के साथ ही साथ पृथक् गद्दी की भी स्थापना की थी। वह हरिदास सप्रदाय के विरक्त सतो की प्रथम स्वतत्र गद्दी थी। उसके बाद रसिकदास जी के शिष्यो ने[१] दो अन्य गद्दियाँ भी स्थापित की थी।

श्री रसिकविहारी जी के स्वरूप के सबध मे वृदावन निवासी गोपाल कवि का कथन है कि उनका प्राकट्य भी श्री बिहारी जी की भाँति निधुबन से ही हुआ था[१]। किंतु यह भक्तो की भावना मात्र है। रसिकदास जी ने जो मदिर बनवाया था, वह श्री रसिकविहारी जी का पुराना मदिर था। कुछ काल पश्चात् उसे मुसलमान आक्रमणकारियो ने ध्वस्त कर दिया था। उस समय हरिदासी भक्त जनो ने श्री रसिकविहारी जी के स्वरूप को वृदावन से हटा दिया, और सुरक्षा की दृष्टि से उन्हे उदयपुर—डूँगरपुर आदि राज्यो मे रखा था। बाद मे जब वृदावन मे उनका नया मदिर बन गया, तब उन्हे डूँगरपुर से लाकर उसमे प्रतिष्ठित किया गया था।

साहित्य-रचना—श्री रसिकदास जी ने अपने सप्रदाय के पूर्वाचार्यो की भाँति वाणी—रचना भी की थी। उनके रचे हुए 'रस' और 'सिद्धात' के पद-दोहे अष्टाचार्यो की वाणी मे सकलित मिलते है, जो बडे मार्मिक है। इनके अतिरिक्त उन्होने ग्र थ—रचना भी की थी। हरिदासी आचार्यो मे वे प्रथम ग्र थकार थे। उनके ग्र थो के नाम १ गुरु-मगल, २ बाल-लीला, ३ भक्ति-सिद्धात-मणि, ४ पूजा विलास, ५ वाराह सहिता, ६ रसार्णव पटल, ७ कुज-कौतुक और ८ रस-सार हैं। इनके अतिरिक्त उनकी एक सस्कृत रचना 'गुरु—परपरा' भी है, जो डा० शरणविहारी गोस्वामी के मतानुसार प्रक्षिप्त है[२]।

इन ग्र थो के वर्ण्य विषय के सबध मे डा० गोपालदत्त शर्मा का मत है,—'स्वामी रसिक-दास जी ने अपनी पूर्व परपरा से चले आते विषयो के अतिरिक्त अन्य अनेक बातो को भी अपनी वाणी मे स्थान दिया। इनमे से कुछ सप्रदाय मे चली आती उपासना—पद्धति के विरुद्ध भी थी[३]।' उन्होने हरिदासी मान्यता के विशुद्ध 'सखी भाव' के अतिरिक्त 'ब्रज भाव' का भी कथन किया है। इन सब बातो से उनकी क्रातिकारी प्रकृत्ति का परिचय मिलता है।

शिष्य समुदाय—श्री रसिकदास जी के बहुसख्यक शिष्य थे। साप्रदायिक उल्लेखो मे उनके शिष्यो की सख्या ५२ बतलाई गई है। उनमे से सर्वश्री १ ललितकिशोरीदास जी, पीतावरदास जी, ३. गोविंददास जी, ४ रूपसखी जी, ५ चरणदास जी और ६ बनी—ठनी जी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्री ललितकिशोरीदास जी प्रधान शिष्य थे। उन्हे हरिदास सप्रदाय का सातवाँ आचार्य माना जाता है। उनका वृत्तात आगे लिखा गया है। अन्य प्रमुख शिष्यो का सक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत है।

---

(१) वृदावन धामानुरागावली मे 'श्री रसिकबिहारी जी के मदिर का प्रसंग'
(२) कृष्ण भक्ति काव्य मे सखी भाव, पृष्ठ ४९३ और ४३३
(३) स्वामी हरिदास जी का सप्रदाय और उसका वाणी साहित्य, पृष्ठ ४०५

श्री पीतावरदास जी— उनका जन्म स १७३४ के लगभग नारनौल के निकटवर्ती साभापुर नामक गाँव के एक ब्राह्मण कुल मे हुआ था । उनका पूर्वनाम प्रयागदास था, किंतु विरक्त होने पर वे पीतावरदास के नाम से प्रसिद्ध हुए थे । अपनी युवावस्था मे ही वे विरक्त हो गये थे, और साधु-सतो के सत्सग मे रह कर कठोर साधना करते रहे थे । उन्होने कई सिद्धियाँ प्राप्त की थी, और लोगो को वडे चमत्कार दिखलाये थे । कहते है, उन्होने एक बार अजमेर जा कर वहाँ के मुल्लाओ को अपनी सिद्धि से चकित कर दिया था[1] । अत मे विविध स्थानो मे घूमने-फिरते हुए वे वृदावन आये थे । यहाँ उन्हे श्री रसिकदास जी के सत्सग का सुयोग प्राप्त हुआ । वे उनके शिष्य हो गये, और गुरु जी के आदेशानुसार वे सिद्धियो तथा चमत्कारो को भुला कर अहर्निश रसोपासना मे तल्लीन रहने लगे । रसिकदास जी के उपरात वे श्री रसिकबिहारी जी के मदिर के अधिकारी और उनकी गद्दी के प्रथम महत हुए थे । उनके शिष्यो मे 'निज मत सिद्धात'—कार श्री किशोरदास का नाम अधिक प्रसिद्ध है । पीतावरदास जी ने प्रचुर परिमाण मे वाणी-रचना की है । उनकी प्रमुख रचनाएँ १ समय प्रबध, २ सिद्धात के पद, ३ सिद्धात की साखी, ४ शृगार रस के पद, ५ आचार्यो की बधाई तथा ६ केलिमाल की पद्यबद्ध टीका आदि है ।

श्री गोविददास जी—वे एक विरक्त महात्मा और रसिक भक्त थे । उन्होने आचार्य नरहरिदास जी के सेव्य ठाकुर श्री गोरीलाल जी का मदिर बनवा कर हरिदास सप्रदाय के विरक्त शिष्यो की एक अन्य गद्दी की स्थापना की थी ।

रूपसखी जी—वे एक रसिक भक्त थे, और सखीवाची 'रूपसखी' के उपनाम से प्रसिद्ध थे । उनका मूल नाम और जीवन-वृत्तात अज्ञात है । उनकी रचना के अत साक्ष्य से ज्ञात होता है कि वे आचार्य रसिकदास जी के शिष्य थे । उन्होने पर्याप्त वाणी-रचना की है, जो अत्यत सरस और भावपूर्ण है । इसकी एक हस्त लिखित प्रति स १८०६ की उपलब्ध है । इसे श्री राधामोहनदास गुप्त ने 'श्री रूप सखी की वाणी' के नाम से वृदावन से प्रकाशित किया है । इसमे 'सिद्धात' के १२० पद, ८८ साखी के दोहे, और 'रस' के ८१२ पद, ६६ दोहे एव ७८ कवित्तादि है ।

चरणदास जी—उनका जीवन-वृत्तात भी अज्ञात है । उनकी रचना के अत साक्ष्य से ही विदित हुआ है कि वे श्री रसिकदास जी के शिष्य थे । उनके रचे हुए चार ग्रथो का नामोल्लेख मिलता है । वे है,—१ शिक्षा प्रकाश, २ भक्ति माला, ३ रहस्य दर्पण और ४. रहस्य चद्रिका । इनमे से अतिम दोनो ग्र थो का रचना-काल क्रमश स १८१२ और स १८१८ है । उनकी भावना सखी भाव की थी और उनकी 'कविता प्रवाहपूर्ण तथा सुदर है[2] ।'

बनी-ठनी जी—यह भक्तहृदया महिला भक्तवर राजा नागरीदास की दासी थी, और उनके साथ ही वृदावन मे निवास करने आई थी । यहाँ पर उसने आचार्य रसिकदास जी से मत्र-दीक्षा ली थी । उसका देहावसान स १८२२ की आषाढ शु १५ को वृदावन मे हुआ था, जहाँ उसकी समाधि-छत्री बनी हुई है । उसने 'रसिक विहारी' की नाम-छाप से रचना की है, जिसमे व्रजभाषा के साथ राजस्थानी के भी कुछ शब्द मिले हुए है ।

---

(१) निंबार्क माधुरी, पृष्ठ २९७-२९९
(२) कृष्ण भक्ति काव्य मे सखी भाव, पृष्ठ ५०५

७ श्री ललितकिशोरीदास जी (सं १७३३ – सं. १८२३)—

जीवन-वृत्तांत—वे आचार्य रसिकदास जी के प्रधान शिष्य थे, और उनके उपरात हरिदास सप्रदाय के आचार्य बनाये गये थे। श्री महचरिशरण जी के मतानुसार उनका जन्म स. १७३३ मे भदावर राज्य के एक ग्राम मे हुआ था। वे माथुर ब्राह्मण थे, और उनका आरभिक नाम गगाराम था। युवावस्था मे ही उनके चित्त मे वैराग्य उत्पन्न हो गया था। वे घर–बार छोड कर सत्सग करते हुए भ्रमण करने लगे। अत मे वृ दावन पहुँच कर श्री रसिकदास जी के शिष्य हुए थे। तब उनका नाम ललितकिशोरीदास रखा गया। वे स्वामी हरिदास जी के आदर्श पर केवल कोपीन, कथा एव करुआ का उपयोग करते थे और अत्यत विरक्त भाव से रहते हुए रसोपासना एव वाणी–रचना मे तल्लीन रहा करते थे। उन्होने स १८२३ मे निकुज–प्रवेश किया था। उनके शिष्यो मे प्रधान श्री ललितमोहिनीदास जी थे, जो उनके पश्चात् हरिदास सप्रदाय के आचार्य हुए थे।

वाणी–रचना—श्री ललितकिशोरीदास जी ने प्रचुर वाणी–साहित्य की रचना की है। इसका परिमाण श्री बिहारिनदास जी के बाद अष्टाचार्यो मे सबसे अधिक है। यह रचना अधिकतर दोहा छद मे हुई है, किंतु इसमे सोरठा, चौपाई, अरिल्ल आदि छद तथा पद भी मिलते है। इसे हरिदास सप्रदाय के 'अष्टाचार्यो की वाणी' मे सकलित किया गया है। इसमे उनके द्वारा रचित 'सिद्धात' के १२०० दोहे, १३० पद और 'रस' के १४७ पद, ५० चौपाइयाँ तथा 'बधाई' के २५ पद है। इन्हे 'स्वामी हरिदास रस सागर' मे वृ दावन से प्रकाशित किया गया है।

श्री ललितकिशोरीदास ने जहाँ 'रस' की रचना मे विशुद्ध सखी भाव से 'नित्य विहार' का माधुर्यपूर्ण कथन किया है, वहाँ 'सिद्धात' की रचना मे उन्होने उत्कृष्ट भक्ति–भावना से सबधित मार्मिक उक्तियाँ प्रस्तुत की है। शुद्ध प्रेम मे सयोग–वियोग का सर्वथा अभाव बतलाते हुए उन्होने प्रिया–प्रियतम की चिरतन केलि–क्रीडा मे नित्य नवीनता की बात कही है[1]। उन्होने भक्ति का ढोग रचने वाले भावना शून्य तथाकथित भक्तो की, और विवादप्रिय एव खडनात्मक प्रवृत्ति के असहिष्णु पडितमानी व्यक्तियो की तीव्र आलोचना की है[2]। इस सबध मे ललितकिशोरीदास जी की उक्तियाँ अपने पूर्ववर्ती आचार्य बिहारिनदास जी के कथन से बहुत-कुछ मिलती हुई है।

---

(१) १ बिछुरन-मिलन जहाँ रहै, सुद्ध प्रेम नहिं होय।
मिलत-मिलत हू चाह अति, सुद्ध प्रेम है सोय॥
२ नित्य सरद नित तीज है, नित होरी सु बसत।
नित्य केलि छिन-छिन नई, जाके सुखहिं न अंत॥

(२) १. पेटन को भटकत फिरैं, धरैं भक्ति कौ स्वांग।
हरि–गुरु कौं लाजत निलज, बिन संतोष अभाग॥
भक्ति–भाव बिन बानी कहै। कर्कश लागै, हिय को दहै॥
बिना सुहाग सिंगारहिं करै। काके पियहि अंक मे भरै॥
२. पडित वाद वहौत तू करै। औरे खडित नैंक न डरै॥
सील-सुभाव नाँहि जिय धरै। वादहिं जन्म नर्क में परै॥
सब पटिवेकौ तत्व विचार। हरि कौ भजन परम सुख-सार॥
निश्चय करि यह जिय निरधार। नाना मतौ भरम निवार॥

टट्टी संस्थान की स्थापना—जब श्री बिहारी जी के गोस्वामियों से मनोमालिन्य होने पर आचार्य रसिकदास जी निधुवन से हट गये थे, तब उनके शिष्यो को भी उस पुनीत स्थल से नाता तोडना पडा था । श्री ललितकिशोरीदास पहले तो अपने गुरु श्री रसिकदास जी के साथ उनकी सेवा मे रहते थे, किंतु बाद मे कदाचित उनके क्रांतिकारी एव प्रगतिशील विचारो से असहमत होने के कारण वे अलग रहने लगे थे । उन्होने अपने गुरु के उत्तराधिकारी के रूप मे श्री रसिकबिहारी जी की गद्दी का महत बनना भी स्वीकार नही किया था । वे अपने समान विचार वाले कतिपय विरक्त सतो के साथ यमुना पुलिन की बालुकामयी भूमि के एकात स्थल पर रहने लगे थे । वह स्थान एकदम खुला हुआ और अरक्षित था, इसलिए कतिपय श्रद्धालु भक्तो ने उसे चारो ओर से बांस की टट्टियो से घेर दिया था । टट्टियो के उस घेरे मे ही श्री ललितकिशोरीदास जी अपने सहयोगी विरक्त सतो एव रसिक भक्तो के साथ स्वामी हरिदास जी के आदर्श का अक्षरश पालन करते हुए अपनी 'सखी भाव' की साधना और 'नित्य विहार' की रसोपासना करने लगे । कालातर मे वह स्थल ही 'टट्टी सस्थान' के नाम से प्रसिद्ध हुआ था । उसकी विशेष ख्याति श्री ललितकिशोरीदास जी के उत्तराधिकारी श्री ललितमोहिनीदास जी के काल मे हुई थी ।

विरक्त संतो की विविध गद्दियाँ—जैसा पहिले लिखा गया है, हरिदास सप्रदाय के विरक्त सतो की प्रथम स्वतत्र गद्दी आचार्य रसिकदास जी ने 'श्री रसिकबिहारी जी सस्थान' के रूप मे स्थापित की थी । रसिकदास जी के उपरात उसकी तीन शाखाएँ हो गई थी, और उनकी गद्दियो के अध्यक्ष श्री रसिकदास जी के तीन वरिष्ठ शिष्य हुए थे । श्री रसिकबिहारी जी की गद्दी के महत पीताबरदास जी हुए । 'टट्टी सस्थान' की गद्दी के सस्थापक श्री ललितकिशोरीदास जी थे, और उसके महत उनके शिष्य श्री ललितमोहिनीदास जी हुए थे । श्री रसिकदास जी के एक अन्य शिष्य गोविंददास जी ने ठाकुर श्री गोरीलाल जी की तीसरी गद्दी की स्थापना की थी । विरक्त शिष्यो की इन तीनो गद्दियो की गुरु-शिष्य के क्रम से पृथक्-पृथक् परपराएँ चली है । किंतु उनमे 'टट्टी सस्थान' की अधिक प्रसिद्धि है, और उसी को हरिदास सप्रदाय के विरक्त शिष्य वर्ग का प्रधान केन्द्र माना जाता है ।

सांप्रदायिक विभाजन—श्री ललितकिशोरीदास जी के आचार्यत्व-काल की सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना हरिदासी विरक्त सतो द्वारा निंबार्क सप्रदाय को स्वीकार करना है । जैसा पहिले लिखा जा चुका है, हरिदास सप्रदाय ने वैष्णव धर्म के चतु सप्रदायो से पृथक् अपना स्वतत्र विकास किया था । किंतु आमेर नरेश जयसिंह के दबाव के कारण इस सप्रदाय को उस समय अपना स्वतत्र अस्तित्व कायम रखना असभव हो गया था । फलत विरक्त सतो ने अपने समुदाय को निंबार्क सप्रदाय के अतर्गत घोषित किया था । उस काल मे श्री बिहारी जी के पुजारी गृहस्थ गोस्वामियो का विरक्त सतो से गहरा मतभेद और मनोमालिन्य था । इसलिए विरक्त समुदाय की उस घोषणा की प्रतिक्रिया मे गृहस्थ गोस्वामियो ने अपने समुदाय को विष्णुस्वामी सप्रदाय के अतर्गत मानना आरभ कर दिया । इस प्रकार श्री ललितकिशोरीदास जी के उत्तर काल मे हरिदास सप्रदाय के दोनो प्रधान वर्गो का जो साप्रदायिक विभाजन हुआ था, वह अभी तक विद्यमान है ।

हरिदास सप्रदाय के विरक्त शिष्य समुदाय को निंबार्क सप्रदाय के अतर्गत लाने मे श्री पीताबरदास जी के सुयोग्य शिष्य किशोरदास जी का विशेष उत्साह और प्रयत्न रहा था, अत उनका कुछ विशेष वृत्तात यहाँ लिखा जाता है ।

श्री किशोरदास—उनका जन्म जयपुर राज्य की पुरानी राजधानी आमेर मे हुआ था। उनके पिता का नाम घासीराम और माता का नाम खेमादेवी था। वे सारस्वत ब्राह्मण थे। उनके जन्म और देहावसान के यथार्थ तिथि–सवत् उपलब्ध नही है। उन्होने अपनी प्रसिद्ध रचना 'निज मत सिद्धात' (अवसान खड, पृष्ठ १५८) मे लिखा है कि उन्हे स १७६१ की वैशाख शु ३ को मत्र–दीक्षा दी गई थी[1]। उनके कथन से यह भी ज्ञात होता है कि वे अपनी किशोरावस्था मे ही दीक्षित हुए थे। इस अत साक्ष्य से उनका जन्म–काल स १७७०–७५ के लगभग अनुमानित होता है। आचार्य ललितकिशोरदास जी के गुरुभाई श्री पीताबरदास जी उनके गुरु थे।

किशोरदास जी ने देश के अनेक तीर्थ स्थलो एव धार्मिक स्थानो का पर्याप्त पर्यटन किया था, जिससे उनका ज्ञान वडा विस्तृत था। वे शोधक विद्वान, उत्साही तथा कर्मठ सप्रदाय-प्रचारक, कल्पनाशील ग्र थकर्त्ता, उपासना–भक्ति के मर्मज्ञ और एक समर्थ भक्त–कवि थे। उनका रचा हुआ विशाल साहित्य उपलब्ध है। हरिदासी विरक्त सतो मे उनका व्यक्तित्व और कृतित्व दोनो ही वडे निराले है। उनकी विद्यमानता प्राय स. १८३०–४० तक अनुमानित होती है।

निज मत सिद्धात—किशोरदास जी की प्रसिद्धि का प्रमुख आधार उनकी 'निज मत सिद्धात' नामक रचना है। यह हरिदासी परपरा का विशाल सदर्भ ग्र थ और उसका विशद इतिहास है। इसके कल्पनाशील सुविस्तृत परिवेश के कारण इसे इतिहास की अपेक्षा एक प्रकार का पुराण कहना अधिक उपयुक्त होगा। इससे पहिले स्वामी हरिदास जी और उनकी परपरा के आचार्यो का क्रमबद्ध विवरण लिखित रूप मे उपलब्ध नही था। किशोरदास जी ने परपरागत अनुश्रुतियो और सप्रदाय मे उपलब्ध सूचनाओ के आधार पर इसे सर्वप्रथम उक्त ग्र थ मे विशद रूप से लिखा है। इसके साथ ही इसमे हरिदासी सप्रदाय को निंवार्क सप्रदाय की परपरा से सबद्ध करने का प्रथम बार प्रयास किया गया है। इस ग्रथ मे श्री निंबार्काचार्य जी से लेकर उनकी शिष्य-परपरा के द्वादश आचायो का, और फिर श्री देवाचार्य जी से लेकर स्वामी हरिदास जी और उनकी शिष्य-परपरा के अष्टाचार्यो का विस्तृत विवरण तिथि–सवत् सहित दिया गया है। बीच-बीच मे साप्रदायिक सिद्धात, उपासना, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, उपदेश आदि की अनेक बाते भी लिखी गई है।

जिस समय इस ग्र थ की रचना हो रही थी, उस समय हरिदास सप्रदाय के दोनो वर्गो मे वडा विवाद था, और पारस्परिक मतभेद तथा राजा जयसिंह के दबाब के कारण विरक्त सतो ने निंवार्क सप्रदाय को स्वीकार कर लिया था। उस सामयिक वातावरण का प्रभाव इस ग्र थ मे सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। इसकी रचना मे लेखक का निंवार्क सप्रदाय के प्रति नया जोश, और उसके प्रचार का प्रबल आग्रह भी दिखलाई देता है।

यह ग्रथ रचना–शैली की दृष्टि से सुव्यवस्थित और शृ खलाबद्ध नही है। इसमे कई स्थानो पर पुनरावृत्ति और पूर्वापर क्रम–विरोध भी है। इसमे जो तिथि–सवत् दिये गये है, वे भी प्राय: आनुमानिक जान पडते है। इन दोषो के कारण इस ग्र थ की कटु आलोचना भी हुई है। फिर भी हरिदास सप्रदाय से सवधित प्रचुर सामग्री और दुर्लभ सूचनाओ के कारण इसका महत्त्व निर्विवाद है। इसकी समस्त सामग्री को जुटाने और सूचनाओ को एकत्र करने मे किशोरदास जी को निस्सदेह वडा परिश्रम करना पडा होगा। यदि यह ग्रथ न होता, तो आज स्वामी जी और उनकी परपरा के सवध मे अनेक बाते लुप्त हो गई होती।

---

(१) सप्तादस इक्यानवे, संवत्सर सुख दीन। वैसाखी तृतीया सुकल, मोहि शिष्य कर लीन॥

इस ग्रथ के चार खड हैं, और इनकी रचना अधिकतर दोहा-चौपाई छदों मे हुई है। बीच-बीच मे कुछ अन्य छदो का भी प्रयोग किया गया है। इसमे रचना-काल का उल्लेख नही है। श्री वासुदेव गोस्वामी के मतानुसार इसकी रचना स. १८२० के लगभग अनुमानित की गई है[१]। इस ग्रथ का प्रकाशन अब से प्राय ५० वर्ष पहिले हुआ था, किंतु उसको कई वर्षों से यह सर्वथा दुष्प्राप्य हो गया है। इसे सशोधित और सुसपादित रूप मे समुचित पाठ-टिप्पणियो के साथ पुन प्रकाशित करना आवश्यक है।

वाणी-रचना—यदि किशोरदास जी ने केवल 'निज मत सिद्धात' ग्रथ ही रचा होता, तब भी उनका नाम हरिदासी भक्तो मे चिर स्मरणीय रहता, किंतु उन्होने प्रचुर वाणी साहित्य की भी रचना की है। 'निज मत सिद्धात' का अन्य प्रकार से चाहे कितना ही महत्व हो, किंतु इसमे वह सखी भाव की भक्ति और नित्य विहार की रसोपासना दिखलाई नही देती, जो हरिदासी रसिक भक्तो की निजी विशेषता है। किंतु इस वाणी साहित्य मे यह विशेषता भी उभर आई है।

किशोरदास जी की 'वाणी' मे उनकी सिद्धात और रस सबधी रचनाएँ हैं। 'सिद्धात' की रचनाओ मे १ सिद्धात सरोवर, २ सिद्धात सार सग्रह, ३. अद्भुत आनद रस, ४ दरसैन आनद रस और ५ स्फुट कवित्त-सवैया हैं। श्री विश्वेश्वरशरण जी ने इनका सपादन कर इन्हे 'सिद्धात-रत्नाकर' नामक ग्रथ मे सकलित किया है। 'रस' सबधी रचनाओ मे १ प्रेमानद पच्चीसी, २ श्री वृदाविपिन विलास, ३ नेह तरग, ४ वर्षोत्सव और ५ आचार्योत्सव हैं। इन्हे श्री राधामोहनदास गुप्त ने सपादित रूप मे 'श्री किशोरदास जी की वाणी' नामक ग्रथ मे सकलित किया है। इनके अतिरिक्त उनकी दो छोटी रचनाएँ 'श्री आसुधीर जू को चरित्र' तथा 'श्री विहारिनदास जू को चरित्र' भी हैं। इन समस्त रचनाओ की हस्त प्रतियाँ स्वय किशोरदास जी की लिखी हुई कही जाती हैं, अत लिपि और भाषा की दृष्टि से भी इनका बडा महत्व है। ये सभी ग्रथ दो जिल्दो मे श्री निंबार्क शोध मडल, वृदावन द्वारा प्रकाशित किये गये हैं। यह ऐसी उपलब्धि है, जो हरिदास सप्रदाय एव ब्रजभाषा भक्ति साहित्य दोनो के लिए गौरवपूर्ण है।

८. श्री ललितमोहिनीदास जी (सं. १७८० – स १८५८)

जीवन-वृत्तांत—वे आचार्य ललितकिशोरीदास जी के प्रधान शिष्य थे, और उनके उपरात हरिदास सप्रदाय के आचार्य एव 'टट्टी सस्थान' के महत हुए थे। उन्हे सुप्रसिद्ध महात्मा हरिराम जी व्यास का वशज कहा जाता है। 'ललित प्रकाश' के अनुसार उनका जन्म स १७८० मे बुदेलखड के ओरछा नगर मे हुआ था। वे युवावस्था मे ही विरक्त होकर वृदावन आ गये थे, और श्री ललितकिशोरीदास जी से दीक्षा लेकर हरिदासी मान्यता के अनुसार उपासना-भक्ति करने लगे थे। स. १८२३ मे जब उनके गुरुदेव का निकुज-प्रवेश हुआ, तब वे उनके उत्तराधिकारी के रूप मे आचार्य-गद्दी पर आसीन हुए थे। उनकी भक्ति-भावना, वैराग्य-वृत्ति और सेवा-परायणता की बडी प्रसिद्धि थी। बडे-बडे राजा-रईस और सेठ-साहूकार उनके दर्शन तथा सत्सग के लिए लालायित रहते थे। कहते हैं, पजाब-केसरी रणजीतसिंह और मराठा वीर महादजी सिंधिया भी उनके भक्तो मे थे। उनका निकुज-प्रवेश स १८५८ मे हुआ था। वे हरिदासी अष्टाचार्यों मे अतिम माने जाते हैं। उन्होने कुछ वाणी-रचना भी की थी, जो अष्टाचार्यों की वाणी के साथ संकलित मिलती है।

---

(१) भक्त-कवि व्यास जी (अग्रवाल प्रेस, मथुरा) पृष्ठ ३३

'टट्टी संस्थान' की उन्नति और उसका सांप्रदायिक स्वरूप—श्री ललितकिशोरीदास जी ने जिस 'टट्टी सस्थान' की स्थापना की थी, उसकी समुचित व्यवस्था और उन्नति का श्रेय ललित-मोहिनीदास जी को है। इसीलिए इस सस्थान को 'मोहिनीदास जी की टट्टी' भी कहते है। उन्होने श्री मोहिनीविहारी जी के स्वरूप की प्रतिष्ठा कर उनकी सेवा-पूजा का भी समुचित प्रबध किया था। श्री ललितकिशोरीदास जी के समय से हरिदास सप्रदाय के विरक्त सत निंबार्क सप्रदाय के अतर्गत अवश्य हो गये थे, किंतु वे उक्त सप्रदाय की सभी मान्यताओ को पूर्णतया अगीकार नही कर सके थे। ललितमोहिनीदास जी ने उपासना-भक्ति, आचार-विचार, वेश-भूषा और तिलकादि साप्रदायिक बातो मे कुछ ऐसी विशिष्टताएँ निश्चित की थी, जिनसे 'टट्टी सस्थान' निंबार्क सप्रदाय के अतर्गत रहते हुए भी अपना पृथक् महत्त्व कायम रख सका है।

शिष्य-समुदाय—श्री ललितमोहिनीदास जी के अनेक शिष्य थे, जिनका उल्लेख श्री सहचरिशरण कृत 'ललित प्रकाश' मे हुआ है। उन शिष्यो मे सर्वश्री भगवतरसिक जी और चतुरदास जी प्रमुख थे। श्री ललितमोहिनीदास जी के उपरात भगवतरसिक जी से 'टट्टी सस्थान' का महत बनने के लिए कहा गया था, किंतु उपासना-भक्ति और भजन-ध्यान मे अहर्निश लगे रहने के कारण उन्होने उक्त पद को स्वीकार नही किया। फलत श्री चतुरदास जी उक्त सस्थान के महत बनाये गये थे। हरिदासी सतो की परपरा मे श्री भगवतरसिक जी एक विशिष्ट महात्मा हुए हैं, अतः उनका कुछ विशेष वृत्तात यहाँ लिखा जाता है।

श्री भगवतरसिक जी—वे हरिदास सप्रदाय के अष्टम आचार्य श्री ललितमोहिनीदास जी के शिष्य तथा सुप्रसिद्ध रसिक भक्त और विख्यात वाणीकार थे। उनके जन्म-सवत्, जन्म-स्थान तथा जीवन-वृत का कही भी कोई उल्लेख नही मिलता है। श्री वियोगी हरि जी के मतानुसार वे स १७९५ के लगभग उत्पन्न हुए थे[१]। श्री किशोरदास कृत 'निज मत सिद्धात' के उपरात श्री सहचरिशरण कृत 'ललित प्रकाश' मे हरिदासी रसिक भक्तो और सत-महात्माओं का विस्तृत कथन किया गया है, किंतु उसमे भी भगवतरसिक जी के सबध मे कुछ नही लिखा गया। गोपाल कवि कृत 'वृदावन धामानुरागावली' से ऐसा सकेत मिलता है कि वे छत्रपुर के निवासी थे, और हरिदासी महात्माओ की भक्ति-साधना एव वाणी-रचना से प्रभावित होकर उनके सत्सग से लाभान्वित होने के लिए वृदावन आ गये थे[२]। यहाँ आने पर वे श्री ललितमोहिनीदास जी के शिष्य हुए, और उत्कट वैराग्य धारण कर भक्ति-साधना मे तल्लीन रहने लगे।

वे परम विरक्त, अनन्य भक्त और रसोपासक महात्मा थे। सखी भाव से प्रिया-प्रियतम के नित्य विहार की रसानुभूति करना उनके जीवन का चरम लक्ष था। वे सब प्रकार के प्रपचो से दूर रह कर अपने इस लक्ष की पूर्ति मे ही दिन-रात लगे रहते थे; इसीलिए उन्होने 'टट्टी सस्थान' का महत होना भी स्वीकार नही किया था।

वाणी-रचना और हरिदासी उपासना का विवेचन—श्री भगवतरसिक जी की महत्ता का आधार और प्रसिद्धि का कारण उनकी महत्वपूर्ण 'वाणी' है। इसमे हरिदासी मान्यता के अनुसार सखी भाव की भक्ति और नित्यविहार की रसोपासना का विशद विवेचनात्मक कथन किया गया है।

---

(१) ब्रज माधुरी सार, पृष्ठ २१६

(२) वृदावन धामानुरागावली मे 'टट्टी स्थान का वर्णन'

स्वामी जी के भक्ति-तत्त्व और उनकी उपासना-पद्धति के प्रथम व्याख्याता बिहारिनदास थे। उनके उपरात श्री भगवतरसिक जी ने ही स्वामी जी के मत का विशद रूप मे स्पष्टीकरण किया है। उन्ही के प्रयास से स्वामी जी का उपासना मार्ग एक सुव्यवस्थित 'सप्रदाय' का स्वरूप धारण कर सका था। उनसे पहिले विरक्त सतो ने निबार्क सप्रदाय के अतर्गत और गृहस्थ गोस्वामियो ने विष्णुस्वामी सप्रदाय के अतर्गत अपने-अपने वर्गो की स्थिति निश्चित की थी। किंतु मालूम होता है, वह प्रयास सर्व सम्मत नही हो सका था। उसकी प्रबल प्रतिक्रिया श्री भगवतरसिक जी की वाणी मे मिलती है। उन्होने हरिदासी परपरा को किसी भी प्राचीन सप्रदाय के अतर्गत न मान कर स्वतत्र स्वीकार किया है। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, उन्होने इस सबध मे ईश्वर-इच्छा को प्रधान मान कर इसके सिद्धात को 'इच्छाद्वैत' और इस सप्रदाय को 'सखी सप्रदाय' बतलाया है। इस प्रकार साप्रदायिक वर्ग-भेद से उठते हुए हरिदासी मत को स्वामी जी की मूल भावना के अनुसार नियमित और व्यवस्थित करने का श्रेय भगवतरसिक जी को दिया जा सकता है।

श्री भगवतरसिक जी की वाणी परिमाण मे अधिक नही है, किंतु सप्रदाय के साथ ही साथ भाषा और साहित्य की दृष्टि से वह बडी महत्वपूर्ण है। उनकी कई छोटी-छोटी रचनाएँ मिलती हैं, जिनके नाम १ अनन्य निश्चयात्मक ग्रथ पूर्वार्ध, २ उत्तरार्ध, ३. नित्यविहारी जुगल ध्यान, ४ अनन्य रसिकाभरण ग्रथ, ५ निर्विरोध मनरजन ग्रथ और ६ होरी-धमार है। इनमे विविध छदो और पदो द्वारा हरिदास सप्रदाय की मान्यता के अनुसार 'सिद्धात' और 'रस' का अधिकारपूर्ण कथन किया गया है। ये रचनाएँ 'श्री भगवतरसिक की वाणी' के नाम से अब से प्राय: ५०-६० वर्ष पहिले टट्टी सस्थान की प्रेरणा से प्रकाशित की गई थी, किंतु इधर कई वर्षों से वे दुष्प्राप्य थी। इन्हे श्री राधामोहनदास गुप्त ने टट्टी सस्थान के सरक्षण मे पुन प्रकाशित किया है।

देहावसान और शिष्य गण—श्री भगवतरसिक जी के शिष्य बिहारीवल्लभ जी ने अपने गुरु का बडा गुणानुवाद किया है। उनके कथन से भगवतरसिक जी के इतिवृत्त पर भी कुछ प्रकाश पडता है। उन्होने बतलाया है, एक बार श्री भगवतरसिक जी तीर्थ-यात्रा और गगा-स्नान के विचार से प्रयाग गये थे। उनके साथ अनेक सत-महात्मा और रसिक भक्त भी थे। उन्होने कुछ काल तक तीर्थराज मे निवास किया था। अत मे उसी पुण्य स्थल पर उनका पचभूतात्मक शरीर छूटा था[1]। उनका देहावसान स १८६०-६५ के लगभग अनुमानित होता है। उनके शिष्यो मे श्री बिहारीवल्लभ का नाम उल्लेखनीय है।

श्री बिहारीवल्लभ—उनकी रचना के अत साक्ष्य से ज्ञात होता है कि वे कालिजर गढ नामक स्थान के निवासी थे, और ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए थे। पूर्व सस्कार वश उनके चित्त मे वैराग्य जागृत हो गया था, अत वे घर-कुटुब को छोड कर अपनी पत्नी सहित वृदावन आ गये थे। यहाँ पर उन्होने श्री भगवतरसिक जी से मत्र-दीक्षा ली थी। वे बडे श्रद्धालु भक्त थे। उन्होने कुछ 'वाणी' की रचना भी की है, जिसमे 'रस'-कथन और गुरु-यश-वर्णन की प्रधानता है। उनकी

(१) १ एक समय महाराज, मनोरथ किय सुरसरि कर।
चले सग सब सत, और रस-रग रसिकवर ॥२०॥
२ तीरथराज प्रयाग महँ, पचीकृत तन तजि दियौ।
कहत देव 'जय' शब्द,सब, भगवत सम नहिं भव वियौ ॥२३॥ (श्री बिहारीवल्लभ की वाणी)

'वाणी' की जो छोटी-छोटी रचनाएँ हैं, उनके नाम १ श्री सखी सुख सार सिद्धात, २ होरी-धमारि, ३ प्रशंसा, ४ श्री भगवतरसिक अनन्य नाम प्रताप, ५ श्री भगवतरसिक नाम प्रभाव और ६ श्री भगवद्भक्त नामावली हैं। इन्हे श्री राधामोहनदास गुप्त ने सपादित कर श्री निंवार्क शोध मडल, वृ दावन द्वारा प्रकाशित कराया है। श्री बिहारीवल्लभ जी का उपस्थिति काल १९ वी शती के प्राय अतिम चतुर्थांश तक जान पडता है।

टट्टी सस्थान की परंपरा—

श्री चतुरदास जी—वे अष्टम आचार्य ललितमोहिनीदास जो के शिष्य थे, और उनके उपरात स १८५८ की भाद्रपद शु ६ को इस सस्थान के महत हुए थे। वे प्राय. एक वर्ष तक ही जीवित रहे थे। तत्पश्चात् उनके शिष्य ठाकुरदास जी उनके उत्तराधिकारी हुए थे।

श्री ठाकुरदास जी—वे श्री चतुरदास जी के पश्चात् स १८५९ की माघ शु. ५ को इस सस्थान के महत हुए थे। उनका देहावसान स १८६८ मे हुआ था। उनके पश्चात् उनके शिष्य राधाशरण जी सस्थान के महत बने थे। उनके एक अन्य शिष्य शीतलदास जी बडे प्रतिभाशाली भक्त–कवि हुए है।

शीतलदास जी—उनके जीवन–वृत्तात और निश्चित काल के सबध मे कुछ भी ज्ञात नही होता है। उनके गुरु ठाकुरदास जी के आचार्यत्व–काल के आधार पर उनकी विद्यमानता १९ वी शती के प्राय अत तक जान पडती है। वे हरिदासी महात्माओ मे अपने ढग के निराले भक्त–कवि थे। ब्रजभाषा, सस्कृत और फारसी के वे अच्छे विद्वान थे। उनकी गुलजार चमन, आनद चमन और विहार चमन नामक रचनाएँ बडी प्रसिद्ध हैं, जिनमे उनके निरालेपन की छटा दिखलाई देती है। इन रचनाओ की भाषा ब्रज मिश्रित खडी बोली है, किंतु इसमे सस्कृत और फारसी शब्दो का भी प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। कही–कही पर तो ये रचनाएँ उर्दू शायरी जैसी हो गई हैं। उनकी व्यजनात्मक शैली से कुछ लोग इनकी भावना को लौकिक प्रेम के अर्थ मे भी घसीटते है।

इन रचनाओ मे 'लालविहारी' का नाम प्राय. आता है, जिसके प्रति शीतलदास जी की उत्कट आसक्ति की भावना व्यक्त हुई है। कुछ लोगो की कल्पना है कि 'लालविहारी' कोई सुदर बालक था, जिस पर वे बडे अनुरक्त थे। इस प्रकार का कथन सर्वथा भ्रमपूर्ण और मिथ्या है। वास्तव मे यह नाम हरिदास सप्रदाय के उपास्य स्वरूप श्री बिहारी जी का है, और शीतलदास जी की रचनाओ मे उनके प्रति अलौकिक प्रेम की व्यजना हुई है। श्री मिश्रबधुओ ने उनके काव्य की प्रशसा करते हुए कहा है,—'सीतल के चमन वास्तव मे भाषा–साहित्य के अपूर्व रत्न हैं। इनकी पूरी रचना मे एक छद भी शिथिल या नीरस नही है, और वह बडी ही जोरदार एव चित्ताकर्षिणी है। इनकी रचना मे स्वच्छद उमग, उपमा, रूपक और अनूठेपन की खूब बहार है, और खयालात की बुलद परवाज़ी तथा बारीकियाँ अच्छी हैं[1]।'

श्री राधाशरण जी—वे श्री ठाकुरदास जी के पश्चात् स. १८६८ की ज्येष्ठ शु. ३ को सस्थान के महत हुए थे, और स. १८७८ तक विद्यमान रहे थे। उन्होंने केलिमाल पर 'वस्तुदर्शिनी' टीका तथा कुछ पदो की रचना की है। उनके शिष्यों मे सहचरिशरण उपनाम रसीलशरण जी प्रधान थे, जो उनके उत्तराधिकारी हुए थे।

---

(१) मिश्रबधु विनोद, द्वितीय भाग पृष्ठ ९३३–३४

श्री सहचरिशरण जी—वे सखीशरण जी के नाम से भी प्रसिद्ध थे। उनका जन्म स १८३० मे हुआ था, और वे स १८६१ मे टट्टी संस्थान के महंत श्री राधाशरण जी के शिष्य हुए थे। अपने गुरु के पश्चात् वे स. १८७८ मे उक्त संस्थान के महंत बनाये गये थे। उनके गुरु-भाई मथुरा के गोकुलचद्र चतुर्वेदी थे। उन्होने 'टट्टी संस्थान' मे रासपूर्णिमा के दिन 'समाज और मेला' का आयोजन कराया था, जो अभी तक प्रचलित है। उस मेले मे मथुरा के बहुत से चतुर्वेदी जाते हैं। सहचरिशरण जी का देहावसान स १८९४ मे हुआ था। वे परम भक्त होने के साथ ही साथ सुदर कवि भी थे। उनकी ग्रंथ रचना प्रसिद्ध है।

ग्रंथ-रचना—श्री सहचरिशरण जी द्वारा रचित ग्रंथ ललित प्रकाश, सरस मजावली, गुरु प्रणालिका, आचार्योत्सव सूचनिका, नख-शिख ध्यान और रासलीला विलास हैं। इनमे से 'ललित प्रकाश' मे स्वामी हरिदास जी से लेकर टट्टी संस्थान के महंत ललितमोहिनीदास जी तक के चरित्रो का कथन किया गया है। इसका आधार श्री किशोरदास कृत 'निज मत सिद्धात' ग्रथ है, और उसी के सदृश इसमे साप्रदायिकता और प्रचार का भी आग्रह दिखलाई देता है। इस ग्रथ के दो खड है, और इसकी रचना विविध छंदों मे हुई है। 'सरस मजावली' मे १४० सांझ या माझ नामक छद है। इसका काव्य-सौन्दर्य अनुपम है। इसमे नागरीदास जी की शैली का अनुकरण किया गया है। इसकी भाषा व्रज मिश्रित खड़ी बोली है, जिसमे संस्कृत और फारसी शब्दो का भी प्रचुरता से समावेश हुआ है। कहीं-कहीं पर पजाबी भाषा के शब्द भी मिलते हैं। श्री वियोगीहरि ने 'सरस मजावली' की प्रशसा मे कहा है,—"इसकी रचना बड़ी उच्च कोटि की है। काव्य-चमत्कार के साथ ही इसमे प्रेम-माधुरी और रस-वारुणी की एक निराली छटा और मादकता है। इसकी भाषा भी अनूठे ढग की है। कोई-कोई पद तो 'तीर, तलवार और तमचा' का काम करता है[1]।" 'गुरु प्रणालिका' और 'आचार्योत्सव सूचनिका' साम्प्रदायिक रचनाएँ हैं। इनमे से पहिली मे निंबार्क सप्रदाय की मान्यता के अनुसार हंस भगवान् से लेकर ललितमोहिनीदास जी तक की गुरु-परपरा का परिचयात्मक कथन किया गया है। दूसरी मे स्वामी हरिदास जी से लेकर ललितमोहिनीदास जी तक हरिदासी आचार्यो का तिथि-सवत् सहित उल्लेख किया गया है। इन दोनो रचनाओ की मूल सामग्री प्राय किशोरदास जी कृत 'निज मत सिद्धात' पर ही आधारित है। इस प्रकार किशोरदास जी के अतिरिक्त सहचरिशरण जी के ग्रथ हरिदास सप्रदाय के इतिवृत्तात्मक कथन के लिए सहायक सिद्ध होते हैं।

टट्टी संस्थान के परवर्ती महंत—श्री सहचरिशरण जी के पश्चात् टट्टी संस्थान के महतो मे क्रमश सर्वश्री राधाप्रसाद जी, भगवानदास जी, रणछोरदास जी, राधारमणदास जी और राधाचरणदास जी हुए हैं।

श्री रसिकबिहारी जी की गद्दी की परपरा—

श्री पीतांबरदास जी और उनके शिष्य-प्रशिष्य—जैसा पहिले लिखा गया है, इस गद्दी की स्थापना हरिदास सप्रदाय के छटे आचार्य रसिकदास जी ने की थी। उनके उपरात उनके शिष्य पीताबरदास जी इस के महत हुए थे। पीताबरदास जी और उनके सुप्रसिद्ध शिष्य किशोरदास का वृत्तात गत पृष्ठो मे लिखा जा चुका है। पीताबरदास जी के पश्चात् उनके शिष्य हरिदेवशरण जी इस सस्थान की महत गद्दी पर आसीन हुए थे।

---

(१) ब्रज माधुरी सार, पृष्ठ २४६

श्री हरिदेवशरण जी के पश्चात् इस गद्दी के जो महत हुए है, उनके नाम क्रमश सर्वश्री गोबर्धनशरण जी, कृष्णशरण जी, नरोत्तमशरण जी, निंवार्कशरण जी, जगन्नाथशरण जी, ललित-शरण जी, गगाशरण जी, लाडिलीशरण जी और राधाशरण जी है। इनमे गोबर्धनशरण जी और नरोत्तमशरण जी अधिक प्रसिद्ध हुए है।

श्री गोबर्धनशरण जी—इस गद्दी के महतो मे श्री पीताबरदास जी के पश्चात् गोवर्धन-शरण जी एक विख्यात महात्मा हुए है। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, आचार्य रसिकदास जी ने अपने उपास्य श्री रसिकबिहारी जी का वृ दावन मे जो मदिर बनवाया था, उसे मुसलमान आक्रमणकारियो ने ध्वस्त कर दिया था। उस सकट काल मे श्री रसिकबिहारी जी के स्वरूप को वृ दावन से हटा कर उदयपुर–डूंगरपुर आदि स्थानो मे रखा गया था। महत गोवर्धनशरण जी ने स १८१२ मे श्री रसिकविहारी जी का नया मदिर बनवाया, और उनके विग्रह को डूंगरपुर से ला कर उसमे प्रतिष्ठित किया था।

श्री नरोत्तमशरण जी—वे श्री गोवर्धनशरण जी के प्रशिष्य और कृष्णशरण जी के शिष्य थे। उनके समय मे वृ दाबन मे गोपालराय नामक एक प्रसिद्ध कवि हुआ था। उसने उनकी प्रेरणा से वृ दावन के प्रसिद्ध मदिर–देवालय, देवविग्रह और सत–महतादि का एक परिचयात्मक ग्रथ 'श्री वृ दाबन धामानुरागावली' के नाम से लिखा था; जिसकी पूर्ति स १९०० मे हुई थी। यह ग्र थ उस काल के वृ दाबन की धार्मिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए बडा उपयोगी है। इसे अभी तक प्रकाशित नही किया गया है। इसमे उल्लिखित रसिकबिहारी जी के वर्णन से ज्ञात होता है कि नरोत्तमदास जी ने अपने पूर्ववर्ती छै महत सर्वश्री नरहरिदास जी, रसिकदास जी, पीताबरदास जी, हरिदेवशरण जी, गोवर्धनशरण जी और कृष्णशरण जी की समाधियाँ श्री रसिकबिहारी जी के नये मदिर मे बनवाई थी।

श्री गोरीलाल जी की गद्दी की परंपरा—

श्री गोविंददास जी और उनके शिष्य-प्रशिष्य—जैसा पहिले लिखा गया है, इस गद्दी की स्थापना हरिदास सप्रदाय के छटे आचार्य रसिकदास जी के एक शिष्य गोविंददास जी ने की थी। इसके मदिर मे आचार्य नरहरिदास जी के सेव्य श्री गोरीलाल जी का देव-विग्रह प्रतिष्ठित है। श्री गोविंददास जी के पश्चात् इस गद्दी के जो महत हुए है, उनके नाम क्रमश सर्वश्री मथुरादास जी, प्रेमदास जी, जयदेवदास जी, श्यामचरणदास जी, हरनामदास जी, गोपीवल्लभ जी, बलरामदास जी, गुलाबदास जी, हरिकृष्णदास जी, दामोदरदास जी और बालकदास जी है।

श्री बिहारी जी के गोस्वामियों की परपरा—

श्री बिहारी जी की सेवा और जगन्नाथ जी के वंशज—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, श्री जगन्नाथ जी को स्वामी हरिदास जी के सेव्य स्वरूप श्री बिहारी जी की सेवा प्राप्त हुई थी, जो उनके उपरात उनके वशजो के अधिकार मे परपरा से रही है। जगन्नाथ जी के वशज 'श्री बिहारी जी के गोस्वामी' कहलाते है, और वे प्राय. गृहस्थ होते है, जब कि स्वामी जी की शिष्य-परपरा की जिन तीन गद्दियो का अभी उल्लेख किया गया है, उनके महत गण विरक्त साधु होते है। श्री जगन्नाथ जी के वशजो की महत्ता अधिकतर उनके द्वारा की गई श्री बिहारी जी की सेवा-पूजा पर निर्भर रही है, तथापि उनमे से कतिपय गोस्वामियो की ख्याति उनकी भक्ति-भावना, विद्वता और रचना के कारण भी हुई है।

श्री जगन्नाथ जी के द्वितीय पुत्र मेघश्याम जी के वश मे गोस्वामी वशीधर जी, वंन जी और नवनागरीदास जी अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। गो. वशीधर जी ठाकुर-सेवा-परायण भक्त जन और सुकवि थे। गोस्वामी वंन जी भी अच्छे कवि थे। उनका रचना-काल स. १८८० के लगभग है। गो नवनागरीदास जी सस्कृत और ब्रजभाषा के प्रसिद्ध भक्त-कवि थे। उनका संस्कृत ग्रथ 'प्रभावती परिणय' है, और उनकी ब्रजभाषा रचनाएँ सगीतबिंदु, अन्योक्तिबिंदु एव रसबिंदु है[1]।

श्री जगन्नाथ जी के तृतीय पुत्र मुरारीदास जी के वश मे माधव जी, गोपालनाथ जी और रूपानद जी अधिक प्रसिद्ध हुए है। गो माधव जी सस्कृत के बडे विद्वान और श्रीमद् भागवत के अच्छे वक्ता थे। उनका सस्कृत ग्रथ 'माधव विलास' है। उन्होने पजाब मे हरिदास सप्रदाय का वडा प्रचार किया था। गो गोपालनाथ जी सस्कृत के प्रकाड विद्वान और कवि थे। उनकी रचनाएँ श्री आचार्याष्टक, श्री ललिता शतकम्, श्री हरिदास वश बिंदु और त्रिभुवन प्रभा हैं। गो रूपानद जी से पहिले श्री बिहारी जी के स्वरूप को वृदावन से हटा कर करौली ले जाया गया था। उनकी चेष्टा से उन्हे पुन वृदावन मे प्रतिष्ठित किया गया था। इस प्रसग मे जो लडाई-झगडा हुआ, उसी मे उनका देहावसान भी हुआ था। उनकी समाधि वृदावन मे रेल के स्टेशन के पास वतलाई जाती है[2]।

हरिदास सप्रदाय द्वारा ब्रज की सास्कृतिक प्रगति—

विरक्त शिष्यो और गोस्वामियो का योग-दान—स्वामी हरिदास जी के उपरान्त उनकी विरक्त शिष्य-परपरा के रसिक भक्तो ने इस सप्रदाय की उपासना-भक्ति की उन्नति के साथ ही साथ अपनी विख्यात वाणी-रचना द्वारा ब्रज की धार्मिक एव साहित्यिक प्रगति मे भी पर्याप्त योग दिया था। राधावल्लभ सप्रदाय की भाँति हरिदास सप्रदाय की 'वाणी' भी उसके भक्त जनो की उपासना-भक्ति का एक प्रमुख साधन रही है, इसीलिए उन्होने बडी श्रद्धा पूर्वक इसकी रचना की है। यह 'वाणी' ब्रज के भक्ति साहित्य की मूल्यवान निधि है। स्वामी जी ने ब्रज के सगीत को जो महान् देन दी थी, उसकी परपरा 'रास' और 'समाज' के प्रचलन द्वारा कुछ हद तक कायम रखने की चेष्टा की गई है। जहाँ तक गोस्वामी-परपरा की देन का सबध है, वह विरक्त शिष्यो की तुलना मे नगण्यप्राय है। यदि राधावल्लभ सप्रदाय के दोनो वर्ग—'बिंदु'-परिवार और 'नाद'-परिवार की भाँति हरिदास सप्रदाय के इन दोनो वर्गो का भी समान योग रहा होता, तो इस सप्रदाय द्वारा ब्रज की और भी अधिक सास्कृतिक उन्नति की जा सकती थी।

दोनो वर्गो के मनोमालिन्य से प्रगति मे कमी—हरिदास सप्रदाय के इन दोनो वर्गो की असतुलित देन से भी अधिक उनके पारस्परिक मनोमालिन्य के कारण ब्रज की सास्कृतिक प्रगति मे अपेक्षित योग नही दिया जा सका है। उनके अवाछनीय द्वेष से उनकी शक्ति और क्षमता की जैसी क्षति हुई है, वह वडी शोचनीय है। यदि वह न हुई होती, तो यह सप्रदाय ब्रज की सास्कृतिक प्रगति के लिए और भी अधिक महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत कर सकता था। इस सप्रदाय की यह ऐसी कमी है, जिसे दूर करना परमावश्यक है।

---

(१) कृष्ण भक्ति काव्य मे सखी भाव, पृष्ठ ५०७–५१०

(२) श्री स्वामी हरिदास अभिनदन ग्रथ, पृष्ठ १०३

श्री वल्लभाचार्य जी के पश्चात् निंबार्क संप्रदायाचार्य श्री हरिव्यास जी और उनके प्रतापी शिष्य श्री परशुराम जी, भक्तप्रवर हरिराम व्यास जी, हरिदास सप्रदायाचार्य श्री विहारिनदास जी, राधावल्लभीय महात्मा चतुर्भुजदास जी तथा पुष्टि सप्रदाय के गोस्वामी गोकुलनाथ जी के नाम आते है । उन्होने अधिकतर शाक्त धर्मावलवियो की हिंसामयी कुत्सित साधना का विरोध किया था । गो गोकुलनाथ जी ने निर्गुणिया सत जदरूप की वैष्णव विरोधी कार्यवाही को समाप्त कराया था; जिससे उस काल मे ब्रज के सभी भक्ति सप्रदायों के गौरव की रक्षा हुई थी । गो. गोकुलनाथ जी से पहिले पुष्टि सप्रदाय के महात्मा सूरदास ने निर्गुण–निराकार ब्रह्म की उपासना से सगुण भक्ति को श्रेष्ठ वतलाया था[1], और नददास ने ज्ञान एव योग मार्गों की अपेक्षा प्रेम भक्ति का प्रतिपादन किया था[2] । इन सब के होते हुए भी उस काल मे मर्यादित विरोध शाक्त धर्म की बीभत्स साधना का किया गया था । उसमे सत कबीर के तीव्र स्वर के साथ ही साथ ब्रज के पूर्वोक्त भक्त जनो ने भी अपना स्वर मिलाया था । इस सबध मे हम आगे शाक्त धर्म के विवरण मे कुछ विस्तार से प्रकाश डालेंगे ।

ब्रज के राधा–कृष्णोपासक भक्त जनो मे स्वामी चतुर्भुजदास जी ही ऐसे महात्मा हुए हैं, जिन्होने शाक्त धर्मावलवियो की कुत्सित साधना को बद कराने के साथ ही साथ अपनी 'वाणी' मे भक्ति मार्ग के विरोधी अन्य सभी धर्म-सप्रदायो के सामूहिक विरोध में अपने विचार व्यक्त किये हैं । उन्होने ज्ञानमार्गीय सन्यास तथा सांख्य एव योग मार्गों की साधना को व्यर्थ बतलाते हुए हरि-भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है । उनका कथन है, उक्त मार्गों के साधकों को सीमित काल तक अपनी सिद्धियो का सुख भोग कर अत मे अधोगामी होना पड़ता है । इसीलिए हरि–भक्त गण स्वप्न मे भी उनकी वाछा नही करते, चाहे उन्हे पशु-पक्षी का ही जन्म धारण करना पड़े[3] । चतुर्भुजदास जी ने कहा है,—चार्वाक, क्षपणक, जैन, मायावादी, शैव, कालमुख, अनीश्वरवादी, पाशुपत, सांख्यिक, वौद्ध, नैयायिक-तार्किकादि विविध धर्म–सप्रदायो के अनुयायी गण भक्ति से विमुख होने के कारण यमपुर जावेंगे; जव कि नवधा भक्ति मे से किसी एक के भी पालन करने वालो के समस्त अमगल नष्ट हो जाते हैं[4] । राधा-कृष्णोपासक सप्रदायो एव उनके अनुगामी भक्तो का अन्य धर्म-सप्रदायो के प्रति दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के उपरात हम उनकी स्थिति पर क्रमश प्रकाश डालते है ।

---

(१) रूप-रेख-गुण-जाति-जुगति विनु, निरालंव मन चकृत धावै ।
सव विधि अगम विचारहिं, तातैं 'सूर' सगुण लीला-पद गावै ।। (सूरदास)

(२) कौन ब्रह्म की जोति, ज्ञान कासौं कहै ऊधो ? हमरे सुदरश्याम, प्रेम कौ मारग सूधो ।।
ताहि वतावहु जोग, जोग ऊधौ जेहि भावै । (नददास)

(३) पुनि सन्यासी भयौ क्रम-नासी, शिखा सु सूत्र विहाये जू ।
सत्यलोक लगि ऊरध गति सो, ते सायुज्यहि पावैं जू ।।
तत्त्वातत्त्व विवेक विचारैं, सांख्य–जोग धर्म धावैं जू ।
वहुत काल सेवैं सिद्धिनि सुख, पुनि अध ही धसि आवैं जू ।।
ताहि भक्त सुपनें नहिं जांचत, वरु तिर्यक तन धरई जू । (धर्म-विचार यश)

(४) चारवाक, छपनक, जैनी अरु मायावादी जेते जू ।
शैवी, काल, अनीश्वरवादी, पाशुपतादिक तेते जू ।।
सांख्य, वौध अरु न्याय-तर्क मत, चलत ते जम वास पठाये जू । × ×
नवधा मध्य एक मनमाने, सकल अमगल नासत जू ।। (धर्म-विचार यश)

जैन धर्म

कृष्ण-भक्ति का प्रभाव—इस काल मे ब्रज मे कृष्ण–भक्ति का जो विशाल रस-सागर उमडा था, उसके कारण यहाँ के अन्य धर्म–सप्रदायो के छोटे-बडे नद-नालो को अपना अस्तित्त्व कायम रखना कठिन हो गया था। यहाँ का जैन धर्म भी उससे बडा प्रभावित हुआ था। किंतु एक अत्यत प्राचीन और सुव्यवस्थित धर्म होने के कारण उसका अस्तित्त्व तो समाप्त नही हुआ, पर उसके स्वरूप मे परिवर्तन होने लगा था। जैन धर्म के ६३ शलाका पुरुषो मे से ९ वासुदेव, ९ बलदेव और ९ प्रतिवासुदेव भी माने गये है। ९ वासुदेवो को नारायण भी कहा जाता है। जैन मान्यता के अनुसार वासुदेव अपने प्रतिद्वदी प्रतिवासुदेवो का संहार कर तीन खडो के स्वामी होते है। श्रीकृष्ण नवम वासुदेव अथवा नारायण थे, और वे तीन खडो के अधिपति थे। इसके साथ ही वे २२वे तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ जी के भाई थे। उस काल की व्यापक कृष्णोपासना का जैन धर्म पर यह प्रभाव पडा कि उसके अनुयायी गण भगवान् ऋषभनाथ तथा महावीर जैसे प्रधान तीर्थंकरो की अपेक्षा नेमिनाथ जी की अधिक उपासना–पूजा करने लगे थे। मथुरामडल मे निर्मित तत्कालीन जैन मूर्तियो मे अन्य तीर्थंकरो की अपेक्षा नेमिनाथ जी की मूर्तियाँ अधिक सख्या मे मिली हैं।

नेमिनाथ जी के कारण वासुदेव कृष्ण के प्रति भी उस काल के जैनियो की श्रद्धा–भावना बढ गई थी, और नेमिनाथ जी के भतीजे तथा कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के प्रति भी उनका अधिक आकर्षण हो गया था। नेमिनाथ जी अपनी बाला पत्नी राजमती को विवाह के समय ही छोड कर तपस्या करने चले गये थे, और वह बेचारी जीवन पर्यन्त उनके वियोग की दारुण व्यथा सहन करती रही थी। इस प्रकार उसका चरित्र राधा से भी अधिक करुणापूर्ण था। राधा जी को तो कुछ काल तक श्रीकृष्ण के साथ बाल-विनोद एव केलि-क्रीडा करने का सुख मिला भी था; किंतु राजमती जी ने नेमिनाथ जी का केवल दर्शन मात्र ही किया था। कृष्ण-भक्ति के व्यापक प्रचार से प्रभावित होकर उस काल के जैन कवियो ने नेमिनाथ-राजमती के साथ ही साथ कृष्ण और प्रद्युम्न से सबधित अनेक प्रबध काव्यो की रचना की थी, जिनमे शात और शृगार रसो की मिश्रित धारा बहाई गई थी। ये रचनाएँ सस्कृत और पुरानी हिंदी मिश्रित ब्रजभाषा मे है।

कृष्ण–भक्ति के वातावरण मे रचित ग्रंथ—श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के सबध मे जैन मान्यता का सर्वप्रथम ब्रजभाषा ग्रथ सधारु अग्रवाल कृत 'प्रद्युम्न चरित' है। यह एक सुदर प्रबध काव्य है। 'ब्रजभाषा के अद्यावधि प्राप्त ग्रथो मे सबसे प्राचीन' होने के साथ ही साथ यह हिंदी जैन ग्रथ के रूप मे भी अत्यत महत्वपूर्ण है। जहाँ ब्रजमडल के लिए यह बडे गौरव की बात है कि ब्रजभाषा–हिंदी की यह आदि कालीन रचना उसके प्रमुख नगर आगरा मे लिखी गई थी, वहाँ जैन धर्मावलबी भी यह गर्व कर सकते है कि उनके एक कवि द्वारा हिंदी के इस आदि कालीन ग्रथ की रचना हुई है। 'प्रद्युम्न चरित' का रचना-काल स १४११ माना गया है[1], किंतु श्री हरिशकर शर्मा ने उसकी रचना स. १३११ मे भी होना सभव बतलाया है[2]। सधारु कृत 'प्रद्युम्न चरित' के पश्चात् जो हिंदी जैन रचनाएँ प्रकाश मे आई, उनमे से अधिकतर मुगल सम्राट अकबर के शासन काल की, अथवा उसके बाद की है। उनमे भी अधिकाश अकबर की राजधानी आगरा अथवा उसके निकटवर्ती स्थानो मे रची गई थी।

---

(१) हिंदी अनुशीलन (वर्ष ९, अक १–४)
(२) हिंदुस्तानी (भाग १९, अक ४, पृष्ठ ९५)

१६वी शती की सस्कृत रचनाओ मे सोमकीर्ति कृत 'प्रद्युम्न चरित्र' तथा ब्रजभाषा-हिंदी की रचनाओ मे ब्रह्म जिनदास कृत 'हरिवंश पुराण' और यशोधर कृत 'बलभद्र रास' उल्लेखनीय है। १७वी शती मे जैन धर्म पर कृष्ण भक्ति का प्रभाव और भी बढ गया था, जिसके कारण प्रद्युम्न चरित्र अत्यधिक सख्या मे रचे गये थे। इस शताब्दी मे सर्वश्री रतिसागर, शुभचद्र, रत्नचद, वादिचद, मल्लिभूषण, श्रीभूषण आदि जैन विद्वानो ने सस्कृत मे प्रद्युम्न चरित्र की रचना की थी। हिंदी मे सर्वश्री कमलेश्वर और जिनचद्र सूरि ने 'प्रद्युम्न चौपई' तथा ब्रह्म रायमल्ल एव ज्ञानसागर ने 'प्रद्युम्न रासो' की रचना की थी। इसी शताब्दी मे हिंदी मे रचित शालिवाहन कृत 'हरिवश पुराण' और रूपचद्र कृत 'नेमिनाथ रासो' पर कृष्ण-भक्ति के वातावरण का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इन रचनाओ के नाम श्री महावीर कोटिया के लेख 'जैन साहित्य मे कृष्ण-चरित्र-काव्यो की परपरा' मे बतलाये गये है[1]।

सुलतानी काल मे जैन धर्म की स्थिति—इस काल मे ब्रजमडल के बहुत से जैनी अपने परपरागत धर्म को छोड कर वैष्णव धर्म के विविध सप्रदायो के अनुयायी होने लगे थे। 'भक्तमाल' और 'वार्ता' आदि ग्रथो मे ऐसे अनेक जैनियो के नाम मिलते है। इस प्रकार के जैनियो मे धनवान वैश्यो की सख्या अधिक थी। उनके आचार-विचार और खान-पान वैष्णवो के अधिक अनुकूल थे, अत उन पर उक्त धर्म-सप्रदायो का अधिक प्रभाव पडा था। ब्रजमडल के अतिरिक्त पश्चिमी उत्तर प्रदेश, राजस्थान और गुजरात, जहाँ जैन धर्म का अधिक प्रचार था, उस काल मे कृष्णोपासक वैष्णव सप्रदायो के प्रमुख केन्द्र बन गये थे। इस प्रकार कृष्ण-भक्ति की प्रगति से उस काल मे जैनियो की सख्या काफी कम हो गई थी। धर्म-परिवर्तन की उस प्रक्रिया मे किसी प्रकार के बल का प्रयोग अथवा अनैतिक उपायो का अवलबन नही किया गया था। जो कुछ हुआ, वह केवल धार्मिक प्रेरणा से हुआ, और वह भी स्वेच्छा से एव शातिपूर्वक हुआ था।

जैन धर्म की उस परिवर्तित परिस्थिति मे ब्रजमडल के जैन स्तूप, मदिर, देवालय आदि उपेक्षित अवस्था मे जीर्ण-शीर्ण होने लगे थे। फिर तत्कालीन दिल्ली के सुलतान अपने मजहबी तास्सुब के कारण बार-बार आक्रमण कर उन्हे क्षति पहुँचाया करते थे। सेठ समराशाह जैसे धनी व्यक्ति समय-समय पर उनकी मरम्मत कराते थे, किंतु बार-बार वे क्षतिग्रस्त कर दिये जाते थे। इस प्रकार मुगल सम्राट अकबर के शासन काल से पहिले मथुरा तीर्थ का महत्व जैन धर्म की दृष्टि से कम हो गया था, और वहाँ के जैन देव-स्थानो की स्थिति सोचनीय हो गई थी।

मुगल सम्राट अकबर के काल की स्थिति—दिल्ली के सुलतानो के पश्चात् मथुरामडल पर मुगल सम्राट अकबर का शासनाधिकार हुआ था। उसकी राजधानी ब्रजमडल के प्रमुख नगर आगरा मे थी, अत राजकीय रीति-नीति का इस भू-भाग पर प्रभाव पड़ना उचित ही था। सौभाग्य से सम्राट अकबर की धार्मिक नीति बडी उदार थी। उसके कारण ब्रज के अन्य धर्मावलबियो के साथ ही साथ जैनी भी प्रचुरता से लाभान्वित हुए थे। उससे पहिले ग्वालियर और आगरा जिले का बटेश्वर (प्राचीन शौरिपुर) जैन धर्म के केन्द्र थे। अकबर के काल मे आगरा नगर इस धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र हो गया था। ग्वालियर और बटेश्वर का तो पहिले से ही सास्कृतिक एव धार्मिक महत्व था, किंतु आगरा राजनैतिक कारण से जैन केन्द्र बना था। ब्रजमडल के जैन धर्मावलबियो

---

(१) साहित्य सदेश (अक्टूबर, १९६१)

मे अधिक सख्या व्यापारी वैश्यो की थी। उनमे सबसे अधिक अग्रवाल, फिर खडेलवाल–ओसवाल आदि थे। मुगल साम्राज्य की राजधानी आगरा नगर उस काल मे व्यापार–वाणिज्य का भी बडा केन्द्र था, इसलिए वणिक् वृत्ति के जैनियो का वहाँ बडी सख्या मे एकत्र होना स्वाभाविक था।

मुगल सम्राट अकबर ने जब अपनी उदार धार्मिक नीति की घोषणा की, और उसके फलस्वरूप ब्रजमडल मे वैष्णव धर्म के नये मदिर-देवालय बनने लगे तथा पुरानो का जीर्णोद्धार होने लगा, तब जैन धर्मावलबियो मे भी नवीन आशा और उत्साह का सचार हुआ था। उस काल मे गुजरात के विख्यात श्वेतावराचार्य हीरविजय सूरि से सम्राट अकबर बडे प्रभावित हुए थे। सम्राट ने उन्हे बडे आदरपूर्वक फतेहपुर सीकरी बुलाया था, और वे प्राय उनके धर्मोपदेश सुना करते थे। इस कारण मथुरा–आगरा आदि समस्त ब्रज प्रदेश मे बसे हुए जैनियो मे आत्म गौरव का भाव जागृत हो गया था। वे लोग अपने मदिर-देवालयो के नव निर्माण अथवा जीर्णोद्धार के लिए भी तब प्रयत्नशील हुए थे।

आचार्य हीर विजय सूरि जी स्वय मथुरा पधारे थे। उनकी यात्रा का वर्णन 'हीर सौभाग्य काव्य' के १४ वे सर्ग मे हुआ था। उसमे लिखा है, सूरि जी ने मथुरा मे बिहार कर वहाँ पार्श्वनाथ और जम्बूस्वामी के स्थलो तथा ५२७ स्तूपो की यात्रा की थी। सूरि जी के कुछ काल पश्चात् स १६४८ मे कवि दयाकुशल ने जैन तीर्थों की यात्रा कर 'तीर्थमाला' की रचना की थी। उसके ४०वे पद्य मे उसने मथुरा–यात्रा करने और वहाँ के ५०० मनोहर स्तूपो तथा गौतम और जम्बू-स्वामी की प्रतिमाओ के दर्शन कर अपने उल्लास का इस प्रकार कथन किया है,—

मथुरा देखिउ मन उल्लसइ। मनोहर थुम जिहा पाचसइ॥
गौतम जबू प्रभवो साम। जिनवर प्रतिमा ठामोठाम[1]॥

ग्रथकार और ग्रथ–रचना—जैसा पहिले लिखा गया है, कृष्णोपासक सप्रदायो के कारण जैन धर्म की स्थिति उसके प्राचीन केन्द्र मथुरा मे कमजोर पड गई थी, किंतु उसी काल मे ग्वालियर तथा वटेश्वर मे और कालातर मे आगरा मे उसकी स्थिति अच्छी हो गई थी। उस समय आगरा और उसके निकटवर्ती स्थानो के अनेक जैन विद्वानो ने ब्रजभापा-हिंदी मे वहुसख्यक ग्रथ-रचना की थी। जैन धर्म और साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान श्री नाथूराम प्रेमी कृत 'हिंदी जैन साहित्य का इतिहास' और श्री कामताप्रसाद जैन कृत 'हिंदी जैन साहित्य का सक्षिप्त इतिहास' नामक ग्रथो मे तथा डा० ज्योतिप्रसाद जैन द्वारा 'ब्रजभारती' (वर्ष १४, अक ४) मे प्रकाशित लेख मे जैन ग्रथकारो और उनके ग्रथो का विशद वर्णन किया गया है। हम उक्त विद्वानो के आधार पर ही तत्कालीन ग्रथकारो का उल्लेख करेगे।

उस काल मे आगरा जैनियो का प्रमुख साहित्यिक केन्द्र बन गया था। इसका उल्लेख करते हुए डा० ज्योतिप्रसाद जैन ने लिखा है,—'आगरा १६वी से लेकर १८वी शती तक उत्तरापथ की जैन जाति का प्रधान साहित्यिक केन्द्र बना रहा। अनेक प्रसिद्ध विद्वानो एव कवियो ने सैकडो ग्रथो की रचना उक्त स्थान तथा निकटवर्ती प्रदेश मे रह कर की थी, जिसके द्वारा उन्होने प्राय शात रस प्रधान आध्यात्मिक कविता का स्रोत प्रवाहित किया था[2]।'

---

(१) ब्रज भारती (वर्ष ११, अक २)
(२) वही (वर्ष १४, अक ४)

इस काल मे जैनाचार्य हीर विजय सूरि के शिष्य मुनि हेम विजय जी ने दो ग्रथ सस्कृत मे और कुछ स्फुट छद व्रजभाषा–हिंदी मे रचे थे। मुनि जी साधु होते हुए भी जैन धर्म के अच्छे विद्वान और सस्कृत एव व्रजभाषा के सुकवि थे। उनके रचे हुए छद नेमिनाथ-राजमती की कथा से सबधित है। वे शात मिश्रित शृ गार रस के है, और मुनि जी की काव्य-प्रतिभा के परिचायक है। मुनि कल्याणकीर्ति ने अपनी रचना मे कृष्ण के विरह मे राधा की उक्ति के समान ही नेमिनाथ जी के विरह मे व्याकुल राजमती की मनोदशा का करुण वर्णन किया है। मुनि जी का रचना-काल स. १६३० के लगभग है। उसी काल मे आगरा निवासी पाडे जिनदास भट्टारक ने साहू टोडर की प्रेरणा से 'जम्बू चरित' की रचना की थी। उसके अतिरिक्त उनकी दो अन्य रचनाएँ 'ज्ञान सूर्योदय' और 'जोगी रासा' है। जिनदास जी का रचना-काल स. १६४० है।

साहू टोडर और राज्यमत्री कर्मचंद—मुगल सम्राट अकबर के शासन काल मे ये दोनो प्रतिष्ठित जैन भक्त मथुरा तीर्थ की यात्रा करने को आये थे। साहू टोडर भटानिया (जि. कोल–वर्तमान अलीगढ) के निवासी गर्ग गोत्रीय अग्रवाल जैन पासा साहू का पुत्र था। वह अकबरी शासन का एक प्रतिष्ठित राजपुरुष होने के साथ ही साथ धनाढ्य सेठ भी था। उसने प्रचुर धन लगा कर मथुरामडल के भग्न जैन स्तूपो और मदिरो के जीर्णोद्धार का प्रशसनीय कार्य किया था। वह धार्मिक कार्य स १६३० की ज्येष्ठ शु १२ बुधवार को सम्पन्न हुआ था। उसी समय उसने चतुर्विध सघ को आमत्रित कर मथुरा मे एक जैन समारोह का भी आयोजन किया था।

वैष्णव धर्म के कुछ कृष्णोपासक सप्रदायो मे यह किवदती प्रचलित है कि सम्राट अकबर के राजस्व एव वित्त मत्री राजा टोडरमल ने व्रज मे अनेक देवालयो का जीर्णोद्धार कराया था और और वहाँ के प्राचीन लीला-स्थलो पर उसने रासमंडल बनवाये थे[1]। राजा टोडरमल एक धर्मप्राण आस्तिक हिंदू था और वह नियमित रूप से सेवा–पूजा करने के लिए भी प्रसिद्ध था। फिर भी उसके द्वारा व्रजमडल मे हिंदू देवालयो के जीर्णोद्धार किये जाने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही मिलता है। ऐसा मालूम होता है, साहू टोडर और राजा टोडरमल के नाम्य-साम्य और उनकी समकालीनता के कारण वह भ्रमात्मक किवदती प्रचलित हुई है। साहू टोडर द्वारा मथुरामडल के जैन तीर्थ-स्थलो का पुनरुद्धार किया जाना जैन इतिहास से सिद्ध है। सभव है, उसने उदारता पूर्वक कुछ हिंदू देवालयो का भी जीर्णोद्धार कराया हो।

साहू टोडर ने तीर्थ-पुनरुद्धार के साथ ही साथ मथुरा के चौरासी क्षेत्र पर तपस्या कर निर्वाण प्राप्त करने वाले कैवल्यज्ञानी जम्बूस्वामी के चरित्र ग्रथो की रचना का भी प्रबध किया था। फलत उसकी प्रेरणा से सस्कृत और व्रजभाषा-हिंदी मे जम्बूस्वामी चरित्र उस काल मे लिखे गये थे। सस्कृत 'जम्बूस्वामी चरित्र' का निर्माण उस समय के विख्यात जैन विद्वान पाडे राजमल्ल ने स १६३२ की चैत्र कृ ८ को और व्रजभाषा छदोबद्ध ग्रथ की रचना पूर्वोक्त विद्वान पाडे जिनदास ने स १६४२ मे की थी। व्रज के तत्कालीन जैन पडितो मे राजमल्ल पाडे अत्यत प्रसिद्ध थे। वे जैन सिद्धात और आचार शास्त्र के भारी विद्वान थे। उन्होने सस्कृत, अपभ्रश और हिंदी तीनो भाषाओ मे रचनाएँ की थी। वे काष्ठासघ आम्नाय मे से थे और माथुरगच्छ से सबधित थे। पाडे जिनदास आगरा निवासी ब्रह्मचारी सतीदास के पुत्र थे। उनकी तीन व्रजभाषा-हिंदी की

(१) श्री सर्वेश्वर का 'वृ दाबनाक', पृष्ठ २६२

रचनाओ मे से 'जम्बू चरित्र' सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। कर्मचद्र बीकानेर नरेश रायसिंह (शासन-काल स. १६२८—स १६६८) का राज्यमत्री था। उसने भी मथुरा तीर्थ की यात्रा कर यहाँ के कुछ चैत्यो का जीर्णोद्धार कराया था। उसका उल्लेख 'मत्रीश्वर कर्मचद्र वशोत्कीर्तन' काव्य मे हुआ है[1]।

उपर्युक्त समस्त उल्लेख श्वेताबर साहित्य के है, दिगबर साहित्य मे अन्य उल्लेख भी मिल सकते है। जैन साहित्य मे मथुरा-यात्रा के कथन मुगल सम्राट अकबर के काल से बाद के नही मिलते है। इसका कारण यह जान पडता है कि कृष्णोपासना के व्यापक प्रचार से मथुरा के जैन तीर्थ का महत्व कम हो गया था और फिर औरगजेब के शासन-काल मे हिंदू मदिरो के साथ जैन मदिर-स्तूपो को भी नष्ट कर दिया गया था। इसलिए मथुरा तीर्थ की यात्रा का आकर्षण ही समाप्त हो गया था।

जहाँगीर और शाहजहाँ के काल की स्थिति—मुगल सम्राट अकबर के पुत्र जहाँगीर और पौत्र शाहजहाँ के शासन काल मे ब्रज मे प्राय धार्मिक सहिष्णुता और शाति रही थी। उस काल मे जैन धर्म भी सामान्य स्थिति मे रहा था। जहाँगीर के शासन-काल मे आगरा मे निवास करने वाले एक जैन विद्वान प० बनारसीदास ने बडी ख्याति प्राप्त की थी। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का यहाँ कुछ विस्तार से उल्लेख किया जाता है।

पं० बनारसीदास, उनका मत और ग्रंथ—बनारसीदास जौनपुर निवासी श्रीमाल जातीय जैन जौहरी खरगसेन के पुत्र थे। उनका जन्म स १६४३ की माघ शु ११ को हुआ, और उनका अधिकाश जीवन आगरा मे व्यतीत हुआ था। वे गृहस्थ होते हुए भी जैन दर्शन और अध्यात्म के अच्छे ज्ञाता, सुप्रसिद्ध साहित्यकार और क्रातिकारी विद्वान थे। उन्होने जैन धर्म के अतर्गत एक आध्यात्मिक पथ की स्थापना की, और अनेक ग्रथो की रचना की थी। उनकी रचनाएँ स १६९८ तक की मिलती है। उस काल के पश्चात् वे कब तक जीवित रहे थे, इसका उल्लेख नही मिलता है।

उन्होने दिगबर सप्रदाय के तत्कालीन चैत्यवासी भट्टारको की अवैध प्रवृत्तियो के विरोध मे विधि मार्ग जैसे एक स्वतत्र पथ की स्थापना स. १६८० के लगभग आगरा मे की थी। उस पथ को पहिले 'अध्यात्मी पथ' अथवा 'बनारसी मत' कहा जाता था, और वही बाद मे 'तेरह पथ' के नाम प्रसिद्ध हुआ था। उस सुधारवादी मत के कारण उस काल के दिगबर सप्रदायी चैत्यवासी भट्टारको की प्रतिष्ठा मे काफी कमी हुई थी। उस 'मत' के प्रचार मे उन्हे जिन विद्वान साथियो ने बडा सहयोग दिया था, उनमे ५ प्रमुख थे। उनके नाम प० रूपचद, चतुर्भुज बैरागी, भगवतीदास, कुँवरपाल और धर्मदास मिलते है[2]। वे सब विद्वत् जन अहर्निश आध्यात्म-चितन और साहित्य-रचना मे रत रहते थे। उनके कारण उस काल मे आगरा मे आत्मज्ञान और अध्यात्म के प्रसार मे बडा योग मिला था। कदाचित उसी से जैन-जगत् मे यह लोकोक्ति प्रचलित हुई थी,—'आत्मज्ञानी आगरै, पडित बीकानेर।' बनारसीदास का देहावसान होने के अनतर कुँवरपाल ने उनके अध्यात्मी पथ के सचालन का भार सँभाला था।

प० बनारसीदास हिंदी के जैन ग्रथकारो मे सर्वोपरि माने जाते है। उनकी ख्याति उनकी धार्मिक विद्वता से भी अधिक उनकी ग्र थ-रचना के कारण है। अपने आरभिक जीवन मे उन्होने

(१) ब्रज भारती (वर्ष ११, अक २)
(२) समय सार नाटक भाषा

कुसग मे पड कर वासनापूर्ण शृगारिक रचना की थी, किंतु वे शीघ्र ही सँभल गये थे। तब उन्होने उक्त रचनाओ को नदी मे फेंक कर नष्ट कर दिया था। फिर वे आध्यात्मिक रचना करने लगे थे। उस कार्य मे भी उनके उक्त सहयोगी मित्र उनके साथ थे। 'सूक्ति मुक्तावली' का पद्यानुवाद वनारसीदास ने कुंवरपाल के सहयोग से किया था। उनके एक साथी-भक्त जगजीवन जी थे। उन्होने वनारसीदास की ६० स्फुट रचनाओ का सकलन 'वनारसी विलास' के नाम से स. १७०१ में किया था। उनकी रचनाओ मे 'नाटक समय सार' और 'अर्ध कथानक' अधिक प्रसिद्ध हैं। 'नाटक समय सार' अध्यात्म और वेदात की एक महत्वपूर्ण रचना है। इसका प्रचार श्वेतांबर और दिगबर दोनो सप्रदायो मे है। 'वास्तव मे यह कोई नाटक नही है, वरन् ब्रजभाषा छदो में निबद्ध ससारी जीव की लोक-लीला का दिग्दर्शक एक काव्य है। विश्व के रगमच पर जीवात्मा की नाट्य लीला का चित्रण करने के कारण इसे नाटक नाम दे दिया गया है[1]।' इस रचना के आधार कुंदकुंदाचार्य कृत प्राकृत ग्रथ 'समय सार' और उस पर अमृतचद्राचार्य कृत सस्कृत व्याख्यान नामक ग्रथ हैं, किंतु यह एक स्वतत्र एव मौलिक कृति सी जान पडती है। इसकी पूर्ति स. १६९३ मे आगरा मे हुई थी। 'अर्ध कथानक' उनका आत्म चरित् है, जो उनके जीवन के अर्ध भाग से सबधित है। यह भी अपने विषय की महत्वपूर्ण रचना है। इसकी पूर्ति स १६९८ मे हुई थी। उनकी दो अन्य रचनाएँ 'वनारसी नाम माला' और 'वनारसी विलास' हैं। प्रथम ग्रथ एक पद्यात्मक कोश है, जिसकी रचना स १६७० मे जौनपुर मे हुई थी। इस प्रकार यह उनकी आरंभिक कृतियो मे से है। ये सब ग्रथ पद्यात्मक है। इनके अतिरिक्त उनकी एक गद्य रचना 'परमार्थ वचनिका' भी है। यह जैन साहित्य की आरभिक हिंदी गद्य रचनाओं मे से है, अत इसका भी अपना महत्व है।

समकालीन ग्रथकार और उनके ग्रथ—जैसा पहिले लिखा गया है, प० वनारसीदास के साथी मित्रो मे पांच मुख्य थे,—१ प० रूपचद, २. चतुर्भुजदास बैरागी, ३ भगवतीदास, ४. कुंवरपाल और ५ धर्मदास। उन सब ने ग्रथ-रचना की थी। उनमे से रूपचद जैन धर्म के मर्मज्ञ विद्वान थे। उनका रचा हुआ 'मगल गीत प्रबध' प्रसिद्ध है। भगवतीदास एक दूसरे प्रसिद्ध जैन कवि भैया भगवतीदास से भिन्न और उनके पूर्ववर्ती थे। वे अग्रवाल जातीय दिगबर जैन थे। उनका जन्म-स्थान फर्रुखावाद जिला का एक गांव था, किंतु वे आगरा मे आकर वनारसीदास की आध्यात्मिक मडली मे सम्मिलित हो गये थे। उन्होने अनेक छोटी-बडी रचनाएँ की थी, जिनमे 'सज्ञानी ढमाल', 'योगी रासा' और 'खिचडी रास' उल्लेखनीय हैं। कुंवरपाल का कोई स्वतत्र ग्रथ उपलब्ध नही हुआ है, किंतु वनारसीदास के साथ सम्मिलित रूप से रचित 'सूक्ति मुक्तावली' मे उनके छद मिलते हैं। धर्मदास की एक गद्य रचना है, जो पूज्यपाद कृत 'इष्टोपदेश' का अनुवाद है। 'वनारसी विलास' के सकलनकर्त्ता जगजीवन भी वनारसीदास के एक साथी भक्त थे। वे आगरा निवासी धनिक सिंघई अभयराज अग्रवाल के पुत्र और मुगल सरदार जफरखाँ के दीवान थे। उन्होने 'नाटक समय सार' की एक टीका बनाई थी, और वनारसीदास की मृत्यु के उपरात उनकी आध्यात्मिक गोष्ठी को चालू रखने मे सहयोग दिया था[2]। वे कवि भी थे, किंतु उनका कोई स्वतत्र काव्य ग्रथ नही मिला है।

---

(१) ब्रज भारती, (वर्ष १४, अक ४, पृष्ठ १८)

(२) वही , (वर्ष १४, अक ४, पृष्ठ १९)

उस काल मे और भी अनेक जैन विद्वानो ने जैन धर्म की मान्यता के अनुसार ग्रथ-रचना की थी। उनमे से कुछ का नामोल्लेख उनकी रचनाओ के साथ किया जाता है। परिमल्ल ग्वालियर निवासी बरहिया जैन थे। वे बाद मे आगरा आकर बस गये थे। उन्होने अपने ग्रथ 'श्रीपाल चरित्र' को स. १६५१ मे आगरा मे ही पूर्ण किया था। वे एक अच्छे कवि थे। नद मथुरा जिला गोसना गाँव के निवासी गोयल गोत्रीय अग्रवाल जैन थे। वे भी आगरा जाकर बस गये थे। उन्होने जहाँगीर के शासन काल मे अपने दो ग्रथ 'सुदर्शन चरित्र' (स १६६३) और 'यशोधरा चरित्र' (स १६७०) की रचना की थी। वे भी एक अच्छे कवि थे। ब्रह्मगुलाल पद्मावती पुरवाल दिगबर जैन थे, और बाद मे मुनि हो गये थे। वे चदवार (फीरोजाबाद, जिला आगरा) के निकटवर्ती टापू नामक गाँव के निवासी थे। उनके रचे हुए दो ग्रथ 'समोसरण चउपई' और 'कृपण जगावन कथा' उपलब्ध है। दूसरा ग्रथ जैनियो की मूर्ति-पूजा और मुनियो के आहार-दान की पुष्टि मे रचा गया था। उसकी रचना स १६७१ मे हुई थी। उनका जीवन चरित्र छत्रपति कवि ने स. १६३४ मे लिखा था। शालिवाहन भदावर क्षेत्रीय कचनपुर नामक स्थान के निवासी थे। उन्होने जिनसेन कृत सुप्रसिद्ध ग्रथ 'हरिवश पुराण' का पद्यात्मक अनुवाद किया था। उसकी रचना स १६६५ मे आगरा से हुई थी। पाडे हेमराज आगरा के रहने वाले गर्ग गोत्रीय अग्रवाल जैन थे। वे बनारसीदास के साथी पूर्वोक्त पाडे रूपचद के शिष्य थे। वे उच्चकोटि के विद्वान, सुकवि एव विख्यात गद्य लेखक थे। उन्होने संस्कृत-प्राकृत के अनेक ग्रथो की गद्यात्मक टीका रूप मे 'वचनिकाएँ' लिखी है। उनकी उपलब्ध गद्य रचनाओ के नाम १ प्रवचनसार (स. १७०९), २ पचास्तिकाय तथा समय सार भाषा टीका, ३ गोमट्टसार जीव-काड एव कर्मकाड भाषा टीका (स १७२४) तथा ४. नयचक्र वचनिका (स. १७२६) है। उनके अतिरिक्त 'सितपट चौरासी बोल' और 'भाषा भक्तामर' नामक

तत्कालीन ग्रथ-रचना—इस काल मे जैन धर्म की स्थिति कमजोर हो जाने पर भी उसके विद्वानो द्वारा पर्याप्त ग्रथ-रचना होती रही थी। ब्रज मे निवास करने वाले कवियों ने इस काल में लौकिक शृ गारप्रधान रचनाएं अधिक की हैं, जिनके कारण इसे 'रीति काल' कहा गया है। किंतु जैन ग्रथकारो ने तत्कालीन प्रवृत्ति को नही अपनाया था। वे लौकिक शृ गार का तिरस्कार करते हुए प्राय आध्यात्मिक रचना ही करते रहे थे। प० बनारसीदास ने लौकिक शृ गार की रचना करने वाले कवियो की भर्त्सना करते हुए लिखा था,—

> मास की ग्रथिन कुच कचन-कलस कहै, कहै मुख चद जो सलेषमा को घर है।
> हाड के दसन आहि हीरा-मोती कहै ताहि, मास के अधर ओठ कहै बिबफल है॥
> हाड-खभ भुजा कहै कौल-नाल काम धुजा, हाड ही के थभा जघा कहै रभातर है।
> यो ही झूठी जुगति बनावें औ कहावें कवि, एते पै कहै हमें सारदा को बर है[1]॥

इस काल के ग्रथकारो मे भैया भगवतीदास अधिक प्रसिद्ध है। ये आगरा निवासी कटारिया गोत्रीय ओसवाल जैन साहूलाल के पुत्र थे। कविवर बनारसीदास के सदृश ये गृहस्थ होते हुए भी उच्च कोटि के आध्यात्मिक विद्वान और सुकवि थे। 'भैया' उनका काव्योपनाम था। ये प्राकृत, सस्कृत और ब्रजभाषा–हिंदी के साथ ही साथ उर्दू, फारसी, गुजराती, मारवाडी, बंगला आदि भाषाओ के भी ज्ञाता थे। उनका रचना-काल स १७३१ से १७५५ तक है। उनकी छोटी-बडी ६७ रचनाओ का संग्रह 'ब्रह्म विलास' नामक ग्रथ मे स. १७५५ मे किया था। इस संग्रह की रचनाओ मे 'चेतन कर्म चरित्र' (स १७३२), 'पुण्य पच्चीसिका' (स. १७३३), 'उपदेश पच्चीसी' (स १७४१), 'पचेन्द्रिय सवाद', 'सुवा बत्तीसी' (स १७५३) 'ध्यान बत्तीसी', 'वैराग्य पच्चीसी' परमात्म शतक' आदि चित्ताकर्षक और महत्वपूर्ण हैं। लौकिक शृ गार की रचना करने वाले तत्कालीन कवियो की उन्होने बनारसीदास की भाँति ही निंदा की है। रीति काव्य के आचार्य केशवदास को उनकी प्रसिद्ध रचना 'कविप्रिया' के लिए उलाहना देते हुए उन्होंने कहा है,—

> बडी नीति लघु रीति करत है, वाय सरत बदबोय भरी।
> फोडा आदि फुगगुनी मडित, सकल देह मनु रोग-दरी॥
> शोणित-हाड-मास मय मूरति, ता पर रीझत घरी-घरी।
> ऐसी नारि निरख कर केशव, 'रसिकप्रिया' तुम कहा करी[1]॥

आगरा निवासी खडेलवाल जैन कवि भूधर (रचना-काल स १७७० के लगभग) ने भी शृ गारी कवियो की निंदा करते हुए लिखा है,—

> राग उदय जग अध भयो, सहजै सब लोगन लाज गँवाई।
> सीख बिना नर सीखत है, विपयानि के सेवन की सुघराई॥
> ता पर और रचै रस–काव्य, कहा कहियै तिनकी निठुराई।
> अध असूझनि की अँखियान मे झोकत हैं रज, राम दुहाई[1]॥

इस काल के अन्य जैन रचयिता और उनकी रचनाएं इस प्रकार हैं,—आनदघन श्वेतावर जैन महात्मा थे, जो ब्रजभाषा के सुप्रसिद्ध शृ गारी कवि आनदघन अथवा घनानद से भिन्न थे। उनका समय स. १७३५ के लगभग है। वे हिंदी और गुजराती दोनो के कवि थे। उनकी हिंदी रचना 'आनदघन बहत्तरी' उपलब्ध है, जिसमे ज्ञान-वैराग्य के ७१ पद है। विनोदीलाल सहजादिपुर निवासी

गर्ग गोत्रीय अग्रवाल जैन दरगाहमल्ल के पुत्र थे। उनका जन्म स. १६८० मे हुआ था, और उन्होने दीर्घायु प्राप्त की थी। वे अपने नाम के अनुरूप विनोदी स्वभाव के थे। उनकी दो रचनाएँ 'भक्तामर चरित्र' (स. १७४७) और 'श्रीपाल विनोद' (स १७५०) उल्लेखनीय हैं। बुलाकीदास आगरा निवासी गोयल गोत्रीय अग्रवाल जैन साहु नदलाल और विदुषी महिला जैनुलदे उपनाम जैनी के पुत्र थे। इस प्रकार वे पूर्वोक्त पाडे हेमराज के दौहितृ थे। बाद मे वे दिल्ली जाकर रहने लगे थे; जहाँ उन्होने अपनी माता की प्रेरणा से सं १७५४ मे 'पाडव पुराण' (भारत भाषा) की रचना की थी। द्यानतराय आगरा निवासी गोयल गोत्रीय अग्रवाल जैन श्यामदास के पुत्र थे। उनका जन्म स. १७३३ मे और देहावसान स १७८१ के पश्चात् किसी समय हुआ था। जैन विद्वानो की सत्संग-गोष्ठी (शैली) से उनमे धार्मिक भावना का उदय हुआ था। उनकी रचनाएँ सरल, स्वाभाविक और अनुभवपूर्ण है, जिनका सकलन उन्होने स्वय स १७८० मे 'धर्म विलास' के नाम से किया था। उस ग्र थ को 'द्यानत विलास' भी कहते है। झुनकलाल एटा जिला के निवासी थे, किंतु बाद मे वे आगरा के निकटवर्ती शकूराबाद (शिकोहाबाद) चले गये थे। वहाँ के सेठ अतिसुखराम की इच्छानुसार उन्होने स १८४३ मे 'नेमिनाथ के कवित्त' नामक रचना की थी। उसे उन्होने 'ख्याल' की तत्कालीन लोक-काव्य शैली मे रचा था। उनकी कविता का एक अश प्रस्तुत है,—

नेमिनाथ कौ हाथ पकरि कै, खडी भई भावज सारी। ओढे चीर तीर सरवर के तहाँ खडी हैं जदुनारी॥
बहुत विनय धरि हाथ जोरि करि, मधुरे स्वर गावै गारी॥

गद्य रचना—जैन विद्वानो ने व्रजभाषा-हिंदी मे अनेक गद्य ग्र थो की भी रचना की है। हिंदी गद्य-शैली के विकास की दृष्टि से इन ग्र थो का बडा महत्व है। गद्य ग्र थो की रचना पडित बनारसीदास के काल से कुछ पहिले ही होने लगी थी[1], किंतु अधिक प्रचलन उन्ही के काल से हुआ है। बनारसीदास कृत गद्य ग्र थ 'परमार्थ वचनिका' और उनके साथी धर्मदास कृत 'इष्टोपदेश' का अनुवाद तथा जगजीवन कृत 'नाटक समय सार' की टीका का उल्लेख पहिले किया जा चुका है। उनके परवर्ती पाडे हेमराज कृत गद्यात्मक टीका ग्र थो का भी उल्लेख हो चुका है। इस काल के गद्यकारो मे प० दौलतराम और प० टोडरमल विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

प दौलतराम जयपुर राज्य के बसवा ग्राम निवासी खडेलवाल वैश्य और एक प्रतिष्ठित राज कर्मचारी थे। स. १७७५ के लगभग वे कुछ समय तक आगरा आकर रहे थे। वहाँ जैन विद्वानो के सत्सग से उन्हे धार्मिक ग्र थ-रचना करने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी। फिर वे प्राय. ५०-५५ वर्ष तक निरतर साहित्य-निर्माण करते रहे थे। उन्होने लगभग एक दर्जन गद्य ग्रथो की रचना की है। उनके ग्र थो मे आदि पुराण, पद्म पुराण और हरिवश पुराण की वचनिकाएँ अधिक प्रसिद्ध हैं। ये तीनो बडे-बडे गद्य ग्र थ है। इनका अनुवाद करने मे उन्हे कई वर्ष तक घोर परिश्रम करना पडा था। उनमे से पद्म पुराण की पूर्ति स. १८२३ मे, आदि पुराण की स. १८२४ मे और हरिवश पुराण की स १८२९ मे हुई थी। इनकी भाषा बहुत सरल है, किंतु उस पर राजस्थानी का प्रभाव है। "योगीन्द्रदेव कृत 'परमातम प्रकाश' की और 'श्रीपाल चरित्र' की वचनिका भी उन्होने बनाई थी। प. टोडरमल जी 'पुरुषार्थ सिद्धुपाय' की भाषा टीका अधूरी छोड गये थे। वह भी उन्होने पूरी की थी।" उनका रचना-काल प्राय स. १७७० से १८१९ तक है।

---

(१) हिंदी जैन साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५

प. टोडरमल जी जयपुर निवासी खंडेलवाल दिगंबर जैन थे। वे एक क्रांतिकारी विद्वान, विख्यात तत्ववेत्ता और प्रसिद्ध लेखक थे। उनका जन्म स. १७९३ के लगभग और देहावसान स. १८२५ के लगभग हुआ था। इस प्रकार वे केवल ३२ वर्ष तक जीवित रहे थे, किंतु उसी अल्पायु मे उन्होने महान् कार्य कर दिखाया था। उनका सबसे प्रसिद्ध ग्रथ नेमिचंद्र स्वामी के प्राकृत 'गोम्मट सार' की वचनिका है, जिसकी श्लोक संख्या ६५ हजार के लगभग है। उस विशाल ग्रथ की पूर्ति स. १८१८ मे हुई थी। उन्होने प्राकृत ग्रथ 'त्रिलोक सार' और गुणभद्र स्वामी कृत संस्कृत 'आत्मानुशासन' के गद्यानुवाद रूप वचनिकाएँ भी लिखी थी। उनके असामयिक निधन के कारण दो अन्य ग्रथ 'पुरुषार्थ सिद्धुपाय' की वचनिका और 'मोक्ष मार्ग प्रकाशक' अधूरे रह गये थे। उनमे से प्रथम ग्रथ की पूर्ति प० दौलतराम ने स. १८२७ मे की थी। दूसरा ग्रथ अधूरा होते हुए भी बडा महत्वपूर्ण है, क्यो कि जैन धर्म के हिंदी साहित्य की यही एक मात्र स्वतंत्र सैद्धातिक रचना है, जब कि अन्य तात्विक ग्रथ प्राकृत अथवा संस्कृत के अनुवाद है।

श्री दौलतराम और टोडरमल के अतिरिक्त इस काल के और भी कई गद्यकार थे। देवदत्त भदावर क्षेत्रीय अटेर निवासी ब्राह्मण थे। उन्होने बटेश्वर के भट्टारकों की प्रेरणा से गुणभद्राचार्य कृत सस्कृत उत्तर पुराण के आधार पर विविध तीर्थंकरो से संबंधित पुराणो की रचना हिंदी मे की थी। उनकी अतिम रचना सस्कृत काव्य 'स्वर्णाचल माहात्म्य' है, जिसे उन्होने स. १८४५ मे रचा था। भूधर मिश्र शाहगज आगरा के रहने वाले ब्राह्मण थे। प्रेमी जी ने लिखा है,—'पुरुषार्थ सिद्धुपाय' नामक जैन ग्र थ मे अहिंसा तत्व की मीमासा पढने से आपको जैन धर्म पर भक्ति हो गई थी। फिर उन्होने उक्त ग्र थ की एक विशद भाषा टीका बनाई, जिसकी पूर्ति स. १८७१ मे हुई थी।' नंदराम आगरा निवासी अग्रवाल जैन थे। उन्होने स. १९०४ मे योगीन्द्र देव कृत 'योगसार' नामक ग्र थ की भाषा गद्य वचनिका लिखी थी[1]।'

शैव-शाक्त धर्म

कृष्ण-भक्ति की प्रतिक्रिया—शैव धर्म के उपास्य भगवान् शिव और शाक्त धर्म की उपास्या भगवती शक्ति के पारस्परिक सबध तथा उन दोनो धर्मों की उपासना-भक्ति एव तान्त्रिक साधना मे बहुत कुछ समानता होने के कारण वे आरभ से ही एक-दूसरे के सहयोगी रहे है। जब से वैष्णव धर्म के विविध सप्रदायो का अधिक प्रचार हुआ है, तब से उन्होने प्राय सम्मिलित रूप से उनका विरोध भी किया है। किंतु इस काल मे जब कृष्ण-भक्ति का व्यापक प्रचार हो गया, तब उन पर इसकी बडी तीव्र प्रतिक्रिया हुई थी। उसके कारण ब्रज के शैव धर्म के रूप मे बडा परिवर्तन हो गया था। उसमे वामाचार की उग्र तान्त्रिक साधना समाप्त हो गई थी; किंतु दक्षिणाचार की सौम्य साधना चलती रही, जिसका वैष्णव सहिताओ की तान्त्रिक उपासना से अधिक विरोध नही था। दोनो धर्मो के विद्वान भी तब समन्वय का प्रयास करने लगे थे। किंतु शाक्त धर्म के साधक तब भी वामाचार की कुत्सित एव हिंसामयी तान्त्रिक साधना करते रहे थे। उसके कारण शाक्त और वैष्णव दोनो धर्मों के अतर की खाई और भी चौडी हो गई थी। फलत इस काल के सभी अवैष्णव सप्रदायो मे शाक्त धर्म का ही कृष्णोपासक सप्रदायो द्वारा अधिक विरोध किया गया था।

---

(१) हिंदी जैन साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५१, ५२, ७१ और ७६

ने अनेक स्थानो पर शाक्तो को शास्त्रार्थ मे पराजित कर उन्हे कृष्ण-भक्ति की दीक्षा दी थी । इसी प्रकार निंबार्क सप्रदाय के आचार्य हरिव्यास जी और राधावल्लभीय महात्मा चतुर्भुजदास जी ने भी विविध स्थानो के शाक्तो की हिंसामयी उपासना को बंद करा कर उन्हे राधा-कृष्णोपासना की ओर प्रेरित किया था ।

कालातर मे जहां-जहां वैष्णव धर्म के कृष्णोपासक सप्रदायो का प्रचार हुआ, वहां-वहां अन्य धर्म-सप्रदायो की लोकप्रियता कम हो गई थी । उन धर्म-सप्रदायो मे भी शाक्त धर्म के प्रचार मे अधिक कमी आई थी । ब्रजमडल मे तो शाक्त धर्म को अपना अस्तित्व कायम रखना भी कठिन हो गया था । उसका कारण शाक्तो के वामाचार की हिंसामयी कुत्सित साधना थी, जिसका निर्गुणिया सतो और कृष्णोपासक भक्तो ने सम्मिलित रूप से विरोध किया था । सत कबीरदास ने शाक्तो की अत्यत कटु शब्दो मे निंदा की थी । गत पृष्ठो मे हम उनके सबध मे लिख चुके हैं । यहां पर हम राधा-कृष्णोपासक भक्तो के तत्सबधी दृष्टिकोण पर प्रकाश डालेंगे ।

भक्तो द्वारा शाक्तो की कटु आलोचना और उसका परिणाम—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, ब्रज के तत्कालीन राधा-कृष्णोपासक भक्त जन अपनी उपासना-भक्ति मे तल्लीन रहने वाले समदर्शी महात्मा थे । वे किसी अन्य धर्म-सप्रदाय की निंदा-स्तुति करने मे कोई रुचि नहीं रखते थे । किंतु ऐसा ज्ञात होता है, विवेच्य काल मे शाक्त धर्म के वाममार्गियो की कुत्सित साधना मद्य, मास और व्यभिचार के स्वच्छद प्रयोग के कारण इतनी विकृत हो गई थी कि उससे जनता मे दुराचार फैलने लगा था । उस काल के राधा-कृष्णोपासक भक्त जन उससे बडे क्षुब्ध थे, और वे शाक्तो की विकृत साधना एव उनके दूषित आचार-विचारो की समालोचना करने को बाध्य हुए थे । उन भक्त जनो मे भी राधावल्लभीय महात्मा सेवक जी, हरिदास सप्रदाय के आचार्य बिहारिनदास जी और भक्तप्रवर हरिराम जी व्यास ने शाक्तो की बडे कटु शब्दो मे आलोचना की है ।

राधावल्लभीय महात्मा दामोदरदास उपनाम सेवक जी की सुप्रसिद्ध रचना 'सेवक वाणी' के दो प्रकरणो मे शाक्तो की निंदा की गई है । उन्होने श्री हित हरिवंश जी के अनुयायियो को सावधान करते हुए कहा है कि वे शाक्तो के सग मे अपने दुर्लभ मानव जीवन को व्यर्थ नष्ट न करें । उनके मतानुसार शाक्तो के सग मे रहना अग्नि की ज्वाला से जलते रहना जैसा है, जब कि साधु-सतो का सत्सग शीतलता प्रदान करता है[1] ।

हरिदास सप्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य बिहारिनदास जी कृत 'सिद्धात की साखी' के दोहो मे शाक्तो की अत्यत कटु शब्दो मे निंदा की गई है । उन्होने कहा है, शाक्तो का संग कदापि नहीं करना चाहिए, चाहे वे कितने ही बडे सभ्रात और श्रेष्ठ विद्वान ही क्यो न हो । उनका तो यहां तक कहना है, शाक्त के घर का आतिथ्य भूल कर भी ग्रहण नही करना चाहिए, चाहें विपत्ति पडने पर

---

(१) श्री हरिवंश वचन्न प्रमानिकैं, साकत संग सबै जु बिसारत ।
संसृति माँझ बरचाइ कै पायो जु, मानुष देह वृथा कत डारत ! × ×
साकत सग अगन्नि लपट्ट, लपट्ट जरन्त क्यो सगत कीजै ।
साधु सुबुद्धि समान सुसंतनि, जानिकै सीतल संगत कीजै ॥ (सेवक-वाणी १४-१५)

स्वान का मास भी खाना पडे[1] । वृदावन के सुप्रसिद्ध महात्मा और व्रजभाषा के विख्यात भक्त-कवि हरिराम जी व्यास कृत 'सिद्धात की साखी' मे शाक्तो की बडे कटु शब्दो मे और अत्यत विस्तार के साथ निंदा की गई है । उनका कहना है, पत्नी के शाक्त मतानुगामिनी होने से पति को निश्चय ही नरक मे वास करना पडता है । ऐसी स्त्री को छोड कर वेश्या से भी विवाह करना अच्छा है । शाक्त पुत्र की अपेक्षा तो हरि का नाम जपने वाली कन्या ही अच्छी है । हरि–भक्त का पुत्र यदि शाक्त हो, तो उसे किसी दूसरे का पुत्र समझना चाहिये । उन्होने कहा है, शाक्त भाई–बधु शत्रु के समान है, उन्हे छोड देना चाहिए । उनकी सगति से नरक मे वास करना पडता है । शाक्त सगे-सबधी यदि इद्र–कुबेर के समान भी हो, तब भी उनसे नही मिलना चाहिए । उनका कथन है, शाक्तो के गाँव मे जाने से तो मार्ग मे ही पडा रहना अच्छा है । शाक्तो का बनाया हुआ भोजन वैष्णव भक्त के लिए अखाद्य है । शाक्त ब्राह्मण से चाडाल भी अच्छा है । भक्त जन के लिए शाक्त से मिलने की अपेक्षा सिंह से भेट कर मर जाना श्रेयष्कर है । व्यास जी शाक्तो के अनाचारो के कारण उनसे इतने रुष्ट थे कि उन्होने उनको शूकर-कूकर की उपमा दी है, और उनका मुँह काला करने तक को कहा है[2] ।

व्रज के विविध सप्रदायो के आचार्यो और भक्त जनो द्वारा शाक्तो की ऐसी कटु आलोचना किये जाने का यह परिणाम हुआ कि व्रजमडल मे शाक्त धर्म का प्रचार बहुत कम हो गया था, और उसकी वाममार्गीय कुत्सित उपासना तो प्राय समाप्त ही हो गई थी । वैसे दक्षिणाचार की शक्ति-साधना और लोक की देवी–पूजा किसी न किसी रूप मे चलती रही थी । ऐसे देवी–पूजको ने उस काल मे व्रज के कई स्थानो मे देवी के कुछ मदिर भी बनवाये थे ।

---

(१) साकत सग न जाइयै, जो सौने कौ होय । साधक सिद्धनि को गनें, किते गये गथ खोय ।।
साकत संग न जाइयै, जौरु बड़ौ विद्वाँस । सीचत अरँड करेंडुवा, होय न भलौ गवाँस ।।
साकत के घर पाहुनौ, भूलि भक्त जिन जाहु । 'बिहारीदास' बिपतौ भली, मांस स्वान कौ खाहु ।।
—सिद्धात की साखी, दोहा स. ५०–५२

(२) साकत नारि जु घर मे राखै, निश्चै नरक निवासी ।
जिहिं घर साधु न आवत कबहूँ, गुरु–गोविद मिलासी ।।
साकत स्त्री छाँडियै, वेश्या करियै नारि । हरि-दासी जो ह्वै रहै, कुलहिं न आवै गारि ।।
नाम जपत कन्या भली, साकत भलौ न पूत । छेरी के गल गलथना, जामै दूध न मूत ।।
होइ भक्त के साकत, जान्यौं अन्य काहु कौ पूत । ब्रह्मा कें नारद, व्यास के विदुर, सुक अवधूत ।।
साकत भैया सत्रु सम, वेगहिं तजियै 'व्यास' । जो वाकी संगति करै, करिहै नरक निवास ।।
साकत सगौ न भेटियै, इंद्र-कुबेर समान । सुंदर गनिका गुन भरी, परसत तनु की हानि ।।
साकत सगौ न भेटियै, 'व्यास' सु कठ लगाय । परमारथ लै जाहिगौ, रहै पाप लपटाय ।।
'व्यास' डगर मे परि रहै, सुनि साकत कौ गाँव । मनसा-वाचा-कर्मना, पाप महा जो जाव ।।
'व्यास' बिगूचे जे गए साकत-राधौ खाय । जीवत बिष्टा स्वान कौ, मरै नरक में जाय ।।
'व्यास' बाघ भुज भेटियै, सहियै जिय की हानि । साकत भक्त न भेटियै, पाछलियै पहिचानि ।।
साकत, सूकर, कूकरा, इनकी मति है एक । कोटि जतन परबोधियै, तऊ न छाँड़ै टेक ।।
करि मन, साकत कौ मुँह कारौ ।
साकत मोहि न देख्यौ भावै, कहा बूढ़ौ कहा वारौ ।। ('व्यास वाणी' मे सिद्धांत की साखी)

रामानंदी संप्रदाय

स्वामी कीलदास जी (सं. १५८१ – सं. १६६१)—

जीवन-वृत्तांत—ये स्वामी रामानंद जी की शिष्य-परंपरा में स्वामी कृष्णदास जी पयहारी के शिष्य थे। गत पृष्ठों में लिखा जा चुका है कि स्वामी रामानंद जी के प्रधान शिष्य स्वामी अनंतानंद और उनके शिष्य कृष्णदास पयहारी का मथुरामंडल से घनिष्ठ संबंध था। इनके पश्चात् स्वामी कीलदास के काल में तो मथुरा रामानंदी संप्रदाय का एक प्रमुख केन्द्र ही बन गया था।

मथुरा के प्रयागघाट स्थित गलताकुंज के संरक्षक परशुरामदास जी ने स्वामी कीलदास के संबंध में एक छोटी पुस्तिका प्रकाशित की थी। उसमें लिखा गया है,—'स्वामी कीलदास जी का जन्म सं. १५८१ की आषाढ़ शु. १५ को राजस्थान में बारीकुई स्टेशन के पास बड़ियाल नामक ग्राम के पारीख ब्राह्मण कुल में हुआ था। उनके जन्म का नाम 'सुरराम', पिता का नाम मुकुंददेव और माता का नाम गंगाबाई था। जब वे ८ वर्ष के थे, तब उनके पिता ने उनका यज्ञोपवीत संस्कार करा कर उन्हें स्वामी अनंतानंद के संस्कृत विद्यालय में विद्याध्ययन करने के लिए मथुरा भेज दिया था। मथुरा में ही उन्होंने कृष्णदास पयहारी जी से दीक्षा ली थी। बालपन में उनकी बुद्धि कुंठित थी, जिसे तीव्र करने के लिए उनके गुरु जी ने मंत्रसिद्ध खदिर कील से उनकी जिह्वा पर सरस्वती का बीज-मंत्र लिखा था। उस दिन से उनका नाम सुरराम की अपेक्षा 'कीलदास' प्रसिद्ध हो गया था[1]।'

'रामरसिकावली' में उनके संबंध में भिन्न विवरण मिलता है। उसके अनुसार वे गुजरात के एक क्षत्री कुल में उत्पन्न हुए। विरक्त हो जाने के उपरांत वे एक बार दिल्ली गये थे। जिस समय वे वहाँ समाधि-अवस्था में ध्यान-मग्न होकर एक शिला पर बैठे हुए थे, उसी समय सुल्तान की सवारी निकल रही थी। उन्हें जड़वत् निश्चेष्ट बैठा हुआ देख कर किसी दुष्ट ने उनके मस्तक में लोहे की कील ठोक दी थी। किंतु उससे उन्हें कोई पीड़ा नहीं हुई, और वह कील स्वयं मस्तक में ही गल गई थी। तभी से उनका नाम कीलदास हो गया था[2]। इस किंवदंती की अपेक्षा कील से बीजमंत्र लिखने का पूर्वोक्त कथन अधिक बुद्धिगम्य मालूम होता है। कारण कुछ भी रहा हो, किंतु वे अपने मूल नाम की अपेक्षा कीलदास के नाम से ही प्रसिद्ध हुए थे।

वे कृष्णदास पयहारी के प्रधान शिष्य थे। अपने गुरुदेव के देहावसान के पश्चात् वे जयपुर स्थित गलताश्रम के आचार्य बनाये गये थे, किंतु अतिशय त्याग-वृत्ति और एकांत-प्रियता के कारण वे वहाँ बहुत कम रहते थे। उन्होंने आश्रम का प्रबंध छोटे कृष्णदास जी को सौंप दिया था। वे प्रायः मथुरा में रहते थे और यमुनातट के निकटवर्ती एक गुफा में भक्ति-साधना किया करते थे। नाभा जी ने उनके संबंध में कहा है,—वे दिन-रात भगवान् रामचंद्र के भजन-ध्यान में मग्न रहते थे। सांसारिक वासना और अहं को जीत कर उन्होंने भजनानंद प्राप्त किया था। सांख्य, योग और भक्ति का प्रौढ़ ज्ञान उन्हें हस्तामलक सदृश सुलभ था। उन्होंने भीष्म पितामह की भाँति मृत्यु को वशीभूत कर लिया था[3]।

---

(१) सिद्ध योगी श्री कीलदास, पृष्ठ १–२

(२) भक्तमाल–राम रसिकावली, पृष्ठ ५७३–५७५

(३) भक्तमाल, छप्पय सं ४०

वे परम तपस्वी और सिद्ध योगी थे। मथुरा मे यमुना के प्रयागघाट के समीपवर्ती जिस गुफा मे रह कर वे भजन, ध्यान और तप किया करते थे, उसी के निकट उनका मठ था। मथुरा का वह स्थल अभी तक 'कीलमठ' के नाम से प्रसिद्ध है, और उनकी वह गुफा भी अद्यावधि विद्यमान है। कीलमठ के समीप का एक मोहल्ला 'रामजीद्वारा' कहलाता है, जहाँ भगवान् रामचद्र का एक प्राचीन मदिर है। राम नवमी के दिन वहाँ पर बडा भारी मेला लगता है। प्रयागघाट पर 'गलताकुज' है, और उसके निकट यमुना का दूसरा घाट 'रामघाट' के नाम से प्रसिद्ध है। इन सब से ज्ञात होता है कि स्वामी कीलदास के कारण उस काल मे मथुरा रामानदी सप्रदाय का प्रसिद्ध केन्द्र हो गया था।

मुगल सम्राट अकबर के प्रधान सेनापति आमेर-नरेश मानसिंह कीलदास के परम भक्त कहे जाते है। जब वे आगरा मे रहते थे, तब प्राय उनके दर्शनार्थ मथुरा आया करते थे। कीलदास का देहावसान स. १६६१ की माघ शु १२ को मथुरा मे ही हुआ था। मथुरा गलताकुज की गुरु-परपरा स्वामी कीलदास से मानी जाती है। श्री पराकुशाचार्य के लेखानुसार वे कीलदास के पश्चात् गलता-गद्दी के १३ वे आचार्य थे।

समकालीन रामानंदी भक्त और उनकी गद्दियाँ—रामानदी गुरु-परपरा से ज्ञात होता है कि स्वामी कृष्णदास जी पयहारी के कीलदास सहित २४ शिष्य थे। स्वामी कीलदास जी के उन गुरु-भाइयो मे स्वामी अग्रदास, नारायणदास, सूरजदास और कल्याणदास का ब्रज से घनिष्ट सबध सिद्ध होता है। ध्रुवदास कृत 'भक्त-नामावली' के दोहा स ८२ मे जिन 'सूरज' और 'कल्यान' का नामोल्लेख हुआ है, वे हमारे मतानुसार पूर्वोक्त रामानदी भक्त जन ही थे। ध्रुवदास के कथन से ज्ञात होता है कि वे दोनो 'बडाई' छोड कर ब्रज के सकेत नामक स्थान मे भजन-ध्यान किया करते थे[1]। हमारा अनुमान है, उनमे से सूरज या सूरदास मुगल सम्राट अकबर के दरबारी गायक थे, और कल्याणदास भी कोई उच्च पदाधिकारी थे। बाद मे वे दोनो विरक्त होकर पयहारी जी के शिष्य हो गये थे। उनका साधना-स्थल ब्रज का सकेत नामक स्थान था। उनमे से सूरजदास को पहिले अष्टछापी सूरदास समझा जाता था, और बाद मे सूरदास मदनमोहन माना जाता रहा, किंतु हमने सिद्ध किया है कि वे उन दोनो से भिन्न तीसरे सूरजदास थे, जो रामानदी सप्रदाय के वैरागी भक्त थे। पहिले वे सकेत मे निवास करते थे, किंतु बाद मे बनारस जा कर रहने लगे थे। उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण ही अकबरी दरबार के मीरमुशी अबुलफजल ने स १६४२ मे पत्र लिखकर उनसे अकबर के 'दीन इलाही' को स्वीकार करने का आग्रह किया था[2]।

मनोहरपुरा की गद्दी—मथुरा नगर के मनोहरपुरा मोहल्ला मे, जहाँ अब श्री दीर्घविष्णु जी का मदिर है, पहिले एक रामानदी गद्दी थी, जो परवर्ती सुलतानो और सूरियो के शासन काल मे विद्यमान थी। स १६०६ मे उस गद्दी के महत द्वारकादास नामक कोई रामानदी सत थे, जो स्वामी रामानद जी की शिष्य-परपरा मे चौथी पीढी मे हुए थे। इसका उल्लेख उक्त द्वारकादास के एक शिष्य सासदास कृत 'भगति भावती' नामक रचना मे हुआ है[3]। इसमे द्वारकादास जी की गुरु-परपरा इस प्रकार बतलाई गई है,—'द्वारकादास के गुरु गयेशानद, गयेशानद के गुरु अनतानद और

---

(१) सेयौ नीकी भाँति सो, श्री सकेत स्थान। रह्यौ बड़ाई छाँड़िकै, 'सूरज' 'द्विज कल्यान'॥

(२) देखिये हमारा लेख,—'बाबा रामदास और उनके पुत्र सूरदास' (ब्रज भारती, वर्ष १३, अक २)

(३) देखिये श्री अगरचद नाहटा का लेख,—'मथुरा में रचित तीन हिंदी ग्रंथ (,, वर्ष १३, अक ३)

अनतानद के गुरु रामानद ।' इस गुरु-परपरा के अनुसार गणेशानद श्री पयहारी कृष्णदास के गुरु-भाई थे, जिनका नामोल्लेख नाभा जी ने भी अनतानद जी के शिष्यो मे किया है² । नाभा जी ने भक्तवर द्वारकादास जी के सबध मे बतलाया है कि भगवान् रामचद्र के चरणो मे उनका सच्चा अनुराग था । उन्होने पुत्र-कलत्र, धन-धाम से उदासीन होकर सामाजिक मोह-ममता का परित्याग किया था । वे कीलदास जी की कृपा से भजन मे प्रवृत्त होकर अज्ञान-अविद्या का नाश करने मे समर्थ हुए थे । अत मे उन्होने अष्टाग योग द्वारा अपने नश्वर शरीर को छोडा था² । नाभा जी के उक्त कथन से ज्ञात होता है कि द्वारकादास जी गणेशानद जी के शिष्य होने हुए भी कीलदास जी से भी लाभान्वित हुए थे । उन दोनो वैरागी भक्तो का एक ही काल मे मथुरा मे निवास होने से ऐसा होना स्वाभाविक ही था ।

रामानदी सम्प्रदाय की उस गद्दी की परपरा स १६०६ के पश्चात् कब तक रही थी, इसका कोई उल्लेख नही मिलता है । ऐसा मालूम होता है, मुगल सम्राट अकबर के काल से लेकर शाहजहाँ तक उस गद्दी की परपरा अक्षुण्ण रही थी । उसके पश्चात् औरगजेब के शासन काल मे उस गद्दी का देव-स्थान नष्ट हो गया था, किन्तु उसका धार्मिक महत्व फिर भी बना रहा था । इस समय वहाँ श्री दीर्घविष्णु जी का मदिर है, किन्तु उसका रामानदी सम्प्रदाय से कोई सबध नही है ।

गो० तुलसीदास का ब्रज से संबंध—गो० तुलसीदास हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कवि होने के साथ ही साथ रामानदी भक्तो मे भी सर्वोपरि थे । उन्हे स्वामी रामानद की शिष्य-परपरा मे नरहरिदास अथवा नरहर्यानद का शिष्य माना जाता है । स्वामी रामानद जी राम-भक्ति की प्रधानता स्थापित करने वाले रामावत सप्रदाय के प्रवर्तक अवश्य थे, किन्तु घर-घर मे राम-भक्ति की प्रतिष्ठा करने और जन-जन मे रामोपासना की भावना को जाग्रत रखने का श्रेय गो० तुलसीदास जी को है । उनकी अमर रचना 'रामचरित मानस' द्वारा राम-भक्ति का जैसा व्यापक प्रचार हुआ है, वैसा किसी भी अन्य साधन से नही हुआ ।

गोस्वामी जी की अधिकाश रचनाएँ ब्रजभाषा मे है, और एक 'श्री कृष्ण गीतावली' कृष्ण-भक्ति का भी उत्कृष्ट काव्य है । इन रचनाओ के अतिरिक्त उनका ब्रज से कोई खास सबध नही माना जाता । उनका जन्म-स्थान राजापुर कहा जाता है, और वे जीवन पर्यंत चित्रकूट, अयोध्या और वाराणसी जैसे ब्रज से दूरस्थ स्थानो मे ही रहे थे । वल्लभ सप्रदाय के वार्ता साहित्य मे ब्रज के विख्यात भक्त-कवि नददास को तुलसीदास का छोटा भाई बतलाया गया है³ । इसके साथ ही वार्ता का उल्लेख है, जब नददास से मिलने के लिए तुलसीदास ब्रज मे आये थे, तब वे वहाँ की भक्ति-भावना से बडे प्रभावित हुए थे⁴ । वार्ता के उक्त कथन से गो. तुलसीदास का ब्रज से कुछ सबध स्थापित होता है, किंतु जब से सोरो की महत्वपूर्ण सामग्री प्रकाश मे आई है, तब से यह सबध और भी बढ गया है । इस सामग्री से जहाँ वार्ता के कथन की पुष्टि हुई है, वहाँ इससे तुलसीदास और नददास के शृ खलाबद्ध जीवन-वृत्त पर भी प्रकाश पडता है ।

(१) भक्तमाल, छप्पय स ३७

(२) वही , छप्पय स १८२

(३) नददास की वार्ता, प्रसग १ (दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता, तृतीय खड, पृष्ठ २५६)

(४) वही , प्रसग ४ (वही , ,, , पृष्ठ २७१-२७४)

राम-सीता की आकृति के ऊपर नागरी लिपि मे 'रामसीय' अकित है और दूसरी ओर फारसी लिपि मे उनका प्रचलन काल '५० इलाही अमरदाद' लिखा है[१]। इससे ज्ञात होता है, वे मुद्राएँ सम्राट के देहावसान से पहिले के वर्ष इलाही स ५० अर्थात् विक्रम स १६६१ मे प्रचलित की गई थी।

राम-भक्ति मे रसिक भावना—स्वामी अग्रदास (उपस्थिति काल स. १६३२) श्री कृष्णदास पयहारी के दूसरे शिष्य और कीलदास के छोटे गुरु भाई थे। उन्हे रामानदी सप्रदाय मे माधुर्य भक्ति और रसिक भावना का प्रवर्त्तक माना जाता रहा है। उनका उपनाम 'अग्रअली' है, और उनकी गद्दी जयपुर के निकटवर्ती रैवासा नामक स्थान मे है। भक्तमाल के रचयिता नाभा जी उन्ही के शिष्य थे। रामोपासना प्राय मर्यादामार्गीय दास्य भक्ति पर आधारित है, जब कि कृष्णोपासना अधिकतर रागमार्गीय माधुर्य भक्ति से सबधित है। इससे यह समझा जा सकता है कि अग्रदास पर व्रज की कृष्ण-भक्ति का प्रभाव पडा होगा। उनके उपरात १८वी शती से तो रामानदी रसिक भक्त व्रज के राधा-कृष्णोपासक भक्त जनो मे प्रभावित और लाभान्वित होते ही रहे थे।

व्रज की रस भक्ति से प्रेरणा—'रसिक प्रकाश भक्तमाल' मे ऐसे कई भक्तो का नामोल्लेख हुआ है, जिन्होने व्रज की रस-भक्ति से प्रभावित होकर वहाँ के रसिक भक्तो के सत्सग का लाभ प्राप्त किया था, और वे स्थायी रूप से वृदावन मे ही रहने लगे थे। उक्त भक्तमाल मे वृदावन के सुप्रसिद्ध रसिक महात्मा सर्वश्री सेवक जी, विहारिनदास जी, भगवतरसिक जी आदि का आदरपूर्वक स्मरण किया गया है। उस काल की रामानदी रसिक भावना की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए डा० भगवतीप्रसाद सिंह ने लिखा है,—"कहने की आवश्यकता नही कि राम-भक्ति की रसिक शाखा के विकास मे कृष्ण-भक्ति का योग पहले से ही कुछ न कुछ चला आ रहा था। १८वीं शती मे यह भावना अधिक विकसित हुई। 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' मे ऐसे कई राम-भक्तो के वृत्त दिये गये हैं, जिन्होने रसिकोपासना के सिद्धातो का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वृंदावन की यात्रा की थी और वहाँ के प्रसिद्ध आचार्यो से सत्सग-लाभ किया था। मोहन रसिक एक ऐसे ही भक्त थे। उन्होने वृदावन के महात्मा भगवत रसिक जी से राम-ध्यान सीखा था। कुछ रसिक राम-भक्त स्थायी रूप से कृष्ण-तीर्थो मे निवास भी करने लगे थे। मौनी जानकीदास के वृदावन मे रह कर शृगारी साधना करने की चर्चा 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' मे आई है। इन उदाहरणो से यह व्यक्त होता है कि १८ वीं शती के अत तक रसिक राम-भक्त रस-साधना की परिपूर्ण प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कृष्णोपासक आचार्यो के शरणागत होने मे अपने इष्टपरत्व का अपमान नही समझते थे[२]।"

व्रज के रामोपासक रसिक भक्त और उनकी गद्दियाँ—नाभा जी कृत 'भक्तमाल' मे कतिपय रामोपासक रसिक भक्तो का उल्लेख हुआ है, जिनमे से एक मानदास भी थे। उनके विषय में बतलाया गया है कि वे उज्ज्वल रस के गायक और सुदर कवि थे। उन्होने रामायण और हनुमन्नाटक की उक्तियो के आधार पर अपनी रहस्यपूर्ण रचना की थी। वे भगवान् रामचद्र की गुप्त शृंगारिक लीलाओ के प्राकट्यकर्त्ता थे[३]। उनका समय स १६८० है, और निवास-स्थान मथुरा था[४]।

---

(१) देखिये राय आनंदकृष्ण जी का लेख,—'राममीय मुद्रा' (कलानिधि, वर्ष १ अक ३)

(२) रामभक्ति मे रसिक सप्रदाय, पृष्ठ १३७-१३८

(३) भक्तमाल, छप्पय सं १३०

(४) रामभक्ति मे रसिक सप्रदाय, पृष्ठ ४३६

नाम तक लेने वाला यहाँ कोई नही मिलता है[1] ।' दूसरी किंवदंती से ज्ञात होता है, जब गोस्वामी तुलसीदास गोवर्धन के मदिर मे गये, तब वे श्रीनाथजी के दर्शन कर अत्यत प्रसन्न हुए थे । फिर भी अपने उपास्य भगवान् राम की अनन्य भक्ति के कारण वे श्रीनाथ जी के सम्मुख नतमस्तक नही हुए थे । उन्होने श्रीनाथ जी से प्रार्थना की,—'भगवन् ! मुझे तो आप राम के रूप मे ही दर्शन दें । कहते है, भक्त की टेक रखने के लिए श्रीनाथ जी ने उन्हे धनुर्धारी राम के रूप मे दर्शन दिया और तभी तुलसीदास ने उन्हे श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया था[2] ।

ये दोनो किवदतियाँ कट्टर रामोपासक सप्रदायवादियो द्वारा प्रचलित की हुई ज्ञात पड़ती है । इनमे सत्य लेश मात्र भी नही है । कारण यह है, न तो ब्रज मे कभी भगवान् राम से बैर रहा और न गो तुलसीदास कभी इतने कट्टर सप्रदायवादी रहे कि वे अपनी राम भक्ति के लिए कृष्ण की इतनी उपेक्षा करते । ब्रज मे सदा से कृष्ण-भक्ति का व्यापक प्रचार रहा है, किंतु यहाँ पर राम-भक्तो का भी कभी अभाव नही हुआ । गो तुलसीदास के ब्रज मे आने से पहिले ही रामानदी भक्त जन यहाँ पर रामोपासना करते थे । गो तुलसीदास ने भी 'श्रीकृष्ण-गीतावली' मे भगवान् कृष्ण का जैसा गुण-गान किया है, वैसा सूरदास के अतिरिक्त कोई अन्य कृष्णोपासक कवि भी नही कर सका है ।

ब्रज का प्रभाव—गो. तुलसीदास ने ब्रज-यात्रा के पश्चात् ही अपने प्राय सभी महत्वपूर्ण ग्रथो की रचना की थी, अत उन पर ब्रज के भक्ति-भाव और धार्मिक वातावरण का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था । वह प्रभाव 'गीतावली' और 'श्रीकृष्ण गीतावली' मे स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है । गोस्वामी जी को मर्यादामार्गीय दास्य भक्ति मान्य थी, किंतु डा० भगवतीप्रसाद सिंह ने उनकी अनेक रचनाओ मे से माधुर्य भक्ति और रसिक भावना के सूत्र भी एकत्र किये है[3] । इसे निश्चय ही ब्रज का प्रभाव कहा जा सकता है । हम आगे लिखेंगे कि रामोपासना मे माधुर्य भक्ति और रसिक भावना का विकास ब्रज की भक्ति-भावना के कारण ही हुआ था ।

सम्राट अकबर की राम-भक्ति—मथुरामडल मे रामोपासना का बढता हुआ प्रभाव उस काल मे आगरा भी पहुँचा था, जहाँ मुगल सम्राट अकबर की राजधानी थी । उससे सम्राट और उनके दरबारी भी आकर्षित हुए थे । अकबर के सेनानायक आमेर-नरेश मानसिंह अपने राज्य की गलता-गद्दी के कारण रामानदी सप्रदाय से पहिले से ही प्रभावित थे । स्वामी कील्हदास और स्वामी अग्रदास के प्रति उनकी श्रद्धा-भावना का उल्लेख मिलता है । सम्राट अकबर ने शासन सँभालते ही ब्रज की धार्मिक भावना को स्वीकार किया था, और यहाँ के धर्माचार्यो एव भक्तो के प्रति श्रद्धा व्यक्त की थी । अपने अतिम काल मे उनका आकर्षण रामोपासना के प्रति भी हो गया था । इसका प्रमाण उनके द्वारा प्रचारित 'रामसीय' भाँति की स्वर्ण एव रजत मुद्राएँ है। सोने और चाँदी की उन मुद्राओ के एक ओर राम और सीता की आकृति अकित की गई है, और दूसरी ओर उनका प्रचलन-काल दिया गया है । ऐसे कई सिक्के अब तक मिल चुके है । उनमे एक और

---

(१) कृष्ण-कृष्ण सबही कहे, आक-ढाक अरु कैर । तुलसी या ब्रजभूमि मे, कहा राम सो बैर ॥

(२) कहा कहूँ छवि आज की, भले बने हो नाथ। तुलसी मस्तक जब नवैं, धनुष-बान लेउ हाथ ॥

(३) रामभक्ति मे रसिक सप्रदाय, पृष्ठ १०३–११०

(४) श्री अगरचद नाहटा का लेख,—'मथुरा मे रचित तीन हिंदी ग्रंथ (ब्रज भारती, वर्ष १३ अक ३)

राम-सीता की आकृति के ऊपर नागरी लिपि मे 'रामसीय' अकित है और दूसरी ओर फारसी लिपि मे उनका प्रचलन काल '५० इलाही अमरदाद' लिखा है[1]। इससे ज्ञात होता है, वे मुद्राएँ सम्राट के देहावसान से पहिले के वर्ष इलाही स ५० अर्थात् विक्रम स १६६१ मे प्रचलित की गई थी।

राम-भक्ति में रसिक भावना—स्वामी अग्रदास (उपस्थिति काल स. १६३२) श्री कृष्णदास पयहारी के दूसरे शिष्य और कीलदास के छोटे गुरु भाई थे। उन्हे रामानदी सप्रदाय मे माधुर्य भक्ति और रसिक भावना का प्रवर्त्तक माना जाता रहा है। उनका उपनाम 'अग्रअली' है, और उनकी गद्दी जयपुर के निकटवर्ती रैवासा नामक स्थान मे है। भक्तमाल के रचयिता नाभा जी उन्ही के शिष्य थे। रामोपासना प्राय मर्यादामार्गीय दास्य भक्ति पर आधारित है, जब कि कृष्णोपासना अधिकतर रागमार्गीय माधुर्य भक्ति से सबधित है। इससे यह समझा जा सकता है कि अग्रदास पर ब्रज की कृष्ण-भक्ति का प्रभाव पडा होगा। उनके उपरात १८वी शती से तो रामानदी रसिक भक्त ब्रज के राधा-कृष्णोपासक भक्त जनो से प्रभावित और लाभान्वित होते ही रहे थे।

ब्रज की रस भक्ति से प्रेरणा—'रसिक प्रकाश भक्तमाल' मे ऐसे कई भक्तो का नामोल्लेख हुआ है, जिन्होने ब्रज की रस-भक्ति से प्रभावित होकर वहाँ के रसिक भक्तो के सत्सग का लाभ प्राप्त किया था, और वे स्थायी रूप से वृदावन मे ही रहने लगे थे। उक्त भक्तमाल मे वृदावन के सुप्रसिद्ध रसिक महात्मा सर्वश्री सेवक जी, बिहारिनदास जी, भगवतरसिक जी आदि का आदरपूर्वक स्मरण किया गया है। उस काल की रामानदी रसिक भावना की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए डा० भगवतीप्रसाद सिंह ने लिखा है,—"कहने की आवश्यकता नही कि राम-भक्ति की रसिक शाखा के विकास मे कृष्ण-भक्ति का योग पहले से ही कुछ न कुछ चला आ रहा था। १८वी शती मे यह भावना अधिक विकसित हुई। 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' मे ऐसे कई राम-भक्तो के वृत्त दिये गये है, जिन्होने रसिकोपासना के सिद्धातो का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वृदावन की यात्रा की थी और वहाँ के प्रसिद्ध आचार्यो से सत्सग-लाभ किया था। मोहन रसिक एक ऐसे ही भक्त थे। उन्होने वृदावन के महात्मा भगवत रसिक जी से रास-ध्यान सीखा था। कुछ रसिक राम-भक्त स्थायी रूप से कृष्ण-तीर्थो मे निवास भी करने लगे थे। मौनी जानकीदास के वृदावन मे रह कर शृगारी साधना करने की चर्चा 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' मे आई है। इन उदाहरणो से यह व्यक्त होता है कि १८ वी शती के अत तक रसिक राम-भक्त रस-साधना की परिपूर्ण प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कृष्णोपासक आचार्यो के शरणागत होने मे अपने इष्टपरत्व का अपमान नही समझते थे[2]।"

ब्रज के रामोपासक रसिक भक्त और उनकी गद्दियाँ—नाभा जी कृत 'भक्तमाल' मे कतिपय रामोपासक रसिक भक्तो का उल्लेख हुआ है, जिनमे से एक मानदास भी थे। उनके विषय में बतलाया गया है कि वे उज्ज्वल रस के गायक और सुदर कवि थे। उन्होने रामायण और हनुमन्नाटक की उक्तियो के आधार पर अपनी रहस्यपूर्ण रचना की थी। वे भगवान् रामचद्र की गुप्त शृंगारिक लीलाओ के प्राकट्यकर्त्ता थे[3]। उनका समय स १६८० है, और निवास-स्थान मथुरा था[4]।

---

(१) देखिये राय आनंदकृष्ण जी का लेख,—'रामसीय मुद्रा' (कलानिधि, वर्ष १ अक ३)

(२) रामभक्ति में रसिक सप्रदाय, पृष्ठ १३७-१३८

(३) भक्तमाल, छप्पय स १३०

(४) रामभक्ति मे रसिक संप्रदाय, पृष्ठ ५३९

ब्रज के रामोपासक रसिकाचार्यों की गद्दियो की परपरा मे गोवर्धन नामक धार्मिक स्थल की कदमखडी मे एक गद्दी का उल्लेख मिलता है । उसके सस्थापक रामकबीर जी बतलाये गये हैं। डा० भगवतीप्रसाद सिंह के मतानुसार वे सुप्रसिद्ध सत कबीर से भिन्न, स्वामी रामानद जी की शिष्य-परपरा के कोई महात्मा थे[1] । विद्वद्वर परशुराम चतुर्वेदी के मतानुसार 'राम कबीर' कोई सत नही थे, बल्कि एक पथ का नाम था[2] । रसिकाचार्यों की दूसरी गद्दी ब्रज के गोकुल नामक धार्मिक स्थल मे 'परमहस जी का स्थान' के नाम से बतलाई गई है। उसके सस्थापक परमहस भगवानदास थे, जो रसिकाचार्य अग्रदास जी की ११ वी पीढी मे हुए थे[3] । उक्त दोनो गद्दियों का विशेष विवरण और उनके यथार्थ काल का उल्लेख नही मिलता है ।

रसिक भावना का प्रसार—१९ वी शताब्दी मे जब राम-भक्ति मे रसिक भावना का अधिक प्रसार हो गया, तब अयोध्या को उसका प्रमुख केन्द्र माना जाने लगा था । उस समय उसका महत्व रसिकोपासना के आरभिक केन्द्र जयपुर राज्य के गलता और रैवासा से भी बढ गया था । उससे पहिले तक सभी रामोपासक रसिक भक्त उक्त गद्दियो के आचार्यों से भी अधिक मथुरा-वृदावन के रसिक भक्तो से प्रेरणा प्राप्त करते थे । डा भगवतीप्रसाद सिंह के मतानुसार १९ वी शताब्दी मे उस स्थिति मे परिवर्तन हो गया था । उस समय कतिपय कृष्ण-भक्त वृदावन छोड कर अयोध्या को अपना निवास-स्थान बनाने और कृष्ण की ब्रज-कुजो की रास-लीला का ध्यान छोड कर राम की प्रमोदवन-लीला का ध्यान करने लगे थे । ऐसे भक्त जनो मे रामदास वृदावनी, मोहनदास वृदावनी, सतदास वृदावनी और बगाली गोपालदास वृदावनी मुख्य थे । रामदास हित हरिवश जी के घराने के थे। वे रामसखे जी के शिष्य निधिनिधि जी द्वारा राम-भक्ति की दीक्षा लेकर सखी भाव को प्राप्त हुए थे[4] । इसका उल्लेख महात्मा जानकीरसिक शरण जी ने किया है[5] ।

रामानंदी अखाड़ो का निर्माण—विवेच्य काल मे वैष्णवेतर धर्म-सप्रदायो की उच्छृ खलता के विरोध मे जो वैष्णव अनी-अखाडे बनाये गये थे, उनमे 'राम दल' के अखाडो मे रामानदी वैरागी साधुओ की सख्या सबसे अधिक थी । अनी-अखाडो की व्यवस्था के अनुसार 'निर्मोही अनी' के अतर्गत तीन रामानदी अखाडो का सगठन किया गया था, जिनके नाम १ रामानंदी निर्मोही, २ रामानदी महानिर्वाणी और ३ रामानदी सतोषी थे । 'निर्वाणी अनी' में दो अखाडे,— १ रामानदी निर्वाणी और २ रामानदी खाकी थे, तथा दिगबरी अनी' मे एक रामजी दिगबर अखाडा था । उनके अतिरिक्त इस सप्रदाय के ५ स्वतत्र अखाडे भी थे । इन अनी-अखाडो की बैठकें अनेक स्थानो मे मिलती हैं । ब्रज मे इनकी प्राय सभी बैठके वृदावन मे है ।

जैसा पहिले लिखा गया है, इन अनी-अखाडो द्वारा जहाँ अपने-अपने सप्रदायो की सुरक्षा और उनके प्रचार-प्रसार का उपयोगी कार्य किया गया था, वहाँ उन्होने सभी वैष्णव सप्रदायो के पारस्परिक ऐक्य एव धार्मिक समन्वय की महत्वपूर्ण भूमिका भी प्रस्तुत की थी । यदि उस काल मे इन अनी-अखाडो का निर्माण न हुआ होता, तो वैष्णव सप्रदायों को अपना अस्तित्व कायम रखना भी कठिन हो जाता ।

---

(१) रामभक्ति मे रसिक सप्रदाय, पृष्ठ ३२९
(२) उत्तरी भारत की सत-परपरा, पृष्ठ २६२
(३) रामभक्ति मे रसिक संप्रदाय, पृष्ठ ३५२
(४) वही ,, , पृष्ठ १७१-१७२
(५) रसिक प्रकाश भक्तमाल, पृष्ठ ८१

ललित संप्रदाय

नाम और परंपरा—इस सप्रदाय मे श्रीराधा जी की प्रधान सखी ललिता जी को परम गुरु माना गया है। उनके नाम पर ही यह 'ललित सप्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इस सप्रदाय के प्रवर्त्तक श्री वशीअलि नामक एक रसिक भक्त थे। उनके नाम से इसे 'वशीअलि सप्रदाय' भी कहते है। इसकी परपरा प्राचीन धर्माचार्य श्री विष्णुस्वामी जी के 'रुद्र सप्रदाय' से विकसित हुई मानी गई है। जिस प्रकार वल्लभ सप्रदाय को, रुद्र सप्रदाय की परपरा मे विकसित होने पर भी उसकी कृष्ण-भक्ति की विशिष्टता के कारण, एक स्वतत्र भक्ति-सप्रदाय माना गया है, उसी प्रकार ललित सप्रदाय भी राधा जी की अतिशय प्रधानता और सखी भाव की उपासना के कारण स्वतत्र सप्रदाय की स्थिति रखता है। परपरा का दृष्टि से तो इसका सबध सर्वश्री विष्णु-स्वामी और वल्लभाचार्य जी के सप्रदायो से है, किंतु उपासना के क्षेत्र मे यह हित हरिवश जी और स्वामी हरिदास जी के सप्रदायो का सहयोगी है। इस प्रकार इसकी उपासना-भक्ति और रीति-नीति पर कई सप्रदायो का प्रभाव पडा है।

श्री वंशीअलि जी (स १७६४ – स १८२२)—

जीवन-वृत्तांत—नाभा जी ने नारायण मिश्र नामक एक विद्वान भक्त का उल्लेख किया है। उन्होने बतलाया है, वे नवला कुल के ब्राह्मण थे, और परम विद्वान एव भागवत के अद्वितीय वक्ता थे[1]। 'राधा सिद्धात' नामक ग्रथ के आधार पर डा० शरणविहारी गोस्वामी ने लिखा है, नारायण मिश्र जी का मूल निवास-स्थान लाहौर था, किंतु बाद मे वे मथुरा मे आकर बस गये थे। उनकी नवी पीढी मे वशीधर जी हुए थे, जो अपनी सखी भाव की उपासना के कारण वशीअलि के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। उनका जन्म स १७६४ की आश्विन शु १ को वृदावन मे हुआ था। पद्रह वर्ष की आयु मे उनका विवाह किया गया, और बीस वर्ष की अवस्था मे उनके पुत्र पुडरीकाक्ष का जन्म हुआ। उसके बाद वे घर-बार से विरक्त होकर सखी भाव की उपासना मे रस-मग्न रहने लगे थे। उनका निकुज-वास ५८ वर्ष की आयु मे स १८२२ की आश्विन शु १ वृदावन के गोविंदघाट की 'ललित कुज' मे हुआ था[2]।

ग्रंथ और वाणी-रचना—श्री वशीअलि जी सस्कृत और ब्रजभाषा के प्रगाढ विद्वान एव सुकवि थे। उन्होने सस्कृत मे 'राधा-तत्व-प्रकाश' तथा 'राधा-सिद्धात' ग्रथो की रचना की थी; और 'मोक्षवाद', 'शक्ति स्वातत्र्य परामर्श' एव 'राधा उपनिषद्' की टीका की थी। ब्रजभाषा मे उन्होने 'श्री राधिका महारास', 'हृदय सर्वस्व' 'श्री लाडिली जू की बधाई' और 'श्री ललिता जू की बधाई' के साथ ही साथ सिद्धात, लीला, वात्सल्य, माधुर्य एव वर्षोत्सव के अनेक पदो की रचना की थी।। ये रचनाएँ सिद्धातपरक है, अत उपासना और भक्ति की दृष्टि से इनका बडा महत्त्व है। इस सप्रदाय की यह सैद्धातिक 'वाणी' है, किंतु इसका साहित्यिक महत्त्व भी कम नहीं है। इनकी भाषा परिमार्जित और रचना-शैली सरस एव भावपूर्ण है। इनके 'सिद्धात'-कथन मे स्पष्टता और 'लीला'-वर्णन मे सरसता है।

---

(१) भक्तमाल, छप्पय स. १३४

(२) कृष्ण भक्ति काव्य मे सखी भाव, पृष्ठ ६६१

भक्ति-सिद्धांत और उपासना-तत्त्व—वंशीअलि जी के सम्प्रदाय में श्रीराधा-कृष्ण के युगल स्वरूप की भक्ति की जाती है, और उसमें श्रीराधा जी का प्राधान्य माना गया है। इस सम्प्रदाय की उपासना सखी भाव की है। 'राधा जी का प्राधान्य' एव 'सखी भाव' श्री हित हरिवंश जी तथा स्वामी हरिदास जी के सप्रदायो मे भी मान्य है; जहाँ उसे दार्शनिक रूप न देकर 'प्रेम' और 'रस' के सवर्धन की भूमिका मात्र समझा गया है। किंतु वंशीअलि जी ने उसे दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित किया है। यह इस सप्रदाय की भक्ति और उपासना की विशिष्टता है।

डा० शरणबिहारी गोस्वामी ने श्री वंशीअलि जी की ग्रंथ-रचना और वाणी द्वारा उनकी भक्ति तथा उपासना के सिद्धात का स्पष्टीकरण किया है। उन्होंने बतलाया है,—'श्री वंशीअलि जी की दृष्टि मे श्रीराधा का ही अपर नाम 'ब्रह्म' है। वे ही परा शक्ति के रूप में सर्वत्र सूत्र की भाँति व्याप्त है और समस्त जड-चेतन उन्ही स्वतन्त्रा के आधीन है। श्रीराधा ही सच्चिदानन्दरूपिणी हैं, शक्तिरूपिणी हैं, ब्रह्म की प्रकाश-रूपा है, ईश्वर एव जीव की प्रकाशिका हैं और सर्वांशनि हैं। वे सर्वोपरि होते हुए भी भक्त-पराधीन है। श्रीकृष्णचन्द्र श्रीराधा के अनन्य भक्त हैं, अत उनके साथ समान भाव से विहार करने के लिए ही श्रीराधा जी ने अवतार ग्रहण किया है। श्रीराधा सर्वेश्वरी है, अत विहार मे उनकी समानता और कृष्ण-पत्नीत्व भक्तो के आनन्द के लिए है। उन्होंने भक्तो के लिए ही अपने विहार को प्रदर्शित किया है। वे सर्वदा स्वानन्द रस मे मग्न हैं। उनकी विहार-इच्छा कामेच्छा कदापि नही है। श्रीराधा जी विशुद्ध प्रेम-मूर्ति है तथा वे अपने अनन्य भक्त श्रीकृष्ण और अन्य सखियो के हृदय मे नित्य विराजमान रहती है। श्रीराधा जी की उपासना के लिए दास्य, वात्सल्यादि अनेक भाव हो सकते है, परतु उनकी सेवा का प्रमुख भाव सखी भाव ही है। श्री ललितादिक सखियाँ श्रीराधा को ही अपना पति मान कर अपने को सौभाग्यवती समझती है। श्रीराधा जी का भक्ति-रस नित्य सिद्ध निर्विकल्प रस है, जो रति-रस रूप से वृदावन मे श्रीकृष्ण और ललितादि सखियो के हृदय मे नित्य स्थित है[1]।'

भक्ति-सिद्धात की विसगति—श्री वंशीअलि जी के सप्रदाय की उपासना-भक्ति के सैद्धांतिक निष्कर्ष मे यह भली भाँति समझा जा सकता है कि श्रीराधा जी के प्राधान्य सबधी उनकी मान्यता अन्य सभी सप्रदायो के तत्सबधी दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न और विलक्षण है। उनकी यह विलक्षणता 'महारास' की भावना मे विशेष रूप से स्पष्ट होती है। वंशीअलि जी ने अपनी 'श्रीराधा महारास' नामक रचना मे श्रीकृष्ण को पूर्णतया अनुपस्थित कर रास को श्रीराधा जी और उनकी सखियों द्वारा ही सम्पन्न कराया है। वहाँ श्रीराधा ही वंशी-वादन द्वारा सखियो का आह्वान करती हैं। सखियाँ उन्हे अपना पति मान कर उनके साथ उसी प्रकार केलि-क्रीडा करती है, जिस प्रकार श्रीमद् भागवत के वर्णन मे उन्हे श्रीकृष्ण के साथ करते हुए बतलाया गया है। रास मे जो कभी-कभी लौकिक काम-वासना का आरोप किया जाता है, वह तो इस सप्रदाय की मान्यता के अनुसार श्रीकृष्ण के अभाव से समाप्त हो जाता है, किंतु रस-निष्पत्ति की दृष्टि से वह पूर्णतया प्रभावशून्य दिखलाई देता है। 'सिद्धात' के रूप मे चाहे यह मान्यता ठीक हो, किंतु 'रस' की दृष्टि से यह सर्वथा असगत है। ब्रज के प्राय सभी भक्ति-सप्रदायो मे 'सिद्धात' और 'रस' का जो समन्वय किया गया है, वह उक्त मान्यता के कारण इस सप्रदाय मे नही हो पाया है।

---

(१) कृष्ण भक्ति काव्य मे सखी भाव, पृष्ठ ६९२–६९३

शिष्य-परंपरा—श्री वशीअलि जी की शिष्य-परपरा मे अनेक रसिक भक्त, साप्रदायिक विद्वान और व्रजभाषा के सरस वाणीकार हुए है। उनके शिष्यो मे सर्वश्री किशोरीअलि और अलवेलीअलि अधिक प्रसिद्ध थे। किशोरीअलि जी का पूर्व नाम जगन्नाथ भट्ट था, और उनका जन्म मथुरा मे हुआ था। उनकी पत्नी का नाम किशोरी था, जिस पर उनकी बडी आसक्ति थी। दैव योग से किशोरी का असमय मे ही देहात हो गया था, जिससे वे बडे दुखी रहा करते थे। वे उसके वियोग मे किशोरी–किशोरी रटते हुए प्रेमाश्रु बहाते रहते थे। इस प्रकार प्रेम-पीडा से व्यथित होकर वे मथुरा से वरसाना चले गये थे। वहाँ के गहवर बन मे उन्हे श्री वशीअलि के सत्सग का सुयोग प्राप्त हुआ था। उनके उपदेश से वे लौकिक आसक्ति को छोड कर अलौकिक प्रेम-रस की उपासना करने लगे, और अपनी पत्नी किशोरी के स्थान पर वे दिव्य लीला-रस की अधिष्ठात्री किशोरी राधा जी के अनुरागी हो गये थे। उन्होने वशीअलि जी से ललित सप्रदाय की दीक्षा ली, जिन्होने उनका नाम किशोरीअलि रखा था। वे साधक भक्त, प्रगाढ विद्वान और सरस कवि थे। उनकी 'वाणी' पर्याप्त परिमाण मे मिलती है। वे प्राय बरसाना, वृ दावन और जयपुर मे रहा करते थे। उनके जन्म और देहावसान का निश्चित काल अज्ञात है, किंतु वे १९ वी शती के मध्य काल तक विद्यमान थे[1]।

अलवेलीअलि जी श्री वशीअलि जी के दूसरे प्रमुख शिष्य थे। उनका जीवन-वृत्त अज्ञात है। श्री वियोगीहरि जी ने स्वरचित छप्पय मे उनका जो सक्षिप्त परिचय दिया है, उससे इतना ही ज्ञात होता है कि वे बडे गुरु-भक्त थे, और भजन-कीर्तन मे जीवन पर्यत लगे रहने वाले सुशील रसिक महात्मा थे। उन्होने बडी सरस वाणी-रचना की है, जो 'समय प्रबध पदावली' नामक ग्रथ मे सकलित मिलती है[2]। खोज रिपोर्ट मे उनके द्वारा रचित कई छोटी-छोटी रचनाओ का नामोल्लेख मिलता है, किंतु वे पृथक् कृतियाँ न हो कर वस्तुत उक्त 'समय प्रबध पदावली' के ही अश है। उक्त पदावली को श्री जगन्नाथदास जी 'रत्नाकर' ने स १९५८ मे प्रकाशित कराया था। उनका एक सस्कृत काव्य ग्र थ 'श्री स्तोत्र' भी उपलब्ध है।

रतनअलि जी श्री किशोरीअलि जी के शिष्य वे। उनकी भी सरस वाणी मिलती है। उनके उपरात 'ललित सप्रदाय' की शिष्य-परपरा मे 'अलि' नामधारी कितने ही रसिक भक्त हुए है, जिन्होने सखी भाव की उपासना को कायम रखा है।

केन्द्र और स्थिति—इस सप्रदाय के प्रवर्त्तक वशीअलि जी का जन्म वृ दावन मे हुआ था, और उन्होने अपनी विशिष्ट उपासना-पद्धति को व्रज से ही प्रसारित किया था, अत. ललित सप्रदाय के आरभिक केन्द्र भी वृ दावन, राधाकुड आदि व्रज के लीला-स्थलो मे ही थे। वाद मे जयपुर, दिल्ली आदि स्थानो मे भी इसके केन्द्र बने थे। १९वी शताब्दी मे व्रज की धार्मिक और राजनैतिक स्थिति वडी अस्त-व्यस्त थी, तव से व्रज के केन्द्र शिथिल हो गये है, और जयपुर के केन्द्र ने प्रमुखता प्राप्त की है। जयपुर का श्री लाडिली जी का मदिर इस सप्रदाय का प्रधान केन्द्र माना जाता है।

व्रज के अन्य धर्म–सप्रदायो की तुलना मे इस सप्रदाय का प्रचार कम हुआ है, और इसके अनुयायियो की सख्या भी अत्यत सीमित है।

---

(१) कृष्ण–भक्ति काव्य मे सखी भाव, पृष्ठ ६९७–६९९

(२) व्रज माधुरी सार, पृष्ठ २०७

उपलब्धि और अभाव

चरमोत्कर्ष का काल—ब्रज के दीर्घकालीन इतिहास मे यहाँ के धर्म-सम्प्रदायों का जैसा उत्कर्ष इस काल मे मुगल सम्राट अकबर के शासन मे हुआ, वैसा पहिले के किसी काल मे प्राय. दिखलाई नही देता है । इसका कारण जहाँ तत्कालीन धर्माचार्यों एव उनके श्रद्धालु भक्तों की उच्च कोटि की उपासना-भक्ति, प्रगाढ विद्वत्ता, त्याग-वृत्ति और तपस्या है, वहाँ सम्राट अकबर की उदार धार्मिक नीति भी है । सम्राट अकबर, उनकी हिंदू रानी तथा उनके सरदार-सामत सभी धार्मिक अभिरुचि के व्यक्ति थे, और उनके द्वारा उस काल के धर्म-सम्प्रदायों को बड़ा प्रोत्साहन दिया गया था । उस मणि-काचन सयोग का सर्वाधिक लाभ तो कृष्णोपासक भक्ति-सम्प्रदायों को प्राप्त हुआ था, किंतु जैन धर्म और रामोपासक सम्प्रदाय भी प्रचुरता से लाभान्वित हुए थे । अन्य धर्म-सम्प्रदायों को यदि उतना लाभ नही मिला, तो उसका कारण उनकी अपनी कमी और उस युग का प्रभाव ही समझना चाहिए । तत्कालीन शासन का दृष्टिकोण सभी धर्म-सम्प्रदायों के प्रति समान था, और उस काल के धर्माचार्य एव भक्त गण भी प्राय. सहिष्णु एव समदर्शी थे । इसलिए किसी धर्म-सम्प्रदाय की उन्नति मे किसी ओर से भी कोई बाधा उपस्थित नही की गई थी ।

सम्राट अकबर के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन मे भी बहुत कुछ वैसी ही स्थिति रही थी, जिसके कारण ब्रज के धर्म-सम्प्रदाय उत्तरोत्तर प्रगति करते रहे थे । प्राय एक शताब्दी का वह काल निश्चय ही ब्रज की धार्मिक उन्नति के चरमोत्कर्ष का युग था । उस समय ब्रज की धार्मिक भावना ने इस देश के बहुत बड़े भाग को प्रभावित किया था । विभिन्न स्थानो के अगणित व्यक्ति उस समय ब्रज की ओर आकर्षित हुए थे । वे बड़ी श्रद्धापूर्वक यहाँ के धर्माचार्यों की शरण मे आते थे, और उनका सत्सग प्राप्त कर अपने को सौभाग्यशाली समझते थे ।

अपकर्ष का युग—ब्रज के दुर्भाग्य से वह स्वर्ण युग पूरी एक शताब्दी तक भी नहीं रहा था । उसके पश्चात् औरगजेब के शासन काल मे सभी बाते बदल गई थी । उस धर्मांध शासक ने अपने पूर्वजो की उदार नीति के विरुद्ध मजहबी कट्टरता की नीति अपनायी थी, जिसके कारण ब्रज मे अपकर्ष का युग आरभ हुआ था । उस समय यहाँ के अनेक धर्माचार्य एव भक्त महानुभाव अपने उपास्य देव-स्वरूप तथा कुछ धार्मिक पोथियो को लेकर और उनके अतिरिक्त सब-कुछ छोड कर ब्रज से निष्क्रमण कर गये थे । उसके कारण यहाँ के विख्यात देव-स्थान सूने हो गये, और सुप्रसिद्ध धार्मिक स्थल उजड गये थे । औरगजेब के क्रूर सैनिको ने उन सबको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था । एक व्यक्ति की मजहबी तानाशाही से ब्रज की समुन्नत धार्मिक भावना का जैसा सर्वनाश हुआ, वैसा कोई दूसरा उदाहरण इतिहास मे मिलना कठिन है । उसका दुष्परिणाम मुगल साम्राज्य को भी सहन करना पडा था, और वह गर्त्त मे गिरता हुआ कुछ काल पश्चात् ही समाप्त हो गया था ।

मुगल शासन के अतिम काल मे पहिले सवाई राजा जयसिंह और फिर माधव जी सिंधिया जैसे धार्मिक रुचि सम्पन्न राज-पुरुषो का ब्रज मे पर्याप्त प्रभाव रहा था । उनके अतिरिक्त उस काल के धर्माभिमानी जाट वीरो ने भी यहाँ के बडे भू-भाग पर शासन किया था । उन सब ने अपने-अपने दृष्टिकोण से यहाँ की धार्मिक उन्नति करने का थोडा-बहुत प्रयत्न किया, किंतु उनकी अपनी-अपनी कमियो तथा अहमदशाह अब्दाली जैसे धर्मान्ध आक्रमणकारियो के क्रूर कारनामो के कारण ब्रज का उत्तरोत्तर धार्मिक अपकर्ष ही होता गया था । विवेच्य काल के अत तक यहाँ के सभी धर्म-सप्रदायो की स्थिति शोचनीय हो गई थी । वे किसी प्रकार अपने अस्तित्व की रक्षा मात्र कर रहे थे ।

सप्तम अध्याय

आधुनिक काल

[विक्रम स. १८८३ से विक्रम सं. २०२४ तक]

उपक्रम—

अंगरेजी शासन काल की स्थिति—इस काल मे ब्रजमडल पहिले इगलेण्ड के अगरेज व्यापारियो की 'ईस्ट इडिया कपनी' के आधिपत्य मे, और फिर वृटिश सरकार के अधिकार मे रहा था। इस प्रकार सात समुद्र पार सुदूर देश मे निवास करने वाले विदेशी अगरेजो ने इस पुरातन प्रदेश पर स १८८३ से स २००४ तक शासन किया था। उस सवा शताब्दी के काल मे यह भू-भाग पाश्चात्य विज्ञान के आलोक से जगमगा उठा था। उस काल मे यहाँ पर अनेक युगातरकारी परिवर्तन हुए, जिनका जन–जीवन पर भला–बुरा प्रभाव पडा था। रेल, तार, डाक, टेलीफोन आदि की व्यवस्था की गई, सडको का निर्माण किया गया, खेती की उन्नति के लिए नहर–वम्बे बनाये गये, अस्पताल, स्कूल–कालेज और मुद्रणालय खोले गये तथा समाचार पत्र प्रकाशित किये गये। सब से बडा काम यह हुआ कि एक सुदृढ तथा स्थायी शासन कायम किया गया, जिससे अनेक वर्षो के बाद यहाँ पर अशाति, भय और आतक का वातावरण समाप्त हुआ। इन सब बातो से निश्चय ही यहाँ की जनता को बडा लाभ पहुँचा था, किंतु इस शासन से हानि भी कम नही हुई थी।

अगरेजी शासन–काल मे पहिली हानि तो आर्थिक हुई थी। अगरेज व्यापारी और वृटिश शासक दोनो का प्रधान उद्देश्य इस प्रदेश का शोषण करना था। उसके लिए ब्रज के प्राचीन व्यापार–वाणिज्य एव उद्योग–धधे समाप्त कर दिये गये, और यहाँ के निवासी दैनिक आवश्यकता की साधारण से साधारण वस्तुओ के लिए भी अगरेज व्यापारियो अथवा उनकी दलाली करने वाले भारतीय दूकानदारो के मुहताज हो गये थे। दूसरी उससे भी बडी सास्कृतिक हानि हुई थी। यहाँ के नर–नारी अपने पुरातन आचार–विचार और रहन–सहन के तरीको को भूल कर विदेशी सभ्यता के दास बन गये। जिन बातो को उन्होने शताब्दियो के अशात काल मे अनेक सकट सहन करते हुए भी कायम रखा था, उन्हे इस शातिपूर्ण युग मे सहसा भुला दिया। अगरेज शासको ने इसके लिए विगत काल के मुसलमान शासको की भाँति किसी तरह के बल का प्रयोग नही किया था, किंतु उनकी उपेक्षा, असहानुभूति और अप्रोत्साहन के कारण यहाँ के लोग स्वत ही अपनी परपरागत सास्कृतिक विशेषताओ को छोड बैठे।

जहाँ तक यहाँ के धर्म–सप्रदायो का सबध है, उनकी स्थिति इस काल मे पहिले से भी अधिक बुरी हो गई थी। अगरेज शासक मसीही धर्म के मानने वाले थे। उन्हे यहाँ के धर्म-सप्रदायों का न तो ज्ञान था, और न उनके प्रति उनकी कोई रुचि थी। उन्होने किसी भी धर्माचार्य का न तो सन्मान किया, और न उन्हे किसी प्रकार का प्रोत्साहन दिया था। इस काल के धर्माचार्य भी अपने पूर्व पुरुषो की भाँति न तो विद्वान थे, और न धर्म, उपासना एव भक्ति के क्षेत्रो मे उनकी कोई विशेष योग्यता थी। उनमे भजन-ध्यान, तप-त्याग और आत्म बल का प्राय अभाव था। जहाँ ब्रज के पूर्ववर्ती धर्माचार्यो के दर्शन और सत्सग के लिए वडे–वडे राजा–महाराजा तरसते थे, वहाँ इस काल के अधिकाश आचार्य गण वृटिश शासन के मामूली अफसरो के भी घरो पर जा कर ढोक देने लगे और उनकी चाटुकारी एव जी–हजूरी करने लगे थे। इससे उनका रहा–सहा सन्मान भी जाता रहा था। वे इन कमियो के कारण अपने धर्म–सप्रदायो का कोई हित-साधन नही कर सके थे।

धार्मिक रुचिसम्पन्न धनाढ्यो की देन—अगरेजी शासन काल मे ब्रज की उस धार्मिक दुर्दशा को दूर करने के प्रयत्न मे कतिपय धार्मिक रुचिसम्पन्न धनाढ्य महानुभावों की बड़ी महत्वपूर्ण देन रही है। उन्होने सुयोग्य धर्माचार्यों को सम्मानित कर यहाँ की बिगड़ी हुई धार्मिक स्थिति को सुधारने के लिए उन्हे प्रोत्साहन दिया था, और मदिर-देवालयो का निर्माण कराया था। उनके कारण यहाँ के अनेक प्राचीन धार्मिक स्थलो का जीर्णोद्धार हुआ, और देव-स्थानों की स्थिति सुदृढ हुई थी। इनसे उस काल मे यहाँ के धार्मिक वातावरण को सुधारने मे कुछ न कुछ सहायता मिली थी।

इस प्रकार के महानुभावो मे मथुरा के सेठो का स्थान सर्वोपरि है। उनके द्वारा निर्मित मथुरा का श्री द्वारकाधीश जी का मदिर और वृदावन का श्री रगजी का मदिर ऐसे देव-स्थान है, जो इस काल मे ब्रज की धार्मिक प्रवृत्तियो के प्रमुख केन्द्र रहे है। सेठो के पश्चात् वृदावन के बगाली धनाढ्य भक्त सर्वश्री कृष्णचद्र सिंह (लाला बाबू), नदकुमार वसु और वनमाली बाबू के नाम उल्लेखनीय हैं। उनके अतिरिक्त मथुरा मे राजा पटनीमल और सेठ गुरसहायमल घनश्यामदास ने तथा वृदावन मे शाह कुदनलाल ने मदिर-देवालयो का निर्माण करा कर अपने नाम को चिर स्मरणीय कर दिया है। श्री कृष्णचद्र सिंह ने वृदावन मे जिस देव-स्थान का निर्माण कराया था, वह 'लाला बाबू' का मदिर' कहलाता है। नदकुमार वसु ने चैतन्य सप्रदाय के उपास्य श्री गोविद-देव जी, श्री मदनमोहन जी तथा श्री गोपीनाथ जी के नये मदिर स १८७३ मे बनवाये थे, और उनमे उक्त देव-स्वरूपो के प्रतिभू विग्रह प्रतिष्ठित किये थे। वनमाली बाबू बगाल वालो ने राधाकुड तथा वृदावन मे अपने उपास्य ठाकुर राधाविनोद जी के मदिर बनवाये थे, और धर्मशाला, कूएँ, घाट आदि के निर्माण तथा धार्मिक ग्रथो के प्रचार-प्रसार का महत्वपूर्ण कार्य किया था। मथुरा मे राजा पटनीमल ने श्री दीर्घविष्णु जी और श्री वीरभद्रेश्वर जी के मदिर बनवाये थे, और प्राचीन शैव स्थल पर शिवताल का निर्माण कराया था। सेठ गुरसहायमल घनश्यामदास ने मथुरा मे श्री गोविददेव जी का मदिर बनवाया था, और उनके वशज सेठ लक्ष्मीनारायण ने बरसाना के निकट प्रेम सरोवर पर मदिर का निर्माण कर उसमे सस्कृत विद्यालय और दातव्य अन्न क्षेत्र की व्यवस्था की थी। शाह कुदनलाल उपनाम ललित किशोरी जी ने वृदावन में एक कलापूर्ण मदिर का निर्माण कराया, जो 'शाह जी का मदिर' कहलाता है। इन सब देव-स्थानों द्वारा उस काल में ब्रज की परपरागत धर्मोपासना की ज्योति थोडी-बहुत प्रज्वलित रही थी।

स्वाधीनता काल की स्थिति—महात्मा गाधी जी के प्रयत्न से समस्त भारतवर्ष स २००४ मे वृटिश शासन की दासता से मुक्त हो गया था। उसके फलस्वरूप ब्रजमडल ने भी स्वाधीनता के सुखद वातावरण मे सतोष की स्वाँस ली थी। यहाँ के निवासियो को यह आशा होने लगी कि महात्मा जी के 'राम राज्य' का स्वप्न अब साकार हो सकेगा, जिससे ब्रज के धर्म-सप्रदाय भी नवयुग के अनुसार अपनी प्रगति कर सकेंगे। दुर्भाग्य से महात्मा जी का असमय मे ही देहात हो गया, और हमारे शासको ने 'धर्म-निरपेक्षता' की आड मे धार्मिक भावना के प्रति ही घोर उपेक्षा का व्यवहार किया! जिन धनाढ्य जिमीदारो और ताल्लुकेदारो के प्रोत्साहन से अगरेजी शासन काल मे ब्रज की धार्मिक ज्योति प्रज्वलित रही थी, वे भी इस काल मे समाप्त कर दिये गये। इस प्रकार ब्रज के धर्म-सप्रदायो को प्रश्रय देने वाला कोई नही रहा। इधर यहाँ के धर्माचार्य भी युग के अनुसार अपने को बदलने के लिए तैयार नही हो रहे है। वे स्वय कुछ न कर अपने पूर्वाचार्यों की कीर्ति का ही उपभोग करते रहना चाहते है! ऐसी स्थिति मे यहाँ के धर्म-सप्रदायो की पुनरुन्नति होना बडा कठिन हो गया है। इस पृष्ठभूमि मे हम ब्रज के प्रमुख धर्म-सप्रदायो की आधुनिक कालीन स्थिति का ऐतिहासिक विवेचन करेगे।

बल्लभ संप्रदाय

बल्लभवंशीय गोस्वामियो के 'सप्त गृह' का ब्रज से संबंध—

संबंध की अनिवार्यता और उसका साधन—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, औरगजेबी शासन के संकट काल मे वल्लभवशीय गोस्वामी गण अपने उपास्य स्वरूपो के साथ सामूहिक रूप मे ब्रज से निष्क्रमण कर गये थे। वे कुछ काल तक विस्थापित अवस्था मे इधर-उधर भटक कर अंत मे राजस्थान और गुजरात के विभिन्न स्थानो मे बस गये थे। वही पर उन्होने देव-स्वरूपो के मदिर बना लिये थे, और अपने-अपने घरो की बैठके कायम कर ली थी। इस प्रकार बहुत दूर पड जाने के कारण उन्हे ब्रज मे स्थित श्री यमुना जी, श्री गिरिराज जी और गोवर्धन–गोकुल के प्राचीन देव-स्थानो से अपना सबध रखना बडा कठिन हो गया था। किंतु बल्लभ सप्रदाय का समस्त वैभव ही ब्रज की भावना पर आधारित है, जिसके बिना उसका अस्तित्व कायम रहना भी कठिन है। इसलिए वल्लभवशीय गोस्वामियो को ब्रज से सबध बनाये रखना अनिवार्य था। उसके लिए उनमे से कई घरो के गोस्वामी गण अनुकूल परिस्थिति होने पर ब्रज मे वापिस आ गये थे। उन्होने गोकुल, कामवन और मथुरा मे अपने देव स्वरूपो को प्रतिष्ठित कर अपनी गद्दियाँ क़ायम कर ली थीं। जो स्थायी रूप से नही आ सके थे, वे भी समय-समय पर 'ब्रज-यात्रा' करने के लिए यहाँ आते रहे हैं। वस्तुत वार्षिक ब्रज-यात्रा एक ऐसा आयोजन है, जिसके द्वारा सभी घरो के गोस्वामी गण अपने-अपने शिष्य-सेवको के साथ ब्रज से सबध बनाये रखने मे सफल हुए है। अब हम प्रत्येक गृह का ब्रज से जो आधुनिक कालीन स्थायी अथवा अस्थायी सबध है, उस पर प्रकाश डालते हैं।

पर इस उपगृह की गद्दी थी । वर्तमान गोस्वामी श्री रणछोड़लाल जी कोटा की स्थिति से असतुष्ट होकर श्री मथुरेश जी के स्वरूप को ब्रज मे ले आये है । इस समय वह स्वरूप जतीपुरा के मदिर मे विराजमान है । इस प्रकार प्रथम गृह के सप्तम उपगृह की गद्दी पुन ब्रज मे स्थापित हो गई है ।

द्वितीय गृह—इस गृह के सेव्य स्वरूप श्री विट्ठलनाथ जी है, और इसकी प्रधान गद्दी नाथद्वारा (राजस्थान) मे है। इस गृह के सर्वाधिक प्रसिद्ध महानुभाव गो हरिराय जी हुए है, जिनकी एक बैठक गोकुल मे है । इसके अतिरिक्त ब्रज मे इस गृह का कोई खास देव-स्थान नही है। इस प्रकार इस घर का ब्रज से बहुत कम सबध रह गया है ।

तृतीय गृह—इस गृह के सेव्य स्वरूप श्री द्वारकाधीश जी है, और इसकी प्रधान गद्दी काकरोली (राजस्थान) मे है । स १९३० से पहिले इस घर का भी कोई खास देव-स्थान ब्रज मे नही था । मथुरा के सेठो ने स १९३० मे यहाँ के सुप्रसिद्ध श्री द्वारकाधीश जी के मदिर को काकरोली के तत्कालीन गोस्वामी गिरिधरलाल जी को भेंट कर दिया था, जिससे इस घर का ब्रज से घनिष्ठ सबध स्थापित हो गया । उसके उपरात मथुरा के गो कल्याणराय जी के कनिष्ठ पुत्र वालकृष्ण जी के इस घर मे गोद जाने और उनके कनिष्ठ पुत्र विट्ठलनाथ जी को मथुरा की गद्दी के उत्तराधिकारी वनाये जाने से वह सबध और भी दृढ हो गया है ।

गो गिरिधरलाल जी—उनका जन्म स १८९८ मे हुआ था, और उनका प्रथम नाम यशोदानदन जी (उपनाम नट्टू जी) था । उनके पिता श्री ब्रजेश्वर जी थे, जो जतीपुरा (गोवर्धन) मे रहा करते थे । यशोदानदन जी आरभ से ही बडे मेधावी और भगवत्-सेवापरायण थे । स १९०३ मे काकरोली के नवम तिलकायित गो पुरुषोत्तम जी का देहावसान हो गया था । उनके कोई पुत्र नही था, अत उनकी विधवा पत्नी पद्मावती जी ने यशोदानदन जी को स. १९०८ मे गोद ले लिया था । उस समय उनका नाम गिरिधर जी रखा गया, और वे काकरोली की गद्दी के तिलकायत हो गये । उनका विवाह कोटा के रेढी बालमुकुद भट्ट की पुत्री कमलावती जी के साथ हुआ था । गो गिरिधर जी बडे योग्य महानुभाव थे । उन्होने इस गद्दी की बडी उन्नति की थी । स १९३० मे मथुरा के सेठ गोविददास ने अपने पूर्व पुरुष श्री गोकुलदास पारिख की इच्छानुसार उनके द्वारा निर्मित श्री द्वारकाधीश जी के मदिर को गो गिरिधर जी को भेंट कर दिया था । स १९३५ की श्रावण कृ २ को गो गिरिधर जी का देहात हो गया था । उस समय उनकी आयु केवल ३७ वर्ष की थी । उनकी कोई सतान नही थी, अत माजी पद्मावती जी ने मथुरा के गोस्वामी कल्याणराय जी के पुत्र वालकृष्ण जी को स १९३६ मे गोद लेकर उनका उत्तराधिकारी बनाया[1] ।

श्री द्वारकाधीश जी का मंदिर और उसका भेंटनामा—मथुरा के इस भारत-प्रसिद्ध मदिर का निर्माण सेठ घराने के पूर्वपुरुष श्री गोकुलनाथ पारिख ने कराया था[2] । उसका पाटोत्सव स १८७१ की आषाढ कृ ८ को हुआ था । पारिख जी वल्लभ सप्रदाय के अनुयायी थे, और वे इस मदिर को वल्लभवशीय गोस्वामियो को भेट करना चाहते थे, किंतु वे अपने जीवन-काल मे वैसा नही कर सके थे । उनका देहावसान स १८८३ मे हुआ था । उनके उत्तराधिकारी सेठ लक्ष्मीचद भी पारिख जी की इच्छा-पूर्ति नही कर सके थे । कालातर मे उनके कनिष्ठ भ्राता सेठ गोविददास ने इस मदिर का भेटनामा गो गिरिधर जी के नाम स १९३० की वैशाख शु ७ को किया था ।

(१) कांकरोली का इतिहास,, पृष्ठ १६–१९
(२) पारिख जी का वृत्तात इस ग्रथ के द्वितीय खड 'ब्रज का इतिहास' पृष्ठ ५४४ में देखिये।

इस मदिर की देवोत्तर सपत्ति के सुप्रबध के लिए उक्त 'भेटनामा' मे जो शर्तें लिखी गई है, उनका साराश इस प्रकार है,—

१. पारिख जी महाराज के समय से इस मदिर का राज-भोग, सेवा-पूजा का क्रम जिस प्रकार चला आया है, उसी प्रकार सदा-सर्वदा चलता रहेगा ।

२. श्री द्वारकाधीश के मदिर की सब प्रकार की जायदाद मदिर की सपत्ति होगी और वह इसके सिवाय अन्य किसी काम मे खर्च न की जायगी ।

३ इसका समस्त प्रबध गोस्वामी जी महाराज के अधीन होगा । वे इसके इतिजाम के लिए किसी योग्य व्यक्ति को नियत कर इसकी समय-समय पर जाँच करते रहेगे ।

४ मदिर की समस्त जायदाद इसके मालिक के न तो बटवारे मे आ सकेगी और न वह नीलाम या कुर्क की जा सकेगी । इसका रुपया किसी निजी खर्च मे काम न लाया जा सकेगा ।

५ मदिर का हिसाब सदा साफ और सिलसिलेवार रहेगा । इसके सबधी कागज, दस्तावेज आदि लिखा-पढी मदिर मे ही सुरक्षित रक्खी जायगी ।

६. गोस्वामी जी महाराज अपनी इच्छानुसार अपने वश मे से किसी को सेवा-पूजा के लिए नियुक्त कर सकेगे । उस व्यक्ति को इन सब स्वीकृत नियमो का परिपालन करना आवश्यक होगा ।

७ श्री द्वारकाधीश जी की सेवार्थ जो पोशाक तैयार होती आई है, सदा ही होती रहेगो । वह पाँच साल तक तो मदिर के तोशाख़ाने मे जमा होती रहेगी और पांच साल की पुरानी हो जाने के बाद उसे गोस्वामी जी अपनी इच्छानुसार उपयोग मे लाने के अधिकारी होगे ।

८ हमारे वशज यदि वैष्णव धर्म के मानने वाले होगे, तो इस बात के सदा अधिकारी माने जावेगे कि यदि मदिर मे स्वीकृत नियमो का यथावत् पालन न हो, अथवा इनके विरुद्ध कोई बात होती होगी, तो उसका योग्य प्रबध करा सकें । पर वे इस पर अपना स्वामित्व न रख सकेंगे, और न इसे वापिस ले सकेगे ।

१०. मदिर की जायदाद से जो रुपया आता रहेगा, उसमे से २५०००) रु० सदा ही मदिर के भाडार मे इसलिए जमा रक्खा जायगा कि कभी वसूली न हो सकने पर सरकारी माल-गुज़ारी के चुकाने के काम मे आ सके । इस रकम से यदि ज्यादा जमा हो, तो उसमे श्री ठाकुर जी की स्थायी सपत्ति बढाई जावे, उसका निजी काम मे उपयोग न किया जा सकेगा ।

१० मदिर की आमद मे से तीन सौ रुपया माहवार काकरोली के श्री द्वारकाधीश की सेवा मे इसलिए पहुँचता रहेगा कि उससे दस रुपया रोज का भोग उनको लगता रहे ।

११. मदिर के सुरक्षित स्थान मे श्री ठाकुर जी के कुल जेवरात और उत्सव आदि का कीमती सामान सुव्यवस्थित और सुरक्षित रक्खा रहेगा । आवश्यकता होने पर काम मे लाया जायगा । गोस्वामी जी महाराज की अनुपस्थिति मे हमारे वशजो की उपस्थिति मे, यदि वे वैष्णव धर्मानुयायी होगे, वह निकाला और ठाकुर जी के उत्सव आदि मे काम मे लाकर यथावस्थित रख दिया जायगा । इसकी सूचना समय-समय पर गोस्वामी जी अथवा उनके उत्तराधिकारियो को दी जाया करेगी ।

१२. इसका जो प्रबध इस समय किया गया है, उसको तीन साल तक देखा जायगा । उसके बाद यदि २५०००) रु० के जमा न होने और किसी प्रकार की सेवा-पूजा मे कमी आती नज़र आवेगी, तो हम अथवा हमारे वशज उसको पूरा कर उसे व्यवस्थित कर देगे ।

इस वास्ते यह चद कलमे बतौर इस्तगाजे [illegible] दुर्गीमाल जायदाद मनकूला व गैरमनकूला मदिर के लिए दिये कि मनदर रहे और वक्त जरूरत के काम आवे।

मीजान कुल कीमत तखमीनी जायदाद मुन्दर्जे ७६१५०१) रु०

४५०७५४) रु० जेवर मुरस्सा तोला व पन्ना व चांदी वगैरह।

१५००००) रु० कीमती तफसील जमींदारी परगना माट, नौहझील (जिला मथुरा)
१५००००) जमा (१५२३०) रु० साढे तीन आने मौजे १८

१८०७४७) रु० तफसील देहात माफी जागीर ममलकती भानपुरा व, परगना नगर बरौदा।
कीमती १८०७४७) जमा (१४३००) रु० मौजे १७

एक मजिल मदिर पुख्ता व सगीन श्री ठाकुर श्री द्वारकाधीश जी मकानात मय दुकानात।

तहरीर मिस्ल तारीख तीसरी माह मई सन् १८७३ ई० मुताबिक वैशाख सुदी ७ स. १९३० रोज शम्बह बकलम शफरउद्दीन साकिन मथुरा।

द० सेठ गोविन्ददास

गवाहशुद—सेठ रघुनाथदास, सेठ लक्ष्मणदास,
मुनीम मगीलाल, नारायणदास, मुरलीदास, किशोरास, सीताराम।

श्री गोवर्धननाथ जी का मदिर—कांकरोली की गद्दी के अन्तर्गत मे दूसरा देव-स्थान श्री गोवर्धननाथ जी का मदिर है, जो मथुरा के स्वामीघाट पर स्थित है। इसे बड़ौदा राज्य के कामदार सेठ कुशाल (उपनाम बाबू कामदार) ने स १८८७ मे बनवाया था। इसकी इमारत भी विशाल आकार की सगीन बनी हुई है। गो गिरिधर जी की विधवा पत्नी कमलावती बहू जी ने स १९३८ मे इसे प्राप्त किया था। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, गो गिरिधर जी के देहावसान के उपरात माजी पद्मावती जी ने मथुरा के गोस्वामी कल्याणराय जी के कनिष्ठ पुत्र बालकृष्ण जी को गोद लेकर उन्हे काकरोली की गद्दी का उत्तराधिकारी बनाया था। कमलावती जी किसी दूसरे बालक को गोद लेना चाहती थी, किंतु सास की विद्यमानता मे उनकी इच्छा पूरी नहीं हो सकी थी। फलत वे रुष्ट होकर काकरोली से मथुरा चली आई थी। यहाँ वे अंतिम काल तक श्री गोवर्धननाथ जी के मदिर मे रही थी। उनके हाथ-खर्च के लिए मथुरा स्थित श्री द्वारकाधीश जी के मदिर से ३००) रु० मासिक दिये जाते थे। उनका देहात स १९६७ की फाल्गुन कृ १४ को हुआ था।

गो बालकृष्णलाल जी—उनका जन्म स १९२४ की श्रावण कृ १३ को मथुरा मे हुआ था। उनके औरस पिता छठी गद्दी के गोस्वामी कल्याणराय जी थे, जो मथुरा स्थित श्री दाऊजी-मदनमोहन जी मदिर के अधिपति थे। उनके बडे भाई सर्वश्री गोपाललाल जी और जीवनलाल जी थे। वे तीनो भाई बडे प्रतिभाशाली, भगवत्-सेवापरायण, साहित्य-सगीत-कला आदि के मर्मज्ञ थे। उनमे से गोपाललाल जी तो अपनी पैतृक गद्दी पर आसीन हुए थे, और जीवनलाल जी तथा बालकृष्णलाल जी क्रमश काशी एव काकरोली की गद्दियो मे गोद चले गये थे।

---

(१) कांकरोली का इतिहास, पृष्ठ ४०–४२
(२) वही ,, , पृष्ठ १९

गो व्रजभूषणलाल जी—इनका जन्म स १९६८ की फाल्गुन कृ ७ को अहमदाबाद मे हुआ। जिस समय इनकी आयु ५ वर्ष की थी, तभी इनके यशस्वी पिता गो. बालकृष्णलाल जी का गोलोक-वास हुआ था। उस समय इनके ज्येष्ठ भ्राता द्वारकेशलाल जी उत्तराधिकारी हुए, किंतु उनका देहात भी एक वर्ष पश्चात् हो गया था। ऐसी स्थिति मे ये अपनी ६ वर्ष की अल्पावस्था मे ही तृतीय गद्दी के उत्तराधिकारी हो गये थे। उस सकट काल मे इनकी माता गोवर्धनी जी ने बडे धैर्य के साथ इनके पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था की थी। स. १९७६ की वैशाख शु ३ को इन्हे ८ वर्ष की आयु मे ही विधिवत् कांकरोली की तृतीय पीठ की गद्दी पर आसीन कर दिया गया।

इन्हे आरभ से ही अनेक सुयोग्य विद्वानो द्वारा शिक्षण प्राप्त हुआ है। स. १९८१ मे पुष्टि सप्रदाय के विख्यात विद्वान प कठमणि शास्त्री इनके शिक्षक नियुक्त किये गये। तभी से वे स्थायी रूप से इनके साथ रह कर काकरोली की साप्रदायिक, शैक्षणिक, विद्या विभाग और साहित्य सवधी उन्नति करने मे इनके सहयोगी रहे है। श्री व्रजभूषणलाल जी ने सस्कृत, हिंदी, अगरेजी, गुजराती आदि भाषाओ की अच्छी योग्यता प्राप्त की है, और वे पुष्टि सप्रदाय के भक्ति-सिद्धात, सेवा-भावना और साहित्य के गभीर विद्वान है। वे एक प्रगतिशील धर्माचार्य है, और इन्होने नवयुग के अनुसार काकरोली की गद्दी को समुन्नत करने के अनेक उपयोगी कार्य किये है। इनका सब से महत्वपूर्ण कार्य काकरोली मे 'विद्या विभाग' को व्यवस्थित करना है। इसके अतर्गत सरस्वती भडार, द्वारकेश ग्रथमाला, द्वारकेश पुस्तकालय, चित्रशाला, सग्रहालय, विद्या भवन, कवि मडल, व्यायामशाला आदि अनेक सस्थाएँ कार्य कर रही है। सरस्वती भडार मे बहुसख्यक दुर्लभ हस्तलिपियो का सग्रह किया गया है, जो शोधार्थियो के आकर्षण का केन्द्र है। द्वारकेश ग्रथमाला मे अनेक महत्वपूर्ण ग्रथो का प्रकाशन किया गया है। ये सब कार्य श्री कठमणि जी शास्त्री के सचालकत्व मे किये जा रहे हैं। इन्होने स्वय अनेक ग्रथो का प्रणयन, सशोधन, सपादन एव संकलन किया है।

गो व्रजभूषणलाल जी ने मथुरा के श्री द्वारकाधीश जी के मदिर की उन्नति के भी अनेक कार्य किये हैं। इन्हे आरभ मे पड्या लज्जाशकर जी जैसे सुयोग्य अधिकारी का सहयोग प्राप्त हुआ था। उनके परामर्श मे मदिर के सेवा-क्रम और उत्सव-समारोहो को सुव्यवस्थित और आकर्षक बनाया गया है। इस मदिर मे श्रावण मास के उत्सवो की बडी धूम-धाम रहती है। उस समय लाखो यात्री यहाँ दर्शनार्थ आते हैं। पहिले इस मदिर मे रेशम और चाँदी के हिंडोले थे, किंतु स १९८८ मे सुवर्ण का एक बहुमूल्य हिंडोला भी रखा गया, जिसकी सुदरता और कलात्मकता दर्शनीय है। मदिर के जगमोहन की छत्त पर स १९९६ मे नये सिरे से चित्रकारी की गई। इसे नाथद्वारा के प्रसिद्ध चित्रकारो ने बडी कुशलता से चित्रित किया है। इसमे पुष्टि सप्रदाय के सेव्य स्वरूप, महाप्रभु वल्लभाचार्य जी, गोसाई विट्ठलनाथ जी, उनके पुत्र सातो तिलकायित पुत्र, मदिर के सस्थापक पारिख जी और उनकी परपरा के सेठो की आकृतियो का चित्रण बडी कलात्मकता के साथ हुआ है। इससे पुष्टि सप्रदाय और इस मदिर का चित्रमय इतिहास दर्शनार्थियो के समक्ष प्रत्यक्षत. उपस्थित हो गया है। सेवा के उपयोग मे आने वाले विविध वस्त्रालकारो और पात्रो को नये ढग से बनवाया गया है, और बिजली की रोशनी की व्यवस्था की गई है। इन सब सुधारो से इस मदिर की वैभव-वृद्धि के साथ ही साथ इसकी आकर्षकता भी बहुत बढ गई है।

गो ब्रजभूषणलाल जी की प्रथम ब्रज-यात्रा स १९८९ मे हुई थी। उस समय अधिकारी लज्जाशकर जीवित थे। उन्होने उस यात्रा का ऐसे विशाल आयोजन के साथ सुप्रबध किया था कि वह सदा के लिए स्मरणीय हो गई है। इनकी अन्य ब्रज-यात्रा श्री द्वारकाधीश जी के स्वरूप के साथ स २०२४ मे हुई है। इस प्रकार इन्होने काकरोली की गद्दी के साथ ही साथ ब्रज की धार्मिक प्रगति मे पर्याप्त योग दिया है। इनके कई सतान है, जो अपनी कुल-परपरा के अनुसार सुयोग्य है।

चतुर्थ गृह—इस गृह के सेव्य स्वरूप श्री गोकुलनाथ जी है, और इसकी प्रधान गद्दी ब्रज के गोकुल नामक पुष्टि सप्रदायी केन्द्र मे है। औरगजेब के शासन काल मे इस सप्रदाय के अन्य प्रमुख सेव्य स्वरूपो की भाँति श्री गोकुलनाथ जी को भी सुरक्षा की दृष्टि से ब्रज से हटाया गया था। कालातर मे उन्हे जयपुर मे विराजमान किया गया। उस समय पचम और सप्तम गृहो के सेव्य स्वरूप श्री गोकुलचद्रमा जी और श्री मदनमोहन जी भी वहाँ विराजे थे। उन तीनो स्वरूपो की सेवा वहाँ के साप्रदायिक मदिरो मे अत्यत श्रद्धा तथा वैभव के साथ होती थी, और उन्हे राज्य का पूर्ण प्रश्रय प्राप्त था। जयपुर-नरेश महाराज रामसिंह ने लक्ष्मण गिरि नामक एक शैव सन्यासी के प्रभाव से वैष्णव सप्रदाय और उनके सेव्य स्वरूपो की अवज्ञा करना आरभ कर दिया, जिसके कारण इस सप्रदाय के तत्कालीन गोस्वामी गण इन तीनो स्वरूपो के साथ जयपुर स्थित मदिरो का समस्त वैभव छोड कर चले गये थे। इस प्रकार २० वीं शताब्दी के आरभ मे श्री गोकुलनाथ जी को पुन' ब्रज मे लाकर उनके गोकुल स्थित मदिर मे विराजमान किया गया था। ब्रज से निष्क्रमण करने वाले बल्लभ सप्रदाय के प्रमुख सेव्य स्वरूपो मे श्री गोकुलनाथ जी सबसे पहिले वापिस आये थे।

जैसा पहिले लिखा गया है, चतुर्थ गृह की जो मूल परपरा गोस्वामी ब्रजपति जी (जन्म स १६६३) पर समाप्त हो गई थी, उसे कायम रखने के लिए द्वितीय गृह से लक्ष्मण जी (जन्म स. १८६६) को गोद लिया गया था। गो लक्ष्मण जी के पुत्र नत्थू जी (जन्म स. १८८४) थे, किंतु उनका भी असमय मे देहात हो गया था। इसके कारण गो लक्ष्मण जी की विधवा गोस्वामिनी चद्रावली जी ने छठे घर से कन्हैयालाल जी को गोद लेकर इस घर की परपरा को कायम रखा था।

गो कन्हैयालाल जी—वे छठे घर के गो रमणलाल जी के द्वितीय पुत्र थे। उनका जन्म स १९२५ की श्रावण कृ ८ को हुआ था। चतुर्थ गृह मे गोद लिये जाने के कारण वे मथुरा से गोकुल चले गये थे, और गो लक्ष्मण जी के उत्तराधिकारी के रूप मे वहाँ की गद्दी के अध्यक्ष हुए थे। वे ठाकुर-सेवा के अतिरिक्त साहित्य और सगीत मे विशेष रुचि रखते थे। सगीत के तो वे विशेषज्ञ विद्वान थे। उन्होने 'रास लीला' की उन्नति मे बडा योग दिया था। साहित्य के क्षेत्र मे उन्होंने ब्रजभाषा और गुजराती मे काव्य-रचना की थी। वे 'श्री विट्ठल' के काव्योपनाम से रचना करते थे। ब्रजभाषा मे उनके रचे हुए दीनता-आश्रय के पद और गुजराती मे हास्य प्रसग के 'धोल' उपलब्ध है। उनका अधिकाश साहित्य अप्रकाशित है। उनके दो विवाह हुए थे। एक पत्नी से उन्हे पुत्री हुई थी, किंतु पुत्र किसी से भी नही हुआ था। उनका देहावसान स. १९६८ की फाल्गुन कृ १४ को हो गया। उस समय उनकी आयु पूरे ४३ वर्ष की भी नही थी।

गो कन्हैयालाल जी बडी उदार प्रकृति के थे। उन्होने साहित्य और सगीत की उन्नति के लिए मुक्त हस्त से प्रचुर व्यय किया था। उनके पहिले से ही गोकुल की मिल्कियत के सबध मे नाथद्वारा के गोस्वामियो से झगडा चला आ रहा था। उसका मुकदमा लदन की प्रिवी कौन्सिल

तक गया था। उसमें भी बड़ा व्यय करना पड़ा था। उन सब कारणों से इस समय गोकुल की गद्दी पर पर्याप्त ऋण हो गया था। फिर भी कन्हैयालाल जी के देहावसान से इस गद्दी की परम्परा को कायम रखने की समस्या भी उत्पन्न हो गई थी। उन सब कारणों से वहां माजी चंद्रावली जी बड़ी दुखी थीं। उन्होंने पंचम गृह के तत्कालीन गोस्वामी देवकीनंदन जी के उनके पुत्र वल्लभ जी को गोद देने का प्रस्ताव किया। वल्लभ जी गो. देवकीनंदन जी के एक मात्र पुत्र थे, जो पांचवीं गद्दी के भी उत्तराधिकारी थे। उनके पिता उन्हें गोद देने के पक्ष में नहीं रखना चाहते थे, किंतु वे पूजनीया वृद्धा माजी के आग्रह को टाल नहीं सके थे। इस प्रकार वल्लभ जी गोकुल में गोद आकर चतुर्थ गृह की गद्दी पर आसीन हो गये।

गो. वल्लभलाल जी—उनका जन्म सं. १९५८ में हुआ था, और वे सं. १९६८ में दिवंगत गो. कन्हैयालाल जी के उत्तराधिकारी हुए थे। उन्होंने कामवन के मंदिर की अपेक्षा गोकुल में ही अधिक रहने लगे थे। उन्होंने अपनी वृद्धा दादी और दोनों माताओं की सेवा एवं सुख-सुविधा की यथोचित व्यवस्था की थी। उन्होंने आंतरिक मतभेदों तथा झगड़ों को समाप्त करके और पुराने ऋण को चुकाने का भी उन्होंने सफल प्रयास किया था। गोकुल की गद्दी पर आसीन होने के दो वर्ष पश्चात् सं. १९७० में उनके पिता गो. देवकीनंदन जी का देहावसान हो गया। तब से कामवन की गद्दी का भी भार उन पर आ पड़ा था। वे चतुर्थ-पंचम पीठाधीश्वर के रूप में दोनों गृहों की गद्दियों का बड़ी योग्यता पूर्वक संचालन करते रहे थे। उनका देहावसान सं. १९९७ में हुआ था। तत्पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र गोविंदराय जी दोनों गद्दियों के अधिकारी हुए हैं।

पंचम गृह—इस गृह के सेव्य स्वरूप श्री गोकुलचंद्रमा जी हैं, और इसकी प्रधान गद्दी कामवन में है। औरंगजेब के शासन काल में पुष्टि संप्रदाय के अन्य सेव्य स्वरूपों की भांति ही श्री गोकुलचंद्रमा जी को भी गोकुल से हटाया गया था। कुछ काल तक इधर-उधर भटकने के पश्चात् तत्कालीन गोस्वामियों ने उन्हें जयपुर के मंदिर में प्रतिष्ठित किया था। उस समय चतुर्थ निधि श्री गोकुलनाथ जी और सप्तम निधि श्री मदनमोहन जी भी वहीं पर विराजमान थे। जैसा पहिले लिखा गया है, जयपुर-नरेश महाराज रामसिंह द्वितीय के शासन काल (सं. १८९२-१९३७) से पहिले तक पुष्टि संप्रदायी गोस्वामी गण राजकीय जागीर का उपभोग करते हुए उक्त तीनों स्वरूपों की सेवा-पूजा बड़े सरजाम और वैभव के साथ करते रहे थे। महाराज रामसिंह के समय में जयपुर मे एक शैव सन्यासी लक्ष्मण गिरि थे। वे वैष्णव धर्म के बड़े विरोधी थे, और उनका महाराजा पर भी बड़ा प्रभाव था। उन्होंने वैष्णव धर्म के विरोध में ८ प्रश्न लिख कर उन्हे देश भर मे वितरित कराया था। उक्त प्रश्नो मे सभी वैष्णव सप्रदायो की धार्मिक मान्यताओ को वेद-शास्त्रानुकूल होने मे शका की गई थी। महाराज रामसिंह ने लक्ष्मण गिरि के प्रभाव से अपने राज्य के सभी वैष्णव सप्रदायो का राज्याश्रय बद कर दिया था, और उनके धार्मिक कार्यो मे अनेक बाधाएँ उपस्थित कर दी थी। उससे वैष्णव जगत् मे बडी खलबली मच गई थी। उक्त प्रश्नो का उत्तर विविध वैष्णव सप्रदायो के विद्वानो द्वारा दिया गया था। पुष्टि सप्रदाय के सर्वश्री कन्हैयालाल भट्ट, गोपीकृष्ण भट्ट आदि विद्वानो ने जयपुर पहुँच कर लक्ष्मण गिरि को शास्त्रार्थ करने की चुनौती दी थी। बबई के गोस्वामी जीवन जी की प्रेरणा से भारतमार्तड गट्टू लाला जी ने 'सत्सिद्धात मार्तड' नामक ग्रथ की रचना की थी, जिसमे उक्त प्रश्नो का अत्यत विशद रूप मे सप्रमाण उत्तर दिया गया था। यह सब होने पर भी महाराज रामसिंह के वैष्णव विरोधी दृष्टिकोण मे कोई अतर नही आया।

इस प्रकार जयपुर के विरोधी वातावरण से क्षुब्ध होकर पुष्टि सप्रदाय के गोस्वामी गण स १६२३ मे अपने-अपने सेव्य स्वरूपो के साथ वहाँ का समस्त राजकीय वैभव छोड कर चले गये थे। पचम गृह के तत्कालीन गोस्वामी गोविंद जी और सप्तम गृह के गोस्वामी ब्रजपाल जी बीकानेर नरेश सरदारसिंह (शासन स १६०८-१६२६) की प्रार्थना पर श्री गोकुलचद्रमा जी तथा श्री मदनमोहन जी के स्वरूपो को उनकी राजधानी मे ले गये थे। जैसा पहिले लिखा गया है, श्री गोकुलनाथ जी उस काल मे गोकुल मे जा कर विराजमान हुए थे।

श्री गोकुलचद्रमा जी और श्री मदनमोहन जी स १६२३ से स १६२८ तक बीकानेर मे विराजे थे। स १६२८ की विजयदशमी के शुभ मुहूर्त्त मे उन दोनो स्वरूपो को पुन. ब्रज मे ले जाने का निश्चय किया गया। उस काल मे ब्रजमडल के अधिकाश भाग मे अगरेजी शासन कायम हो गया था, किंतु वहाँ की धार्मिक स्थिति अस्तव्यस्त थी। तब तक गोकुल-गोवर्धन का धार्मिक वातावरण समुचित नही बन सका था, किंतु कामबन भरतपुर राज्य मे होने के कारण धार्मिक दृष्टि से अधिक सुविधाजनक समझा गया। फलत श्री गोकुलचद्रमा जी और मदनमोहन जी के स्वरूपो को कामबन मे प्रतिष्ठित किया गया।

कामबन की धार्मिक, सास्कृतिक और ऐतिहासिक परपरा—राजनैतिक एव प्रशासनिक दृष्टि से कामबन पहिले जयपुर राज्य मे और फिर भरतपुर राज्य मे था, तथा अब राजस्थान मे है, किंतु धार्मिक एव सास्कृतिक दृष्टि से यह सदा से ब्रजमडल का एक भाग रहा है। ऐतिहासिक परपरा भी इसे शताब्दियो से ब्रजमडल से ही सबद्ध किये हुए है। सास्कृतिक अनुश्रुतियो मे इसे ब्रज का अत्यत पुरातन लीला-स्थल और सुविस्तृत प्राचीन वृ दावन के अतर्गत माना गया है। कुछ विद्वान इसे महाभारत काल के 'काम्यवन' से मिलाते है। पुराणो मे उल्लिखित ब्रज के द्वादश बनो मे इसे पाचवाँ बन माना गया है। पुरातात्त्विक अवशेषो से ज्ञात होता है कि गुप्त काल मे और उसके बाद भी यह एक समृद्धिशाली नगर था। इसमे अनेक कलात्मक भवन और मदिर-देवालय थे। ब्रज के प्राचीन यादववशीय राजाओ के वशजो ने यहाँ प्रचुर काल तक राज्य किया था। कामबन की पहाडी पर एक विख्यात विष्णु मदिर था, जिसे यादव राजा पर्जन्यदामा ने स १२५० के लगभग बनवाया था। उस कलापूर्ण विशाल देवालय को गुलाम वश के सुलतान इल्तमश ने क्षतिग्रस्त किया था, और बाद मे उसे फीरोज तुगलक ने पूरी तरह ध्वस्त कर दिया था। उसके ध्वसावशेषो से उसने एक मसजिद बनवाई थी। यहाँ का 'चौरासी खभा का मदिर' उसी प्राचीन देवस्थान का ध्वस्त भाग है। इस समय भी कामबन एक धार्मिक और सास्कृतिक स्थल माना जाता है। आधुनिक काल मे इसकी ख्याति वल्लभ सप्रदायी गोस्वामियो के निवास-स्थल और उनके सेव्य स्वरूपो के कारण है। पचम गृह के निधि-स्वरूप श्री गोकुलचद्रमा जी का मदिर यहाँ विशेष रूप से प्रसिद्ध है।

गो गोविंद जी—वे पचम गृह के तिलकायित श्री वल्लभ जी के पुत्र थे। उनका जन्म स. १८६३ मे हुआ था। जैसा पहिले लिखा गया है, वे श्री गोकुलचद्रमा जी के स्वरूप को जयपुर से बीकानेर ले गये थे, और फिर वहाँ से कामबन मे ले आये थे। उन्होने श्री गोकुलचद्रमा जी को कामबन के मदिर मे स १६२६ की माघ शु. १३ को विराजमान किया था, और वही पर पचम गृह की प्रधान गद्दी कायम की थी। वे कामबन स्थित सप्तम गृह की देख-भाल भी करते थे, क्यो कि उस घर के तिलकायित श्री ब्रजपाल जी का कोई उत्तराधिकारी नही था। उनका देहावसान स १६४० मे हुआ था। उसके उपरात उनके ज्येष्ठ पुत्र देवकीनदन जी पचम गृह की गद्दी पर आसीन हुए थे और छोटे पुत्र गोपाललाल जी सप्तम गृह मे गोद जा कर वहाँ की गद्दी पर बैठे थे।

गो. देवकीनंदन जी—उनका जन्म सं. १९१५ की पौष शु. ३ को जयपुर में हुआ था। वे अपने पिता जी के दिवंगत होने के उपरांत सं. १९४० में पंचम घर के तिलकायित हुए थे। वे बड़े विद्वान, यशस्वी और प्रतापी थे। उन्होंने बंबई और गुजरात में वल्लभ संप्रदाय का बड़ा प्रचार किया था। उनके समय में कामवन के मंदिर की बड़ी उन्नति हुई थी। उन्होंने कामवन के निकटवर्ती पहाड़ी स्थल आनंदाद्रि में सुंदर उद्यान का निर्माण कराया था। उनके तीन विवाह हुए थे। वल्लभलाल जी उनके एक मात्र पुत्र थे, जो चतुर्थ गृह में गोद चले गये थे। देवकीनंदन जी का देहावसान सं. १९७० की भाद्रपद कृ. २ को मथुरा में हुआ था। उनका दाह-संस्कार मथुरा के ध्रुवघाट पर किया गया, जहाँ उनकी स्मृति में संगमरमर का एक शिलाबद्ध तुलसी—थामला बनाया गया है। उनके देहावसान के उपरांत उनके पुत्र वल्लभलाल जी चतुर्थ गृह के साथ ही साथ पंचम गृह के भी तिलकायित हुए थे।

गो. वल्लभलाल जी—उनका उल्लेख चतुर्थ गृह के प्रसंग में भी किया जा चुका है। जैसा लिखा गया है, उनका जन्म सं. १९४८ में हुआ था, और वे सं. १९६८ में चतुर्थ घर में गोद जा कर गोकुल की गद्दी पर आसीन हुए थे। सं. १९७० में जब उनके औरस पिता गो. देवकीनंदन जी का देहावसान हो गया, तब वे कामवन की गद्दी के भी अधिपति हुए थे। इस प्रकार वे चतुर्थ और पंचम दोनों घरों के तिलकायित थे। वे बड़े विद्वान, अनेक भाषाओं के ज्ञाता और विविध विद्याओं एवं कलाओं में पारंगत थे। आयुर्वेद में उनकी अच्छी गति थी, और व्यायाम के वे नित्य अभ्यासी थे। उनका शरीर पुष्ट और सुडौल था। वे विद्वानों और गुणियों के बड़े आश्रयदाता थे। उन्होंने अनेक पंडित, ज्योतिषी, वैद्य, [illegible]शास्त्री, कवि, कलाकार और व्याख्यानदाताओं को अपने आश्रय में कामवन में रखा था। मथुरा के साहित्यभूषण अमृतलाल पंड्या, पौराणिकरत्न रामचंद्र चक्रवर्ती, वृंदावन के संत-संगीताचार्य ग्वारिया बाबा, महंत नारायणदास नागा आदि अनेक विशिष्ट व्यक्ति उनके कृपापात्र और स्नेही थे।

गो. वल्लभलाल जी ने पुष्टि संप्रदाय की उन्नति और उसके प्रचार के अनेक कार्य किये थे। उन्होंने 'वैष्णव धर्म पताका' नामक एक मासिक पत्रिका बंबई से प्रकाशित कराई थी, जो हिंदी और गुजराती भाषाओं में छपती थी। कामवन में उन्होंने 'देवकीनंदन पाठशाला' एवं 'देवकीनंदन पुस्तकालय' की स्थापना की थी, और वहाँ के 'विद्या विभाग' से उन्होंने सांप्रदायिक ग्रंथों का प्रकाशन कराया था। कामवन के निकटवर्ती आनंदाद्रि नामक स्थल में गो. देवकीनंदन जी ने जो उद्यान बनवाया था, उसे उन्होंने जनोपयोगी सांप्रदायिक केन्द्र बना दिया था। उन्होंने वहाँ पाठशाला खोली, सदाव्रत लगवाया, चिकित्सालय चालू किया और रोगियों के लिए निवास-गृह बनवाये थे। वे स्वदेश और स्वदेशी वस्तुओं के प्रेमी और प्रचारक थे। उस काल में विदेश से आने वाली चीनी के उपयोग का उन्होंने बड़ा विरोध किया था। गोस्वामियों और भट्टों के जातीय संगठन को सुदृढ करने के लिए उन्होंने 'श्री शुद्धाद्वैत वैष्णव वेल्लनाटीय महासभा' की स्थापना में योग दिया था, और उसके आजीवन मंत्री रहे थे।

उनके पहिले से ही नाथद्वारा के गोस्वामियों का चतुर्थ-पंचम गृहों से वैमनस्य और विवाद चला आ रहा था। उसे उन्होंने समाप्त करने का स्तुत्य प्रयास किया था। नाथद्वारा के टीकैत गो. गोवर्धनलाल जी ने उस काल में जो ब्रज-यात्रा की थी, उसकी बड़ी धूम मची थी। उस समय इस बात की आशंका थी कि जब वह यात्रा कामवन पहुँचेगी, तब वहाँ पुराने वैमनस्य के कारण

कुछ झगडा हो सकता है । गो गोवर्धनलाल जी उस आशका से बडे चिंतित और सतर्क थे । किंतु उनके कामबन मे प्रवेश करने से पहिले ही वल्लभलाल जी ने आगे बढ कर उनका बडा सौहार्द्र पूर्ण स्वागत किया था । उनकी उस सहृदयता एव उदारता से गो गोवर्धनलाल जी तथा समस्त यात्री गण बडे प्रभावित हुए थे । वह यात्रा बडे आनद और उल्लास के साथ सम्पन्न हुई थी । मथुरा के लिए उस यात्रा का ऐतिहासिक महत्व है, क्यो कि उसकी स्मृति मे ही गो. गोवर्धनलाल जी ने यहाँ पर जिला अस्पताल का विशाल सगीन भवन बनवाया था ।

गो वल्लभलाल जी का प्रथम विवाह दाक्षिणात्य कन्या लक्ष्मीअम्मा जी के साथ स १९६२ मे हुआ था । जब १५ वर्ष तक उनसे कोई पुत्र उत्पन्न नही हुआ, तब उन्होने भट्ट बलभद्र शर्मा जी की पुत्री महालक्ष्मी जी के साथ स. १९७६ मे अपना दूसरा विवाह किया था । उनसे उन्हे तीन पुत्र हुए थे । जैसा पहिले लिखा जा चुका है, वे स १९६८ मे चतुर्थ गृह मे गोद जा कर वहाँ की गद्दी पर आसीन हुए थे । स १९७० मे उनके औरस पिता गो देवकीनदन जी का देहात हुआ था । उसके उपरात वे चतुर्थ और पचम दोनो गद्दियो के अधिपति हुए थे । उनका देहावसान स १९९७ की मार्गशीर्ष कृ २ को हुआ था । उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री गोविंदराय जी उनके उत्तराधिकारी हुए है ।

गो गोविंदराय जी—इनका जन्म स १९८७ मे हुआ था । इनके दो छोटे भाई गोकुलनाथ जी और जयदेवलाल जी क्रमश स १९९० और स १९९३ मे उत्पन्न हुए थे । गो गोविंदराय जी पचम गृह के तिलकायित के रूप मे इस घर की गद्दी के वर्तमान अधिपति है ।

षष्ठ गृह—इस गृह के द्वितीय उपगृह की गद्दी मथुरा मे है, और इसके सेव्य स्वरूप श्री मदनमोहन जी – दाऊ जी है । जैसा पहिले लिखा गया है, गो ब्रजपाल जी के दोनो पुत्र सर्वश्री विट्ठलनाथ जी (जन्म स १८७५) और पुरुषोत्तम जी (जन्म स १८७९) से मथुरा गद्दी के दो घरानो की परपराएँ चली है, जिनमे से एक मे बडे मदनमोहन जी – दाऊ जी की सेवा होती है, और दूसरे मे छोटे मदनमोहन जी की । दोनो घरानो के मदिर और निवास–स्थान मथुरा मे यमुना तट पर पास–पास बने हुए है ।

गो. विट्ठलनाथ जी का घराना—गो विट्ठलनाथ जी के ज्येष्ठ पुत्र कल्याणराय जी और कनिष्ठ पुत्र ब्रजनाथ जी थे । उनका जन्म क्रमश स १८९५ मे और स १९०३ मे हुआ था । दोनो भाई परम भक्त और साप्रदायिक तत्त्व के ज्ञाता थे । गो ब्रजनाथ जी ने ब्रजभाषा गद्य मे 'श्री ब्रज परिक्रमा' नामक पुस्तक की रचना की थी, जिसमे ब्रज की वार्षिक यात्रा का क्रमानुसार वर्णन किया गया है । ब्रजनाथ जी का देहावसान स १९६० मे हुआ था । गो. कल्याणराय जी के तीन पुत्र थे,—सर्वश्री गोपाललाल जी, जीवनलाल जी और बालकृष्णलाल जी । जैसा पहिले लिखा जा चुका है, जीवनलाल जी छठे घर के काशी स्थित तीसरे उपगृह मे गोद चले गये थे, और बालकृष्णलाल जी तृतीय गृह मे गोद जा कर काकरोली की गद्दी के तिलकायित हुए थे । गोपाललाल जी मथुरा की गद्दी पर आसीन हुए थे ।

गो. गोपाललाल जी—वे गोस्वामी कल्याणराय जी के ज्येष्ठ पुत्र थे, और उनका जन्म स १९१७ मे हुआ था । वे परम भक्त, साप्रदायिक सेवा–भावना के बडे ज्ञाता और उच्च कोटि के कलाकार थे । काव्य, संगीत और नृत्यादि कलाओ मे उनकी कुशलता की बडी प्रसिद्धि थी । वे नित्य–नैमित्तिक उत्सवो मे बड़ी कलात्मकता का प्रदर्शन करते थे, और ठाकुर जी को अत्यंत भावना के साथ लाड लडाते थे । नदोत्सव के दिन वे यशोदा जी का रूप धारण कर मातृ भाव से ठाकुर जी

को पालना झुलाते थे, और होली के उत्सवो मे स्वयं नृत्य करते थे। उनके द्वारा संचालित व्रज-यात्रा, रास-लीला और साप्रदायिक उत्सवो मे व्रज संस्कृति के अन्तर्गत की झाँकी मिलती थी। उनका रचा हुआ 'पतग' का एक पद 'अग्निकुमार' (वर्ष ३, अक १) मे प्रकाशित हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि वे कवि भी थे। इस प्रकार उन्हे व्रज संस्कृति का सजीव प्रतिनिधि कहा जा सकता है। उनका देहावसान स १९७४ मे हुआ था।

गो गोपाललाल जी के कोई पुत्र नहीं था। वे अपने छोटे भाई और तृतीय गृह के तिलकायित गो बालकृष्णलाल जी के कनिष्ठ पुत्र विट्ठलनाथ जी (जन्म स. १९७०) को गोद लेना चाहते थे, किंतु उनकी विद्यमानता मे उसकी रस्म नहीं हो सकी थी। कारण यह था कि स १९७३ मे गो बालकृष्णलाल जी का, और तदुपरात गो गोपाललाल जी का मथुरा मे देहात हो गया था। उसके कुछ समय पश्चात् स १९७४ मे काकरोली के दूसरे घराने की महारानी बहू जी ने बालक विट्ठलनाथ जी को गोद ले लिया था। फिर भी गो. गोपाललाल जी की विधवा गोस्वामिनी लावण्यवती जी ने अपने पति की इच्छानुसार स १९७५ की वैशाख शु ३ को विट्ठल-नाथ जी को ही उनका उत्तराधिकारी बनाया। इस समय वही मथुरा की गद्दी के अधिपति है।

गो विट्ठलनाथ जी—ये गो बालकृष्णलाल जी के कनिष्ठ पुत्र और काकरोली की तृतीय गद्दी के वर्तमान तिलकायित गो व्रजभूषणलाल जी के छोटे भाई है। इनका जन्म स. १९७० की माघ कृ ९ को हुआ था। जैसा पहिले लिखा गया है, ये अपने शैशव काल मे ही काकरोली के दूसरे घराने मे गोद चले गये थे, और मथुरा के दिवगत गो गोपाललाल जी के भी उत्तराधिकारी बनाये गये थे। इस प्रकार ये काकरोली स्थित श्री मथुरानाथ जी और मथुरा स्थित श्री मदनमोहन जी-दाऊ जी दोनो मदिरो के अधिपति हैं। अपनी बाल्यावस्था मे ही ये अधिकतर अपने बडे भाई व्रजभूषणलाल जी के साथ काकरोली मे रहे है। दोनो ने साथ-साथ शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की है, और साथ-साथ ही अपने साप्रदायिक एव गार्हस्थिक कार्यों का सपादन करते रहे हैं। ये भी अपने बडे भाई की तरह कर्मठ और विद्वान धर्माचार्य हैं। इनके समय मे काकरोली के श्री मथुरानाथ जी तथा मथुरा के श्री मदनमोहन जी के नये मदिर बनाये गये हैं। श्री विट्ठलनाथ जी के कई सतान हैं। इनके ज्येष्ठ पुत्र यदुनाथ जी का जन्म स १९८८ की चैत्र शु ९ को हुआ था। ये प्राय मथुरा मे रह कर यहाँ के मदिर की देख-भाल करते हैं।

गो. पुरुषोत्तम जी का घराना—गो पुरुषोत्तम जी गो व्रजपाल जी के छोटे पुत्र थे। उनके वशजो से मथुरा के छोटे मदनमोहन जी के मदिर की परपरा चली है। वे मथुरा के प्रसिद्ध धर्माचार्य थे। उनके दो पुत्र हुए थे,—श्रीलाल जी और रमणलाल जी। श्रीलाल जी का असमय मे ही देहावसान हो गया था, अत रमणलाल जी उनके उत्तराधिकारी हुए थे।

गो रमणलाल जी—उनका जन्म स १९०४ मे हुआ था। उनके पिता गो पुरुषोत्तम जी ने उनकी शिक्षा-दीक्षा की विधिवत् व्यवस्था की थी। उन्हे दडी स्वामी विरजानद जी से सस्कृत की शिक्षा दिलाई गई थी। इस प्रकार वे स्वामी दयानद जी के सहपाठी थे। धार्मिक क्षेत्र मे दोनो के भिन्न-भिन्न मत होते हुए भी उनमे बडा सद्भाव था। जब स्वामी दयानद जी अपनी शिक्षा समाप्त करने के कई वर्ष पश्चात् दोबारा मथुरा आये थे, तब उनके मूर्ति-पूजा विरोधी विचारो के कारण यहाँ उनका बडा विरोध किया गया था, किंतु गो रमणलाल जी ने उन्हे अपने बगालीघाट स्थित 'बहू जी के बाग' मे आदरपूर्वक ठहराने की समुचित व्यवस्था की थी।

गो० रमणलाल जी, मथुरा

गो० दामोदरलाल जी, मथुरा

गो० द्वारकेशलाल जी, मथुरा-पोरबदर

गो रमणलाल जी परम भक्त, उत्कृष्ट विद्वान और भगवत्–सेवापरायण धर्माचार्य थे। उन्होने गो विट्ठलनाथ जी के चतुर्थ पुत्र श्री गोकुलनाथ जी के विशिष्ट मत को अगीकार कर भगवत्-सेवा की 'भरूची' पद्धति को अगीकार किया था, जिसके अनुसार वे सेवा सवधी 'मर्याद' का वडी कठोरता से पालन करते थे। उन्हे सेवा सवधी 'शुद्धि' का इतना प्रवल आग्रह था कि ठाकुर जी के भडार मे जाने से पहिले प्रत्येक वस्तु को यमुना–जल से धुलवाते थे। यहाँ तक कि लकडी, खाड, गुड, घी, तैल, इत्र, केसर, कपूर आदि कोई भी वस्तु यमुना–जल से धोये विना ठाकुर जी के उपयोग मे नही ली जाती थी। उन्होने कई बार वडे–वडे धार्मिक आयोजन किये थे। स १९७५ मे उन्होने श्री गिरिराज की तलहटी मे छप्पन भोग, गो–सेवा यज्ञ और १०८ भागवत सप्ताह का का विशद समारोह किया था। उस काल मे उसकी वडी धूम-धाम रही थी। उनके रचे हुए कई ग्रथ उपलब्ध है। इनमे रस रसिक सग्रह, श्री गोकुलेशाख्यान, सेव्य स्वरूपन की वार्ता, पुष्टिमार्गीय सार सग्रह उल्लेखनीय है। मथुरा मे उनके घराने के देव–स्थान श्री मदनमोहन जी का छोटा मदिर, श्री गोकुलनाथ जी का मदिर और रमण विलास है। उनका देहात स १९८० मे हुआ था।

रमणलाल जी की वश–परंपरा—गो रमणलाल जी के तीन पुत्र थे,—सर्वश्री व्रजपाल-लाल जी, कन्हैयालाल जी और घनश्यामलाल जी। श्री व्रजपाललाल जी का जन्म स १९२३ मे हुआ था। वे अपने भाइयो मे सबसे बडे होने के कारण मथुरा की गद्दी के अधिपति हुए थे। उनके छोटे भाई सर्वश्री कन्हैयालाल जी चतुर्थ गृह मे और घनश्यामलाल जी प्रथम गृह के दशम उपगृह मे गोद चले गये थे। कन्हैयालाल जी के जीवन–वृत्तात का उल्लेख चतुर्थ गृह के प्रसग मे पहिले ही किया जा चुका है। यहाँ पर घनश्यामलाल जी और उनके वशजो का उल्लेख किया जाता है।

गो. घनश्यामलाल जी—उनका जन्म स १९३२ मे हुआ था। वे प्रथम गृह के दशम उपगृह मे गोद जा कर पोरवदर की गद्दी के अधिपति हुए थे। साप्रदायिक धर्म–तत्त्व और सगीत के वे विशेषज्ञ विद्वान थे। उनके हारमोनियम–वादन के कौशल की वडी प्रसिद्धि थी। अपने उत्तर जीवन मे वे अधिकतर बबई मे रहा करते थे। वही पर स २००९ मे उनका देहावसान हुआ था। गो घनश्यामलाल जी के दो पुत्र थे,—दामोदरलाल जी और द्वारकेशलाल जी। मथुरा की गद्दी के अधिपति गो व्रजपाललाल जी के कोई पुत्र नही था, अत उन्होने अपने भतीजे दामोदरलाल जी को गोद ले लिया था। इस प्रकार गो घनश्यामलाल जी के वडे पुत्र दामोदरलाल जी मथुरा की गद्दी पर आसीन हुए थे, और द्वारकेशलाल जी पोरबदर की गद्दी के अधिपति हुए थे।

गो. दामोदरलाल जी—उनका जन्म स १९४९ मे हुआ था। वे गो. व्रजपाललाल जी के उपरात मथुरा स्थित श्री छोटे मदनमोहन जी के अधिपति हुए थे। वे भगवत–सेवा परायण धर्माचार्य होने के साथ ही साथ कुशल सगीतज्ञ भी थे। उन्हे पखावज वजाने का अच्छा अभ्यास था। उनका देहावसान प्राय. ५० वर्ष की आयु मे हुआ था। उनके दो पुत्र हुए,—पुरुषोत्तमलाल जी और व्रजरमणलाल जी। पुरुषोत्तमलाल जी का जन्म स १९६८ मे हुआ था। वे प्रथम गृह के ग्यारहवे उपगृह मे गोद जा कर कोटा स्थित श्री वडे महाप्रभु जी के मदिर के अधिपति हुए। उनके छोटे भाई व्रजरमणलाल जी मथुरा के मदिर के अधिपति है।

गो द्वारकेशलाल जी—वे मथुरा के गो दामोदरलाल जी के छोटे भाई थे, और अपने पिता गो. घनश्यामलाल जी के उपरात पोरबदर की गद्दी के अधिपति हुए थे। उनका जन्म स १९५६ की चैत्र कृ १ को पोरवदर मे हुआ था, किंतु उनका आरभिक जीवन अधिकतर उनके

पितामह और पिता के निरीक्षण मे मथुरा मे बीता था। उनके वढ्यावस्था मे पोरबदर के मदिर के अतिरिक्त मथुरा का श्री गोकुलनाथ जी का मदिर भी उनके अधिकार मे आया था। इस प्रकार पोरबदर के साथ ही साथ मथुरा से भी उनका जीवन पर्यंत घनिष्ट सबध बना रहा था। गोस्वामी रमणलाल जी, गोपाललाल जी और दामोदरलाल जी जैसे धर्माचार्यों के सरक्षण एव निरीक्षण मे उन्होने साप्रदायिक रीति-नीति तथा सेवा-भावना का ज्ञान प्राप्त किया था, और अपने पिता गो घनश्यामलाल जी जैसे कुशल सगीतज्ञ एव हारमोनियम वादक के शिक्षण से वे सुप्रसिद्ध सगीतज्ञ और हारमोनियम के विख्यात वादक हुए थे। उन्हे अपने पिता की भाँति हारमोनियम पर भी तत्रु वाद्यो की तरह कोमल एव मधुर स्वर निकालने का अच्छा अभ्यास था। अपने पिता के साथ उन्होने विविध प्रदेशो का पर्याप्त भ्रमण किया था, जिससे वे विभिन्न स्थानो के अनेक सगीतज्ञ भक्तो और कलाकारो के सपर्क मे आये थे। भारतवर्ष के प्राय सभी विख्यात गायको एव वादको से उनका व्यक्तिगत सबध था। गायन-वादन के अतिरिक्त वे काव्य, चित्र और नाट्य कलाओ के भी अच्छे ज्ञाता थे। उन्होने ब्रजभाषा, गुजराती और उर्दू मे अनेक गेय रचनाएँ लिखी थी, जिन्हे वे बडी कुशलता से गाते थे। उन्हे विविध प्रकार के व्यजन बनाने का भी बडा शौक था।

वे अत्यत नम्र, उदार एव मिष्टभाषी धर्माचार्य और निरभिमानी कलाकार थे। प्राचीन पद्धति के पोषक होते हुए भी वे प्रगतिशील विचारो के थे, और नवयुग के अनुसार कार्य-व्यवहार करते थे। उनका देहावसान स १९९३ की आश्विन कृ ६ को पोरबदर मे हुआ था। उनके दो पुत्र है,—माधवराय जी और रसिकराय जी।

गो ब्रजरमणलाल जी—ये गो दामोदरलाल जी के उपरात मथुरा स्थित श्री छोटे मदन-मोहन जी के मदिर के अधिपति हुए है। इनका जन्म स. १९९१ मे हुआ था। इन्होने हिंदी और सस्कृत की अच्छी शिक्षा प्राप्त की है। अपने पूर्वजो की परपरा के अनुसार इन्होने धर्मोपासना के साथ ही साथ विविध कलाओ मे भी कुशलता प्राप्त की है। ये अत्यत कर्मठ और सुयोग्य धर्माचार्य है। साप्रदायिक प्रचार के लिए ये 'श्रीमद्वल्लभ प्रकाश' नामक एक द्विमासिक पत्र का सपादन-प्रकाशन कई वर्ष से कर रहे है। इन्होने पखावज और तबला बजाने का अच्छा अभ्यास किया है।

गो माधवराय जी—ये गो द्वारकेशलाल जी के ज्येष्ठ पुत्र है, और उनके उपरात पोरबदर एव मथुरा के मदिरो के अधिपति हुए है। इनका जन्म स १९९७ मे हुआ था। अपनी बाल्यावस्था से ही इन्होने अद्भुत प्रतिभा और क्रियाशीलता का परिचय दिया है। ये अपने पिता जी के सदृश अत्यत सरल, उदार और निरभिमानी धर्माचार्य एव कुशल कलाकार है। कई वर्ष से ये 'अग्निकुमार' नामक एक त्रैमासिक पत्र का सपादन और प्रकाशन कर रहे है, जो हिंदी और गुजराती दोनो भाषाओ मे छपता है। साप्रदायिक प्रचार के लिए ये अहर्निश यत्नशील रहते है। इनका निवास पोरबदर और मथुरा दोनो स्थानो मे रहता है, किंतु ब्रज के अनन्य प्रेमी होने के कारण इन्हे मथुरा-वास अधिक रुचिकर है। मथुरा के मदिर का इन्होने जीर्णोद्धार कर इसे नया रूप प्रदान किया है, और अपने यशस्वी पिता जी की स्मृति मे 'श्री द्वारकेश स्मारक समिति' की स्थापना कर इसके द्वारा ये मथुरा की कलात्मक समृद्धि मे योग दे रहे है।

गो माधवराय जी के छोटे भाई श्री रसिकराय जी है। इनका जन्म स २००० मे हुआ था। ये भी अपने अग्रज की भाँति बडे उत्साही और कर्मठ युवक है। इन्होने सगीत और विशेष कर सितार-वादन मे अच्छी योग्यता प्राप्त की है।

सप्तम गृह—इस गृह के सेव्य स्वरूप श्री मदनमोहन जी है, और इनकी प्रधान गद्दी पंचम गृह की भाँति कामवन मे है। जैसा पहिले लिखा गया है, औरगजेबी काल मे श्री मदनमोहन जी के स्वरूप को ब्रज से हटाये जाने के उपरात पहिले उन्हे जयपुर मे और फिर बीकानेर मे विराजमान किया गया था। उस समय गो ब्रजपाल जी सप्तम गृह की गद्दी पर और गो गोविंद जी पंचम गृह की गद्दी पर आसीन थे। गो ब्रजपाल जी का कोई उत्तराधिकारी नही था, अत उनकी गद्दी की देख-भाल भी गो गोविंद जी ही करते थे। स १६२८ मे गो गोविंद जी ने श्री गोकुलचंद्रमा जी के स्वरूप को बीकानेर से हटा कर कामवन मे प्रतिष्ठित करने का निश्चय किया, तब श्री मदनमोहन जी के स्वरूप को भी कामवन मे ला कर विराजमान किया गया था। तब से पंचम गृह की भाँति सप्तम गृह की गद्दी भी कामवन मे कायम हो गई। गो गोविंद जी दोनो स्वरूपो के मंदिरो की व्यवस्था और दोनो गद्दियो की देख-भाल करते थे। स १६४० मे जब गो गोविंद जी का देहात हो गया, तब उनके ज्येष्ठ पुत्र देवकीनदन जी पचम गृह की गद्दी पर बैठे थे, और छोटे पुत्र गोपाललाल जी सप्तम गृह मे गोद जा कर वहाँ की गद्दी पर आसीन हुए थे।

श्री वल्लभाचार्य जी ने श्रीनाथ जी का मदिर बनवा कर ब्रजवासियो को उनकी सेवा करने का आदेश दिया था। बाद मे उन्हे और भी स्वरूप प्राप्त हुए थे, किंतु यात्रा मे रहने के कारण वे उस समय उनकी सेवा नही कर सके थे, अत उन्हे शिष्य-सेवको के लिए सेवार्थ सौप दिया गया था। जब आचार्य जी यात्राओ से निवृत्त होकर स्थायी रूप से अडैल मे रहने लगे, तब वे स्वरूप उन्हे पुन प्राप्त हो गये थे। श्री वल्लभाचार्य जी के उपरात वे स्वरूप उनके पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी को प्राप्त हुए। गोसाई जी ने जब स्थायी रूप से ब्रज-वास करने का निश्चय किया, तब वे उक्त स्वरूपो को अडैल से ब्रज मे ले आये थे, और यहा उन्हे गोकुल मे प्रतिष्ठित किया था। स १६३८ मे गोसाई जी ने अपने पुत्रो का बटवारा किया था। उस समय उन्होने प्रमुख सेव्य स्वरूपो को भी उनमे वितरित कर दिया था।

बटवारा के अनुसार श्री मथुरेश जी की सेवा प्रथम पुत्र श्री गिरिधर जी को दी गई थी। उनके साथ ही श्रीनाथ जी और श्री नवनीतप्रिय जी की सेवा पर भी उनका विशेषाधिकार निश्चित किया गया। शेष पुत्रो को एक-एक स्वरूप की सेवा दी गई। इस प्रकार गोसाई जी के सात पुत्रो की वश-परपरा मे उक्त स्वरूपो की सेवा प्रचलित हुई। उनमे से श्रीनाथ जी जतीपुरा के मदिर मे और शेष स्वरूप गोकुल के मदिरो मे विराजमान थे। औरगजेबी शासन के आरभिक काल स १७२६ के लगभग इस सप्रदाय के सभी प्रमुख स्वरूप गोवर्धन और गोकुल के मदिरो से हटा कर अन्य स्थानो मे प्रतिष्ठित कर दिये गये थे। कालातर मे जब ब्रज की स्थिति अनुकूल हो गई, तब कतिपय स्वरूपो को पुन यहा ले आया गया, किंतु शेष स्वरूप अब भी ब्रज से बाहर के स्थानो मे विराजमान हैं। यहा पर उक्त प्रमुख स्वरूपो का सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

१. श्रीनाथ जी—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, श्रीनाथ जी के स्वरूप का प्राकट्य गोवर्धन मे गिरिराज पहाडी की एक कदरा से हुआ था। श्री वल्लभाचार्य जी ने वहाँ पर उनका मदिर बनवा कर उनकी सेवा प्रचलित की थी। स १७२६ मे उन्हे गिरिराज के मदिर से हटा कर मेवाड ले जाया गया था, जहाँ नाथद्वारा के मदिर मे वे अब भी विराजमान है। श्रीनाथ जी के श्रीअग विविध चिह्नो से सुशोभित और अलकारो से विभूषित हैं। इनके पीठक पर शुक, मेष, सूर्य, मोर और गायो की आकृतियाँ अकित हैं। पुष्टि सप्रदायी साहित्य मे श्रीनाथ जी के इन सभी चिह्नो का उल्लेख मिलता है, और इनका माहात्म्य बतलाया गया है[1]। श्रीनाथ जी विविध परिस्थितयो मे जिन विभिन्न स्थानो मे विराजे हैं, वहाँ उनकी चरण–चौकियाँ और बैठकें बनी हुई है। ब्रज मे २ चरण–चौकियाँ और ४ बैठकें है, शेष अन्य स्थानो मे हैं। ब्रज की प्रमुख चरण–चौकी जतीपुरा के पुराने मदिर मे है, जहाँ श्रीनाथ जी अपने प्राकट्य काल से लेकर स १७२६ तक विराजे थे। उसके उपरात वे विविध स्थानो मे होते हुए नाथद्वारा के मदिर मे प्रतिष्ठित हुए, जहाँ वे अब भी विराजमान हैं। दूसरी चरण–चौकी मथुरा के 'सतघरा' मे है, जहाँ श्रीनाथ जी स. १६२३ की माघ कृ ७ को जतीपुरा के मदिर से पधारे थे, और ४० दिन तक विराजमान रहे थे। श्रीनाथ जी की तीन बैठके गोवर्धन के श्यामढाक, गुलालकुड और 'टोड का घना' नामक स्थलो मे है, और चौथी रासोली गाँव मे है।

---

(१) १ खटऋतु वार्ता मे 'वल्लभ कुल कौ प्राकट्य', पृष्ठ ५८
  २ वल्लभीय सुधा (वर्ष ४, अक २) गुजराती विभाग, पृष्ठ २

२. **श्री नवनीतप्रिय जी**—'वार्ता' के अनुसार श्री नवनीतप्रिय जी का स्वरूप महाबन की एक क्षत्राणी को ब्रह्माड घाट पर यमुना जी मे से प्राप्त हुआ था। उसने उन्हे श्री वल्लभाचार्य जी को प्रदान कर दिया था। आचार्य जी ने इन्हे आगरा निवासी गज्जन धवन को सेवार्थ सोप दिया था। बाद मे वे इन्हे अडैल ले गये थे[1]। आचार्य जी के उपरात गोसाई जी ने इन्हे गोकुल मे प्रतिष्ठित किया था। उन्होने अपने घरेलू बटवारा मे प्रथम पुत्र गिरिधर जी को इनकी सेवा करने का विशेषाधिकार दिया था। इस समय यह स्वरूप श्रीनाथ जी के साथ नाथद्वारा मे विराजमान है।

३. **श्री मथुरानाथ जी**—इन्हे श्री मथुरेश जी अथवा श्री मथुराधीश जी भी कहा जाता है। इनका स्वरूप श्री वल्लभाचार्य जी को महाबन – रमणस्थल के दूसरी ओर कर्णावल नामक स्थान के निकट यमुना जी से प्राप्त हुआ था। उन्होने कन्नौज निवासी कथा–व्यास पद्मनाभदास जी को इन्हे सेवा के लिए सोप दिया था[2]। बाद मे इन्हे गो विट्ठलनाथ जी ने प्राप्त किया था। घरेलू बटवारा मे इनकी सेवा प्रथम पुत्र श्री गिरिधर जी को दी गई थी। कालातर मे यह स्वरूप गिरिधर जी के तृतीय पुत्र गोपीनाथ जी दीक्षित के घर मे विराजमान हुए। अब से कुछ समय पहिले तक मथुरेश जी कोटा के मदिर मे प्रतिष्ठित थे। इस घर के वर्तमान गो. रणछोडलाल जी इन्हे कोटा से गोवर्धन ले आये है। इस समय ये गोबर्धन के मदिर मे विराजमान है।

४. **श्री विट्ठलनाथ जी**—गो विट्ठलनाथ जी ने इस स्वरूप को अपने द्वितीय पुत्र गोविंदलाल जी को दिया था। इस समय यह स्वरूप द्वितीय गृह की नाथद्वारा गद्दी के मदिर मे विराजमान है।

५. **श्री द्वारकाधीश जी**—इन्हे श्री द्वारकानाथ जी भी कहा जाता है। 'वार्ता' के अनुसार यह स्वरूप श्री वल्लभाचार्य जी को कन्नौज के नारायणदास दर्जी से प्राप्त हुआ था। आचार्य जी ने इन्हे दामोदरदास क्षत्रिय को सेवार्थ सोप दिया था। दामोदरदास के देहावसान के उपरात यह स्वरूप श्री आचार्य जी के निवास–स्थान अडैल मे प्रतिष्ठित किया गया, और बाद मे श्री विट्ठलनाथ जी ने इन्हे गोकुल मे विराजमान किया था। गोसाईं जी के घरेलू बटवारा मे श्री द्वारकाधीश जी तृतीय पुत्र श्री बालकृष्ण जी को प्राप्त हुए थे[3]। इस समय यह स्वरूप श्री बालकृष्ण जी के वशजो की सेवा मे मेवाड के काकरोली नामक स्थान मे विराजमान हैं।

६ **श्री गोकुलनाथ जी**—आरभ मे इस स्वरूप की सेवा श्री वल्लभाचार्य जी की ससुराल मे होती थी। वहाँ से इन्हे आचार्य जी ने प्राप्त किया था। श्री गोसाई जी ने इनकी सेवा अपने चतुर्थ पुत्र गोकुलनाथ जी को दी थी। इस समय यह स्वरूप चतुर्थ गृह की गद्दी के अतर्गत गोकुल के मदिर मे विराजमान है।

७ **श्री गोकुलचंद्रमा जी**—'वार्ता' से ज्ञात होता है, महाबन की एक क्षत्राणी ने इस स्वरूप को ब्रह्माडघाट पर श्री यमुना जी मे से प्राप्त किया था। उसने इन्हे श्री वल्लभाचार्य जी के अर्पित कर दिया था। आचार्य जी ने इन्हे अपने सेवक नारायणदास ब्रह्मचारी को सेवार्थ सोप दिया था। ब्रह्मचारी जी का देहावसान होने के उपरात श्री गोकुलचद्रमा जी गो विट्ठलनाथ जी को प्राप्त

(१) चौरासी वैष्णवन की वार्ता में 'एक क्षत्रानी की वार्ता' और 'गज्जन धवन की वार्ता'
(२) चौरासी वैष्णवन की वार्ता में 'पद्मनाभदास की वार्ता'
(३) श्री द्वारकाधीश जी की प्राकट्य–वार्ता

हुए थे[1]। उन्होंने बटवारा के समय इन्हें अपने पंचम पुत्र रघुनाथ जी को प्रदान किया था। उनके वंशजो ने औरंगजेबी काल मे इन्हे गोकुल से हटा कर पहिले जयपुर मे और फिर बीकानेर मे प्रतिष्ठित किया था। इस समय ये कामवन स्थित पंचम गद्दी के मंदिर मे विराजमान हैं।

८ श्री कल्याणराय जी—गो विट्ठलनाथ जी ने स्वरूपों के बटवारा के समय अपने छठे पुत्र यदुनाथ जी को पहिले श्री बालकृष्ण जी का स्वरूप प्रदान किया था। उक्त स्वरूप के बहुत छोटे होने के कारण यदुनाथ जी को उससे संतुष्टि नहीं हुई। उन्होंने खिन्न मन से उक्त स्वरूप को श्री द्वारकाधीश जी की गोद मे पधरा दिया था, जिससे उसकी सेवा भी तृतीय पुत्र बालकृष्ण जी को प्राप्त हो गई थी। यदुनाथ जी को उदास देख कर गो विट्ठलनाथ जी ने फिर उन्हे श्री कल्याणराय जी का स्वरूप प्रदान किया। औरंगजेबी काल मे यदुनाथ जी के वंशजो ने उक्त स्वरूप को गोकुल से हटा दिया था। इस समय ये छठे घर की [illegible] (बड़ौदा) स्थित प्रधान गद्दी के मंदिर मे विराजमान हैं।

९. श्री बालकृष्ण जी—जैसा अभी लिखा गया है, इस स्वरूप की सेवा भी गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के तृतीय पुत्र बालकृष्ण जी को प्राप्त हुई थी। बालकृष्ण जी के वंशजों ने औरंगजेबी काल मे श्री द्वारकानाथ जी के साथ श्री बालकृष्ण जी को भी गोकुल से हटा दिया था। इस समय यह स्वरूप तृतीय गृह की सूरत गद्दी के मंदिर मे विराजमान है।

१०. श्री मुकुंदराय जी—यह स्वरूप आजकल छठे घर की काशी-गद्दी के मंदिर मे है।

११. श्री मदनमोहन जी—गो विट्ठलनाथ जी ने बटवारा के समय इस स्वरूप को अपने सातवे पुत्र घनश्याम जी को प्रदान किया था। श्री घनश्याम जी के वंशजो ने औरंगजेबी काल मे श्री मदनमोहन जी के स्वरूप को गोकुल से हटा दिया था। उस समय इन्हे पहिले जयपुर मे और फिर बीकानेर मे प्रतिष्ठित किया गया था। बाद मे श्री गोकुलचंद्रमा जी के साथ श्री मदनमोहन जी भी बीकानेर से हटा कर कामवन मे प्रतिष्ठित किये गये थे। इस समय यह स्वरूप सातवें घर की कामवन-गद्दी के मदिर मे ही विराजमान हैं।

उपर्युक्त ११ प्रमुख सेव्य स्वरूपो के अतिरिक्त और भी बहुसंख्यक स्वरूप हैं, जो वल्लभ संप्रदाय के सैकडो मदिर-देवालयो मे विराजमान हैं। इनमे से १४५ सेव्य स्वरूप वल्लभवंशीय गोस्वामियो के मदिरो मे प्रतिष्ठित हैं। इनका ऐतिहासिक महत्त्व है। शेष स्वरूप इस संप्रदाय के अनुगामी भक्तो द्वारा निर्मित मदिरो मे विराजमान हैं।

सांप्रदायिक मंदिर और दर्शनीय स्थल—व्रजमंडल मे वल्लभ संप्रदाय के बहुसंख्यक मदिर-देवालय और दर्शनीय स्थल हैं, जो यहाँ के विविध धार्मिक स्थानो मे बिखरे हुए हैं। ब्रज-यात्रा के समय यात्री गण इन सब के दर्शन करते हैं। इनका दर्शन करते ही इस संप्रदाय के विगत चार सौ वर्ष का इतिहास उनके समक्ष साकार हो जाता है। इनकी सांप्रदायिक महत्ता के साथ ही साथ इनका ऐतिहासिक महत्व भी है। यहाँ पर इन सभी स्थलो का उल्लेख किया जाता है।

१. गोवर्धन—ब्रज के इस पुरातन धार्मिक क्षेत्र मे इस संप्रदाय के सर्वाधिक और सर्व-प्राचीन दर्शनीय स्थल हैं। यहीं पर श्रीनाथ जी का प्राकट्य हुआ था, और उनके मंदिर के रूप मे इस संप्रदाय का प्रथम देवालय बनाया गया था। यहीं पर श्रीनाथ जी के अष्टसखाओ का निवास था। इस क्षेत्र के विविध स्थानो मे जो दर्शनीय स्थल है, उनका नामोल्लेख यहाँ किया गया है।

(१) चौरासी वार्ता मे 'एक क्षत्राणी की वार्ता' और 'नारायणदास ब्रह्मचारी की वार्ता'

आन्यौर मे—श्री बल्लभाचार्य जी की गोवर्धन मे आरभिक बैठक और सद्दू पाडे का निवास-स्थान । गोविंदकुड पर श्री आचार्य जी के सध्या–वदन की बैठक । सकर्पण कुड पर कुभनदास जी का विश्राम–स्थल ।

पूछरी पर—श्री गिरिराज जी का अतिम छोर (पुच्छ), रामदास की गुफा, अप्सराकुड पर छीतस्वामी का निवास-स्थल, निकटवर्ती बन मे अधिकारी कृष्णदास जी के देहावसान का कूआ।

जतीपुरा मे—श्रीनाथ जी का प्राकट्य स्थल, उनका मुखारविंद, प्राचीन मदिर और चरण-चौकी, सर्वश्री आचार्य जी, गोसाई जी, गिरिधर जी, गोकुलनाथ जी और हरिराय जी की बैठके, श्री मथुरेश जी का मदिर, गोस्वामी बालको के निवास–स्थान और समाधि–स्थल, श्यामढाक और गुलालकुड पर श्रीनाथ जी की बैठके, रुद्रकुड पर चतुर्भुजदास जी के देहावसान का स्थल, गोविंद-स्वामी की कदमखडी, बिलछूकुड पर कृष्णदास जी का विश्राम–स्थल और सुरभीकुड पर परमानद दास जी के निवास और देहावसान का स्थल ।

चद्रसरोवर पर—परासोली गाँव के इस सरोवर पर सर्वश्री आचार्य जी, गोसाई जी, गोकुलनाथ जी और दामोदरदास जी की बैठके; सूरदास जी के निवास की कुटी और देहावसान का चबूतरा, सूरदास–स्मारक ।

जमुनावतो मे—कुभनदास जी और चतुर्भुजदास जी का निवास–स्थल ।

मानसीगगा पर—श्री आचार्य जी के सध्या–वदन की बैठक, नददास जी के निवास और देहावसान का स्थल ।

राधाकुड पर—श्री गिरिराज जी का दूसरा छोर (जिह्वा), सर्वश्री आचार्य जी, गोसाई जी और गोकुलनाथ जी की बैठके ।

२ **गोकुल**—ब्रजमडल मे श्री बल्लभाचार्य जी के प्रथम आगमन और 'ब्रह्म सबध' की प्रथम दीक्षा का स्थल, श्री आचार्य जी की प्रथम बैठक, सर्वश्री गोसाई जी, गोकुलनाथ जी, रघुनाथ जी, घनश्याम जी, दामोदरदास जी की बैठके, पुष्टि सप्रदाय के सेव्य स्वरूपो के प्राचीन मदिर, श्री गोकुलनाथ जी का मदिर, चतुर्थ गृह की गद्दी और गोस्वामियो के निवास–स्थान ।

३. **महाबन**—दामोदरदास जी की बैठक और गोविंदस्वामी का टीला ।

४. **मथुरा**—श्री यमुना जी की धारा, 'सतघरा' मे श्रीनाथ जी की चरण-चौकी, विश्राम-घाट पर श्री आचार्य जी की बैठक, श्री मदनमोहन जी – श्री दाऊजी, श्री छोटे मदनमोहन जी, श्री गोकुलनाथ जी, श्री द्वारकाधीश जी आदि स्वरूपो के मदिर, छठे घर की गद्दी और गोस्वामियो के निवास–स्थान ।

५ **वृंदावन**—वशीवट के समीप सर्वश्री आचार्य जी, गोसाई जी, गोकुलनाथ जी और दामोदरदास जी की बैठके, मानसरोवर पर श्री आचार्य जी की बैठक ।

६. **कामबन**—श्री गोकुलचद्रमा जी और श्री मदनमोहन जी के मदिर, श्री आचार्य जी, गोसाई जी और गोकुलनाथ जी की बैठके, पचम और सप्तम घरो की गद्दियाँ तथा गोस्वामियो के निवास–स्थान ।

७. **ब्रज के विविध लीला–स्थल**—मधुवन, कुमुदवन, बहुलावन, नदगाँव, सकेत, प्रेम-सरोवर, करहला, कोकिलावन, रीठौरा, कोटवन, भाडीरवन, बेलवन मे सर्वश्री आचार्य जी तथा गोसाई जी की बैठके, कामर और नरी-सेमरी मे श्री गिरिधर जी की बैठकें ।

सांप्रदायिक उत्सव—वल्लभ सम्प्रदाय मे वर्ष के जिन उत्सवों का विशेष महत्त्व माना गया है, वे मास-क्रम के अनुसार इस प्रकार हैं,—

चैत्र—शु ६ को श्री यमुना जी का जन्मोत्सव तथा यदुनाथ जी का जन्म-दिवस, शु ६ को श्रीराम-जन्मोत्सव।

वैशाख—कृ ११ को श्री वल्लभाचार्य जी का जन्म-दिवस, शु ५ को सूरदास जी का जन्म-दिवस, शु १४ को श्रीनृसिंह जन्मोत्सव।

ज्येष्ठ—शु १५ को जल-यात्रा उत्सव।

आषाढ—शु ६ को कुसुंभी छठ, श्री लक्ष्मणभट्ट जी का जन्म-दिवस, शु ११ को देवशयनी एकादशी, चातुर्मास्य आरंभ, शु १५ को गुरु-पूर्णिमा।

श्रावण—शु ११ को पवित्रा एकादशी, पुष्टिमार्ग की स्थापना और 'ब्रह्म सबंध' दीक्षा के शुभारभ का दिवस।

भाद्रपद—कृ ८ को श्री कृष्ण-जन्मोत्सव; शु १२ को श्री वामन-जन्मोत्सव।

आश्विन—कृ ५ को हरिराय जी का जन्म-दिन, कृ ११ साझी-उत्सव, शु १५ शरदोत्सव।

कार्तिक—शु ८ को गोचारणोत्सव, शु १२ को श्री गिरिधर जी और श्री रघुनाथ जी का जन्म-दिवस।

मार्गशीर्ष—कृ ८ को श्री गोविंदराय का जन्म-दिवस, कृ १३ को श्री घनश्याम जी का जन्म-दिवस, शु ७ को श्री गोकुलनाथ जी का जन्म-दिवस।

पौष—कृ ६ को गोसाईं विट्ठलनाथ जी का जन्म-दिवस।

माघ—शु ५ को वसंतोत्सव।

फाल्गुन—कृ ७ को श्रीनाथ जी का पाटोत्सव, शु १५ को होलिकोत्सव।

वर्तमान स्थिति—

सांप्रदायिक विकृति—विगत काल मे वल्लभ सम्प्रदाय ने अभूतपूर्व उन्नति की थी, और इसका देशव्यापी विस्तार हुआ था। इसका प्रमुख कारण पूर्ववर्ती आचार्यों और उनके अनुगामी भक्तों का उच्च कोटि के धार्मिक भाव, त्याग-तप, पांडित्य आदि अनुपम गुणों से विभूषित होना था। कालांतर मे उनमे उक्त गुणों की लगातार कमी होने लगी थी। इसके साथ ही इस संप्रदाय के सुविस्तृत सेवा-संडान का रूप भी क्रमश विकृत होने लगा था। जैसा पहिले लिखा गया है, वैदिक धर्म के व्ययसाध्य याज्ञिक विधान की प्रतिक्रिया मे भक्ति सम्प्रदायों ने भाव-यज्ञ के रूप मे मानसी सेवा का प्रचलन किया था। किंतु पुष्टिमार्गीय सेवा का आडंबर उन प्राचीन यज्ञ-यागादि के वृहत् विधान से भी बढ गया था। उसके कारण ठाकुर-सेवा भक्त जनों की साधना की वस्तु न होकर समृद्धिशाली धनाढ्य व्यक्तियों के मनोरंजन की चीज़ बन गई थी। फलत इस संप्रदाय के अनुगामियों की मनोवृत्ति विषय-भोग के त्याग की अपेक्षा उनमे रमने की ओर अधिक होने लगी। इसका प्रभाव वल्लभवंशीय गोस्वामियों से लेकर उनके शिष्य-सेवकों तक पर समान रूप से हुआ था। इन सब कारणों से इस संप्रदाय की स्थिति दिन-प्रतिदिन विकृत होती रही है।

आधुनिक काल मे उक्त स्थिति का दुष्परिणाम प्रत्यक्ष दिखलाई देता है। इस समय इस संप्रदाय की न पहिले जैसी प्रतिष्ठा है, और न इसके आचार्यों का पूर्ववत् आदर-सन्मान है। प्राचीन धार्मिक स्थल सुरक्षा और देख-रेख के अभाव मे नष्ट होते जा रहे हैं। मंदिर-देवालयों की स्थिति इतनी शोचनीय है कि इनमे ठाकुर-सेवा भी ठीक तरह से नहीं हो पाती है। इसके अनुयायियों की संख्या भी कम हो गई है। इस स्थिति मे नवयुग के अनुसार सुधार होना अत्यावश्यक है।

चैतन्य संप्रदाय

पुनरुत्थान के प्रयासी गौडीय महानुभाव—

सांप्रदायिक गति-विधि—जैसा पहिले लिखा गया हे, वलदेव विद्याभूषरण के पश्चात् इस सप्रदाय मे कोई ऐसा सर्वमान्य धर्माचार्य नही हुग्रा, जो साप्रदायिक गौरव वनाये रखने मे समर्थ होता, और वगाल एव उडीसा के चैतन्य मतानुयायी भक्तो पर व्रज का धार्मिक अनुशासन कायम रखता। फिर अहमदशाह् अब्दाली के आक्रमरणो ने व्रज का ऐसा भीषरण विनाश किया कि उससे राजनैतिक और आर्थिक गति-रोध के साथ ही साथ धार्मिक ह्रास भी प्रचुर परिमारण मे हुग्रा था। यद्यपि उस काल मे व्रज की धार्मिक स्थिति वडी शोचनीय हो गई थी, तथापि इसके पूर्व गौरव की व्यापक प्रसिद्धि के कारण अन्य स्थानो के चैतन्य-भक्त तव भी इसके प्रति श्रद्धावान वने रहे थे। उनमे से जिनको जव कभी सुविधा होती, वे अपने दूरस्थ प्रदेशो से यहाँ आकर वसते, और यहाँ की ह्रासोन्मुखी स्थिति के सुधारने मे अपना महत्वपूर्ण योग देते थे। यहाँ आने वाले धर्मप्राण व्यक्तियो को व्रज के तत्कालीन गौडीय धर्माचार्यो और विरक्त महात्माओ मे वडी प्रेरणा मिलती थी। उन सव के सामूहिक सहयोग से आधुनिक काल मे इस सप्रदाय के पुनरुत्थान के जो प्रयत्न किये गये, उनका सक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है।

समृद्धिशाली भक्तो के प्रयास—चैतन्य सप्रदाय के पुनरुत्थान के लिए समृद्धिशाली भक्तो द्वारा किये गये प्रयास सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। औरगजेवी शासन मे इस सप्रदाय के जो प्रसिद्ध मदिर नष्ट-भ्रष्ट किये गये थे, वे प्रचुर काल तक ध्वसावस्था मे पडे रहे थे। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, उनके देव-विग्रहो को वृंदावन से हटा कर जयपुर मे प्रतिष्ठित कर दिया गया था। उसके कारण व्रज मे निवास करने वाले गौडीय भक्तो को अपने उपास्य देवो की सेवा-पूजा करने का समुचित साधन नही रहा था। उस असुविधा को दूर करने के लिए इस सप्रदाय के समृद्धिशाली भक्तो ने वृ दावन मे कितने ही मदिर-देवालयो का निर्माण कराया था। ऐसे समृद्ध भक्तो मे नदकुमार वसु, कृष्णचद्र सिह (लाला वावू), शाह कुदनलाल-फुदनलाल (ललित किशोरी-ललित माधुरी), भैया वलवतराव सिंधे और वनमाली वावू (तराश वाले) के नाम अधिक प्रसिद्ध है।

नंदकुमार वसु—वह एक समृद्धिशाली वगाली भक्त था। जव वह तीर्थ-यात्रा करते हुए वृ दावन आया, तव यहाँ के मदिर-देवालयो की दुर्दशा देख कर वह वडा दुखी हुग्रा था। उसने वृ दावन के प्राचीन गौडीय देव-स्थानो के निकट नये मदिरो का निर्माण करा कर उनमे मूल स्वरूपो के प्रतिभू विग्रह प्रतिष्ठित किये थे। इस प्रकार श्री गोविददेव जी, श्री मदनमोहन जी और श्री गोपीनाथ जी के नये मदिर स १८७७ मे वनवाये गये। वही मदिर इस समय भी वृ दावन के गौडीय देव-स्थानो मे अग्रगण्य है। पुराने मदिरो की देख-भाल भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग के नियत्रण मे होती है।

कृष्णचंद्र सिह (लाला वावू)—वह वगाल के धनी-मानी कायस्थ परिवार का एक श्रद्धालु भक्त था। अपनी युवावस्था मे ही घर के राजसी वैभव से विरक्त होकर वह स. १८७० के लगभग व्रज-वास करने को आया था। उसने लाखो रुपया लगा कर यहाँ मदिर धर्मशाला, घाट, कुड-सरोवर आदि का निर्माण कराया और अन्न-क्षेत्र की व्यवस्था की थी। उसके व्यय के लिए उसने वहुत वडी जिमीदारी खरीदी थी। वह 'लाला वावू' के नाम से प्रसिद्ध था। उसने

वृ दावन मे जो विशाल मदिर बनवाया, वह 'लाला बाबू' का मदिर कहलाता है। वह गोवर्धन के गौडीय महात्मा कृष्णदास (सिद्ध बाबा) का बडा भक्त था, और मथुरा के सेठ मनीराम-लक्ष्मीचद से उसका मैत्री-भाव था। ऐसा कहा जाता है, किसी भूमि के स्वामित्व के सबध मे लाला बाबू और सेठो मे कुछ मनोमालिन्य हो गया था, जिसके कारण दोनो मे बोल-चाल भी बद हो गई थी। जब वह बात सिद्ध बाबा को ज्ञात हुई, तो उन्होने लाला बाबू से कहा,—'तुम ब्रज मे भक्ति-साधना करने को आये हो, या ईर्ष्या-द्वेष करने !' उस पर लाला बाबू सेठो से क्षमा मांगने उनके निवास-स्थान पर गया। उसकी विनम्रता देख कर वे उसके पैरो पर गिर पडे। इस प्रकार उन धर्मप्राण महापुरुषो का क्षणिक मनोमालिन्य पूर्ववत् स्नेह मे परिवर्तित हो गया। लाला बाबू का देहावसान गोवर्धन मे एक घोडे की अकस्मात लात लग जाने की चोट से हुआ था। उसका अतिम सस्कार वृ दावन मे किया गया। देहावसान के समय उसकी आयु केवल ४० वर्ष की थी।

शाह कुदनलाल-फुदनलाल—वे दोनो भाई अग्रवाल कुलोत्पन्न लखनऊ के धनाढ्य जौहरी थे। उनका जन्म क्रमश स १८८२ और स १८८५ मे हुआ था। अपनी युवावस्था मे ही वे भक्ति-मार्ग की ओर आकृष्ट हो गये थे। उन्होने लखनऊ छोड कर वृ दावन मे निवास किया और अपनी धार्मिक एव साहित्यिक देन से ब्रज की सास्कृतिक स्थिति को समृद्ध किया था। उन्होंने वृ दावन के राधारमणीय गोस्वामी राधागोविंद जी से चैतन्य सप्रदाय की दीक्षा ली थी, और श्री राधारमण जी के मदिर-निर्माण मे योग दिया था। स १९२५ मे उन्होने वृ दावन मे सगमरमर का एक विशाल कलात्मक मदिर बनवाया, जो 'शाह जी का मदिर' कहलाता है। वे परम भक्त होने के साथ ही साथ ब्रजभापा के सुकवि भी थे। उनके काव्योपनाम क्रमश 'ललित किशोरी' और 'ललित माधुरी' थे। उनका देहावसान क्रमश स १९३० और स १९४२ मे हुआ था। उनके वशज शाह गौरशरण वृ दावन के प्रतिष्ठित नागरिक और उत्साही सार्वजनिक कार्यकर्त्ता हैं।

भैया बलवतराव सिंधे—वे ग्वालियर-नरेश जयाजीराव सिंधे के पुत्र थे। उनका जन्म स १९११ की आपाढ कृ. ११ को लश्कर मे हुआ था। राजकीय पुरुप होते हुए भी उनकी वृत्ति आरभ से ही भक्ति और वैराग्य की ओर थी। वे ब्रज के परमोपासक थे, और गोवर्धन-वृ दावन आदि लीला-स्थलो मे आ कर भक्ति-साधना किया करते थे। उन्होने महात्मा हरिचरणदास जी से चैतन्य सप्रदाय की दीक्षा ली थी। वे धर्मनिष्ठ, साधुसेवी और उदारमना महापुरुप थे। उन्होंने ब्रज मे लाखो रुपया धर्मार्थ लगा कर अपनी दानशीलता का परिचय दिया था। उनके धर्मार्थ कार्यों मे मथुरा का 'श्री राधा-माधव भडार ट्रस्ट' और गोवर्धन का 'श्री कृष्ण चैतन्यालय ट्रस्ट' उल्लेखनीय है। मथुरा ट्रस्ट द्वारा १३५ भजनानदी साधुओ को मासिक वृत्ति देने की व्यवस्था है, और गोवर्धन ट्रस्ट द्वारा कुसुम सरोवर के देवालय की सेवा का प्रबध किया जाता है। उक्त देवालय 'ग्वालियर वाला मदिर' कहलाता है। इन ट्रस्टो की व्यवस्था और मदिर-निर्माण के अतिरिक्त उन्होने ब्रजभाषा भक्ति-काव्य की रचनाएँ भी की थी। उनका देहावसान स १९८१ की पौप कृ. ११ को ७० वर्ष की आयु मे हुआ था।

बनमाली बाबू—वे तराश जिला पावना के धनाढ्य बगाली भक्त थे। उनका जन्म स १९२१ मे हुआ था। वे आरभ से ही धार्मिक और उदार प्रवृत्ति के थे। स १९५२ मे उन्होने अपनी समस्त सम्पत्ति अपने उपास्य ठाकुर श्री राधाविनोद जी के नाम कर दी थी। फिर वे अपने परिवार और ठाकुर जी को लेकर ब्रज मे आ गये थे। उन्होने पहिले ब्रज के राधाकुड नामक

लीला-स्थल मे निवास किया और बाद मे वे वृदावन मे रहने लगे थे। उन्होने दोनो स्थानो मे मदिर बनवाये थे। वे अपने उपास्य देव के प्रति दामाद की सी भावना रखते थे, और उन्हे 'जमाई ठाकुर' कहते थे। वृदावन मे निर्मित उनका देवालय 'जमाई ठाकुर का मदिर' कहलाता है। मदिर-निर्माण के अतिरिक्त उन्होने विद्यालय, औषधालय, धर्मशाला, अन्नक्षेत्र आदि की भी व्यवस्था की थी। उनके अनेक जनोपयोगी कार्यो मे धार्मिक ग्रथो का प्रकाशन सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उन्होने चैतन्य सप्रदाय के विविध ग्रथो के साथ ही साथ अष्ट टीका युक्त श्रीमद् भागवत का प्रकाशन भी कराया था। उनका देहावसान स १९७२ मे वृदावन मे हुआ था।

गौड़ीय धर्माचार्यो की देन—चैतन्य महाप्रभु के प्रेमधर्म को व्यवस्थित रूप से प्रसारित करने के लिए जिन गौडीय धर्माचार्यो ने ब्रज-वृदावन मे निवास किया था, उनमे से सर्वश्री सनातन, रूप, जीव, गोपाल भट्ट, नारायण भट्ट, कृष्णदास कविराज की देन बडी महत्वपूर्ण रही है। उनके अतिरिक्त सर्वश्री रामराय–चद्रगोपाल और गदाधर भट्ट का योग भी उल्लेखनीय है। जब औरगजेब के भीषण दमन–चक्र से ब्रज मे घोर धार्मिक सकट उत्पन्न हो गया था, तब सर्वश्री सनातन, रूप, जीवादि के उपास्य देव ब्रज से हटा कर राजस्थान मे प्रतिष्ठित किये गये थे। उस समय उनके परिकर के भक्त गण भी यहाँ से चले गये थे, जिसके कारण उनका ब्रज से बहुत कम सबध रह गया था। किंतु सर्वश्री गोपाल भट्ट, नारायण भट्ट, रामराय–चद्रगोपाल और गदाधर भट्ट की परपरा के अनेक भक्त गण उस काल मे भी ब्रज मे निवास करते रहे थे। उन्होने इस सप्रदाय की स्थिति को सुधारने का भी यथासाध्य प्रयत्न किया था।

नारायण भट्ट जी के वशजो और शिष्यो ने ब्रज के ऊँचागाँव तथा बरसाना मे निवास कर उस क्षेत्र को अपनी धार्मिक गति-विधि का केन्द्र बनाया। उनमे नारायणदास श्रोत्रिय और उनके वशज बरसाने के गोस्वामी गण का योग उल्लेखनीय है। रामराय–चद्रगोपाल जी की परपरा के भक्त गण वृदावन मे निवास करते रहे। उनमे सर्वश्री राधिकानाथ, ब्रह्मगोपाल और नदकिशोर अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। ब्रह्मगोपाल जी बडे प्रतापी पुरुष हुए। अगरेजी शासन कायम होने से पहिले जब ब्रज मे मरहठो का प्रभुत्व था, तब ब्रह्मगोपाल जी ने अपनी विद्वत्ता से सिंधिया सरदार को प्रभावित कर उनके आदेश से वृदावन मे 'ब्रह्मपुरी' बसायी थी। उनके पौत्र नदकिशोर जी सस्कृत के बडे विद्वान और भागवत के विख्यात वक्ता हुए। उन्होने 'ब्रह्मपुरी' मे श्रीराधा–माधव जी का मदिर बनवाया और सस्कृत एव ब्रजभाषा मे अनेक काव्य–रचनाएँ की। इस समय उनके वश मे श्री यमुनावल्लभ जी अच्छे विद्वान है। गदाधर भट्ट जी की परपरा मे रसिकोत्तम जी और उनके भाई वल्लभरसिक जी अधिक प्रसिद्ध हुए है। रसिकोत्तम जी सस्कृत के और वल्लभरसिक जी ब्रजभाषा के विख्यात भक्त-कवि थे। उनके उपरांत गोवर्धन भट्ट जी और मधुसूदन भट्ट जी भी प्रसिद्ध विद्वान हुए। इस समय उनके वशज गोवर्धनलाल जी और उनके पुत्र कृष्णचैतन्य जी अपने वश की परपरा को कायम रखे हुए है। इन सभी चैतन्य सप्रदायी घरानो की अपेक्षा श्री गोपालभट्ट जी के परिकर द्वारा आधुनिक काल मे इस सप्रदाय का अधिक हित–साधन हुआ है।

गोपाल भट्ट जी के परिकर का योग—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, श्री गोपाल भट्ट जी के शिष्यो मे श्रीनिवासाचार्य जी और गोपीनाथ जी प्रमुख थे। श्रीनिवासाचार्य जी को बगाल मे चैतन्य सप्रदाय के प्रचार का कार्य सौंपा गया था, और गोपीनाथ जी को वृदावन मे रह कर श्री राधारमण जी की सेवा करने का आदेश दिया गया था। गोपीनाथ जी विरक्त होने के

कारण अविवाहित थे, अत उनके छोटे भाई दामोदरदास जी उनके उत्तराधिकारी हुए थे। दामोदरदास जी गृहस्थ थे। उनके वशज सदा से श्री राधारमण जी के सेवा-अधिकारी रहे हैं। इन्हे 'राधारमण जी के गोस्वामी' कहा जाता है, और इनके अनेक परिवार वृदावन के श्री राधा-रमण जी के घेरा मे स्थित है। इन गोस्वामियो एव इनके शिष्य-प्रशिष्यो द्वारा चैतन्य सप्रदाय का बडा प्रचार हुआ है, और इन्होने ब्रजभाषा साहित्य के निर्माण मे भी महत्वपूर्ण योग दिया है। औरगजेवी शासन-काल के वाद से तो राधारमणीय गोस्वामियो के परिकर ने ही ब्रज मे चैतन्य सप्रदाय का प्रमुख रूप से प्रतिनिधित्व किया है।

मनोहरराय जी, प्रियादास जी और वैष्णवदास जी—१८ वी शताब्दी मे गोपालभट्ट जी की शिष्य-परपरा मे मनोहरराय जी विख्यात महात्मा हुए। उनकी एक रचना 'श्री राधारमण रस सागर' है, जिसकी पूर्ति स १७५७ की श्रावण कृ ५ को वृदावन मे हुई थी। उनके शिष्य प्रियादास जी थे, जिन्होने नाभा जी कृत भक्तमाल की सुप्रसिद्ध 'भक्ति रस बोधिनी' नामक टीका की पूर्ति स १७६९ की फाल्गुन कृ ७ को की थी। उनकी अन्य रचनाएँ अनन्यमोदिनी, चाहवेली, भक्त सुमरिनी और रसिकमोहिनी हैं। इन्हे बाबा कृष्णदास ने 'प्रियादास ग्रथावली' के रूप मे प्रकाशित किया है। प्रियादास जी के पौत्र वैष्णवदास थे। उनका उपनाम 'रसजानि' था। उन्होंने अनेक ग्रथो की रचना की थी, जिनमे 'भागवत भाषा' और 'गीतगोविंद भाषा' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'भागवत भाषा' सपूर्ण श्रीमद् भागवत का सरल ब्रजभाषा अनुवाद है, जिसमे प्राय १५ हजार छद हैं। इस विशाल ग्रथ की रचना-पूर्ति स १८०७ की ज्येष्ठ कृ ६ को हुई थी। 'गीतगोविंद भाषा' की पूर्ति की तिथि स. १८१४ की मार्गशीर्ष कृ ८ लिखी मिलती है।

आधुनिक काल मे श्री गोपालभट्ट जी के परिकर मे जो विशिष्ट महानुभाव हुए हैं, उनमे से कुछ का सक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

गो गल्लू जी—वे दामोदरदास जी के वशज और श्री राधारमण जी के गोस्वामी एव माध्व गौडेश्वराचार्य थे। उनका जन्म स. १८८४ की ज्येष्ठ कृ ८ को वृदावन मे हुआ था। वे भगवद्भक्त, चैतन्य सप्रदाय के भक्ति-तत्व के प्रसिद्ध व्याख्याता और ब्रजभाषा के सरस भक्त-कवि थे। उनका उपनाम 'गुणमजरीदास' था। उन्होने इस सप्रदाय का बडा प्रचार किया था और कई स्थानो मे श्री राधारमण जी के मदिर बनवाये थे। वृदावन मे उन्होने श्री षड्भुज महाप्रभु जी के मदिर की स्थापना की थी। उनका देहावसान ६३ वर्ष की आयु मे सं १९४७ की मार्गशीर्ष कृ १ को वृदावन मे हुआ था। उनके पुत्र सुप्रसिद्ध गो राधाचरण जी थे।

गो राधाचरण जी—उनका जन्म स. १९१५ की फाल्गुन कृ ५ को वृदावन मे हुआ था। उनकी गणना आधुनिक हिंदी साहित्य के निर्माताओ मे की जाती है। वे भारतेन्दु हरिश्चंद जी के परम भक्त और उनके परिकर के प्रमुख साहित्यकार थे। गोस्वामी कुल मे उत्पन्न और वैष्णव धर्म के प्रचारक होते हुए भी वे समाज-सुधारक और प्रगतिशील धार्मिक विचारो के थे। उन्होने विधवा-विवाह के समर्थन मे पुस्तक-रचना कर उस काल के रूढिवादी समाज मे बडी उथल-पुथल मचा दी थी। धर्म-प्रचार, समाज-सुधार और जन-कल्याण के कार्यो मे सक्रिय होते हुए भी उनका मुख्य क्षेत्र साहित्य था। उन्होने देशोपकार और समाज-सुधार से सबधित काव्य, नाटक, उपन्यास, व्यग, रूपक आदि की अनेक छोटी-बडी रचनाएँ की थी, और 'भारतेन्दु' नामक मासिक पत्र का सपादन-प्रकाशन किया था। उनका देहावसान ६७ वर्ष की आयु मे स १९८२ मे हुआ था। उनके पुत्र

उन्होने प्रचुर काल तक ब्रज मे निवास कर गौडीय सम्प्रदाय की रागानुगा भक्ति और भगवान् श्रीकृष्ण एव श्री चैतन्य महाप्रभु की अष्टकालीन लीलाओं का व्यापक प्रचार किया था। उनकी 'अष्टयाम भजन पद्धति' की उस काल मे बडी ख्याति हुई थी। उनके प्रयत्न मे चैतन्य सम्प्रदाय की तत्कालीन धार्मिक स्थिति को बडा बल मिला था, और यहाँ के धर्म-सम्प्रदायों मे इसके महत्व की पुन प्रतिष्ठा हो गई थी। उनके सत्सग के प्रभाव से बगाल के धनाढ्य नाना बाबू भक्ति मार्ग के अनुगामी हुए, और कई भक्त महानुभाव भजन-साधना मे विशिष्टता प्राप्त कर 'सिद्ध बाबा' के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। वे ७० वर्ष से भी अधिक काल तक ब्रज मे रहे थे। उनका देहावसान ८८ वर्ष की आयु मे स. १९४६ की आश्विन शु ४ को हुआ था। उनकी भजन कुटी गोवर्धन मे चकलेश्वर के निकट विद्यमान है। उनके शिष्यो मे बाबा नित्यानददास, माट् मडल के बाबा बलरामदास और बाबा कृष्णदास (दूसरे सिद्ध बाबा) के नाम प्रसिद्ध है।

दूसरे सिद्ध बाबा—वे गोवर्धन के कृष्णदास सिद्ध बाबा के वरिष्ठ शिष्य थे, और उनका नाम भी कृष्णदास था। वे भी अपनी उपासना-शक्ति, भजन-साधना और विद्वत्ता मे विशेष ख्याति प्राप्त कर 'सिद्ध बाबा' के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। इस प्रकार वे गोवर्धन के दूसरे सिद्ध बाबा थे। उन्होने प्रार्थना तरगिणी, भावना सार सग्रह, साधनामृत चद्रिका आदि भक्ति-ग्रथो की रचना की थी, और अपने गुरु द्वारा निर्मित 'अष्टयाम भजन पद्धति' का विशद प्रचार किया था।

रनवाड़ी और नदगाँव के सिद्ध बाबा—ब्रज की छाता तहसील के रनवाडी नामक स्थल मे एक भजनानदी महात्मा निवास करते थे। वे बगाली थे, और उनका पूर्व नाम कृष्णप्रसाद चट्टोपाध्याय था। वे भी युवावस्था मे विरक्त होकर ब्रज मे आ गये थे, और विविध स्थानो मे उपासना-भक्ति और सत-महात्माओं का सत्सग करते रहे थे। अत मे उन्होंने रनवाडी के एकात स्थल मे प्राय ५० वर्ष तक बडी निष्ठा के साथ भजन किया था। गोवर्धन के सिद्ध बाबा से उनका सख्य भाव था, और उनके गुरु भाई बाबा प्रेमदास थे। वे रनवाडी के सिद्ध बाबा कहलाते थे। इस प्रकार वे इस उपनाम से प्रसिद्ध तीसरे विशिष्ट भक्त थे। जब वे शताधिक वर्ष के हो गये, तब अपनी जीर्ण-शीर्ण काया को अतर् की अग्नि से ही दग्ध कर वे परमधाम के वासी हुए थे। उनकी समाधि रनवाडी मे बनी हुई है। ब्रज के सुप्रसिद्ध लीला-स्थल नदगाँव मे उस समय एक विख्यात गौडीय महात्मा निवास करते थे। वे नदगाँव के सिद्ध बाबा कहलाते थे, जो इस विशिष्ट उपनाम से प्रसिद्ध चौथे महानुभाव थे।

अन्य गौडीय साधु–महात्मा—आधुनिक काल के गौडीय महात्माओ मे पूर्वोक्त सिद्ध बाबाओ के अतिरिक्त जिनके नामो की अधिक प्रसिद्धि है, उनमे से कुछ का सक्षिप्त उल्लेख किया जाता है। सिद्ध नारायणदास मथुरा के एक चमत्कारी महात्मा थे। उनका निवास स्थान यहाँ के वैरागपुरा मुहल्ला मे था, जो अब 'नारायणदास का स्थल' कहलाता है। उनके अलौकिक चमत्कारो की अनेक किंवदतियाँ प्रचलित है। बाबा मनोहरदास गोवर्धन के गोविंदकुड पर निवास करने वाले एक विख्यात भजनानदी महात्मा थे। वे अत्यत वृद्धावस्था तक अपने भजन-प्रताप से धर्मप्राण व्यक्तियो को लाभान्वित करते रहे थे। बाबा अवधदास विहारी महात्मा थे। उनकी श्रीमद्भागवत के प्रति अपूर्व निष्ठा थी। वे प्रचुर काल तक वृदावन मे निवास कर शताधिक वर्ष की आयु मे ब्रज-रज मे लीन हुए थे। बाबा रामकृष्णदास राजस्थानी महात्मा थे। उनका जन्म जयपुर जिला के एक गौड ब्राह्मण कुल मे स १९१४ मे हुआ था। उन्होने गोवर्धन स्थित सिद्ध बाबा के शिष्य

नित्यानददास बाबा से चैतन्य सप्रदाय की दीक्षा ली थी। वे प्रकाड विद्वान, भक्ति-तत्व के महान् ज्ञाता और परम भक्त थे। उस काल के बडे-बडे विद्वान और समृद्धिशाली भक्त जन उनके दर्शन एव सत्सग के इच्छुक रहते थे। वे 'पडित बाबा' के नाम से प्रसिद्ध थे। उनका देहावसान स १९९७ मे हुआ था। बाबा कृष्णप्रसाददास भी पूर्वोक्त बाबा नित्यानददास के शिष्य थे। उन्होने पहिले वृ दावन मे निवास कर श्री राधारमण जी की उपासना की थी, फिर वे पूँछरी और कामबन मे अधिक रहने लगे थे। वे बडी भारी गूदडी धारण करते थे, जिसके कारण 'गूदडी बाबा' कहलाते थे। बाबा हरिदास बगाली महात्मा थे। वे तीर्थ-स्थानो के अनेक साधु-सतो का सत्सग करने के उपरात व्रज मे आकर बाबा रामकृष्णदास के सान्निध्य मे रहे थे। फिर उन्ही के परामर्श से वे गोविंदकुड के बाबा मनोहरदास के शिष्य हुए थे। बाबा माधवदास व्रजवासी महात्मा थे, और पूँछरी पर निवास करते थे। इनके अतिरिक्त बाबा गौरागदास जी, प्रियाशरणदास जी, कृष्णानददास जी, हरिबाबा जी, कृपासिधुदास जी, किशोरीदास जी आदि विरक्त सतो तथा पुरुषोत्तम जी जैसे गृहस्थ गोस्वामियो के कारण चैतन्य सप्रदाय को गौरव प्राप्त हुआ है।

इस संप्रदाय के वर्तमान महात्माओ मे बाबा कृष्णदास का बडा महत्व है। इन्होने गौडीय साहित्य के दुर्लभ हस्तलिखित ग्र थो का परिश्रमपूर्वक अनुसधान कर उन्हे टीका सहित प्रकाशित किया है। इनके द्वारा प्रकाशित छोटे-बडे ग्र थो की सख्या ७०–८० के लगभग है। जो कार्य साधन-सम्पन्न बडी-बडी सस्थाओ और धनी-मानी व्यक्तियो से भी कठिनता से हो पाता, उसे इन साधनहीन और मधुकरी वृत्ति के विरक्त महात्मा ने अकेले ही सम्पन्न किया है। यह इनके अदम्य उत्साह और उत्कट लगन का सुफल है। झूसी के महान् सत श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी भी इन

राधाकुंड—सर्वश्री माधवेन्द्रपुरी, चैतन्य महाप्रभु और जीव गोस्वामी के विश्राम-स्थल, रघुनाथदास गोस्वामी और कृष्णदास कविराज की भजन-कुटियाँ एव समाधि-स्थल; जान्हवा घाट पर श्री नित्यानद जी की पत्नी जान्हवा ठकुरानी जी का स्मृति स्थल, वहाँ के मदिर मे श्री चैतन्य महाप्रभु का प्राचीन चित्र ।

वृंदावन—इमली तला पर श्री चैतन्य महाप्रभु के विश्राम और कीर्तन का स्थल; शृगार वट पर नित्यानद जी का स्मृति-स्थल; गौडीय गोस्वामियो के निवास-स्थल और उनके सेव्य स्वरूपो के प्राचीन एव नवीन मदिर-देवालय; द्वादशादित्य टीला पर श्री सनातन गोस्वामी की भजन-कुटी और उनके सेव्य ठाकुर मदनमोहन जी का प्राचीन मदिर, उसके निकट मदनमोहन जी का नया मदिर, सनातन गोस्वामी की फूल-समाधि और ग्रथ-समाधि, सूरदास मदनमोहन का समाधि-स्थल; गोमा टीला पर श्री रूप गोस्वामी के सेव्य ठाकुर गोविंददेव जी का प्राचीन मदिर और उसके समीप का नया मदिर, उडीसा के राजा प्रतापरुद्र के पुत्र पुरुषोत्तम देव ने जगन्नाथ पुरी से श्री राधिका जी का विग्रह वृदावन भेजा था, जिसे गोविंददेव जी के वाम पार्श्व मे प्रतिष्ठित किया गया था, वशीवट पर श्री मधु पडित के सेव्य ठाकुर गोपीनाथ जी का प्राचीन मदिर, जान्हवा ठकुरानी जी द्वारा समर्पित श्री राधिका जी का विग्रह श्री गोपीनाथ जी के वाम पार्श्व मे प्रतिष्ठित किया गया था, पुराने शहर मे श्री जीव गोस्वामी के सेव्य ठाकुर श्री राधादामोदर जी का देव-स्थान, उसके निकट सर्वश्री रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी और कृष्णदास कविराज की भजन-कुटियाँ और फूल-समाधियाँ, राधारमण जी के घेरे मे श्री गोपाल भट्ट जी के सेव्य ठाकुर श्री राधारमण जी का मदिर, इसमे श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रदत्त आसन-पीठ, मदिर के समीप श्री गोपाल भट्ट जी और उनकी परपरा के राधारमणीय गोस्वामियो की समाधियाँ तथा निवास-स्थल, उसके निकटवर्ती श्री विनोदीलाल जी एव गोकुलानद जी के मदिर, उनमे लोकनाथ जी और उनके शिष्य नरोत्तमदास ठाकुर की तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती की फूल-समाधियाँ, रगजी के मदिर के समीपवर्ती 'चौसठ महतो के समाधि-स्थल' मे श्री रघुनाथ भट्ट गोस्वामी तथा चैतन्य सप्रदायी विविध सत-महात्माओ की समाधियाँ, पुराने शहर की भट्ट गली मे भक्तवर गदाधर भट्ट जी के सेव्य श्री मदनमोहन जी का मदिर, ब्रह्मपुरी मुहल्ला मे रामराय जी—चद्रगोपाल जी के सेव्य श्री राधा-माधव जी का मदिर, इनके अतिरिक्त लाला बाबू, शाह जी और षट्भुज महाप्रभु जी के मदिर तथा अन्य गौडीय देव-स्थान ।

अन्य लीला-स्थल—बरसाना मे श्री लाडिली जी का मदिर, नारायणदास श्रोत्रिय की वश-परपरा के गोस्वामियो के निवास-स्थान । ऊँचागांव मे नारायणभट्ट जी की समाधि । रनवाडी मे सिद्ध कृष्णदास बाबा की भजन-कुटी और समाधि ।

वर्तमान स्थिति—चैतन्य सप्रदाय के आरभिक धर्माचार्यो और सत-महात्माओ मे प्रकाड विद्वत्ता, अनुपम भक्ति-साधना, अपूर्व वैराग्य-वृत्ति एव अतिशय विनम्रता के ऐसे दिव्य गुण थे कि जिनके कारण इसका व्यापक प्रचार हुआ था और इसकी बडी ख्याति हुई थी । किंतु जब से उक्त गुणो का अभाव होने लगा, तब से इसकी प्रगति और प्रसिद्धि मे भी बहुत कमी आ गई है । ब्रज के अन्य धर्म-सप्रदायो की भाँति इसकी भी वर्तमान स्थिति सतोषजनक नही है । बगाल मे इसकी स्थिति सुधारने का कुछ प्रयत्न किया गया है, उसी प्रकार ब्रज मे भी होना चाहिए । ब्रज के वर्तमान गौडीय महात्मा इसके पुनरुत्थान के लिए प्रयत्नशील हैं ।

निंबार्क संप्रदाय

श्री स्वभूराम जी—नागा जी की परंपरा के संत-महंत और देव-स्थान—

श्री स्वभूराम जी की शिष्य-परंपरा—जैसा पहिले लिखा गया है, श्री हरिव्यासदेव जी के १२ प्रधान शिष्यो मे श्री स्वभूराम जी प्रथम थे। उनका प्रधान कार्य-क्षेत्र हरियाना रहा था; किंतु उनकी शिष्य-परपरा के विरक्त सतो ने अन्य स्थानो मे भी अपनी गद्दियाँ स्थापित की थी, और देवालय बनवाये थे। व्रज मे वृदावन और मथुरा मे उनके कई देव-स्थान निर्मित हुए, जो उनकी शिष्य-परपरा के विरक्त सतो के अधिकार मे है। मथुरा मे विश्राम बाजार के श्री राधाकात मदिर और असिकुडा घाट के हनुमान मदिर पर भी इसी परपरा के महतो का आधिपत्य है। श्री स्वभूराम जी की परपरा के जो सत-महत आधुनिक काल मे व्रज मे हुए हैं, उनमे से कुछ का परिचय यहाँ दिया जाता है।

गोपालदास जी—उनका जन्म स १८७२ के लगभग गौड ब्राह्मण कुल मे हुआ था। चार धाम की यात्रा करने के पश्चात् वे व्रज मे आकर कामवन मे रहे थे। वहाँ के श्री गोपाल मदिर के महत रघुवरदास जी से उन्होने भागवतादि ग्र थो का अध्ययन किया था। फिर वे वृदावन मे निवास करने लगे थे। उन्होने निंवार्क सप्रदाय के आचार्यों की जयती मनाना आरभ किया। वे बडे समारोह पूर्वक आचार्योत्सव, रास और भागवत—कथा के आयोजन करते थे। उनके शिष्यो मे बाबा हसदास जी और ब्रह्मचारी राधेश्याम जी प्रमुख थे।

हसदास जी—उनका जन्म स. १९१६ मे लखनऊ जिला के काकोरी कस्बा मे हुआ था। वे युवावस्था मे ही महात्मा गोपालदास जी के शिष्य हुए, और बरसाना एव वृदावन मे भजन करते थे। वे भागवत के प्रसिद्ध वक्ता और भजनानदी महात्मा थे। उनका देहावसान स. १९९४ मे हुआ था।

राधेश्याम ब्रह्मचारी—उनका जन्म स १९२० मे अलीगढ जिला के गोरई गाँव मे हुआ था। वे युवावस्था मे ही विरक्त होकर वृदावन आ गये थे, और निंबार्कीय उत्सवकर्त्ता महात्मा गोपालदास जी के शिष्य हुए थे। स १९७१ मे जब जयपुर नरेश माधवसिंह जी द्वारा निर्मित बरसाना का मदिर पूरा हुआ, तब उन्हे वहाँ का महत बनाया गया था[1]। उनकी भक्ति—भावना और त्याग-वृत्ति से उक्त देव-स्थान की बडी प्रसिद्धि हुई थी। प्राय ३० वर्ष तक अत्यत निष्ठा पूर्वक उसका सचालन करने के उपरात उनका देहावसान हुआ था।

रामचंद्रदास जी—उनका जन्म बूँदी राज्य के एक गाँव मे स १९२३ मे हुआ था। वे युवावस्था मे ही विरक्त होकर श्री स्वभूराम जी की परपरा के स्वामी रामदास जी के शिष्य हुए थे। बाद मे वे वृदावन आकर वहाँ की दतिया वाली कुज मे रहने लगे थे। उन्होने मुखिया गोकुलदास के सहयोग से महावाणी का उत्सव करना आरभ किया था, जो प्रति वर्ष फाल्गुन के कृष्ण पक्ष मे होता है। उनके द्वारा साप्रदायिक ग्र थो का प्रकाशन और नि.शुल्क वितरण किया गया था। उन्होने निंबार्क सप्रदाय का बडा प्रचार किया था। उनका देहात ८० वर्ष की आयु मे सं. २००३ की पौष शु ७ को वृदावन मे हुआ था।

---

(१) निंबार्क माधुरी, पृष्ठ ७७४—७७५

वालगोविंददास जी—वे विहारी भक्त जन और निंबार्कीय महात्मा रूपदास जी के विरक्त शिष्य थे। उन्होने ब्रज मे आ कर वृ दावन मे निवास किया था और यहाँ की नागरमडी मे एक मदिर बनवा कर इसमे निंबार्क सप्रदाय के आचार्य पचायतन की प्रतिष्ठा की थी, तथा 'निंबार्क कोट' का निर्माण कराया था। उनके द्वारा इस सप्रदाय की उपासना–भक्ति और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का प्रचुर प्रचार हुआ था। वे कथा–कीर्तन और उत्सव–समारोह भी नियमित रूप से किया करते थे।

नारायण दास जी—वे इस सप्रदाय की विहार राज्य स्थित कोयल।देवा की गद्दी के विरक्त शिष्य थे। उन्होने प्राय एक शताब्दी पूर्व मथुरा के विश्राम बाजार मे श्री [illegible] जी का मदिर वनवाया था, जिसके वे महत हुए थे। उनके पश्चात् जयरामदास जी, नरहरिगोविंदशरण जी, रामानदशरण जी और हरिप्रियाशरण जी यहाँ के महत हुए थे। स १९८७ से हरिप्रियाशरण जी के शिष्य ब्रजमोहनशरण जी इस स्थान के महत हैं[1]।

श्री चतुरचिंतामणि (नागा जी) की शिष्य-परंपरा—श्री नागा जी श्री स्वभूराम जी की शिष्य–परपरा मे सर्वाधिक प्रसिद्ध महात्मा हुए हैं। उन्होने अपनी भक्ति-भावना द्वारा ब्रज के ग्रामीण भाग मे निवार्क सप्रदाय का व्यापक प्रचार किया था। उनके उपास्य ठाकुर श्री विहारी जी भरतपुर किला के मदिर मे और श्री अटलविहारी जी वृ दावन के विहारघाट स्थित देव-स्थान मे विराजमान हैं। नागा जी का प्राचीन चित्र और उनकी गुदडी एव माला भरतपुर के मदिर मे है, और उनके चरण–चिह्न विहारघाट के देव-स्थान मे हैं। जैसा पहिले लिखा गया है, नागा जी ब्रज की परिक्रमा के वडे प्रेमी थे और अपनी अपूर्व ब्रज-निष्ठा के कारण 'ब्रज दूलह' कहलाते थे। उनकी भरतपुर गद्दी के महतो की पदवी 'ब्रज दूलह' रही है, और ब्रज की गद्दी के परिक्रमा-प्रेमी महत 'ब्रज विदेही' कहलाते हैं। वृ दावन मे रामगुलेला, कैमार वन, काठिया वावा के नये-पुराने निंवार्काश्रम, विहारी जी का वगीचा, जुगल भवन, निंबार्क सदन, तथा पैगाँव और पानीघाट आदि के धार्मिक स्थान नागा जी की शाखा के सत-महतो के अधिकार मे हैं[2]। इन सत-महतो मे रामगुलेला के महात्मा किशोरदास जी, काठिया रामदास जी, काठिया सतदास जी, तपस्वीराम जी, प. दुलारे-प्रसाद जी आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यहाँ उनका कुछ वृत्तात लिखा जाता है।

महात्मा किशोरदास जी—वे रामगुलेला स्थान के महत और 'ब्रज विदेही' पद पर अभिषिक्त थे। उन्होने भक्तमाल की कथा का प्रवचन और कुभ पर्वो पर साधु-सतो का सत्कार करने मे वडी प्रसिद्धि प्राप्त की थी। उनके परिकर मे भीष्मदास जी (पुष्कर), श्यामदास जी, राधे वावा जी आदि अनेक सत-महत हुए हैं। इस स्थान के वर्तमान महत नरहरिदास जी हैं।

काठिया वावा रामदास जी—वे पजावी महात्मा थे, और अपने आरंभिक जीवन मे ही भक्ति मार्ग की ओर आकृष्ट हो गये थे। उन्होने विरक्त भाव से चारो धामो की यात्रा कर ब्रज मे स्थायी निवास किया था। वे परमहस वृत्ति के सिद्ध महात्मा थे। उनकी उपासना-भक्ति, त्याग-वृत्ति और साधु-सेवा के कारण उन्हे 'ब्रज विदेही महत' की पदवी प्रदान की गई थी। उन्होने वृ दावन मे निवार्क सप्रदाय की प्रगति मे वडा योग दिया था। वे काठ का लगोट धारण करते थे, जिसके कारण 'काठिया वावा' कहलाते थे। उनका देहात स. १९६७ मे हुआ था। उनके अनेक शिष्य थे, जिनमे वावा सतदास जी अधिक प्रसिद्ध हुए हैं।

---

(१) निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण–भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ १४८

(२) श्री सर्वेश्वर का 'वृंदावनांक', पृष्ठ २३२

बाबा संतदास जी—उनका जन्म सं १९१७ में आसाम राज्य के श्रीहट्ट (सिलहट) जिलार्गत बामई गाँव में एक समृद्ध ब्राह्मण कुल में हुआ था। वे अंगरेजी की सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त कर कलकत्ता हाईकोर्ट में वकालत करते थे। उसी समय वे ब्रह्म समाजी हो गये थे और उनका बड़े उत्साह से प्रचार-प्रसार किया करते थे। सं १९६३ में जब वे कुंभ दर्शन के लिए प्रयाग गये थे, तब उन्हें रामदास जी 'काठिया बाबा' से मिलने का सुयोग प्राप्त हुआ था। वे उनके सत्संग और उपदेश से ऐसे प्रभावित हुए कि उनसे दीक्षा लेकर निंबार्क संप्रदायी वैष्णव हो गये थे। जब उनके गुरु का देहांत हो गया, तब उन्हें उनका उत्तराधिकारी एवं 'ब्रज विदेही महंत' बनाया गया। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की, कई देव-स्थानों की स्थापना की और संप्रदाय की उन्नति में बड़ा योग दिया। उनका देहांत सं १९९२ में हुआ था। उनके शिष्य धनंजयदास जी-प्रेमदास जी हैं।

बाबा तपस्वीराम जी—वे श्रीमद् भागवत के विशेषज्ञ विद्वान और भजनानंदी विरक्त महात्मा थे। उनका निवास स्थान वृंदावन में शाहजी मंदिर के निकट भ्रमरघाट पर था। उनके अनेक शिष्य थे, जिनमें पंडित दुलारेप्रसाद जी बड़े प्रगाढ़ विद्वान हुए हैं।

पं. दुलारेप्रसाद जी—वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, और उनका जन्म सं १९२० में कानपुर ज़िला में हुआ था। उन्होंने काशी के विख्यात विद्वान शिवकुमार जी शास्त्री से संस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त कर विविध शास्त्रों का प्रौढ़ ज्ञान अर्जित किया था। वे धुरंधर विद्वान होने के साथ ही साथ परम भक्त भी थे। सं १९५० से वे स्थायी रूप से वृंदावन में रहने लगे थे। उनका मन ब्रज की रस-माधुरी में रम गया और वे महात्मा तपस्वीराम जी के विरक्त शिष्य हो गये। उस समय उनका नाम 'हरिप्रियाशरण जी' रखा गया। उन्होंने दीक्षा तत्व प्रकाश, भगवन्नाम चंद्रिका, युगल कर-चरणाब्ज प्रकाशिका आदि कई ग्रंथों की रचना की थी। वे वृंदावन में व्याकरण और दर्शनादि शास्त्रों की उच्च शिक्षा दिया करते थे। उनका सर्वाधिक उल्लेखनीय कार्य राजर्षि बनमाली बाबू द्वारा प्रकाशित अष्ट टीका युक्त श्रीमद्भागवत के संपादन में योग देना है[1]। वह महाग्रंथ सं. १९६० में वृंदावन से प्रकाशित हुआ था[2]। उनकी विद्वत्ता और भक्ति-भावना से आकृष्ट हो कर अनेक विद्यानुरागी भक्त और समृद्धिशाली महानुभाव उनके शिष्य हुए थे। उनके विद्वान भक्तों में भगवत-शरण जी एवं रामचंद्रदास (चक्रपाणिशरण) जी तथा समृद्धिशाली भक्तों में सेठ रामजीलाल जी, सेठ रतनलाल जी और छाजूराम जी के नाम उल्लेखनीय हैं। उनका देहावसान सं १९८९ में वृंदावन में हुआ था।

पं. कल्याणदास जी—उनका जन्म सं १९२४ के लगभग ब्राह्मण कुल में हुआ था। उन्होंने अमृतसर में व्याकरण, न्याय, वेदांतादि शास्त्रों का गहन अध्ययन किया था, और कई बार विविध तीर्थों की यात्रा की थी। तीर्थाटन करने के उपरांत वे स्थायी रूप से वृंदावन में रहने लगे थे। उन्होंने पहिले ज्ञानी जी की बगीची में और फिर पानीघाट पर निवास किया था। वृंदावन के अनेक विद्वानों से उनका घनिष्ट संपर्क था। रामबाग के महंत सकर्षणदास और बनीरट के पं. किशोरदास उनके सुहृदों में से थे। वे निंबार्क दर्शन के अच्छे विद्वान थे, और मृत्यु पर्यंत इससे संबंधित ग्रंथों का ही अध्ययन-मनन करते रहे थे। उन्होंने निंबार्क संप्रदाय के कई सुप्रसिद्ध

---

(१) श्री निंबार्क माधुरी, पृष्ठ ७५६

(२) शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्गीय संस्कृत वाङ्मय (प्रथम खंड), पृष्ठ १७७

सिद्धात ग्रथो को प्रचुर व्यय से प्रकाशित करा कर वितरित कराया था। वे प्राय. ४०-४५ वर्ष तक वृदावन मे निवास करते रहे थे। उनका देहात स. १९९४ की वैशाखी पूर्णिमा को हुआ था।

पं किशोरदास जी—उनका जन्म काठियावाड मे स. १९३० मे हुआ था। वे युवावस्था मे ही विरक्त होकर वृदावन आ गये थे। उन्होने श्री नागा जी की परपरा के अतर्गत काठिया जी स्थान के गोपीदास जी से दीक्षा ली थी। वे सस्कृत के प्रकाड विद्वान और साप्रदायिक सिद्धात ग्रथो के बडे ज्ञाता थे। उन्होने इस सप्रदाय के अनेक ग्रथो का सपादन कर उन्हे विद्वतापूर्ण टीका-टिप्पणियो के साथ प्रकाशित कराया था। वे वृदावन मे साप्रदायिक साहित्य के प्रमुख प्रचारक थे। उन्होने स १९७२ मे श्री निंबार्क विद्यालय की स्थापना की थी। उनके अनेक शिष्य थे। अपने अतिम काल मे वे वशीवट पर एकात वास करते थे। उनका देहात स २०२२ मे वृदावन मे हुआ था।

श्री परशुरामदेव जी की परपरा के आचार्य, शिष्य समुदाय और देव-स्थान—

आचार्य-परंपरा—श्री परशुरामदेव जी से लेकर श्री गोपेश्वरशरण जी तक की आचार्य-परपरा का उल्लेख गत पृष्ठो मे किया जा चुका है। आधुनिक काल मे श्री गोपेश्वरशरण जी के उपरात श्री घनश्यामशरण जी स १९२८ मे आचार्य हुए। वे बडे त्यागी, तपस्वी और भजनानदी थे। उनका देहावसान स १९६३ मे हुआ था। उनके उत्तराधिकारी श्री बालकृष्णशरण जी हुए, जो स. २००० तक आचार्य-गद्दी पर आसीन रहे थे। वे एक आदर्श आचार्य थे, और ब्रज-वृदावन के प्रति उनकी बडी निष्ठा थी। उनके शिष्य श्री राधासर्वेश्वरशरण जी निंबार्क सप्रदाय की प्रधान गद्दी परशुरामपुरी के वर्तमान आचार्य हैं।

श्री राधासर्वेश्वरशरण जी—इनका जन्म स १९८६ मे गौड ब्राह्मण कुल मे हुआ है, और ये विद्वान एव धर्मपरायण आचार्य हैं। इनके काल मे परशुरामपीठ की बडी उन्नति हुई है, और इन्होने निंबार्क सप्रदाय के प्रचार-प्रसार के अनेक उपयोगी कार्य किये हैं। इनकी सरक्षकता मे वृदावनस्थ 'श्री जी की बडी कुज' के निंबार्कीय देव-स्थान से 'श्री सर्वेश्वर' मासिक पत्र और साप्रदायिक ग्रथो के सपादन-प्रकाशन तथा प्रचार का महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहा है।

शिष्य समुदाय—श्री परशुरामदेव जी की गद्दी के शिष्य गण अधिकतर राजस्थानी हैं, किंतु इनमे से अनेक सदा से ब्रज के अनुरागी और इसके पुनरुत्थान के प्रयासी रहे है। इस गद्दी के आचार्य गोविंददेव जी के शिष्य दूल्हेराम जी की शिष्य-परपरा मे भक्तवर धर्मदास जी हुए। उनकी प्रेरणा से देलवाडा की बाई जसकुंवरि ने स १८२८ मे वृदावन मे श्री यशोदानदन जी का मदिर बनवाया था[1]। आचार्य निंबार्कशरण जी के शिष्यो मे एक तपस्वी महात्मा बिहारीदास जी थे। उनकी प्रेरणा से पडरौना के राजा ईश्वरीप्रतापराय ने वृदावन के बजाजा बाजार मे एक देव-स्थान का निर्माण कराया, जो 'पडरौना वाली कुज' के नाम से प्रसिद्ध है। इस स्थान के महत किशोरीदास जी थे, जो महात्मा बिहारीदास जी के गुरु-भ्राता थे। वे भगवत्-सेवापरायण और भागवत के अच्छे ज्ञाता थे। उनके शिष्यो मे अनेक योग्य विद्वान हैं। उनका देहावसान स. १९८७ मे हुआ था[2]। इस गद्दी से सबधित अनेक सत-महात्मा और विद्वान हुए है, जिन्होने ब्रज मे निवास कर यहाँ की भक्ति-साधना की प्रगति मे बडा योग दिया है। इनमे से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जाता है।

---

(१) निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ १५४

(२) श्री सर्वेश्वर का 'वृदावनांक', पृष्ठ ३२३

बावा श्यामदास जी—उनके जन्म-स्थान, जन्म-संवत् और बाल्यकाल के संबंध में रूप से कुछ कहना कठिन है। ऐसा ज्ञात होता है, वे अपने आरंभिक जीवन में आचार्य शरण जी के शिष्य होकर परशुरामपुरी के देव-स्थान के प्रबंधक हुए थे। फिर वे विरत वहाँ से चल दिये और ब्रज में आ कर रहे थे। उन्होंने यहाँ के दोमिलबन, श्यामढाक, ग और कुसुमसरोवर के एकांत स्थलों में भक्ति-साधना की थी। वे बड़े भजनानंदी और महात्मा थे। उन्होंने ब्रज में रास के प्रचार-प्रसार के लिए बहुत प्रयास किया था। उन्हीं से करहला के रासधारी बिहारीलाल जी अपनी रास मंडली का संगठन कर ब्रज की लुप्तप्र लीला का पुनः प्रचलन करने में प्रयत्नशील हुए थे। बावा श्यामदास जी का देहावसान कुसु के निकटवर्ती उनकी कुटी में सं. १९३१ में हुआ था। यह कुटी उनके नाम से 'श कहलाती है। यहाँ पर उनकी समाधि है, और चरण चिह्न हैं।

मुखिया गोकुलदास जी—उनका जन्म जयपुर राज्य के महुआ गाँव में एक ब्रा में हुआ था। उन्होंने अपनी किशोरावस्था में भरतपुर के निंबार्कीय महात्मा रेवतीरम दीक्षा ली थी। आरंभ से ही उनकी रुचि संगीत-नाट्यादि में अधिक थी। पहिले वे राम राम का स्वरूप बनते थे, बाद में उस मंडली के 'स्वामी' बन कर उसका संचालन करते सं. १९६७ में वे परशुरामपुरी गये थे। उनकी गायन कला से प्रसन्न होकर श्री जी महारा श्री सर्वेश्वर जी की संगीत-समाज का मुखिया नियुक्त किया था। बाद में उन्हें वृंदाव 'श्री जी महाराज की छोटी कुंज' का सेवाधिकारी बना कर भेजा गया था। उन्होंने अप काल तक इसी कुंज में निवास किया था। वे कुशल गायक और सुकवि थे। उन्होंने नि आचार्यों की जन्म-बधाई के अनेक पदों की रचना की थी, और नित्य कीर्तन एवं वर्षोत्स बहुसंख्यक पदों का संकलन किया था। इन सब का उपयोग आचार्योत्सवों की 'स किया जाता है। उनका देहावसान सं. १९७५ में हुआ था। उनके शिष्यों में किशोरीदास केशवदास जी के नाम उल्लेखनीय हैं।

श्री (लापर) गोपाल जी की परंपरा के संत-महंत और देव-स्थान—

श्री गिरिधारीशरण ब्रह्मचारी—वे श्री हरिव्यास जी के ११ वें प्रधान शिष्य श्री (लापर) गोपाल जी की १३ वी पीढी मे हुए थे। उनका जन्म–राजस्थान मे सवाई माधोपुर के निकटवर्ती लसोडा गाँव मे स. १८५५ की माघ शुक्ला ५ को हुआ था। वे सनाढ्य ब्राह्मण थे और उनका आरंभिक नाम गणेशराम था। वे कम पढ़े–लिखे थे, और अपने घर पर व्यापार–वाणिज्य का कार्य करते थे। उनका विवाह नही हुआ था। अपनी भ्रातृ-वधू के व्यंग वचनों से विचलित होकर वे घर से चल दिये और विरक्तावस्था मे वृंदावन आ गये थे। वहाँ वंशीवट पर रहने वाले निंबार्कीय महात्मा वलदेवदास जी के वे शिष्य हो गये। तब उनका नाम गिरिधारीशरण रखा गया। वे स १८७२ मे वृंदावन आये थे। उस समय उनकी आयु १७–१८ वर्ष की थी। उन्होंने वंशीवट पर निवास किया और अहर्निश गोपाल मंत्र का जाप तथा भजन-ध्यान मे लीन रहने लगे। उन्होंने अखंड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया था। वे ब्रज मे 'ब्रह्मचारी जी' के नाम से प्रसिद्ध थे। अपने भजन-ध्यान, जप–तप और ब्रह्मचर्य के प्रताप से वे एक चमत्कारी सिद्ध महात्मा हुए थे। उनके आशीर्वाद से अनेक व्यक्तियो की मनोकामनाएँ पूर्ण हुई थी।

ग्वालियर–नरेश जीवाजीराव सिंधिया को उनके आशीर्वाद से राज्य की पुनर्प्राप्ति हुई तथा उनके पुत्र माधवराव का जन्म हुआ था। उसके उपलक्ष मे सिंधिया–नरेश ने वंशीवट पर एक 'कुंज' का निर्माण कराया था और १२ हजार वार्षिक आय की जागीर भेंट की थी। उसे ब्रह्मचारी जी ने साधु–सेवा और परमार्थ के कार्यो मे लगा दिया था। सिंधिया नरेश ने ब्रह्मचारी जी के लिए कई लाख रुपया लगा कर एक विशाल मंदिर भी बनवाया था, जो 'ब्रह्मचारी जी का मंदिर' कहलाता है। उसकी प्रतिष्ठा स १९१७ मे हुई थी। जयपुर के राजा माधवसिंह ने भी उनके आशीर्वाद से स १९३७ मे राज्य प्राप्त किया था। उक्त नरेश ने ब्रह्मचारी जी की प्रेरणा से वृंदावन मे निंबार्क संप्रदाय का एक विशाल मंदिर स. १९४४ मे बनवाना आरंभ किया, जो कई वर्ष बाद पूरा हुआ था। यह मंदिर 'माधवविलास' कहलाता है, और वृंदावन के बड़े मंदिरो मे माना जाता है। उन्होने बरसाना की पहाडी पर भी एक भव्य मंदिर बनवाया था, जो 'जयपुर वाला मंदिर' कहलाता है। इसके महंत राधेश्याम ब्रह्मचारी नामक एक प्रसिद्ध महात्मा थे।

ब्रह्मचारी गिरिधारीशरण जी अपने अंतिम काल मे वृंदावन से हट कर छटीकरा के निकटवर्ती एकांत वन मे रहने लगे थे। उसी स्थल पर उन्होने 'गोपालगढ' नामक देव-स्थान का निर्माण कराया था और स १९४६ मे उसमे श्री गिरिधरगोपाल जी के देव–विग्रह को प्रतिष्ठित किया था। उनका देहावसान स. १९४८ की फाल्गुन शु. १५ को गोपालगढ–मंदिर मे हुआ था। आधुनिक काल के निंबार्कीय महात्माओ मे वे सर्वाधिक प्रसिद्ध और प्रतापी थे। उनके पश्चात् श्री गोविंदशरण जी और उनके उपरांत श्री विहारीशरण जी उनकी गद्दी पर आसीन हुए।

श्री मुकुंद जी की गद्दी के संत-महंत और देव-स्थान—

गद्दी की परंपरा—श्री मुकुंद जी की गद्दी के ७वे महंत श्री रामदास जी और उनके द्वारा निर्मित वृंदावन–विहारघाट की 'टोपी वाली कुंज' का उल्लेख गत पृष्ठो मे किया जा चुका है। श्री रामदास जी के उपरांत ८वे महंत वृंदावनदास जी, ९वे रघुनाथदास जी और १०वे कल्याणदास जी थे। श्री कल्याणदास जी बडे परमार्थी, साधु-सेवी और सिद्ध महात्मा हुए। उनका देहांत स १९६५ मे हुआ था। उनके उत्तराधिकारी माधवदास जी भक्तमाली हुए थे।

श्री माधवदास जी—उनका जन्म स १६१६ की पौष शु. १२ को व्रज के डीग नामक स्थान के एक ब्राह्मण कुल मे हुआ था। वे आरभ से ही भजन–ध्यान मे वडी रुचि रखते थे, और गृहस्थी से उदासीन होकर प्राय वृदावन मे निवास किया करते थे। स. १६४३ मे वे विरक्त होकर स्थायी रूप से वृदावन मे रहने लगे थे। उन्होने 'टोपी वाली कुज' के महत कल्याणदास जी से दीक्षा ली, और वे वडी निष्ठा पूर्वक गुरु-सेवा तथा भगवद्भक्ति करने लगे। कल्याणदास जी का देहावसान होने पर वे उनके उत्तराधिकारी के रूप मे 'टोपी वाली कुज' की गद्दी पर आसीन हुए थे। वे साधु–सेवा और भक्तमाल की कथा–वार्त्ता करने वाले बडे प्रसिद्ध महात्मा थे। उनकी रुचि साधु-समाज के वृहत् भडारा (भोज) करने मे अधिक थी। भक्तमाल की कथा कहने मे तो वे अपना सानी नही रखते थे। बडे-बडे विद्वान पडित और सत-महात्मा उनके मुख से उक्त कथा को सुनने के लिए सदा उत्सुक रहते थे। उन्होने 'निकुज प्रेम-माधुरी' नामक एक वृहत् भक्ति-काव्य की भी रचना की थी, जिसकी पूर्ति स १६६१ मे हुई थी। उनका देहावसान स. २००१ मे हुआ था।

शिष्य समुदाय—श्री माधवदास जी के अनेक शिष्य हुए, जिनमे सर्वश्री सनतकुमारदास जी उनकी प्रधान गद्दी पर आसीन हुए तथा माधुरीदास जी और कुजविहारीदास जी इस गद्दी के अन्य स्थान 'बनविहार' और 'मुकुदसदन' के महत बनाये गये। ये तीनो महात्मा उक्त स्थानो की उन्नति के लिए सतत प्रयत्नशील रहे हैं। माधुरीदास जी ने 'बन विहार' की प्रतिष्ठा-वृद्धि करने के साथ ही साथ वृदावन के 'श्री निंवार्क महाविद्यालय' के सचालन मे भी पर्याप्त योग दिया है।

देव-स्थान—श्री मुकुद जी की गद्दी का प्रधान देव-स्थान वृदावन-विहारघाट स्थित 'टोपी वाली कुज' है। इसके अतिरिक्त 'मुकुदसदन' और 'वनविहार' नामक दो देव-स्थान वृदावन मे और भी हैं। 'बन विहार' रमणरेती मे है। इसे माधवदास जी ने स. १६७२ मे वनवाया था।

निंबार्कीय विद्वान और समृद्ध भक्त जन—

कतिपय विद्वान भक्त—इस सप्रदाय मे सदा से विद्वान भक्त होते रहे हैं। उनमे से अनेक महानुभावो का उल्लेख विभिन्न गद्दियो के प्रसग मे किया जा चुका है। उनके अतिरिक्त जिन विद्वानो ने इस काल मे प्रसिद्धि प्राप्त की है, उनमे से कुछ का सक्षिप्त वृत्तात यहाँ दिया जाता है।

सुदर्शनदास जी—उनका जन्म विहार राज्यार्गत गया जिला के शाकलद्वीपी ब्राह्मण कुल मे स १६०३ मे हुआ था। वे युवावस्था मे ही घर–वार छोड कर विरक्तावस्था मे तीर्थाटन करने को निकल पडे थे। जगन्नाथपुरी के मार्ग मे उन्होने वृदावन के मालाधारी अखाड़ा के निंबार्कीय महात्मा मनोहरदास जी से दीक्षा ली थी। तीर्थाटन करने के अनतर वे प्राय. १८ वर्ष तक अयोध्या मे रहे थे। उसके उपरात उन्होने व्रज मे आकर यहाँ के अनेक लीला–स्थलो मे निवास किया था। अपने अतिम काल मे वे वृदावन के श्री रसिकविहारी जी के मंदिर मे भक्ति–साधना और कथा–वार्त्ता करते रहे थे। वे वडे विद्वान, भजनानदी महात्मा और भक्त–कवि थे। उनकी छोटी–छोटी बहुसख्यक रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिनमे अष्टयामादि माधुर्य भक्तिरस के ग्रथ उल्लेखनीय हैं। उनका देहावसान स १६७६ मे हुआ था। उनके अनेक विद्वान शिष्य थे।

पं दुर्गादत्त जी—उनका जन्म स १६१२ की पौष शु ३ को व्रज के विद्वान सनाढ्य ब्राह्मण कुल मे हुआ था। उनके पिता नंदकिशोर जी सुप्रसिद्ध पौराणिक पडित थे और वे मथुरा जिला के राया क़स्बा मे निवास करते थे। दुर्गादत्त जी ने राया के श्री राधागोपाल मठ के निंबार्कीय महत हरिनामदास जी से दीक्षा और आरभिक शिक्षा प्राप्त की थी। उसके उपरांत उन्होने

अन्य विद्वानो से सस्कृत का प्रौढ ज्ञान प्राप्त किया था। वे प्रकाड शास्त्रार्थी विद्वान, महामहोपदेशक, आशुकवि एव सुलेखक थे। स १९४५ मे वे वृदावन मे स्थायी रूप से रहने लगे थे। उन्होंने सस्कृत और हिंदी मे गद्य-पद्य के अनेक ग्र थो की रचना की थी। उनका देहात स. १९७५ मे हुआ था।

श्री किशोरीलाल गोस्वामी—वे आचार्य स्वभूराम जी के भ्रातृ-वश के गोस्वामी थे। उनका जन्म स १९२२ की माघ कृष्णा अमावस को हुआ था। उनके पितामह केदारनाथ गोस्वामी तथा पिता वासुदेवशरण गोस्वामी वृदावन के विख्यात धर्माचार्य थे, और उनके नाना कृष्ण-चैतन्य 'निज कवि' काशी के प्रतिष्ठित विद्वान एव भक्त-कवि थे। उनका पैतृक कुल निंबार्क सप्रदाय से और मातृ कुल चैतन्य सप्रदाय मे सबधित था। इस प्रकार उन्हे उभय कुल-परपरा से धार्मिक भावना और साहित्यिक अभिरुचि का समृद्ध दाय मिला था। वे बाल्यावस्था मे काशी मे रहने लगे थे। वही पर उन्होने शिक्षा प्राप्त की थी, और वही पर उनका अधिकाश जीवन व्यतीत हुआ था। वे धार्मिक विद्वान, सुकवि और विख्यात लेखक थे। उन्होने वैष्णव महासभा, भारत धर्म महामडल तथा काशी वैष्णव समाज के कार्यों मे पर्याप्त योग दिया था, और कई वर्षों तक 'वैष्णव सर्वस्व' नामक मासिक पत्र का सपादन-प्रकाशन किया था। उनके ग्रथो मे धर्मोपासना, अध्यात्म, तत्र और योग की अनेक रचनाएँ हैं। वे धार्मिक क्षेत्र से कही अधिक साहित्यिक क्षेत्र मे प्रसिद्ध रहे हैं। वे खडी बोली हिंदी साहित्य के निर्माताओ मे से थे। उन्होने जीवन पर्यंत साहित्य-साधना की थी। उनके रचे हुए विविध विषयो के ग्र थो की सख्या प्राय. २०० है, जिनमे उपन्यास अधिक हैं। वे हिंदी की सबसे प्राचीन मासिक पत्रिका 'सरस्वती' के आरभिक सपादको मे से थे और उन्होने अन्य कई पत्र-पत्रिकाओ का भी सपादन किया था। स १९७० मे उन्होने वृदावन मे 'श्री सुदर्शन प्रेस' नामक मुद्रणालय की स्थापना कर उसके द्वारा अपने ग्र थो एव पत्रो का प्रकाशन किया था। उनके पुत्र छबीलेलाल जी भी अच्छे लेखक, प्रभावशाली वक्ता और वृदावन के राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता थे।

प. उमाशकर जी—वे सुप्रसिद्ध प दुर्गादत्त जी के सुपुत्र थे। उनका जन्म स १९४६ की फाल्गुन शु ७ को वृदावन मे हुआ था। वे सस्कृत के अच्छे विद्वान और आयुर्वेद के प्रकाड पडित थे। उन्होने कुशल चिकित्सक और आयुर्वेद के प्रौढ प्राध्यापक के रूप मे बडी ख्याति प्राप्त की थी। वृदावन के धार्मिक क्षेत्र मे भी उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। निंबार्क सप्रदाय के अनन्योपासक होते हुए भी उनका सभी धर्म–सप्रदायो के विद्वानो से स्नेह सबध था, और सभी उनका सन्मान करते थे। उनका देहावसान स २००९ (१५ जनवरी १९५३) मे हुआ था।

प. दानबिहारीलाल जी—उनका जन्म स १९५५ की भाद्रपद कृ ५ को वृदावन मे हुआ था। उन्होने प किशोरदास जी से निंबार्क सप्रदाय की दीक्षा ली थी। वे बडे उत्साही सार्वजनिक कार्यकर्त्ता थे, और धार्मिक एव साहित्यिक कार्यों के सपादन मे बडी रुचि लेते थे। ब्रज के धार्मिक पत्रो मे उनके अनेक लेख प्रकाशित हुए थे, और उन्होने 'प्रेम' एव 'नाम माहात्म्य' का कई वर्षों तक सपादन किया था। उनका देहात स २०२३ (१३ दिसबर १९६६) मे हुआ था।

प धनजयदास जी—ये श्री सतदास काठिया बाबा के शिष्य और सुप्रसिद्ध साप्रदायिक विद्वान हैं। इन्हे सतदास जी का उत्तराधिकारी और काठिया बाबा के आश्रम का महत नियुक्त किया गया था। बाद मे इन्होने गुरुकुल मार्ग पर दूसरे आश्रम की स्थापना की, जो काठिया बाबा का नया आश्रम' कहलाता है। इस समय पुराने आश्रम के महत प्रेमदास जी है, और नये आश्रम के जानकीदास जी है। श्री धनजयदास जी धर्म-साधना और ग्र थ-रचना के कार्य मे दत्तचित्त रहते है।

कतिपय समृद्ध भक्त जन—इस सप्रदाय के समृद्धिशाली भक्तो मे वेरी वाले सेठ जानकीदास जी, उनके अनुज सेठ रामजीलाल जी, पुत्र जयलाल जी–हरगूलाल जी तथा सवधी रतनलाल जी के नाम उल्लेखनीय है। इन भक्त जनो की महायता से व्रज मे निंवार्क सप्रदाय की वडी महत्वपूर्ण सेवा हुई है। इनमे से सेठ रतनलाल जी और सेठ हरगूलाल जी वृदावन मे स्थायी रूप से निवास करते रहे है। सेठ रतनलाल जी विद्वान और धार्मिक सज्जन हैं। भक्तवर सेठ हरगूलाल जी श्री विहारी जी के उपासक और टट्टी सस्थान के शिष्य है। इनकी महत्वपूर्ण देन का उल्लेख हरिदास सप्रदाय के प्रसग मे आगे किया जावेगा।

निबार्क सप्रदाय के दर्शनीय स्थल, देव-स्थान और वर्तमान स्थिति—

मथुरा—यह नगर निंवार्क सप्रदाय का अत्यत प्राचीन केन्द्र रहा है। इसके दक्षिण मे ध्रुवक्षेत्र एक प्रसिद्ध धार्मिक स्थान है, जहाँ ध्रुवटीला और नारदटीला नामक दो पुरातन स्थल हैं। पौराणिक काल के दो प्राचीनतम हरि–भक्त ध्रुव और नारद के नामो से सवधित होने से इनकी महत्ता स्वयसिद्ध है। ऐतिहासिक काल मे इनके निकटवर्ती भू–भाग मे वौद्ध विहार थे, जिनके पुरातात्विक अवशेप यहाँ से प्राप्त हो चुके है। व्रज की राधा–कृष्णोपासना के आरभिक काल से ही ये निंवार्क सप्रदाय के धार्मिक केन्द्र रहे है। श्री निंवार्काचार्य जी जव व्रज मे आये थे, तव उन्होने यमुना मे स्नान कर ध्रुव क्षेत्र मे विश्राम किया था। उसके उपरात वे गोवर्धन चले गये थे। मध्य काल मे यहाँ श्री केशव काश्मीरी भट्ट जी, श्रीभट्ट जी और हरिव्यास जी ने निवास किया था। श्री निंवार्काचार्य जी के सेव्य श्री सर्वेश्वर शालिग्राम जी पहिले इसी स्थल पर विराजमान थे।

श्री हरिव्यास जी के पश्चात् उनके शिष्य–प्रशिष्य यहाँ से हट कर अन्य स्थानो मे चले गये थे, जहाँ पर उन्होने अपनी–अपनी गद्दियाँ स्थापित कर शाखा-सप्रदायो का विस्तार किया था। श्री सर्वेश्वर जी की सेवा भी सलीमावाद स्थित श्री परशुराम जी की गद्दी मे चली गई, और उसी को निंवार्क सप्रदाय की प्रधान गद्दी माना गया। फलत ध्रुवटीला और नारद टीला का महत्व कम हो गया। श्री हरिव्यास जी के उपरात यहाँ किन-किन आचार्यो ने निवास किया, इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख नही मिलता है।

इन टीलो पर जो प्राचीन देव-मदिर थे, वे कदाचित औरगजेव के काल मे नष्ट कर दिये गये थे। मथुरा नगर मे मुसलमानी शासन का अधिक आतक रहता था, अत. औरगजेव के पश्चात् पर्याप्त काल तक यहाँ पर कोई मदिर–देवालय नहीं वन सके थे। उस काल मे व्रज के निंवार्क सप्रदाय का प्रमुख केन्द्र वृदावन हो गया था। इस सप्रदाय के कतिपय आचार्य और उनके अनुयायी भक्त जनो ने वृंदावन मे निवास कर वही पर अपने मदिर, मठ, अखाडे स्थापित किये थे। अगरेजी शासन स्थापित होने पर जव मथुरा नगर की स्थिति सामान्य हो गई, तव ध्रुवटीला और नारद टीला पर निंवार्क सप्रदाय के मदिर पुन. वनाये गये थे।

ध्रुव टीला—इस स्थल पर जो निंवार्क सप्रदाय का मदिर है, इसका निर्माण स. १८९४ मे हुआ था, और इसे प्राचीन मदिरो के ध्वसावशेप पर वनाया गया था। इसमे श्रीराधा–कृष्ण की मूर्तियाँ हैं। मदिर के गोस्वामी गौड ब्राह्मण कुल के हैं, और ये अपनी परपरा श्रीभट्ट जी के किसी भाई से वतलाते हैं[1]। ये लोग गृहस्थ हैं। इस स्थान के वर्तमान अधिपति गो विजयगोपाल जी हैं।

---

(१) मथुरा–ए–डिस्ट्रिक्ट मेमोयर (तृ. स), पृष्ठ १४७

नारद टीला—देवर्षि नारद जी निंबार्क सम्प्रदाय के प्रारंभिक आचार्य माने जाते हैं। उनके नाम से प्रसिद्ध इस स्थान पर निंबार्क संप्रदाय की प्राचीनतम गद्दी रही है। यहाँ के एक चबूतरा पर निर्मित तीन समाधियाँ सर्वश्री केशव काश्मीरी भट्ट जी, श्रीभट्ट जी और हरिव्यास जी की मानी जाती हैं। यहाँ पर श्री राधादामोदर जी का मंदिर है। पहिले इस स्थान के अधिकारी रामदास कावड़िया नामक एक निंबार्कीय साधु थे। उनकी शिष्य-परंपरा में क्रमशः किशोरदासजी, बलदेवदास जी, राधिकादास जी, ज्ञानदास जी, बजरंगदास जी और प्रियादास जी हुए। इस समय श्री राधाकांत के महंत इस स्थान के अधिकारी हैं[1]।

श्री राधाकांत जी का मंदिर—यह देव-स्थान मथुरा के विश्राम बाजार में है। श्री स्वभू-राम जी की परंपरा में कोयलादेवा छपरा की गद्दी के महंत नारायणदास जी ने अब से प्रायः एक शताब्दी पूर्व इस स्थान का निर्माण कराया था। नारायणदास जी के पश्चात् उनकी शिष्य-परंपरा में क्रमशः जयरामदास जी नंदकिशोरशरण जी, रामानंदशरण जी और हरिप्रियाशरण जी हुए। हरिप्रियाशरण जी के शिष्य ब्रजमोहनशरण जी इस मंदिर के वर्तमान महंत हैं। इनके अधिकार में यह देव-स्थान सं० १९८७ से है[2]।

हनुमान जी का मंदिर—यह मंदिर मथुरा के अक्रिकुंडा घाट पर है। इसका निर्माण श्री स्वभूराम जी की शिष्य-परंपरा के महात्मा मोहनदास ने कराया था। उनके उपरांत शीतल-दास जी के शिष्य श्यामदास जी इस मंदिर के महंत हुए। वे बाद में गृहस्थ हो गये। उनके पुत्र राजकिशोरशरण इस मंदिर के वर्तमान अधिकारी हैं। इनके नियंत्रण में मथुरा के गजापायसा मुहल्ला का श्री बिहारी जी का मंदिर भी है[3]।

मथुरा नगर के अन्य देव-स्थान—इस नगर के अन्य निंबार्कीय देव-स्थान मंडी रामदास का श्री गोपाल जी का मंदिर, होली वाली गली का श्री जानकीवल्लभ जी का मंदिर, बैरागपुरा का परशुरामद्वारा, ध्रुवक्षेत्र का सप्तर्षि टीला, डेम्पियर स्थित बनखंडी हैं। श्रीकृष्ण-जन्मभूमि स्थित श्री केशवदेव जी का मंदिर भी निंबार्कीय देव-स्थान कहा जाता है।

निकटवर्ती देव-स्थान—मथुरा नगर के सामने यमुना पार का दुर्वासा आश्रम भी निंबार्कीय स्थान बतलाया जाता है। मथुरा से ३ मील दूर गोवर्धन मार्ग पर सतोहा गाँव है। यहाँ का श्री शांतनुविहारी जी का मंदिर निंबार्कीय देव-स्थान है। इसे श्री नागा जी की शिष्य-परंपरा के महंत मोहनदेव जी ने बनवाया था। उनकी शिष्य-परंपरा में मथुरादास जी और भगवानदास जी अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। इस मंदिर के वर्तमान महंत शीतलदास हैं[4]।

गोवर्धन—श्री निंबार्काचार्य और उनके आरंभिक शिष्यों का उपासना-स्थल होने के कारण यह निंबार्क संप्रदाय का प्राचीनतम केन्द्र है। श्री निंबार्काचार्य जी ने इस क्षेत्र के जिस स्थान पर भक्ति-साधना की थी, वह उनके नाम पर निंबग्राम अथवा नीमगाँव कहलाता है। श्री निंबार्का-चार्य जी के प्रमुख शिष्य श्रीनिवासाचार्य जी ने जहाँ उपासना की थी वह राधाकुंड के नाम से प्रसिद्ध है। गोवर्धन क्षेत्र में इस संप्रदाय के और भी कई देव-स्थान और दर्शनीय स्थल हैं।

नीमगाँव—यह स्थान वर्तमान गोवर्धन कस्बा से प्रायः २ मील पश्चिम में है। श्री निंबार्का-चार्य जी के निवास और उनकी भक्ति-साधना का केन्द्र होने से यह इस संप्रदाय का महत्वपूर्ण पुण्य

---

(१), (२), (३), (४) **निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिंदी कवि, पृष्ठ १४७-१४८-१५६**

नारद टीला, मथुरा

श्री जी की बडी कुज, वृ दाबन (अदर का दृश्य)

श्री ब्रह्मचारी जी का मंदिर, वृन्दावन (ग्वालियर नरेश द्वारा निर्मित)
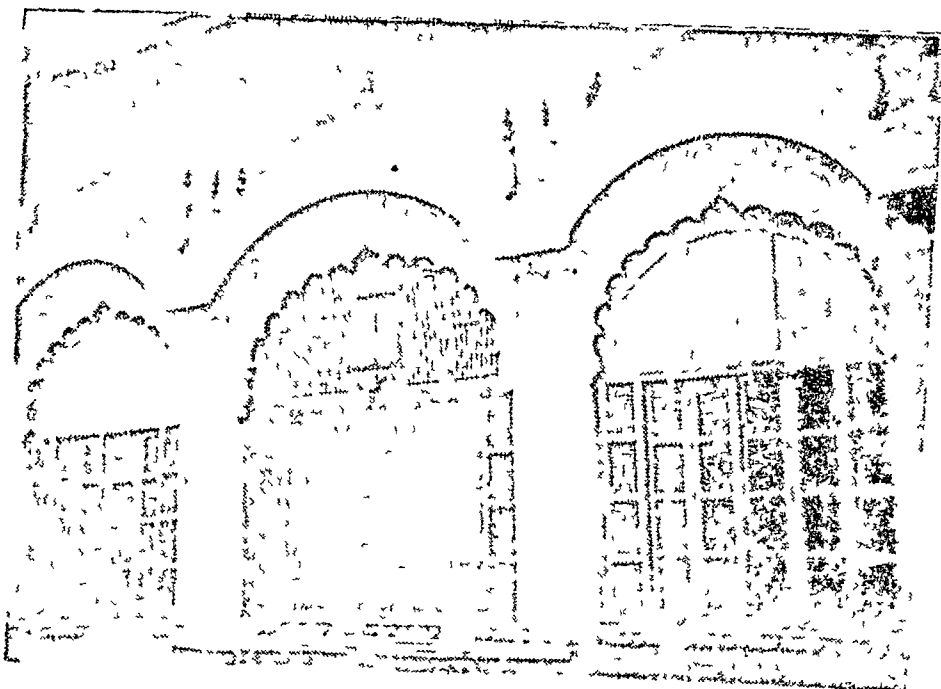
स्थल है। ब्रह्मसूत्र का निंबार्क भाष्य 'वेदात पारिजात सौरभ' इसी स्थान पर रचा गया था। निंबार्काचार्य जी के उपासना-स्थल की स्मृति मे यहाँ रास-चबूतरा बनाया गया है, और उनके द्वारा यति जी को निंब वृक्ष पर सूर्य-दर्शन कराने की स्मृति मे नीम का पेड लगाया गया है। यहाँ पर श्री सुदर्शन जी का मदिर है, और एक प्राचीन कुड है। मदिर का निर्माण श्री परशुराम पीठ के आचार्य गोपेश्वरशरण जी की प्रेरणा से प्राय एक शताब्दी पूर्व हुआ था। कुड के पास तीन समाधियाँ है, जो इस स्थान के पुजारी बालकृष्णदास, धर्मदास और गणेशदास की कही जाती है।

राधाकुंड—... निंबार्काचार्य जी के प्रधान शिष्य श्रीनिवासाचार्य जी के निवास और उनकी उपासना का यह पुण्य स्थल है। यहाँ के ललिता कुड पर उनकी 'बैठक' बनाई गई है। इसी स्थल पर श्रीनिवासाचार्य जी ने निंबार्क भाष्य की टीका 'वेदात कौस्तुभ' की रचना की थी। प्राचीन बैठक मध्य का... नष्टप्राय हो गई थी। उसका जीर्णोद्धार कामबन स्थित श्री परशुराम जी की परपरा के महत रघुवरदास ने स. १९०३ मे कराया था। उसी समय यहाँ श्री ललितबिहारी जी का मदिर और रासमडल का निर्माण भी कराया गया तथा श्रीनिवासाचार्य जी के चरण-चिह्न स्थापित किये गये थे।

नारदकुंड—राधाकुड से कुछ दूर गोबर्धन मार्ग पर नारदकुड है, जहाँ के निंबार्कीय मदिर मे श्री नारद जी मूर्ति ...पित है। भाद्रपद मास के प्रत्येक शनिवार को नारदकुड मे न्हान होता है।

गोबर्धन क्षेत्र के अन्य देव-स्थान—गोवर्धन के पास किलोलकुड पर श्री किलोलविहारी जी का मदिर है। यहाँ के महत गर्वीलीशरण है। मानसीगगा पर हाथी दरवाजा का निंवार्कीय देव-स्थान है। यहाँ के महन श्री नागा जी की परपरा के बिहारीदास है। श्री गिरिराज जी की परिक्रमा मार्ग मे आन्यौर गाँव के गोविंदकुड भी पर निंबार्कीय देव-स्थान है, जहाँ परशुराम पीठ के आचार्य नारायण देव जी ने अपने गुरु श्री हरिवश जी की पुण्य स्मृति मे विशाल धार्मिक समारोह किया था। आन्यौर से आगे पूँछरी गाँव मे एक निंबार्कीय देव-स्थान श्री विहारी जी का मदिर है। इसके निकटवर्ती अप्सरा कुड पर श्री अप्सराबिहारी जी का देव-स्थान है। राधाकुड-गोवर्धन मार्ग स्थित कुसुमसरोवर के निकट 'श्यामकुटी' भी निंबार्कीय देव-स्थान है।

वृंदाबन—इस समय ब्रज मे निंबार्क सप्रदाय का प्रधान केन्द्र वृ दावन है। यहाँ पर इस सप्रदाय से सबधित अनेक मदिर, कुज, मठ, अखाडे, विद्यालय, पुस्तकालय आदि है। इनके सत-महतो द्वारा आधुनिक काल मे इस सप्रदाय का प्रचार-प्रसार हो रहा है। इनमे से कतिपय देव-स्थानो का कुछ विशेष वृत्तात श्री सर्वेश्वर के 'वृ दावनाक' तथा 'निंवार्क सप्रदाय और उसके कृष्ण-भक्त हिंदी कवि' नामक ग्र थ के आधार पर लिखा जाता है।

श्री जी की बड़ी कुंज—यह देव-स्थान वृ दावन के प्रताप बाजार मे है। इसे जयपुर की भट्टी रानी आनदकुँवरि जी ने अपने पुत्र के जन्मोपलक्ष मे स १९८३ मे बनवाया था। इसे 'श्री निकुज' अथवा 'रानी वाली कुज' भी कहते हैं। इसमे ठाकुर श्री आनदमनोहर जी का मदिर है। इसके अतर्गत निंबार्क शोध मडल, श्री सर्वेश्वर मासिक पत्र का कार्यालय एव मुद्रणालय, सर्वेश्वर सस्कृत विद्यालय, सर्वेश्वर पुस्तकालय, सत्सग मडल आदि सस्थाएँ हैं। इस देव-स्थान के वर्तमान प्रबधाधिकारी श्री ब्रजवल्लभशरण जी सुप्रसिद्ध निंबार्कीय विद्वान हैं।

सबंधित देव-स्थान—बडी कुज के निकट दूसरी कुज है, जिसे जयपुर की पूर्वोक्त भट्टी रानी की बाँदी रूपा बडारिन ने बनवाया था। इसे 'बाँदी वाली कुज' भी कहते हैं। इसमे ठाकुर

श्री रूपमनोहर जी का मंदिर है। इनके अतिरिक्त श्री जी की छोटी कुंज, जीवाराम जी की कुंज, पन्ना वाली कुंज, नागर कुंज, श्री राधासर्वेश्वर वाटिका-मंदिर, श्री दानविहारी जी का मंदिर भी निंबार्कीय देव-स्थान हैं। इन सब का प्रबंध बड़ी कुंज के नियंत्रण में किया जाता है।

टोपी वाली कुंज—यह देव-स्थान वृंदावन के विहारघाट पर है। श्री हरिव्यास जी के बारह प्रधान शिष्यों में श्री मुकुंद जी की शाखा का यह प्रधान केन्द्र है। इसकी गद्दी के ७ वें महंत रामदास जी ने १९ वीं शती में इस स्थान का निर्माण कराया था। १० वें महंत कल्याणदास जी ने २० वीं शती में इसकी अधिक उन्नति की थी। इसके महंत टोपी धारण करते थे, अतः यह देवालय 'टोपी वाली कुंज' के नाम से प्रसिद्ध है। इस स्थान के महंत सनतकुमारदास जी हैं। इस कुंज से संबंधित श्री मुकुंददेव जी की परंपरा के अन्य देव-स्थान 'वन विहार' और 'मुकुंद सदन' हैं। इनके महंत क्रमशः बाबा माधुरीदास और बाबा कुंजबिहारीदास हैं।

यशोदानंदन जी का मंदिर—परशुराम पीठ के आचार्य गोविंददेव जी के शिष्य दूल्हेरामजी की शिष्य-परंपरा में क्रमशः व्रजदास जी और धर्मदास जी हुए थे। धर्मदास जी की प्रेरणा से देलवाडा की बाई जमकुँवरि ने सं. १८२८ में इस स्थान का निर्माण कराया था। फिर कोटा की राजमाता महतावकुँवरि द्वारा इसका जीर्णोद्धार कराया गया था। इस मंदिर के वर्तमान सेवाधिकारी पं. हरगोविंद हैं।

निंबार्क कोट—यह देव-स्थान वृंदावन की छीपी गली में है। इसका निर्माण आचार्य स्वभूराम जी की शिष्य-परंपरा के बालगोविंददास जी ने कराया था। उन्होंने सर्व प्रथम आचार्य पंचायतन की स्थापना वृंदावन में की थी। यहाँ निंबार्कोत्सव बड़े समारोह पूर्वक होता है।

ब्रह्मचारी जी का मंदिर—ब्रज में निवास करने वाले २० वीं शती के निंबार्कीय महात्माओं में ब्रह्मचारी गिरिधारीशरण जी बड़े चमत्कारी और प्रभावशाली धर्माचार्य हुए हैं। उनसे प्रभावित कई तत्कालीन नरेशों ने वृंदावन में मंदिर-देवालय बनवाये थे। ग्वालियर-नरेश जीवाजीराव सिंधिया ने पाँच लाख रुपया की लागत से सं. १९१७ में एक विशाल मंदिर बनवा कर उसे ब्रह्मचारी जी की भेंट कर दिया था। यह 'ब्रह्मचारी जी का मंदिर' कहलाता है। इसमें निंबार्क संप्रदाय के आचार्य पंचायतन की स्थापना की गई है।

वंशीवट का देव स्थान—यह वृंदावन का अत्यंत प्राचीन लीला-स्थल है, और यहाँ कई संप्रदायों के मंदिर-देवालय हैं। यहाँ के निंबार्कीय देव-स्थान का निर्माण ब्रह्मचारी गिरिधारी-शरण जी के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए सिंधिया नरेश ने कराया था। इसमें श्री वंशीविहारी जी और आचार्य पंचायतन की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। इसकी प्रबंध-व्यवस्था ब्रह्मचारी जी के मंदिर द्वारा की जाती है।

माधवविलास मंदिर—यह वृंदावन के निंबार्कीय मंदिरों में सबसे बड़ा है। इसे जयपुर-नरेश माधवसिंह ने ब्रह्मचारी गिरिधारीशरण जी के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए बनवाया था। इसके निर्माण-कार्य का आरंभ सं. १९४४ में हुआ था, और यह प्रचुर काल तक बनता रहा था। इसकी प्रतिष्ठा सं. १९८१ में हुई थी। इसमें ठाकुर श्री नृत्यगोपाल जी, श्री राधागोपाल जी और आचार्य पंचायतन के दर्शन हैं। इसके आचार्य-मंदिर में ब्रह्मचारी जी की मूर्ति भी स्थापित की गई है। महाराज माधवसिंह के नाम पर यह मंदिर 'माधव विलास' कहलाता है।

काठिया बाबा का आश्रम—इस देव-स्थान का निर्माण 'व्रज विदेही' महत मतदास ने कराया था। उनके उत्तराधिकारी श्री धनजयदास हुए। इन्होंने इस स्थान से हट कर गुरुकुल मार्ग पर अन्य स्थान बनवाया है, जो 'काठिया बाबा का नया आश्रम' कहलाता है। पुराने आश्रम के महत प्रेमदास हैं, और नये के रामजीदास हैं।

वृदावन के अन्य देव-स्थान—इनके अतिरिक्त वृदावन के अन्य निवार्कीय देव-स्थान कालियमर्दन जी का मदिर, सर्वेश्वरघाट स्थित श्री जी का मदिर, विहारघाट स्थित श्री नागा जी की पुरानी कुज और श्री उद्धवघमडी जी का स्थान 'श्री ज्ञानी जी की बगीची' हैं। इनके साथ ही 'श्री हरिव्यासी निर्वाणी', 'श्री हरिव्यासी महानिर्वाणी', 'झाटिया निर्मोही' और 'पच मालाधारी निर्मोही' अखाडे भी हैं।

भरतपुर—अगरेजी शासन काल मे यह नगर जाट राज्य की राजधानी था। राजनैतिक दृष्टि से इसकी स्थिति राजस्थान मे है, किंतु सास्कृतिक रूप से यह व्रज प्रदेश के अतर्गत है। इसके दुर्ग मे जो राजकीय मदिर है, उसमे श्री नागा जी के उपास्य ठाकुर श्री विहारी जी विराजमान है। यहाँ नागा जी की मूर्ति, उनकी गूदडी एव माला भी हैं। नागा जी के पुण्य दिवस आश्विन कृ ७ को यहाँ विशेषोत्सव होता है। उसी दिन गूदड़ी-माला का दर्शन भी कराया जाता है।

व्रज के अन्य निवार्कीय स्थान—उपर्युक्त स्थानो के अतिरिक्त बरसाना, गह्वरवन, गाजीपुर, कोकिला वन, पैगाँव, माधुरीकुड, फारेन, शेरगढ, मानसरोवर, पानीघाट आदि भी निवार्क सप्रदाय के दर्शनीय स्थल माने जाते हैं। इस सप्रदाय के सत-महत समय-समय पर इन लीला-स्थलो मे निवास कर भक्ति-साधना करते रहे हैं।

व्रज की यात्रा और परिक्रमा—वल्लभ सप्रदाय और चैतन्य सप्रदाय की भांति निवार्क सप्रदाय मे भी व्रज की यात्रा और परिक्रमा को बडा महत्त्व दिया गया है। श्री चतुरचितामणि नागा जी प्रति दिन व्रज की परिक्रमा किया करते थे। उनके पश्चात् व्रज-यात्रा और व्रज-परिक्रमा नियमित रूप से की जाती रही है। साधारणतया प्रत्येक मास की एकादशी एव पूर्णिमा को तथा विशेष रूप से वन विहार पूर्णिमा, अक्षय नवमी, देवोत्थापन एकादशी और कार्तिक शुक्ला नवमी (श्री हस भगवान् और सनकादि ऋषियो की प्राकट्य तिथि) को परिक्रमा की जाती है। वार्षिक व्रज-यात्रा और व्रज-परिक्रमा का आयोजन व्रजविदेही काठिया बाबा द्वारा किया जाता है। इसमे सैकडो निवार्कीय भक्त गण सम्मिलित होते हैं। ये लोग प्राय. पाँच सप्ताह मे व्रज के समस्त लीला-स्थलो की यात्रा कर वापिस लौटते हैं।

हरिदास संप्रदाय

विरक्त शिष्य-परपरा और गोस्वामी-परपरा के आधुनिक महानुभाव—

सांप्रदायिक गति-विधि—हरिदास सप्रदाय की विरक्त शिष्य-परपरा और गोस्वामी-परपरा के पारस्परिक मनोमालिन्य और उसके कारण सांप्रदायिक गति-रोध होने की बात गत पृष्ठो मे लिखी जा चुकी है। आधुनिक काल मे भी वह स्थिति यथावत् रही है। इस काल मे विरक्त शिष्य-परपरा का प्रतिनिधित्व अधिकतर 'टट्टी संस्थान' द्वारा हुआ है, और इसके महत एव शिष्य गण भी हरिदास सप्रदाय से अधिक निवार्क सप्रदाय की उन्नति मे योग देते रहे हैं। इनकी मान्यता के अनुसार हरिदास सप्रदाय निबार्क सप्रदाय की शाखा है, और मूल को सींचने से शाखा की उन्नति होना स्वाभाविक है। गोस्वामी-परपरा की आधुनिक गति-विधि का केन्द्र अधिकतर श्री विहारी जी का मदिर रहा है। सौभाग्य से विवेच्य काल मे इस मदिर की प्रतिष्ठा इतनी बढ गई है कि यह वृ दावन का सर्वाधिक प्रसिद्ध देव-स्थान हो गया है। इसके कारण गोस्वामी समुदाय मे भी गति-शीलता आई है। यहाँ पर इस सप्रदाय के इन दोनो वर्गो से सबधित कतिपय प्रसिद्ध महानुभावो का सक्षिप्त उल्लेख किया जाता है।

'टट्टी सस्थान' के आधुनिक महत और उनके शिष्य गण—

श्री राधाप्रसाद जी—वे श्री सहचरिशरण जी के पश्चात् स १८६४ की ज्येष्ठ शु ४ को 'टट्टी सस्थान' की गद्दी पर आसीन हुए थे, और स. १६४४ तक वहाँ के महत रहे थे। उनके शिष्यो भगवानदास जी उनके उत्तराधिकारी हुए थे।

श्री भगवानदास जी—उनका जन्म बुदेलखड के एक ब्राह्मण कुल मे हुआ था, और उन्होने युवावस्था मे ही विरक्त होकर श्री राधाप्रसाद जी से मत्र-दीक्षा ली थी। वे अपने गुरु जी के पश्चात् स. १६४४ की आश्विन शु १० को 'टट्टी सस्थान' के महत हुए थे। वे त्यागी, तपस्वी और साधु-सेवी महात्मा थे। उन्होने सस्थान की प्राचीन परपरा का पालन करते हुए इसकी उन्नति मे पर्याप्त योग दिया था। उनसे पहिले इस सप्रदाय के महात्माओ की वाणियो को अत्यत गुप्त रखा जाता था, और अनधिकारी व्यक्तियो से बचाने के लिए उन्हे प्रकाशित नही किया जाता था। उन्होने आधुनिक युग की आवश्यकतानुसार सप्रदायिक प्रचार के लिए वाणियो का प्रकाशन कराया, और अधिकारी व्यक्तियो मे उनका अमूल्य वितरण किया था। सर्वश्री भगवतरसिक जी एव शीतलदास जी की वाणियो के अतिरिक्त उन्होने श्री किशोरदास जी कृत 'निज मत सिद्धात' और 'श्री सहचरिशरण जी कृत 'ललित प्रकाश' जैसे महत्वपूर्ण इतिवृत्तात्मक ग्रथ सर्वप्रथम प्रकाशित कराये थे। उनके कारण इस सप्रदाय के सबध मे आवश्यक जानकारी प्राप्त करने मे बडी सुविधा हुई है। उनका देहावसान स १६८७ की कार्तिक शु ५ को हुआ था। उनके शिष्यो मे रणछोडदास जी उनके उत्तराधिकारी हुए थे।

श्री रणछोड़दास जी—वे श्री भगवानदास जी के पश्चात् स. १६८७ मे सस्थान की गद्दी पर आसीन हुए थे, और स १६६० तक यहाँ के महत रहे थे।

श्री राधारमणदास जी—वे श्री रणछोडदास जी के पश्चात् स १६६० से स १६६३ तक सस्थान के महत रहे थे।

श्री राधाचरणदास जी—ये 'टट्टी सस्थान' के वर्तमान महत हैं, और स. १९९४ की आश्विन शु १० से यहाँ की गद्दी पर आसीन है। इन्होने सस्थान की प्राचीन परपरा का सरक्षण करते हुए स्वामी जी की भक्ति-भावना एव सगीत-पद्धति को अक्षुण्ण रखने का प्रयास किया है। ये वृदावन के विरक्त भक्तो मे अग्रणी हैं।

शिष्य गण—'टट्टी सस्थान' के आधुनिक शिष्यो मे ऐसे अनेक विरक्त भक्त, विद्वत् जन और सद् गृहस्थ हुए है, जिन्होने इस सप्रदाय की उन्नति के लिए पर्याप्त प्रयत्न किया है। इनमे से कतिपय प्रसिद्ध महानुभावो का यहाँ उल्लेख किया जाता है।

प अमोलकराम जी—उनका जन्म हरियाना के गौड ब्राह्मण कुल मे स. १९२९ मे हुआ था। उन्होने काशी, नवद्वीप आदि स्थानो मे सस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी, और धार्मिक एव दार्शनिक ग्र थो का गहन ज्ञानोपार्जन किया था। अपने अध्ययन-काल के अनतर वे वृदावन आ गये, और यहाँ स्थायी रूप मे रहने लगे थे। उन्होने 'टट्टी सस्थान' से सबधित महात्मा स्वामिनीशरण जी से हरिदास सप्रदाय की दीक्षा ली थी। उनके प्रगाढ पाडित्य की बडी ख्याति थी। उनकी विद्वत्ता के कारण उन्हे श्री रग जी मदिर के सस्कृत विद्यालय का प्रधानाध्यापक नियुक्त किया गया था। उन्होने कई उपनिषदो और निंबार्क सप्रदाय के विविध सिद्धात ग्र थो को पाडित्यपूर्ण भाष्य एव टीका-टिप्पणियो सहित सपादित कर प्रकाशित कराया था। वे विविध शास्त्रो के अद्वितीय विद्वान होते हुए भी बडे सरल स्वभाव और सादा रहन-सहन के निष्ठावान साधक थे। उनका देहावसान स २००२ मे वृदावन मे हुआ था।

मुखिया नवेलीशरण जी—वे महात्मा स्वामिनीशरण जी के विरक्त शिष्य और 'टट्टी सस्थान' की सगीत-'समाज' के मुखिया थे। उनके शिष्यो मे कुजविहारी जी प्रमुख थे।

मुखिया कुजविहारी जी—उनका जन्म पजाब के ब्राह्मण कुल मे स १९२९ मे हुआ था। आरभ से ही उनकी रुचि भक्ति-साधना और ठाकुर-सेवा की ओर थी। उन्होने कुछ काल तक अमृतसर मे भक्तिमती आनदीबाई जी के सेव्य ठाकुर श्री राधा-आनदवल्लभ जी की सेवा-पूजा की थी। बाद मे वे वृदावन आ गये, और स. १९४८ से यहाँ स्थायी रूप से रहने लगे थे। वे मुखिया नवेलीशरण जी के शिष्य हुए और उनसे उन्होने समाज-गान की शिक्षा प्राप्त की थी। वे बरसाना और वृदावन मे निवास करते थे। मुखिया गोकुलदास जी से उनका सौहार्द्र था। उनके साथ वे आचार्योत्सव की 'समाज' मे सोत्साह सम्मिलित होते थे। उनका देहात स १९९३ मे हुआ था।

सेठ हरगूलाल जी—ये भक्तवर सेठ जानकीदास जी के सुपुत्र हैं। 'टट्टी सस्थान' के वर्तमान गृहस्थ भक्तो मे ये अग्रणी हैं, और ब्रज की धार्मिक उन्नति के कार्यो मे प्रमुख सहायक रहे हैं। इनके द्वारा सम्पन्न अनेक धार्मिक एव लोकोपकारी कार्यो मे से कुछ इस प्रकार है,—श्री बिहारी जी की सेवा भोग-राग और उत्सवो की व्यवस्था, बिहारी जी के बगीचा का प्रबध; निंबार्क दातव्य औषधालय और टी. बी. सैनीटोरियम जैसी लोकोपकारी सस्थाओ का प्रबध; निधुवन का जीर्णोद्धार; बरसाना की नहर और सडक का निर्माण, वहाँ के सुप्रसिद्ध श्री लाडिली जी के भव्य मंदिर का निर्माण आदि। इस प्रकार के अनेक धर्मार्थ कार्यो मे लाखो रुपया व्यय करने और ब्रज की धार्मिक उन्नति मे तन-मन-धन से निरतर तल्लीन रहने पर भी ये नाम और यश से सदैव उदासीन रहते है। गृहस्थ होते हुए भी इनका रहन-सहन विरक्त सतो के सदृश है।

बाबा विश्वेश्वरशरण जी—इनका जन्म स १९७४ मे बलिया जिला मे हुआ था; किंतु स १९९६ से ये विरक्तावस्था मे वृ दावन मे निवास करते है। इन्होने निंबार्क सप्रदाय की दीक्षा ली है, किंतु ये स्वामी हरिदास जी के अनन्योपासक हैं, और 'टट्टी सस्थान' के निष्ठावान भक्त हैं। इनका निवास 'श्री जी की बडी कुज' मे है, और ये अधिकारी ब्रजवल्लभशरण जी के साप्रदायिक एव साहित्यिक कार्यों मे सहयोग देते है। श्री निंबार्क शोध मडल द्वारा प्रकाशित 'सिद्धात रत्नाकर' और 'स्वामी हरिदास रस सागर' जैसे महत्वपूर्ण वाणी ग्रथो का इन्होने सपादन किया है। इनके सचालन मे वृ दावन का 'सत्सग मडल' भक्ति-प्रचार का अच्छा कार्य कर रहा है।

राधामोहनदास जी—ये अपने घर की परपरा के अनुसार 'टट्टी सस्थान' के निष्ठावान गृहस्थ भक्त है। इनकी रुचि साप्रदायिक प्रचार और वाणी-प्रकाशन की ओर अधिक है। इन्होने सर्वश्री किशोरदास जी, भगवतरसिक जी, रूपसखी जी और बिहारीवल्लभ जी जैसे महात्माओ की दुर्लभ वाणियो का सकलन-सपादन कर उन्हे प्रकाशित किया है। ये बडे उत्साही युवक है।

गोस्वामी-परपरा के विद्वत जन—

वृ दावन निवासी आधुनिक गोस्वामी—वृ दावनस्थ श्री बिहारी जी के गोस्वामियो मे से आधुनिक काल मे जो अधिक प्रसिद्ध हुए हैं, उनमे से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जाता है।

गो. नदकिशोर जी—वे सस्कृत के अच्छे विद्वान और ब्रजभाषा के सुकवि थे। उन्होंने कई काव्य-रचनाएँ की थी, जिनमे 'हरिदास महिमामृत' उल्लेखनीय है। उनका रचना काल स १९२० के लगभग है।

गो जगदीश जी—वे मथुरा के विद्वान अगरेज जिलाधीश और 'मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमाअर' जैसे सुप्रसिद्ध ग्रथ के लेखक श्री एफ एस. ग्राउस के समकालीन थे। उनसे ग्राउस महोदय को स्वामी हरिदास जी से सबधित अनेक सूचनाएँ प्राप्त हुई थी। वे सस्कृत एव ब्रजभाषा के कवि थे।

गो. रामनाथ जी—उनका जन्म स १९५८ मे हुआ था। वे सस्कृत के प्रगाढ विद्वान और ब्रजभाषा के कवि थे। उन्होने कई काव्य-रचनाएँ की थी, जिनमे विहारी भजनावली और कुजविहारी सर्वस्व उल्लेखनीय है। उनका देहावसान कम आयु मे स १९९४ मे हुआ था।

गो. छबीलेवल्लभ जी—उनका जन्म स १९७६ मे हुआ था। वे ब्रजभाषा के कवि और इस सप्रदाय के उत्साही प्रचारक थे। उनका देहात कम आयु मे अब से कुछ ही वर्ष पहिले हुआ है।

गो शरणविहारी जी—इनका जन्म स १९८७ मे वृ दावन मे हुआ है, और ये पूर्वोक्त गो रामनाथ जी के सुपुत्र है। इन्होने सस्कृत और अगरेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त की है। ये ब्रज-भाषा और खडी बोली के सुकवि, एकाकीकार, उपन्यासकार, समीक्षक तथा ब्रजभाषा साहित्य एवं भक्ति-सप्रदायो के अच्छे विद्वान है। इन्होने कई सुदर ग्र थो की रचना की है, जिनमे स्वामी हरिदास और पापाणी (काव्य), पूंछरी को लौठा (ब्रजभाषा का उपन्यास), ध्रुव स्वामिनी (समीक्षा) और कृष्ण-भक्ति काव्य मे सखी भाव (शोध प्रबध) उल्लेखनीय हैं। इनकी कई रचनाएँ सरकार से पुरस्कृत हुई है। ये इस समय दिल्ली विश्वविद्यालय मे हिंदी-प्राध्यापक और आकाशवाणी मे ब्रजमाधुरी कार्यक्रम के सयोजक है।

अन्य गोस्वामी गण—वृ दावनस्थ अन्य गोस्वामियो मे जो इस सप्रदाय की उन्नति के लिए प्रयत्नशील है, उनमे से मूलविहारी जी, प्रेमविहारी जी, प्रियाशरण जी और कुजविहारी जी के नाम उल्लेखनीय है।

हरिदास संप्रदाय के दर्शनीय स्थल, देव-स्थान और वर्तमान स्थिति—

वृंदाबन—ब्रज का यह पुरातन लीला-धाम हरिदास सप्रदाय का सर्वप्रधान साप्रदायिक केन्द्र है। इस सप्रदाय की विरक्त परपरा के आचार्यो और उनके अनुगामी भक्तो का तो यह एक मात्र उपासना-स्थल है। इस परपरा के अनेक महानुभाव 'क्षेत्र सन्यासी' की भाँति जीवन पर्यंत यहाँ निवास करते है, और वे किसी भी दशा मे अन्यत्र जाना अपने लिए निषिद्ध मानते है। गोस्वामी-परपरा के गृहस्थो एव विरक्तो अथवा इस सप्रदाय के सामान्य भक्तो के लिए ऐसा कोई प्रतिबध नही है, फिर भी वे वृंदाबन का सर्वोपरि महत्व मानते है, और यथा सभव यहाँ निवास करने के इच्छुक रहते है। इसी स्थान पर इस सप्रदाय के प्राय. सभी पुण्य स्थल और देवालय है। यहाँ पर इनका सक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

निधुबन—इसे 'निधिबन' भी कहते है। यह प्राचीन वृंदाबन का दर्शनीय अवशेष है। पहिले यह एक विशाल बनस्थल था, किंतु इसके ओर-पास बस्ती बस जाने से इसका आकार बहुत कम हो गया है। इस समय यह पक्की चारदीबारी से घिरा हुआ एक सरक्षित बनखड है, जो वर्तमान वृंदाबन के प्राय मध्य मे 'शाह जी के मदिर' के समीप है। इसकी सघन लता-कुजो मे मोर, बदर और पशु-पक्षियो का स्थायी आवास है। नागरिक कोलाहल के मध्य यह एक शात तपोवन सा है। यद्यपि समुचित देख-भाल न होने से इसका प्राकृत्तिक सौन्दर्य पूर्ववत् नही रहा, तथापि इसमे प्रवेश करते ही ब्रज की प्राचीन बनश्री की यहाँ कुछ झाँकी मिलती है।

स्वामी हरिदास जी ने वृंदाबन आने पर जीवन पर्यंत यहाँ निवास किया था, और इसी के एक विशिष्ट स्थल पर उन्होने श्री बिहारी जी के स्वरूप का प्राकट्य किया था। मुगल सम्राट अकबर ने तानसेन के साथ इसी स्थान पर स्वामी जी के दर्शन किये थे, और उनका दिव्य सगीत सुना था। स्वामी जी के उपरात उनकी विरक्त शिष्य–परपरा के आचार्य ललितकिशोरी जी तक इसी स्थल पर भक्ति–साधना करते रहे थे। गो जगन्नाथ जी तथा उनके वशजो ने श्री बिहारी जी का नया मदिर बनने से पहिले तक इसी स्थान पर उनकी सेवा–पूजा की थी। इस प्रकार यह हरिदास सप्रदाय का प्रधान पुण्य स्थल है। इसमे श्री बिहारी जी का प्राकट्य स्थल, रगमहल और स्वामी जी सहित अनेक महात्माओ की समाधियाँ है। यहाँ स्वामी जी की बैठक और उनके चित्रपट के दर्शन है। बिहार पचमी—मार्गशीर्ष शु ५ को यहाँ एक सास्कृतिक समारोह होता है, जिसमे अनेक सगीतज्ञ, साहित्यकार और विद्वत् जन स्वामी जी को अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करते है। यह स्थान बिहारी जी के गोस्वामियो के अधिकार मे है।

टट्टी सस्थान—यह स्वामी हरिदास जी की विरक्त शिष्य–परपरा का प्रधान केन्द्र है। आचार्य ललित-किशोरी जी ने निधुबन से हटने के उपरात इस स्थान पर भक्ति–साधना की थी। तब से अब तक उनकी शिष्य–परपरा के महात्माओ का यह प्रमुख साधना–स्थल रहा है। यहाँ पर स्वामी जी के स्मृति–चिह्न स्वरूप उनके करुआ–गूदडी सुरक्षित है, जिनका दर्शन राधाष्टमी—भाद्रपद शु ८ को कराया जाता है। उस दिन यहाँ एक भव्य धार्मिक समारोह किया जाता है, जिसके अतर्गत 'समाज' होती है, और मेला लगता है। यहाँ ठाकुर श्री मोहिनीविहारी जी का मदिर है। इस स्थान के अतर्गत श्री राधिकाविहारी जी, श्री दाऊजी, श्री प्राणवल्लभ जी और श्री दपति-किशोर जी के भी मदिर–देवालय है। यहाँ की गद्दी के वर्तमान महत श्री राधाचरणदास जी हैं।

श्री रसिकविहारी जी का मंदिर—यह स्वामी हरिदास जी की विरक्त शिष्य-परंपरा का दूसरा केन्द्र और छठे आचार्य रसिकदास जी के सेव्य स्वरूप का देव-स्थान है। उक्त आचार्य जी निधुवन से हट कर इसी स्थल पर विराजे थे। यहाँ इस संप्रदाय का प्राचीनतम मंदिर बनाया गया था, जिसे आक्रमणकारियों ने ध्वस्त कर दिया था। उस संकट काल में ठाकुर श्री रसिक विहारी जी का स्वरूप वृंदावन से हटा कर उदयपुर-डूंगरपुर पहुँचा दिया गया था। सं. १८१२ में इस स्थान का पुनरुद्धार कर नया मंदिर बनाया गया, तब श्री रसिकविहारी जी के स्वरूप को यहाँ पुनः प्रतिष्ठित किया गया था। इस स्थान की गद्दी के वर्तमान महंत श्री राधाशरणदास जी है।

श्री गोरीलाल जी का मंदिर—यह देव-स्थान पूर्वोक्त ठाकुर रसिकविहारी जी के मंदिर के समीप है। इस संप्रदाय की विरक्त शिष्य-परंपरा का यह तीसरा केन्द्र है। इसकी स्थापना आचार्य रसिकदास जी के शिष्य गोविंददास जी ने की थी। यहाँ के मंदिर में इस संप्रदाय के पाँचवें आचार्य नरहरिदास जी के सेव्य स्वरूप श्री गोरीलाल जी विराजमान है। इस स्थान की गद्दी के वर्तमान महंत श्री बालकदास जी हैं।

श्री विहारी का मंदिर—यह देवालय वृंदावन के पुराने शहर में है। नगर के जिस भाग में यह मंदिर बना हुआ है, वहाँ पहिले भरतपुर के राजा का बाग था। इस बाग के उजड़ जाने पर सं. १९२१ में इस मंदिर का निर्माण किया गया, और इसमें श्री विहारी जी के स्वरूप को पधराया गया। तब से यहाँ बस्ती बनने लगी, और यह स्थान 'विहारीपुरा' कहा जाने लगा। इस समय यह मंदिर वृंदावन का सर्वाधिक लोकप्रसिद्ध देव-स्थान है। यहाँ हजारों नर-नारी प्रति दिन बड़े भक्ति-भाव से श्री विहारी जी के दर्शनों का आनंद प्राप्त करते है। ठाकुर-सेवा, भोग-राग, उत्सव-समारोह आदि की यहाँ सुंदर व्यवस्था है।

वर्तमान स्थिति—इस संप्रदाय की वर्तमान स्थिति ब्रज के अन्य धर्म-संप्रदायों की अपेक्षा कुछ अच्छी होते हुए भी इसमें नवयुग का उन्मेष दिखलाई नहीं देता है। यदि इस संप्रदाय के संत-महंत, गोस्वामी और इनके अनुगामी जन नवयुग के अनुसार अपने को थोड़ा भी ढाल सकें, तो वे सांप्रदायिक उन्नति के साथ ही साथ ब्रज की धार्मिक प्रगति में भी बड़ा योग दे सकते हैं। इस संप्रदाय की यह विशेषता रही है कि स्वामी हरिदास जी सहित इसके अनेक आचार्यों ने 'वाणी के रूप में प्रचुर भक्ति-काव्य का सृजन किया है। यह समस्त वाणी-काव्य ब्रजभाषा में है, और इस संप्रदाय का सर्वोपरि सैद्धांतिक साहित्य माना जाता है। इसका जितना सांप्रदायिक महत्व है, उतना ही साहित्यिक महत्व भी है। हिंदी के विद्वान साहित्यकारों की दृष्टि में भी इसका बहुत थोड़ा ही अंश अभी तक आ सका है। इसका कारण यह है कि यह शृंगार रसपूर्ण साहित्य है, और इस संप्रदाय के विद्वानों ने इसे 'सूम के धन' की भाँति सदा छिपा कर रखा है। उन्हें सदैव आशंका रही है कि इस संप्रदाय की उपासना-भक्ति के यथार्थ मर्म को न समझने वाले पाठक इसका दुरुपयोग कर सकते है। अब से प्रायः ३० वर्ष पहिले वृंदावन के एक विरक्त साधु विहारी-शरण जी ने 'निंबार्क माधुरी' नामक ग्रंथ में निंबार्क संप्रदाय के साथ हरिदास संप्रदाय का भी बहुत सा अज्ञात साहित्य प्रकाशित कराया था। उसके लिए पुरानी पीढ़ी के रुढिवादी सांप्रदायिक विद्वानों ने उनकी बड़ी भर्त्सना की थी। तब से अब तक वातावरण में बहुत अंतर आ गया है। अब इस साहित्य के प्रकाशन का उतना विरोध नहीं किया जाता है, फिर भी अपेक्षित उत्साह का अभाव है। सांप्रदायिक विद्वानों को इसे समुचित रूप में प्रकाशित करना चाहिए।

राधावल्लभ संप्रदाय

'विंदु' और 'नाद' परिवारों के आधुनिक महानुभाव—

'विंदु' – परिवार के गोस्वामी गरग—हित कुलोत्पन्न 'विंदु'–परिवार के रास वश, उसकी दोनो शाखाएँ 'बडी सरकार' – 'छोटी सरकार, तथा विलास वश मे जहाँ विगत काल मे अनेक यशस्वी धर्माचार्य हुए थे, वहाँ आधुनिक काल मे उनकी सख्या उँगलियो पर ही गिनी जा सकती है। इससे राधावल्लभ सप्रदाय की असतोषजनक धार्मिक स्थिति का भली भाँति बोध होता है। यहाँ पर इस काल के कुछ उल्लेखनीय महानुभावो का सक्षिप्त वृत्तात प्रस्तुत है।

गो. चतुरशिरोमणिलाल जी—वे एक विद्वान धर्माचार्य और प्रौढ लेखक थे। उनके महत्वपूर्ण ग्र थ 'भावना सागर' का रचना–काल स १८६१ है। इस प्रकार वे विवेच्य काल से कुछ पहिले हुए थे, किंतु उनका उल्लेख यथा स्थान न किये जाने के कारण, यहाँ किया गया है। वे लेखक होने के साथ ही साथ सस्कृत और ब्रजभाषा के कवि भी थे। उनके काव्य ग्र थ श्री हरि-वशाष्टक, राधिकाष्टक, पदावली आदि है। उनका प्रमुख ग्र थ 'भावना सागर' है, जो राधावल्लभीय साहित्य मे 'सबसे बडा स्वतत्र गद्य–ग्र थ है। इसमे श्याम–श्यामा के विवाह–विनोद का बडा विशद और रोचक वर्णन किया गया है। युगल के अद्भुत प्रेम और रूप एव सखियो की अद्भुत तत्सुखमयी सेवा का मार्मिक परिचय इस ग्र थ मे मिलता है[1]।' इसे एक प्रकार से इस सप्रदाय की गद्यात्मक सैद्धातिक रचना कहा जा सकता है। श्री चतुरशिरोमणिलाल जी के शिष्यो मे शकरदत्त जी (शकर कवि) सस्कृत के प्रसिद्ध ग्र थकार हुए है। उनकी रचनाओ मे श्री हरिवश वश प्रशस्ति, श्री हरिवश हस नाटकम्, सप्तश्लोकी व्याख्या और अलकार शकर उल्लेखनीय है।

गो. रगीलाल जी—उनका जन्म स. १८६० के लगभग वृ दावन मे हुआ था। वे सस्कृत के अच्छे विद्वान, ब्रजभाषा और सस्कृत के सुकवि और उच्च कोटि के भक्त थे। अपने आरभिक जीवन मे वे वृ दावन मे रहे, किंतु गार्हस्थिक विवाद के कारण वे वाद मे वडौदा चले गये थे। वहाँ के राजा ने उनसे प्रभावित होकर एक विशाल मदिर बनवाया था। उनका उत्तर जीवन उसी मदिर मे भक्ति–साधना और ग्र थ–रचना करते हुए बीता था। उन्होने सस्कृत और ब्रजभापा मे अनेक ग्रथो की रचना की है। इनमे द्विदल निर्णय, ब्रजानदामृतम्, भक्ति हस, आनदचद्रोदय नाटक, राधा सुधानिधि की प्रेमतरगिणी टीका, सेवा विचार की टीका, मन प्रवोध और माहेश्वर पचरात्र सार उल्लेखनीय है। उनका देहावसान स १९०९ मे बडौदा मे हुआ था।

गो. मनोहरवल्लभ जी—उनका जन्म स १८९८ के लगभग हुआ था। वे उच्च कोटि के विद्वान और सरल स्वभाव के परोपकारी धर्माचार्य थे। उन्होने गुजरात प्रात मे राधावल्लभ सप्रदाय का बडा प्रचार किया था, और अनेक ग्र थो की रचना की थी। उनके ग्र थो मे हित चतुरासी की सस्कृत टीका, राधा सुधानिधि की टीका, कीर दूत काव्य, गोपिका गीत, राधाप्रेमामृत तरगिणी, छद पयोनिधि, अलकार मयूख और हित सूत्र भाष्य उल्लेखनीय हैं। उनका देहावसान स. १९७७ के लगभग हुआ था।

---

(१) **श्री हित हरिवश गोस्वामी : सप्रदाय और साहित्य**, पृष्ठ ५४६

गो युगलवल्लभ जी—उनका जन्म स. १६०१ की ज्येष्ठ शु ११ को हुआ था। वे प्रौढ विद्वान, यशस्वी ग्रथकार और विख्यात धर्माचार्य थे। उन्होने सस्कृत और ब्रजभाषा मे अनेक ग्रथो की रचना की थी। उनके ग्रथो मे हित शत नाम, हित चद्रिका, हितामृत, सिद्धान सार स्मृति, हित सुधा शशि, हित हितोपदेश, वृदावन विलास, प्रेम प्रकाश, आत्म विचार तथा राधा-सुधानिधि टीका, द्वादश यश टीका और द्विदल सिद्धात टीका उल्लेखनीय है। उनका देहावसान स २००१ की आषाढ कृ ११ को हुआ था।

गो. मोहनलाल जी—उनका जन्म रामवशीय 'छोटी सरकार' के घराने मे स १६११ मे हुआ था। वे विद्वान धर्माचार्य, सुकवि और सुरुचिपूर्ण कलाकार थे। उन्होने गुजरात के विभिन्न नगरो मे राधावल्लभ सप्रदाय का अच्छा प्रचार किया था। वे शृगार, साँझी, फूल बगला आदि कलात्मक सेवा-कार्यो मे दक्ष और कीर्तन-पद रचना मे निपुण थे। उनके ग्रथो मे समय प्रबध, अष्टयाम पदावली और कवित्तमाला उल्लेखनीय हैं। उनका देहावसान स १६६२ मे हुआ था[1]।

गो. सोहनलाल जी—उनका जन्म राम वशीय 'छोटी सरकार' के टीकायत घराने मे स १६१२ मे हुआ था। वे सरल स्वभाव के भजनानदी धर्माचार्य और रससिद्ध गायक थे। पद-गान करते समय मे वे रस-भावना मे तन्मय हो जाते थे। उनका देहावसान वृदावन मे हुआ था।

गो. गोवर्धनलाल जी 'प्रेम कवि'—उनका जन्म स १६३३ मे वृदावन मे हुआ था। वे सुप्रसिद्ध गो गुलाबलाल जी के बडे भाई गो जतनलाल जी की ६वी पीढी मे उत्पन्न रसना-भारती वाले गो कीर्तिलाल जी के सुपुत्र थे। गो. गुलाबलाल जी का उल्लेख सवाई राजा जयसिंह की धार्मिक मान्यताओ के विरुद्ध सघर्ष के प्रसग मे गो रूपलाल जी के साथ गत पृष्ठो मे किया जा चुका है। गो गोवर्धनलाल जी सुप्रसिद्ध धार्मिक विद्वान, कई भाषाओ के ज्ञाता, सुलेखक, सपादक और आशु कवि थे। उन्होने युवावस्था से ही धर्म-प्रचार और साहित्य-सृजन के विविध कार्यों मे बडे उत्साह पूर्वक योग दिया था। वे जीवन पर्यंत अनेक कठिनाइयाँ उठा कर भी इन्हे करते रहे थे। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हे वृदावन से कलकत्ता तक के अनेक स्थानो मे भटकना पडा, और आर्थिक कष्ट एव अन्य प्रकार के सकट सहन करने पडे, किंतु वे अपने लक्ष से कभी विचलित नही हुए थे। उन्होने अनेक ग्रथो और बहुसख्यक कविताओ की रचना की थी। उस काल के प्रतिष्ठित पत्रो मे उनके अनेक लेख निकले थे, और उन्होने 'ब्रजवासी' मासिक पत्र एव 'प्रेम-पुष्प' साप्ताहिक पत्र का सपादन-प्रकाशन किया था। उनका काव्योपनाम 'प्रेम कवि' था, और वे 'कवि चूडामणि' की उपाधि से विभूषित थे।

उनका 'ब्रजवासी' मासिक पत्र स १६५६ (जनवरी १६०१) मे वृदावन से प्रकाशित हुआ था। वे स्वय उसके सपादक और प्रकाशक थे, और वह मथुरा के 'सुदर्शन यत्रालय' में मुद्रित होता था। वह पत्र ब्रज-वृदावन की धार्मिक, साहित्यिक एव सास्कृतिक उन्नति करने के उद्देश्य से निकाला गया था। उसमे बडे रोचक और महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए थे; किंतु आर्थिक कठिनाई के कारण उसे कुछ काल बाद ही बद कर देना पडा था। उस पत्र के सबध मे 'ब्रजवासी की बात' शीर्षक की जो कविता उन्होने १ जनवरी १६०१ को लिखी थी, उसका कुछ अश इस प्रकार है,—

ब्रज के दुख-दारिद हरन, 'ब्रजवासी' अखबार। भक्ति-ज्ञान-वैराग्य हित, प्रगट्यौ ब्रज रखवार ॥
ब्रजबासिनु गौरव अहै, 'ब्रजवासी' सौ आज। सब मिलि याहि निवाहियो, ब्रजबासिनु की लाज ॥

(१) राधावल्लभ भक्तमाल, पृष्ठ १३४

उस पत्र के श्रावण–भाद्रपद महीनो के युग्माक मे अगरेजी और हिंदी भाषाओ मे एक 'अपील' प्रकाशित की गई थी। उसके हिंदी भाग का कुछ अश इस प्रकार है,—"इस पवित्र नगर श्री वृदाबन धाम की अधोगति का अवरोध कर इसकी क्रमिक उन्नति साधन के अभिप्राय सै हम लोगो ने एक 'ब्रजवासी' नाम का मासिक पत्र प्रकाश करना प्रारभ किया है। इस प्रकार के पत्र का यहाँ बडा भारी अभाव था। ब्रजवासियो की प्रकृति मै जिस 'प्रेम' की अधिकता है, उसी प्रेम के द्वारा ये नव प्रतिष्ठित पत्र चलाया जायगा। जहाँ तक सभव होगा, हम लोग राजनीति के सग्राम सै अलग रह कर भारतवर्ष के अन्यान्य स्थानो की प्राकृतिक नीति और ज्ञान विषय की उन्नति करने के लिए केवल अपने हृदय सै निकले हुए तेज को प्रकाश करने की चेष्टा करके ही सतुष्ट रहेगे।"

उनका 'प्रेम पुष्प' साप्ताहिक पत्र बाद मे कलकत्ता से निकाला गया था। उक्त पत्र के भी वे स्वय ही सपादक एव प्रकाशक थे। उसकी यह विशेषता थी कि वह आद्योपात काव्यात्मक रूप मे प्रकाशित किया जाता था। उसके समाचार, लेख, सपादकीय—यहाँ तक कि सूचनाएँ और विज्ञापन तक कविताबद्ध होते थे। प्रति सप्ताह पूरा पत्र काव्यात्मक रूप मे प्रकाशित करने मे उन्हे प्रचुर परिश्रम करना पडता था, जिससे वे रुग्ण हो गये थे। अत मे आर्थिक कठिनाई और शारीरिक अस्वस्थता के कारण उक्त अद्भुत पत्र को बद कर देना पडा था।

गो गोबर्धनलाल जी एक धर्माचार्य होते हुए भी फक्कड तबियत के मनमौजी व्यक्ति थे। अपनी विचित्र धुन के कारण उन्हे जीवन मे आवश्यक सुख–चैन नही मिला था, किंतु वे कभी हतोत्साह नही हुए। उन्होने ब्रज–वृदावन की समुन्नति के लिए घर फूंक कर और जीवन की आहुति देकर तमाशा देखा था। आधुनिक काल के राधावल्लभीय गोस्वामियो मे उनके जैसे व्यक्तित्व का कोई धर्माचार्य नही हुआ।

गो रूपलाल जी—वे विलास वशीय सेवाधिकारी गो. किशोरीलाल जी के पुत्र थे। उनका जन्म स १९५७ की आषाढ कृ ५ को हुआ था। वे जीवन पर्यन्त राधावल्लभीय साहित्य के शोध–सकलन का महत्वपूर्ण कार्य करते रहे थे। उन्होने बडी निष्ठा पूर्वक इस सप्रदाय के दुर्लभ ग्र थो की प्रतिलिपियाँ की थी। उनका पुस्तकालय राधावल्लभीय साहित्य का भडार है। उनका देहावसान स. २०१९ की चैत्र शु. ६ को वृदाबन मे हुआ था। उनके कई पुत्र हैं, जिनमे सुकुमारी लाल जी सबसे बडे हैं।

गो. ललिताचरण जी—वृदाबन के वर्तमान राधावल्लभीय गोस्वामियो मे इनका महत्वपूर्ण स्थान है। रासवशीय गो चतुरशिरोमणिलाल जी की की ये छठी पीढी मे है, और इनका जन्म स १९६४ की भाद्रपद शु ४ को हुआ था। ये आरभ से ही धार्मिक एव साहित्यिक कार्यो के सपादन मे पर्याप्त रुचि लेते रहे है, और इन्होने राधावल्लभीय सिद्धात एव साहित्य का गभीर अध्ययन किया है। ये सुशिक्षित प्रौढ धार्मिक विद्वान होने के साथ ही साथ कवि, एकाकीकार, शोधक एव समीक्षक है। इनकी आरभिक कृतियो मे 'यवनोद्धार नाटिका' उल्लेखनीय है। इधर इन्होने दो महत्वपूर्ण ग्र थो की रचना की है। एक है 'श्री हित हरिवश गोस्वामी . सप्रदाय और साहित्य' तथा दूसरा है 'श्री हित चौरासी' का सेवक वाणी सहित सुसपादित एव सटिप्पण सस्करण। प्रथम रचना राधावल्लभीय सिद्धात और साहित्य का मर्मोद्घाटन करने वाली महत्वपूर्ण कृति है। दूसरी रचना श्री हित हरिवश जी और सेवक जी की वाणी का अध्ययन करने मे अत्यत सहायक है। इन ग्रथो का प्रकाशन क्रमश स २०१४ और सं. २०२० में हुआ है।

अन्य गोस्वामी गण—वृ दावन के वर्तमान राधावल्लभीय गोस्वामियो मे सर्वश्री व्रजभूषण-लाल जी, वृ दावनवल्लभ जी, व्रजजीवनलाल जी (कमरा वाले), व्रजजीवनलाल जी (छोटी सरकार), देवकीनदनलाल जी, हितानद जी (विलास वशीय), मुकुटवल्लभ जी और प्रभातचद्र जी के नाम इस सप्रदाय की हित-साधना का प्रयास करने वालो मे विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य गोस्वामी गण भी साप्रदायिक उन्नति के लिए सचेष्ट हैं।

'नाद' – परिवार के विरक्त भक्त और विद्वत् जन—श्री हित हरिवश जी की शिष्य-परपरा—'नाद'-परिवार के विरक्त भक्त और विद्वत् जन—भी इस काल मे व्रज मे अल्प सख्या मे ही हुए हैं। इनमे से कतिपय महानुभावो का यहाँ उल्लेख किया जाता है।

प्रियादास जी (पटना वाले)— उनका जन्म पटना के एक ब्राह्मण कुल मे हुआ था, और उन्होने काशी मे सस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। यथेष्ट विद्योपार्जन करने पर भी उनके मन को तृप्ति और शाति प्राप्त नही हुई थी। उसके कारण वे भ्रमण करते हुए वृ दावन आये थे। यहाँ पर उन्होने राधावल्लभीय विद्वान भक्तो के सत्सग मे 'रस' और 'सिद्धात' के ग्रथो का गहन अध्ययन किया था। इससे उनकी मनोभिलाषा की पूर्ति हुई थी। 'राधावल्लभ भक्तमाल' (पृष्ठ ४५६) मे उन्हे रेटी वश के सुप्रसिद्ध गो चद्रलाल जी का शिष्य लिखा गया है, किंतु गो ललिताचरण जी ने उन्हें गो सनेहीलाल जी का शिष्य बतलाया है[1]। उनकी रचनाएँ स १८६५ से स १९२४ तक की मिलती हैं। इनसे उनकी विद्यमानता का आनुमानिक काल स. १८६० से स १९३० का ज्ञात पडता है। वे इस सप्रदाय के सस्कृत विद्वानो मे अन्यतम थे। उन्होने ३०–३५ वर्ष तक जम कर सस्कृत मे ग्र थ–रचना की थी। 'अलि' जी ने उनके ३७ सस्कृत ग्रथो का नामोल्लेख किया है[2]। इनमे से निज मत दर्पण, महोत्सव निर्णयम्, ईशावास्योपनिषद् भाष्य, सुश्लोक मणिमाला (रसिक अनन्यमाल का सस्कृत भाषातर), हित कथामृत तरगिणी, श्री व्यासनदन भाष्य (ब्रह्मसूत्र का अपूर्ण भाष्य), हितमतार्थ चद्रिका, अब्दविनिर्णय टीका विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

राधासर्वेश्वरदास जी (स्वामिनीशरण)—उनका जन्म काशी के निकटवर्ती रामगढ नामक ग्राम मे हुआ था। वे युवावस्था मे ही विरक्त होकर व्रज मे आ गये थे। उन्होने बरसाना एव वृ दावन मे निवास किया, और 'छोटी सरकार' के गो. मोहनलाल जी से राधावल्लभ सप्रदाय की दीक्षा ली थी। यहाँ उनका नाम स्वामिनीशरण रखा गया था[3]। वे भजनानदी और सत्सग-परायण रसिक भक्त थे। उन्होने कई ग्र थो की रचना भी की थी। उनके ग थो मे हितामृतसागर लहरी, हित कृपा कटाक्ष चालीसा और राधासुधानिधि की टीका उल्लेखनीय है।

बाबा लाडिलीदास जी—उनका जन्म व्रज के मानसरोवर ग्राम के निकट एक सनाढ्य ब्राह्मण कुल मे स १९०९ मे हुआ था। उन्होने विरक्त होकर बाबा परशुरामदास जी दीक्षा ली, और वे राधावल्लभीय निर्मोही अखाडा रासमडल पर निवास करने लगे। उन्होने जीवन पर्यंत भक्ति-साधना की थी, और वाणी साहित्य का पठन–पाठन किया था। वे मानसरोवरिया थोक के थे। उनकी काव्य–रचनाएँ हित ललित विलास, पदावली और पत्राध्यायी है[4]।

---

(१) **श्री हित हरिवश गोस्वामी : सप्रदाय और साहित्य**, पृष्ठ ५९२

(२) **साहित्य रत्नावली**, पृष्ठ ७३–७५

(३), (४) **राधावल्लभ सप्रदाय**, पृष्ठ ४९९ और ५०७

प्रियादास जी शुक्ल—वे चौवेपुर जिला कानपुर के कान्यकुब्ज ब्राह्मण दुर्गाप्रसाद जी शुक्ल के पुत्र थे। उनका जन्म स १९१७ के लगभग हुआ था। उनके पिता निंबार्क सप्रदाय के अनुयायी थे, किंतु वे प्रेमोपासना और रस भक्ति की ओर आकृष्ट होने से श्री हित हरिवश जी के तृतीय पुत्र गो गोपीनाथ जी के वशज गो गिरिधरलाल जी के शिष्य होकर राधावल्लभ सप्रदाय मे दीक्षित हुए थे। वे गृहस्थ थे, और उनकी कई सतान थी। पिता, माता एव पत्नी का देहात होने पर उन्होने चौवेपुर को छोड दिया और वे वृदावन तथा जयपुर मे रहने लगे। वृदावन मे उन्होने पर्याप्त काल तक निवास कर राधावल्लभीय गोस्वामियो और भक्त जनो के जीवन–वृत्तात की प्रचुर सामग्री एकत्र की थी, जिसके आधार पर उन्होने 'राधावल्लभ भक्तमाल' नामक ग्रथ का निर्माण किया था। वे विद्वान और भावुक भक्त जन थे। उन्होने सस्कृत और व्रजभाषा–हिंदी मे अनेक ग्रथो की रचना की थी। उनके सस्कृत ग्रथो मे विवेक चूडामणि (स १९५१), शुद्धाद्वैत मार्तंड (१९५२), श्री वृदावन तत्व रहस्य सग्रह (१९५४), शास्त्र सार सिद्धातमणि (१९५४) और योग तत्वामृत (१९५६) उल्लेखनीय हैं। व्रजभाषा ग्रथो मे प्रिया रसिक विनोद (१९३७) भक्ति-ज्ञानामृत वर्षिणी (१९४१), अनुराग शतक (१९४४), श्री लाडिली जी विवाहोत्सव (१९७०) और होरी विनोद (१९७१) उल्लेखनीय है। काव्य की दृष्टि से ये सब साधारण रचनाएँ हैं।

उनका अधिक प्रसिद्ध ग्रथ 'राधावल्लभ भक्तमाल' है। यह हिंदी गद्य मे है, और इसकी पूर्ति स. १९६५ मे हुई थी। इस बडे ग्रथ मे श्री हित हरिवश जी, उनके पुत्र–पौत्र, एव हित कुलोत्पन्न 'बिंदु'–परिकर के गोस्वामियो का तथा 'नाद'–परिकर के प्रमुख भक्त जनो का वृत्तात श्री हित जी के काल से लेकर आधुनिक काल तक का लिखा गया है। यह वृत्तात भक्तमाल की शैली के अनुसार माहात्म्य सूचक है, अत इसे ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा प्रामाणिक नही कहा जा सकता। फिर भी इसमे राधावल्लभीय गोस्वामियो और उनके अनुयायी भक्त जनो से सबधित अनेक उपयोगी सूचनाएँ मिलती हैं। शोधक विद्वान नीर-क्षीर-विवेक न्याय से इसका उपयोग कर सकते है। इस ग्रथ का सशोधन–सपादन राधावल्लभीय गो युगलवल्लभ जी एव गो वृदावनवल्लभ जी द्वारा किया गया, और इसका प्रकाशन लेखक के पुत्र मुखिया व्रजवल्लभदास जी ने स १९८६ मे किया। लेखक का देहावसान स. १९७३ के कुछ समय पश्चात् जयपुर मे हुआ था।

भोलानाथ जी (हित भोरी)—उनका जन्म मध्य प्रदेश के भेलसा नगर मे स १९४७ की आषाढ कृ ९ को हुआ था। वे सक्सना कायस्थ थे, और उन्होने अगरेजी की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। वे आरभ से ही धार्मिक रुचि सम्पन्न थे। अपनी किशोरावस्था मे उन्होने कोटा के श्री गोपाल जी मदिर के सेवाधिकारी प गोपीलाल जी से राधावल्लभ सप्रदाय की दीक्षा ली थी। शिक्षा समाप्त करने के अनतर वे छतरपुर-नरेश विश्वनाथ सिंह जी के निजी सचिव हुए थे, और कुछ काल तक गृहस्थ धर्म का पालन करते रहे थे। किंतु भक्ति मार्ग की ओर अधिक रुचि होने के कारण उनका मन सासारिक कार्यो मे नही लगता था। वे युवावस्था मे ही घर-बार छोड कर वृंदावन आ गये थे, और यहाँ पर बडे अकिंचन भाव से निवास करते हुए श्री प्रिया जी के प्रेम-रस मे निमग्न रहने लगे। वे जन्मजात भक्त–कवि थे। उन्होने अनेक पदो की रचना की है, जिनमे भक्त-हृदय की आकुलता और प्रेम की नैसर्गिक पीडा व्यक्त हुई है। पद–रचना के अतिरिक्त उन्होने 'सुधर्म बोधिनी की टीका की थी, और 'ब्रह्मसूत्र' के कुछ अश का भाष्य लिखा था। उनका देहात सं. १९८९ की आषाढ सु. ६ को केवल ४२ वर्ष की आयु मे हुआ था।

वृंदाबन के अन्य राधावल्लभीय देव-स्थान—श्री राधावल्लभ जी के मदिर के समीप इस सप्रदाय के और भी कई देव-स्थान है, जिनमे 'कलकत्ता वाली कुज' उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त श्री वनचद्र जी का 'डोल' रासमडल पर है; श्री कृष्णचद्र जी के सेव्य स्वरूप श्री राधामोहन जी का मदिर जुगलघाट पर है, और श्री मोहनचद्र जी के सेव्य स्वरूप का मदिर अठखभा–भट्टगली मे है।

गोबर्धन-राधाकुंड—व्रज के इन धार्मिक स्थलो मे भी इस सप्रदाय के कुछ देव-स्थान है। गोबर्धन मे एक मदिर है, जिस पर इस सप्रदाय के विरक्त साधुओ का अधिकार है। राधाकुड मे कृष्णकुड पर एक मदिर है। इसके निकट श्री हित हरिवश जी की बैठक है, और रासमडल है।

कामबन—इस स्थान के मदिर मे श्री राधावल्लभ जी उस समय विराजे थे, जब उन्हे वृंदाबन से ला कर यहाँ पधराया गया था। यह विशाल मदिर इस समय भग्नावस्था मे है।

बरसाना—यह स्थान श्री राधा जी का लीला-धाम है, अत इस सप्रदाय का भी महत्वपूर्ण दर्शनीय स्थल है। यहाँ के भानोखर कुड पर गो रूपलाल जी की बैठक है।

बाद—व्रज का यह छोटा सा गाँव मथुरा से कुछ दूर आगरा सडक के किनारे पर बसा हुआ है। यहाँ पर श्री हित हरिवश जी का जन्म हुआ था। उसी स्मृति मे यहाँ पर एक देवालय बनाया गया है। इस पर राधावल्लभीय साधुओ का अधिकार है।

वर्तमान स्थिति—राधावल्लभ सप्रदाय की स्थापना के काल से लेकर आधुनिक काल से पहिले तक इसकी बडी उन्नति हुई थी। इस सप्रदाय के परपरागत दोनो वर्ग—'बिंदु'-परिवार और 'नाद'-परिवार के महानुभावो ने समान रूप से इसकी प्रगति मे योग दिया था। किंतु आधुनिक काल मे इसके दोनो वर्गो मे कुछ ऐसी शिथिलता आ गई कि जिसके कारण साप्रदायिक उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो गया। अब नवयुग के प्रभाव से कुछ क्रियाशीलता दिखलाई देने लगी है। इस सप्रदाय के महात्माओ ने अत्यत समृद्ध साहित्य का सृजन किया है, जिसका बहुत थोडा ही अश अभी तक प्रकाशित हो सका है। अब इस बात की आवश्यकता है कि इसे समुचित रूप मे टीका–टिप्पणियो सहित प्रकाशित किया जावे। तभी यह सप्रदाय अपने पूर्व गौरव को प्राप्त कर सकता है।

अन्य धर्म - संप्रदाय

प्राचीन धर्म-संप्रदाय—पूर्वोक्त पाँचो राधा-कृष्णोपासक भक्ति सप्रदायो के अतिरिक्त कतिपय प्राचीन धर्म-सप्रदाय भी इस काल मे व्रज मे प्रचलित रहे है। उनकी स्थिति उत्तर मध्य काल मे भी अच्छी नही थी, जब कि यहाँ पर राधा-कृष्णोपासक सप्रदायो का अधिक प्रचार हुआ था। आधुनिक काल मे जब सुप्रचारित राधा-कृष्णोपासक सप्रदायो की स्थिति ही बिगडी हुई है, तब उन प्राचीन धर्म-सप्रदायो की दशा तो और भी खराब है। प्राचीन भक्ति सप्रदायो मे से 'रामानुज सप्रदाय' का व्रज मे पहिले कोई खास स्थान नही था, इसीलिए विगत अध्याय मे उसका उल्लेख नही किया गया था। किंतु आधुनिक काल मे श्री रगजी का मदिर बन जाने से वृंदावन मे इस सप्रदाय का कुछ प्रभाव हो गया है, अत इस अध्याय मे उसका उल्लेख कर दिया गया है।

नवीन धार्मिक मत–मतांतर—इस काल मे व्रज मे कुछ नवीन मत-मतातरो का उदय हुआ है, और कतिपय प्राचीन मतो का प्रचार हुआ है। इन नवीन मतो मे 'आर्य समाज' एव 'राधास्वामी पथ' है, तथा प्राचीन मतो मे 'सिक्ख पंथ' है। इस अध्याय मे इनका भी उल्लेख हुआ है।

आगामी पृष्ठो मे इस काल के इन विविध धर्म-सप्रदायो और मत-मतातरो का क्रमानुसार वर्णन किया गया है।

जैन धर्म

अंगरेजी शासन काल मे जैन धर्म की स्थिति—औरंगजेबी शासन काल के बाद से अगरेजी राज्य की स्थापना तक जैन धर्म की स्थिति कुछ बिगड़ी हुई रही थी। औरंगजेबी काल मे अथवा उसके बाद आक्रमणकारियो द्वारा ब्रज के जो जैन मदिर नष्ट-भ्रष्ट किये गये थे, वे इस समय भग्न और उपेक्षित अवस्था मे पडे रहे थे। इस काल मे किसी नये मदिर के बनने का भी उल्लेख नही मिलता है। अगरेजी राज्य कायम हो जाने पर जब यहाँ शाति पूर्वक शासन चलने लगा, तब पुराने मदिरो के जीर्णोद्धार और नये मदिरो के निर्माण की ओर जैनियो का कुछ ध्यान गया था। मथुरा मे एक ऐसी तीर्थंकर-प्रतिमा प्राप्त हुई है, जिसके लेख से ज्ञात होता है कि वह यहाँ के किसी जैन मदिर मे स १८७७ मे प्रतिष्ठित की गई थी। ऐसा जान पडता है, अगरेजी राज्य की स्थापना के बाद १९ वी शताब्दी मे यहाँ पर कोई नया जैन मदिर बना होगा, अथवा किसी पुराने मदिर का जीर्णोद्धार कर उसमे वह मूर्ति प्रतिष्ठित की गई होगी। इसी काल मे मथुरा के कवि प प्रयागदास ने 'जम्बू स्वामी पूजा' नामक एक पुस्तक की रचना की थी। उसमे चौरासी क्षेत्र स्थित जम्बू स्वामी[1] के मदिर मे कार्तिक कृष्ण पक्ष मे होने वाली पूजा और रथ-यात्रा का वर्णन किया गया है। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, मथुरामडल का एक मात्र प्राचीन जैन केन्द्र 'चौरासी सिद्ध क्षेत्र' भी औरंगजेबी शासन मे महत्व शून्य होकर शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो गया था। उसकी वह स्थिति अगरेजी शासन काल मे कुछ सुधर गई होगी, जिससे वहाँ के मदिर मे पुन विधिवत् पूजा तथा धार्मिक आयोजन किये जाने की कुछ व्यवस्था हुई थी।

मथुरा के सेठो का योग—अगरेजी शासन काल मे मथुरा के सेठो द्वारा जैन धर्म को बडा सरक्षण मिला था। इस घराने के प्रतिष्ठाता सेठ मनीराम दिगबर जैन श्रावक थे। वे पहिले ग्वालियर राज्य के दानाधिकारी श्री गोकुलदास पारिख के एक साधारण मुनीम थे। जब पारिख जी अपने साथ करोडो की धर्मादा सपत्ति लेकर उससे ब्रज मे मदिरादि का निर्माण कराने स. १८७० मे मथुरा आये थे, तब मनीराम मुनीम भी उनके साथ थे। पारिख जी गुजराती वैश्य और वल्लभ सप्रदायी वैष्णव थे, जब कि मनीराम राजस्थानी खडेलवाल वैश्य और जैन धर्मावलबी थे। इस प्रकार जाति और धर्म की भिन्नता होते हुए भी पारिख जी मनीराम की ईमानदारी और कर्तव्य-परायणता पर बडे प्रसन्न थे। वे अपनी मृत्यु से पहिले मनीराम जी के ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मीचद को अपना उत्तराधिकारी बना गये थे। स १८८३ मे पारिख जी का देहात हो गया। उसके बाद मनीराम-लक्ष्मीचद पारिख जी की विपुल सपत्ति के स्वामी हुए थे। उन्होने व्यापार द्वारा उस सपत्ति को खूब बढाया और विविध धार्मिक कार्यो मे उसका सदुपयोग किया था। उन्होने मथुरा के 'चौरासी सिद्ध क्षेत्र' मे जैन मदिर का निर्माण कराया था।

---

(१) दिगबर मान्यता के अनुसार जैन धर्म मे तीन ज्ञानकेवली और पांच श्रुतकेवली हुए हैं। तीन ज्ञानकेवलियो के नाम १. गौतम, २. सुधर्मा और ३ जम्बूस्वामी हैं। पांच श्रुतकेवली १ विष्णु, २ नदिमित्र १. अपराजित, ४ गोवर्धन और ५. भद्रबाहु माने गये हे। ज्ञानकेवलियो मे जम्बूस्वामी अतिम थे। उनका उपासना-स्थल मथुरा का 'चौरासी सिद्ध क्षेत्र' जैनियो के लिए सदा से श्रद्धास्पद रहा है।

सेठ घराने के सर्वाधिक प्रसिद्ध व्यक्ति राजा लक्ष्मणदास थे। वे भारतवर्षीय दिगवर जैन महासभा के सस्थापको मे से थे। आरभ मे वे उसके अध्यक्ष भी रहे थे। उन्होने महासभा के कार्यालय को मथुरा मे रख कर उसकी स्वय व्यवस्था की थी, और 'जैन गजट' का प्रकाशन किया था। उनके द्वारा जैन धर्म और जैन समाज की बडी सेवा हुई थी।

मथुरा के सेठो की एक बडी विशेषता यह थी कि उनमे धार्मिक कट्टरता बिलकुल नही थी। वे सभी धर्मो का समान रूप से आदर करते थे। सेठ लक्ष्मणदास के पिता सेठ राधाकृष्ण ने वृदावन मे रामानुज सप्रदाय का सुविशाल 'श्री रग जी का मदिर' बनवाया था। सेठ लक्ष्मणदास ने उक्त श्री रग मदिर और पारिख जी द्वारा बनवाये हुए मथुरा के वल्लभ सप्रदायी श्री द्वारकाधीश मदिर की उन्नति मे भी बडा योग दिया था।

चौरासी सिद्ध क्षेत्र का मदिर—इस मदिर का निर्माण सेठ मनीराम-लक्ष्मीचद ने कराया था। इसमे उन्होने अष्टम तीर्थंकर भगवान् चद्रप्रभ की मूर्ति प्रतिष्ठित कर दिगवर विधि के अनुसार उनकी पूजा की यथोचित व्यवस्था की थी। बाद मे सेठ लक्ष्मीचद के पुत्र रघुनाथदास ने वहाँ द्वितीय तीर्थंकर भगवान् अजितनाथ की विशाल सगमरमर प्रतिमा को प्रतिष्ठित किया था। मथुरा मडल के आधुनिक जैन देवालयो मे यह मदिर सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यहाँ पर कार्तिक कृ २ से कृ ८ तक प्रति वर्ष एक बडा उत्सव होता है, जिसमे रथ-यात्रा का भी आयोजन किया जाता है। कहते हैं, इस उत्सव का आरभ भरतपुर के श्रावक नैनसुख ने स १९२९ मे किया था।

अन्य मदिर-देवालय—चौरासी क्षेत्र के पूर्वोक्त मदिर के अतिरिक्त मथुरा नगर मे दो जैन मदिर और है,—एक चौबच्चा मौहल्ला मे और दूसरा घीयामडी मे। दोनो मे तीर्थंकर भगवान् पद्मप्रभ की प्रतिमाएँ है। ब्रज के अन्य स्थान जैसे कोसीकलाँ और सहपऊ मे भी कुछ जैन मदिर है। कोसी मे भगवान् पद्मप्रभ जी, नेमिनाथ जी और महावीर जी के मदिर है। सहपऊ गाँव मे श्री नेमिनाथ जी का मदिर है, जहाँ भाद्रपद महीने मे मेला लगता है।

ग्रथ-रचना—१९ वी शती के मध्य काल मे मथुरा मे प प्रयागदास जैन कवि हुए थे। उनकी रचना 'जम्बूस्वामी पूजा' का उल्लेख किया जा चुका है। उनके पश्चात् ब्रज मे और भी कतिपय ग्रथकार हुए, जिन्होने आधुनिक काल मे जैन साहित्य की समृद्धि मे योग दिया है। यह काल हिंदी की खडी बोली और उसकी गद्य शैली की उन्नति का है। फलत इस काल के जैन ग्रथकारो ने भी ब्रजभाषा काव्य की अपेक्षा खडी बोली गद्य मे ही अपनी रचनाएँ की है।

वर्तमान स्थिति—इस समय मथुरा मे जैन धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र चौरासी स्थित जम्बूस्वामी का सिद्ध क्षेत्र ही है। यहाँ पर 'अखिल भारतीय दिगवर जैन सघ' का केन्द्रीय कार्यालय है। साप्ताहिक पत्र 'जैन सदेश' इसी स्थान से प्रकाशित होता है। यहाँ के 'ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम' मे जैन धर्म और सस्कृत भाषा के साथ ही साथ वर्तमान प्रणाली की शिक्षा दी जाती है। इस स्थान के 'सरस्वती भवन' मे जैन धर्म के ग्रथो का अच्छा सग्रह है।

ब्रजमडल मे जैन धर्म का सबसे बडा केन्द्र आगरा है। यहाँ पर मध्य काल से ही जैन धर्मावलवियो की प्रचुर सख्या रही है। जैन ग्रथकार तो अधिकतर आगरा के ही हुए है। इस समय वहाँ जैन धर्म की अनेक सस्थाएँ हैं, जो उपयोगी कार्य कर रही है। वहाँ का जैन कालेज और ग्रथ भडार भी प्रसिद्ध हैं।

शैव धर्म

आधुनिक परिवर्तन—ब्रज मे वैष्णव धर्म और उसके अतर्गत राधा-कृष्णोपासक सप्रदायो का व्यापक प्रचलन होने से उत्तर मध्य काल मे शैव धर्म का जो समन्वयात्मक रूप बना था, उसका उल्लेख गत पृष्ठो मे किया जा चुका है। आधुनिक काल मे यह धर्म ब्रज मे अपना स्वतत्र अस्तित्व खो बैठा, और यहाँ के सामान्य लोक धर्म मे समाविष्ट हो गया। इस काल मे साधारण ब्रजवासी, चाहे वे किसी भी धर्म-सप्रदाय के मानने वाले हो, लौकिक मान्यताओ के अनुसार विभिन्न अवसरो पर भगवान् शिव की भी पूजा करते है, और व्रत रखते हैं। इस समय ब्रजमडल के प्राय सभी स्थानो मे छोटे-बडे शिवालय बने हुए हैं, जहाँ विभिन्न धर्म-सप्रदायो के सामान्य नर-नारी बिना किसी धार्मिक भेद-भाव के दर्शन-पूजन किया करते है। कुछ धर्म-सप्रदायो के बडे मदिरो के साथ भी छोटे शिवालय बनाये गये है, जहाँ भक्त गण अपने उपास्य देव के साथ ही साथ शिव जी के भी दर्शन करते हैं।

लोक-पूजा और लोकोत्सव—आधुनिक काल मे शिव जी की लोक-पूजा के लिए कुछ विशेष दिन और लोकोत्सव के लिए कुछ विशिष्ट अवसर निश्चित किये गये हैं। सप्ताह मे प्रत्येक सोमवार, पक्ष मे प्रत्येक त्रयोदशी और वर्ष मे एक बार शिवरात्रि को शिव-पूजा का विशेष माहात्म्य माना गया है। प्रत्येक सोमवार को सामान्य भक्त जन उनकी पूजा करते है, प्रत्येक त्रयोदशी को प्रदोष का व्रत रखते है और शिवरात्रि को पूजा एव व्रत के साथ ही साथ रात्रि-जागरण भी करते है। वैसे इन सभी दिनो का महत्व है, किंतु शिव-रात्रि के अवसर पर विशाल आयोजन और धूम-धाम के साथ शिवोपासना की जाती है।

शिवरात्रि का महोत्सव फाल्गुन मास के प्रथम पक्ष मे होता है। आधुनिक काल मे ब्रज मे इसे एक सामान्य लोकोत्सव अथवा लोक-त्योहार के रूप मे मनाया जाता है, और यह तीन दिन तक चलता है। उस समय ब्रज मे होली की चहल-पहल आरभ हो जाती है, जिसके कारण यह उत्सव भी बडे धूम-धाम से सम्पन्न होता है। पहिले दिन तेरस की रात्रि को शिव जी के मदिरो मे जागरण किया जाता है। उस अवसर पर महादेव-पार्वती के विवाह के लोक गीत गाये जाते हैं। जोगी लोग सारगी और डमरू वाद्यो को बजाते हुए उनके विवाह की लोक-कथा का गायन करते है। दूसरे दिन चौदस को नर-नारी व्रत रखते है, और शिव जी का पूजन करते है। तीसरे दिन अमावस को 'बम्भोला'-पूजन के नाम से शिव जी के खप्पर की पूजा होती है, और जोगियो को भोजन कराया जाता है।

वर्तमान शैव स्थान—ब्रज के विभिन्न स्थानो मे बने हुए सामान्य शिवालयो के अतिरिक्त यहाँ कुछ विशिष्ट शैव स्थान भी है। इनमे वृदावन स्थित श्री गोपीश्वर जी का मदिर अधिक प्रसिद्ध है। इसमे शिव जी की प्राचीन प्रतिमा है। वृदावन के सैकडो नर-नारी यहाँ प्रति दिन दर्शन-पूजा करते हैं। विशेष अवसरो पर यहाँ भव्य समारोह किये जाते है। मथुरा नगर मे इस काल मे श्री रगेश्वर महादेव जी की प्रतिष्ठा बहुत बढ गई है। सैकडो नर-नारी नियम पूर्वक प्रति दिन इनका दर्शन-पूजन करते है। प्रत्येक सोमवार को यहाँ मेला सा लग जाता है। गोवर्धन मे चक्रेश्वर महादेव और कामवन मे कामेश्वर महादेव की भी अच्छी मान्यता है। इन शैव स्थानो मे समय-समय पर उत्सव-समारोह हुआ करते है, जिनमे अनेक ब्रजवासी सम्मिलित होते हैं।

शाक्त धर्म

'दक्षिणाचार' की साधना और लौकिक 'देवी-पूजा' का प्रचलन—

आधुनिक स्थिति—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, वामाचारी शाक्तो की मद्य-मास-व्यभिचारमयी कुत्सित साधना का वैष्णव भक्तो द्वारा प्रबल विरोध किये जाने से व्रज मे शाक्त धर्म का प्रभाव बहुत कम हो गया था। इस धर्म के वामाचार की साधना तो एक दम समाप्त ही हो गई थी; किंतु दक्षिणाचार की सौम्य शक्ति-साधना और लोक की देवी-पूजा थोडी-बहुत चलती रही थी। आधुनिक काल मे दक्षिणाचार की साधना मे और भी कमी हो गई, फिर भी इस धर्म का यह रूप किसी प्रकार प्रचलित है। इस काल मे शाक्त धर्म का अवशिष्ट रूप वस्तुत लोक-देवियो की पूजा मे दिखलाई देता है। यहाँ पर इस धर्म के इन दोनो आधुनिक रूपो की स्थिति पर कुछ प्रकाश डाला जाता है।

'दक्षिणाचार' की उपास्या देवियाँ और इनके देव-स्थान—व्रज मे दक्षिणाचारियो की उपास्या देवियाँ अबिका, सरस्वती, महाविद्या, चामुडा, ककाली, चर्चिका, कात्यायनी आदि है। इनमे सरस्वती और अबिका व्रज की अत्यत प्राचीन देवियाँ है। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, ये दोनो मूल रूप मे जैन देवियाँ है, किंतु बाद मे अन्य धर्म–सप्रदायो के साथ ही साथ शाक्त धर्म मे इन्हे विशेष महत्व प्राप्त हुआ। व्रज मे पुरातन काल से ही इनकी मान्यता रही है। वर्तमान मथुरा नगर की उत्तर दिशा के एक पुराने बन को अब भी 'अबिका बन' कहा जाता है, किंतु अबिका देवी का इस काल मे कोई उल्लेखनीय देव-स्थान नही है। अबिका बन के निकट किसी काल मे सरस्वती नामक एक छोटी नदी प्रवाहित होती थी, जो मथुरा के वर्तमान सरस्वती सगम घाट के निकट यमुना नदी मे मिल जाती थी। इस समय यहाँ इस नाम का एक बरसाती नाला है, और इसके निकट ही सरस्वती देवी का छोटा सा मदिर है। यह मदिर मथुरा की परिक्रमा के मार्ग मे एक विश्राम स्थल है, अत परिक्रमाओ के अवसर पर यहाँ मेला लगता है, और अच्छी चहल-पहल हो जाती है। वर्ष के शेष दिनो मे यह स्थान प्राय सूना पडा रहता है। महाविद्या, चामुडा, ककाली और चर्चिका के मदिर भी मथुरा मे है, तथा कात्यायनी का देव-स्थान वृ दावन मे है।

महाविद्या, चामुडा और कात्यायनी देवियो की मान्यता व्रज मे तात्रिक काल से लेकर आधुनिक तक रही है। *महाविद्या के भव्य रूप का उल्लेख तत्रो मे मिलता है*[1], *और चामुडा के* विकराल रूप का कथन तत्रो के अतिरिक्त पुराणो मे भी हुआ है[2]। मथुरा मे इन दोनो के शाक्त पीठ अपना ऐतिहासिक महत्व रखते हैं। यहाँ पर अनेक शाक्त साधक दक्षिणाचार की साधना करते रहे है। चामुडा देवी की मान्यता मथुरा के लोक–जीवन मे भी व्याप्त है। ककाली देवी का

---

(१) चतुर्भुजा महादेवीं नागयज्ञोपवीतिनीम्। महाभीमा करालस्या सिद्धविद्याधरैर्युताम्।
मुण्डमालावलीकीर्णा मुक्तकेशी स्मिताननाम्। एवं ध्यायेत् महादेवीं सर्वकामार्थसिद्धये॥
—कालीतत्र, ३–२

(२) चामुंडे ज्वलमानास्ये तीक्ष्णदष्ट्रे महाबले। शतयान स्थिते देवि प्रेतासनगते शिवे।
कराले विकराले च महाकाले करालिनि। काली कराली निक्रान्ता कालरात्रि नमोऽस्तुते॥
—वाराह पुराण, ९६–५२, ५३, ५४

मंदिर मथुरा के इतिहास-प्रसिद्ध कंकाली टीला पर है, और चर्चिका देवी का विश्रामघाट पर है। इन देवियो की पहिले अच्छी मान्यता थी, किंतु अब चैत्र और आश्विन महीनों की देवी-पूजा के दिनो मे ही इनके स्थानो पर कुछ चहल-पहल होती है। गोवर्धन मे मनसा देवी, महावन मे योग-माया और वृंदावन मे वृंदा देवी एवं कात्यायनी की मान्यता है। वृंदा देवी का प्राचीन मंदिर वृंदावन मे श्री गोविंददेव जी के पुराने मंदिर के निकट था। औरंगजेब के शासन काल मे जब ब्रज के मंदिरो का ध्वस किया गया, तब गोविंददेव जी के मंदिर के साथ वृंदा देवी का मंदिर भी क्षतिग्रस्त हो गया था। उस काल मे इस देवी की प्राचीन प्रतिमा गुप्त रूप से वृंदावन से हटा कर कामवन पहुँचा दी गई थी। इस समय वह कामवन के एक मंदिर मे प्रतिष्ठित है। कात्यायनी देवी का प्राचीन मंदिर चीरघाट नामक स्थान पर था, किंतु नवीन मंदिर वृंदावन के 'राधा बाग' मे निर्मित हुआ है। वर्तमान काल मे यह ब्रज का सर्वप्रधान शाक्तपीठ है, अतः यहाँ पर इनका कुछ विवरण लिखा जाता है।

कात्यायनी पीठ—इस देव-स्थान का निर्माण सुप्रसिद्ध शाक्त विद्वान स्वामी केशवानंद जी ने आधुनिक काल मे कराया है। यह महत्वपूर्ण शाक्त पीठ वृंदावन मे श्री रंग जी मंदिर के दक्षिणवर्ती 'राधा बाग' मे है। यहाँ के मंदिर मे अष्टधातु निर्मित श्री कात्यायनी देवी की सुंदर प्रतिमा है। ब्रज के इस शाक्त स्थान की दूर-दूर तक प्रसिद्धि है।

लोक देवियाँ और उनके उत्सव-पूजन—ब्रज की लोक देवियो मे नरी-सेमरी, साचौली और करौली की कैला माता विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। चैत्र और आश्विन के महीनो मे ब्रज के प्राय सभी नगरो और गाँवो मे देवियो के लोकोत्सव होते हैं। उन दिनो ब्रज मे देवियो के पूजन और व्रतादि की बडी धूम होती है। देवियो के स्थानो पर बडे-बडे मेले लगते है, जिनमे सामान्य नर-नारी बहुत बडी सख्या मे उपस्थित होते है।

चैत्र की देवी-पूजा और 'जात'—चैत्र के दूसरे पखवाडे मे प्रतिपदा से अष्टमी तक ब्रज मे देवी-पूजा के विविध आयोजन होते है। चैत्र शु ८ देवी-पूजा का खास दिन है। उस दिन महिलाएँ देवी का व्रत रखती हैं, और 'देवी-लांगुरिया' के रूप मे बालिका-बालकों को भोजन कराती है। इन्ही दिनो ब्रज के हजारो सामान्य नर-नारी लोक गीत गाते हुए देवियो के विविध स्थानो की 'जात' (यात्रा) को जाते हैं। 'जात' से वापिस आने पर अनेक श्रद्धालु देवी-भक्तो द्वारा 'देवी का जागरण' किया जाता है। उस अवसर पर उनके घरो मे जोगी लोग सारंगी और डमरू वाद्यो को बजाते हुए रात्रि भर देवी के गीतो का गायन करते है।

आश्विन की 'नव रात्रि' का देवी-पूजन—चैत्र के पश्चात् आश्विन के दूसरे पखवाडे मे भी देवी-पूजन किया जाता है। आश्विन शुक्ला प्रतिपदा से नवमी तक के नौ दिन 'नव रात्रि' कहलाते है। उन दिनो शाक्त धर्मावलंबी विशेष रूप से देवी की उपासना, पूजा और अनुष्ठानादि करते है। ब्रज के अनेक घरो की सामान्य महिलाएँ देवी का पूजन करती हैं, और व्रत रखती है। ब्रज के गाँवो मे यह उत्सव ग्रामीण बालिकाओं के खेल के रूप मे मनाया जाता है। ये बालिकाएँ घरो की दीवारो के सहारे मिट्टी के छोटे-छोटे मंदिर बनाती है, और उन्हे लोक-चित्रकारी से सजाती हैं। उनमे मिट्टी की बनी हुई गौरी पार्वती की प्रतिमाएँ रखती है, और सायकाल को प्रति दिन उनकी पूजा-आरती करती है।

आधुनिक शाक्त साधक—इस काल मे ब्रजमडल के कई घराने शाक्त धर्म की तात्रिक साधना के प्रति आस्थावान रहे है। इनमे सर्वाधिक प्रसिद्ध मथुरा का ज्योतिषी बाबा घराना है, जो गुजराती औदीच्य ब्राह्मणो का है। इसके प्रतिष्ठाता श्री कृपाशकर जी मरहठा सरदारो के राज ज्योतिषी और धर्मशास्त्री थे। उन्होने अपने निवास के लिए मथुरा के स्वामीघाट पर एक विशाल हवेली बनवाई थी, जो 'ज्योतिषी बाबा की हवेली' कहलाती है। कृपाशकर जी और उनके वशज गोविंदलाल जी, अमरलाल जी, माधवलाल जी, शिवप्रकाशलाल जी आदि ने ब्रज की सास्कृतिक समृद्धि मे महत्त्वपूर्ण योग दिया है[1]। धर्मोपासना की दृष्टि से उनमे से अधिकाश महानुभाव शाक्त धर्म की तात्रिक साधना मे आस्था रखते थे। ज्यो शिवप्रकाशलाल जी इस घराने के प्रसिद्ध शाक्त साधक और वरिष्ठ विद्वान थे।

मथुरा के चतुर्वेदियो के कई परिवार भी शाक्त तत्रोपासक रहे है। इनके गुरु-घराने मे शीलचद्र जी एक सुप्रसिद्ध तात्रिक थे। महाविद्या देवी और दशभुजी गणेश जैसे सिद्ध स्थानो की प्रतिष्ठा मे उनका योग रहा था। उनके वश मे वासुदेव जी और उनके पुत्र केशवदेव जी भी अच्छे तात्रिक एव मत्रशास्त्री थे। उनका साधना-स्थल गतश्रम टीला का श्री जी का मदिर है। वासुदेव जी के समकालीन वनमाली जी, रगदत्त जी और गगादत्त जी भी विख्यात शाक्त तत्रोपासक थे। उन सबने प्रज्ञाचक्षु दडी विरजानद जी के मथुरा स्थित विद्यालय मे सस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। गगादत्त जी के शिष्यो मे सुप्रसिद्ध सगीतज्ञ गणेशीलाल जी एव ब्रजभाषा के विख्यात कवि नवनीत जी भी तात्रिक साधक थे। गणेशीलाल जी को तारा देवी का इष्ट था। उनके अतिरिक्त साम्राज्य दीक्षित जी और वृ दाबन जी के नाम भी शाक्त साधको मे मिलते है। अब से कुछ समय पहिले गगादत्त जी के वशजो मे विदुरदत्त जी अन्यतम शाक्त साधक हुए है।

वृ दाबन मे शाक्त साधना का अपेक्षाकृत कम प्रचार रहा है; किंतु वहाँ भी इस काल मे कई प्रसिद्ध शाक्त साधक हुए हैं। उनमे कात्यायनी पीठ के प्रतिष्ठाता स्वामी केशवानद प्रमुख थे, जिनका उल्लेख गत पृष्ठ मे किया जा चुका है।

रामानुज संप्रदाय

गद्दी और आचार्य-परंपरा—वैष्णव धर्म के भक्ति सप्रदायो मे 'श्री सप्रदाय' सबसे प्राचीन माना जाता है। इस सप्रदाय की आरभिक गद्दियाँ दक्षिण मे हैं, जिनमे से श्रीरगम् स्थान की सुप्रसिद्ध गद्दी की स्थापना स्वामी वरदनारायणगुरु जी ने की थी। इस सप्रदाय के अतर्गत 'रामानुज सप्रदाय' और 'रामानदी सप्रदाय' हैं। इनमे से 'रामानदी सप्रदाय' के सबध मे विस्तार से लिखा जा चुका है, अब 'रामानुज सप्रदाय' पर लिखना है।

इस ग्र थ के विगत पृष्ठो मे बतलाया गया है कि उत्तर भारत मे 'श्री सप्रदाय' की प्राचीन गद्दी मथुरामडल के गोबर्धन नामक धार्मिक केन्द्र मे स्थापित हुई थी[2]। वह गद्दी पूर्वोक्त श्रीरगम् गद्दी की शाखा थी, और उसमे श्री लक्ष्मीनारायण जी की उपासना होती थी। उस गद्दी का स्थापना-काल और उसकी आचार्य—परपरा का प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता है। ऐसा ज्ञात

---

(१) इस घराना का विस्तृत वर्णन इस ग्रथ के 'ब्रज का इतिहास' खंड में देखिये।

(२) इस खंड में वर्णित 'श्री सप्रदाय', पृष्ठ १५० देखिये।

होता है कि १६वी शताब्दी के आरभ मे उस गद्दी पर श्री शेषाचार्य जी के शिष्य श्रीनिवासाचार्य जी नामक एक रामानुजी महात्मा विराजमान थे। उनके उत्तराधिकारी श्री रगदेशिक स्वामी ने रामानुज सप्रदाय का बडा प्रचार किया था। इस सप्रदाय के ब्रजस्थ आचार्यों की परपरा मे श्री रगदेशिक स्वामी सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए है। उन्ही की प्रेरणा से वृदावन मे श्री रग जी का विख्यात मदिर बनाया गया था। यहाँ पर उनके जीवन-वृत्तात पर कुछ प्रकाश डाला जाता है।

श्री रंगदेशिक स्वामी जी—उनका जन्म दक्षिण भारतीय धार्मिक क्षेत्र काची नगर के समीप स १८४१ मे हुआ था। वे एक धर्मनिष्ठ विद्वान थे। जब वे नवयुवक थे, तब उन्होंने काची के एक धार्मिक विद्वान श्री अनताचार्य जी के साथ उत्तर भारत की यात्रा की थी। यात्रा करते हुए जब वे ब्रज मे पहुँचे, तब गोवर्धन की रामानुजी गद्दी के देव-स्थान मे भी दर्शनार्थ गये थे। वे वहाँ के महत श्रीनिवासाचार्य जी से बडे प्रभावित हुए, और उनके शिष्य होकर वहीं रहने लगे। उन्होने काशी मे सस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त कर विविध शास्त्रो और श्री सप्रदाय के ग्रथो का गहन अध्ययन किया था। श्रीनिवासाचार्य जी ने उन्हे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया। इस प्रकार वे स १८६२ मे अपने गुरुदेव के उपरात गोवर्धन गद्दी के महत हुए थे। वे विवाहित और गृहस्थ थे। उनके एक पुत्र भी था, जिसका नाम श्रीनिवासाचार्य था।

रगदेशिक स्वामी की उच्च कोटि की धार्मिकता और प्रकाड विद्वत्ता की बडी ख्याति थी। उस काल के कई धार्मिक राजा और रईस उनसे बडे प्रभावित थे, जिनमे जयपुर के महाराज पृथ्वीसिंह और मथुरा के सेठो का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मथुरा के सेठों का घराना मूलत जैन धर्मावलबी रहा है। इस घराने के प्रतिष्ठाता मनीराम जी और उनके ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मीचद जी जैन धर्म के अनुयायी थे, किंतु लक्ष्मीचद जी के छोटे भाई राधाकृष्ण जी और गोविंददास जी की आस्था जैन धर्म के प्रति नही थी। उन्होंने श्री रगदेशिक स्वामी से रामानुज सप्रदाय की दीक्षा ली थी। उक्त सेठ बधुओ ने स्वामी जी के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए वृदावन मे श्रीरग जी का विख्यात मदिर बनवाया था।

ग्रथ-रचना और शास्त्रार्थ—श्री रगदेशिक स्वामी बडे विद्वान थे। उन्होने श्री सप्रदाय के कई ग्रथो का मूल तमिल भाषा से सस्कृत मे अनुवाद किया था। श्री ग्राउस ने लिखा है,—'उस काल मे जयपुर राज्य के शैव पडितो ने वैष्णव धर्म पर आक्षेप करते हुए ८ प्रश्नो की एक पुस्तिका प्रकाशित की थी। जयपुर नरेश के आग्रह से श्री रगदेशिक स्वामी ने उसके उत्तर मे 'दुर्जन करि पचानन' नामक एक पुस्तिका का प्रकाशन किया था। जब जयपुर नरेश का उससे सतोष नही हुआ, तब उन्होने 'सज्जन मनोनुरजन' नामक एक समाधानकारक पुस्तिका के साथ ही साथ दूसरी अधिक विद्वतापूर्ण पुस्तक 'व्यामोह विद्रावनम्' प्रकाशित की थी। इसमे अनेक शास्त्रोक्त प्रमाणो से वैष्णव सिद्धातो का समर्थन और शैव पडितो के मत का खडन किया गया है[1]।' स १९३० मे स्वामी दयानद जी ने उनसे मूर्ति-पूजा पर शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की थी। उस समय तक श्री रगदेशिक स्वामी अत्यत वृद्ध हो चुके थे, अत वह शास्त्रार्थ नही हुआ था।

देहावसान और उत्तराधिकार—श्री रगदेशिक स्वामी का देहात चैत्र शु १० स १९३१ (२६ मार्च सन् १८७४, गुरुवार) को वृदावन मे हुआ था। उन्होने अपने जीवन काल मे ही अपने पुत्र श्रीनिवास जी को वृदावन की गद्दी से वचित कर अपने पौत्र रगाचार्य जी को अपना

(१) मथुरा-ए-डिस्ट्रक्ट मेमोअर (तृ स), पृष्ठ २६०

भगवान् श्री रगनाथ जी

श्री रगदेशिक स्वामी (रगाचार्य) जी

श्री रंग जी का मंदिर, वृन्दावन
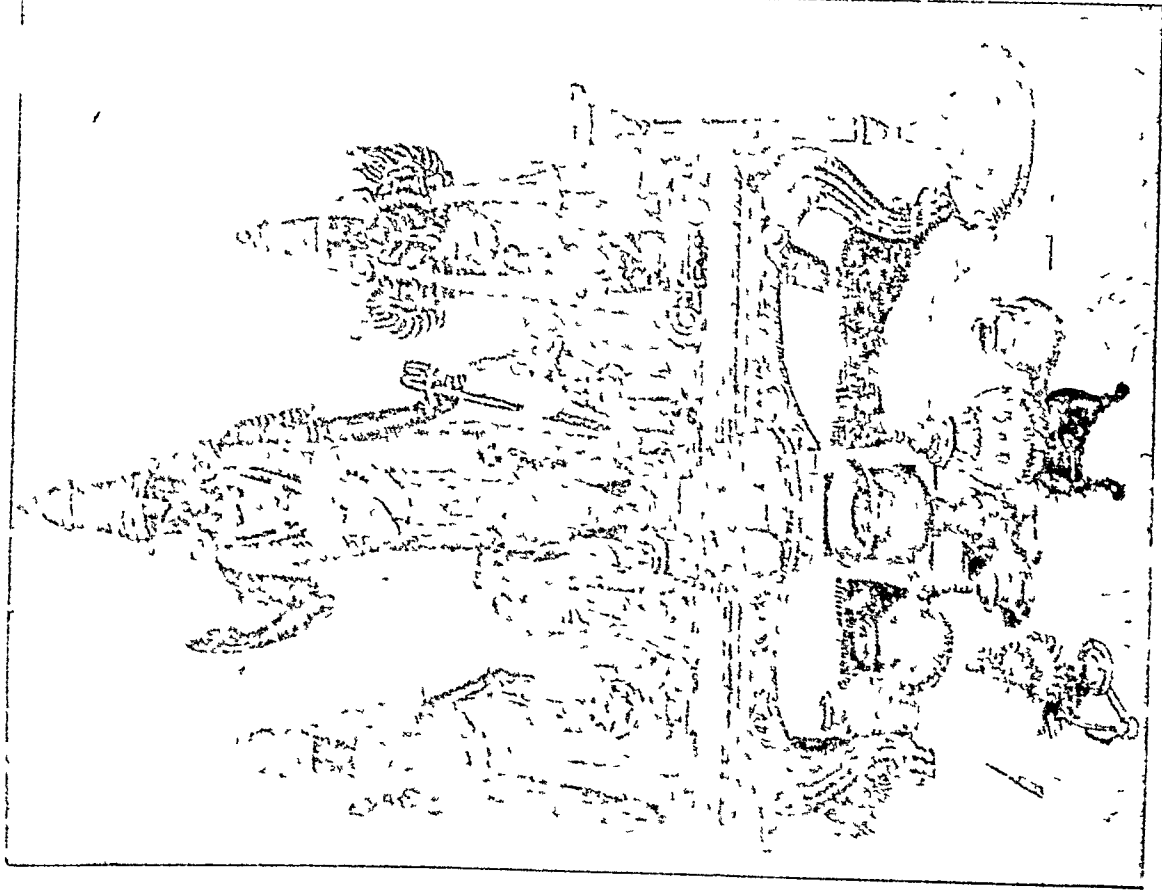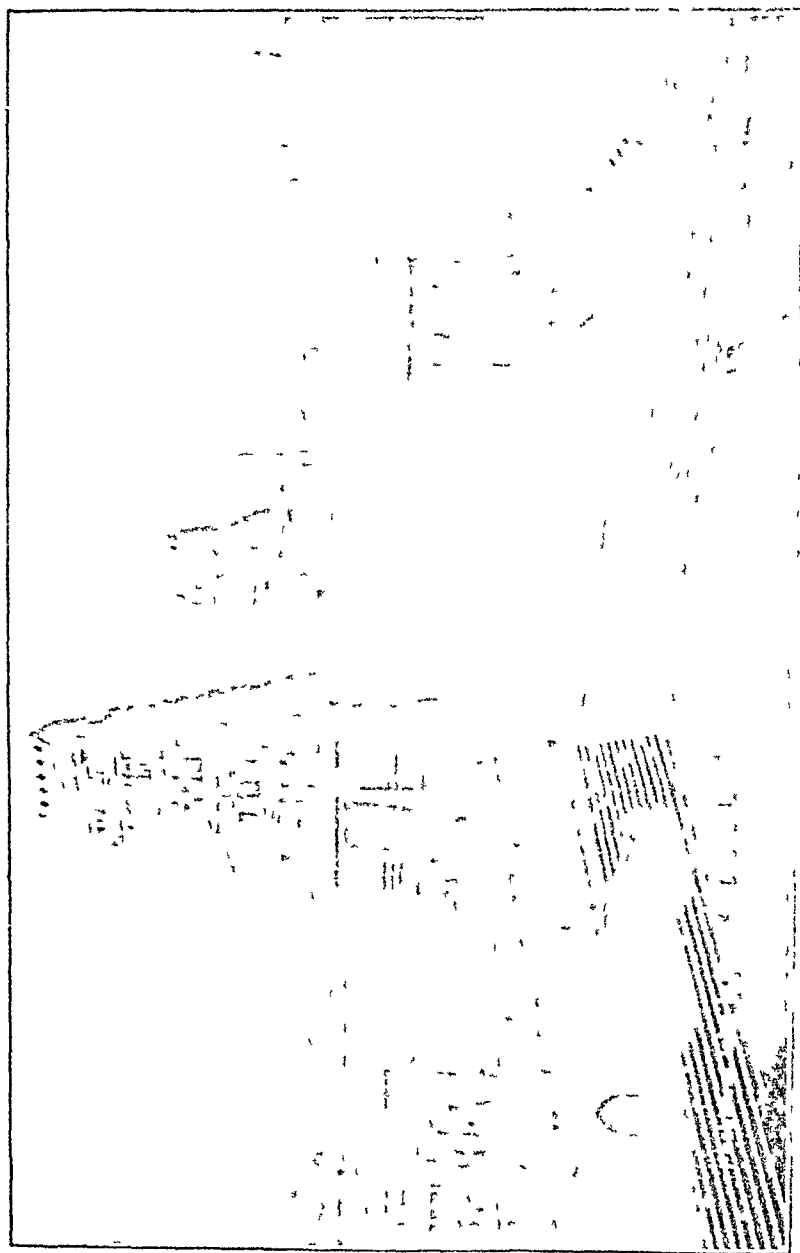
उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। श्री रगदेशिक स्वामी के देहावसान के समय तक रगाचार्य जी वयष्क नही हुए थे, अत उनके कार्य का सचालन मदिर की ट्रस्ट समिति करती थी। स १९५६ मे वे वयष्क होकर मदिर की महत-गद्दी पर आसीन हुए थे। उनके अपरिमित व्यय और अनियमित व्यवहार से वडा असतोष उत्पन्न हो गया था, यहाँ तक कि उनके विरुद्ध अदालती कार्यवाही भी की गई थी। उनके उपरात भी इस गद्दी पर कोई ऐसा महत नही हुआ, जो श्री रगदेशिक स्वामी की गौरवपूर्ण परपरा के अनुरूप होता।

रामानुजी देव-स्थान—व्रज मे सवसे प्राचीन रामानुजी देव-स्थान गोवर्धन स्थित श्री लक्ष्मीनारायण जी का मदिर है। वही पर इस सप्रदाय की प्रमुख गद्दी थी, जो वाद मे श्री रगदेशिक स्वामी जी के वृदावन मे निवास करने के कारण वहाँ के श्री रग जी मदिर मे स्थानातरित हो गई थी। मथुरा मे प्रयागघाट की गलताकुज का श्री वेणीमाधव जी का मदिर भी श्री सप्रदाय का प्राचीन देव-स्थान है। इस स्थान का सवध रामानदी सप्रदाय से भी रहा है, किंतु इसके महत रामानुजी है। मथुरा मे विश्रामघाट के समीप का श्री गतश्रमनारायण जी का मदिर भी रामानुजी देव-स्थान है। इसका निर्माण श्री प्राणनाथ शास्त्री ने स १८५७ मे कराया था। इनके अतिरिक्त मथुरा के चौवच्चा मुहल्ला का श्री शत्रुघ्न जी का मंदिर भी रामानुज सप्रदाय से सवधित रहा है। यहाँ स्वामी रघुनाथदास और उनके शिष्य गोपाल ब्रह्मचारी अच्छे भक्त जन हुए है। आधुनिक कालीन देव-स्थानो मे सर्वाधिक प्रसिद्ध वृदावन का श्री रग जी का मदिर है। इसके सवध मे यहाँ विस्तार से लिखा जाता है।

श्री रंग जी का मंदिर—यह रगदेशिक स्वामी जी का अनुपम स्मारक और मथुरा के सेठो की कीर्ति का मूर्तिमान प्रतीक है। उत्तर भारत के आधुनिक मदिरो मे यह सवसे वडा और रामानुज सप्रदाय का सर्वाधिक प्रसिद्ध केन्द्र है। उससे पहिले व्रजमडल मे रामानुज सप्रदाय का एक मात्र देव-स्थान गोवर्धन गद्दी स्थित श्री लक्ष्मीनारायण जी का मदिर था। मथुरा के सेठ वधुओ ने वृदावन मे इस सप्रदाय का एक विशाल मदिर वनवाने की योजना वनाई, और उसकी पूर्ति के लिए अपने गुरुदेव से प्रार्थना की। फलत. श्री रगदेशिक स्वामी ने उनके लिए दक्षिण भारत की यात्रा की थी। वहाँ पर उन्होने रामानुज सप्रदाय की परपरा के अनुसार दाक्षिणात्य वास्तु शैली के एक विशाल मदिर का मानचित्र वनवाया और उसमे प्रतिष्ठित करने के लिए श्रीमूर्तियो के निर्माण की आवश्यक व्यवस्था की। फिर वे वहाँ से कुछ वास्तु विशेषज्ञो को लेकर गोवर्धन आ गये।

इस मदिर के निर्माण की व्यवस्था और देख-रेख के लिए श्री रगदेशिक स्वामी का वृदावन मे रहना आवश्यक था। उसके निमित्त सेठ वधुओ ने पहिले वहाँ एक छोटा देव-स्थान वनवाया, जो श्री लक्ष्मीनारायण जी का मंदिर कहलाता है। इस प्रकार श्री रगदेशिक स्वामी का स्थायी निवास गोवर्धन की अपेक्षा वृदावन हो गया। वे वहाँ रह कर प्रस्तावित मदिर के निर्माण की व्यवस्था करने लगे।

इस मदिर के निर्माण का इतिहास वडा विचित्र है। सेठ राधाकृष्ण-गोविंददास ने इसमे होने वाले व्यय का समस्त धन देना स्वीकार किया था; किंतु वे उसे अपने वडे भाई सेठ लक्ष्मीचंद से छिपा कर देना चाहते थे। उन्हे आशका थी कि जैन धर्म के प्रति आस्था होने के कारण सेठ लक्ष्मीचंद कदाचित इस वैष्णव मदिर के निर्माण-कार्य को पसद न करे। उस काल मे दक्षिण हैदरावाद के धनी सेठ परमसुखदास पूरनमल ने मथुरा के सेठो का हुंडियो द्वारा लेन-देन का हिसाव

चलता था। उसके लिए उक्त हैदरावादी सेठो का मथुरा मे एक स्थानीय मुख्तयार-आम नियुक्त था, जो उस समय वलदेवप्रसाद मिश्र नामक एक व्यक्ति था। सेठ राधाकृष्ण-गोविददास ने उनके द्वारा यह व्यवस्था की थी कि वे हैदरावाद के सेठो के नाम से इस मदिर का निर्माण करावेंगे, और इसमे लगने वाले धन को स्वय देंगे। इस प्रकार स १६०१ मे मदिर के निर्माण का शुभारभ हुआ। इसके निमित्त अनेक वास्तु कला विशेषज्ञ एव मिस्त्री तथा सैकडो राज-मजदूर ७ वर्ष तक निरतर कार्य करते रहे, किंतु फिर भी मदिर पूरा वन कर तैयार नही हो सका। चूंकि उनका सव कार्य फर्जी व्यक्तियो के नाम से होता था, और उसका व्यय अत्यत गुप्त रीति से किया जाता था, अत उसमे अव्यवस्था और कुप्रवध का होना स्वाभाविक था। इसके कारण उसमे धन का वडा दुरुपयोग हुआ था। स १६०८ तक सेठो का ३० लाख रुपया उसमे लग चुका था, और वह धन हैदरावाद के सेठो के नाम लिख कर दिया गया था। जब सेठ लक्ष्मीचद ने उस विपुल धन-राशि के विषय मे पूछ-ताछ की, तव उसका रहस्योद्घाटन हुआ। सेठ राधाकृष्ण-गोविददास ने अपने वडे भाई से क्षमा-याचना करते हुए कहा कि यह मदिर आपकी तरफ से बन रहा है, हैदरावाद के सेठो का इससे कोई सवध नही है। सेठ लक्ष्मीचद को वास्तविक बात ज्ञात होने पर उन्होने हैदरावाद के सेठो के मुख्तयार-आम वलदेवप्रसाद मिश्र से कानूनी कार्रवाही पूरी करा कर मंदिर का वयनामा अपने भाई सेठ राधाकृष्ण-गोविददास के नाम कराया। फिर वे स्वय वृंदावन मे निवास कर मदिर के निर्माण को पूरा कराने मे जुट गये। ऐसा कहा जाता है, वे प्रवध-व्यवस्था पर कठोर नियत्रण रखने के अतिरिक्त स्वय भी मजदूरो के साथ काम करते थे। अत में सेठ लक्ष्मीचद और रगदेशिक स्वामी के सम्मिलित प्रयत्न से स. १६१२ मे मदिर पूरा वन कर तैयार हो गया। इसमें प्रधान देव-मूर्तियां श्री रगमन्नार जी और श्री गोदाम्वा जी की प्रतिष्ठित की गई। इनके अतिरिक्त इस मदिर मे और भी अनेक मूर्तियो की स्थापना की गई। ये समस्त मूर्तियां दाक्षिणात्य मूर्ति-निर्माताओ द्वारा दक्षिण मे निर्मित की गई थी, और इन्हे प्रचुर व्यय और वडी चेष्टा पूर्वक वहां से लाया गया था। इनकी नित्य-नैमित्तिक सेवा-पूजा और वर्ष भर के उत्सव-समारोहो की व्यवस्था रामानुज सप्रदाय की सेवा-विधि के अनुसार की गई थी। उस पर होने वाले व्यय के लिए स्थायी आमदनी की जायदाद लगा दी गई थी। इन सब पर उस काल मे प्राय ४५ लाख रुपयो की लागत आई थी। वह समस्त धन सेठो के खजाने से दिया गया था। स १६१४ (१८ मार्च, सन् १८५७) मे सेठो ने इस वैभवशाली मदिर का भेंटनामा श्री रगदेशिक स्वामी के नाम कर दिया था।

श्री रगदेशिक स्वामी प्रकाड विद्वान और परम भक्त धर्माचार्य होने के साथ ही साथ अत्यत सात्विक वृत्ति के त्यागी महात्मा थे। अपार वैभव होते हुए भी वे उससे सर्वथा निर्लेप थे। उन्होने श्री रग जी के मदिर और उससे सवधित जायदाद पर अपना निजी अधिकार न रख कर उन्हे एक ट्रस्ट के सुपुर्द करने का निश्चय किया। उन्हे आशका थी कि उनके पुत्र श्रीनिवास जी कदाचित उस व्यवस्था को पसद न करें, और उनके उपरात कोई झगडा करे। उसके निराकरण के लिए उन्होने श्रीनिवास जी से उनके अधिकार-समाप्ति की पक्की लिखा-पढी करा ली थी। उसके एवज मे गोवर्धन स्थित श्री लक्ष्मीनारायण जी का मदिर उन्हे दे दिया था। यह सब करने के पश्चात् उन्होने वृदावन के मदिर और उससे सवधित समस्त जायदाद ठाकुर श्री रग जी महाराज के नाम सदैव के लिए वक्फ कर दी, और उसके प्रवध के लिए स. १६२५ मे एक धर्मादा ट्रस्ट वना दिया। समिति के ७ सदस्य थे, जिनमे से एक वे और छै अन्य प्रतिष्ठित सज्जन थे। इस प्रकार उन्होने

मंदिर के स्वामित्व से संबधित अपने और अपने उत्तराधिकारियो के सभी अधिकार सदा के लिए छोड दिये थे। उन्होने ट्रस्टियो को यहाँ तक अधिकार दिया कि यदि उनकी दृष्टि मे उनका अथवा उनके उत्तराधिकारियो का व्यवहार रामानुज सप्रदाय की धार्मिक मर्यादा के विरुद्ध ज्ञात हो, तो वे उन्हे समिति की सदस्यता के साथ ही साथ गद्दी से भी पृथक् कर सकते है। इस समय इस मदिर का समस्त प्रबध ट्रस्ट समिति के आदेशानुसार एक प्रबधक द्वारा किया जाता है।

अन्य देव-स्थान—श्री रगजी के मदिर के अतिरिक्त वृ दाबन मे श्री लक्ष्मीनारायण जी मदिर, बडा खटला और रामानुज कूट भी उल्लेखनीय देवालय हैं। इस सप्रदाय का नवीनतम देव-स्थान वृ दाबन स्थित श्री हरिदेव जी का मदिर है। इसे खेतडी के इलाकादार भक्तराम जी की पुत्री जमुनादेवी जी ने स १९७८ मे बनवा कर स्वामी रामानुजाचार्य को भेट कर दिया था। इसमे श्री हरिदेव जी के नाम से भगवान् श्रीकृष्ण की मूर्ति विराजमान है। बाद मे स्वामी जी ने स. १९८३ मे श्री गोदाम्बा जी की मूर्ति भी प्रतिष्ठित की थी। इस प्रकार यह समन्वित उपासना का ब्रज मे एक अनुपम देवालय है।

रामानुजी भक्त और विद्वान—ब्रजमडल मे अन्य भक्ति सप्रदायो की अपेक्षा रामानुज सप्रदाय का कम प्रचार होने के कारण इसके भक्तो और विद्वानो की सख्या भी अपेक्षाकृत कम रही है। किंतु जब से वृ दाबन मे श्री रग जी का मदिर बना है, तब से इनकी सख्या मे कुछ वृद्धि हुई है। इनमे से अधिकाश भक्त जन ब्रजमडल से बाहर के है, जो अपनी धार्मिक भावना के कारण यहाँ आ कर बसे है। इस सप्रदाय के सर्वाधिक प्रसिद्ध महानुभाव श्री रगदेशिक स्वामी थे, जिनका उल्लेख पहिले किया जा चुका है। उनके अतिरिक्त श्री प्राणनाथ शास्त्री का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होने श्री रग जी का मदिर बनने से भी पहिले स. १८५७ मे श्री गतश्रमनारायण जी का मदिर मथुरा मे बनवाया था। इस सप्रदाय के अन्य आधुनिक विद्वान भक्तो मे से कुछ का उल्लेख यहाँ किया है।

हयग्रीव स्वामी जी—वे श्री रगदेशिक स्वामी जी के पुत्र श्रीनिवासाचार्य जी के शिष्य थे। उनका जन्म स. १८९५ मे और देहावसान स. १९६५ मे हुआ था। वे एक विद्वान भक्त थे।

आनंदीबाई जी—वे एक आदर्श महिला भक्त थी। उनका जन्म अमृतसर के एक काश्मीरी ब्राह्मण परिवार मे स १९१२ मे हुआ था। वे बाल विधवा थी, और आरभ से ही भक्ति मार्ग की ओर आकृष्ट हो गई थी। उन्होने प वशीधर जी से श्री सप्रदाय की दीक्षा लेकर स १९४० मे अपने उपास्य देव का मदिर अमृतसर मे बनवाया था। बाद मे वे ब्रज मे आ गई थी, और यहाँ कामबन एव वृंदाबन मे रही थी। उन्होने वृ दावन मे श्रीराधा–आनदवल्लभ जी का मदिर बनवाया था। इस मदिर मे आयोजित साधु–सेवा और उत्सव–समारोहो की बडी प्रसिद्धि रही है। उनका देहावसान स. १९६३ मे हुआ था।

सुदर्शनाचार्य जी—वे पंजाबी विद्वान प. वशीधर जी के सुपुत्र थे। उनका जन्म लुधियाना जिला मे स १९२६ को हुआ था। उनके पिता पजाब को छोड कर सं. १९४० मे ब्रज मे आ गये थे। मथुरा के सुप्रसिद्ध राजा लक्ष्मणदास ने उन्हे आदर पूर्वक अपने यहाँ रखा था। सुदर्शनाचार्य जी ने श्री रगदेशिक स्वामी जी के पुत्र श्रीनिवासाचार्य जी से दीक्षा ली थी। वे विविध शास्त्रो के प्रकाड विद्वान और अनेक ग्र थो के रचयिता थे। उन्होने कुछ काल तक श्री रग जी के मदिर की सेवा–व्यवस्था मे भी योग दिया था। वे धार्मिक विद्वान होने के साथ ही साथ विख्यात सगीत–शास्त्री भी थे। उनका रचा हुआ 'सगीत सुदर्शन' ग्र थ प्रसिद्ध है।

धरणीधर जी—उनका जन्म बदायू जिला मे हुआ था, किंतु वे युवावस्था मे ही वृदावन आ गये थे। व्रज के रामानुजी विद्वानो मे उनकी अच्छी ख्याति थी। उनका देहावसान स. १९९७ मे हुआ था।

रामानुजाचार्य जी—उनका जन्म बिहार के आरा जिला मे स १९४५ मे हुआ था। वे श्री हयग्रीव स्वामी के शिष्य और वृदावन के रामानुजी देव-स्थान श्री हरिदेव जी मदिर के महत थे। वे विद्वान भक्त और प्रभावशाली धर्मोपदेशक थे। उन्होने इस सप्रदाय के आधुनिक भक्तो मे उच्च स्थान प्राप्त किया था।

पराकुशाचार्य जी—वे मथुरा स्थित गलता कुज और वहाँ के श्री वेणीमाधव मदिर के महत थे। उन्होने रामानुज सप्रदाय के सिद्धात ग्र थो का गभीर अध्ययन किया था। वे इस सप्रदाय के गण्यमान विद्वान और अनेक ग्र थो के रचयिता थे। उनका देहात कुछ ही वर्ष पहिले हुआ है।

वर्तमान विद्वान भक्त जन—इस सप्रदाय के वर्तमान विद्वान भक्तो मे भगवानदास जी, रघुनाथदास जी और चक्रपाणि जी के नाम उल्लेखनीय हैं। भगवानदास जी ने श्री वेदातदेशिक जी के नाम पर वृदावन मे एक आश्रम की स्थापना की है। रघुनाथदास जी और चक्रपाणि जी इस सप्रदाय के अच्छे विद्वान एव भक्त जन है।

रामानंदी संप्रदाय

सांप्रदायिक गति-विधि—गत पृष्ठो मे लिखा जा चुका है, ब्रजमडल मे इस सप्रदाय का आरभिक केन्द्र मथुरा था। इसी नगर मे इसकी प्रमुख गद्दियाँ थी, और इसके सत-महात्माओ का निवास था। मथुरा का वह महत्त्व औरगजेब के शासन काल मे समाप्त प्राय हो गया था। उसके पश्चात् अन्य भक्ति सप्रदायो की भाँति इस सप्रदाय का केन्द्र भी वृदावन हो गया। जाट-मरहठा काल से आधुनिक काल तक वृदावन मे ही रामानदी देव-स्थानो एव अखाडो का निर्माण हुआ है; और इसी धार्मिक स्थल पर इस सप्रदाय के सत-महत निवास करते रहे है। इस समय भी व्रज मे वृदावन ही इस सप्रदाय की गति-विधियो का एक मात्र केन्द्र है। इस सप्रदाय के आधुनिक देव-स्थानो और कतिपय सत-महतो का सक्षिप्त उल्लेख किया जाता है।

रामानंदी देव-स्थान—वृदावन मे इस सप्रदाय के जो प्रमुख देव-स्थान हैं, उनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है,—

रामबाग—इस भव्य देव-स्थान की स्थापना महत सकर्षणदास जी ने की थी। यहाँ श्री रामभद्र जी का दर्शनीय मदिर है। इस स्थान के वर्तमान महत रघुवशभूषणाचार्य हैं। वृदावन का 'राम दरबार' इसी की शाखा के रूप मे स्थापित किया गया है।

खाकचौक—यह स्थान वशीवट पर है। इसकी स्थापना स्वामी नरसिंहदास जी (पहाडी बाबा) ने की थी। यहाँ श्री रामचद्र जी का मंदिर है। इस स्थान के वर्तमान महत देवादास जी है।

छत्ताबाबा—यह स्थान ज्ञानगूदडी मुहल्ला मे है। यहाँ श्री जगन्नाथ जी का मदिर है। इस स्थान के वर्तमान महत गगादास जी है।

कालियदह और बाराहघाट के राम मदिर—कालियदह का राममदिर 'नरसिंह टेकरी' नामक स्थान मे है। यहाँ के वर्तमान महत पुरुषोत्तमदास जी है। बाराहघाट स्थित राम मदिर के वर्तमान महत सर्वेश्वरदास जी हैं।

रामानदी अखाड़े—वृ दाबन मे इस सप्रदाय के कई अखाडे है। इनमे से श्री राम दिगवर अखाडा के वर्तमान महत जगदेवदास जी है, रामानदी निर्वाणी अखाडा के महत रामशरणदास जी और रामानदी निर्मोही अखाडा के महत लक्ष्मणदास जी है।

रामानंदी संत-महंत—इस सप्रदाय के अधिकाश सत-महत यहाँ के विविध देव-स्थानो से सबधित रहे हैं। इनमे से कतिपय महानुभावो का उल्लेख अभी किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त जयरामदेव जी, रामबालकाचार्य जी और राघवदास जी के नाम उल्लेखनीय है।

जयरामदेव जी—इन्होने अयोध्या के स्वामी रामवल्लभाशरण जी से दीक्षा ली है; किंतु ये कई वर्षो से वृ दाबन मे निवास कर यहाँ के जगन्नाथघाट पर भजनोपासना करते हैं। ये भजनानदी भक्त जन होने के साथ ही साथ सुकवि और लेखक भी हैं। इन्होने कई ग्र थो की रचना की है, जिनमे 'श्रीरामानदायन' उल्लेखनीय है। इस काव्य ग्र थ मे श्री स्वामी रामानद जी का चरित्र दोहा-चौपाई छदो मे विस्तार से लिखा गया है।

रामबालकाचार्य जी—ये इस सप्रदाय के अच्छे विद्वान है, और व्रज के रामानदी भक्तो मे प्रसिद्ध है।

राघवदास जी—ये इस सप्रदाय के भक्त जन और रामचरितमानस के प्रभावशाली वक्ता हैं। इन्होने वृ दावन मे 'मानस भवन' की स्थापना की है।

विष्णुस्वामी संप्रदाय

सांप्रदायिक गति-विधि और आधुनिक देव-स्थान—गत पृष्ठो मे लिखा जा चुका है, वैष्णव धर्म के अतर्गत 'रुद्र सप्रदाय' के नामातर से यह एक प्राचीन सप्रदाय है, किंतु व्रजमडल मे इसकी गति-विधियो का प्रामाणिक विवरण प्राप्त नहीं है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि बल्लभ सप्रदाय को इसका वास्तविक प्रतिनिधि माना गया है, जिसका आरभ से ही व्रज मे व्यापक प्रचार रहा है, अत विष्णुस्वामी सप्रदाय के मूल स्वरूप को स्थिर रखने की ओर यहाँ समुचित ध्यान नही दिया गया। फिर भी इस सप्रदाय के मूल रूप के उपासक कतिपय भक्त जन और इसके कुछ निजी देव-स्थान सदैव व्रज मे रहे हैं। यहाँ पर इसके कुछ आधुनिक देव-स्थानो का उल्लेख किया जाता है।

श्री बिहारी जी का मंदिर—आधुनिक काल मे विष्णुस्वामी सप्रदाय का सर्वाधिक महत्वपूर्ण देव-स्थान वृ दाबन का सुप्रसिद्ध श्री बिहारी का मदिर है। यहाँ इस सप्रदाय की सेवा-विधि के अनुसार ठाकुर-सेवा और उत्सवादि की व्यवस्था की जाती है। मदिर के समस्त पुजारी विष्णुस्वामी सप्रदाय के अनुयायी है।

श्री कलाधारी जी का मदिर—यह इस सप्रदाय का दूसरा देव-स्थान है, जो वृ दावन मे रमणरेती स्थित दावानल कुड के समीप एक बाग मे है। यहाँ साधु-सेवा की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है, और यहाँ की रामलीला भी प्रसिद्ध है।

श्री गोपाल जी का मदिर—यह मथुरा मे इस सप्रदाय का एक मात्र देव-स्थान है, जो यहाँ के चौबच्चा मुहल्ला मे है। यहाँ माथुर चतुर्वेदियो की एक गुरु-गद्दी भी है। आधुनिक काल में यहाँ नदन जी, रज्जु जी और उनके उपरात विष्णुदत्त जी उल्लेखनीय भक्त जन हुए हैं।

निर्गुण परंपरा के मत और पंथ

ज्ञानमार्गीय अद्वैत मत—

ब्रह्मोपासना की उपेक्षा—श्री शंकराचार्य ने जिस ब्रह्मोपासक अद्वैत मत की स्थापना की थी, उसमें शुष्क ज्ञान और कठोर मर्यादा के पालन पर अत्यधिक बल दिया गया था, अतः वह कृष्णोपासना से रससिक्त ब्रजभूमि में कभी लोकप्रिय नहीं हो सका था। वैष्णव धर्माचार्यों ने तो आरंभ से ही उनका विरोध किया था। उसका यह परिणाम हुआ कि अद्वैत मत के मर्यादामार्गीय कुछ सन्यासी भी ब्रह्मोपासना की उपेक्षा कर कृष्णोपासक हो गये थे। ऐसे सन्यासियों में श्री मधुसूदन सरस्वती का नाम उल्लेखनीय है। उनकी विद्यमानता १७वीं शताब्दी के अंत तक मानी जाती है। वे अद्वैत वेदांत के प्रकांड पंडित और महान् तत्त्वज्ञ थे, किंतु ब्रह्मोपासक शुष्क ज्ञानी न होकर कृष्णोपासक रसिक भक्त थे। उनके रचे हुए भक्ति रसायन, गीता टीका और भागवत व्याख्या आदि ग्रंथ उनकी सरस भक्ति के प्रमाण हैं। उनका एक श्लोक बड़ा प्रसिद्ध है, जिसमें माधुर्यमूर्ति श्रीकृष्ण को परम तत्व बतलाते हुए उनके प्रति पूर्णास्था व्यक्त की गई है,—

> वंशी विभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुण बिम्बफलाधरोष्ठात् ।
> पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्, कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

आधुनिक काल में तो ब्रज में ऐसे अनेक सन्यासी हुए, जो ज्ञान और योग के साथ ही साथ निर्गुण-निराकार ब्रह्म की उपेक्षा कर सगुण-साकार श्रीकृष्ण के उपासक हो गये थे। श्री नारायण स्वामी का नाम इस संबंध में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे २० वीं शताब्दी के ब्रजवासी सन्यासी थे। श्री कृष्ण के प्रति उनकी भक्ति-भावना का एक छंद बड़ा प्रसिद्ध है,—

> चाहे तू जोग करि, भृकुटी मध्य ध्यान धरि, चाहे नाम-रूप मिथ्या जानिकैं निहारि लैं ॥
> निरगुन, निरभै, निराकार जोति व्याप रही, ऐसौ तत्वज्ञान निज मन मैं तू धारि लैं ॥
> 'नारायन' अपने को आपुही बखान करि, मोतें वोह भिन्न नहीं, या विधि पुकारि लैं ।
> जौलों तोहि नंद को कुमार नहिं दृष्टि पर्‌यौ, तौलों तू भलेई बैठि ब्रह्म को विचारि लैं ॥

कृष्णोपासना के प्रभाव से निर्गुण ब्रह्मवादी हिंदू सन्यासियों ने जिस प्रकार की भावना व्यक्त की है, निर्गुण-निराकारवादी इस्लाम मजहब के अनुयायी भक्तवर रसखान वैसा ही मार्मिक कथन उनसे पहिले ही कर गये हैं। उन्होंने कहा है,—

> ब्रह्म मैं ढूंढ्यौ पुरानन-गानन, वेद-रिचा सुनी चौगुने चाइन ।
> देख्यौ सुन्यौ कबहूं न कितू, वोह कैसे सरूप औ कैसे सुभाइन ॥
> टेरत-हेरत हारि पर्‌यौ, 'रसखान' बतायौ न लोग-लुगाइन ।
> देखौ, दुर्‌यौ वोह कुंज-कुटीर में बैठ्यौ पलोटतु राधिका-पाइन ॥

भक्तिमार्गीय संत मत—

कबीरादि संतों के पंथों की भक्ति-भावना—बौद्ध सिद्धों की परंपरा में कबीर, नानक, दादू, रैदास आदि निर्गुणिया संत हुए, जिनकी खंडनात्मक प्रवृत्ति के कारण उन्हें प्रायः ज्ञानमार्गीय माना जाता है, किंतु वास्तव में उनकी वाणी में भी मूल स्वर भक्ति का है। इस संबंध में वे गोरखपंथी नाथों से भिन्न थे। गोरखनाथ ने ज्ञान और योग का प्रचार करते हुए भक्ति का तिरस्कार किया था। गो. तुलसीदास का कथन है,—'गोरख जगायौ जोग, भगति भगायौ लोग !'

श्री नारायण स्वामी

किंतु कबीरादि सतो मे भक्ति एव भजन की भावना प्रमुख थी, और ज्ञान एव योग का भाव गौण था। नाभा जी ने कबीरदास के सबध मे कहा है,—

भक्ति विमुख जो धर्म, सो अधरम करि गायौ। जोग–जज्ञ–व्रत–दान भजन बिनु तुच्छ दिखायौ॥

सत रैदास ने हरि–भक्ति और सत्सग की महिमा बतलाते हुए कहा है,—

धन्य हरिभक्ति त्रयलोक जस पावनी। करौ सतसग इहि विमल जस गावनी॥
वेद ते पुरान, पुरान ते भागवत, भागवत ते भक्ति प्रगट कीन्ही।
भक्ति ते प्रेम, प्रेम ते लच्छना, बिना सतसग नहिं जात चीन्ही॥

सत पलटूदास ने भक्ति का तिरस्कार करने वाले चौरासी सिद्धो तथा नव नाथो को भ्रम मे भूला हुआ माना है। उनका कथन है,—

सिध चौरासी, नाथ नौ, बीचै सबै भुलान।
बीचै सबै भुलान, भक्ति की मारग छूटी। हीरा दीहिन डारि, लिहिन है कौडी फूटी॥

निर्गुणिया सतो की उस भक्ति–भावना के कारण ही व्रज मे उनका इतना विरोध नही किया गया, जितना नाथपथी कनफटा साधुओ का अथवा वाममार्गीय शाक्तो का किया गया था। संत परपरा के कई पथो की गद्दियाँ भी व्रज के विविध स्थानो मे कायम हुई थी। इस सबध मे मथुरा और आगरा के नाम उल्लेखनीय है, जहाँ मध्य काल से लेकर आधुनिक काल तक कबीरादि कई सतो के पथो की गद्दियाँ रही है।

सिख पंथ के गुरुओं की व्रज-वाणी—निर्गुण परपरा के सतो मे कबीरदास के पश्चात् नानकदेव का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। नानकदेव और उनके अनुगामी सिख गुरुओ की वाणी व्रजभाषा मे है। गुरुओ की वाणी के साथ कुछ अन्य सतो की वाणियो का सकलन जिस ग्रंथ मे मिलता है, उसे 'आदि ग्र थ' अथवा 'गुरु ग्र थ साहब' कहते है। यह सिख पथ का सर्वोपरि उपासना ग्र थ है। इसे सर्वप्रथम पाँचवे गुरु अर्जुनदेव ने स १६६१ मे सकलित कराया था और उनके आदेश से भाई गुरुदास ने इसे लिखा था। वाद मे अन्य गुरुओ की वाणियाँ भी इसमे सकलित होती गई। गुरुओ की भक्ति–भावना और व्रजभाषा मे कथित उनकी वाणी के कारण सिख पथ के प्रति व्रज मे सदैव सौहार्द्र रहा है। गुरु गोविंदसिंह जी का तो व्रज साहित्य के उन्नायको मे अत्यत महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे सिख पथ के दशम अथवा अतिम गुरु, परम भक्त, महान् योद्धा और कुशल सगठनकर्त्ता होने के साथ ही साथ उच्च कोटि के साहित्यकार एव कवियो के आश्रयदाता थे। उनका जन्म स १७२३ की पौप शु ७ को पटना मे हुआ था। वे जीवन पर्यत पीडित जनता के परित्राण के लिए अत्याचारी एव अन्यायी शासन से भीपण युद्ध करते रहे थे, और अत मे स. १७६५ की कार्तिक शु. ५ को उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनका वलिदान हुआ था। उन्होने सिख समुदाय को सगठित कर 'खालसा' के रूप मे एक ऐसे धार्मिक पथ की स्थापना की थी, जो धर्मोपासना के साथ ही साथ वीरत्व के रग मे भी रँगा हुआ है।

गुरु गोविंदसिंह का 'दशम ग्रंथ'—गुरु जी के बहुमुखी व्यक्तित्व का एक महत्वपूर्ण पक्ष उनका व्रजभाषा का महान् साहित्यकार होना है। उनकी रचनाओ का विशाल सग्रह 'दशम ग्र थ' कहलाता है। इसमे चडी चरित्र, विचित्र नाटक, रामावतार और कृष्णावतार नामक रचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। गुरु जी की प्रकृत्ति और उनके जीवन-लक्ष के अनुसार ये रचनाएँ भक्ति भाव से अधिक वीर रस से ओतप्रोत हैं। गुरु गोविंदसिंह निर्गुण–निराकार अकाल पुरुष के

उपासक थे, किंतु वे श्रीकृष्ण के भी परम भक्त थे। उनकी 'कृष्णावतार' नामक वृहत् रचना श्रीमद् भागवत के दशम स्कध पर आधारित है, किंतु उसमे श्रीकृष्ण के परम्परागत मधुर रूप की अपेक्षा उनके वीर रूप का कथन अधिक तन्मयता से किया गया है। इस प्रकार ब्रजभाषा के प्रसार कृष्ण-काव्य मे यह रचना अपना अनुपम महत्व रखती है।

ब्रज के सिख और गुरुद्वारे—ब्रजमडल के विभिन्न स्थानो मे सिख पर्याप्त सख्या मे निवास करते रहे है। आधुनिक काल मे पजाब के विभाजन के उपरात उनकी सख्या मे और भी वृद्धि हुई है। मथुरा-आगरा आदि स्थानो मे सिख पथ के कई गुरुद्वारे हैं। उनमे से गुरु गोविंदसिंह जी के बलिदानी पिता गुरु तेगवहादुर जी की स्मृति मे बनाया गया मथुरा का गुरुद्वारा अधिक महत्वपूर्ण है।

साहब पंथ

प्रेरणा और प्राकट्य—आधुनिक काल मे ब्रज मे स्थापित होने वाले कई निर्गुण मतो मे 'साहब पथ' प्रथम था। उसके सस्थापक तुलसी साहब नामक एक सत थे। वे किसी अन्य स्थान से आकर ब्रजमडल के हाथरस नामक कस्बा मे रहे थे, और वही से उन्होने अपने निर्गुण मत का प्रचार किया था। तुलसी साहब की किसी रचना से यह ज्ञात नही होता है कि उन्हे हाथरस आने की प्रेरणा किस प्रकार प्राप्त हुई थी। ब्रजमडल के अनेक स्थान अपनी धार्मिक महत्ता के लिए प्रसिद्ध रहे है, किंतु उनमे हाथरस को कभी सम्मिलित नही किया गया। इस प्रकार उस स्थान की कोई ऐसी धार्मिक परपरा नही है, जो तुलसी साहब जैसे सत को वहाँ आने के लिए प्रेरित करती। ऐसी दशा मे वे अन्य स्थानो को छोड कर हाथरस मे ही आकर क्यो रहे थे? इस प्रश्न का निश्चित उत्तर देना कठिन है। फिर भी इसका एक आनुमानिक उत्तर डा० विल्सन के ग्रथ मे मिलता है[1]। उसमे एक ऐसे शून्यवादी सप्रदाय की चर्चा की गई है, जिसके प्रचार मे हाथरस के राजा ठाकुर दयाराम ने अधिक योग दिया था। उसके दरबारी बख्तावर ने 'व्योम सार' एव 'शुनि सार' नामक दो ग्रथो की रचना की थी[2]। ठाकुर दयाराम को हाथरस की रियासत स० १८३२ मे प्राप्त हुई थी, और स० १८७४ मे उसका अगरेजो से युद्ध हुआ था। उसे युद्ध मे पराजित होकर भागना पडा, और उसकी रियासत पर अगरेजो ने अधिकार कर लिया था। उसका देहावसान स० १८६८ मे हुआ था[3]। यह सभव हो सकता है कि उस शून्यवादी सप्रदाय के सिद्धातो को जानने के लिए तुलसी साहब हाथरस आये हो, और फिर वे वहाँ स्थायी रूप मे रहते हुए अपने पथ के प्रचार मे लग गये हो। वैसे उस शून्यवादी सप्रदाय के सिद्धातो का साहब पथ के सिद्धातो से कोई मेल नही है।

संत तुलसी साहब—इस पथ के सस्थापक तुलसी साहब का प्रामाणिक जीवन-वृत्तात नही मिलता है। ऐसा समझा जाता है, वे महाराष्ट्र ब्राह्मण थे और पूना के शासक पेशवा के ज्येष्ठ पुत्र थे। उनका जन्म स० १८२० के लगभग हुआ था। उन्हे युवावस्था मे ही तीव्र वैराग्य हो गया था, जिसके कारण वे घर-बार और राज्याधिकार छोड कर अकेले ही घर से निकल भागे थे। उनके पिता ने उनकी बहुत खोज करायी, किंतु उनका कोई पता नही चला था। फलत: उसने अपने छोटे पुत्र को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया, जो बाजीराव द्वितीय के नाम से मरहठो का

---

(१) रिलीजस सेक्ट्स आफ दि हिंदूज, पृष्ठ ३६०
(२) उत्तरी भारत की सत-परपरा, पृष्ठ ६४१
(३) मथुरा-ए-डिस्ट्रिक्ट मेमोअर, पृष्ठ २३०

पेशवा हुआ था। तुलसी साहब पूना छोडने के उपरात कहाँ रहे थे, और किस प्रकार उन्होने भक्ति–साधना की थी, इसका कोई उल्लेख नही मिलता है। केवल इतना ज्ञात होता है कि वे हाथरस मे आ कर रहे थे, और वहाँ के निकटवर्ती जोगिया नामक गाँव मे उनका 'सत्सग' होता था।

तुलसी साहब उनका मूल नाम नही था, वे सत होने पर उस नाम से प्रसिद्ध हुए थे। उनका कोई गुरु भी नही था, बल्कि वे अपने हृदय–कमल मे स्थित परमात्मा के सकेतो से स्वत. ही सत–मत और साधना के रहस्यो से परिचित हो गये थे। इसका उल्लेख उन्होने अपनी रचना 'घट रामायन' मे इस प्रकार किया है,—'कज गुरु ने राह बताई। देह गुरु से कछु नहिं पाई।' कबीरादि पूर्ववर्ती सतो ने जिन साम्प्रदायिक आडबरो का खडन किया था, उनमे से बहुत से बाद मे उनके पथो मे ही प्रचलित हो गये थे। तुलसी साहब उन बातो के कारण अपने समय मे प्रचलित सभी पथो से बडे रुष्ट थे। वे कोई नवीन पथ चलाने के भी उत्सुक नही थे। उन्होने लिखा है,—

झूठा पथ जगत सब लूटा। कहा कबीर सो मारग छूटा॥
तुलसी तासे पथ न कीन्हा। भेष जगत भया पथ अधीना[1]॥

पंथ का नाम, केन्द्र और प्रचार—तुलसी साहब ने अपने पथ का कोई खास नाम नहीं रखा था। वे उसे सामान्यत. 'सत मत' कहा करते थे। बाद मे उनके प्रचलित नाम पर ही इसे 'तुलसी पथ' अथवा 'साहब पथ' कहा जाने लगा था। इसका प्रधान केन्द्र हाथरस के समीप का जोगिया गाँव था, जहाँ तुलसी साहब का सत्सग, प्रवचनादि होता था, और वे अपनी वाणी-रचना करते थे। वे कबल ओढ कर और डडा लेकर इसी निमित्त हाथरस से बाहर दूर–दूर तक भी चले जाते थे। उससे उनके मत तथा उनकी वाणी का प्रचार अनेक स्थानो मे हो गया था, और सहस्रो व्यक्ति उनके अनुगामी हो गये थे।

ग्रंथ–रचना—तुलसी साहब के तीन ग्र थ उपलब्ध है,—१ रत्नसागर, २ शब्दावली और ३ घट रामायन। इन तीनो को प्रयाग के बेलवेडियर प्रेस ने प्रकाशित किया है। इनमे से 'रत्नसागर' मे सृष्टि–रचना का रहस्य, कर्मवाद और सत्सगादि विषयो पर साहब जी के विचार हैं। 'शब्दावली' मे साहब जी की बानियो का सकलन है, जो दो भागो मे है। द्वितीय भाग के अत मे 'पद्मसागर' नामक एक छोटा ग्र थ भी छपा हुआ है। 'घट रामायन' इस पथ का प्रमुख ग्र थ है। इससे साहब जी के विचारो का विशद परिचय मिलता हैं। 'इसमें पिंड एव ब्रह्माड के रहस्यो का विवरण देने के अनतर वैराग्य, योग, भक्ति तथा ज्ञान का वर्णन किया गया है, और तत्पश्चात् उन विविध सवादो का उल्लेख है, जो तुलसी साहब तथा अन्य धर्म–सप्रदाय वालो के बीच हुए है। पुस्तक के अत मे तुलसी साहब के पूर्व जन्म का वृत्तात और सत–मत का सक्षिप्त परिचय है[2]।' साहब जी के मतानुसार समस्त ब्रह्माड पिंड मे व्याप्त है, और उसका सारा रहस्य घट के अदर है। सिद्धि प्राप्त करने के लिए साधक को उसे जानना परमावश्यक है।

'घट रामायन' मे वर्णित तुलसी साहब के पूर्व जन्म का वृत्तात विविध विद्वानो के विवाद और उनकी आलोचना का विषय रहा है। उसमे साहब जी को पूर्व जन्म मे गोस्वामी तुलसीदास

(१) उत्तरी भारत की संत परपरा, पृष्ठ ६३६
(२) वही ,, ,, , पृष्ठ ६५०

वतलाया गया है । उसमे लिखा है, उन्होने तभी 'घट रामायन' की रचना की थी; किंतु उसमे व्यक्त विचारो के कारण काशी मे खलवली मच जाने से उसे तब गुप्त कर दिया गया था। उसके बाद दूसरी 'रामायन' (रामचरित मानस) की रचना की गई थी। 'घट रामायन' मे 'रामचरित मानस' की कथा आध्यात्मिक रूपक द्वारा भी व्यक्त की गई है। उक्त 'घट रामायन' को तुलसी साहब ने इस जन्म मे पुन प्रकट किया था। इस रचना का यह प्रसग इतना कपोलकल्पित और हास्यास्पद है कि इसे तुलसी साहब जैसे उच्च कोटि के सत द्वारा रचा हुआ नही माना जा सकता। हमारे मतानुसार यह प्रक्षिप्त अश है, जिसे उनके किसी प्रपची शिष्य ने बाद मे रच कर अपने गुरु का महत्व वढाने के अभिप्राय से उसमे सम्मिलित कर दिया है।

शिष्य-परपरा और देहावसान—'घट रामायन' मे तुलसी साहब के अनेक शिष्यो का नामोल्लेख मिलता है, जिनमे से अधिकाश पहिले अन्य धर्म-सप्रदायो के अनुयायी रह चुके थे। उनके एक प्रसिद्ध शिष्य 'सूरस्वामी' थे, जो अष्टछापी सूरदास की भांति नेत्रहीन थे, किंतु जनश्रुति के अनुसार उन्हे साहब जी ने नेत्र-ज्योति प्रदान की थी। तुलसी साहब का देहावसान प्राय ८० वर्ष की आयु मे स १९०० की ज्येष्ठ शु २ को हाथरस मे हुआ था, जहाँ उनकी समाधि बनी हुई है। वाद मे उनके एक शिष्य गिरिधारीदास ने 'सत्सग' का सचालन किया था, किंतु वह नियमित रूप मे नही चल सका था। साहब जी का समाधि-स्थल इस पथ के अनुयायियो का प्रधान तीर्थ-स्थान माना जाता है।

राधास्वामी पंथ

प्रेरणा और प्राकट्य—आधुनिक काल मे ब्रज मे स्थापित होने वाला यह दूसरा निर्गुण पथ है। इसका प्राकट्य ब्रजमडल के आगरा नगर मे हुआ था। इसके सस्थापक आगरा निवासी श्री शिवदयालसिंह जी थे, जो इस पथ मे 'श्री स्वामी जी महाराज' कहलाते है। उनके पिता की 'साहब पथ' के सस्थापक श्री तुलसी साहब के प्रति बडी श्रद्धा थी, और स्वय उन पर भी वचपन मे साहब जी का प्रभाव पडा था। इससे यह कहा जा सकता है कि श्री स्वामी जी महाराज को अपने मत के प्राकट्य की प्रेरणा साहब पथ से प्राप्त हुई होगी। इस पथ का मूल मत्र 'राधासोआमी' है, जिसे आदि नाद कहा गया है। इसी कारण यह 'राधास्वामी सत्सग' अथवा 'राधास्वामी पथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इसके अनुयायी साधक 'सत्सगी' कहलाते है।

श्री शिवदयालसिंह जी (स्वामी जी महाराज)—उनका जन्म स १८७५ की भाद्रपद कृ ८ (कृष्ण-जन्माष्टमी) को आगरा नगर की पन्नी गली के एक सेठ खत्री कुल मे हुआ था। उनके पिता दिलवालीसिंह जी पहिले नानक पथी थे, किंतु तुलसी साहब के प्राय आगरा आते रहने और वहाँ 'सत्सग' करने मे उनका तथा उनके घर वालो का झुकाव 'साहब पथ' की ओर हो गया था। वालक शिवदयाल पर उस वातावरण का वडा प्रभाव पडा था, और उनमे वचपन से ही आध्यात्मिक चेतना जागृत हो गई थी। उन्होने हिंदी, उर्दू, फारसी की अच्छी शिक्षा प्राप्त की थी, और वे अरवी एव सस्कृत भी जानते थे। वे विवाहित थे, और उनकी पत्नी आध्यात्मिक प्रवृत्ति की एक उदारहृदया महिला थी। इस पथ के अनुयायी उन्हे 'राधा जी' कहते थे। उनके कोई सतान नही हुई थी। उनके घर मे महाजनी का कारोबार होता था, किंतु सूद से जीविका चलाना उचित न समझ कर उन्होने सब कर्जदारो के लेन-देन का हिसाब समाप्त कर दिया था। उसके उपरात उनके छोटे भाई के सामान्य वेतन से समस्त परिवार का निर्वाह होता था।

आध्यात्मिक चिंतन, उपदेश और प्रचार—'स्वामी जी महाराज' आरभ मे ही आध्यात्मिक चिंतन मे लीन रहा करते थे। वे अपने मकान की एकात कोठरी मे ध्यानावस्थित होकर कई-कई दिनो तक निश्चल बैठे रहते थे। आरभ मे उनकी साधना अतर्मुखी थी, किंतु बाद मे वे प्रकट रूप से उपदेश भी करने लगे थे। उनका प्रवचन और 'सत्सग' उनके घर पर ही होता था, जहाँ विविध धर्म-सप्रदायो के सैकडो अनुयायी एकत्र होकर उनसे लाभान्वित होते थे। इस प्रकार उनके मत का व्यापक प्रचार हुआ और सहस्रो व्यक्ति उनके अनुगामी हो गये। उनके अनुयायी सत्सगियो मे श्री सालिगराम जी प्रमुख थे, जो बाद मे उनके उत्तराधिकारी हुए थे।

रचना और देहावसान—स्वामी जी महाराज की दो रचनाएँ प्रसिद्ध है। पहली रचना 'सार वचन नज्म' पद्यात्मक है, और दूसरी 'सार वचन नसर' गद्यात्मक। दोनो रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी है। इनका प्रचार अधिकतर सत्सगियो मे है, सर्वसाधारण मे इन्हे नही बेचा जाता है। 'सार वचन नज्म' एक वृहद् ग्रथ है। इसमे स्वामी जी महाराज के ४२ 'वचन' हैं, और उनके अतर्गत ४६४ 'शब्द' हैं। इनमे प्राय उन्ही बातो का कथन है, जो अन्य सत-महात्माओ की रचनाओ मे मिलता है, किंतु इनकी शैली और क्रम मे अतर है। 'सार वचन नसर' पहिली से कुछ छोटी रचना है। इसकी अधिकाश बाते सुझाव एव उपदेश के रूप मे कही गई है। ये दोनो इस पथ की प्रामाणिक रचनाएँ है, और 'सत्सग' के सिद्धातो की कुजी मानी जाती है।

स्वामी जी महाराज का देहावसान स १९३५ की आषाढ कृ १ को आगरा मे हुआ था। उनकी समाधि नगर से ३ मील दूर एक बाग मे है, जिसे 'स्वामी बाग' वहाँ कहते है। उनकी स्मृति मे प्रति वर्ष वृहत् भडारा होता है, जिसमे इस पथ के सत्सगी बहुत बडी सख्या मे सम्मिलित होते है। स्वामी जी महाराज के स्मारक के रूप मे सगमरमर का एक भव्य भवन बनाया जा रहा है। इसके निर्माण-कार्य का आरभ स. १९६१ मे हुआ था। तब से अब तक यह कार्य बराबर चल रहा है, और इसमे लाखो रुपया लग चुका है। जब यह भवन योजना के अनुसार पूरा बन कर तैयार होगा, तब इसे भारत की सुदरतम इमारतो मे माना जावेगा।

स्वामी जी महाराज को भेंट कर दिया था। स्वामी जी के अंतिम काल में उस बाग में ही 'सत्सग' होने लगा, और उसी में स्वामी जी की समाधि बनाई गई थी। यह बाग 'स्वामी बाग' कहलाता है।

सं १९३५ में जब स्वामी जी महाराज का देहावसान हुआ था, तब 'हुजूर महाराज' सरकारी पदाधिकारी थे, किंतु उनका अधिक समय 'सत्सग' में लगता था। सं. १९४४ में उन्होंने राजकीय सेवा से अवकाश ग्रहण किया था। फिर वे अहर्निश सत्सग के कार्य में लग गये थे। स्वामी जी महाराज के समय में ही वे सत्सग और स्वामी बाग का कुल प्रबंध करते थे। स्वामी जी के उपरात और सरकारी नौकरी से पेंशन लेने के बाद भी उन्होंने उसमें कोई त्रुटि नहीं आने दी थी। उस काल में दैनिक सत्सग पन्नी गली स्थित स्वामी जी महाराज के मकान में और साप्ताहिक सतसग स्वामी बाग में होता था। 'श्री हुजूर महाराज' ने प्रायः २० वर्षों तक सत्सग का सचालन किया था। उनके काल में सत्सगियों की संख्या बहुत बढ़ गई थी। उनके व्यक्तित्व में कुछ ऐसा दैवी आकर्षण था कि उनके निकट आने वाला व्यक्ति स्वतः उनका परम भक्त बन जाता था।[1]

पथ का सगठन—'श्री स्वामी जी महाराज' ने इस पथ का प्रवर्तन अवश्य किया था, किंतु इसे सगठित एवं व्यापक रूप में प्रचारित करने का श्रेय 'श्री हुजूर महाराज' को है। उन्हीं ने 'राधास्वामी' नाम का भी प्रचलन किया था। यह प्रसिद्ध है कि श्री स्वामी जी महाराज ने केवल सत्तनाम और अनामी का भेद प्रकट किया था, और वे उसी का उपदेश दिया करते थे। 'श्री हुजूर महाराज' ने अपने 'सुरत शब्द' के अभ्यास में सर्व प्रथम 'राधास्वामी' नाम की ध्वनि सुनी थी और उसके दर्शन का अनुभव किया था। तदुपरात वे उस नाम से 'श्री स्वामी महाराज' को ही सबोधित करने लगे। तब से 'राधास्वामी' नाम तथा 'राधास्वामी' धाम का अभ्यास और उपदेश होने लगा था। इस बात को स्वय स्वामी जी महाराज ने भी स्वीकार किया है, जो उनके 'वचन' सं. १४ से इस प्रकार प्रकट है,—'फिर लाला परतापसिंह की तरफ मुतवज्जह होकर फरमाया कि मेरा मत तो सत्तनाम और अनामी का था, और राधास्वामी मत शालिगराम का चलाया हुआ है। इसको भी चलने देना, और सतसग जारी रहे और सतसग आगे से बढ़ कर होगा'।"

ग्रथ-रचना और देहावसान—'श्री हुजूर महाराज' जीवन पर्यंत सरकारी नौकरी और राधास्वामी सत्सग के कार्यों में व्यस्त रहे थे। फिर भी उन्होंने ग्रथ-रचना करने के लिए अवकाश निकाल लिया था। उनके ग्रथों में एक पद्यात्मक है, और शेष गद्यात्मक। पद्यात्मक ग्रथ का नाम 'प्रेम बानी' है, जो ४ भागों में है। गद्यात्मक ग्रथों में एक 'प्रेम पत्र' है, जिसके ६ भाग हैं। अन्य गद्य ग्रथों के नाम सार उपदेश, निज उपदेश, प्रेम उपदेश, राधास्वामी मत सदेश, राधास्वामी मत उपदेश, प्रश्नोत्तर सत मत, वचन महात्माओं के और जुगत प्रकाश हैं। उनका एक प्रसिद्ध ग्रंथ 'राधास्वामी मत प्रकाश' अगरेजी भाषा में है। इससे अगरेजी भाषा भाषी व्यक्ति इस मत की महत्वपूर्ण बातों से भली भाँति परिचित हो सकते हैं।

'श्री हुजूर महाराज' का देहावसान सं १९५५ (२७ दिसबर, १८९८ ई०) में उनके आगरा स्थित 'प्रेम विलास' नामक मकान में हुआ था। उस समय उनकी आयु ७० वर्ष के लगभग थी। उनकी समाधि उक्त मकान में है, और उनकी स्मृति में आगरा में एक बाग लगाया गया है, जिसे 'हुजूरी बाग' कहते हैं। उनके समाधि-स्थान पर प्रति वर्ष २७ दिसबर को एक वृहद् भडारा किया जाता है, जिसमें बहुसख्यक सत्सगी दूर-दूर से आकर सम्मिलित होते हैं।

---

(१) उत्तरी भारत की सत-परपरा, पृष्ठ ६७८–६७९

श्री ब्रह्मशंकर जी मिश्र (महाराज साहब)—'श्री हुजूर महाराज' के पश्चात् श्री ब्रह्मशकर जी मिश्र 'सत्संग' के सचालक हुए थे। उन्हे इस पथ मे 'श्री महाराज साहब' कहा जाता है। श्री ब्रह्मशकर जी का जन्म स १९१७ मे काशी के पियरी मुहल्ला निवासी प्रतिष्ठित ब्राह्मण कुल मे हुआ था। उनके पिता रामयश मिश्र सस्कृत के नामी विद्वान थे। श्री ब्रह्मशकर जी को अपनी युवावस्था मे ही 'श्री स्वामी जी महाराज' के ग्र थ 'सार वचन नसर' को पढने का सुयोग मिला था। उसे पढने से वे 'सत्सग' की ओर आकर्षित होकर स १९३२ मे 'श्री हुजूर महाराज' के शिष्य हो गये थे। उन्होने अगरेजी की सर्वोच्च शिक्षा प्राप्त की थी, और कई विभागो मे बडे पदो पर काम किया था। यह सब करते हुए और गृहस्थाश्रम मे रहते हुए भी उनकी प्रवृत्ति मुख्यत आध्यात्मिक साधना और 'सत्सग' मे लगी रही थी। जब स १९५५ मे 'श्री हुजूर महाराज' का देहात हो गया, तब उन्हे उनका उत्तराधिकारी नियुक्त किया गया था। वे स १९५५ से स १९६४ तक इस पथ के प्रयाग केन्द्र मे 'सत्सग' कराते रहे थे। स १९५९ मे उन्होने राधास्वामी सत्सग की केन्द्रीय सभा के सगठन एव सचालन के लिए एक विधान और नियमोपनियमो का निर्माण किया था। तभी इसे व्यवस्थित रूप से चलाने की परपरा प्रचलित हुई। उन्होने अंगरेजी भाषा मे इस पथ के सबध मे एक पुस्तक भी लिखी है, किंतु वह पूरी नही हो सकी। उनका देहावसान स. १९६४ की आश्विन शु ५ को काशी मे हुआ था। उनकी समाधि कबीरचौरा मुहल्ला मे है।

'बुआ जी साहिबा' और 'सरकार साहब'—'राधास्वामी सत्सग' के तीसरे गुरु श्री ब्रह्मशकर जी मिश्र (महाराज साहब) के पश्चात् उनकी बडी बहिन श्रीमती माहेश्वरी देवी प्रयाग और काशी की गद्दी पर उनकी उत्तराधिकारिणी हुई थी। उन्हे इस पथ मे 'श्री बुआ जी साहिबा' कहा जाता है। महाराज साहब के एक शिष्य मुशी कामताप्रसाद जी ने आगरा मे 'सत्सग' का सचालन किया था। वे इस पथ मे 'श्री सरकार साहब' कहे जाते हैं। उन दोनो मे से किसे सत्सग का चौथा गुरु माना जावे, इस सबध मे मतभेद है। कुछ सत्सगी बुआ जी साहिबा को और कुछ सरकार साहब को चौथा गुरु मानते है। बुआ जी साहिबा का पीहर और ससुराल काशी मे था। वे सदैव गृहस्थाश्रम मे रही थी, किंतु परम विदुषी और उच्च कोटि की साधिका थी। 'सुरत शब्द योग' और आध्यात्मिक साधना मे उन्होने बडी दक्षता प्राप्त की थी। बड-बडे विद्वान उनके अनुयायी थे। उनका देहावसान स. १९६६ की वैशाखी पूर्णिमा को हुआ था। मुशी कामताप्रसाद (सरकार साहब) गाजीपुर के निवासी थे। वे भी उच्च कोटि के सत और सतगुरु थे। उनका देहावसान स. १९७१ मे हुआ था।

श्री आनंदस्वरूप जी (साहब जी)—उनका जन्म स १९३८ मे अम्बाले के खत्री कुल मे हुआ था। वे बचपन से ही आध्यात्मिक रुचि के थे। उन्होने आगरा में राधास्वामी मत की दीक्षा ली थी, और वे मुशी कामताप्रसाद जी (सरकार साहब) के उपरात उनके उत्तराधिकारी हुए। उन्होने राधास्वामी पथ को एक नई दिशा की ओर अग्रसर किया था। वे आध्यात्मिक विकास के साथ ही साथ देश की औद्योगिक प्रगति के भी पक्षपाती थे। उन्होने सत्सगियो को आध्यात्मिक साधना करते हुए औद्योगिक उन्नति करने की प्रेरणा प्रदान की थी। इस प्रकार उन्होने राधास्वामियो को अध्यात्मवादी होने के साथ ही साथ कर्मयोगी बनने की भी शिक्षा दी थी। उनकी चेष्टा से 'स्वामी बाग' के निकट 'दयाल बाग' में अनेक उद्योग स्थापित किये गये, जिनसे यह स्थान आगरा का प्रमुख औद्योगिक केन्द्र बन गया। उनके समय में राधास्वामी पथ की बडी उन्नति हुई

थी, और उसकी ख्याति समस्त देश मे व्याप्त हो गई थी। अगरेजी सरकार ने उन्हे 'सर' के खिताब से सन्मानित किया था। उनका देहावसान स १९९४ में मदरास में हुआ था। उनके उत्तराधिकारी रायसाहब गुरुचरनदास जी मेहता हुए, जो राधास्वामी सत्सग के वर्तमान गुरु है।

'सत्संग' का विकेन्द्रीकरण और इसके सिद्धांत—राधास्वामी सत्सग का प्रादुर्भाव आगरा मे हुआ था, और 'श्री स्वामी जी महाराज' एव 'श्री हुजूर महाराज' के समय मे वही इसका एक मात्र केन्द्र था। 'श्री महाराज साहब' के समय मे प्रयाग-काशी के केन्द्रो को भी महत्व प्राप्त हो गया था। उसी काल मे उनके सहयोगी और शिष्यो ने विविध केन्द्रो मे कई गद्दियो की स्थापना की थी। उन सबके कारण राधास्वामी सत्सग का विकेन्द्रीकरण होने लगा था।

श्री हुजूर महाराज के एक शिष्य महर्षि शिवव्रतलाल जी ने स १९७८ मे इस पथ की एक गद्दी गोपीगज मे स्थापित की थी। वे अनुभवी साधक, परम विद्वान और प्रसिद्ध ग्रथकार थे। उन्होने राधास्वामी मत के सबध मे सर्वाधिक ग्र थो की रचना की है। उनका देहात स १९९६ मे हुआ था। श्री बुआ जी साहिबा का देहावसान होने पर श्री माधवप्रसादसिंह (बाबू जी साहब) उनके उत्तराधिकारी के रूप मे प्रयाग की गद्दी पर बैठे थे। वे स १९९४ मे आगरा चले गये थे।

बाबू जी साहब श्री स्वामी जी महाराज की बडी बहिन के पौत्र थे, और उनका जन्म काशी मे हुआ था। आगरा आने पर वे 'स्वामी बाग' मे श्री स्वामी जी महाराज की समाधि के निकट सत्सग कराने लगे थे। उनके अनुयायियो ने 'दयाल बाग' को मान्यता न देकर 'स्वामी बाग' को ही इस पथ का प्रधान केन्द्र स्वीकार किया। वे 'दयाल बाग' की औद्योगिक प्रवृत्ति को भी 'सत्सग' की आध्यात्मिक साधना मे बाधक मानते है। इस प्रकार आगरा में ही इस पथ के दो केन्द्र हो गये। इनमे पारस्परिक प्रतिद्वदिता और मतभेद में इतनी वृद्धि हो गई कि दोनो के बीच लबी मुकदमाबाजी छिड गई, जिसका फैसला प्रिवी कौन्सिल में जा कर हुआ था। बाबूजी साहब प्राय ९० वर्ष की आयु तक जीवित रहे थे। उनका देहावसान स २००६ में हुआ था। इस समय भी राधास्वामी पथ के इन दोनो वर्गो में मतभेद बना हुआ है।

राधास्वामी सिद्धात—सृष्टि-रचना का मूल स्रोत और विश्व का आदि कारण 'सोआमी' है, जो सबका परम पिता है। उससे प्रवाहित होने वाली चैतन्य शक्ति की धारा 'राधा' है, जो सबकी परम माता है। यह 'राधा' उस 'सोआमी' को उसी प्रकार व्यक्त करती है, जिस प्रकार किरणे अपने मूल स्रोत सूर्य का पता देती है। इन दोनो प्रतीकात्मक शब्दो से बना हुआ 'राधा-स्वामी' शब्द स्वय परमात्मा का द्योतक है। यह उन 'सत गुरुओ' के लिए भी प्रयुक्त होता है, जो राधास्वामी दयाल के प्रतीको के रूप मे समय-समय पर नर-देह धारण करके आया करते हैं। साथ ही साथ यह नाम उस पथ का भी है, जिसे 'सतगुरु श्री स्वामी जी महाराज' ने प्रकट किया है।

इस पथ के मुख्यतया चार अग हैं,—१ पूरा गुरु, २ नाम, ३ सत्सग और ४. अनुराग। 'पूरा गुरु' से तात्पर्य सतगुरु से है। 'नाम' का अभिप्राय उस ध्वन्यात्मक रूप से है, जो सभी घटो मे व्याप्त हो रहा है। 'सत्सग' का अभिप्राय सत सतगुरु की सेवा से है। 'अनुराग' का अभिप्राय परमात्मा के प्रति सच्चे प्रेम से है। इस पथ के सिद्धात शुद्ध वैज्ञानिक तथा अनुभवगम्य समझे जाते है। इन्हे स्वीकार करने वाला व्यक्ति किसी भी स्थिति मे रहता हुआ अपने उद्धार के लिए प्रयत्नशील हो सकता है। इसमे सम्मिलित होने के लिए न तो अपने पूर्व धर्म का परित्याग करना आवश्यक है, और न अपनी जीविका की ओर से उदासीन होना ही अनिवार्य है।

आर्य समाज

प्रेरणा और प्राकट्य—नवयुग की आवश्यकताओ की पूर्ति के उद्देश्य से इस देश मे जो कई प्रगतिशील और सुधारवादी आधुनिक मत तथा पथ स्थापित हुए, उनमे 'आर्य समाज' का अत्यत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके सस्थापक स्वामी दयानद जी थे। यह बडे विचित्र सयोग की बात है कि इस क्रातिकारी मत को स्थापित करने की प्रेरणा स्वामी दयानद जी को पौराणिक परपराओ के प्रमुख केन्द्र मथुरा मे प्राप्त हुई थी! स्वामी जी ने मथुरा स्थित दडी विरजानद जी के सस्कृत विद्यालय मे शिक्षा प्राप्त की थी। उनके प्राय सभी सहपाठी मथुरा के उन धर्म-गुरुओ और तीर्थ-पुरोहितो के पुत्र थे, जिनके घरो मे सदा से पौराणिक परपराओ और रूढिग्रस्त मान्यताओ का एकछत्र राज्य रहा है। ऐसे विषम वातावरण मे स्वामी दयानद जी ने अपनी शिक्षा को पूर्ण किया था। उसके उपरात उन्होने 'आर्य समाज' के नाम से एक ऐसे धार्मिक मत का प्राकट्य किया, जो भारत के प्राचीनतम वैदिक धर्म पर आधारित होते हुए भी नवीनतम सुधारो और आधुनिकतम आवश्यकताओ की पूर्ति के समस्त साधनो से परिपूर्ण था। उसके कारण यहाँ के धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रो मे अभूतपूर्व क्राति की ज्वाला प्रज्वलित हो गई, जिसकी लपटो मे धर्मान्धता और साप्रदायिक सकीर्णता का कूडा-कचरा जल कर भस्म होने लगा। ब्रज के लिए यह बडे गौरव की बात है कि यहाँ की भूमि से ही स्वामी दयानद जी ने प्रेरणा प्राप्त कर अपने युगातरकारी मत का प्राकट्य किया था। स्वामी जी और 'आर्य समाज' पर लिखने से पहिले उनकी प्रेरणा के स्रोत दडी विरजानद जी और उनके विद्यालय का कुछ वृत्तात लिखा जाता है।

दंडी विरजानंद जी—उनका जन्म पजाब के कर्तारपुर नगर के निकटवर्ती गगापुर ग्राम मे स १८३५ के लगभग हुआ था। वे भारद्वाज गोत्रीय सारस्वत ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम नारायणदत्त था। उनका अपना मूल नाम क्या था, यह ज्ञात नही होता है। इतना निश्चित है कि सन्यास की दीक्षा लेने के अनतर उनका गुरु-प्रदत्त नाम विरजानद हुआ, और वे इसी नाम से विख्यात हुए थे। जब वे ५ वर्ष के थे, तब शीतला रोग मे उनके नेत्रो की ज्योति नष्ट हो गई थी, जिसके कारण वे बाल्यावस्था मे ही नेत्रहीन हो गये। उनकी स्मरण शक्ति और मेधा असाधारण थी। उन जन्मजात दैवी गुणो के कारण उनकी नेत्रहीनता उनके उज्ज्वल भविष्य मे बाधक नही हो सकी थी। फलत वे कालातर मे अपने समय के प्रकाड विद्वान हुए थे।

उनके माता-पिता ने अपने नेत्रहीन पुत्र की आरभिक शिक्षा का आयोजन किया था, किंतु दुर्भाग्य से उनकी शीघ्र मृत्यु हो गई थी, जिससे वे १२ वर्ष की आयु मे ही अनाथ हो गये थे। उससे दुखी होकर वे अपने जन्म-स्थान को छोड कर हरिद्वार चले गये। वहाँ ऋषिकेश और कनखल मे उन्होने सस्कृत का अध्ययन कर व्याकरणादि विद्याओ मे दक्षता प्राप्त की थी। कनखल मे ही उन्होने पूर्णाश्रम नामक एक विद्वान सन्यासी से सन्यासाश्रम की दीक्षा ली थी। तदुपरात वे 'दडी विरजानद' और नेत्रहीन होने से 'प्रज्ञाचक्षु' कहे जाने लगे। कनखल से वे काशी गये, जहाँ उन्होने अपने विद्याध्ययन को पूर्ण किया था। काशी मे वे अध्ययन के साथ ही साथ अध्यापन भी करते थे, जिससे उनकी विद्या का भली भाँति विकास हो गया था।

काशी से चल कर वे गया, सोरो आदि धार्मिक स्थानो मे और अलवर, मुरसान, भरतपुर आदि रजवाडो मे थोडे-थोडे समय तक निवास करते रहे थे, किंतु वे जम कर कहीं नहीं रहे। वे किसी उपयुक्त धार्मिक स्थान मे स्थायी रूप से निवास कर अपनी विद्या से जनता को लाभान्वित

करना चाहते थे, किंतु उन्हे कोई स्थान सुविधाजनक ज्ञात नही हुआ था। स. १९०४ मे वे मथुरा आये। उस काल मे यह स्थान धर्म और सस्कृति के साथ ही साथ सस्कृत भाषा का प्रमुख केन्द्र था। विरजानद जी को यह स्थान उपयुक्त ज्ञात हुआ। यहाँ पर उन्होने एक विद्यालय की स्थापना की, और उसके द्वारा वे छात्रो को सस्कृत की नि शुल्क शिक्षा देने लगे।

दडी जी का विद्यालय—दडी विरजानद जी के उस ऐतिहासिक विद्यालय का शुभारभ मथुरा के श्री गतश्रमनारायण जी के मदिर मे हुआ था। दो माह पश्चात् उसके लिए कसेरा बाजार मे एक दोमजिला मकान किराये पर ले लिया गया। उसी मकान मे उसका स्थायी रूप से सचालन हुआ था। मथुरा नगरपालिका मे दाखिल स १९२७ के एक नक्शा से ज्ञात होता है कि पहले यह मकान सम्पतिराम सेनापति नामक एक मरहठा सज्जन की मिल्कियत था। कालातर मे मथुरा का एक सरीन खत्री परिवार इसका स्वत्वाधिकारी हुआ था। मथुरा नगर और आर्य समाज के इतिहास मे इस विद्यालय का बडा महत्व है। इसमे शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रो मे मथुरा के अनेक धुरधर विद्वान हुए हैं, जिन्होने उस काल मे बडी प्रसिद्धि प्राप्त की थी। इसी मे विद्याध्ययन करने से स्वामी दयानद जी को वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की प्रेरणा प्राप्त हुई थी।

दडी विरजानद जी एक अनुभवी अध्यापक थे। उनके अध्यापन की शैली भी अपूर्व थी। वे छात्रो को बडी सुगमता पूर्वक विषय का बोध कराते थे। वे उनसे किसी प्रकार का शुल्क नही लेते थे, बल्कि निर्धन विद्यार्थियो को पुस्तको की व्यवस्था भी करा देते थे। उनके जीवन–निर्वाह तथा विद्यालय–सचालन का समस्त व्यय अलवर, भरतपुर और जयपुर के राजाओ द्वारा दी हुई वृत्ति से चलता था।

यह प्रसिद्ध बात है, दडी जी आर्ष ग्रथो के प्रचार और अनार्ष ग थो के बहिष्कार के प्रबल आग्रही थे। इसीलिए वे सिद्धात कौमुदी, मनोरमा और शेखर जैसे अनार्ष व्याकरण ग थो की अपेक्षा अष्टाध्यायी जैसे आर्ष व्याकरण ग्रथ को पढाने के पक्षपाती थे। ऐसा कहा जाता है, दडी जी का यह आग्रह आरभ से नही था। उनके समय मे सिद्धात कौमुदी का विशेष प्रचार था; और अष्टाध्यायी जैसे सूत्रबद्ध प्राचीन व्याकरण को बहुत कम लोग पढते थे। दडी जी भी आर्ष-अनार्ष ग्र थो का भेद-भाव किये बिना छात्रो की इच्छानुसार उन्हे सब प्रकार के ग्र थ पढाया करते थे। बाद मे वे आर्ष ग्र थो के प्रबल आग्रही हो गये थे। तब उन्होने अपने विद्यालय मे अनार्ष ग्रथो का सर्वथा बहिष्कार कर केवल ऋषि प्रणीत ग थो के पठन-पाठन का ही नियम प्रचलित किया था। उसके फलस्वरूप व्याकरण शिक्षा के लिए सिद्धात कौमुदी आदि का अध्ययन बद कर दिया गया और केवल अष्टाध्यायी–महाभाष्य को मान्यता प्रदान की गई। उस विद्यालय के पाठ्य-क्रम मे इतना बडा परिवर्तन बिना किसी कठिनाई के सहज–स्वाभाविक रूप मे हो गया था। उसे दडी विरजानद जी की अनुपम विद्वत्ता का प्रभाव ही कहा जा सकता है।

दडी जी का स्वभाव, अतिम काल और शिष्य-समुदाय—दडी विरजानद जी बडे ओजस्वी और उग्र स्वभाव के व्यक्ति थे। वे कई राजा–महाराजाओ के सम्पर्क मे आये और उन्होने दडीजी का भली प्रकार से स्वागत–सत्कार भी किया था, किंतु अपने स्वभाव की उग्रता के कारण वे किसी के आश्रित होकर नही रहे। मथुरा मे विद्यालय खोल कर निवास करते हुए भी उनकी उग्रता मे कोई कमी नही आई थी। वैसे अपने विद्यार्थियो को वे बडे स्नेहपूर्वक पढाते थे, किंतु उनकी मूर्खता पर उन्हे क्रोध भी आ जाता था। यहाँ तक कि कभी-कभी वे उन पर लाठी का प्रहार कर बैठते थे!

दडी जी का उत्तर जीवन मथुरा मे व्यतीत हुआ, और वे अपने अंतिम काल तक छात्रो को विद्याध्ययन कराते रहे थे। अत्यत वृद्ध हो जाने पर भी उनमे विद्या-दान के लिए कभी शिथिलता नही आई थी। उनसे पढने वाले छात्र तो थक जाते थे, किंतु वे पढाते हुए नही थकते थे! यद्यपि वे नेत्रहीन थे, तथापि अपनी अद्भुत स्मरण शक्ति और सर्वग्राहिणी प्रज्ञा के कारण उन्हे अनेक ग्रथ कठस्थ थे। शब्द–शास्त्र के तो वे अपूर्व विद्वान थे, जिसके कारण वे 'व्याकरण सूर्य' कहलाते थे। उन्हे अन्य विषय भी हस्तामलक थे, जिन्हे वे विद्यार्थियो को सरलतापूर्वक हृदयगम करा देते थे।

वे आर्ष ग्रथो के पठन–पाठन और उनके प्रचार की एक देशव्यापी योजना बनाना चाहते थे। उसके लिए उन्होने एक सार्वभौम सभा करने की बडी चेष्टा की थी। उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होने उच्च राजकीय पदाधिकारियो और राजा–महाराजाओ को कई बार प्रेरित किया था। स १९१६ मे जब आगरा मे लार्ड कैनिंग का दरबार हुआ था, तब उसमे अनेक राजा-महाराजा भी उपस्थित हुए थे। दडी जी उस अवसर पर स्वय आगरा गये, और उन्होने जयपुर के महाराजा रामसिह से उक्त सार्वभौम सभा का आयोजन करने के लिए विशेष रूप से कहा था। दुर्भाग्य से उनकी वह इच्छा पूर्ण नही हो सकी, किंतु कालातर मे उनके उद्देश्य की पूर्ति स्वामी दयानद जी द्वारा भली भाँति हो गई थी।

दडी जी का देहावसान ८९ वर्ष की परिपक्व आयु मे स १९२५ की आश्विन कृ १३ को हुआ था। उनके कारण सस्कृत विद्या और भारत के प्राचीन गौरव की जो ज्योति जगमगायी थी, उसे उनके शिष्यो और विशेषकर स्वामी दयानद जी ने और भी प्रखरता से प्रदीप्त कर दिया था।

दडी जी के शिष्यो की सख्या अत्यधिक थी। उनमे स्वामी दयानद जी के अतिरिक्त अधिकतर मथुरा के धर्म–गुरुओ और तीर्थ–पुरोहितो की सतान थे। ऐसे शिष्यो मे वल्लभ सप्रदाय के गोस्वामी रमणलाल जी, उनके सबधी तैलग भट्ट गोपीनाथ जी और श्री दाऊजी–मदनमोहन जी के कार्यकर्त्ता दीनबधु जी; माथुर चतुर्वेदियो के गुरु वासुदेव जी और नदन जी, श्री शत्रुघ्न जी, श्री राधागोपाल जी तथा श्री देवकीनदन जी के मदिरो के अध्यक्ष क्रमश गोपाल जी ब्रह्मचारी, उदयप्रकाश जी और युगलकिशोर जी, तत्रोपासक विद्वान गगादत्त जी और रगदत्त जी तथा पौराणिक वनमाली जी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन सबने दडी जी से सस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी, और विभिन्न क्षेत्रो मे ख्याति अर्जित की थी। उनमे से उदयप्रकाश जी के वशजो और शिष्यो की परपरा मे मथुरा के सर्वाधिक सस्कृतज्ञ विद्वान हुए है। दडी जी के देहावसान के पश्चात् उनके विद्यालय की ख्याति कम हो गई थी, और कुछ काल बाद उसे बद कर देना पडा था। उनके मथुरा निवासी विद्वान शिष्य अपने गुरुदेव के स्मारक रूप मे भी उसे नही चला सके थे। केवल दयानद जी ने अपने महत्वपूर्ण कार्यो से दडी जी के नाम को उजागर किया।

स्वामी दयानंद जी—उनका जन्म स १८८१ मे काठियावाड प्रदेशार्गत मोरवी राज्य के टकारा ग्राम मे हुआ था। उनका आरभिक नाम मूल जी और उनके पिता का नाम करसन जी लाल जी तिवाडी था। वे सामवेदी औदीच्य ब्राह्मण थे। उनके पिता जी मूर्ति–पूजक कट्टर शैव थे, किंतु मूल जी को बाल्यावस्था मे ही एक विशेष घटना के कारण मूर्ति-पूजा से अश्रद्धा हो गई थी। वे अपने कई स्नेहीजनो को मृत्यु ग्रस्त देख कर यह जानने की चेष्टा करने लगे, क्या मृत्यु पर विजय प्राप्त नही की जा सकती है! लोगो ने उन्हे बतलाया कि पूर्ण योगी ही मृत्यु को विजय कर अमर हो सकता है। इससे वे सासारिक विषयो से उदासीन होकर योगी बनने की धुन मे रहने लगे।

उनके माता–पिता ने उनका विचित्र रग-ढग देखकर उन्हे वैवाहिक बधन मे बाँधना चाहा, किंतु वे स १९०२ के ज्येष्ठ मास मे एक दिन बिना किसी से कहे-सुने अकेले ही घर से निकल भागे । उस समय उनकी आयु २१ वर्ष की थी ।

घर से निकलने के पश्चात् परिचित व्यक्तियो से अपने को छिपाने के लिए वे छद्म वेश और प्रक्षिप्त नाम से दो वर्ष तक इधर–उधर घूमते रहे थे । बाद मे स १९०४ मे उन्होने नर्मदा तट पर निवास करने वाले पूर्णानद सरस्वती नामक एक महाराष्ट्र विद्वान से सन्यासाश्रम की दीक्षा ली थी । तब से वे दयानद सरस्वती के नाम से प्रसिद्ध हुए थे ।

ज्ञान-प्राप्ति का प्रयास और मथुरा–आगमन—सन्यासी होने के बाद स्वामी जी ने योगियों एव ज्ञानियो से योग तथा ज्ञान प्राप्त करने की लालसा से कई वर्षों तक घोर जगलो और बीहड पहाडो के चक्कर काटे । उस काल मे उन्होने यौगिक क्रियाओ और सस्कृत भाषा का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था, किंतु उससे उनके मन को शांति नही मिली थी । अपनी लबी और कष्टदायक यात्राओ मे उन्होने नाना प्रकार के बुरे–भले अनुभव प्राप्त किये थे । अब वे और अधिक न भटक कर किसी सच्चे साधु और धुरधर विद्वान से विद्याध्ययन कर प्राचीन ऋषि–मुनियो के अमर ज्ञान से लाभ उठाना चाहते थे । अपनी यात्रा मे वे दडी विरजानद जी की ख्याति सुन चुके थे, अत घर से निकलने के प्राय १५ वर्ष पश्चात् वे विरजानद जी से विद्याध्ययन करने के मथुरा आ गये ।

स्वामी जी स १९१६ अथवा स १९१७ की कार्तिक शु २ (यमद्वितीया) को मथुरा आये थे । उस दिन यहाँ यमुना–स्नान का बडा उत्सव हो रहा था, जिसके लिए हजारो स्नानार्थियो की भीड एकत्र थी । स्वामी जी सन्यासी के वेश मे थे, और गेरुआ वस्त्र पहिने हुए थे । उनके पास दैनिक उपयोग की दो-एक वस्तुओ और कुछ पुस्तको के अतिरिक्त और कोई सामान नही था । मथुरा आने पर वे नगर के बाहर रगेश्वर महादेव के निकट की एक बगीची मे ठहरे थे । फिर एक दिन सुयोग देख कर वे दडी विरजानद जी की सेवा मे उपस्थित हो गये ।

दडी विरजानद जी से विद्याध्ययन—उस काल मे दडी विरजानद जी केवल आर्ष ग्रथो का अध्ययन कराते थे । स्वामी दयानद जी ने उनसे 'अष्टाध्यायी' और 'महाभाष्य' पढाने की प्रार्थना की, जिसे उन्होने स्वीकार कर लिया । दडी जी से स्वीकृति प्राप्त कर स्वामी जी अपने निवास और भोजन का प्रबध करने लगे । उन्होने विश्रामघाट पर श्री लक्ष्मीनारायण जी के मदिर की एक कोठरी मे रहने और दुर्गाप्रसाद खत्री नामक एक सज्जन से भोजन के लिए चना प्राप्त करने की व्यवस्था की थी । बाद मे मथुरा के सुप्रसिद्ध ज्योतिषी बाबा घराने के श्री अमरलाल जी द्विवेदी ने उनके भोजन और निवास का उचित प्रबध कर दिया था । उसके लिए स्वामी जी जीवन पर्यंत उनका उपकार मानते रहे थे ।

स्वामी जी विद्वान सन्यासी होते हुए भी एक साधारण छात्र की भाँति दडी जी के विद्यालय मे उपस्थित होते थे, और अत्यत विनीत भाव से अध्ययन करते थे । उनका रहन-सहन आदर्श था, और उनकी गुरु–भक्ति अपूर्व थी । वे प्रात काल ब्राह्म मुहूर्त मे उठकर और नित्य क्रिया से निवृत होकर गुरु जी के लिए यमुना नदी से जल लाते थे । फिर सध्योपासना कर अध्ययन के लिए बैठ जाते थे, और दोपहर तक पढते रहते थे । उसके बाद वे दिन मे एक बार भोजन कर फिर अध्ययन मे लग जाते थे । इस प्रकार उन्होने दडी जी से अष्टाध्यायी और महाभाष्य का गभीर अध्ययन कर सस्कृत व्याकरण मे पूर्ण दक्षता प्राप्त की थी । ऐसा कहा जाता है, उन्होने उस काल

मे निरुक्तादि वेदागो का भी ज्ञानोपार्जन किया था। वे प्राय ३ वर्ष तक मथुरा मे रहे थे। उन्होने स १९२० मे अपना अध्ययन समाप्त कर गुरु विरजानद जी से विदा ली थी। उस समय उनकी आयु ४० वर्ष के लगभग थी।

वैदिक धर्म का पुनरुद्धार और 'आर्य समाज' की स्थापना—जिस समय स्वामी दयानद जी मथुरा मे अपने अध्ययन को पूर्ण करने मे लगे हुए थे, उसी समय उन्होने अपने जीवन का लक्ष निर्धारित कर लिया था। अध्ययन की समाप्ति पर दडी जी से विदा लेकर वे उनके आदेशानुसार आर्ष ग्र थो के प्रचार और वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की महत्वपूर्ण योजना को कार्यान्वित करने मे लग गये थे। उसके लिए पहिले अनार्ष ग्र थो के वहिष्कार, विविध धर्म-सप्रदायो की वेद-विरुद्ध वातो के विरोध और जनता मे व्याप्त पाखड के खडन करने की आवश्यकता थी। तदर्थ उन्होने देश के विभिन्न स्थानो मे भ्रमण किया, और विरोधियो से अनेक शास्त्रार्थ किये थे।

उनका प्रथम शास्त्रार्थ स १९२२ के आरभ मे धौलपुर मे हुआ था। फिर वे जयपुर, कृष्णगढ, आगरा आदि स्थानो मे शास्त्रार्थ और प्रचार करते हुए स १९२३ के कार्तिक मास मे मथुरा आये थे। उस समय उन्होने दडी जी की सेवा मे उपस्थित होकर अपने कार्य से उन्हे अवगत कराया था। दडी जी को उससे स्वभावत ही सतोष और आनद प्राप्त हुआ था। वह उनकी अपने गुरुदेव से अतिम भेट थी। मथुरा से वे मेरठ होते हुए हरिद्वार गये थे। वहाँ स १९२४ के कुभोत्सव के अवसर पर उन्होने 'पाखड खडिनी पताका' फहराते हुए वेद विरुद्ध मतो का वडी प्रवलता से खडन किया था। कुभ की समाप्ति पर वे कई स्थानो मे शास्त्रार्थ और प्रचार करते हुए स १९२६ मे पहिले कानपुर और फिर काशी गये थे। कानपुर मे उन्होने हलधर ओझा को पराजित किया था। काशी मे उनका शास्त्रार्थ वहाँ के अनेक दिग्गज विद्वानो से हुआ, किंतु उन्होने उन सव को निरुत्तर कर दिया था। उन सब स्थानो मे सफलता प्राप्त कर वे स. १९३० के फाल्गुन मास मे पुनः मथुरा आये थे। उस समय तक दडी जी का देहावसान हो चुका था। उस काल मे व्रज के विद्वानो मे श्री रगदेशिक स्वामी सर्वोपरि थे। वृ दावन मे श्री रग जी के मदिर का निर्माण कराने से उनके यश की व्यापक प्रसिद्धि हो गई थी। स्वामी दयानद ने उनसे मूर्ति-पूजा की वैदिकता पर शास्त्रार्थ करना चाहा था। उस समय श्री रगदेशिक स्वामी अत्यत वृद्ध और रुग्ण थे, अत वह शास्त्रार्थ नही हो सका था। उन सब खडनात्मक कार्यो मे उनके १० वर्ष लग गये, किंतु वे अवैदिक मान्यताओ की अप्रमाणिकता और वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की आवश्यकता सिद्ध करने मे वहुत-कुछ सफल हुए थे।

उस खंडनात्मक कार्यक्रम के पश्चात् वे ग्रथ-निर्माण और 'आर्य समाज' की स्थापना आदि सर्जनात्मक कार्यो मे जुटे थे, जिनमे उनके जीवन के शेष १० वर्ष लग गये। उनके ग्रथो में सत्यार्थ प्रकाश, संस्कार विधि, ऋग्वेद भाष्य भूमिका तथा ऋग्वेद एव यजुर्वेद के भाष्य विशेष महत्वपूर्ण हैं। 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना स. १९३१ मे हुई थी। इसमे उन्होने विभिन्न धर्म-सप्रदायो की वेद विरुद्ध मान्यताओ की तीव्र आलोचना करते हुए अपने धर्मसंबंधी दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। 'सस्कार विधि' उनके मत की धार्मिक सहिता है, जिसकी रचना स. १९३२ के कार्तिक मास मे हुई थी। 'ऋग्वेद भाष्य भूमिका', 'ऋग्वेद भाष्य' और 'यजुर्वेद भाष्य' स्वामी जी के अपार वैदिक ज्ञान के परिचायक महान् ग्रथ हैं। उनकी रचना स. १९३४ से स १९३९ तक की कालावधि मे हुई थी।

स्वामी दयानद जी के सर्जनात्मक कार्यों मे सर्वोपरि और उनके यशस्वी जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि 'आर्य समाज' है। इस धार्मिक सस्था की स्थापना स. १६३२ की चैत्र शु ५ को बवई मे हुई थी, किंतु इसका वास्तविक रूप स १६३४ मे लाहौर मे निर्मित हुआ था। तभी इसके मूल उद्देश्य के रूप मे १० सार्वभौम नियमो का निर्धारण किया गया था। स्वामी दयानद जी ने प्राचीन वैदिक धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा करने के उद्देश्य से इसे स्थापित किया था। 'आर्य' शब्द का अर्थ है 'श्रेष्ठ'। स्वामी जी इस सस्था द्वारा श्रेष्ठ मानव समुदाय का निर्माण करना चाहते थे। उसी निमित्त से उन्होने देश के धार्मिक और सामाजिक जीवन मे क्रान्तिकारी परिवर्तन करने का अनुपम प्रयास किया गया था।

स्वामी जी के सिद्धात—'वेद' अपौरुषेय होने के कारण परम पवित्र और एक मात्र प्रमाण ग्र थ है। अन्य सभी धर्म-ग्र थ मानव प्रणीत होने के कारण अप्रामाणिक है। वेदाध्ययन करने का अधिकार स्त्रियो और शूद्रो को भी है। वर्ण-व्यवस्था कर्मानुसार है, जन्मानुसार नही। वर्णों मे ऊँच-नीच की भावना कल्पित है, सभी वर्ण समान रूप से समाज के उपयोगी अग हैं। जाति-भेद अमान्य है। एक मात्र ईश्वर ही उपास्य है, अन्य सभी देवी-देवता उपासना योग्य नही हैं। मूर्ति-पूजा, अवतारवाद, पशु-वलि, मृतक श्राद्ध, तत्र-मत्र, फलित ज्योतिष, मासाहार त्याज्य हैं। स्त्रियाँ सभी क्षेत्रो मे पुरुषो के समान उन्नति कर सकती हैं, उनका पुनर्विवाह किया जा सकता है। वाल विवाह और वृद्ध विवाह हानिकारक है। बालक-बालिकाओ को वयस्क होने तक अनिवार्य रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। गो-रक्षा और पशु-पालन आवश्यक है। आर्य भाषा (हिंदी) भारत की राष्ट्रभाषा है। स्वराज्य, सुराज्य और स्वदेशी के प्रति सबकी श्रद्धा होनी चाहिए। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली राष्ट्रीय शिक्षा के लिए उपयोगी है। स्वामी जी के इन सब सिद्धातो का प्रचार 'आर्य समाज' द्वारा किया जाता है।

स्वामी जी का अतिम काल—स्वामी दयानद जी के धार्मिक विचार अत्यत उपयोगी होते भी अत्यत क्रातिकारी थे। उनके कारण निहित स्वार्थ वाले अनेक व्यक्ति उनके विरोधी हो गये थे। कुछ दुष्टो ने कई वार उनकी हत्या करने का प्रयास किया, किंतु उन्हे विफल होना पडा था। अत मे उनके एक सेवक ने दुष्टो के प्रलोभन मे आ कर उन्हे पिसा हुआ काच दूध मे मिला कर पिला दिया, जिससे उनका प्राणात हो गया था। उनका देहावसान स १६४० की कार्तिक अमावश (३० अक्टूबर, सन् १८८३) को अजमेर मे हुआ था। उस समय दीपावली के कारण सभी स्थानो मे असख्य दीप जल रहे थे, किंतु भारत का सर्वाधिक प्रकाशमान दीपक सहसा बुझ गया था।

ब्रज में स्वामी दयानंद के सिद्धांतो का प्रचार—जैसा पहिले लिखा जा चुका है, स्वामी दयानद जी अपना अध्ययन समाप्त करने के उपरात विभिन्न स्थानो मे भ्रमण करते हुए अपने सिद्धातो के प्रचार और विरोधियो से शास्त्रार्थ करने मे वडी तत्परता से लग गये थे। उसी प्रसग मे वे स १६३० मे आगरा और मथुरा भी आये थे। मथुरा आने पर वे पहिले वृदावन गये, और वहाँ पर उन्होने रामानुज सप्रदाय के आचार्य रगदेशिक स्वामी को मूर्ति-पूजा पर शास्त्रार्थ करने की चुनौती दी। रगदेशिक स्वामी जी के रुग्ण होने के कारण शास्त्रार्थ तो नही हुआ, किंतु उस अवसर पर स्वामी दयानद ने वृदावन और मथुरा मे कई व्याख्यान देकर अपने युगातरकारी सिद्धातो का प्रचार किया था। उनके व्याख्यानो से यहाँ पर वडी हलचल मच गई थी। उनके क्रातिकारी विचारो के कारण, विशेष कर मूर्ति-पूजा सबधी उनके दृष्टिकोण से यहाँ के सैकडो व्यक्ति उनसे रुष्ट हो गये थे। उनके अनेक सहपाठी भी इसी कारण उनका विरोध करने लगे। उस

समय कुछ लोगो ने स्वामी जी के विरुद्ध ऐसा विषाक्त वातावरण बना दिया था कि यहाँ उनका सुरक्षा पूर्वक रहना भी कठिन हो गया था। किंतु उनके एक सहपाठी गो रमणलाल जी ने मथुरा के बंगालीघाट स्थित 'बहूजी के बाग' मे उन्हे सुरक्षित रूप मे ठहरा कर उनके आतिथ्य-सत्कार की समुचित व्यवस्था की थी। उनकी वह उदारता आश्चर्यजनक कही जा सकती है।

स्वामी जी के क्रातिकारी विचारो से जहाँ अनेक रूढिवादी व्यक्ति उनसे रुष्ट हुए थे, वहाँ कुछ प्रगतिशील नवयुवक उनके अनुगामी भी बन गये थे। वृदावन के सुधारप्रिय धर्माचार्य और सुविख्यात साहित्यकार गो राधाचरण जी उस समय किशोरावस्था के बालक थे, किंतु उन पर स्वामी दयानद जी के विचारो का बडा प्रभाव पडा था। उसी से वे सभवत विधवा-विवाह जैसे क्रातिकारी मत के समर्थक हुए थे। मथुरा मे जिन थोडे से व्यक्तियो पर स्वामी जी के विचारो का अनुकूल प्रभाव पडा था, उनमे एक गुजराती सज्जन दयाशकर दुवे का नाम उल्लेखनीय है। वे अपने कुछ साथियो के साथ यहाँ पर स्वामी के सिद्धातो का प्रचार करने लगे थे। मथुरा-वृदावन से अधिक आगरा के व्यक्ति स्वामी जी के विचारो से प्रभावित होकर उनके अनुगामी हुए थे। उन सबके कारण व्रज के विविध स्थानो मे 'आर्य समाज' की स्थापना के लिए उपयुक्त वातावरण बन गया था।

व्रज में 'आर्य समाज' की स्थापना और उसकी गति-विधि—स्वामी दयानद जी के जीवन-काल मे ही जिन कतिपय स्थानो मे 'आर्य समाज' की स्थापना हुई थी, उनमे व्रजमडल के आगरा और मथुरा नगर भी है। आगरा मे स १९३६ मे और मथुरा मे स १९३८ मे विधि-पूर्वक आर्य समाज स्थापित हो गई थी। आगरा मे इसकी गति-विधि मथुरा की अपेक्षा अधिक रही है, और वहाँ काम भी बहुत हुआ है, किंतु मथुरा निवासियो की परपराप्रिय धार्मिक अभिरुचि के कारण यहाँ के कार्य की भी उपेक्षा नही की जा सकती है।

श्री दयाशकर दुवे और उनके कतिपय साथियो के प्रयत्न से मथुरा मे आर्य समाज की स्थापना स. १९३८ की फाल्गुन कृ ५ को हुई थी। इसके आरभिक कार्यकर्त्ताओ मे श्री दयाशकर दुवे, रामनारायण भटनागर, केशवदेव चतुर्वेदी और नानकचद जी के नाम मिलते हैं। आर्य समाज की साप्ताहिक बैठके उस काल मे उक्त कार्यकर्त्ताओ के निवास स्थानो पर होती थी। इसका प्रथम वार्षिकोत्सव स १९४० की ज्येष्ठ शु २ को मुहल्ला लाल दरवाजा मे, द्वितीय वार्षिकोत्सव स. १९४१ की चैत्र कृ २ को कुशक गली मे और तृतीय वार्षिकोत्सव स. १९४३ की चैत्र शु. ७ को मुहल्ला सतघरा की जबलपुर वाली कुज मे हुआ था। इसके आरभिक अर्थ-सहायको मे सर्वश्री राधेलाल शर्मा, कृष्णलाल नागर और क्षेत्रपाल शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। राधेलाल शर्मा की चेष्टा से आर्य समाज भवन के लिए भूमि प्राप्त हुई थी, और नागर जी ने आरभिक कमरा बनवाया था। इस प्रकार स १९४५ की माघ शु ८ को मथुरा मे आर्य समाज का अपना निजी स्थान हो गया, जो इसकी गति-विधियो का प्रमुख केन्द्र रहा है। कृष्णलाल नागर के पुत्र मोहनलाल नागर ने भवन मे गैलरी बनवाई थी, और अपनी छत्ता बाजार वाली जायदाद समाज को अर्पित की थी। श्री क्षेत्रपाल शर्मा ने सतघरा मुहल्ला का अपना एक मकान इसे प्रदान किया था।

मथुरा मे 'स्त्री समाज' की स्थापना सं. १९७० मे और 'आर्य कन्या पाठशाला' की स्थापना स १९७१ मे हुई थी। पाठशाला की आरभिक व्यवस्था श्री रमणलाल गुप्त ने बडी लगन के साथ की थी। उनके पश्चात् श्री लक्ष्मणप्रसाद गुप्त ने जीवन पर्यंत इसका सचालन किया था। उनके कार्य काल मे इसकी बडी उन्नति हुई थी। इस समय यह कन्या शिक्षा का प्रमुख केन्द्र है।

आर्य समाज की विभिन्न प्रवृत्तियो मे आरभ से अब तक जिन सज्जनो ने योग दिया है, उनमे पूर्वोक्त महानुभावो के अतिरिक्त सर्वश्री परमानद, दामोदरदास दानत्यागी, नदकुमार देव शर्मा, डा० मन्नालाल, सोमदेव शर्मा, नदनसिंह, प्रभुदयाल ठेकेदार, ताराचद शर्मा, देवीचरण ब्रह्मचारी, विद्यासागर वैदिक, रामनारायण टाल वाले, रामनाथ मुख्तार, करणसिंह छोकर, माताप्रसाद शर्मा, ईश्वरीप्रसाद 'प्रेम', रमेशचद्र एडवोकेट और ठाकुर शेरसिंह के नाम उल्लेखनीय है। श्री ईश्वरीप्रसाद 'प्रेम' ने चौक आर्य समाज और उसके अतर्गत डी ए वी स्कूल की स्थापना तथा 'तपोभूमि' पत्रिका एव विविध ग्र थो के प्रकाशन द्वारा समाज की बड़ी सेवा की है।

वृ दावन का गुरुकुल—स्वामी दयानद जी की राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के आदर्श को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिए आर्य समाज ने कई स्थानो पर 'गुरुकुल' की स्थापना की है। स्वामी दर्शनानद जी की चेष्टा से एक गुरुकुल स. १६५६ मे सिकदराबाद मे स्थापित किया गया, जो स १६६२ मे फर्रुखाबाद ले जाया गया था। बाद मे उसका प्रबध प्रदेशीय आर्य प्रतिनिधि सभा ने सँभाल लिया था। श्री नारायण स्वामी और कुँवर हुकमसिंह के प्रयत्न से उसे स १६६८ मे वृ दावन मे स्थानातरित कर दिया गया। यहाँ उसके लिए भूमि प्राप्त करने मे कुछ कठिनाई हुई थी, किंतु राजा महेन्द्रप्रताप ने एक वाटिका प्रदान कर उसे हल कर दिया था। इस प्रकार यह गुरुकुल स १६६८ से अब तक ब्रज मे प्राचीन शिक्षा प्रणाली का आदर्श उपस्थित कर रहा है। इसके मुख्याधिष्ठता, आचार्य और स्नातको मे जो अनेक गण्यमान्य विद्वान हुए है, उनमे सर्वश्री नारायण स्वामी, गगाप्रसाद जज, रामावतार शर्मा, आचार्य बृहस्पति, आचार्य विश्वेश्वर, धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, डा० विजयेन्द्र और जयकुमार मुद्गल के नाम उल्लेखनीय है।

दयानद जन्म शताब्दी—मथुरा मे आर्य समाज का एक विशाल समारोह स्वामी दयानद की जन्म शताब्दी के अवसर पर स १६८१ मे हुआ था। उसमे देश भर के प्रमुख आर्य समाजी नेता, सन्यासी, विद्वान और दर्शक गण बहुत बडी सख्या मे उपस्थित हुए थे। मथुरा के लिए वह अपने ढग का एक अभूतपूर्व धार्मिक आयोजन था। उसके अध्यक्ष स्वामी श्रद्धानद जी थे। महात्मा नारायण स्वामी कार्यवाहक अध्यक्ष और समस्त आयोजन के सचालक थे। विशिष्ट अतिथियो मे ला लाजपतिराय जी, भाई परमानद जी और महात्मा हसराज जी जैसे महानुभाव थे।

दयानद दीक्षा शताब्दी—'जन्म-शताब्दी' के ३५ वर्ष पश्चात् सवत् १६१६ मे 'दीक्षा-शताब्दी' का वृहत् समारोह भी मथुरा मे हुआ था। स्वामी दयानद जी की शिक्षा-दीक्षा और गुरु विरजानद जी के विद्यालय का ऐतिहासिक स्थल होने के कारण मथुरा नगर उसके लिए सर्वथा उपयुक्त स्थान था। वह धार्मिक समारोह चार दिन (दिनाक २४ से २७ दिसबर सन् १६५६) तक बडे विशाल आयोजन के साथ सम्पन्न हुआ था। उसमे गण्यमान्य सन्यासी, विद्वान नेता और दर्शक गण 'जन्म-शताब्दी' से भी अधिक सख्या मे उपस्थित हुए थे। उस अवसर पर अनेक महत्वपूर्ण समारोह हुए थे। उनमे 'विरजानद वैदिक अनुसधान भवन का' शिलान्यास भी था, जो राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद जी द्वारा किया गया था। मथुरा के जिस स्थल पर दडी विरजानद जी का विद्यालय था, और जहाँ स्वामी दयानद जी की शिक्षा-दीक्षा हुई थी, वही पर यह अनुसधान भवन बनाया गया है। इस स्थान को प्राप्त करने मे श्री कर्णसिंह छोकर ने बडा प्रयत्न किया था। यह भवन सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की आर्थिक सहायता से निर्मित हुआ है। 'दीक्षा शताब्दी' के आयोजन और 'अनुसधान भवन' के निर्माण मे मथुरा के जिन उत्साही सज्जनो का योग रहा है, उनमे श्री रमेशचद्र एडवोकेट का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

लोक देवोपासना

लोक देवताओं की मान्यता—ब्रज के जन साधारण और ग्रामीण समाज मे लोक देवताओ की मान्यता अत्यत प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक रही है। जब से ब्रज मे राधा–कृष्णोपासना का प्रचलन हुआ है, तब से इन लोक देवताओ की मान्यता मे पहिले की अपेक्षा कमी आ गई है, फिर भी किसी न किसी रूप मे उनके प्रति आस्था बनी हुई है। ब्रज के प्राचीन लोक–देवताओ मे यक्षो और नागो का बडा महत्वपूर्ण स्थान है। जैसा पहिले लिखा जा चुका है, ब्रज के कई प्राचीन धर्मो से इनका घनिष्ट सबध रहा है। आधुनिक काल मे यक्षो की मान्यता तो 'जखैया' के नाम से ब्रज के दो-एक स्थानो मे ही दिखाई देती है, किंतु नागो की मान्यता सर्प-पूजा के रूप मे प्रचुरता से प्रचलित है। इस समय ब्रज मे सर्प-पूजा का जो रूप विद्यमान है, उसका कुछ उल्लेख यहाँ किया जाता है।

'नाग पंचमी' का लोक-त्यौहार और सर्प–पूजा—ब्रजमडल की सामान्य महिलाएँ और ग्रामीण नारियाँ श्रावण शु. ५ को 'नाग पचमी' का त्यौहार मनाती है। उस दिन वे अपने घरो की भीत पर कोयले के घोल मे सर्पो के चिह्न बनाती है, और उनकी पूजा करती है। उस अवसर पर वे लोक कहानी भी कहती है, जिनमे नागो और सर्पो की अलौकिक शक्तियो का कथन किया जाता है। उस दिन ब्रज के विभिन्न नाग-स्थानो पर नारियाँ नाग देवता की पूजा करती है, सर्पो को दूध पिलाती है और उनकी बाँबियो (बिलो) पर अक्षत-पुष्पादि चढाती है। उस अवसर पर वे सामूहिक रूप से नाग देवता के लोक गीतो का गायन भी करती है। मथुरा के नाग-स्थानो मे 'सप्त समुद्री कूप' और 'नाग टीला' प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध रहे है।

अन्य लोकप्रसिद्ध देव-देवियाँ—ब्रज के लोकप्रसिद्ध देवो मे नागो के अतिरिक्त 'कूआ वारो देवता', बूढो बाबू, जाहरपीर, लागुरिया आदि है। ब्रज की लोक देवियो मे मनसा देवी, शीतला माता, गणगौर और साँझी आदि है। इनमे से शीतला, गणगौर और साँझी से सबधित कई लोकोत्सव और लोक-त्यौहार ब्रज मे होते हैं, अत इनका सक्षिप्त वृत्तात यहाँ लिखा जाता है।

शीतला माता का लोकोत्सव—ब्रज की लोक देवियो मे शीतला माता की अधिक मान्यता है। इसकी पूजा का प्रचार प्राय अशिक्षित और ग्रामीण महिलाओ मे है। शीतला अष्टमी—चैत्र कृ ८ को इस लोक देवी का पूजन विशेष रूप से किया जाता है। आगरा मे शीतला देवी का लोक मेला आषाढ महीने के चारो सोमवार को होता है। उन दिनो ब्रज की बहुसंख्यक महिलाएँ आगरा जा कर शीतला माता और उनके पुत्र 'कूआ वारो देवता' का पूजन करती है। यह पूजन उस परपरागत लोक विश्वास के कारण किया जाता है कि शीतला माता बच्चो की रक्षा करेगी, और उन्हे 'माता' रोग (चेचक) से बचावेगी। जब से राजकीय स्वास्थ्य विभाग की सतर्कता से ब्रज मे चेचक रोग मे कमी हुई है, तब से इससे सबधित लोक विश्वास भी शिथिल हो गया है।

'सांझी' का लोक-समारोह—आश्विन मास के प्रथम पखवाड़े मे यह समारोह होता है। इसे ब्रज मे धार्मिक उत्सव, लोक त्यौहार और कलात्मक प्रदर्शन आदि कई रूपो मे सम्पन्न किया जाता है। 'साझी' भी ब्रज की एक लोक देवी है। साझ (सध्या) के समय पूजी जाने के कारण कदाचित इसका यह नाम पडा है। 'साझी' सभवत: गौरी पार्वती का ही एक लोक प्रचलित रूप है। ब्रज के धर्माचार्यों और भक्त कवियो ने साझी की लोक-पूजा को राधा–कृष्णोपासना मे जोड दिया है। इसके कलात्मक रूप की झाकी ब्रज के मदिर-देवालयो मे मिलती है, और इसका भक्ति पूर्ण कथन ब्रजभाषा काव्य मे हुआ है। ब्रज के मदिरो और सास्कृतिक स्थलो मे साझी का प्रदर्शन सूखे रगो तथा कागज के 'साचो' (खाको) द्वारा अत्यत कलात्मक ढग से किया जाता है। 'साझी' का लोकोत्सव ब्रज की वालिकाओ का खेल है। इसमे उनका मनोरजन होता है, और लोक कला के प्रति उनकी अभिरुचि होती है। पितृ पक्ष के आते ही ब्रज की वालिकाएँ घर की दीवारो पर गोवर, फूल, पन्नी आदि से साझी का चित्रण करती हैं, जो पूरे १५ दिनो तक नित्य नये रूप मे किया जाता है। वालिकाओ के अतिरिक्त वालक भी सूखे रग और कागज के साचो से साझी बनाते हैं।

विशिष्ट धार्मिक संस्थाएँ

उदासीन कार्ष्णि आश्रम—

परंपरा, नाम और केन्द्र—यह आश्रम कृष्णोपासक उदासीन सन्यासियो का है, जिनकी सत–परपरा मे स्वामी वालानद जी, पूर्णानद जी, ज्ञानदास जी, गोपालदास जी, कृष्णानद जी और हरिनामदास जी आदि अनेक महात्मा हुए हैं। कृष्णोपासक होने के कारण ये 'कार्ष्णि' कहलाते है, और उनमे से अधिकाश पजावी एव पश्चिमोत्तर प्रदेशीय होते रहे हैं। इनका प्रधान केन्द्र महावन के निकटवर्ती रमणरेती का प्राचीन धार्मिक स्थल है। यहाँ के आश्रम मे निवास करने वाले सत–महात्माओ ने श्री रमणविहारी जी की सेवा, कीर्तन–भजन, गो–रक्षा और साधु–सत्कार मे अपने जीवन को अर्पित कर रखा है। इस आश्रम के सतो में स्वामी गोपालदास जी और स्वामी हरिनामदास जी अधिक प्रसिद्ध हुए हैं।

स्वामी गोपालदास जी—उनका जन्म पश्चिमोत्तर सीमात के वगडा ग्राम निवासी एक सूरी खत्री परिवार मे स. १९१९ की फाल्गुन शु. ३ को हुआ था। उनका आरभिक नाम भगवान-दास था, किंतु सन्यासी होने पर वे गोपालदास के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। उनका विवाह हुआ था, किंतु वे कुछ काल तक गृहस्थ रहे थे, किंतु युवावस्था मे ही विरक्त हो गये थे। अपने पिता जी का देहावसान होने के अनतर वे स १९४१ के आरभ मे तीर्थ–यात्रा करने को घर से चल दिये थे; और फिर वापिस नही गये। वे हरिद्वार होते हुए मथुरा आये, और यहाँ श्री द्वारकाधीश जी के मदिर मे उनकी भेट कार्ष्णि स्वामी ज्ञानदास जी से हुई थी। उन्होने स्वामी से सन्यासाश्रम की दीक्षा लेना चाहा, किंतु उन्होने इनकी युवावस्था के कारण निषेध कर दिया। फिर अधिक आग्रह करने पर उन्होने वैशाख शु ३ (अक्षय तृतीया) को इन्हे रमणरेती के आश्रम मे सन्यास की दीक्षा दी थी।

धर्म-साधना और ग्रथ-रचना—वे आरभ से ही धार्मिक रुचि के थे, किंतु सन्यासी होने पर तो उन्होने अपने जीवन को ही धर्म–साधना, त्याग–तपस्या, भगवत्–सेवा और ग्र थ–रचना के हेतु अर्पित कर दिया था। उन्होने रमणरेती के मदिर मे रमणविहारी जी की प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी, और आश्रम की उन्नति मे योग दिया था। उन्होने सस्कृत और ब्रजभाषा मे ग्र थ–रचना भी की थी। उनके सस्कृत ग्रथो मे 'कार्ष्णि कठाभरण' और ब्रजभाषा ग्र थो मे 'गोपाल विलास'

उल्लेखनीय है । उनका प्रमुख ग्र थ 'गोपाल विलास' है, जिसकी रचना व्रजभाषा काव्य मे, दोहा–चौपाई छदो से हुई है । इसमे श्रीमद्भागवत के आधार पर भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र का कथन किया गया है । इसकी भाषा–टीका स्वामी हरिनामदास और स्वामी कृष्णानद ने की है । यह ग्रथ मूल और सटीक दोनो रूपो मे छपा हुआ मिलता है । कार्ष्णि भक्त जनो मे इसके पठन–पाठन और कथा–प्रवचन का बडा प्रचार है ।

शिष्य-समुदाय और देहावसान—स्वामी गोपालदास जी के अनेक शिष्य और भक्त थे, जिनमे स्वामी कृष्णानद जी और स्वामी हरिनामदास जी प्रमुख थे । उनके कुछ श्रद्धालु भक्त कामवन के निकटवर्ती जयश्री नामक गाँव के निवासी थे । उनकी प्रार्थना पर स्वामी गोपालदास जी प्राय. प्रति वर्ष शीत काल मे जयश्री मे निवास करते थे । स. १९७९ के शीत काल मे जब वे जयश्री मे थे, तब पौष शु ६ को उनका देहावसान हो गया था । उनके मृतक शरीर को सजे हुए विमान मे विराजमान कर मथुरा लाया गया था, और यहाँ के ध्रुवघाट पर उन्हे जल–समाधि दी गई थी । उनके शिष्य कृष्णानद जी का देहावसान स २००६ की चैत्र शु २ को हुआ था ।

स्वामी हरिनामदास जी—वे उच्च कोटि के भक्त, श्रेष्ठ विद्वान और भजनानदी महात्मा थे । उन्होने कार्ष्णि आश्रम की बडी उन्नति की थी । वे स्वामी गोपालदास जी के प्रति बडी श्रद्धा रखते थे । उन्होने उनके ग्र थ 'गोपाल विलास' की टीका स्वामी कृष्णानद के सहयोग से की थी, और उसे प्रकाशित कर प्रचारित किया था । उनके अनेक शिष्य और बहुसख्यक प्रशसक थे, जो विविध प्रकार से उनकी सेवा करने के लिए सदैव तत्पर रहते थे । उनका पजाब प्रात मे अच्छा प्रभाव था । उनके पजाबी शिष्यो की सहायता से आश्रम मे भजन-कीर्तन, साधु-सेवा और उत्सव-समारोहो की समुचित व्यवस्था हुई थी । उनके एक व्रजवासी शिष्य ला. मदनमोहन ने श्री रमण-बिहारी जी के मदिर का पुनर्निर्माण कराया था । स्वामी जी चमत्कारी महात्मा थे । उनके कारण यह आश्रम व्रज का एक प्रसिद्ध धार्मिक स्थान हो गया है । उनका देहावसान गत वर्ष हुआ था ।

भगवान् भजनाश्रम—

उद्देश्य और स्थापना—इस सस्था का उद्देश्य व्रज मे भगवद्भजन का प्रचार और यहाँ की अनाथ एव विधवा महिलाओ के भरण–पोषण मे उनकी सहायता करना है । इसकी स्थापना सर्वश्री रामकरनदास बेरीवाल, दुर्गाप्रसाद बेरीवाल और गनपतिराय चिडीवाल आदि मारवाडी सज्जनो ने स. १९७१ मे की थी, किंतु बाद मे नवलगढ निवासी श्री जानकीदास जी पाटोदिया ने इसे वास्तविक रूप प्रदान किया था । उन्होने अपनी कई लाख रुपये की सपत्ति और अपना शेष जीवन इस सस्था को अर्पित कर दिया था ।

कार्य-विधि और संचालन—इसका प्रधान केन्द्र वृंदावन मे है, और इसकी ४ शाखाएँ वृदावन मे, २ गोवर्धन–राधाकुड मे तथा १ मथुरा मे है । इनमे प्राय. १५०० महिलाएँ प्रति दिन भगवद्भजन करती हैं । उन्हे ८–९ घटे भजन करना होता है, जिसके लिए प्रत्येक महिला को ४० पैसे का अन्न अथवा नकद प्रति दिन के हिसाब से सहायता रूप मे दिया जाता है । इसके अतिरिक्त उन्हे समय–समय पर कबल, रजाई, धोती, चदरा आदि भी दिये जाते हैं । इस संस्था द्वारा 'ऋषि जीवन' नामक एक मासिक पत्र भी प्रकाशित होता है जिसका उद्देश्य जनता मे धार्मिक तथा आध्यात्मिक भावना का प्रचार करना है । इसका वार्षिक व्यय ३ लाख के लगभग है; जिसकी पूर्ति स्थायी कोष के ब्याज से और मारवाडी सेठो की सहायता से होती है । इसका संचालन ५१ सदस्यो की एक प्रबधकारिणी समिति द्वारा किया जाता है ।

रामाश्रम सत्संग—

प्राकट्य और सिद्धांत—यह एक नवीन धार्मिक पंथ है, जिसका प्राकट्य श्री रामचंद्र जी नामक एक संत ने फतहगढ मे किया था। उन्ही के नाम पर इसे 'रामाश्रम सत्संग' कहते हैं। इसकी साधना योगाश्रयी है, किंतु इसमे योग की कोई जटिलता और गूढता नही है। इसका स्वरूप राधास्वामी पंथ से मिलता हुआ है, किंतु इसके सिद्धांत उससे भी अधिक सरल और सुगम हैं। इसकी साधना के संबंध मे इसके प्रमुख प्रचारक का दावा है,—'इसमे न तो घर-बार छोड़ने की आवश्यकता है, न अपना कारोबार त्यागने की जरूरत है। निर्बल और सबल, वृद्ध और युवा, स्त्री और पुरुष सभी इसको बडी आसानी से कर सकते हैं। इसके अभ्यास के लिए केवल १५-२० मिनिट सुबह व शाम देने की आवश्यकता है। यह प्रवृत्ति मे निवृत्ति और निवृत्ति मे प्रवृत्ति का मार्ग है। इसमे न आसन है, न प्राणायाम है, न जप है, और न तप है। भक्त, योगी, ज्ञानी कोई भी इसे कर सकता है। इसमे किसी के धार्मिक विश्वास को छुडाया नही जाता, बल्कि उसी मे उसे आगे बढा दिया जाता है[1]।' इसमे गुरु-शिष्य का संबंध भी नही माना जाता है, बल्कि सबको बराबर का मित्र अथवा भाई समझा जाता है।

श्री रामचंद्र जी—इस पंथ के प्रवर्त्तक श्री रामचंद्र जी का जन्म सं. १९३० मे कायस्थ कुल मे हुआ था। उनके पूर्वज भवगांव जि मैनपुरी के निवासी थे, किंतु उनके पिता फर्रुखाबाद की नगरपालिका के सुपरिण्टेण्डेण्ट हुए थे। बालक रामचंद्र ने उसी स्थान पर शिक्षा प्राप्त की थी। उन्होने पहिले फारसी और फिर अंगरेजी पढी थी। उनके पिता का देहावसान होने पर उन्होने फतहगढ की कलक्टरी मे नौकरी कर ली थी; और अंत मे आफिस सुपरिण्टेण्डेण्ट के पद से पेन्शन ली थी। उन्हे साधना की प्रेरणा एक ऐसे मुसलमान संत से मिली थी, जो हिंदू-मुसलमान का भेद नही मानते थे, और सबसे समान भाव से प्रेम करते थे। श्री रामचंद्र जी का भी वैसा ही व्यवहार था। वे सभी जिज्ञासुओ के प्रति समान रूप से स्नेह-भाव रखते थे। वे न तो किसी को शिष्यत्व की दीक्षा देते थे, और न कोई उपदेश देते थे, बल्कि बात-चीत और सत्संग मे ही जिज्ञासुओ को ज्ञान की प्राप्ति करा देते थे। उनका देहावसान सं. १९८८ मे फतहगढ मे हुआ था, जहाँ उनकी समाधि है। उन्हे गुरु मानने वाले बहुसंख्यक व्यक्तियो मे डा० चतुर्भुजसहाय जी प्रमुख थे। उन्ही ने इस पंथ का अधिक प्रचार किया था।

श्री चतुर्भुजसहाय जी—उनका जन्म एटा जिला के एक कुलश्रेष्ठ कायस्थ परिवार मे सं. १९४० की कार्तिक शु ४ को हुआ था। उनके माता-पिता धर्मप्राण व्यक्ति थे, अतः उनमे भी आरंभ से ही धार्मिक भावना जागृत हो गई थी। उन्हे हिंदी, संस्कृत, उर्दू, फारसी और अंगरेजी का सामान्य ज्ञान था। शिक्षा-प्राप्ति के अनंतर वे डाक्टर हो गये थे, जिससे उन्हे दुखी जनता की सेवा करने का अच्छा अवसर मिला था।

उनकी ननसार फतेहगढ मे थी, जहाँ दैव योग से एक बार प्लेग का प्रकोप हुआ था। डा चतुर्भुजसहाय जी वहाँ चिकित्सा कार्य से गये हुए थे। उसी स्थान पर उनकी श्री रामचंद्र जी से भेंट हुई थी। वे उनकी आत्म-शक्ति और आध्यात्मिक ज्ञान से प्रभावित होकर उनके परम भक्त बन गये थे। उन दोनो की आकृति-प्रकृति, रहन-सहन और आचार-विचार मे इतनी समानता थी कि वे सगे भाई से जान पडते थे। श्री रामचंद्र जी भी उन पर छोटे भाई

(१) डा. चतुर्भुजसहाय कृत 'हमारी योग साधना', पृष्ठ २८-२९

के समान स्नेह करते थे। उन्होने इन्हे साधना का रहस्य वतला कर सुगमता पूर्वक आत्मज्ञानी बना दिया था। इन्हे सर्व प्रकार से योग्य समझ कर उन्होने आदेश दिया कि वे उनकी शिक्षा को जनता मे प्रचारित करे।

धर्म-प्रचार और ग्रथ-रचना—गुरु श्री रामचद्र जी की आज्ञा से डा. चतुर्भुजसहाय जी ने अपना समस्त जीवन धर्म–प्रचार और धार्मिक ग्र थो की रचना मे लगा दिया था। उन्होने विभिन्न स्थानो मे भ्रमण कर अध्यात्म विद्या के गूढ रहस्य को ऐसी सुगमता से प्रचारित किया कि साधारण व्यक्ति भी उससे परिचित होने लगे। इस प्रकार उनके मत का व्यापक प्रचार हो गया। जिज्ञासुओ की सुविधा के लिए प्रति वर्ष धार्मिक समारोह किये जाते थे, जिन्हे 'भडारा' कहते है। इन भडारो मे विविध स्थानो के व्यक्ति पर्याप्त सख्या मे एकत्र होकर 'सत्सग' करते है, और साधना का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते है। डा० चतुर्भुजसहाय जी की रची हुई अनेक पुस्तके है। इनमे धर्म–साधना से सबधित विविध विषयो का सरल भाषा मे स्पष्टीकरण किया गया है। स १६६० मे उन्होने 'साधन' नामक एक मासिक पत्र निकाला, जो अभी तक वरावर प्रकाशित हो रहा है।

मथुरा-आगमन और देहावसान—डा चतुर्भुजसहाय जी का अधिकाश जीवन एटा मे व्यतीत हुआ था। उसी स्थान से वे प्रचार और सत्सगादि धार्मिक कार्यो का सचालन करते थे। उक्त स्थान पर यातायात और सचार के साधनो की सुविधा नही थी, अत उन्हे और उनसे मिलने के लिए आने वालो को वडी असुविधा होती थी। इसलिए वे एटा छोड कर स. २००८ मे मथुरा आ गये थे। उसके वाद मथुरा ही उनकी समस्त धार्मिक प्रवृत्तियो का प्रधान केन्द्र हो गया था। इसी स्थान से उनके ग्र थो का तथा 'साधन' पत्र का प्रकाशन होने लगा, और यही पर प्रति वर्ष शिवरात्रि के अवसर पर प्रधान भडारा भी किया जाने लगा। उनका देहावसान स २०१४ की आश्विन शु १ को मथुरा मे हुआ था।

वर्तमान स्थिति—डा. चतुर्भुजसहाय जी का देहावसान होने से 'रामाश्रम सत्सग' की वडी क्षति हुई; किंतु इसका कार्य किसी प्रकार चल रहा है। डाक्टर साहव के तीन पुत्र और अनेक श्रद्धालु भक्त है। उनके ज्येष्ठ तथा कनिष्ठ पुत्र प्रतिष्ठित पदो पर हैं, और मध्यम पुत्र श्री हेमेन्द्रकुमार प्रेम, ग्र थ-प्रकाशन और 'साधन' पत्र की व्यवस्था करते है। श्रद्धालु भक्तो मे प मिहीलाल जी प्रमुख है, जो उनके उत्तराधिकारी के रूप मे धर्म-प्रचार तथा विविध धार्मिक प्रवृत्तियो का सचालन कर रहे हैं।

अखंड ज्योति संस्थान—

महत्व और गति-विधि—यह व्रज की नवीनतम किंतु सर्वाधिक महत्वपूर्ण धार्मिक सस्था है। इसके द्वारा नवयुग के अनुसार सच्ची धर्म–साधना के रूप मे चरित्र–गठन, सदाचार, नैतिक उत्थान, भावनात्मक एकता और राष्ट्र निर्माण की प्रवृत्तियो का प्रचार होता है। इसके सस्थापक आचार्य श्रीराम शर्मा ने पहिले 'अखड ज्योति' मासिक पत्रिका निकाली, और फिर 'गायत्री तपोभूमि' एव 'युग निर्माण विद्यालय' की स्थापना की। इनके साथ ही वहुसख्यक ग्रथो के निर्माण, विविध समारोहो के आयोजन और प्रशिक्षण शिविरो की व्यवस्था द्वारा आचार्य जी पूर्वोक्त उद्देश्यो की पूर्ति मे लगे हुए है। इनकी अलौकिक प्रतिभा, अद्भुत सूझ-वूझ और प्रचड कर्मण्यता के कारण देश के विभिन्न राज्यो के लाखो परिवार स्वय अपनी नैतिक उन्नति करने के साथ ही साथ राष्ट्र-निर्माण के महत्वपूर्ण कार्यो मे लग गये हैं। एक कर्मयोगी महापुरुष विना किसी सहयोग-सहायता के अपने ही पुरुषार्थ से कितना अधिक काम कर सकता है, इसके लिए आचार्य श्रीराम शर्मा का जीवन एक ज्वलत उदाहरण है।

आचार्य श्रीराम शर्मा—इनका जन्म स. १९६८ की आश्विन कृ १३ को जि आगरा के आँवलखेडा नामक गाँव मे हुआ था। शिक्षा-प्राप्ति के अनतर इन्होने कई वर्ष (सन् १९३० से सन् १९४२) तक आगरा मे अगरेजी शासन के विरुद्ध स्वतन्त्रता सग्राम मे योग दे कर कारागार की यत्रणा सही थी। राजनैतिक कार्य करते हुए भी इनकी मुख्य प्रवृत्ति धार्मिक थी। इन्होंने दोनो मे ताल-मेल बैठाने की चेष्टा की, किंतु उसकी सभावना न देख कर ये राजनीति मे पृथक् हो गये। उसके उपरात ये आगरा से मथुरा आकर अपनी धार्मिक योजना को कार्यान्वित करने मे लग गये थे।

अखड ज्योति—आचार्य जी का प्रथम कार्य 'अखड ज्योति' मासिक पत्रिका का सपादन और प्रकाशन करना है। इसके कुछ आरभिक अक आगरा से निकले थे, किंतु मथुरा आने पर इन्होने इसे यहीं से प्रकाशित किया था। यह अत्यत उपयोगी और सस्ती धार्मिक पत्रिका है, जो विगत २८ वर्ष से नियमित रूप से प्रकाशित हो रही है। ग्राहक सख्या की दृष्टि मे उसका स्थान 'कल्याण' के बाद इसी कोटि के पत्रो मे सबसे ऊँचा है।

गायत्री तपोभूमि—आचार्य जी का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य 'गायत्री तपोभूमि' की स्थापना करना है। इसे उन्होने अपनी धार्मिक योजना को व्यावहारिक रूप देने के लिए अब से १६ वर्ष पूर्व स्थापित किया था। इसके द्वारा जनता की धार्मिक भावना को रचनात्मक दिशा की ओर मोडने का प्रयास किया गया है। आचार्य जी के मतानुसार 'गायत्री' सद् भावनाओं को, और 'यज्ञ' सद् प्रवृत्तियो का प्रतीक है। इन दोनो की क्रियात्मक उपासना यहाँ की जाती है। इनके लिए वृ दावन सडक के किनारे एक भव्य आश्रम का निर्माण किया गया है। इसके अतर्गत गायत्री मदिर, यज्ञशाला, पुस्तकालय, वाचनालय, चिकित्सालय, अतिथि निवास और विद्यालय आदि कई सस्थाएँ हैं। इसकी कई हजार शाखाएँ देश के विभिन्न स्थानो मे सफलता पूर्वक कार्य कर रही हैं।

युग निर्माण योजना—आचार्य जी का तीसरा उपयोगी कार्य 'युग निर्माण योजना' का सचालन करना है। इसका उद्देश्य समाज के भावनात्मक नव निर्माण द्वारा जनता को स्वावलबन और स्वाभिमान पूर्वक जीविकोपार्जन करने की शिक्षा देना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'युग निर्माण' पत्र का प्रकाशन और 'युग निर्माण विद्यालय' का सचालन किया जाता है। पत्र मे 'जीवन जीने की कला' सबधी लेख होते है, और विद्यालय मे इसकी व्यावहारिक शिक्षा दी जाती है।

ग्रथ-रचना—आचार्य जी का चौथा अद्भुत कार्य कई सौ छोटे-बडे ग्रंथो की रचना कर इनका प्रकाशन और प्रचार करना है। ये ग्र थ विविध विषयो के हैं, किंतु इन सब का सबध धार्मिक भावना के प्रसारण, जन-जागरण और युग-निर्माण से है। इनसे पाठको के नैतिक उत्थान और चरित्र-गठन मे बडी सहायता मिली है। इधर वेद, उपनिषद्, दर्शन, स्मृतियाँ और पुराणादि भारतीय सस्कृति के आकर ग्र थो का प्रकाशन भी किया गया है।

सम्मेलन, गोष्ठियाँ और शिविर—आचार्य जी ने अपने इस चतुर्मुखी कार्य-कलाप के अतिरिक्त अनेक सम्मेलन, गोष्ठियाँ और शिविरो का भी सफलता पूर्वक सचालन किया है। पहिला बडा सम्मेलन 'शत कुड गायत्री महायज्ञ' के नाम से स. २०१३ मे हुआ था, जिसमे 'गायत्री परिवार' की देशव्यापी शाखाओ से सबधित प्राय ५० हजार व्यक्ति एकत्र हुए थे। दूसरा सम्मेलन स. २०१५ मे 'सहस्र कुड गायत्री महायज्ञ' के नाम से किया गया। उसमे प्राय एक लाख व्यक्ति एकत्र हुए थे। 'अखड ज्योति' की 'रजत जयती' के उपलक्ष मे स २०२१ मे एक विशाल 'साहित्य गोष्ठी' की गई। इन सबके अतिरिक्त अनेक 'प्रशिक्षण शिविर' भी प्रति वर्ष किये जाते है। इस प्रकार आचार्य जी द्वारा स्थापित यह सस्थान ब्रज की धार्मिक भावना को नूतन रूप मे प्रसारित कर रहा है।

प्रकाशक

विशिष्ट धार्मिक महापुरुष

आधुनिक काल मे ब्रज मे जो विख्यात धार्मिक महानुभाव हुए है, उनमे से अधिकांश का उल्लेख विभिन्न धर्म-सप्रदायो के प्रसग मे किया जा चुका है। उनके अतिरिक्त कुछ ऐसे विशिष्ट धार्मिक महापुरुष भी हुए हैं, जिन्होने धर्म-साधना के विविध क्षेत्रो मे ख्याति प्राप्त की है। ऐसे कतिपय महापुरुषो का यहाँ नामोल्लेख मात्र किया जाता है।

भजनानंदी महात्मा—इस काल मे ब्रज मे अनेक भजनानदी महात्मा हुए है। उनमे से बहुतो का पहिले उल्लेख किया जा चुका है। उनके अतिरिक्त गोकुल वाले परमहंस, वृंदावन निवासी हडिया बावा, भक्तवर मानसिंह जी, सगीताचार्य ग्वारिया बावा, सन्यासी भक्त उडिया बाबा, उनके उत्तराधिकारी हरिबावा, बावा कृपासिधुदास और बावा किशोरीदास के नाम उल्लेखनीय है। श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी ने अपने भजन-बल से विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियों को महत्वपूर्ण देन दी है।

कथावाचक और महोपदेशक—ब्रज मे कथा, प्रवचन और उपदेश धर्म-साधना के महत्वपूर्ण अग रहे हैं। इनके द्वारा श्रद्धालु जनो को धार्मिक प्रवृत्तियो की ओर सदा से प्रेरित किया जाता रहा है। आधुनिक काल मे ब्रज के अनेक मदिर-देवालयो मे कथा-प्रवचनादि की स्थायी व्यवस्था है, जहाँ अनेक विख्यात कथावाचक और महोपदेशक बहुसंख्यक जनता मे धार्मिक भावना जागृत करते रहे है। ये महानुभाव प्रधानतया श्रीमद् भागवत और साधारणतया महाभारत, विविध पुराण, रामायण और अन्य धार्मिक ग्रथो की कथा द्वारा धर्म-तत्व का उपदेश करते है। मथुरा के कथा-वाचको मे श्री पुरुषोत्तम भट्ट ने बडी प्रसिद्धि प्राप्त की थी। उनके अतिरिक्त सर्वश्री मुकुददेव जी, नदकिशोर जी, वनमाली जी, जगीराम जी, भट्ट घनश्याम दास जी और लक्ष्मणाचार्य जी विख्यात कथावाचक हुए हैं। वृंदावन तो कथा-वाचकों का घर है। वहाँ प्रत्येक धर्म-सप्रदाय के विद्वान सुप्रसिद्ध कथावाचक और उपदेशक भी होते रहे है। इस समय स्वामी अखडानद जी, गो. पुरुषोत्तम जी और गो. अतुलकृष्ण जी की इस क्षेत्र मे बडी ख्याति है। इस समय गोस्वामी बिंदु जी रामचरित मानस के अद्वितीय विद्वान और विख्यात महोपदेशक थे। श्री इदु जी अच्छे रामायणी विद्वान और प्रवक्ता है।

विदेशी मत

इस्लाम मत—ब्रजमंडल मे मुसलमानी शासन १३ वी शताब्दी से १६ वीं शताब्दी तक रहा था। इन ६–७ शतियो के दीर्घ काल मे यहाँ अनेक धर्मांध शासक हुए, जिनके सरक्षण मे क़ाज़ी–मुल्लाओ ने इस्लाम मत को बलपूर्वक प्रचलित करने की चेष्टा की थी। किंतु ब्रजवासियो की सुदृढ धार्मिक आस्था के कारण उन्हे बहुत थोडी ही सफलता मिल सकी थी। इस समय ब्रज में मुसलमानो की सख्या २० प्रति शत से अधिक नही है, किंतु ये लोग यहाँ के नगर-कस्बों के साथ ही साथ छोटे-छोटे गाँवो तक मे बसे हुए हैं। इनकी मसजिदें भी अनेक स्थानो मे हैं, जहाँ मुसलमान नमाज पढते है, और अपने धार्मिक कृत्यो का सपादन करते हैं। इनकी दो बडी मसजिदें मथुरा मे हैं, जो औरगजेब के शासन काल मे बनाई गई थी। इनमे से एक श्रीकृष्ण–जन्म स्थान पर है, और दूसरी चौक बाजार मे है। वर्तमान काल मे यहाँ के मुसलमान अपने हिंदू पडोसियो के साथ प्राय मेल–मिलाप से रहते हैं। इस काल मे यहाँ कुछ छोटी मसजिदें भी बनाई गई हैं।

ईसाई मत—इस मत के प्रचार का रूप इस्लाम मत से भिन्न रहा है। ईसाई पादरी अधिकतर स्कूल और अस्पताल जैसी लोकोपयोगी सस्थाओ की स्थापना कर उनके द्वारा अपने मत का प्रचार करते रहे हैं। ब्रजमडल मे ईसाई मत का सर्व प्रथम प्रवेश मुगल सम्राट अकबर के उदार शासन काल मे हुआ था। सम्राट की आज्ञा से गोआ के पुर्तगाली पादरियो ने फतहपुर सीकरी मे एक अस्पताल खोला था, और एक छोटा गिरजाघर बनवाया था। उनके बाद आगरा मे 'अकबरी चर्च' बनवाया गया। सम्राट अकबर से लेकर शाहजहाँ के काल तक विदेशी ईसाई पादरी अपने मत के प्रचारार्थ ब्रज मे आते रहे थे, किंतु उन्हे नाम मात्र को ही सफलता मिली थी। औरगजेब ने उनका यहाँ आना भी बद कर दिया था। इस प्रकार मुसलमानी शासन मे ब्रज मे ईसाई मत का प्रचार प्राय. नही के बराबर हुआ था।

इस मत का यहाँ जो कुछ प्रचार है, वह अंगरेजी शासन काल मे हुआ है। ब्रिटिश शासक इसी मत के अनुयायी थे। उन्होने ईसाई पादरियो को अपने मत के प्रचारार्थ पर्याप्त सुविधाएँ दी थी। अगरेजी काल मे ब्रज के विभिन्न स्थानो मे ईसाईयो द्वारा स्कूल, कालेज और अस्पतालो के साथ ही साथ गिरजाघर भी प्रचुर सख्या मे बनाये गये। पादरियो ने पठित समाज की अपेक्षा अपढ लोगो मे अधिक प्रचार किया था, और उनकी सेवा करने के अतिरिक्त उन्हे बहका कर तथा प्रलोभन देकर ईसाई बनाया था। इस प्रकार अगरेजी शासन काल मे ब्रज मे ईसाईयो की सख्या काफी हो गई। ब्रजमडल मे आगरा नगर ईसाई मत का प्रधान केन्द्र है। यहाँ पर ईसाईयो के कई गिरजे हैं, और वे शिक्षा तथा चिकित्सा सबधी बडी–बडी सस्थाएँ चला रहे हैं।

मथुरा और वृ दावन मे ईसाईयो के कई स्कूल, अस्पताल और गिरजाघर हैं। मथुरा का मिसन स्कूल और वृ दावन का मिसन अस्पताल ब्रज की जनता मे बहुत प्रसिद्ध है। अगरेजी शासन काल मे मथुरा महत्वपूर्ण सैनिक केन्द्र था। यहाँ की छावनी मे अगरेज सैनिक बड़ी संख्या मे रहते थे। उनके लिए यहाँ पर ईसाई मत की दोनो शाखाओ के दो गिरजाघर —'इगलिश चर्च' और 'कैथोलिक चर्च' क्रमश स. १९१३ और स १९३१ में बनवाये गये थे। कैथोलिक चर्च की विशाल इमारत यहाँ के अगरेज जिलाधीश श्री ग्राउस ने बनवायी थी। उसके निर्माण मे ब्रज के हिंदुओ ने भी पर्याप्त धन दिया था। ऐसे दानियो मे मथुरा के सेठो का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

सहायक साहित्य

वैदिक. नारायणीय-सात्वत-पंचरात्र. [हिंदी]

५२ देवी भागवत—(गीता प्रेस)
५३ भारतीय देव मंडल—संपूर्णानंद
५४ गणेश—सपूर्णानंद
५५ वैदिक सस्कृति का विकास—लक्ष्मण शास्त्री
५६ वैदिक वाङ्मय का इतिहास—भगवद्दत्त
५७ वैदिक साहित्य—रामगोविंद त्रिवेदी
५८ आचार्य सायण और माधव
—बलदेव उपाध्याय
५९ आर्य सस्कृति के मूलाधार— ,,
६०. रामायण कालीन सस्कृति और समाज
—शातिलाल नानूराम व्यास
६१ पाणिनि कालीन भारत—वासुदेवशरण
६२ हिंदुत्व—रामदास गौड
६३ हिंदू सभ्यता—राधाकुमुद मुकर्जी
६४ शैव मत—यदुवशी
६५ भारतीय धर्म और साधना
—गोपीनाथ कविराज
६६ प्राचीन भारतीय सभ्यता और सस्कृति
—राजवली पाडे
६७ सस्कृति का दार्शनिक विवेचन—देवराज
६८ सस्कृति के चार अध्याय
—रामधारी सिह 'दिनकर'
६९ प्राचीन भारत मे लक्ष्मी प्रतिमा
—राय गोविंदचद्र
७० आर्यो का आदि देश—सपूर्णानंद
७१ मुहनजोदडो—सतीशचद्र काला
७२ सिंधु सभ्यता का केन्द्र हडप्पा—केदारनाथ
७३ प्राचीन भारत—आर सी मजूमदार
७४ प्राचीन भारत का इतिहास
—आर एस त्रिपाठी
७५ प्राचीन भारतीय अभिलेखो का अध्ययन
—वासुदेव उपाध्याय
७६ भारतीय इतिहास की मीमासा
—जयदेव विद्यालकार
७७ सम्राट चद्रगुप्त—सत्यनारायण कस्तूरिया
७८ कौटिलीय अर्थशास्त्र—देवदत्त शास्त्री
७९. कौटल्य का अर्थशास्त्र—वाचस्पति गैरोला
८०. मैगस्थनीज का भारत विवरण
—योगेन्द्र मिश्र
८१. अशोक—आर जी भंडारकर
८२. मौर्य साम्राज्य का इतिहास
—सत्यकेतु विद्यालंकार
८३ मौर्य कालीन भारत—कमलापति त्रिपाठी
८४ पतंजलि कालीन भारत
—प्रभुदयाल अग्निहोत्री
८५ विक्रमादित्य—राजबली पांडे
८६ गुप्त साम्राज्य का इतिहास—वासुदेव उपा
८७ श्रीकृष्ण जन्मभूमि—वासुदेवशरण अग्रवाल
८८ अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास
परमेश्वरीलाल गुप्त
८९ मध्य देश—धीरेन्द्र वर्मा
९० पूर्व मध्यकालीन भारत—वासुदेव उपा०
९१. अंधकारयुगीन भारत का इतिहास
—काशीप्रसाद जायसवाल
९२ हर्षवर्द्धन—गौरीशंकर चटर्जी
९३ सम्राट हर्षवर्धन—सत्यनारायण कस्तूरिया
९४ हर्ष चरित् एक सांस्कृतिक अध्ययन
—वासुदेवशरण अग्रवाल
९५ हुएनसाग का भारत भ्रमण
—ठाकुरप्रसाद शर्मा
९६. राजा भोज—विश्वेश्वरनाथ रेऊ

जैन धर्म

[प्राकृत]

९७ आचाराग सूत्र
९८ सूत्रकृताग सूत्र
९९ भगवती सूत्र
१०० ज्ञाता धर्म सूत्र
१०१ निशीथ
१०२ महानिशीथ
१०३ कल्पसूत्र
१०४ समय सार—कुदकुदाचार्य
१०५ पउमचरिय—विमल सूरि

१०६ वसुदेव हिंडी—सघदास
१०७ महापुरिस चरिय—शीलाकाचार्य
१०८ विविध तीर्थ कल्प (मथुरापुरी कल्प)
—जिनप्रभ सूरि
१०९ सुपासनाह चरिय—लक्ष्मण गणि

[संस्कृत]

११०. पद्मचरित्र—रविसेन
१११. अरिष्टनेमि पुराण (जैन हरिवश)–जिनसेन
११२. महापुराण—जिनसेन (दूसरे)
११३ (१ आदिपुराण २ उत्तरपुराण) गुणभद्र
११४. प्रद्युम्न चरित्—सोमकीर्ति
११५ प्रद्युम्न चरित्र—शुभचद्र आदि
११६ त्रिपष्टिशलाका पुरुष—हेमचद्र
११७. जम्बूस्वामी चरित्र—राजमल्ल पाडे

[अपभ्रंश]

११८ पउम चरिउ—स्वभू
११९ रिट्ठणेमि चरिउ—स्वभू
१२०. रिट्ठणेमि चरित्र—धवल
१२१ सावयधम्म दोहा—देवसेन
१२२ तिसट्ठि महापुरिस गुणालकार–पुष्पदत
१२३ णायकुमार चरिउ — ,
१२४. जसहर चरिउ — ,,
१२५ तीर्थमाला—दयाकुशल
१२६. पाहुड दोहा—मुनि रामसिह
१२७ धम्म परिक्खा—हरिषेण
१२८ नेमिनाह चरिउ—हरिभद्र

[गुजराती]

१२९ जैन साहित्य नो इतिहास
—मोहनलाल दलीचद देसाई
१३०. जैन गुर्जर कविओ — ,,

[अंगरेजी]

१३१ डाक्ट्राइन्स आफ जैन्स—डबल्यु शेर्रविंग
१३२ दि जैन स्तूप एण्ड अदर ऐंटिक्विटीज
आफ मथुरा—वी. ए स्मिथ
१३३. यक्षज (दो भाग)—आनदकुमार स्वामी

[ब्रजभाषा-हिंदी]

१३४ प्रद्युम्न चरित—साधारु अग्रवाल
१३५ हरिवश पुराण—जिनदास
१३६. बलभद्र रास—यशोधर
१३७ प्रद्युम्न चौपई—कमलेश्वर, जिनचद्र सूरि
१३८ प्रद्युम्न रासो—ब्रह्म राममल्ल, ज्ञानसागर
१३९. हरिवश पुराण—शालिवाहन
१४० नेमिनाथ रासो—रूपचद
१४१ जबू चरित्र—जिनदास पाडे
१४२. समयसार नाटक—बनारसीदास
१४३ अर्ध कथानक — ,,
१४४. परमार्थ वचनिका— ,,
१४५ मगल गीत प्रबध—रूपचद
१४६ पाडव पुराण—बुलाकीदास
१४७ धर्म विलास—द्यानतराय
१४८ नेमिनाथ के कवित्त—द्यानतराय
१४९. आदि पुराण वचनिका—प. दौलतराम
१५० पद्म पुराण ,, — ,,
१५१. हरिवश पुराण ,, — ,,
१५२. गोमट्टसार वचनिका—प टोडरमल
१५३. पुरुषार्थ सिद्धुपाय वचनिका— ,,
१५४. मोक्षमार्ग प्रकाशक — ,

[हिंदी]

१५५ जिनसेन कृत आदि पुराण—पन्नालाल
१५६ गुणभद्र कृत उत्तर पुराण— ,,
१५७ स्वभू कृत पद्म चरिउ—देवेन्द्रनाथ
१५८ आदि काल का हिंदी जैन साहित्य
—हरिशकर शर्मा
१५९ जैन साहित्य और इतिहास–नाथूराम प्रेमी
१६०. हिंदी जैन साहित्य का इतिहास– ,,
१६१ जैन साहित्य का इतिहास—कैलाशचद्र
१६२ भारतीय सस्कृति मे जैन धर्म का योग
—हीरालाल जैन
१६३ हिंदी जैन साहित्य परिशीलन–नेमिचद
१६४. हिंदी जैन साहित्य का इतिहास
—कामताप्रसाद जैन

१६५ जैन कवियों का इतिहास—मूलचंद वत्सल
१६६ जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि
—प्रेमसागर जैन
१६७. कविवर बनारसीदास—रवीन्द्रकुमार जैन

बौद्ध धर्म

[पालि]

१६८ सुत्त पिटक
१६९ विनय पिटक
१७० अभिधम्म पिटक
१७१ दीघ निकाय
१७२ मज्झिम निकाय
१७३ सुयुत्त निकाय
१७४ अगुत्तर निकाय
१७५ खुद्दक निकाय
१७६ धम्मपद
१७७ सुत्त निपात
१७८ विमान वत्थु
१७९ थेर गाथा
१८० थेरी गाथा
१८१ जातक
१८२ निद्देस
१८३ बुद्धवस
१८४ चरिया पिटक
१८५ महा वग्ग
१८६ चुल्ल वग्ग
१८७ अट्ठकथा
१८८ दीपवस
१८९ महावस

[अपभ्रंश]

१९० चर्यापद—विविध सिद्ध
१९१ दोहाकोश—सरह

[बंगला]

१९२ बौद्ध गान ओ दोहा—हरप्रसाद शास्त्री
१९३ बौद्ध जातक कथा—ईशानचंद्र घोष

[अंगरेजी]

१९४ गिलगिट मैन्युस्क्रिप्ट्स—
१९५ दिव्यावदान—कावेल
१९६ बुद्धिष्ट रिकार्ड्स आफ दि वेस्टर्न
वर्ल्ड—एस. बील
१९७ ट्रैवेल्स आफ फाह्यान—एस बील
१९८. फाह्यान ट्रैवेल्स—जे लेग
१९९ आन ह्वेनसांग ट्रैवेल्स इन इंडिया
—टामस वाटर्स
२०० गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज
—जार्ज वेस्टन ब्रिग्स
२०१ गोरखनाथ एण्ड मिडिएवल मिस्टिसिज्म
—मोहनसिंह
२०२ कौलज्ञान निर्णय—प्रबोधचंद्र बागची

[हिंदी]

२०३ बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल
—भरतसिंह उपाध्याय
२०४. भगवान् बुद्ध—धर्मानंद कोसाम्बी
२०५ बौद्ध धर्म इतिहास और दर्शन
—गोविंदचन्द्र पांडे
२०६ बौद्ध धर्म दर्शन—नरेन्द्रदेव
२०७ बौद्ध दर्शन—राहुल सांकृत्यायन
२०८ बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन
—भरतसिंह उपाध्याय
२०९ बौद्ध दर्शन मीमासा—बलदेव उपाध्याय
२१० बौद्ध सस्कृति—राहुल साकृत्यायन
२११ तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य
—नगेन्द्रनाथ उपाध्याय
२१२ चीनी बौद्ध धर्म का इतिहास
—चाऊ, सियागसुयाग
२१३ जातक कथा—आनद कौशल्यायन
२१४ जातक कालीन भारतीय सस्कृति
—मोहनलाल महतो
२१५ पालि साहित्य का इतिहास
—भरतसिंह उपाध्याय
२१६ पुरातत्व निबधावली—राहुल साकृत्यायन
२१७ उत्तर प्रदेश मे बौद्ध धर्म का विकास
—नलिनाक्ष दत्त और कृष्णदत्त वाजपेयी

२१८ हिंदी साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव —सरला अवस्थी
२१९ सिद्ध साहित्य—धर्मवीर भारती
२२० नाथ सप्रदाय—हजारीप्रसाद द्विवेदी
२२१ नाथो और सिद्धो का तुलनात्मक अध्ययन —नागेन्द्रनाथ उपाध्याय
२२२. गोरखवानी—पीताम्बरदत्त बडथ्वाल

वैष्णव संप्रदाय

[संस्कृत]

२२३ उपनिषद्
२२४ महाभारत
२२५ भगवद्गीता
२२६. ब्रह्मसूत्र
२२७ भागवत पुराण
२२८ विष्णु पुराण
२२९ पद्म पुराण
२३० ब्रह्मवैवर्त पुराण
२३१ नारद पचरात्र
२३२. पाद्म तत्र
२३३ अहिर्बुध्न्य सहिता
२३४ कपिजल सहिता
२३५ ब्रह्मसहिता
२३६. गर्ग सहिता
२३७ गोपालतापनी
२३८ नारद भक्ति सूत्र
२३९. शाडिल्य भक्ति सूत्र
२४० गीतगोविद—जयदेव
२४१ कृष्ण कर्णामृत—विल्वमगल
२४२. आगम प्रामाण्य—यामुनाचार्य
२४३. ब्रह्मसूत्र–श्रीभाष्य—रामानुजाचार्य
२४४. वेदात पारिजात सौरभ—निंबार्काचार्य
२४५. वेदात कामधेनु— ,,
२४६. वेदात कौस्तुभ—श्रीनिवासाचार्य
२४७. औदुवर सहिता—औदुवराचार्य
२४८. वेदात रत्न मजूषा—पुरुषोत्तमाचार्य
२४९. कौस्तुभ प्रभा—केशव काश्मीरी भट्टाचार्य
२५०. तत्व प्रकाशिका—केशव काश्मीरी भट्टाचार्य
२५१ ब्रह्मसूत्र–अणुभाष्य—वल्लभाचार्य
२५२. भागवत–सुबोधिनी टीका— ,,
२५३. तत्वदीप निबध— ,,
२५४. षोडश ग्रथ— ,,
२५५. विद्वन्मडन—विट्ठलनाथ गोस्वामी
२५६. विज्ञप्ति — ,,
२५७. शृगार रस मडन— ,,
२५८. अणु भाष्य प्रकाश—पुरुषोत्तम गोस्वामी
२५९ सुबोधिनी विवरण— ,,
२६०. षोडश ग्रंथ टीका— ,,
२६१. वल्लभ दिग्विजय—यदुनाथ गोस्वामी
२६२. सप्रदाय प्रदीप—गदाधरदास
२६३ सत्सिद्धात मार्तड—गट्टू लाला जी
२६४ दुर्जन करि पचानन—रगदेशिक स्वामी
२६५ सज्जन मनोनुरजन— ,,
२६६ व्यामोह विद्रावनम्— ,,
२६७ शिक्षाष्टक—चैतन्य देव
२६८ कडचा—स्वरूपदामोदर
२६९. प्रेमामृत स्तोत्र—गदाधर पडित
२७०. जगन्नाथ वल्लभ—राय रामानद
२७१. कृष्ण चैतन्य चरितामृत—मुरारि गुप्त
२७२ हरिभक्ति विलास—सनातन गोस्वामी
२७३. वृहत् भागवतामृत— ,,
२७४ भक्ति रसामृत सिंधु—रूप गोस्वामी
२७५ उज्ज्वल नीलमणि — ,,
२७६ लघु भागवतामृत — ,,
२७७ विदग्ध माधव नाटक— ,,
२७८ ललित माधव नाटक— ,,
२७९ मथुरा माहात्म्य — ,,
२८०. षट् सदर्भ—जीव गोस्वामी
२८१. क्रम संदर्भ— ,,
२८२ गोपाल चम्पू— ,,
२८३. ब्रज भक्ति विलास—नारायण भट्ट
२८४ भक्ति रस तरगिणी— ,,
२८५ आनद वृदावन चम्पू—कर्णपूर

२८६ चैतन्य चरितामृत—कर्णपूर
२८७ गोविंद लीलामृत—कृष्णदास कविराज
२८८ वृंदावन महिमामृत शतक—प्रबोधानंद
२८९ चैतन्य चंद्रामृत— ,,
२९० संगीत माधव— ,,
२९१ ब्रह्मसूत्र—गोविंद भाष्य—बलदेव विद्याभूषण
२९२ प्रमेय रत्नावली— ,,
२९३ पदांक दूत—कृष्णदेव सार्वभौम
२९४ प्रेम पत्तन—रसिकोत्तंस
२९५ मधु केलि वल्ली—गोवर्धन भट्ट
२९६ भावना सार संग्रह—सिद्ध कृष्णदास बाबा
२९७ नारायण भट्ट चरितामृत—जानकीप्रसाद
२९८ शुक दूत महाकाव्य—नंदकिशोर गोस्वामी
२९९ राधा सुधानिधि—हित हरिवंश
३०० उप सुधानिधि—कृष्णचंद्र गोस्वामी
३०१ कर्णानंद— ,,
३०२ अध्वविनिर्णय—वृंदावनदास गोस्वामी
३०३ राधा सुधानिधि—
रसकुल्ला टीका—हरिलाल व्यास
३०४ श्री हरिवंश वंश प्रशस्ति—शंकरदत्त
३०५ हित चतुरासी टीका—मनोहरवल्लभ गो
३०६ कीर दूत काव्य— ,,
३०७ द्विदल निर्णय—रंगीलाल गोस्वामी
३०८ व्यासनंदन भाष्य—प्रियादास पटनावाले
३०९. राधातत्व प्रकाश—वंशी अलि
३१० राधा सिद्धांत— ,,

[गुजराती]

३११ वैष्णव धर्म नो संक्षिप्त इतिहास
— दुर्गाशंकर केशवराम
३१२ पुष्टिमार्ग नो इतिहास—वसंतराम हरिकृष्ण
३१३ पुष्टिमार्ग ना ५०० वर्ष—
३१४ पुष्टि दर्पण—जेठालाल गोवर्धनदास
३१५ श्री विट्ठलेश चरितामृत—द्वारकादास पारीख
३१६ श्री हरिराय जी—जेठालाल गोवर्धनदास
३१७ श्री हरिराय जी नु जीवन चरित्र
—द्वारकादास पारीख

[बंगला]

३१८ चैतन्य भागवत— वृंदावनदास ठाकुर
३१९ चैतन्य मंगल—लोचनदास ठाकुर
३२० चैतन्य चरितामृत—कृष्णदास कविराज
३२१ क्षणदा गीत चिंतामणि—विश्वनाथ चक्र
३२२ प्रेम भक्ति चंद्रिका—नरोत्तमदास ठाकुर
३२३ प्रार्थना— ,,
३२४ अष्टकालीन लीला—गोविंददास
३२५ अनुरागवल्ली —मनोहरदास
३२६ अद्वैत प्रकाश – ईशान नागर
३२७ श्यामानंद चरित—रसिकानंद
३२८ भक्तमाल—लालदास
३२९ चैतन्य चरितेर उपादान - विमानविहारी
३३० बंगला साहित्येर कथा—सुकुमार सेन
३३१ गोविंद लीलामृत रस—कृष्णदास बाबा
३३२ गौड़ीय वैष्णव इतिहास—हरिदास
३३३ गौड़ीय वैष्णव जीवनी — ,,
३३४ वैष्णव दिग्दर्शिनी — ,,

[अंगरेजी]

३३५ वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर मायनर
रिलीजस सिस्टम्स—आर जी भंडारकर
३३६ भक्ति कल्ट इन एनश्येंट इंडिया
—बी के गोस्वामी
३३७ दी अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव सेक्ट
—हेमचंद्र रायचौधरी
३३८ आरक्योलाजी एण्ड वैष्णव ट्रेडीशन
—रामप्रसाद चंदा
३३९ हिम्स आफ आलवार्स—जे एस एम हूपर
३४० अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव फेथ
एण्ड मूवमेंट इन बंगाल—एस के दे
३४१ अलबेरुनीज इंडिया—साचौ
३४२ हिस्ट्री आफ कन्नौज—आर एस त्रिपाठी
३४३ श्री वल्लभाचार्य—मणिलाल पारिख
३४४ सूरदास—जनार्दन मिश्र
३४५ चैतन्य— यदुनाथ सरकार
३४६. श्री चैतन्य महाप्रभु—भक्तिविनोद ठाकुर

३४७. डाक्ट्रिन आफ निंबार्क एण्ड हिज फोलोअर्स—रमा बोस
३४८ वेदांत पारिजात सौरभ आफ निंबार्क—रमा बोस
३४९ मथुरा-ए-डिस्ट्रक्ट मेमोअर–एफ एस. ग्राउस
३५०. ट्रैवेल्स इन इंडिया बाई टेवर्नियर—वाल
३५१ आईन अकबरी—ब्लोचमैन
३५२ हिस्ट्री आफ दि राइज आफ महम्मडन पावर इन इंडिया—जान ब्रिग्ज
३५३. फाल आफ मुगल एम्पायर–यदु सरकार

[ब्रजभाषा–हिंदी]

३५४ भक्तमाल—नाभादास
३५५. भक्तिरस बोधिनी—प्रियादास
३५६. भक्त-नामावली—ध्रुवदास
३५७ भक्त-नामावली—वृंदाबनदास
३५८ पद प्रसंग माला—नागरीदास
३५९ रसिक अनन्यमाल—भगवतमुदित
३६० राम रसिकावली—रघुराजसिंह राजा
३६१. रसिक प्रकाश भक्तमाल—
३६२ उत्तरार्ध भक्तमाल—हरिश्चंद्र भारतेन्दु
३६३ नव भक्तमाल—राधाचरण गोस्वामी
३६४ रसिक भक्तमाल—यमुनावल्लभ गो.
३६५. सूरसागर—सूरदास
३६६ सारावली— „
३६७ कुंभनदास–ब्रजभूषण गो, कंठमणि शास्त्री
३६८. परमानंद सागर— „ „
३६९ परमानंद सागर पद संग्रह—गोबर्धननाथ
३७०. कृष्णदास–ब्रजभूषण गो, कंठमणि शास्त्री
३७१ गोविंदस्वामी—„ „
३७२. छीतस्वामी — , „
३७३. चतुर्भुजदास — „ „
३७४ नंददास—उमाशंकर शुक्ल
३७५ नंददास ग्रंथावली—ब्रजरत्नदास
३७६. गो हरिराय जी का पद साहित्य —प्रभुदयाल मीतल
३७७. कीर्तन संग्रह—लल्लूभाई छगनलाल देसाई
३७८. चौरासी वैष्णवन की वार्ता-गोकुलनाथ गो.
३७९. दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता– „
३८० षट् ऋतुन की वार्ता—गोकुलनाथ गो
३८१. चौरासी बैठक चरित्र— „
३८२. भावसिंधु— „
३८३ घरू वार्ता— „
३८४ महाप्रभु जी की प्राकट्य वार्ता–हरिराय गो
३८५. निज वार्ता— „
३८६. चौरासी वैष्णवन की वार्ता का भाव —हरिराय गोस्वामी
३८७. दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता का भाव—हरिराय गोस्वामी
३८८. अष्टसखान की वार्ता— „
३८९ श्री गोवर्धननाथ जी के प्राकट्य की वार्ता—हरिराय गोस्वामी
३९०. गो हरिराय जी कृत सूरदास की वार्ता —प्रभुदयाल मीतल
३९१. शिक्षा पत्र भाषा—गोपेश्वर गोस्वामी
३९२ संप्रदाय कल्पद्रुम—विठ्ठलनाथ भट्ट
३९३ भाव भावना—द्वारकेश गोस्वामी
३९४ भाव संग्रह — „
३९५ वल्लभ पुष्टि प्रकाश—रघुनाथ जी शिवजी
३९६ आदिवाणी—रामराय
३९७ गीतगोविंद भाषा—रामराय
३९८ गदाधरदास की वाणी—कृष्णदास बाबा
३९९ सूरदास मदनमोहन—प्रभुदयाल मीतल
४०० माधुरी वाणी—माधुरीदास
४०१. राधारमण रस सागर—मनोहरराय
४०२. चैतन्य चरितामृत भाषा—सुबल श्याम
४०३. रसिक विलास—साधुचरण
४०४ भागवत भाषा—वैष्णवदास
४०५. गीतगोविंद भाषा— „
४०६. प्रेम भक्ति चंद्रिका भाषा—वृंदावनदास
४०७. ब्रह्मसंहिता भाषा—रामकृपा
४०८ वृंदावन धामानुरागावली—गोपालराय
४०९ अभिलाष माधुरी—ललितकिशोरी

४१० रस-कलिका—ललितकिशोरी
४११. श्री राधारमण पद मंजरी—गल्लूजी गो
४१२ दंपति विलास—ललित लड़ैती
४१३ युगल शतक—श्रीभट्ट देव
४१४ महावाणी—हरिव्यास देव
४१५ परशुराम सागर—परशुराम देव
४१६ वृहद् उत्सव मणिमाल—रूपरसिक
४१७ हरिव्यास यशामृत— ,,
४१८ लीला विंशति— ,,
४१९ गीतामृत गंगा—वृंदावनदेव
४२० हित चौरासी—हित हरिवंश
४२१ स्फुट वाणी— ,,
४२२ व्यास वाणी—हरिराम व्यास
४२३ सेवक वाणी—दामोदरदास सेवक
४२४ द्वादश यश—चतुर्भुजदास स्वामी
४२५ ब्यालीस लीला—ध्रुवदास
४२६ प्रश्नोत्तरी—प्राणनाथ
४२७ हस्तामलक— ,,
४२८ माधुर्य विलास—हित अनूप
४२९ रस कदंब चूडामणि—रसिकदास
४३० स्वप्न विलास—अनन्यअली
४३१. अनन्यमाल—उत्तमदास
४३२ पदावली—रूपलाल गोस्वामी
४३३ ब्रज प्रेमानंद सागर—चाचा वृंदावनदास
४३४ लाड सागर – ,,
४३५ रसिक अनन्य परिचावली—,,
४३६ हित रूप चरित्र बेली— ,,
४३७ हित चौरासी टीका—प्रेमदास
४३८. सुधर्म बोधिनी—लाडिलीदास
४३९ भावना सागर—चतुरशिरोमणिलाल गो
४४० शृंगार रस सागर—तुलसीदास बाबा
४४१ केलिमाल—हरिदास स्वामी
४४२ सिद्धांत के पद— ,,
४४३ अष्टाचार्यों की वाणी
—हरिदास संप्रदाय के आचार्य
४४४. निज मत सिद्धांत—किशोरदास
४४५ किशोरदास की वाणी—किशोरदास
४४६ भगवतरसिक की वाणी—भगवतरसिक
४४७ नमन—शीतलदास
४४८ ललित प्रकाश—सहचरिशरण
४४९ सरस मंजावली— ,,
४५० गुरु प्रणालिका— ,,
४५१. रसखान के छंद—रसखान
४५२. मीरा पदावली—मीराबाई
४५३ नागर समुच्चय—नागरीदास
४५४ भगति भावनी—नागदास
४५५ रामानंदायन—[illegible]
४५६ तुलसी पदावली—गो. तुलसीदास
४५७ श्री राधिका महागान—[illegible]
४५८ [illegible] पदावली—[illegible]
४५९ गोपाल विलास—गोपालदास स्वामी
४६० कृष्णायन—[illegible]
४६१ कृष्णायन—द्वारिकाप्रसाद मिश्र

[हिंदी]

४६२. भागवत पुराण भाषा—(गीता प्रेस)
४६३. मत्स्य पुराण—रामप्रताप त्रिपाठी
४६४ वायु पुराण— ,,
४६५ अग्नि पुराण—आचार्य श्रीराम शर्मा
४६६ विष्णु पुराण— ,,
४६७ मार्कण्डेय पुराण— ,,
४६८ मार्कण्डेय पुराण का अध्ययन—बदरीनाथ
४६९ ब्रह्मवैवर्त पुराण भाषा—(गीता प्रेस)
४७० पुराण कथा कौमुदी—रघुनाथप्रसाद
४७१ नारद भक्ति सूत्र टीका—हनुमानप्रसाद पोद्दार
४७२ शांडिल्य भक्ति सूत्र व्याख्या
—गोपीनाथ कविराज
४७३ भक्ति का विकास—मुंशीराम शर्मा
४७४ राधा का क्रम विकास
—शशिभूषण दासगुप्त
४७५ भारतीय वाङ्मय मे राधा—बलदेव उपा
४७६ श्रीराधा-माधव चितन—हनुमानप्रसाद पो
४७७ स्वामी शंकराचार्य—हरिमंगल मिश्र

४७८. श्री शकराचार्य का आचार दर्शन —रामानद तिवारी
४७६ वैज्ञानिक अद्वैतवाद—रामदास गौड
४८० चिद्विलास—सपूर्णानद
४८१ वैष्णव धर्म—परशुराम चतुर्वेदी
४८२ भागवत धर्म—हरिभाऊ उपाध्याय
४८३ भागवत सप्रदाय—बलदेव उपाध्याय
४८४ श्री माधवेन्द्रपुरी और बल्लभाचार्य —राधेश्याम बागची
४८५ श्री वल्लभाचार्य और पुष्टिमार्ग —सीताराम चतुर्वेदी
४८६. शुद्धाद्वैत मार्तण्ड—गो गिरिधारी जी
४८७ शुद्धाद्वैत दर्शन (भाग ३)—रमानाथ भट्ट
४८८ शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्गीय सस्कृत वाड्मय —कठमणि शास्त्री
४८६ अष्टछाप और बल्लभ सप्रदाय—दीनदयाल
४६० अष्टचाप परिचय—प्रभुदयाल मीतल
४६१ अष्टछाप काव्य का सास्कृतिक मूल्याकन—मायारानी टडन
४६२ अष्टछाप के कवियो मे ब्रज सस्कृति —श्यामेन्द्र प्रकाश शर्मा
४६३ काकरोली का इतिहास—कठमणि शास्त्री
४६४ वार्ता साहित्य एक अध्ययन —हरिहरनाथ टडन
४६५ भ्रमरगीत—रामचद्र शुक्ल
४६६. महाकवि सूरदास—नलिनीमोहन सान्याल
४६७ सूर साहित्य—हजारीप्रसाद द्विवेदी
४६८ सूरदास—पीतावरदत्त वडथ्वाल
४६६. सूर : एक अध्ययन—रामरतन भटनागर
५०० सूर साहित्य की भूमिका— ,,
५०१. सूर समीक्षा— ,,
५०२ सूरदास—ब्रजेश्वर वर्मा
५०३ सूर-मीमासा— ,,
५०४ सूर-सौरभ—मुशीराम शर्मा
५०५ सूरदास और भगवद्भक्ति—मुशीराम शर्मा
५०६ भारतीय साधना और सूर-साहित्य— ,,
५०७ सूरदास की वार्ता—प्रभुदयाल मीतल
५०८ सूर निर्णय —द्वारकादास पारीख, प्रभुदयाल मीतल
५०६ महाकवि सूरदास—नददुलारे वाजपेयी
५१०. सूर और उनका साहित्य—हरवशलाल
५११ सूर की काव्य कला—मनमोहन गौतम
५१२ सूर का सास्कृतिक अध्ययन—प्रेमनारायण
५१३. सूर : साहित्य और सिद्धात—यज्ञदत्त शर्मा
५१४. सूर की झाकी—सत्येन्द्र
५१५. परमानददास और उनका काव्य —गोबर्धननाथ शुक्ल
५१६ नदास का जीवन और कृतियाँ —भवानीदत्त उप्रेती
५१७ श्री चैतन्यदेव—सुदरानद
५१८ चैतन्य चरितावली—प्रभुदत्त ब्रह्मचारी
५१६. श्री गौडेश्वर संप्रदाय का इतिहास —पूर्णसिंह वैस ठाकुर
५२० श्री माध्व गौडीय तत्व दर्शन—वाकेपिया
५२१ श्री राधारमण जी का प्रादुर्भाव— ,,
५२२ सूरदास मदनमोहन—प्रभुदयाल मीतल
५२३ चैतन्य मत और ब्रज साहित्य— ,,
५२४. हिंदी कृष्ण भक्ति धारा और चैतन्य सप्रदाय—मीरा श्रीवास्तव
५२५ राधावल्लभ भक्तमाल—प्रियादास शुक्ल
५२६ राधावल्लभ सप्रदाय सिद्धात और साहित्य—विजयेन्द्र स्नातक
५२७ श्री हित हरिवश गोस्वामी सप्रदाय और साहित्य—ललिताचरण गो
५२८. भक्तकवि व्यास जी—वासुदेव गोस्वामी
५२६ ध्रुवदास और उनका साहित्य—केदारनाथ
५२० चदसखी का जीवन और साहित्य —प्रभुदयाल मीतल
५३१ चाचा वृदावनदास और उनका साहित्य—गोपाल व्यास
५३२. आचार्य परपरा परिचय—किशोरदास
५३३ निंवार्क माधुरी—विहारीशरण ब्रह्मचारी

५३४ निंबार्क संप्रदाय और उसके कृष्ण भक्त हिंदी कवि—नारायणदत्त शर्मा
५३५ स्वामी हरिदास अभिनंदन ग्रंथ —छबीलेवल्लभ गोस्वामी
५३६ स्वामी हरिदास जी—प्रभुदयाल मीतल
५३७ स्वामी हरिदास जी का संप्रदाय और उसका वाणी साहित्य—गोपालदत्त शर्मा
५३८ कृष्ण भक्ति काव्य में सखी भाव —शरणबिहारी गोस्वामी
५३९. नागरीदास की कविता—फैयाजअली खाँ
५४० रामानंद की हिंदी रचनाएँ —हजारीप्रसाद द्विवेदी
५४१ रामानंद संप्रदाय का हिंदी साहित्य पर प्रभाव—बदरीनारायण श्रीवास्तव
५४२ सिद्ध योगी गैनदास—पराङ्कुशाचार्य
५४३ राम कथा का विकास—फादर बुल्के
५४४ गोस्वामी तुलसीदास—श्यामसुंदरदास
५४५ तुलसीदास—माताप्रसाद गुप्त
५४६ तुलसीदास—चंद्रबली पांडे
५४७ गोस्वामी तुलसीदास : जीवनी, कला और साहित्य—रामदत्त भारद्वाज
५४८. तुलसी का घर-बार— ,,
५४९. तुलसीदास और उनका काव्य—रामनरेश
५५०. तुलसी की काव्य कला—भाग्यवती सिंह
५५१. तुलसी दर्शन- बलदेवप्रसाद मिश्र
५५२ तुलसी दर्शन मीमांसा—उदयभानु सिंह
५५३ तुलसीदास और उनका युग—राजपति दी
५५४. हिंदी पद परंपरा और तुलसीदास—रामचंद्र मिश्र
५५५ मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति और तुलसीदास—रामरतन भटनागर
५५६. तुलसीदास का कथा शिल्प—रांगेय राघव
५५७ रामचरित मानस सटीक—विविध विद्वान
५५८ विनय पत्रिका सटीक—वियोगी हरि
५५९ ,, —हनुमानप्रसाद पोद्दार
५६०. ,, —देवनारायण द्विवेदी
५६१ दोहावली सटीक—हनुमानप्रसाद पोद्दार
५६२ कवितावली सटीक—रुद्रदेव नारायण
५६३ गीतावली सटीक—(नवलकिशोर प्रेस)
५६४ कृष्ण गीतावली सटीक—बालदेव शर्मा
५६५ सुजान रसखान—किशोरीलाल गोस्वामी
५६६ रसखानि—विश्वनाथप्रसाद मिश्र
५६७ रसखान और उनका काव्य—चंद्रशेखर पांडे
५६८ रसखान-रत्नावली—भवानीशंकर याज्ञिक
५६९ मीरां-माधुरी—ब्रजरत्नदास
५७० मीरांबाई की पदावली—परशुराम चतुर्वेदी
५७१ मीरा की प्रेम-साधना —भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र 'माधव'
५७२. मीरां का अध्ययन—पद्मावती 'शबनम'
५७३ मीरां : जीवनी और काव्य —महावीरसिंह गहलोत
५७४ मीरां सुधासिंधु—आनंदस्वरूप स्वामी
५७५ मीरां सुधा लहरी— ,,
५७६ मीरां अभिनंदन ग्रंथ—ललिताप्रसाद सुकुल
५७७ नागर समुच्चय—राधाकृष्णदास
५७८ नागरीदास की वाणी—ब्रजवल्लभशरण
५७९ नागरीदास ग्रंथावली—किशोरीलाल गुप्त
५८० राम भक्ति में मधुर-उपासना —भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र 'माधव'
५८१ राम भक्ति में रसिक संप्रदाय —भगवतीप्रसाद सिंह
५८२. वंशीअलि के ललित संप्रदाय का अध्ययन—बाबूलाल गोस्वामी
५८३ भक्तमाल तिलक (भक्तिसुधा स्वाद) —रूपकला जी
५८४ भक्तमाल सटीक (वृंदावन) —ब्रजवल्लभशरण
५८५. हिंदी भक्तमाल साहित्य—ललिताप्रसाद दुबे
५८६. भागवत का हिंदी कृष्ण भक्ति साहित्य पर प्रभाव—विश्वनाथ शुक्ल
५८७ ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन—रामकृष्ण आचार्य

५८८. मध्यकालीन धर्म-साधना—हजारीप्रसाद द्वि
५८९ मध्यकालीन प्रेम-साधना—परशुराम चतुर्वेदी
५९० मध्ययुगीन हिंदी साहित्य मे कृष्ण विकास कथा—सरोजिनी कुलश्रेष्ठ
५९१ मध्यकालीन साहित्य मे अवतारवाद —कपिलदेव पाडेय
५९२. सगुण भक्ति काव्य की सास्कृतिक पृष्ठभूमि—रामनरेश वर्मा
५९३ कृष्ण काव्य मे मधुर भाव—पूर्णमासी राय
५९४. व्रजभाषा कृष्ण काव्य मे माधुर्य भक्ति—स्वरूपनारायण
५९५. सत वैष्णव काव्य पर तात्रिक प्रभाव—विश्वभरनाथ उपाध्याय
५९६ कृष्ण काव्य धारा मे मुसलमान कवियो का योग दान—हरीसिह
५९७ सूफी मत और हिंदी साहित्य —विमलकुमार जैन
५९८ हिंदी के कृष्ण भक्ति साहित्य मे सगीत—उषा गुप्ता
५९९ मैथिल के कृष्ण भक्त कवि-ललितेश्वर झा
६०० विद्यापति—खगेन्द्रनाथ मित्र
६०१. विद्यापति ठाकुर—उमेश मिश्र
६०२ विद्यापति और उनकी पदावली —देशराजसिह भाटी
६०३ हिंदी और बगाली वैष्णव कवि—रत्नकुमारी
६०४ व्रजबुलि साहित्य—रामपूजन तिवारी
६०५ व्रजभाषा और व्रजबुलि साहित्य—करणिका विश्वास
६०६ हिंदी और उडिया वैष्णव कवियो का तुलनात्मक अध्ययन—रामउजागर तिवारी
६०७. पजाब का हिंदी साहित्य—सत्यपाल गुप्त
६०८ राजस्थान का पिगल साहित्य —मोतीलाल मेनारिया
६०९. गुजराती और व्रजभाषा कृष्ण काव्य का तुलनात्मक अध्ययन—जगदीश गुप्त
६१० हिंदी और मराठी का निर्गुण सत काव्य—प्रभाकर माचवे
६११. हिंदी को मराठी सतो की देन —विनयमोहन शर्मा
६१२ हिंदी और कन्नड मे भक्ति आदोलन—हिरण्यमय
६१३. हिंदी और मलयालम मे कृष्ण-भक्ति काव्य—भास्करन नायर
६१४ अलबेरुनी का भारत—सतराम
६१५ राजपूतो का प्रारभिक इतिहास —विनायक चितामणि वैद्य
६१६. राजस्थान—कर्नल टाड
६१७. भारत के प्राचीन राजवश—विश्वेश्वरनाथ
६१८ इतिहास राजस्थान—देवीप्रसाद मुशी
६१९ दिल्ली या इद्रप्रस्थ—दत्तात्रेय बल. पारसनीस
६२०. दिल्ली सल्तनत—आशीर्वादीलाल
६२१ राणा सागा—मनु शर्मा
६२२. बाबरनामा (इडोलोजीकल बुक हाउस)
६२३ शेरशाह—अब्बास सरवानी
६२४ हुमायूनामा—ब्रजरत्नदास
६२५. अकबरनामा—निजामुद्दीन अहमद
६२६. तबकाते अकबरी— ,,
६२७ अकबर—राहुल साकृत्यायन
६२८ अकबरी दरबार—रामचद्र वर्मा
६२९. अकबरी दरबार के हिंदी कवि —सरयूप्रसाद अग्रवाल
६३०. जहाँगीरनामा—ब्रजरत्नदास
६३१ दाराशिकोह—के आर कानूगो
६३२ औरगजेब—खाफीखाँ
६३३. भारत मे मुस्लिम शासन—एस आर. शर्मा
६३४ मुगलकालीन भारत—आशीर्वादीलाल
६३५ मुगलकालीन भारत का इतिहास —मेठी और महाजन
६३६ मुगल साम्राज्य का पतन—यदु सरकार
६३७. शिवाजी— ,,
६३८ मराठे और अगरेज—गिरिधर शुक्ल

६३९ भारत मे अंगरेजी राज्य के दोसौ वर्ष—केशवकुमार ठाकुर
६४० पोद्दार अभिनंदन ग्रंथ—वासुदेवशरण अग्र
६४१ ब्रज का इतिहास (भाग १-२) —कृष्णदत्त वाजपेयी
६४२ ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास —प्रभुदयाल मीतल
६४३. संस्कृत साहित्य का इतिहास —कन्हैयालाल पोद्दार
६४४ „ —वाचस्पति गैरोला
६४५ „ —हंसराज अग्रवाल
६४६ „ —बलदेव उपाध्याय
६४७ पालि साहित्य का इतिहास —भरतसिंह उपाध्याय
६४८ प्राकृत साहित्य का इतिहास —जगदीशचन्द्र जैन
६४९. अपभ्रंश साहित्य—हरिवंश कोछड़
६५० हिंदी के विकास मे अपभ्रंश का योग—नामवरसिंह
६५१ हिंदी काव्य धारा—राहुल सांकृत्यायन
६५२. हिंदी का आदि काल—हजारीप्रसाद द्विवेदी
६५३. हिंदी साहित्य की भूमिका— „
६५४ हिंदुई साहित्य का इतिहास (गार्सां द तासी —लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
६५५. हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास (ग्रियर्सन)—किशोरीलाल गुप्त
६५६ शिवसिंह सरोज— „
६५७ मिश्रबंधु विनोद—मिश्रबंधु
६५८ हिंदी भाषा और साहित्य—श्यामसुंदरदास
६५९ हिंदी साहित्य का इतिहास—रामचंद्र शुक्ल
६६० हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—रामकुमार वर्मा
६६१ हिंदी भाषा और साहित्य का विकास —अयोध्यासिंह उपाध्याय
६६२. हिंदी साहित्य का इतिहास —रामशंकर शुक्ल 'रसाल'
६६३ हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास—चतुरसेन शास्त्री
६६४ हिंदी साहित्य—हजारीप्रसाद द्विवेदी
६६५ हिंदी साहित्य—धीरेन्द्र वर्मा, ब्रजेश्वर वर्मा
६६६ हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास —(नागरी प्रचारिणी सभा)
६६७ ब्रजभाषा—धीरेन्द्र वर्मा
६६८ ब्रजभाषा और उसके साहित्य की रूपरेखा—रविनंदन सि
६६९ ब्रजभाषा साहित्य का इतिहास—नरेन्द्र
६७० राजस्थान का पिंगल साहित्य —मोतीलाल मेनारिया
६७१ हिंदी पर फारसी का प्रभाव —अंबिकाप्रसाद वाजपेयी
६७२ उर्दू साहित्य का इतिहास—एजाजहुसैन
६७३ उर्दू साहित्य परिचय—हरिशंकर शर्मा

निर्गुण परंपरा के मत और पंथ

६७४ बीजक, साखी और पद—कबीर साहब
६७५ गुरु ग्रंथ साहब—सिख गुरुओं की वाणी
६७६ दशम ग्रंथ—गुरु गोविंदसिंह
६७७ रैदास की बानी—(बेलवेडियर प्रेस)
६७८. गरीबदास की बानी— „
६७९ जगजीवन साहब की बानी— „
६८०. भीखा साहब की बानी— „
६८१. पलटू साहब की बानी— „
६८२ चरनदास की बानी— „
६८३ दयाबाई की बानी— „
६८४. सहजोबाई की बानी— „
६८५ व्योमसार—बख्तावर
६८६ शुनिसार— „
६८७ घट रामायन—तुलसी साहब
६८८ रत्नसागर— „
६८९ शब्दावली— „
६९०. सार वचन नज्म—शिवदयालसिंह (स्वामी महाराज)
६९१ प्रेमबानी—सालिगराम (हुजूर महाराज)

६९२. कबीर वचनावली —अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
६९३. कबीर ग्र थावली—श्यामसुदरदास
६९४. कबीर बीजक—विचारदास
६९५ कबीर पदावली—रामकुमार वर्मा
६९६. कबीर दोहावली—महेन्द्रकुमार जैन
६९७. कबीर—हजारीप्रसाद द्विवेदी
६९८ कबीर—चद्रवली पाडे
६९९. कबीर का रहस्यवाद—रामकुमार वर्मा
७००. कबीर की विचारधारा-गोविंद त्रिगुणायत
७०१. कबीर साहित्य का अध्ययन—पुरुषोत्तम
७०२ सत रविदास और उनका काव्य —रामानद स्वामी
७०३. सत कवि दरिया—धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी
७०४ सत सुधा सार—वियोगी हरि
७०५ सत दर्शन—त्रिलोकीनारायण दीक्षित
७०६. हिंदी काव्य मे निर्गुण सप्रदाय —पीताबरदत्त बडथ्वाल
७०७ उत्तर भारत की सत परपरा —परशुराम चतुर्वेदी
७०८ मध्यकालीन सत साहित्य —रामखेलावन पाडेय
७०९. सत साहित्य की सामाजिक एव सास्कृतिक पृष्ठभूमि—सावित्री शुक्ल
७१० निर्गुण काव्य की सास्कृतिक पृष्ठभूमि—मोतीसिह
७११ गुरु ग्र थ साहब के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धात—जयराम मिश्र
७१२ परिचयी साहित्य-त्रिलोकीनारायण दीक्षित

आर्य समाज

७१३ ऋग्वेद भाष्य भूमिका—दयानद स्वामी
७१४ ऋग्वेद भाष्य— ,,
७१५ यजुर्वेद भाष्य— ,,
७१६ सत्यार्थ प्रकाश— ,,
७१७ सस्कार विधि— ,,
७१८. हिंदी को आर्यसमाज की देन —लक्ष्मीनारायण गुप्त

पत्र-पत्रिकाएँ

७१९ वेदवाणी (मासिक), अमृतसर
७२० वैदिक धर्म (,,), सूरत
७२१ धर्मदूत (,,), सारनाथ वाराणसी
७२२ जैनहितैषी (बद), बबई
७२३ जैन भारती (साप्ताहिक), कलकत्ता
७२४. जैन सदेश (,,), मथुरा
७२५. अनुग्रह (गुजराती मासिक), अहमदाबाद
७२६. वैश्वानर (,,), पोरबदर
७२७. वल्लभीय सुधा (त्रैमासिक–बद), मथुरा
७२८ श्री वल्लभ विज्ञान (मासिक), इदौर
७२९ गौडीय (मासिक), कलकत्ता
७३० श्री गौराग (त्रैमासिक-बद), वाराणसी
७३१. श्री सुदर्शन (मासिक–बद), वृदावन
७३२ श्री सर्वेश्वर (मासिक), वृदावन
७३३ नाम माहात्म्य-ब्रजाक (मासिक–बद), वृदावन
७३४. मानव धर्म-कृष्णाक (मासिक-बद), दिल्ली
७३५. अखड ज्योति (मासिक), मथुरा
७३६ साधन (मासिक), मथुरा
७३७. श्री कृष्ण सदेश (मासिक), मथुरा
७३८ कल्याण–कृष्ण, शिव, शक्ति, भक्ति विशेषाक (मासिक), गोरखपुर
७३९ सरस्वती (मासिक), प्रयाग
७४० ज्ञानोदय (मासिक), कलकत्ता
७४१. भारतीय (मासिक), बबई
७४२ सगीत–हरिदास अक (मासिक), हाथरस
७४३ नागरी प्रचारिणी पत्रिका (त्रैमासिक), वाराणसी
७४४. सम्मेलन पत्रिका (त्रैमासिक), प्रयाग
७४५ हिन्दुस्तानी (,,), प्रयाग
७४६ हिंदी अनुशीलन (,,), प्रयाग
७४७. साहित्य सदेश (,,), आगरा
७४८ ब्रजभारती (,,), मथुरा
७४९. हिंदुस्तान (दैनिक और साप्ताहिक) दिल्ली
७५०. धर्मयुग (साप्ताहिक), बबई

अ नु क्र म णि का